CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# जयोदय महाकाव्य

## ( उत्तरांश )

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Narja, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

11.1

4426

4426

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4426

# जयोदय महाकाव्य

## ( उत्तरांश )

–: मूलग्रन्थकर्ता एवं संस्कृत टीकाकार :–
**श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामलजी शास्त्री**
**(आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज)**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

**प्रेरक प्रसंग :** प. पू. आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परमशिष्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, क्षु. श्री गम्भीर सागरजी, क्षु. श्री धैर्य सागरजी महाराज के ऐतिहासिक १९९४ के श्री सोनी जी की नसियाँ, अजमेर के चातुर्मास के उपलक्ष्य में प्रकाशित।

**ट्रस्ट संस्थापक :** स्व. पं. जुगल किशोर मुख्तार

**ग्रन्थमालासम्पादक एवं नियामक :** डॉ. दरबारी लाल कोठिया न्यायाचार्य, बीना (मध्य प्रदेश)

**संस्करण :** द्वितीय

**प्रति :** 2000

**मूल्य :** स्वाध्याय
(नोट :- डाक खर्च भेजकर प्रति निशुल्क प्राप्ति स्थान से मंगा सकते है।

**प्राप्ति स्थान :**

* **सोनी मन्दिर ट्रस्ट**
सोनीजी की नसियाँ,
अजमेर (राज.)

* **डा. शीतलचन्द जैन**
**मंत्री – श्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट**
१३१४ अजायब घर का रास्ता,
किशनपोल बाजार, जयपुर

* **श्री दिगम्बर जैन मन्दिर अतिशय क्षेत्र**
मन्दिर संघी जी, सांगानेर
जयपुर (राज.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामलजी शास्त्री

# जयोदय महाकाव्य

## ( उत्तरांश )

4426

आशीर्वाद एवं प्रेरणा :
मुनि श्री सुधासागर जी महाराज एवं
क्षु. श्री गंभीरसागर जी, एवं क्षु. श्री धैर्यसागर जी महाराज

–: सम्पादक एवं हिन्दी टीकाकार :–
डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य

सौजन्यता :
श्री रतनलाल कंवरीलाल पाटनी ( आर. के. मार्बल्स लि. )
मदनगंज – किशनगढ़

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन समिति एवं सकल दिगम्बर जैन समाज,
अजमेर (राज.)

प्रकाशन :
वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर

मुद्रण एवं लेज़र टाइप सेटिंग :
निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्टर्स
पुरानी मण्डी, अजमेर फोन 22291

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

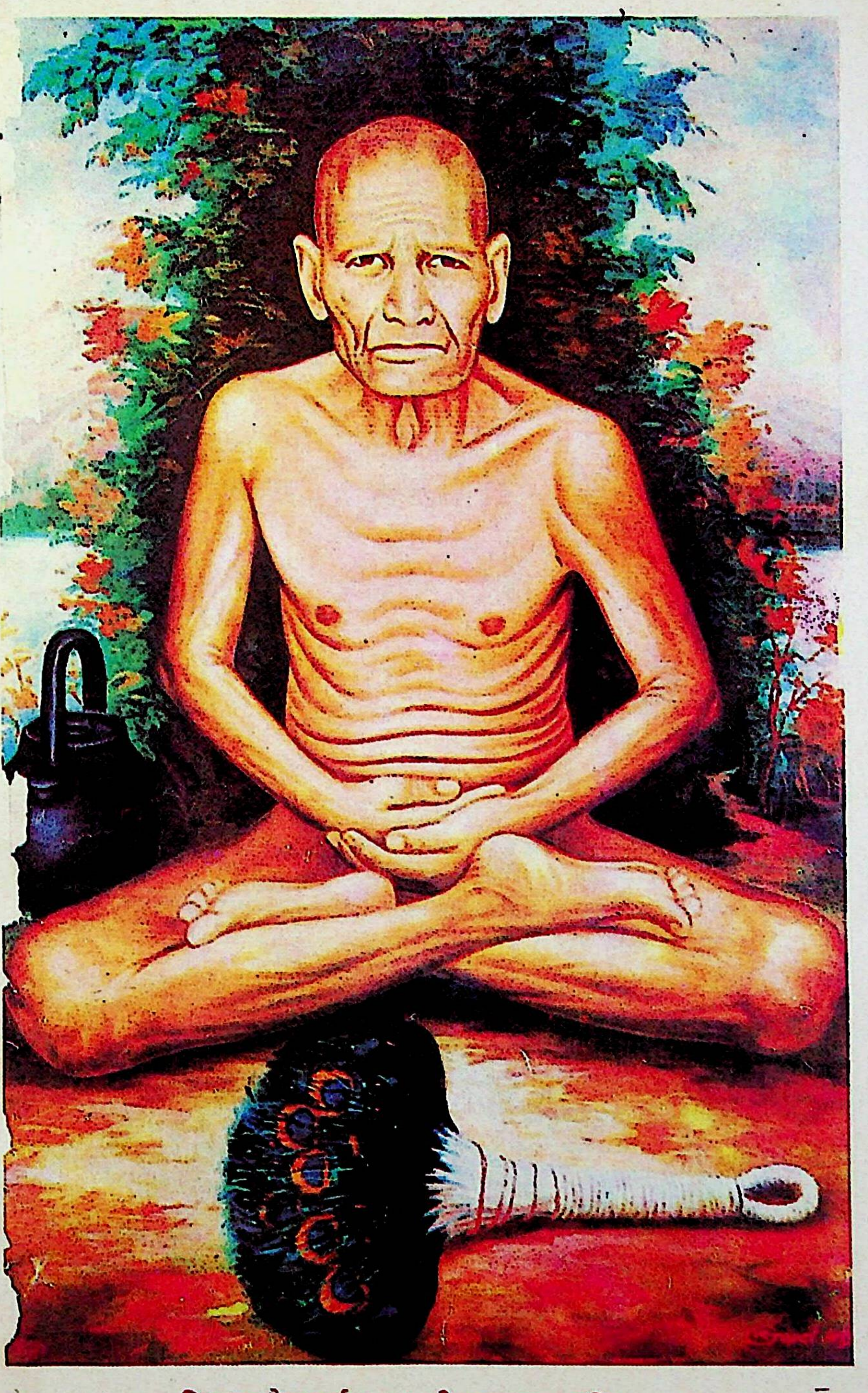

दिगम्बर जैनाचार्य १०८ श्री ज्ञानसागर मुनि महाराज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# प्रकाशकीय समर्पण

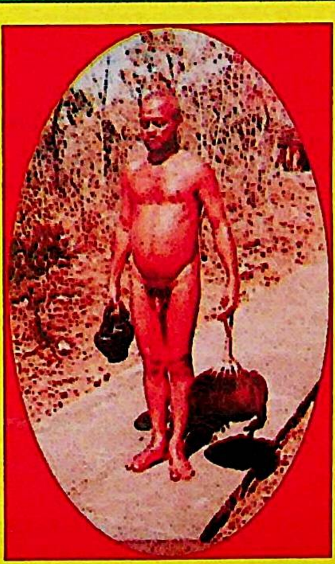

आ. श्री विद्यासागर जी

卐

मु. श्री सुधासागर जी

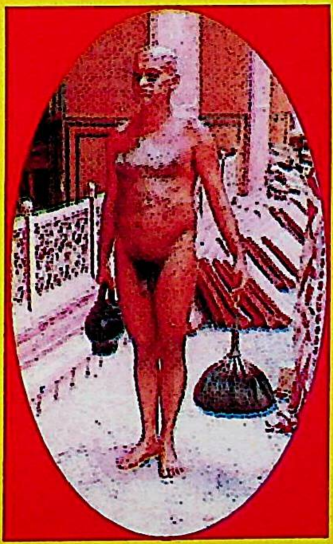

पंचाचार युक्त
महाकवि, दार्शनिक विचारक,
धर्मप्रभाकर, आदर्श चारित्रनायक, कुन्द-कुन्द
की परम्परा के उन्नायक, संत शिरोमणि, समाधि सम्राट,
परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के कर कमलों में
एवं
इनके परम सुयोग्य
शिष्य ज्ञान, ध्यान, तप युक्त
जैन संस्कृति के रक्षक, क्षेत्र जीर्णोद्धारक,
वात्सल्य मूर्ति, समता स्वाभावी, जिनवाणी के यथार्थ
उद्घोषक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि
श्री सुधासागर जी महाराज के कर कमलों में
सकल दि. जैन समाज एवं दिगम्बर जैन समिति,
अजमेर (राज.) की ओर से
सादर समर्पित ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# आचार्य श्री ज्ञानसागर जी की जीवन यात्रा आँखों देखी

आलेख - निहाल चन्द्र जैन
सेवा निवृत्त प्राचार्य
मिश्रसदन सुन्दर विलास, अजमेर

प्राचीन काल से ही भारत वसुन्धरा ने अनेक महापुरुषों एवं नर-पुंगवों को जन्म दिया है। इन नर-रत्नों ने भारत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं शौर्यता के क्षेत्र में अनेकों कीर्तिमान स्थापित किये हैं। जैन धर्म भी भारत भूमि का एक प्राचीन धर्म हैं, जहाँ तीर्थंकर, श्रुत केवली, केवली भगवान के साथ साथ अनेकों आचार्यों, मुनियों एवं सन्तों ने इस धर्म का अनुसरण कर मानव समाज के लिए मुक्ति एवं आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है।

इस १९-२० शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री शांतिसागर जी महाराज थे जिनकी परम्परा में आचार्य श्री वीर सागरजी, आचार्य श्री शिव सागरजी इत्यादि तपस्वी साधुगण हुये। मुनि श्री ज्ञान सागरजी आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से वि. स. २०१६, में खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा लेकर अपने आत्मकल्याण के मार्ग पर आरूढ़ हो गये थे। आप शिवसागर आचार्य महाराज के प्रथम शिष्य थे।

मुनि श्री ज्ञान सागर जी का जन्म राणोली ग्राम (सीकर-राजस्थान) में दिगम्बर जैन के छाबड़ा कुल में सेठ सुखदेवजी के पुत्र श्री चतुर्भुज जी की धर्म पत्नि घृतावरी देवी की कोख से हुआ था। आपके बड़े भ्राता श्री छगनलालजी थे तथा दो छोटे भाई और थे तथा एक भाई का जन्म तो पिता श्री के देहान्त के बाद हुआ था। आप स्वयं भूरामल के नाम से विख्यात हुये। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के प्राथमिक विद्यालय में हुई। साधनों के अभाव में आप आगे विद्याध्ययन न कर अपने बड़े भाई जी के साथ नौकरी हेतु गयाजी (बिहार) आगये। वहां १३-१४ वर्ष की आयु में एक जैनी सेठ के दुकान पर आजीविका हेतु कार्य करते रहे। लेकिन आपका मन आगे पढ़ने के लिए छटपटा रहा था। संयोगवश स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के छात्र किसी समारोह में भाग लेने हेतु गयाजी (बिहार) आये। उनके प्रभावपूर्ण कार्यक्रमों को देखकर युवा भूरामल के भाव भी विद्या प्राप्ति हेतु वाराणसी जाने के हुए। विद्या-अध्ययन के प्रति आपकी तीव्र भावना एवं दृढ़ता देखकर आपके बड़े भ्राता ने १५ वर्ष की आयु में आपको वाराणसी जाने की स्वीकृति प्रदान कर दी।

श्री भूरामल जी बचपन से ही कठिन परिश्रमी अध्यवसायी, स्वावलम्बी, एवं निष्ठावान थे। वाराणसी में आपने पूर्ण निष्ठा के साथ विद्याध्ययन किया और संस्कृत एवं जैन सिद्धान्त का गहन अध्ययन कर शास्त्री परीक्षा पास की। जैन धर्म से संस्कारित श्री भूरामल जी न्याय, व्याकरण एवं प्राकृत ग्रन्थों को जैन सिद्धान्तानुसार पढ़ना चाहते थे, जिसकी उस समय वाराणसी में समुचित व्यवस्था नहीं थी। आपका मन क्षुब्ध हो उठा, परिणामतः आपने जैन साहित्य, न्याय और व्याकरण को पुनःर्जीवित करने का भी दृढ़ संकल्प ही लिया। अढ़िग विश्वास, निष्ठा एवं संकल्प के धनी श्री भूरामल जी ने कई जैन एवं जैनेन्तर विद्वानों से जैन वाँङ्मय की शिक्षा प्राप्त की। वाराणसी में रहकर ही आपने स्याद्वाद महाविद्यालय से "शास्त्री" की परीक्षा पास कर आप पं. भूरामल जी नाम से विख्यात हुए। वाराणसी में ही आपने जैनाचार्यों द्वारा लिखित न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त एवं अध्यात्म विषयों के अनेक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बनारस से लौट कर आपने अपने ही ग्रामीण विद्यालय में अवैतनिक अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया, लेकिन साथ में, निरन्तर साहित्य साधना एवं साहित्य लेखन के कार्य में भी अग्रसर होते गये। आपकी लेखनी से एक से एक सुन्दर काव्यकृतियाँ जन्म लेती रही। आपकी तरुणाई विद्वता और आजीविकोपार्जन की क्षमता देखकर आपके विवाह के लिए अनेकों प्रस्ताव आये, सगे सम्बन्धियों ने भी आग्रह किया। लेकिन आपने वाराणसी में अध्ययन करते हुए ही संकल्प ले लिया था कि आजीवन ब्रह्मचारी रहकर माँ सरस्वती और जिनवाणी की सेवा में, अध्ययन-अध्यापन तथा साहित्य सृजन में ही अपने आपको समर्पित कर दिया। इस तरह जीवन के ५० वर्ष साहित्य साधना, लेखन, मनन एवं अध्ययन में व्यतीत कर पूर्ण पांडित्य प्राप्त कर लिया। इसी अवधि में आपने दयोदय, भद्रोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय आदि साहित्यिक रचनायें संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में प्रस्तुत की वर्तमान शताब्दी में संस्कृत भाषा के महाकाव्यों की रचना की परम्परा को जीवित रखने वाले मूर्धन्य विद्वानों में आपका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। काशी के दिग्गज विद्वानों की प्रतिक्रिया थी "इसकाल में भी कालीदास और माघकवि की टक्कर लेने वाले विद्वान हैं, यह जानकर प्रसन्नता होती हैं।" इस तरह पूर्ण उदासीनता के साथ, जिनवाणी माँ की अविरत सेवा में आपने गृहस्थाश्रम में ही जीवन के ५० वर्ष पूर्ण किये। जैन सिद्धान्त के हृदय को आत्मसात करने हेतु आपने सिद्धान्त ग्रन्थों श्री धवल, महाधवल जयधवल महाबन्ध आदि ग्रन्थों का विधिवत् स्वाध्याय किया। "ज्ञान भारं क्रिया बिना" क्रिया के बिना ज्ञान भार- स्वरूप है - इस मंत्र को जीवन में उतारने हेतु आप त्याग मार्ग पर प्रवृत्त हुए।

सर्वप्रथम ५२ वर्ष की आयु में सन् १९४७ में आपने अजमेर नगर में ही आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये। ५४ वर्ष की आयु में आपने पूर्णरूपेण गृहत्याग कर आत्मकल्याण हेतु जैन सिद्धान्त के गहन अध्ययन में लग गये। सन् १९५५ में ६० वर्ष की आयु में आपने आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से ही रेनवाल में क्षुल्लक दीक्षा लेकर ज्ञानभूषण के नाम से विख्यात हुए। सन् १९५९ में ६२ वर्ष की आयु में आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा अंगीकार कर १०८ मुनि श्री ज्ञानसागरजी के नाम से विभूषित हुए। और आपको आचार्य श्री का प्रथम शिष्य होने का गौरव प्राप्त हुआ। संघ में आपने उपाध्याय पद के कार्य को पूर्ण विद्वत्ता एवं सजगता के साथ सम्पन्न किया। रूढ़िवाद से कोसों दूर मुनि ज्ञानसागर जी ने मुनिपद की सरलता और गंभीरता को धारण कर मन, वचन और कायसे दिगम्बरत्व की साधना में लग गये। दिन रात आपका समय आगमानुकूल मुनिचर्या की साधना, ध्यान अध्ययन-अध्यापन एवं लेखन में व्यतीत होता रहा। फिर राजस्थान प्रान्त में ही विहार करने निकल गये। उस समय आपके साथ मात्र दो-चार त्यागी-व्रती थे, विशेष रूप से ऐलक श्री सन्मतिसागर जी, क्षुल्लक श्री संभवसागर जी व सुख सागरजी तथा एक-दो ब्रह्मचारी थे। मुनि श्री उच्च कोटि के शास्त्र-ज्ञाता, विद्वान एवं तात्विक वक्ता थे। पंथ वाद से दूर रहते हुए आपने सदा जैन सिद्धान्तों को जीवन में उतारने की प्रेरणा दी और एक सद्गृहस्थ का जीवन जीने का आह्वान किया।

विहार करते हुए आप मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर तथा ब्यावर भी गये। ब्यावर में पंडित हीरा लालजी शास्त्री ने मुनि श्री को उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों एवं पुस्तकों को प्रकाशित कराने की बात कही, तब आपने कहा "जैन वाँगमय की रचना करने का काम मेरा है, प्रकाशन आदि का कार्य आप लोगों का है"।

जब सन् १९६७ में आपका चातुर्मास मदनगंज किशनगढ़ में हो रहा था, तब जयपुर नगर के चूलगिरि क्षेत्र पर आचार्य देश भूषण जी महाराज का वर्षा योग चल रहा था। चूलगिरी का निर्माण कार्य भी आपकी देखरेख एवं संरक्षण में चल रहा था। उसी समय सदलगा ग्रामनिवासी, एक कन्नड़-भाषी नवयुवक आपके पास ज्ञानार्जन हेतु आया। आचार्य देशभूषण जी की आँखों ने शायद उस नवयुवक की भावना को पढ़ लिया था, सो उन्होंने उस नवयुवक विद्याधर को आशीर्वाद प्रदान कर ज्ञानार्जन हेतु मुनिवर ज्ञानसागर जी के पास भेज दिया। जब मुनि श्री ने नौजवान विद्याधर में ज्ञानार्जन की एक तीव्र कसक एवं ललक देखी तो मुनि श्री ने पूछ ही लिया कि अगर विद्यार्जन के पश्चात छोडकर चले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जावोगे तो मुनि तो का परिश्रम व्यर्थ जायेगा । नौजवान विद्याधर ने तुरन्त ही दृढ़ता के साथ आजीवन सवारी का त्याग कर दिया । इस त्याग भावना से मुनि ज्ञान सागरजी अत्यधिक प्रभावित हुए और एक टक-टकी लगाकर उस नौजवान की मनोहारी, गौरवर्ण तथा मधुर मुस्कान के पीछे छिपे हुए दृढ़-संकल्प को देखते ही रह गये ।

शिक्षण प्रारम्भ हुआ । योग्य गुरू के योग्य शिष्य विद्याधर ने ज्ञानार्जन में कोई कसर नहीं छोड़ी । इसी बीच उन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य्य व्रत को भी धारण कर लिया । ब्रह्मचारी विद्याधर की साधना प्रतिमा, तत्परता तथा ज्ञान के क्षयोपशम को देखकर गुरू ज्ञानसागर जी इतने प्रभावित हुए कि, उनकी कड़ी परीक्षा लेने के बाद, उन्हें मुनिपद ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी । इस कार्य को सम्पन्न करने का सौभाग्य मिला अजमेर नगर को और सम्पूर्ण जैन समाज को । ३० जून १९६८ तदानुसार आषाढ़ शुक्ला पंचमी को ब्रह्मचारी विद्याधर की विशाल जन समुदाय के समक्ष जैनश्वरी दीक्षा प्रदान की गई और विद्याधर, मुनि विद्यासागर के नाम से सुशोभित हुए । उस वर्ष का चातुर्मास अजमेर में ही सम्पन्न हुआ ।

तत्पश्चात मुनि श्री ज्ञानसागर जी का संघ विहार करता हुआ नसीराबाद पहुँचा। यहाँ आपने ७ फरवरी १९६९ तदानुसार मगसरबदी दूज को श्री लक्ष्मी नारायण जी को मुनि दीक्षा प्रदान कर मुनि १०८ श्री विवेकसागर नाम दिया । इसी पुनीत अवसर पर समस्त उपस्थित जैन समाज द्वारा आपको आचार्य पद से सुशोभित किया गया ।

आचार्य ज्ञानसागर जी की हार्दिक अभिलाषा थी कि उनके शिष्य उनके सान्निध्य में अधिक से अधिक ज्ञार्नाजन कर ले । आचार्य श्री अपने ज्ञान के अथाह सागर को समाहित कर देना चाहते थे विद्या के सागर में और दोनों ही गुरू-शिष्य उतावले थे एक दूसरे में समाहित होकर ज्ञानामृत का निरन्तर पान करने और कराने में । आचार्य ज्ञानसागर जी सच्चे अर्थों में एक विद्वान-जौहरी और पारखी थे तथा बहुत दूर दृष्टि वाले थे । उनकी काया निरन्तर क्षीण होती जा रही थी । गुरू और शिष्य की जैन सिद्धान्त एवं वांगमय की आराधना, पठन, पाठन एवं तत्वचर्चा-परिचर्चा निरन्तर अबाधगति से चल रही थी ।

तीन वर्ष पश्चात १९७२ में आपके संघ का चातुर्मास पुनः नसीराबाद में हुआ। अपने आचार्य गुरू की गहन अस्वस्थ्यता में उनके परम सुयोग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी ने पूर्ण निष्ठा और निस्पृह भाव से इतनी सेवा की कि शायद कोई लखपंती बाप का बेटा भी इतनी निष्ठा और तत्परता के साथ अपने पिता श्री की सेवा कर पाता । कानों सुनी बात तो एक बार झूंठी हो सकती है लेकिन आँखो देखी बात को तो शत प्रतिशत सत्य मान कर ऐसी उत्कृष्ट गुरू भक्ति के प्रति नतमस्तक होना ही पड़ता है।

चातुर्मास समाप्ति की ओर था । आचार्य श्री ज्ञानसागर जी शारीरिक रुप से काफी अस्वस्थ्य एवं क्षीण हो चुके थे । साइटिका का दर्द कम होने का नाम ही नहीं ले रहा था दर्द की भयंकर पीड़ा के कारण आचार्य श्री चलने फिरने में असमर्थ होते जा रहे थे । १६-१७ मई १९७२ की बात है - आचार्य श्री ने अपने योग्यतम शिष्य मुनि विद्यासागर से कहा "विद्यासागर ! मेरा अन्त समीप है । मेरी समाधि कैसे सधेगी ?

इसी बीच एक महत्वपूर्ण घटना नसीराबाद प्रवास के समय घटित हो चुकी थी । आचार्य श्री के देह-त्याग से करीब एक माह पूर्व ही दक्षिण प्रान्तीय मुनि श्री पार्श्वसागर जी आचार्य श्री की निर्विकल्प समाधि में सहायक होने हेतु नसीराबाद पधार चुके थे । वे कई दिनों से आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की सेवा सुश्रुषा एवं वैय्यावृत्ति कर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते थे। नियति को कुछ और ही मंजूर था। १५ मई १९७२ को पार्श्वसागर महाराज को शारीरिक व्याधि उत्पन्न हुई और १६ मई को प्रातःकाल करीब ७ बजकर ४५ मिनिट पर अरहन्त, सिद्ध का स्मरण करते हुए वे इस नश्वर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देह का त्याग कर स्वर्गारोहण हो गये । अतः अब यह प्रश्न आचार्य ज्ञानसागर जी के सामने उपस्थित हुआ कि समाधि हेतु आचार्य पद का परित्यांग तथा किसी अन्य आचार्य की सेवा में जाने का आगम में विधान है । आचार्य श्री के लिए इस भंयकर शारीरिक उत्पीडन की स्थिति में किसी अन्य आचार्य के पास जाकर समाधि लेना भी संभव नहीं था। आचार्य श्री ने अन्तत्तोगत्वा अपने शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी को कहा "मेरा शरीर आयु कर्म के उदय से रत्नत्रय- आराधना में शनैः शनैः कृश हो रहा है। अतः मैं यह उचित समझता हूँ कि शेष जीवन काल में आचार्य पद का परित्याग कर इस पद पर अपने प्रथम एवं योग्यतम शिष्य को पदासीन कर दूं। मेरा विश्वास है कि आप श्री जिनशासन सम्वर्धन एवं श्रमण संस्कृति का संरक्षण करते हुए इस पदकी गरिमा को बनाये रखोगे तथा संघ का कुशलता पूर्वक संचालन करसमस्त समाज को सही दिशा प्रदान करोगे।" जब मुनि श्री विद्यासागरजी ने इस महान भार को उठाने में, ज्ञान, अनुभव और उम्र से अपनी लघुता प्रकट की तो आचार्य ज्ञान सागरजी ने कहा "तुम मेरी समाधि साध दो, आचार्य पद स्वीकार करलो। फिर भी तुम्हें संकोच है तो गुरु दक्षिणा स्वरुप ही मेरे इस गुरुत्तर भार को धारण कर मेरी निर्विकल्प समाधि करादो- अन्य उपाय मेरे सामने नहीं है।"

मुनि श्री विद्यासागर जी काफी विचलित हो गये, काफी मंथन किया, विचार-विमर्श किया और अन्त में निर्णय लिया कि गुरु दक्षिणा तो गुरु को हर हालत में देनी ही होगी । और इस तरह उन्होंने अपनी मौन स्वीकृति गुरु चरणों से समर्पित करदी ।

अपनी विशेष आभा के साथ २२ नवम्बर १९७२ तदानुसार मगसर बदी दूज का सूर्योदय हुआ। आज जिन शासन के अनुयायिओं को साक्षात् एक अनुपम एवं अद्भुत दृश्य देखने को मिला । कल तक जो श्री ज्ञान सागरजी महाराज संघ के गुरु थे, आचार्य थे, सर्वोपरि थे, आज वे ही साधु एवं मानव धर्म की पराकाष्ठा का एक उत्कृष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करने जा रहे थे. यह एक विस्मयकारी एवं रोमांचक दृश्य था, मुनि की संज्वलन कषाय की मन्दता का सर्वोत्कृष्ठ उदाहरण था । आगमानुसार आचार्य श्री ज्ञानसागरजी ने आचार्य पदत्याग की घोषणा की तथा अपने सर्वोत्तम योग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागरजी को समाज के समक्ष अपना गुरुत्तर भार एवं आचार्य पद देने की स्वीकृति मांगकर, उन्हें आचार्य पद से विभूषित किया । जिस बडे पट्टे पर आज तक आचार्य श्री ज्ञानसागर जी आसीन होते थे उससे वे नीचे उतर आये और मुनि श्री विद्यासागरजी को उस आसन पर पदासीन किया। जन-समुदाय की आँखे सुखानन्द के आँसुओं से तरल हो गई । जय घोष से आकाश और मंदिर का प्रागंण गूंज उठा। आचार्य श्री विद्यासागर जी ने अपने गुरु के आदेश का पालन करते हुये पूज्य गुरुवर की निर्विकल्प समाधि के लिए आगमानुसार व्यवस्था की। गुरु ज्ञानसागरजी महाराज भी परम शान्त भाव से अपने शरीर के प्रति निर्ममत्व होकर रस त्याग की ओर अग्रसर होते गये।

आचार्य श्री विद्यासागरजी ने अपने गुरु की संलेखना पूर्वक समाधि कराने में कोई कसर नहीं छोडी । रात दिन जागकर एवं समयानुकूल सम्बोधन करते हुए आचार्य श्री ने मुनिवर की शांतिपूर्वक समाधि कराई । अन्त में समस्त आहार एवं जल का त्यागोपरान्त मिती जेष्ठ कृष्णा अमावस्या वि. स. २०३० तदनानुसार शुक्रवार दिनांक १ जून १९७३ को दिन में १० बजकर ५० मिनिट पर गुरु ज्ञानसागर जी इस नश्वर शरीर का त्याग कर आत्मलीन हो गये । और दे गये समस्त समाज को एक ऐसा सन्देश कि अगर सुख,शांति और निर्विकल्प समाधि चाहते हो तो कषायों का शमन कर रत्नत्रय मार्ग पर आदू हो जाओ, तभी कल्याण संभव है ।

इस प्रकार हम कह सकते है कि आचार्य ज्ञानसागरजी का विशाल कृत्तित्व और व्यक्तित्व इस भारत भूमि के लिए सरस्वती के वरद पुत्रता की उपलब्धि कराती है। इनके इस महान साहित्य सृजनता से अनेकानेक ज्ञान पिपासुओं ने इनके महाकाव्यों परशोध कर डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर अपने आपको गौरवान्वित किया है। आचार्य श्री के साहित्य की सुरभि वर्तमान में सारे भारत में इस तरह फैल कर विद्वानों को आकर्षित करने लगी है कि समस्त भारतवर्षीय जैन अजैन विद्वानों का ध्यान उनके महाकाव्यों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की ओर गया है। परिणामतः आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की ही संघ परम्परा के प्रथम आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवचन प्रवक्ता, मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज के सान्निध्य में प्रथम बार "आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर ९-१०-११ जून १९९४ को महान अतिशय एवं चमत्कारिक क्षेत्र, सांगानेर (जयपुर) में संगोष्ठी आयोजित करके आचार्य ज्ञानसागरजी के कृतित्व को सरस्वती की महानतम साधना के रूप में अंकित किया था, उसे अखिल भारतवर्षीय विद्वत्त समाज के समक्ष. उजागर कर विद्वानों ने भारतवर्ष के सरस्वती पुत्र का अभिनन्दन किया है। इस संगोष्ठी में आचार्य श्री के साहित्य-मंथन से जो नवनीत प्राप्त हुवा, उस नवनीत की स्निग्धता से सम्पूर्ण विद्वत्त मण्डल इतना आनन्दित हुआ कि पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी के सामने अपनी अतरंग भावना व्यक्त की, कि- पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज के एक एक महाकाव्य पर एक एक संगोष्ठी होना चाहिए, क्योंकि एक एक काव्य में इतने रहस्मय विषय भरे हुए हैं कि उनके समस्त साहित्य पर एक संगोष्ठी करके भी उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। विद्वानों की यह भावना तथा साथ में पूज्य मुनि श्री सुधासागर जी महाराज के दिल में पहले से ही गुरु नाम गुरु के प्रति,स्वभावतः कृतित्व और व्यक्तित्व के प्रति प्रभावना बैठी हुई थी, परिणामस्वरुप सहर्ष ही विद्वानों और मुनि श्री के बीच परामर्श एवं विचार विमर्श हुआ और यह निर्णय हुआ कि आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के पृथक पृथक महाकाव्य पर पृथक पृथक रुप से अखिल भारतवर्षीय संगोष्ठी आयोजित की जावे। उसी समय विद्वानों ने मुनि श्री सुधासागर जी के सान्निध्य मे बैठकर यह भी निर्णय लिया कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का समस्त साहित्य पुनः प्रकाशित कराकर विद्वानों को, पुस्तकालयों और विभिन्न स्थानों के मंदिरों को उपलब्ध कराया जावे।

साथ में यह भी निर्णय लिया गया कि द्वितीय संगोष्ठी में वीरोदय महाकाव्य को विषय बनाया जावे। इस महाकाव्य में से लगभग ५० विषय पृथक पृथक रुप से छाँटे गये, जो पृथक पृथक मूर्धन्य विद्वानों के लिए आलेखित करने हेतु प्रेषित किये गये है। आशा है कि निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार मुनि श्री के ही सान्निध्य में द्वितीय अखिल भारतवर्षीय विद्वत्त संगोष्ठी वीरोदय महाकाव्य पर माह अक्टूबर ९४ मे अजमेर में सम्पन्न होने जा रही है जिसमें पूज्य मुनि श्री का संरक्षण, नेतृत्व एवं मार्गदर्शन सभी विद्वानों को निश्चित रुप से मिलेगा।

हमारे अजमेर समाज का भी परम सौभाग्य है कि यह नगर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज की साधना स्थली एवं उनके परम सुयोग्य शिष्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की दीक्षा स्थली रही है। अजमेर के सातिशय पुण्य के उदय के कारण हमारे आराध्य पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने अपने परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवक्ता, तीर्थोद्धारक, युवा मनिषी, पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री गंभीर सागरजी एवं पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री धैर्य सागर जी महाराज को, हम लोगों की भक्ति भावना एवं उत्साह को देखते हुए इस संघ को अजमेर चातुर्मास करने की आज्ञा प्रदान कर हम सबको उपकृत किया है।

परम पूज्य मुनिराज श्री सुधासागरजी महाराज का प्रवास अजमेर समाज के लिए एक वरदान सिद्ध हो रहा है। आजतक के पिछले तीस वर्षों के इतिहास में धर्मप्रेमी सज्जनों व महिलाओं का इतना जमघट, इतना समुदाय देखने को नहीं मिला जो एक मुनि श्री के प्रवचनों को सुनने के लिए समय से पूर्व ही आकर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। सोनी जी की नसियाँ मे प्रवचन सुनने वाले जैन-अजैन समुदाय की इतनी भीड़ आती हैं कि तीन-तीन चार-चार स्थानों पर "क्लोज-सर्किट टी.वी." लगाने पड़ रहे हैं। श्रावक संस्कार शिविर जो पर्यूषण पर्व में आयोजित होने जा रहा है। अपने आपकी एक एतिहासिक विशिष्ठता है। अजमेर समाज के लिए यह प्रथम सौभाग्यशाली एवं सुनहरा अवसर होगा जब यहाँ के बाल-आबाल अपने आपको आगमानुसार संस्कारित करेंगे।

महाराज श्री के व्यक्तित्व का एवं प्रभावपूर्ण उद्बोधन का इतना प्रभाव पड़ रहा है कि दान दातार और धर्मप्रेमी निष्ठावानं व्यक्ति आगे बढ़कर महाराज श्री के सानिध्य में होने वाले कार्यक्रमों को मूर्त रुप देना चाहते हैं। अक्टूबर माह के मध्य अखिल भारतवर्षीय विद्वत-संगोष्ठी का आयोजन भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक विशिष्ठ कार्यक्रम है जिसमें पूज्य आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के द्वारा रचित वीरोदय महाकाव्य के विभिन्न विषयों पर ख्याति प्राप्त विद्वान अपने आलेख का वाचन करेंगे। काश यदि पूज्य मुनिवर सुधासागरजी महाराज का संसघ यहाँ अजमेर में पर्दापण न हुआ होता तो हमारा दुर्भाग्य किस सीमा तक होता, विचारणीय है ।

पूज्य मुनिश्री के प्रवचनों का हमारे दिल और दिमाग पर इतना प्रभाव हुआ कि सम्पूर्ण दिगम्बर समाज अपने वर्ग विशेष के भेदभावों को भुलाकर जैन शासन के एक झंडे के नीचे आ गये । यहीं नहीं हमारी दिगम्बर जैन समिति ने समाज की ओर से पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त साहित्य का पुनः प्रकाशन कराने का संकल्प मुनिश्री के सामने व्यक्त किया । मुनि श्री का आशीर्वाद मिलते ही समाज के दानवीर लोग एक एक पुस्तक को व्यक्तिगत धनराशि से प्रकाशित कराने के लिए आगे आये ताकि वे अपने राजस्थान में ही जन्मे सरस्वती-पुत्र एवं अपने परमेष्ठी के प्रति पूजांजली व्यक्त कर अपने जीवन में सातिशय पुण्य प्राप्त कर तथा देव, शास्त्र, गुरु के प्रति अपनी आस्था को बलवती कर अपना अपना आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सके।

इस प्रकार आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के साहित्य की आपूर्ति की समस्या की पूर्ती इस चातुर्मास में अजमेर समाज ने सम्पन्न की है उसके पीछे एक ही भावना है कि अखिल भारतवर्षीय जन मानस एवं विद्वत जन इस साहित्य का अध्ययन, अध्यापन कर सृष्टी की तात्विक गवेषणा एवं साहित्यक छटा से अपने जीवन को सुरभित करते हुए कृत कृत्य कर सकेंगे।

इसी चातुर्मास के मध्य अनेकानेक सामाजिक एवं धार्मिक उत्सव भी आयेगें जिस पर समाज को पूज्य मुनि श्री से सारगर्भित प्रवचन सुनने का मौका मिलेगा । आशा है इस वर्ष का भगवान महावीर का निर्वाण महोत्सव एवं पिच्छिका परिवर्तन कार्यक्रम अपने आप में अनूठा होगा । जो शायद पूर्व की कितनी ही परम्पराओं से हटकर होगा ।

अन्त में श्रमण संस्कृति के महान साधक महान तपस्वी, ज्ञानमूर्ति, चारित्र विभूषण, बाल ब्रह्मचारी परम पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पुनीत चरणों में तथा उनके परम सुयोग्यतम शिष्य चारित्र चक्रवर्ती पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज और इसी कड़ी में पूज्य मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज, क्षुल्लकगण श्री गम्भीर सागर जी एवं श्री धैर्य सागरजी महाराज के पुनीत चरणों में नत मस्तक होता हुआ शत्-शत् वंदन, शत्-शत् अभिनंदन करता हुआ अपनी विनीत विनयांजली समर्पित करता हूँ ।

इन उपरोक्त भावनाओं के साथ प्राणी मात्र के लिए तत्वगवेषणा हेतु यह ग्रन्थ समाज के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं । यह **जयोदय महाकाव्य** (उत्तरांश) श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामलजी शास्त्री ने लिखा था, यही ब्र. बाद में आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के नाम से जगत विख्यात हुए।

इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण वीर निर्माण संवत् २५१५ में श्री ज्ञानोदय प्रकाशन - पिसनहारी, जबलपुर - 3 से प्रकाशित हुआ था । उसी प्रकाशन को पुनः यथावत प्रकाशित करके इस ग्रन्थ की आपूर्ती की पूर्ती की जा रही है । अतः पूर्व प्रकाशक का दिगम्बर जैन समाज अजमेर आभार व्यक्त करती है । एवं इस द्वितीय संस्करण में दातारों का एवं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष से जिन महानुभोवों ने सहयोग दिया है, उनका भी आभार मानते हैं ।

इस ग्रन्थ की महिमा प्रथम संस्करण से प्रकाशकीय एवं प्रस्तावना में अतिरिक्त है । जो इस प्रकाशन में भी यथावत संलग्न हैं ।

विनीत

**श्री दिगम्बर जैन समिति**

**एवं सकल दिगम्बर जैन समाज**

अजमेर (राज)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# परम पूज्य आचार्य १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज
# सांख्यिकी – परिचय

प्रस्तुति - कमल कुमार जैन

## पारिवारिक परिचय :

जन्म स्थान - राणोली ग्राम (जिला सीकर) राजस्थान; जन्म काल - सन् १८९१
पिता का नाम - श्री चतुर्भुज जी; माता का नाम - श्रीमती घृतवरी देवी
गोत्र - छाबड़ा (खंडेलवाल जैन); बाल्यकाल का नाम - भूरामल जी
भ्रात परिचय - पाँच भाई (छगनलाल/भूरामल/गंगाप्रसाद/गौरीलाल/एवं देवीदत्त)
पिता की मृत्यु - सन १९०२ में शिक्षा - प्रारम्भिक शिक्षा गांव के विद्यालय में एवं शास्त्रि स्तर की शिक्षा स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस (उ. प्र.) से प्राप्त की ।

## साहित्यिक परिचय :

संस्कृत भाषा में

* दयोदय / जयोदय / वीरोदय / (महाकाव्य)
* सुदर्शनयोदय / भद्रोदय / मुनि मनोरंजनाशीति - (चरित्र काव्य)
* सम्यकत्व सार शतक (जैन सिद्धान्त)
* प्रवचन सार प्रतिरुपक (धर्म शास्त्र)

हिन्दी भाषा में

* ऋषभावतार / भाग्योदय / विवेकोदय / गुण सुन्दर वृत्तान्त (चरित्र काव्य)
* कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन / सचित्तविवेचन / तत्वार्थसूत्र टीका / मानव धर्म (धर्मशास्त्र)
* देवागम स्तोत्र / नियमसार / अष्टपाहुड़ (पद्यानुवाद)
* स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म और जैन विवाह विधि

## चारित्र पथ परिचय :

* सन १९४७ (वि. सं. २००४) में व्रतरुप से ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की ।
* सन १९५५ (वि. सं. २०१२) में क्षुल्लक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५७ (वि. सं. २०१४) में ऐलक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५९ (वि. सं. २०१६) में आचार्य १०८ श्री शिवसागर महाराज से उनके प्रथम शिष्य के रुप में मुनि दीक्षा धारण की । स्थान खानिया (जयपुर) राज । आपका नाम मुनि ज्ञानसागर रखा गया ।
* ३० जून सन् १९६८ (आषाढ़ शुक्ला ५ सं. २०२५) को ब्रह्मचारी विद्याधर जी को मुनि पद की दीक्षा दी जो वर्तमान में आचार्य श्रेष्ठ विद्यासागर जी के रुप में विराजित है ।
* ७ फरवरी सन् १९६९ (फागुन वदी ५ सं. २०२५) को नसीराबाद (राजस्थान) में जैन समाज ने आपको आचार्य पद से अलंकृत किया एवं इस तिथि को विवेकसागर जी को मुनिपद की दीक्षा दी ।
* संवत् २०२६ को ब्रह्मचारी जमनालाल जी गंगवाल खाचरियावास (जिला-सीकर) रा. को क्षुल्लक दीक्षा दी और क्षुल्लक विनयसागर नाम रखा । बाद में क्षुल्लक विनयसागर जी ने मुनिश्री विवेकसागर जी से मुनि दीक्षा ली और मुनि विनयसागर कहलाये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

* संवत् २०२६ में ब्रह्म. पन्नालाल जी को केशरगंज अजमेर (राज.) में मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी ।
* संवत् २०२६ में बनवारी लाल जी को मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी ।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद में ब्रह्म. दीपचंदजी को क्षुल्लक दीक्षा दी, और क्षु. स्वरुपानंदजी नाम रखा जो कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी के समाधिस्थ पश्चात् सन् १९७६ (कुण्डलपुर) तक आचार्य विद्यासागर महाराज के संघ में रहे ।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद जैन समाज ने आपको चारित्र चक्रवर्ती पद से अलंकृत किया ।
* क्षुल्लक आदिसागर जी, क्षुल्लक शीतल सागर जी (आचार्य महावीर कीर्ति जी के शिष्य भी आपके साथ रहते थे ।
* पांडित्य पूर्ण, जिन आगम के अतिश्रेष्ठ ज्ञाता आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने जीवन काल में अनेकों श्रमण/आर्यिकाएँ/ऐलक/क्षुल्लक/ब्रह्मचारी/श्रावकों को जैन आगम के दर्शन का ज्ञान दिया। आचार्य श्री वीर सागर जी/आचार्य श्री शिवसागर जी/आचार्य श्री धर्मसागर जी/आचार्य श्री अजित सागर जी / एवं वर्तमान श्रेष्ठ आचार्य विद्यासागर जी इसके अनुपम उदाहरण है ।

## आचार्य श्री के चातुर्मास परिचय

* संवत् २०१६ - अजमेर सं. २०१७ - लाडनु; सं. २०१८ - सीकर (तीनों चातुर्मास आचार्य शिवसागर जी के साथ किये)
* संवत २०१९ - सीकर; २०२० - हिंगोनिया (फुलेरा); सं. २०२१ - मदनगंज - किशनगढ़ सं. २०२२ - अजमेर; सं. २०२३ - अजमेर, सं. २०२४ - मदनगंज-किशनगढ़ सं. २०२५ - अजमेर (सोनी जी की नसियाँ); सं. २०२६ - अजमेर (केसरगंज); सं. २०२७ - किशनगढ़ रैनवाल; सं. २०२८ - मदनगंज-किशनगढ़ सं. २०२९ - नसीराबाद।

## विहार स्थल परिचय

* सं. २०१२ से सं. २०१६ तक क्षुल्लक/ ऐलक अवस्था में - रोहतक/हासी/हिसार/गुउगाँवा/रिवाड़ी/ एवं जयपुर ।
* सं. २०१६ से सं. २०२९ तक मुनि/आचार्य अवस्था में - अजमेर/लाडनू/सीकर/हिंगोनिया/फुलेरा/मदनगंज-किशनगढ़/नसीराबाद/बीर/रुपनगढ़/मरवा/छोटा नरेना/साली/साकून/हरसोली/छप्या/दूदू/मोजमाबाद/चोरु/झाग/सांवरदा/खंडेला/हयोढ़ी/कोठी/मंडा-भीमसींह/भींडा/किशनगढ़-रैनवाल/कांस/श्यामगढ़/मारोठ/सुरेरा/दांता/कुली/खाचरियाबाद एवं नसीराबाद ।

## अंतिम परिचय

| | |
|---|---|
| * आचार्य पद त्याग एवं संल्लेखना व्रत ग्रहण | - मंगसर वदी २ सं. २०२९ (२२ नवम्बर सन् १९७२) |
| * समाधिस्थ | - ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या सं. २०३० (शुक्रवार १ जून सन् १९७३) |
| * समाधिस्थ समय | - पूर्वान्ह १० बजकर ५० मिनिट । |
| * सल्लेखना अवधि | - ६ मास १३ दिन (मिति अनुसार) ६ मास १० दिन (दिनांक अनुसार) |

दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिश्रेष्ठ अनुयायी के चरणों में श्रद्धेव नमन् । शत् शत् नमन ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# प्रकाशकीय

जैन साहित्य और इतिहास के मर्मज्ञ एवं अनुसंधाता स्वर्गीय सरस्वतीपुत्र पं. जुगल किशोर जी मुख्तार ''युगवीर'' ने अपनी साहित्य इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान- प्रवृत्तियों को मूर्त्तरुप देने के हेतु अपने निवास सरवासा (सहारनपुर) में ''वीर सेवा मंदिर'' नामक एक शोध संस्था की स्थापना की थी और उसके लिए क्रीत विस्तृत भूखण्ड पर एक सुन्दर भवन का निर्माण किया था, जिसका उद्‌घाटन वैशाख सुदि 3 (अक्षय-तृतीया), विक्रम संवत् 1993, दिनांक 24 अप्रैल 1936 में किया था। सन् 1942 में मुख्तार जी ने अपनी सम्पत्ति का ''वसीयतनामा'' लिखकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी। ''वसीयतनामा'' में उक्त ''वीर सेवा मन्दिर'' के संचालनार्थ इसी नाम से ट्रस्ट की भी योजना की थी, जिसकी रजिस्ट्री 5 मई 1951 को उनके द्वारा करा दी गयी थी। इस प्रकार पं. मुख्तार जी ने वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट की स्थापना करके उनके द्वारा साहित्य और इतिहास के अनुसन्धान कार्य को प्रथमतः अग्रसारित किया था।

स्वर्गीय बा. छोटेलालजी कलकत्ता, स्वर्गीय ला. राजकृष्ण जी दिल्ली, रायसाहब ला. उल्फतरायजी दिल्ली आदि के प्रेरणा और स्वर्गीय पूज्य क्षु. गणेश प्रसाद जी वर्णी (मुनि गणेश कीर्ति महाराज) के आशीर्वाद से सन् 1948 में श्रद्धेय मुख्तार साहब ने उक्त वीर सेवा मन्दिर का एक कार्यालय उसकी शाखा के रुप में दिल्ली में,उसके राजधानी होने के कारण अनुसन्धान कार्य को अधिक व्यापकता और प्रकाश मिलने के उद्देश्य से, राय साहब ला.उल्फतरयजी के चैत्यालय में खोला था।पश्चात् बा. छोटे लालजी,साहू शान्तिप्रसादजी और समाज की उदारतापूर्ण आर्थिक सहायता से उसका भवन भी बन गया, जो 21 दरियागंज दिल्ली में स्थित है और जिसमें ''अनेकान्त'' (मासिक) का प्रकाशन एवं अन्य साहित्यिक कार्य सम्पादित होते हैं। इसी भवन में सरसावा से ले जाया गया विशाल ग्रन्थागार है, जो जैनविद्या के विभिन्न अङ्गो पर अनुसन्धान करने के लिये विशेष उपयोगी और महत्वपूर्ण है।

वीर-सेवा मन्दिर ट्रस्ट गंथ-प्रकाशन और साहित्यानुसन्धान का कार्य कर रहा है। इस ट्रस्ट के समर्पित वयोवृद्ध पूर्व मानद मंत्री एवं वर्तमान में अध्यक्ष डा. दरबारी लालजी कोठिया बीना के अथक परिश्रम एवं लगन से अभी तक ट्रस्ट से 38 महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। आदरणीय कोठियाजी के ही मार्गदर्शन में ट्रस्ट का संपूर्ण कार्य चल रहा है। अतः उनके प्रति हम हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करते हैं और कामना करते हैं कि वे दीर्घायु होकर अपनी सेवाओं से समाज को चिरकाल तक लाभान्वित करते रहें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ट्रस्ट के समस्त सदस्य एवं कोषाध्यक्ष माननीय श्री चन्द संगल एटा, तथा संयुक्त मंत्री ला.सुरेशचन्द्र जैन सरसावा का सहयोग उल्लेखनीय है । एतदर्थ वे धन्यवादार्ह हैं ।

संत शिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी के परम शिष्य पूज्य मुनि 108 सुधासागर जी महाराज के आर्शीवाद एवं प्रेरणा से दिनांक 9 से 11 जून 1994 तक श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी सागानेर में आचार्य विद्यासागरजी के गुरु आचार्य प्रवर ज्ञानसागरजी महाराज के व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व परअखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। इस संगोष्ठी में निश्चय किया था कि आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त ग्रन्थों का प्रकाशन किसी प्रसिद्ध संस्था से किया जाय । तदनुसार समस्त विद्वानों की सम्मति से यह कार्य वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट ने सहर्ष स्वीकार कर सर्वप्रथम वीरोदयकाव्य के प्रकाशन की योजना बनाई और निश्चय किया कि इस काव्य पर आयोजित होने वाली गोष्ठी के पूर्व इसे प्रकाशित कर दिया जाय । परम हर्ष है कि पूज्य मूनि 108 सुधासागर महाराज का संसघ चातुर्मास अजमेर में होना निश्चय हुआ और महाराज जी के प्रवचनों से प्रभावित होकर श्री दिगम्बर जैन समिति एवम् सकल दिगम्बर जैन समाज अजमेर ने पूज्य आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज के वीरोदय काव्य सहित समस्त ग्रन्थों के प्रकाशन एवं संगोष्ठी का दायित्व स्वयं ले लिया और ट्रस्ट को आर्थिक निर्भार कर दिया । एतदर्थ ट्रस्ट अजमेर समाज का इस जिनवाणी के प्रकाशन एवं ज्ञान के प्रचार प्रसार के लिये आभारी है ।

प्रस्तुत कृति **जयोदय महाकाव्य** (उत्तरांश) के प्रकाशन में जिन महानुभाव ने आर्थिक सहयोग किया तथा मुद्रण में निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स, अजमेर ने उत्साह पूर्वक कार्य किया है। वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं ।

अन्त में उस संस्था के भी आभारी है जिस संस्था ने पूर्व में यह ग्रन्थ प्रकाशित किया था । अब यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है । अतः ट्रस्ट इसको प्रकाशित कर गौरवान्वित है । जैन जयतुं शासनम् ।

दिनाङ्क : 9-9-1994

(पर्वाधिराज पर्यूषण पर्व)

**डॉ. शीतल चन्द जैन**
मानद मंत्री
वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
1314 अजायव घर का रास्ता
किशनपोल बाजार, जयपुर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# प्रथम संस्करण से

## प्रकाशकीय

एक दशकसे भी अधिक जैसे दीर्घकालसे प्रतीक्षित 'जयोदय-महाकाव्य' के उत्तरांशको पाठकों तक सौंपकर प्रसन्नताका अनुभव हो रहा है। इसके प्रकाशनमें इतना विलम्ब होनेके कई कारण रहे; यथा—(१) इसकी पाण्डुलिपि ही सुरक्षित नहीं मिल सकी, (२) इसके सम्पादन एवं हिन्दी रूपान्तरणके लिए सुयोग्य विद्वान्का अभाव, (३) पूर्वार्धं प्रकाशित करने वाली संस्थाकी गतिविधियोंमें ह्रास, (४) अन्य प्रकाशन संस्थाओंसे सम्पर्क आदि।

जैसा कि पूर्वार्धके सम्पादक श्रद्धेय पण्डित हीरालालजी शास्त्रीकी भावनानुसार इस ग्रन्थका सम्पादन डॉ० पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्यजीको करना चाहिए, कारण वे इस विषयके अधिकारी एवं सुख्यात विद्वान् हैं। अतः इस उत्तरांशका कार्य उन्हींपर सौंपा गया। पहले तो उन्होंने व्यस्तता एवं अस्वस्थताके कारण असमर्थता प्रकट की, किन्तु कुछ समय बाद जब मैंने स्वयं आग्रह कर सहयोग देनेकी बात की तब कहीं इसके अनुवाद एवं सम्पादनका कार्य आरम्भ हो सका। इस कार्यमें पण्डितजीको अत्यधिक श्रम करना पड़ा। जिसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ और खेद भी कि आज भी समाजमें इस विषयके तज्ञ विद्वान् अन्य नहीं हैं।

इस महाकाव्यके प्रकाशनमें मेरी रुचि होनेका मूलभूत कारण यही रहा कि प्रस्तुत कृतिकी विशिष्टाओंका समीचीन/निष्पक्ष/सार्थक मूल्यांकन हो एवं इसे संस्कृत साहित्य जगत्में उचित स्थान मिले। साथ ही, बीसवीं सदी जैसा दुष्कालमें भी देव भारतीके महाकविके अवतरण एवं उनके साहित्यका संस्कृत समाज आदर और गौरव स्थापित कर सके।

इसे दुर्भाग्य ही कहें कि इस ग्रन्थका प्रकाशन बादको हो पा रहा है। इससे पहले इस पर पी० एच० डी० की उपाधि ग्रहण कर दो शोध छात्रोंने अपनेको गौरवान्वित किया तथा दो अभी भी कार्यरत हैं। कितना सुखद होता कि यदि उन्हें इस ग्रन्थका टीका सहित अवलोकन कर कार्य कर सकनेका अवसर मिलता। इससे अधिक सुखकर तो यह होगा कि इसके अठारहवें सर्ग, जिसमें प्रमुख स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियोंका उल्लेख हुआ है को, विश्वविद्यालय पाठ्यक्रममें सम्मिलित कर जहाँ इस महाकाव्यका भी अन्यों सम पठन-पाठन कार्यों तथा छात्रोंको देशके लिए समर्पित देशभक्तोंकी कुर्बानियोंके प्रति आदर की भावना पैदा करायें। वहीं बीसवीं सदीमें सृजित एकमेव महाकाव्यको लोकख्याति दिला संस्कृत साहित्यके विकासके ऐतिहासिक पृष्ठोंमें अपनेको तथा इस सदीको स्वर्णांकित करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विनत हूँ मैं महाकवि भूरामलजीके आश्चर्योत्पादक व्यक्तित्व प्रतिभाके प्रति। जिससे कि आज भी महाकविकी परम्पराका विकास हुआ और संस्कृत-साहित्यकी समृद्धिमें अकल्पनीय घटना घटी। प्रस्तुत कृतिपर प्रस्तावना लेखनके लिए डॉ० भागीरथ-जी त्रिपाठी "वागीश" से निवेदन किया गया। जिसे उन्होंने सहज स्वीकार कर प्रस्तावना लिखने की कृपा की। उनकी इस साहित्याभिरुरुचिसे उपकृतहोता हुआ मैं उनके प्रति हृदयसे आभार व्यक्त करता हूँ।

डॉ० पन्नालालजी साहित्याचार्यका आभार किन शब्दोंमें व्यक्त करूँ; इसके लिए मुझमें न तो बुद्धि है और न शब्द। कारण मुझे विवशतावश वृद्धावस्थामें भी उनसे इतना अधिक काम कराना पड़ा। जिसे उन्होंने बिना प्रतिवाद किये सहर्ष किया भी। उनके प्रति विनम्र भावाञ्जलि अर्पित करते हुए कामना करता हूँ कि वे शतायुष्क हों। दीर्घ-काल तक हम सभीका मार्ग प्रशस्त करते रहें। इसके प्रकाशनमें अजमेर निवासी श्री महेन्द्र-कुमारजीका सहयोग भी स्मरणीय है, जिन्होंने योजनानुसार इसकी कुछ प्रतियाँ विद्वानों एवं ग्रन्थालयोंमें भेंट हेतु प्रकाशन-पूर्व ही सुरक्षित करा दीं। स्वच्छ एवं शुद्ध मुद्रण हेतु वर्द्धमान मुद्रणालयके अधिकारी एवं सहयोगियोंको भूल पाना मेरे लिए असम्भव है। उन्हें भी हार्दिक साधुवाद। और अन्तमें ज्ञानोदय प्रकाशनकी गतिविधियोंके प्रेरणा-स्रोत परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराजके प्रति विनयाभिभूत हूँ जिनके सुस्मरण एवं शुभाशीषसे ही इस कृतिके प्रकाशनका आदिसे अन्त तकका संबल प्राप्त हुआ।

ज्ञानोदय प्रकाशन महाकवि भूरामलजीके इस महाकाव्यको नेहरू जन्मशताब्दी वर्षमें प्रकाशित कर अपनी प्रकाशन शृंखलामें संयुक्त होती इस अभिनव कड़ीको शिरोमणि उपलब्धि रूप मानता हुआ गौरवका सम्पादन|संवेदन कर रहा है।

पिसनहारी, ४८२००३, ०४०४८९

राकेश जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# प्रथम संस्करण से

## भूमिका

संस्कृतभाषाका लालित्य जम्बूद्वीपके कवियोंको चिरकालसे अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। वैदिक ऋचाओंमें ऋषियोंने रूपकोंका आश्रय लेकर प्रकृतिकी अभिरामताको यथेष्ट रूपसे निबद्ध किया। यद्यपि उपनिषत्कालीन वाङ्मयमें संस्कृतभाषाका विश्लिष्ट स्वरूप विशेषतः निखर कर लोकके सामने आता है, तथापि लौकिक संस्कृतमें काव्यरूपताकी पूर्ण छवि वाल्मीकि वाङ्मयमें छिटकती है। लोकमङ्गलकारी आदर्श विषयवस्तुकी रसात्माको समुचित भाषापरिधानके माध्यमसे इस प्रकार प्रतिपादित करना कि वस्तुतत्त्व रसिक जनोंके चित्तमें उतर सके। यही कविकौशल है, इसीमें कविके काव्यका सार्थक्य है तथा स्वयं की परितृप्ति है। साहित्य वह कृति है जो श्रोता अथवा पाठकके मनोवेगोंको तरंगित करनेमें समर्थ होती है। काव्यस्रष्टा जिस प्रकार चाहता है, काव्यसृष्टि करता है। ध्वन्यालोककारका कथन है कि काव्यरूपी अनन्त जगत्का प्रजापति कवि ही है, उसे यह जगत् जिस प्रकार रुचता है, इस जगत्को उसीके अनुरूप परिवर्तित हो जाना पड़ता है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

वैदिक कालसे ही स्थानीय बोलियोंका विकास होने लगा था। भाषा-विश्लेषण द्वारा शिष्ट प्रयोगोंका निर्धारण किया जाने लगा था। इस प्रकार उस कालमें शिष्टभाषा और सामान्यभाषाकी सीमारेखा खिंच गई थी। 'मृध्र-वाचः' जनोंका एक पृथक् ही वर्ग था। भगवान् बुद्धके कालमें संस्कृतभाषाकी विविध प्राकृतभाषाएँ विकसित हो चुकी थीं। भगवान् बुद्धने अपने उपदेश सामान्य जन तक पहुँचाने हेतु तदानीन्तन जनभाषाका प्रयोग किया था। भगवान् महावीरने भी अपने उपदेश संस्कृत भाषामें नहीं दिये।

महाभाष्यकार भगवान् पतंजलिने परापर विद्याओंके निष्णात विद्वानोंको भी प्राकृतसे प्रभावित बताया है। भारतीय समग्र प्रदेशोंके व्यवहार को एकसूत्रतामें बाँधने लिए संस्कृत सेतुके रूपमें प्रधानभाषाकी भूमिकाका निर्वाह कर रही थी। सभी प्राकृतें संस्कृतसे संबद्ध थीं। अतः राष्ट्रिय व्यवहार के लिए संस्कृतभाषा सम्पर्कभाषा एवं साहित्यिक भाषाके रूपमें सबको मान्य थी। प्राकृतभाषाके मूल ग्रन्थों पर व्याख्याएँ संस्कृतमें रची जाती थीं।

वात्स्यायनभाष्य और न्यायवार्तिकके सिद्धान्तोंके प्रत्याख्यानके लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो संस्कृतमें बौद्ध न्याय ग्रन्थोंकी बाढ़-सी आ गई। जैन न्याय भी संस्कृत भाषा में पीछे नहीं रहा। बौद्ध और जैन विद्वानोंका ध्यान संस्कृत व्याकरण शास्त्रकी ओर गया। प्रथम शताब्दी स्थित जैन विद्वान् शर्ववर्माने कातन्त्र व्याकरण तथा चतुर्थ शताब्दी स्थित बौद्ध विद्वान् चन्द्रगोमीने चान्द्रव्याकरणकी रचना की। किन्तु उनके द्वारा अभी लोकहृदय-संस्पर्शी लोकसाहित्यकी सृष्टिका श्रीगणेश संस्कृतमें नहीं किया जा सका था। इस कार्यका शुभारम्भ किया अयोध्यामें जन्मे ब्राह्मण अश्वघोषने। उनके द्वारा विरचित 'बुद्धचरितम्' लौकिक संस्कृत साहित्यकी उत्कृष्ट कृति है। यद्यपि सौन्दरनन्द भी उनकी ही रचना है, तथापि साहित्यिक गुणोंकी दृष्टिसे बुद्धचरितम् कालिदासीय काव्यसे कथमपि न्यून नहीं है।

बौद्ध संस्कृत साहित्यमें अश्वघोषप्रणीत काव्य आदिम भी है और अन्तिम भी। उक्त संस्कृत साहित्यमें संस्कृत साहित्यकी अन्य विधाओंका विकास ही नहीं हो सका। इसके विपरीत जैन विद्वानों द्वारा विरचित कृतियोंमें काव्यकी विविध विधाओंके शवलतामय दर्शन होते हैं। इनमें महाकाव्य, लघुकाव्य, कथासाहित्य प्रबन्धसाहित्य, सन्धानकाव्य, चम्पूकाव्य, गीतिकाव्य, दूतकाव्य, सुभाषित, पादपूर्तिसाहित्य, नाटक-नाटिका ( दृश्यकाव्य ), स्तोत्रसाहित्य, प्रशस्ति साहित्य पट्टावलि तथा गुर्वावलि साहित्य, विज्ञप्तिपत्र साहित्य, गद्यकाव्य एवं साहित्यव्याख्याएँ संस्कृतवाङ्मयकी विशालनिधिके रूपमें हमें उपलब्ध हैं।

जैन विद्वानोंने नूतन काव्यशैलीमें संस्कृत रचनाओंका शुभारम्भ ईसवीय तृतीय-चतुर्थ शताब्दीसे ही कर दिया था। किन्तु पाँचवीं शताब्दी तक जैन काव्यवाङ्मयकी कृतियोंका परिचय अन्यत्र उल्लेखके द्वारा ही हमें मिलता है। परन्तु सातवीं शताब्दीसे सर्वाङ्गपूर्ण विकसित काव्यवाङ्मय उपलब्ध होने लगता है। यद्यपि जैनोंका धर्म प्रधानतया त्याग और वैराग्य पर बल देता है, तथापि जैन विद्वान् युगकी आवश्यकताको दृष्टिगत रखकर काव्यप्रणयनमें प्रवृत्त हुए। उनके शुष्क उपदेशोंको प्रभावशाली ललित शैलीके बिना कौन सुननेको तत्पर होता। यद्यपि जैन मुनियोंको शृङ्गारमय कथाओंका श्रवण एवं उपदेश वर्जित था, तथापि श्रावक वर्गको इस प्रकारके साहित्यमें रसोपलब्धि होती थी। युगानुरूपताको ध्यानमें रखकर जैन विद्वान् इस ओर प्रवृत्त हुए। साहित्यनिर्माणके क्षेत्रमें जैन विद्वानोंने सर्वतः प्रथम लोकरुचिकी ओर ध्यान दिया। किन्तु गुप्तकालमें और उसके परवर्ती युगमें संस्कृत वस्तुतः पाण्डित्यपूर्ण विवेचनों तथा काव्यरचनाओं की भाषा बन गई थी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृत काव्यरचनाकी दिशामें दक्षिण भारत, गुजरात तथा राजस्थान के विद्वानोंको मुख्यतः श्रेय प्राप्त है। ईसाकी सातवीं शताब्दीसे हमें जैन विद्वानों द्वारा प्रणीत काव्यरचनाएँ उपलब्ध हैं। उनमें रविषेण द्वारा विरचित पद्मचरित या पद्मपुराणको प्रथम संस्कृत रचना कहा जा सकता है। जटासिंह नन्द्याचार्य द्वारा प्रणीत वराङ्गचरित महाकाव्य भी सप्तम शताब्दीकी कृति है। अष्टम शताब्दीमें स्थित महाकवि धनञ्जयकी द्विसन्धानकाव्यम् अथवा राघव-पाण्डवीयम् नामक रचना संस्कृतवाङ्मयकी अनतिसाधारण एवं प्रसिद्ध कृति मानी जाती है। इसी शताब्दीकी दो अन्य काव्यकृतियाँ भी उल्लेखनीय हैं—१. कर्नाटकदेशस्थ पुन्नाटसंघीय जिनसेन विरचित हरिवंशपुराण महाकाव्य अथवा अरिष्टनेमि पुराणसंग्रह तथा २. राजस्थानी जैन विद्वान् जिनसेन एवं गुणभद्र द्वारा संदृब्ध महापुराण ( आदिपुराण )। नवम शताब्दीकी दो रचनाएँ महनीय हैं—गुणभद्र एवं लोकसेन रचित उत्तरपुराण तथा हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश।

कुछको छोड़कर प्रारम्भिक कालसे सोलहवीं शताब्दी तक पौराणिक शैली में काव्यों तथा महाकाव्योंकी रचनाका क्रम बना। इसलिए ऐसी कृतियों को पौराणिक रचना नाम दिया जा सकता है। पौराणिक युग कहना अधिक संगत नहीं जँचता क्योंकि तत्समकालीन ऐतिहासिक एवं अलंकारप्रधान शास्त्रीय महाकाव्योंकी भी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। कवियोंने पौराणिक रचनाओं के साथ प्रायः पुराण शब्दका प्रयोग भी किया है। पौराणिक काव्य प्रायः बृहत्काय भी होते थे। उदाहरणार्थ महापुराण (आदिपुराण) ७६ पर्वोंमें लिखा गया विशाल ग्रन्थ है। हरिवंश पुराण महाकाव्य ६६ सर्गोंमें निबद्ध है।

दसवीं शताब्दीमें वाग्भटने नेमिनिर्वाणमहाकाव्य और महासेन सूरिने प्रद्युम्न चरितकाव्य रचा। ये वाग्भट वाग्भटालंकारके कर्ता वाग्भटसे भिन्न तथा पूर्ववर्ती ठहरते हैं। नेमिनिर्वाण महाकाव्यके पद्य वाग्भटालंकारमें उद्धृत हैं। ग्यारहवीं शताब्दीसे जैन विद्वानोंने संस्कृतकाव्य और महाकाव्यमें वैशिष्ट्य उपनत किया। पुंगव ओडयदेव वादीभसिंहके 'क्षत्रचूडामणि' नामक लघुकाव्य के प्रत्येक पद्यका पर्यवसान सूक्तिमें होता है। ये संस्कृतगद्य लिखनेमें सिद्धहस्त थे। इनका गद्य-चिन्तमणि बाणभट्टकी कादम्बरीके समकक्ष माना जाता है। वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथजिनेश्वर महाकाव्य (११२५ वि. सं.) १२ सर्गोंमें आबद्ध श्लाघ्य रचना है।

शास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत वाङ्मयको समृद्ध बनानेमें कलिकालसर्वज्ञ हेम-चन्द्राचार्य (वि. सं. १२१६) का अनतिसाधारण योग रहा। उन्होंने व्याकरणादि विविध विषयों पर संस्कृतमें ग्रन्थरचना तो की ही है, साहित्यिक दृष्टिसे भी उनका कृतित्व चिरस्मरणीय रहेगा। दस पर्वोंमें निबद्ध 'त्रिषष्टिशलाकाचरितम्'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनकी अनुपम कृति है। इसका प्रत्येक पर्व अनेक सर्गोंमें विभक्त है। बारहवीं शताब्दीके तीन अन्य काव्य एवं महाकाव्य उत्कृष्ट कोटिके हैं—१. जयसिंहसूरि-प्रणीत कुमारभूपालचरितम्[१], २. मुनिरत्नसूरिकृत असमस्वामिचरितकाव्य (२० सर्ग) तथा हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्य (१२५७ वि. सं.)।

तेरहवीं शताब्दीमें संस्कृत काव्यरचनाके क्षेत्रमें जैनकवियोंकी वृद्धि हुई। यद्यपि इस कालमें कई दर्जन काव्यों और महाकाव्योंकी रचना हुई, तथापि डेढ़ दर्जन कृतियाँ वस्तुतः उल्लेखनीय हैं। जिनपालगणिका सनत्कुमारचरितमहाकाव्य, महाकवि आशाधर कृत भरतेश्वराभ्युदय काव्य (सिद्धयङ्कमहाकाव्य) तथा देवप्रभसरि विरचित पाण्डवचरित इस शताब्दीके प्रारम्भकी श्लाघ्य कृतियाँ हैं। गुर्जरदेशीय विद्वान् भट्टारक वादिचन्द्रने पाण्डव पुराण काव्यकी[२] १८ सर्गोंमें रचना की। इस शृंखलामें उदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदयमहाकाव्य उल्लेखनीय कृति है। काव्यप्रकाशके टीकाकार माणिक्यचन्द्र सूरिने पार्श्वनाथचरितमहाकाव्य तथा शान्तिनाथचरितका प्रणयन किया। विजयचन्द्रसूरिने पार्श्वनाथचरितमहाकाव्य रचा। इस प्रकार एक ही विषयवस्तु पर समकालीन दो महाकाव्योंका प्रणयन उल्लेखनीय कविकर्म है। वस्तुपालरचित नरनारायणनन्द काव्य, अभयदेवसूरि विभावित जयन्तविजयमहाकाव्य, ठक्कुर अरिसिंहप्रणीत सुकृतसंकीर्तनम्, उदयप्रभसूरिकृत सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी, बालभारतके रचयिता अमरचन्द्रसूरिका चतुर्विंशतिजिनेन्द्रसंक्षिप्तचरितानि, विनयचन्द्र सूरिका मल्लिनाथचरित, चन्द्रतिलक उपाध्यायका अभयकुमारचरितकाव्य, माणिक्यदेव सूरिका सौ सर्गोंमें निबद्ध नलायन महाकाव्य, और बालचन्द्र सूरिका वसन्तविलास काव्य प्रशस्त कृतियोंके अन्तर्गत परिगणनीय हैं।

चौदहवीं शताब्दी में विरचित पुण्डरीकचरितमहाकाव्य (कमलप्रभसूरिकृत), श्रेणिकचरितमहाकाव्य अथवा दुर्गवृत्तिद्वयाश्रयमहाकाव्य (जिनप्रभसूरिकृत), शान्तिनाथचरितमहाकाव्य (मुनिभद्रसूरि), पार्श्वनाथचरितमहाकाव्य (भावदेवसूरि), हम्मीरमहाकाव्य (नयनचन्द्रसूरि), वस्तुपालचरित (जिनहर्षगणि) एवं हरिवंशपुराणमहाकाव्य (राजस्थानी विद्वान् भट्टारक सकलकीर्ति तथा ब्रह्मजिनदास) कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। अन्तिम कृति ४० सर्गों में निबद्ध है।

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ६ में डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरीके अनुसार इस ग्रन्थका नाम 'कुमारपालभूपालचरित' एवं रचना काल पन्द्रहवीं शताब्दी है।—प्र०

२. जैन साहित्यका बृहद् इतिहास (भाग ६) में डा० गुलाबचन्द चौधरीके अनुसार 'पाण्डवपुराणकी रचना सं० १६५२ में नोधकनगर में हुई थी।'—प्र०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृत में काव्य एवं महाकाव्य के प्रणयन का उत्साह पन्द्रहवीं शताब्दी तक आते-आते क्षीण पड़ जाता है। सम्भवतः भारतपर हुए विदेशी आक्रमणोंके दुष्प्रभावसे जैन विद्वन्मण्डली अछूती नहीं रही। इस शताब्दीमें विरचित काव्यों-में दो ही विशेषतः उल्लेखनार्ह हैं—माणिक्यसुन्दरकृत—१. श्रीधरचरितमहा-काव्य तथा ब्रह्म अजित विरचित—२. अञ्जनाचरितकाव्य अथवा हनूमच्चरित-काव्य[1]।

सोलहवीं शताब्दीमें भी जैन संस्कृतकाव्यधारा सूखने नहीं पाई। भट्टा-रक शुभचन्द्रने पाण्डवपुराणकाव्यकी २५ पर्वोंमें रचनाकी, जिसमें छः हजार श्लोक विद्यमान हैं। तेरहवीं शताब्दीमें गुर्जरदेशीय विद्वान् भट्टारक वादिचन्द्र इसी नामसे काव्यकी रचना कर चुके थे। अतः इस परवर्ती काव्यमें कविने विशिष्टता दिखाई है। आकारमें यह ग्रन्थ पूर्ववर्ती काव्यसे द्विगुणित है। संस्कृत भाषा सरल एवं सरस है। ४६ वर्षोंके पश्चात् गुर्जरदेशीय विद्वान् वादिचन्द्रने एक दूसरे पाण्डवपुराणकाव्यका १८ सर्गोंमें प्रणयन किया। उपाध्याय पद्मसुन्दर का रायमल्लाभ्युदय तथा रविसागरगणिका साम्बप्रद्युम्नचरितम् उत्तम कृतियाँ हैं। यह शताब्दी पौराणिक काव्योंकी अन्तिम सीमा सिद्ध हुई।

सत्रहवीं शताब्दीमें जैन संस्कृत काव्यधारा सूखने लग गई थी। इस शताब्दीकी एक ही उल्लेखनीय रचना है—मेघविजयगणिकृत सप्तसन्धानमहा-काव्य। अट्ठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियोंमें जैन विद्वानोंने संस्कृतवाङ्मयको किसी महाकाव्य कृतिसे अलंकृत नहीं किया। यद्यपि अन्य विधाओंमें छिटपुट संस्कृत रचनाएँ तो अवश्य हुई हैं, तथापि पूर्व शताब्दियों में सम्पादित कृतियोंके तुल्य उल्लेखनीय रचनाओंका अभाव ही रहा।

बीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्ध (वि० संवत् १९९४ तथा सन् १९३७ ई०) में राजस्थानी वीरभूमिके सुपुत्र बालब्रह्मचारी वाणीभूषण भूरामलशास्त्री खंडेल-वालने अद्वितीय 'जयोदयमहाकाव्य'को रचना करके पूर्ववर्ती दो शताब्दियोंकी शुष्क काव्यधाराको पुनः प्रवाहित किया। चर्च्य महाकाव्य २८ सर्गोंमें निबद्ध है। इसमें जिनसेन प्रथम द्वारा प्रणीत महापुराणमें पल्लवित ऋषभदेव-भरत-कालीन जयकुमार एवं सुलोचनाके पौराणिक कथानकको पुष्पित किया गया है। इस महाकाव्यका नामान्तर 'सुलोचनास्वयंवरमहाकाव्य' भी है—'जयोदयापर-सुलोचनास्वयंवरमहाकाव्य एकविंशतितमः सर्गः'। इसके अन्य उपजीव्य साहित्य में उल्लेख्य हैं—महासेनकृत सुलोचनाकथा (वि० सं० ८००), गुणभद्रकृत महा-

१. उपर्युक्त ग्रन्थके अनुसार 'इनमेंसे संस्कृतमें १७वीं शताब्दीके विद्वान् ब्रह्मअजितने १२ सर्गमें एक हनुमच्चरित्रकी रचनाकी है।' भाग ६ पृ० १३९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुराणके अन्तिम पाँच पर्व (वि० सं० ९००), हस्तिमल्लकृत विक्रान्तकौरव अथवा सुलोचनानाटक (वि० सं० १२५०), वादिचन्द्रभट्टारककृत सुलोचनाचरित (वि० सं० १६७१), ब्र० कामराजप्रणीत जयकुमारचरित (वि० सं० १७१०) तथा ब्र० प्रभुराजविरचित जयकुमारचरित।

जयोदय महाकाव्यकी कथावस्तु ऐतिहासिक है। जयकुमारका अपर अभिधेय मेघेश्वर भी है। ये हस्तिनापुरके नरेश हैं। किन्तु चक्रवर्ती भरतके सेनापति भी हैं। इनकी पत्नी सुलोचनाके चरित्रका आधार लेकर जैन कवियों ने कथा, काव्य, नाटक आदिकी रचना की है। विक्रान्तकौरवनाटक प्रसिद्ध है। जयकुमार अप्रतिम योद्धा होनेके साथ ही साथ सौन्दर्य एवं शीलके भण्डार थे। एक बार वे काशिराज अकम्पनकी राजकुमारी सुलोचनाके स्वयंवरमें सम्मिलित हुए। अयोध्याधिपति चक्रवर्ती भरतके पुत्र अर्ककीर्ति भी वहाँ उपस्थित थे। किन्तु राजकुमारी सुलोचनाकी वरमालासे जयकुमारकी ग्रीवा सुशोभित होने लगी। स्वयंवरकी समाप्तिपर अर्ककीर्ति तथा जयकुमारके मध्य संग्राम छिड़ गया। विजयश्रीने भी जयकुमारका ही वरण किया। महाकवि भूरामलने ३–५ सर्गोंमें सुलोचनास्वयंवरका वर्णन किया है। ६–८ सर्गोंमें युद्धका वर्णन किया है। नवम सर्गमें अर्ककीर्तिको प्रसन्न करने हेतु काशिराज अकम्पनने उसका विवाह सुलोचनाकी अनुजा अक्षमालासे कर दिया और उसकी सूचना चक्रवर्ती भरतको भिजवा दी। १०-१२ सर्गोंमें जयकुमारके विवाहकी तैयारियाँ, जयकुमार द्वारा सुलोचना रूप निरूपण, पाणिग्रहण, वरयात्राका सत्कार और ज्योनारका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। त्रयोदश सर्गमें काशीसे हस्तिनापुरके लिए प्रस्थान तथा गङ्गा नदीपर पड़ावका मनोरम वर्णन किया गया है। चतुर्दश सर्गमें नदीतीरोद्यान और वायुसेवनका वर्णन, पञ्चदश सर्गमें सूर्यास्तमन वेलाका अनुपम निरूपण तथा चन्द्रोत्सववर्णन किया गया है। षोडश सर्गमें निशीथोत्तरवर्ती पानगोष्ठीका वर्णन हुआ है। सप्तदश सर्गमें सुलोचनासुरतापहारका वर्णन हुआ है। अष्टादश सर्गमें सुरतोत्तर प्रभातवर्णन, उन्नीसवें सर्गमें प्रभातवन्दना, बीसवें सर्गमें जयकुमारका चक्रवर्ती भरतसे वार्तालाप, इक्कीसवें सर्गमें हस्तिनापुरको प्रस्थान, बाईसवें सर्गमें जयकुमार तथा सुलोचना का मिलनवर्णन, तेईसवें सर्गमें दम्पतिवैभववर्णन, चौबीसवें सर्गमें जयकुमार की सुलोचनाके साथ तीर्थयात्राका वर्णन पच्चीसवें सर्गमें जयकुमार वैराग्य-भावनाप्ररूपक, छब्बीसवें सर्गमें जयकुमारका जिनेन्द्र वृषभदेवसे संभाषण तथा पुत्र अनन्तवीर्यके राज्याभिषेकका वर्णन, सत्ताईसवें सर्गमें जयकुमार की दीक्षा, अट्ठाईसवें सर्गमें जयकुमारदम्पतीके उग्र तप द्वारा पाँचों इन्द्रियोंके दमन का वर्णन किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोगसे योग, परिग्रहसे त्याग तथा वीरतासे शान्तिमयताकी ओर ले जानेवाली यह एक आदर्श कथा है।

यह जयोदय काव्य अट्ठाईस सर्गों में निबद्ध है। महाकवि दण्डीके अनुसार महाकाव्यके लिए सर्गबद्धता अनिवार्य आवश्यकता मानी जाती है। धीर, उदात्त गुणोंसे युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय अथवा देवता नायक होता है। वीर, शृङ्गार अथवा शान्त—इनमेंसे अन्यतम रसको प्रधान या अङ्गी होना चाहिए। अन्य रसोंको गौण रूपसे रखा जा सकता है। इतिहास प्रसिद्ध कथानक होना चाहिए। किसी सज्जनके चरितवर्णनके रूपमें भी कथानक रखा जा सकता है। प्रत्येक सर्गमें एक ही प्रकारके छन्दमें रचना की जा सकती है। परन्तु सर्गान्तमें वृत्तपरिवर्तित कर दिया जाता है। सर्ग न तो बहुत लम्बे होने चाहिए और न बहुत छोटे। महाकाव्यत्वके लिए सर्गों की संख्या आठसे अधिक अवश्य हो। सर्गान्तमें आगामी कथानक इङ्गित हो। महाकाव्यमें प्राकृतिक दृश्योंका वर्णन आवश्यक है। इनमें सूर्योदय, सन्ध्या, प्रदोष, चन्द्रोदय, रात्रि, अन्धकार, वन, पर्वत, समुद्र, ऋतु इत्यादि वर्णनीय होते हैं। मध्य-मध्यमें वीररसके उपक्रममें युद्ध, मन्त्रणा एवं शत्रुपर आक्रमण इत्यादिका साङ्गोपाङ्ग निरूपण आवश्यक माना जाता है। नायक एवं प्रतिनायक का संघर्ष महाकाव्यत्वके लिए आवश्यक प्रतिपाद्य हैं। महाकाव्यका प्रधान उद्देश्य धर्म एवं न्यायकी विजय तथा अधर्म एवं अन्यायका पराभव भी होना चाहिए।

उक्त लक्षणोंसे लक्षित जयोदय निर्विवाद रूपसे महाकाव्यकी पंक्तिमें स्थापिन होता है। काव्यके स्थूलरूपसे दो भेद किये जा सकते हैं—१. भावप्रधान अथवा व्यक्तित्वप्रधान तथा २. विषयप्रधान। प्रथममें कविकी एकमात्र आत्माभिव्यक्ति रहती है। दूसरे प्रकारके काव्यमें कोई देश अथवा समाज प्रतिपाद्य बनता है। इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध बाह्य जगत्के साथ रहता है। उक्तका वर्णन होनेके कारण इस प्रकारका काव्य वर्णनात्मक बनता है। कवि बाह्य जगत्की अन्तःस्थलीमें बैठकर उसके साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। यह किसी एक कविकी रचना न होकर देश अथवा जातिकी रचना होती है। इसके प्रणयनमें पौराणिक कथाओंकी सहायताका अधिक आश्रय रहता है। इसमें किसी एकका दृष्टिकोण स्थापित नहीं होता अपितु एक जाति अथवा युगका प्रतिफलन हुआ करता है। जयोदयमहाकाव्यके कथानकका पल्लवन पौराणिक कथानकको लेकर चलता है। इस श्रेणीकी रचनाओंकी अन्तरात्मासे एक समग्र युग अपने हृदय और अभिज्ञत्वको प्रकाशित करता हैं और उन्हें सदाके लिए समादरणीय बना देता है। जो महाकवि इस श्रेणीकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रचनाओंको उनका वर्तमान रूप प्रदान करते हैं, उन्हें महाकवि कहा जाता है। ब्रह्मचारी भूरामल निश्चयतः महाकविकी श्रेणी में स्थापित होते हैं।

विषयप्रधान रचनाओंमें पूर्ववर्ती कवियोंके कृतिवैशिष्ट्योंका साक्षात् अथवा असाक्षात् रूपसे अनुहरण अस्वाभाविक नहीं कहा जाएगा। नैषधीय चरितमहाकाव्यपर कालिदास एवं माघके काव्योंका प्रभाव विशेषतः परिलक्षित होता है। रघुवंशके इन्दुमती स्वयंवर वर्णनकी छाप दमयन्ती स्वयंवर वर्णनपर स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। परवर्ती कवि पूर्ववर्ती कविके वर्णनकी अपेक्षा कल्पनाओंको आगे बढ़ाता है तथा उसमें विस्तारका होना भी स्वाभाविक है। इसी प्रकार माघके शिशुपालवधमहाकाव्य (११वें सर्ग) का प्रभाव नैषधीय प्रभात-वर्णन (१९वें सर्ग) पर स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार जयोदयमहाकाव्य नैषधीयचरितमहाकाव्य शैलीसे विशेषतः अनुप्राणित है।

मानव अनुकरणशील प्राणी है। वह प्रारम्भसे ही भाषा और व्यवहारोंको परम्परया हो सीखता है। यद्यपि उसका व्यक्तित्व पूर्व व्यक्तित्वोंसे निराला रहता है, इस कारण उसके कृतित्वपर उसके व्यक्तित्वकी स्पष्टतः छाप रहती है, इसीसे वह तथा उसका कृतित्व पहिचाने जाते हैं, तथापि परम्परासे प्राप्त संस्कारोंकी छाप भी उसके व्यक्तित्व एवं कृतित्वपर अनजाने ही अंकित होती जाती है। पूर्वप्राप्त ज्ञानधाराको स्वकीय नूतनज्ञानसंनिवेश द्वारा अग्रेसारित करना विज्ञानेतर क्षेत्रके अनुसन्धानका सिद्धान्त है।

महाकवि भूरामल शास्त्रीके इस महाकाव्यका पर्यालोडन करनेसे ज्ञात होती है उनकी स्वाध्यायव्यापकता। इस महाकाव्यमें पूर्ववर्ती काव्यों एवं शास्त्रों को मथकर नवनीतवत् गृहीत तत्त्वोंका पर्यालोचन तो एक स्वतन्त्र गवेषणा-प्रबन्धका विषय है, तथापि निदर्शनार्थ प्रस्तोष्यमाण दो उद्धरण पर्याप्त होंगे। अमरुकशतक श्रृङ्गाररसका अप्रतिम काव्य माना जाता है। जयोदयमहाकाव्य १६, ७१ में उसके भावको स्वोपज्ञ प्रणाली द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

क्रीडाकोपात् कथमपि गच्छेति मयोदिते कठिनहृदयः।
त्यक्त्वा तल्पमनल्पं गतवान् सखि पश्यताददयः॥ ७१।

अमरुक कविके वक्ष्यमाण पद्यको देखकर सुधीजन इस महाकविके प्रतिभा-प्रकर्षका अनुभव करेंगे। महाकविकी प्रस्तुतिका प्रकार एवं अलंकार सर्वथा नूतन हैं। तुलनीय अमरुशतकका पद्य—

कथमपि सखि ! क्रीडाकोपाद् व्रजेति मयोदिते
कठिनहृदयः शय्यां त्यक्त्वा बलाद् गत एव सः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति सरभसं ध्वस्तप्रेम्णि व्यपेतघृणे स्पृहां
पुनरपि हतव्रीडं चेतः करोति करोमि किम् ॥

जयोदयमहाकाव्यके उद्ध्रियमाण पद्यमें 'शनैश्च रम्भोरुजनेष्वनङ्गः' इस उक्तिपर भोजप्रबन्धका स्पष्टतः प्रभाव है—

पतत्यहो वारिनिधौ पतङ्गः पद्मोदरे सम्प्रति मत्तभृङ्गः ।
आक्रीडकद्रोनिलये विहङ्गः शनैश्च रम्भोरुजनेष्वनङ्गः ॥ १५,२० ।

नराभरणकारके 'सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता'के भावार्थको प्रकट करनेवाला यह पद्य काव्यमयी भव्यताके साथ उपस्थित हुआ है जयोदय-महाकाव्यमें—

यथोदये ह्यस्तमयेऽपि रक्तः श्रीमान् विवस्वान् विभवैकभक्तः ।
विपत्सु सम्पत्स्वपि तुल्यतैवमहो तटस्था महतां सदैव ॥ १५,२ ।

महाकविने प्रत्येक सर्ग के अन्तमें अपने मातापिताका परिचय देनेके लिए जो पद्य ग्रथित किये हैं, उसकी प्रेरणा उन्हें निश्चयतः महाकवि श्रीहर्षसे मिली है । यथा नैषधीयचरित—

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालंकारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा—
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥

तुलनीय जयोदयमहाकाव्यके प्रथम सर्गका अन्तिम पद्य--

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तेनास्मिन्नुदिते जयोदयनयप्रोद्धारसाराश्रितो
नानानव्यनिवेदनातिशयवान् सर्गोऽयमादिर्गतः ॥

नैषधीयचरितकारने सोलहवें सर्गमें स्वकीय अभिजनका भी संकेत किया है । किन्तु महाकवि भूरामलजीने पद्यमें ऐसा कहीं भी संकेत नहीं किया । उन्नीसवें सर्गमें विद्याप्राप्ति स्थानका अवश्य उल्लेख किया है, जो अनुकरणीय है । यथा—

सर्गस्तेन जयोदये विरचिते स्याद्वादविद्यालया-
न्तेवासिप्रथितेन याति गणितोऽप्येकोनविंशाख्यया ॥

संस्कृत काव्यके अपकर्षकालमें श्रीहर्षने महनीय काव्योपहार समर्पित किया संस्कृत जगत्को । पूर्ववर्ती युगमें कवितोका जो उत्कर्ष हुआ था, उसमें श्रीहर्षने नूतन प्रयोगसंविधानोंका सन्निवेश किया । यह कार्य सहसा या उनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनजानेमें नहीं हो गया। श्रीहर्ष अपने इस काव्यवैशिष्ट्यसे भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने इक्कीसवें सर्गके अन्तमें पुष्पिकाके रूपमें इसका साटोप उल्लेख किया है—

'तस्यागादयमेकविंशगणनः काव्येऽतिनव्ये कृतौ'

श्रीहर्षके नैषधीयचरितमहाकाव्यकी 'अतिनव्यता'की व्याख्या स्वयं कवि ही करता है। वह कहता है कि यह ऐसा महाकाव्य है जिसकी उक्तियोंमें ऐसे शृङ्गार आदि रसोंके प्रमेयोंके गुम्फ हैं, जिनका अन्य कवि स्पर्श भी नहीं कर सके—

'अन्याक्षुण्णरसप्रमेयभणितौ विंशस्तदीये.....'।

कवि नैषधीयमहाकाव्यमें अपूर्व अर्थकी सृष्टिकी बात भी कहता है—'एकां न त्यजतो नवार्थघटनाम्'। श्रीहर्षने इसे छन्दःप्रशस्तिके सदृश बताया है। इससे नैषधीयचरितमें विविध छन्दोंकी योजनाका भाव निकलता है। कृशेतररसस्वादु (१५), शरदिजज्योत्स्नाच्छसूक्ति (१४), स्वादूत्पादभृत् (१३) इत्यादि विशेषणोंका प्रयोग नैषधीयचरितके लिए किया है।

पहिले बताया जा चुका है कि महाकवि भूरामलकी काव्यरचनाके पूर्व लगभग दो शताब्दियाँ काव्यप्रणयनसे शून्यप्राय रहीं। संस्कृतकाव्यके ऐसे अपकर्षकालमें कविने संस्कृत जगत्को जयोदय महाकाव्यके रूपमें महनीय काव्योपहार समर्पित किया। महाकवि भूरामलजी पूर्वकाव्यातिशायिनी स्वकीय रचनाके वैशिष्ट्यसे भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने भी श्रीहर्षकी भाँति अपनी इस कृतिकी नव्यताका सर्गान्त पुष्पिकामें दो बार उद्घोष किया—प्रथम सर्गमें तो 'नानानव्यनिवेदनातिशयवान् सर्गोऽयमादिर्गतः' कहकर आरम्भ किया तथा श्रीहर्षकी भाँति ठीक इक्कीसवें सर्गमें 'काव्येऽतिनव्ये कृतौ'के स्थानपर '**काव्येऽतिनव्येऽसकौ**'से उपसंहार किया। श्रीहर्ष द्वारा कृत उपसंहार एक सर्गके पूर्व होनेसे चरितार्थ रहा क्योंकि नैषधीयचरितमहाकाव्य बाईस सर्गोंमें सम्पन्न हुआ है। जयोदयमहाकाव्यमें यह उपसंहार सत्ताईसवें सर्गमें करना चाहिए था क्योंकि यह महाकाव्य अट्ठाईस सर्गोंमें पर्यवसित हुआ है। सर्गोंकी दृष्टिसे नैषधमहाकाव्यातिशायिता इसमें विद्यमान है। तृतीय सर्गमें जयोदयमहाकाव्यकारने इस महाकाव्यका एक नवीन विशेषण दिया है, जो नैषधीयचरितकी पुष्पिकामें नहीं है। वह है—'नव्यां पद्धतिमुद्धरत्'। महाकविका यह महाकाव्य किसी नवीन शैलीको प्रकट कर रहा है।

जयोदयमहाकाव्यमें नव्यताके पदे पदे दर्शन होते हैं। विशेषतः रसों, कल्पनाओं, अलंकारविन्यास, छन्दोयोजना एवं भाषाप्रयोगमें पूर्वापेक्षया नूतन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मार्ग अपनाया गया है। कविके व्यक्तित्वको उन्मिषित करनेवाली अकल्प्य कल्पनाशक्तिका काव्यशोभाधायनमें विशेष योग रहता है। चन्द्रमा पृथिवीसे कितनी दूरपर अवस्थित है, उसका क्षेत्रफल क्या है, वह किससे प्रकाश पाता है इत्यादि तथ्य प्रकाशित करना ज्योतिर्विज्ञानकी मौनान्तपरिणति है। वैज्ञानिकोंका वही शुष्क चन्द्रमा कविके कल्पनारम्य जगत्में साहित्यसंसारका शृङ्गार संयोगियोंका सुधासार, वियोगियोंका विषागार, उपमाओंका भण्डार तथा उत्प्रेक्षाओंका आसार बन जाता है।

जयोदयमहाकाव्यकारने प्रकृतिका सूक्ष्म निरीक्षण किया है। जब कविका प्रकृतिके साथ तादात्म्य-स्थापन होता है, तभी वह प्राकृतिक वर्णन-दक्षता प्राप्त कर सकता है। कवि प्रकृतिका कुशल चितेरा माना जाता है। पन्द्रहवें सर्गमें कविने सूर्यास्तमनवेलाका प्रभावशाली वर्णन किया है। सूर्य पश्चिम दिशामें पहुँचा, तो कमलिनी अपनी सपत्नीके सौभाग्यको देखकर ईर्ष्यासे सिकुड़ गई। उत्प्रेक्षा द्वारा प्रणीत इस कल्पना का आस्वाद लें—

सरोजिनीं कुड्मलितां दिशायाः समीक्ष्य साश्चर्यमिति स्मितायाः।
मन्ये प्रतीच्या अधुनावभातितमामुदात्ताधरबिम्बकान्तिः ॥१५,५॥

सूर्य अपनी प्रेमिका कमलिनीको छोड़कर पश्चिम दिशा रूपी नायिकाके पास चला गया। इस अनादरके कारण कमलिनी संकुचित हो गई। उसकी इस दुर्दशाको देखकर पश्चिम दिशाने आश्चर्य प्रकट किया तथा अपने सौभाग्यकी वृद्धिपर गर्व कर अपने अधरोष्ठबिम्बकी प्रभाको छिटकाया था। एक स्त्री पति के आगमनपर स्वयंको सौभाग्यशालिनी मानती हुई सपत्नीको चिढ़ाने हेतु ऐसी ही चेष्टाएं किया करती है।

जिस प्रकार प्रवाससे पतिके आनेपर बुद्धिमती स्त्री पहले कुशल समाचार पूछकर उसका आतिथ्य करती है, तदनन्तर प्रसन्नताके साथ सौभाग्यसूचक लाल साड़ी पहनती है, उसी प्रकार पश्चिम दिशा रूपी स्त्रीने सूर्य रूपी वल्लभ के आनेपर पहले पक्षियोंके मधुर कलरवसे उसका स्वागत किया। पश्चात् लालिमाके छलसे सौभाग्यसूचक लाल साड़ी पहन ली—

उपागतेऽहस्कृति तस्य वीनां कलैः कृतातिथ्यकथाप्यशीना।
श्रीशोणिमच्छद्मसमयं प्रतीची दधाति सच्छाटकमात्तवीचिः ॥१५,६॥

१६वें श्लोकमें कविने सूर्यको दिनश्रीका कुम्भ बनाया। मानो वह सन्तप्त पृथिवीको शीतल करनेके लिए घड़ा लेकर पश्चिम समुद्रसे जल भरने जा रही हो—

धराभितप्तेति विदां निधाय समेति तस्या अभिषेचनाय।
समात्तसप्ताश्वकशातकुम्भकुम्भान्तिमाम्भोधिमियं दिनश्रीः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५, १८ श्लोकमें कवि कल्पना करता है कि नववयस्का पश्चिम दिशा वृद्ध पति सूर्यको पसन्द नहीं करती है। सूर्य प्राची दिशाका स्वामी भी है, अतः पश्चिम दिशा अन्यनायिकासक्त नायकको भी नहीं चाहती है। इसलिए वह उसे क्षण भरके लिए अपने पास नहीं रहने देना चाहती है। उसे अपने आकाश रूपी घरसे निकाल देना चाहती है—

प्राचीनतातोऽप्यनुरागवन्तं प्रतिश्रणत्येव नवा दृगस्तम्।
निष्काशयत्याशु नभोनिकायात् सहस्ररश्मि चरमा दिशा या॥

यहाँ 'चरमा' में पदच्छेद द्वारा 'च रमा' अर्थ भी निकलता है।

१५,२३ में कवि कल्पना करता है कि आकाशमें अनेक नक्षत्र छिटके हुए हैं, वे मानों पश्चिम समुद्रमें सूर्यके गिरनेके कारण उचटे समुद्र जलके छींटे हों। एक दूसरी कल्पनामें नक्षत्रोंको अन्धकार रूपी राक्षसका दाँत बताया है। वह राक्षस सन्ध्यालालिमा रूपी रक्तका पान कर रहा है (१५,२४)। घर-घरमें जलने वाले दीपक मानों सूर्यके प्रतिनिधि हों। सूर्य अपने शरीरको खण्ड-खण्ड कर दीपकोंका वेष धारण कर घर-घरमें सुशोभित हो रहा था (१५,२२)।

रात्रिवर्णनमें कविने श्लेष आदि अलंकारोंकी सहायतासे कल्पनाओंको साकार रूप दिया है। यथा—उडुप = नौका तथा चन्द्रमा, तरणेर्विनाशः = नौका तथा सूर्यका अदर्शन, नदीप = समुद्र एवं दीपकोंका अभाव, तिमिरे = अन्धकारमें और तिमि = मगरमच्छोंसे र = भरे, विकलानिका दूसरा अर्थ रलयोश्चैक्यंकी दृष्टिसे विकराणि हुआ है (१५,२१)। चन्द्रोत्सवके वर्णनमें कविने नूतन उद्भावनाओंकी रत्नमंजूषा सँजो दी है। निशीथके पश्चात् पानोत्सव वर्णन। विधि और विधुके सप्तम्येक वचनमें शब्दश्लेषका आश्रय लेकर वक्रोक्ति अलंकार का ठाट दर्शनीय है (१६,७२)। माऽपहर कुचग्रन्थिं किमपास्ता तेऽस्ति हृद्ग्रन्थिः (१६, ६९) में भी सुन्दर वक्रोक्ति बन पड़ती है। १६, २० में श्लेष, अनुप्रास और रूपक अलङ्कारोंका एक साथ प्रयोग हुआ है।

अर्धरात्रिमें कामदेवकी सहायताका हृद्य वर्णन हुआ है। इस सोलहवें सर्गमें हुए कामनिरूपण पर भी नैषधीयचरितका स्पष्टतः प्रभाव पड़ा है। कवि प्रायः सर्वत्र श्लेषालङ्कारका आश्रय लेकर दो अर्थोंका प्रतिपादन करता है। 'रामाभिधामाकलयन्ति नाम (१६,३) में कामी और संन्यासी दोनों अर्थोंका कुशलतापूर्वक प्रतिपादन हुआ है। कामको अजेय समझ कर सुन्दर पुरुष गृहदेवी की शरणमें गया। यहाँ 'गृहदेविकायाः' में श्लेष है (१६, ४) 'अष्टाङ्गसिद्धः' द्वारा अणिमा, महिमा आदि अष्टसिद्धियों तथा स्त्रीके आठ अंगोंका अर्थ है। इस प्रसंग में श्लेष अनुप्रासालंकारकी एक छटा देखें—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुहुर्नं बद्धाञ्जलिरेष दासः सदा सखि प्रार्थयते सदाशः ।
कुतः पुनः पूर्णपयोधरा वा न वर्तते सत्करकस्वभावा ॥ १६,१३ ।

उल्लेखालङ्कारपूर्वक उपमालंकर तथा अनुप्रास इन तीनोंका उक्त वर्णन प्रसंगमें स्वाभाविक प्रयोग हुआ है—

सिताश्रितं दुग्धमिवादरेण निपीयते संगमिनापरेण ।
अयोषितां तक्रमिवात्र नक्रसंकोचतः श्रीशशिरश्मिचक्रम् ॥ १६,९१।

१३३ श्लोकों वाले सम्पूर्ण सत्रहवें सर्गमें कविने सुलोचनासुरतका उपन्यास किया है । सुरतानन्तर अष्टादश सर्गमें प्रभात वर्णन अच्छा बन पड़ा है । कवि अलंकारोंके बिना तो कोई वर्णन कर ही नहीं सकता । श्लेषसे अर्थान्तरका एक उदाहरण प्रस्तुत है प्रभातवर्णनके प्रसंगमें—

विस्फूर्तिभृन्नृवर किन्नवदद्गुरेष
प्रागुत्थितो वियति शोणितकोपदेशः ।
श्रीसद्मनोऽनुभवतो मधुमेहपूर्ति
भो राजरुग्विजयिनस्तव भाति मूर्तिः ॥

अर्थान्तरसे राजरोग (क्षय) और मधुमेह जैसे आधुनिक अर्थोंकी भी अवतारणा की गई है ।

प्रातःकालिक वर्णनके साथ अर्थान्तर द्वारा अनेकान्तवाद सिद्धान्तको गुम्फित कर दिया—

वीरोदिते समुदितैरिति संवदामः
कल्यप्रभाववशतः प्रतिबोधनाम ।
सम्प्रापितं च मनुजैश्चतुराश्रमित्व-
मेकान्तवादविनिवृत्तितयासि विश्वम् ॥

प्रभातवर्णनके प्रसंगमें कविने बताया कि प्रातःकालके समय द्विजराजवंश=तारागणोंको कहीं भी चमक=प्रतिष्ठा नहीं थी । अर्थान्तरसे ब्राह्मणोंकी वंश-प्रतिष्ठाके लिए वैश्यकी चिन्ताका भाव भी प्रकट किया है—

न क्वापि भाति-अधुना द्विजराजवंशः
सुप्तोऽसि बाहुजसमाजसतां वतंस ।
कस्ते तुलाधर उदेति जनेषु वा यः
संविप्लवोऽत्र बहुधान्यसमीक्षणाय ॥ १८,५७ ।

आचार्योंने अलंकारोंको काव्यशोभाकर, शोभातिशायी इत्यादि कहा है । इससे स्पष्ट है कि पहलेसे ही मनोज्ञ अर्थको सुन्दरतर बनाना अलंकारोंकी वृत्ति



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। जिस प्रकार आभूषण रमणीके शरीरको पहलेसे कहीं अधिक रमणीय बना देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा और अर्थकी सौन्दर्यवृद्धि करके उनमें चमत्कार लाते हैं। इतना ही नहीं वे रस, भाव आदिको उत्तेजित करनेमें भी सहायक सिद्ध होते हैं। शास्त्रीय पाण्डित्यके बिना अलंकारोंका प्रयोग सूझबूझके साथ करना नितान्त कठिन कार्य है। श्रीभूरामल इस शताब्दीमें अलंकार शैलीके श्रेष्ठ कवि ठहरते हैं। वे श्लेषालंकारका समुचित प्रयोग करनेमें सिद्धहस्त हैं—१४, १; २;४९; १५, २१; १६, ३; १०; १३;२०;४९ इत्यादि। श्लेषोपमा और श्लेषसे अर्थान्तरके लिए द्रष्टव्य १४, ५; १५, ५०; १८, १२ इत्यादि स्थल। कहीं कहीं तो एक ही पद्यमें श्लेषके साथ अनुप्रास और रूपक अलंकार का भी प्रयोग हुआ है (द्र० १६, २०) तो कहीं वक्रोक्तिका (१६, ४९)। महाकविके द्वारा प्रयुक्त अन्य अलंकारोंमें समासोक्ति (१४, १; ६; ४०; ४६; ५८; ८१), समासोक्तिसे अर्थान्तर (१४, ७), सहजसहयोगितालंकार, उपमा, यमक, अन्यथानुपपत्ति, अर्थान्तरन्यास, सनासोक्ति, रूपक, अपह्नुति, भ्रान्तिमान्, अनुमति, रूपकयुक्त-समासोक्ति, विरुद्धभाव, उल्लेखालंकार, संकर, उल्लेख-यमक, उल्लेखके साथ उपमा एवं अनुप्रास इत्यदि मुख्य हैं। श्लेषालंकारके अनन्तर यदि कवि किसी अन्य अलङ्कारके प्रयोगमें सिद्धहस्तता दिखा सका है, तो वह है उत्प्रेक्षालंकार। अमरुकके काव्यकी भाँति इस महाकाव्यमें मौग्ध्याभिव्यक्ति इत्यादि भी अलंकार बन गये हैं। यह महाकाव्य छन्दःशास्त्रकी तो मञ्जूषा ही है। इस महाकाव्यमें वार्णिक छन्दोंके साथ मात्रिक छन्दोंका समुचित विन्यास हुआ है।

काव्यमें रसध्वनिकी योजनाके बिना अलंकार (आभूषण) मृतक स्त्रीके अलंकारकी भाँति निष्फलताकी स्थिति बनाते हैं। रस रूपी आत्माकी उपस्थिति रहने पर ही शरीर पर अलंकारोंका महत्त्व होता है—

रसध्वनिर्नं यत्रास्ति तत्र वन्ध्यं विभूषणम्।
मृताया मृगशावाक्ष्याः किं फलं हारसम्पदा॥

आचार्योंने साहित्य पर विचार करते समय उसका लक्षण किया—'रसवद् वाक्यम्'। यह रस उनकी दृष्टिमें साहित्यात्मा या काव्यात्मा है। यह रस शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा शान्त नामक नौ विभागोंमें विभक्त हुआ है। एक ही रसके उक्त भेदोंके कारण क्रमशः रति (प्रेम) हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा (घृणा), विस्मय, (आश्चर्य) तथा निर्वेद नामक स्थायी भाव बनते हैं। इस महाकाव्यमें शृङ्गार, वीर एवं शान्त रसोंकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक ढंगसे की गई है। शृङ्गार रसकी उत्पत्तिमें रति अथवा प्रेमकी भावना अनवरत रूपसे बनी रहती है। इस कारण उसे शृङ्गार रसका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थायी भाव माना जाता है। महाकविने चौदहवें सर्गके द्वितीय श्लोक द्वारा श्रृङ्गार रसके उद्दीपक उद्यानके सौन्दर्य रूपी विभावको दरसाया है। उक्त विभावके प्राप्त होने पर तटोद्यानमें आया शिष्टजन समूह कामश्रृङ्गार रससे व्याकुल हो गया। विरोधाभास अलंकार द्वारा इसे भव्य भावभूमि पर सजाया गया है। श्लेषको सहायतासे विरोधका परिहार हुआ है—

असुगतवैभववानिव तेन तत्र तथागतसमीरणेन।
समजनि सुरतविचारविशिष्टो दूरतोऽपि चायातः शिष्टः॥

चौदहसे लेकर सत्रहवें सर्गमें श्रृंगाररसके विविध रंगोंसे परिमण्डित चित्र सुसज्जित हैं। सखी द्वारा प्रेमसन्देश भिजवाने वाली नायिकाका निवेदन सुनें—

सखि त्वं स्निग्धाङ्गी प्रभवति युवा सोऽपि तरलः
तमिस्रेयं रात्री रहसि कथनीयं मदुदितम्।
समस्येयं क्लिष्टा दिशतु किलेष्टन्तु भगवा-
नियं वाचां वल्ली प्रसरति सती स्माम्बुजदृशः॥ १५, ८८।

अमरुकशतकम् ता श्रृङ्गारकी श्लोक-शतावली ही है किन्तु यहाँ तो उसका भण्डार भरा पड़ा है। श्रृङ्गार रसका चषक सम्मुख पाकर पाठक उसीमें रम जाता है।

अष्टम सर्गमें वीररसका सागर लहराता दिखाई पड़ता है। कवि उसमें ऐसा रमा है कि वीररसानुरूप भाषा वीररसका पतिभक्त रमणीकी भाँति अनुसरण करती प्रतीत होती है—

उद्धूत-सद्धूलिघनान्धकारे शम्पा सकम्पा स्म लसत्युदारे।
रणाङ्गणे पाणिकृपाणमाला चुकूजुरेवं तु शिखण्डिमालाः॥ ८
द्वयोः पुनश्चाहतिमुज्जगाम प्रपक्षयोरायुधसन्निनादः।
प्रोल्लासयन्, सड्डमरुप्रसिद्धसूत्राङ्कवद् वीरनटान् समिद्धः। १२
शुण्डावता तस्य सता हता वा नवद्विपास्ते चपलस्वभावाः।
यथाकथञ्चित्पदकाश्रयेण नयाः परेषां जिनवाग्रयेण॥ ६७।
काराप्रकारायितमारुरोहानसं पुनश्चक्रपतेः सुतो हा।
स्वयं सखाकृत्य तथाष्टचन्द्रान् प्रस्पष्टतन्द्रान् युधि कष्टचन्द्रान्॥ ६८
अङ्गीचकाराध्वकलङ्कलोपी हरिञ्जयं नाम रथं जयोऽपि।
खरोऽध्वना गच्छति येन सूर्यस्तेनैव सोमोऽपि सुधौघधुर्यः॥ ६९।
तेजोऽप्यपूर्वं समवाप द्वीप इव क्षणेऽन्तेऽत्र जयप्रतीपः।
निःस्नेहतामात्मनि संब्रुवाणस्तथापदे संकलितप्रयाणः॥ ७०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शान्त रसका उपक्रम कविने प्रथम सर्गसे किया और उपसंहार अन्तिम अध्यायोंमें। इसलिए इस महाकाव्यमें शान्तरस अंगी है, अन्य शृङ्गार एवं वीररस उसके पोषक हैं।

प्रथम सर्गमें वर्णित है कि वनक्रीड़ा हेतु वनमें गये जयकुमारने एक मुनि के दर्शन किये। कवि उनके विषयमें लिखता है—इस भूमण्डल पर ये साधु मुनि-राज, गुणस्थान और मार्गणाओंकी चर्चासे संपन्न हैं, उत्तम विधियुक्त धर्म धारण करने वाले हैं, प्राणिमात्रको अभयदान देने वाले हैं। ऐसा होने पर भी ये मुक्ति प्राप्त करनेमें तत्परतासे लगे हैं—

भुवि महागुणमार्गणशालिना सुविधधर्मधरेण च साधुना।
अभयमङ्गिजनाय नियच्छता यदपि मोक्षपरस्वतया स्थितम् ॥

बुद्धि ठिकाने रखने हेतु सरस्वतीकी आराधनाके लिए मुनि द्वारा दिया गया उपदेश शाश्वत बन गया है—

श्रीमतीं भगवतीं सरस्वतीं स्रागलंकृतिविधौ वपुष्मतीम्।
राधयेन्मतिसमाधये सुधीः शाणतो हि कृतकार्यं आयुधी ॥

स्त्रियोंसे वैराग्य उत्पन्न करने वाले अनेक पद्योंमें रुचिर भाव पिरोये गये हैं—

स्मितरुचिताधरदलमनल्पशो जल्पन्ती मनुजेन केनचित्
तरलितनयनोपान्तवीक्षणैः श्रणति क्षणमपरत्र च क्वचित्।
अनुसंधत्ते धिया हि या पुनरपरं रूपबलोपहारिणं
विदितमिदं युवतिनं भूतले या बिभर्ति परमेकताकिणम् ॥

कामिनीके समीप जब उसका प्रिय आता है, तब वह नीचा मुँह करके जमीन खुरचने लगती है। इस संकेतके द्वारा वह गूढ़ आशय प्रकट करती है कि यदि हमारे प्रेममें फँसोगे तो अधोगति प्राप्त करोगे। आश्चर्य है कि फिर भी कामान्धोंका मन नहीं चेतता है—

अहह पार्श्वमिते दयिते द्रुतं नतदृशाऽवनिकूर्चनतोऽद्भुतम्।
वदति यद्यपि भावि वधूजनो न तु मनः प्रतिबुध्यति कामिनः ॥

जयोदय महाकाव्यकी पूर्ववर्ती महाकाव्योंसे जो नूतनता है, वह है उसमें वर्णित राष्ट्रियताकी महत्ताका सूचक भावबन्ध। अन्तमें कवि स्वयं स्वीकार करता है—

राष्ट्रं प्रवर्ततामिज्यां तन्वन्निर्बाधमुद्धुरम्।
गणसेवी नृपो जातराष्ट्रस्नेहो वृषेषणाम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू परिवार, सुभाष चन्द्र बोस, बल्लभ भाई पटेल, पद्मराज, राजगोपालाचार्य, सरोजनी नायडू, जिन्ना इत्यादिकी श्लेष द्वारा प्रशस्त अभिव्यक्ति बन पड़ी है। गणतन्त्रकी सफलताका समर्थन करने वाली असेम्बलीका महत्व अंकित है। इस काव्यके राष्ट्रीयता-सुधारससे परिपूर्ण ये चार पद्य शाकुन्तलम्के चार पद्योंके समान चिर स्मरणीय रहेंगे—

सत्कीर्तिरञ्चति किलाभ्युदयं **सुभासा**
स्थानं विनारि-मृदु**वल्लभ**राद् तथा सः।
याति प्रसन्नमुखतां खलु **पद्मराजो**
निर्याति साम्प्रतमितः सितरुक्समाजः॥

मञ्जुस्वराज्यपरिणामसमर्थिका ते
सम्भावितक्रमहिता लसतु प्रभाते।
सूत्रप्रचालनतयोचित-दण्डनीतिः
सम्यग्महोदधिषणासुघटप्रणीतिः॥

यद्वा सुगां धियमिता विनतिस्तु **राज-
गोपाल** उत्सवधरस्तव धेनुरागात्।
हृष्टा **सरोजिनि** अथो विषमेषु **जिन्ना-**
नुष्ठानमेति परमात्मविदेकभागात्॥

**गान्धी**रुषः प्रहर एत्यमृतक्रमाय
सत्सूत **नेहरु**चयो बृहदुत्सवाय।
**राजेन्द्र**राष्ट्र-परिरक्षणकृत्तवाय-
मत्राभ्युदेतु सहजेन हि सम्प्रदायः॥

काव्यके रस और भाषामें अद्वय योगकी स्थिति रहती है। अभिनव गुप्त ने कहा है कि रसाभिभूत हृदय वाले कविके द्वारा अभिव्यक्त अलंकार (भाषाका वह अशेष सौन्दर्य) कटककुण्डलादिवत् कहीं बाहरसे जोड़ा हुआ नहीं रहता, प्रत्युत वह काव्यपुरुषका स्वाभाविक देहधर्म होता है—

'न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ'। प्रथमतः होती है रसानुभूति, तदन्तर उसकी अलंकृत अभिव्यक्ति। रसानुभूति तथा शब्दाभिव्यक्ति—दोनों एक ही चित्तप्रयास द्वारा प्रस्फुटित होते हैं। जिस चित्तप्रयास द्वारा रस-विधारण होता है, उसीके द्वारा अलंकार इत्यादिके माध्यमसे रस भी प्रस्फुटन पाता है। जयोदय महाकाव्यमें यद्यपि रसके साथ अलंकारोंका पर्याप्त प्रयोग किया गया है, जिसे समालोचक इस प्रकारके काव्यमें हृदयपक्षका अभाव तथा कलापक्षका प्राधान्य मानते हैं, तथापि इस काव्यमें जैन कवियोंके द्वयाश्रय एवं सप्तानुसन्धान काव्यकी भाँति अनैसर्गिकता तथा दुरूहताने शरण नहीं ले ली है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जयोदय महाकाव्यपर यदि प्राचीन काव्योंका प्रभाव है, तो वह आधुनिक संस्कृतसे भी अछूता नहीं रहा है। कविने ७, ६३ तथा चतुर्दश सर्गके प्रथम श्लोककी स्वोपज्ञ संस्कृत व्याख्यामें 'अभिलाष' शब्दका हिन्दीकी भाँति स्त्रीलिंगमें प्रयोग किया है। भुज् धातु पालन और अभ्यवहार = भक्षण अर्थोंमें व्यवहृत होता है। इसका आत्मनेपदमें प्रयोग केवल भोजनार्थमें विहित है, रक्षण या पालन अर्थमें तो परस्मैपदमें ही व्यवहार होगा। किन्तु जयोदय-महाकाव्य(२, १५३) में भोजनार्थमें 'भुनक्ति' का परस्मैपदमें व्यवहार किया गया है। १४, ५९ से 'सिञ्चितुम्' का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः 'सेक्तुम्' प्रयोग ही शिष्टसम्मत है। १७, ९ में 'पुनीतनामा' कहा गया है। पुनीत शब्द शिष्टजनाननुमोदित है। केवल श्रीमद्भागवतमहापुराणमें इसका प्रयोग हुआ है। किंतु वह न तो शिष्टजनानुमोदित है और न व्याकरणसंमत ही। सभी संस्कृतविज्ञ जन जानते हैं कि सेव् धातु आत्मनेपदी है। किंतु इस महाकाव्यमें (२६, १००) उसका परस्मैपदमें प्रयोग किया गया है—सेवन्तु। स्वोपज्ञ व्याख्यामें उसका 'समाराधयन्तु' अर्थ भी बताया है। इसी प्रकार 'मृष्टुम्' (१४, ६०)के स्थान पर 'मार्ष्टुम्' उचित था—'मृजेर्वृद्धिः'। पल्लाके अर्थमें 'पल्ल' (१६, ७) शब्द प्रादेशिक भाषासे प्रभावित है।

लक्षण ग्रन्थोंमें अप्रयुक्ततताप्रयोगको एक प्रकारका काव्यदोष माना गया है। इस महाकाव्यमें अनेकत्र अप्रचलित शब्दोंका व्यवहार हुआ है। श्लेषालंकारके विषयमें अर्थान्तरके लिए इस प्रकारके प्रयोग कथञ्चित् मर्षणीय हो सकते हैं। किंतु सामान्य स्थलोंमें वे अमर्ष्य हैं। 'जजृम्भे (१४, ३६) का अर्थ 'समर्था बभूव' अप्रचलित है। कविने काव्यमें नवीन शब्दोंके उपयोगके लिए विश्वलोचन नामक शब्दकोषकी प्रायशः सहायता ली है। १५,८ की स्वोपज्ञ संस्कृतटीका की टिप्पणी में 'विश्वकोषके 'भृङ्गः पुष्पत्वपे खिड्गे तथा धूम्याटपक्षिणि' को उद्धृत किया है। टिप्पणीमें 'खिड्गो विटः' भी लिखी है। वस्तुतः 'खिड्गे' के स्थान पर षिड्गे' होना चाहिये। संस्कृतवाङ्मयमें खिड्गका प्रयाग क्वाचित्क है। प्राकृतभाषामें 'षिड्ग'के स्थान पर खिंग ही मिलता है—'अणेग-खिगजणउव्वासियरसणे'। इसी प्रकारके अन्य अप्रसिद्ध शब्दोंके कुछ निदर्शन प्रस्तुत हैं—गमुंकगोलम् = सुवर्णपिण्डम् (१५, १७), श्रणति=ददाति (१५, १८), चङ्गः=दक्षः (१६,४)। तुलनीय—हिन्दीमें भलाचंगा। अन्दुक=अलंकरण (१६, १०); भरूक्तैः=स्वर्णघटितैः (१७, ७)। श्लेषालंकारके प्रसंगमें कवि ने 'आत्मभूतनयता' के दो अर्थ किये हैं—१. वायुसेवनभाव तथा २. नारदत्वम्। इस प्रकार यह काव्य नैषधीयचरितकी तरह बहुत्र व्याख्यागम्य भी बन गया है। कौतुकिता = पुष्पवत्ता (१४, ४०); जलस्रुतेः=सरितः (१४, ४४), रीणाः=उदा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सीनाः (१४, ५०); नदीन=समुद्र(१४, ८३), निरवापयत्=प्रोञ्छयत्(१४, ९३)-निर्+वापि बुझाने अर्थमें ही प्रसिद्ध है, प्रोञ्छनार्थमें अप्रसिद्ध। आभूत=ऐच्छत् (१४, ९५) अप्रसिद्धार्थ है आ+भू धातु का। इसी प्रकार निरूहम्=निस्संकोचम् (१४,९५); तिमिलम्=समुद्रम् (१५, ९) प्रतीपपत्नी=सपत्नी (१४,३०), अधीना=कर्तव्यविचारशीला (१५, ६) इत्यादि। वस्तुतः इतने विशाल काव्य में अप्रयुक्तताप्रयोगके उक्त उदाहरण अनिन्द्यसुन्दरी रमणीके कपोल पर उभड़े तिलके सदृश काव्यसौन्दर्य-वर्धनमें सहायक ही बन रहे हैं।

'अनामिका सार्थवती बभूव'की भाँति काव्यमें अन्वर्थभावके कई उदाहरण मनोरम बन पड़े हैं। यथा--रञ्जनी नामक मदिराका नाम सार्थक हुआ क्योंकि वह स्त्रियोंके हृदयमें, वचन, गालों, नेत्रों और समस्त चेष्टाओंमें अनुराग प्रकट करने वाली थी--

हृदि वाचि कपोलयोर्दृशोर्वा निखिलेष्वेव विचेष्टितेष्वपि।
अनुरागमिवानुभावयन्ती प्रथितार्थाऽजनि रञ्जनी जनी॥ १६, ७९

श्रीतिलक नामक पुष्पकी व्युत्पत्तिके प्रसंगमें अन्वर्थभावका प्रयोग रमणीय बन पड़ा है--

नर्म वयस्ययाऽऽलेः श्रीतिलकं कलितं खलु भाले।
रुचात्मनस्तु जगत्तिलकाया अन्वर्थभावमेवमथायात्॥ १४, २९।

जलके सर्वतोमुखी पर्यायको सार्थकता बताते हुए अर्थचरितार्थता प्रस्तुत की है—

तटस्थितानां वारि योषितां मुखारविंदच्छविन्दलोदितम्।
श्रियमुपेत्य साम्प्रतं ललाम सर्वतोमुखं बभूव नाम॥ १४, ५६।

समष्टितः यह महाकाव्य इस शताब्दीकी सर्वश्रेष्ठ काव्यकला का निदर्शन है। प्राचीनताके साथ नवीनताका असाधारण समन्वय प्रस्तुत करता है। 'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः' इस उक्ति का निदर्शन ऐदंयुगीन किसी काव्यमें देखना हो, तो वह है 'जयोदयमहाकाव्यम्'। यह अलंकारोंकी मंजूषा, चक्रबन्धोंकी वापिका, सूक्तियों और उपदेशोंको सुरम्य वाटिका है। इसमें कविके पाण्डित्य एवं वैदग्ध्यका अपूर्व सम्मिलन काव्यकी उदात्तताका परिचायक है। काव्यक्षेत्रके अन्धकारयुगको गौरव प्रदान करने वाला यह गौरवमय महाकाव्य है। नवार्थ-घटनाके लिए इसकी कहीं कहीं दुरूहता अस्वाभाविक नहीं है। प्रकृतिनिरीक्षणमें महाकविकी सूक्ष्मेक्षिका-शक्तिको उसकी कल्पनाशक्तिने पूर्णतः परिपुष्ट किया है जयकुमार तथा सुलोचनाके विषयमें विरचित पूर्ववर्ती काव्योंकी रत्नमालामें जयोदयमहाकाव्य अनर्घ्य मणिके रूपमें देदीप्यमान हो रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस महाकाव्यकी नवार्थघटनाके विश्लेषणार्थं महाकविने संस्कृत भाषा-में ही पदपदार्थस्फोरणी स्वोपज्ञ व्याख्या लिखकर काव्यको परिमण्डित किया है। जहाँ तक मुझे विदित है, महाकाव्य क्षेत्रमें अद्यावधि यह अप्रतिम निदर्शन है, जहाँ महाकविने स्वरचित महाकाव्यकी संस्कृतमें स्वयं व्याख्या प्रणीत की हो। अन्यथा ऐदंयुगीन नवीन मल्लिनाथका अन्वेषण करना होता और यह महाकाव्य इस युगमें तो प्रचारमें आनेसे वञ्चित ही रह गया होता।

इतनी अगाध वैदुषीके रहते हुए भी वाणीभूषण महाकविने महाकवि कालिदासकी 'क्व सूर्यप्रभवो वंशः' 'अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः' इत्यादि उक्तियोंमें प्रकाशित विनयके समान विनयको प्रकट करते हुए कहा है कि कवि तो वस्तुतः जिनसेन इत्यादि हैं। आश्चर्य है कि हम भी कवि बन गये हैं। यह उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार कि कौस्तुभ मणि ही वास्तविक मणि है किन्तु काँचको भी मणि कहा जाता है। कविका तात्पर्यार्थ यह है कि वास्तविक कवि तो जिनसेन प्रभृति हैं, हम तो नामके कवि हैं—

कवयो जिनसेनाद्याः कवयो वयमप्यहो।
कौस्तुभोऽपि मणिर्यद्वन्मणिः काचोऽपि नामतः॥

कविने सभी अधिकारी गुणदोषविवेचक विद्वानोंसे आग्रह किया है कि वे इस काव्यके गुणदोषोंकी समीक्षा करें किन्तु आत्मश्लाघी असहृदय व्यक्ति दूर रहें—

गुणविगुणविदं तु स्रागपि ख्यापयन्तु
विशदिमविशदंशा पेयताङ्केऽत्र हंसाः।
अशुचिपदकतुष्टा आत्मघोषाः सुदुष्टाः
किमिव नहि वराकाः काकुमायान्तु काकाः॥

महाकविने इस काव्यमें वर्णित अनेक घटनाओंको अपने जीवनानुभवोंसे सँवारा है। जयकुमारके पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध जीवनसे कविका सुतरां साम्य दिखता है। बालब्रह्मचारी कवि भूरामलजी जीवनकी सन्ध्यावेलामें वीतराग होकर मुनि बन गये और ज्ञानसागर अन्वर्थ नामसे विख्यात हुए। उन्होंने इस काव्य के उपान्त्य प्रश्नगर्भोत्तर पद्य द्वारा अपना हृद्य प्रकाशित कर दिया है, जिसमें श्रद्धा, व्रत और विद्या रत्नत्रयसे युक्त मनकी आकांक्षा की गई है—

श्रवणीयास्तु का शुद्धा ब्रह्मविद्भिः किमर्जितम्।
विद्वद्भिः का सदा वन्द्या मण्डितं तैः किमस्तु नः॥

साहित्यकी कतिपय विधाओंका परम लक्ष्य तो सत्य ही होता है। सत्य-की अभिराम परिनिष्ठामें ही काव्यके प्रास्तव्यकी इतिकर्तव्यता निहित रहती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्यके इस चरम और परम निकषकी महत्ताको हृद्गत कर लेनेपर हमें इस महाकाव्य की कविताका उत्कर्ष भी कविके काल्पनिक जगत्‌के अन्तःस्थलमें संनिहित सत्य में परिलक्षित होता है। मानव जीवनके मूलभूत विचारोंमें जब तक किसी महान् आदर्शका उत्थान नहीं होता, तब तक हम सबके अन्तःकरणमें विद्यमान सान्द्र तथा बलवती भावनाओंका उद्रेक भी नहीं हो पाता।

यद्यपि कविके हृदयसे कविता स्रोतस्विनी स्वान्तःसुखाय ही फूट पड़ती है, तथापि अनुवर्ती परोपकारी जन लोककल्याणकी कामनासे प्रेरित होकर लोकोपकारी काव्यके भावों तथा आदर्शोंको जन-जनके हृदय तक पहुँचानेकी ललक मनमें सँजोये रखते हैं। उसे मूर्त रूप प्रदान करनेमें जनभाषा परम सहायक बनती है। इसी दृष्टिसे देवभाषामें निबद्ध इस उदात्त महाकाव्यको राष्ट्रभाषा हिन्दीमें अनूदित करानेका भाव इसके प्रकाशकोंके हृदयमें प्रस्फुरित हुआ। संस्कृत साहित्य तथा जैन दर्शनके सुयोग्य विद्वान् साहित्याचार्य श्री पन्नालालजी जैन इस पुण्यकार्यमें प्रवृत्त हुए। वे स्वोपज्ञ व्याख्याका आश्रय लेकर ग्रन्थग्रन्थिविभेदनपूर्वक काव्यकी आत्माको पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करनेमें कृतकार्य हुए हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि स्वोपज्ञ संस्कृत टीका तथा विशद हिन्दी व्याख्यासे विभूषित यह महाकाव्य संस्कृत विद्वानों एवं हिन्दीवेत्ता गुणग्राही विद्याप्रेमियोंके लिए समान रूपसे उपयोगी सिद्ध होगा।

महावीर जयन्ती<br>२०४६ वि०सं०<br>वाग्योगचेतनापीठम्,<br>शिवाला, वाराणसी

भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'<br>निदेशक,<br>अनुसन्धान संस्थान<br>सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# प्रथम संस्करण से

## सम्पादकीय—प्रस्तुति

आजके ख्याति प्राप्त, बहुश्रुत आचार्य विद्यासागरजीके दीक्षा एवं विद्यागुरु स्व० आचार्य ज्ञानसागरजी महाराजने जब वे महाकवि भूरामलजी शास्त्रीके नामसे जाने जाते थे, तब "जयोदय महाकाव्य" की रचना की थी। यह काव्य, संस्कृतके उपलब्ध महाकाव्योंमें परिमाणकी अपेक्षा जहाँ अद्वितीय है, वहाँ काव्यकी समस्त विधाओंके सुविस्तृत वर्णन एवं अलंकारोंके चमत्कार पूर्ण संयोजनसे भी अद्वितीय है।

इसके २८ सर्गोंमें हस्तिनापुरके राजा जयकुमारका प्रारम्भसे लेकर निर्वाण प्राप्ति तकका वर्णन है। जयकुमार भारतवर्षके आद्य चक्रवर्ती भरत महाराजके प्रधान सेनापति रहे हैं। दिग्विजयके कालमें इन्होंने मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, गणबद्ध देवोंसे भी विजय प्राप्त की थी। घटना तृतीय कालके अन्तकी है। इनकी प्रिया सुलोचना, भगवान् वृषभदेवके द्वारा कर्मभूमिमें स्थापित चार राजवंशोंमेंसे एक वाराणसीके राजा अकंपन महाराजकी पुत्री थी। अकंपनने इसके विवाहके लिए स्वयंवरका आयोजन किया था। यह स्वयंवर भारतमें होने वाले स्वयंवरोंमें आद्य स्वयंवर था। उसमें भरत चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्ति आदि भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजपुत्र सम्मिलित हुए थे। सुलोचनाने जयकुमारके कण्ठमें जयमाला डाली। अपने आपको अपमानित समझ अर्ककीर्तिने जयकुमारसे युद्ध किया। युद्धमें जयकुमारने विजय प्राप्त की। महाराज अकंपनने अपनी छोटी पुत्री रत्नमालाका अर्ककीर्तिके साथ विवाह कर विद्वेषकी भावनाको बुद्धिमत्तासे शान्त किया।

इस स्वयंवरका साङ्गोपाङ्ग वर्णन महाकवि हस्तिमल्लने स्वरचित 'विक्रान्त कौरव' नाटकमें किया है। विस्तृत प्रस्तावनाके साथ मैंने इसका सम्पादन—अनुवाद किया है और प्रकाशन वाराणसीकी प्रसिद्ध प्रकाशन संस्था 'चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन' ने किया है। यही सब कथानक और जयकुमारके अन्यान्य वृत्तान्तोंको लेकर महाकवि भूरामलजीने जयोदय काव्यकी रचना की थी। श्री महाकवि भूरामलजी प्रतिभासम्पन्न कवि थे। काव्य रचनाके लिए उपयुक्त कारणोंमें प्रतिभाका प्रमुख स्थान है। यह प्रतिभा उनमें पूर्ण रूपसे विद्यमान थी। न केवल जयोदय काव्यकी रचना उन्होंने की है किन्तु वीरोदय, दयोदय, सुदर्शनोदय आदि महाकाव्य तथा चम्पू ग्रन्थोंकी भी रचना की है। इनका प्रकाशन ब्यावरकी मुनिश्री ज्ञानसागर ग्रन्थमालासे हो चुका है।

जयोदय काव्य कवि कल्पनाओंका अनुपम भाण्डार है। श्लेष, विरोध, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारोंसे समस्त काव्य समलंकृत है। सम्पूर्ण ग्रन्थमें अन्त्यानुप्रासका स्थान सुरक्षित रखा गया है। संस्कृतके अनेकों अप्रसिद्ध शब्दोंका इसमें प्रयोग हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'यमकादौ भवेदैक्यं डलोरलोर्वबोस्तथा' इसका जगह-जगह दिग्दर्शन होता है। काव्यकी अङ्ग-वन क्रीड़ा, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय, पानगोष्ठी, दूतीप्रेषण, संभोग, प्रभात, सूर्योदय, नदी, पर्वत आदिका सुन्दर वर्णन इस महाकाव्यमें प्रस्तुत किया गया है। शृङ्गार, वीर और शान्त रसका यथास्थान विनिवेश भी दर्शनीय है।

विक्रम संवत् २००७ में जब यह काव्य मूल रूपमें प्रकाशित होकर जैन जैनेतर विद्वानोंके पास भेजा गया, तब कवि की काव्य प्रतिभासे सभी विद्वान् आश्चर्यचकित रह गये। सबको आश्चर्य हुआ कि इस समय भी श्री हर्ष, माघ, भारवि और कालिदास-की कोटिका काव्य-निर्माता विद्यमान है। अप्रसिद्ध शब्दोंके प्रयोग और उनकी विचित्र संयोजनासे हतप्रभ होकर जब आचार्य ज्ञानसागरजी महाराजसे अनुरोध किया गया कि टीकाके बिना ग्रन्थोंका हार्द प्रकट नहीं होगा, तब उन्होंने स्वयं इसकी संस्कृत टीका लिखी। प्रकाशित मूल प्रतिमेंसे उन्होंने कितने ही श्लोकोंको छोड़ा, कितने ही का क्रम परिवर्तन किया, कितनेका ही नया समावेश किया और पूर्वार्द्धमें कितने ही का अन्वय भी लिख दिया। उसके आधारसे स्व० पं० हीरालालजी शास्त्रीने पं० अमृतलालजी साहित्याचार्य एवं जैनदर्शनाचार्य वाराणसीके सहयोगसे इसके १३ सर्गोंका हिन्दी अनुवाद किया, जिसे ब्यावरकी ज्ञानसागर ग्रन्थमालाने प्रकाशित किया। शास्त्रीजीके दिवंगत हो जानेसे १४–२८ सर्गका उत्तरार्द्ध प्रकाशित होनेसे रह गया। सम्पादन और अनुवादके लिए इसकी पाण्डुलिपि यद्यपि ५ वर्ष पूर्व मेरे पास आ चुकी थी, परन्तु अन्य व्यस्तताओंके कारण मैं कुछ काम नहीं कर सका। इसी बीच पाण्डुलिपि कुछ अन्य लोगोंके पास भी पहुँचाई गई, पर ग्रन्थकी दुरूहता और कार्यके परिश्रमसाध्य होनेके कारण कुछ हो नहीं सका।

सागर विद्यालयसे अवकाश प्राप्त हो जानेके बाद इस काव्यको देखा और आचार्य ज्ञानसागरजी महाराजके द्वारा स्वलेखनीसे लिखित स्वोपज्ञ संस्कृत टीका तथा उनके द्वारा प्रयुक्त अप्रसिद्ध शब्दोंके संग्रह रूप विश्वलोचन कोषको सामने रखकर कार्य चालू किया, जो अनवरत ६ माहके परिश्रमसे पूर्ण हुआ। सम्पूर्ण ग्रन्थ काव्य प्रतिभाके चमत्कारोंसे भरा हुआ है। पर इस संक्षिप्त लेखमें उनका निदर्शन सम्भव नहीं है। अतः इसके अठारहवें सर्गमें वर्णित प्रभात वर्णनके कुछ प्रसंग पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करनेका प्रयास करता हूँ। पाठक देखें और तुलनात्मक अध्ययन करें कि माघ आदि महाकवियोंके प्रभात वर्णनसे इसमें क्या कैसा वैशिष्ट्य है।

अठारहवें सर्गमें १०४ श्लोकोंके द्वारा प्रभात वर्णन हुआ है। अन्तके कुछ श्लोकोंको छोड़कर समग्र सर्गमें वसन्ततिलका छन्दका प्रयोग हुआ है। यह छन्द जब अनेक राग-रागनियोंमें पढ़ा जाता है, तब श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं।

प्रातर्वेलामें मन्द-मन्द वायु चलती है, पूर्व दिशामें लाली छा जाती है, पक्षी कलरव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते हैं, कमलिनी विकसित होती है, कुमुदिनी निमीलित होती है, चन्द्रमा निष्प्रभ हो जाता है, तारे लुप्त हो जाते हैं, उदयाचलमें सूर्यका उदय होता है, चकवा-चकवीकी विरह वेदना समाप्त होती है, उलूक अन्धे होकर गुफाओंमें छिपते हैं, चारण विरद बखानते हैं और प्रतापी राजाके समान सूर्यका उदय होता है। इत्यादि प्राकृतिक कार्यों के चित्रमें कविने अपनी कल्पनाकी कूचिकासे जो रङ्ग भरा है, वह बरबश पाठकके मनको मोह लेता है। इन सब प्रसङ्गोंका वर्णन श्लेषालंकारका अवलम्बन लेकर कहीं दार्शनिक पद्धतिसे, कहीं ऐतिहासिक पद्धतिसे, कहीं राजनीतिके परिवेषसे और कहीं राजनीतिके नेपथ्यसे किया है, जो एकसे एक बढ़कर है। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

प्रातः वायु मन्द-मन्द चल रही है, क्यों ? इसके लिये कविकी उत्प्रेक्षा है—

लुप्तोरुरत्ननिचये वियतीव ताते,
चन्द्रे तु निष्करदशामधुना प्रयाते।
धूकेऽपकर्मनयने द्रुतमेव जाते
मन्दं चरत्यधिगमाय किलेति वाते ॥ ४ ॥

सबके लिए आश्रय देनेसे पिताके तुल्य जो आकाश था उसका विशाल रत्नोंका संग्रह (नक्षत्र समूह) लुप्त हो गया,—लूट लिया गया। पुत्र तुल्य जो चन्द्रमा था, वह निष्कर—किरण रहित (पक्षमें हस्तरहित) अवस्थाको प्राप्त हो गया अर्थात् चन्द्रमा आकाशके लुप्त रत्नोंके खोजनेमें असमर्थ हो गया और रात्रिमें विचरने वाले जो उलूक थे उनके नेत्र देखनेमें असमर्थ हो गये। अतः किसी अन्य सहायकको न पाकर वायु स्वयं ही उन लुप्त रत्नोंके समूहको खोजनेके लिए मानों धीरे-धीरे चल रही थी।

तां पुष्पिणीं व्रततिमभ्युपगम्य सम्यक्,
शुद्धेन तेन पयसा प्लवनं वरं यः।
सम्प्राप्तवान्न पुनरप्युपसर्ग एष,
स्यान्मन्दमित्थमनिलश्चरति प्रगे सः ॥ २६ ॥

पुष्पितलता (पक्षमें रजस्वला स्त्री) का सम्पर्क—स्पर्श पाकर जो शुद्ध जलसे स्नानको प्राप्त हुआ था ऐसा पवन, यह सोचकर कि यह झंझट पुनः प्राप्त न हो, प्रातःकालके समय धीरे-धीरे चल रहा हो, तात्पर्य यह है कि उस समय शीतल, सुगन्धित और मन्द पवन चल रही है।

इस संदर्भकी एक उत्प्रेक्षा और देखिए—

किञ्चाहतः स्तनतटैर्निपतन्विलग्ने,
योषाजनस्य परिवर्तितनाभिदघ्ने।
रुद्धो नितम्बशिखरैरिति सम्प्रबुद्धो,
मन्दं प्रयाति पवनः स पुनस्तु शुद्धः ॥ २७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरी बात यह है कि यद्यपि पवन स्त्रीजनोंके स्तन तटोंसे ताड़ित हुआ, उसे उनके कटि प्रवेश पर गिरना पड़ा, नाभि तकके प्रदेशोंमें घूमना पड़ा और नितम्ब शिखरोंसे अवरुद्ध होना पड़ा, फिर भी वह चूँकि सम्प्रबुद्ध—ज्ञानवान था, अतः शुद्ध निर्विकार रहकर धीरे-धीरे—सावधानीसे चल रहा है।

पक्षी जागकर घोंसलोंमें कलकल ध्वनि कर रहे हैं, इसके लिए कविकी मौलिक उत्प्रेक्षा देखिए—

व्योम्नि स्थितिं भरुचितां समतीत्य दीने,
राज्ञोऽपवर्तनदशो प्रतिपद्य हीने।
सद्योऽथवाभ्युदयनेतरि भावनाना-
माद्येऽर्थवत्यपि पदे विकृतोक्तिमानात् ॥८॥

जब आकाश, राजा—चन्द्रमा (पक्षमें नृपति) की अपवर्त दशा—अस्तोन्मुख अवस्था (पक्षमें कुत्सित शासन प्रवृत्ति) को प्राप्त कर भरुचितां—नक्षत्रोंसे देदीप्यमानता (पक्षमें भरुचितां सुवर्णसम्पन्नता) को छोड़कर दीन हो गया—प्रभाहीन हो गया (पक्षमें निर्धन हो गया) तथा सूर्य शीघ्र ही अभ्युदय—उदय (पक्षमें सम्पन्नता) को प्राप्त हो गया, तब पक्षी अपनी कलकल ध्वनिसे आगमोक्त बारह भावनाओंमें से प्रथम भावना—अनित्य भावनाको सार्थक कर रहे थे। भाव यह है कि राजा—चन्द्रमा रूपी एक राजाका अस्त होना और सूर्य रूपी अन्य राजाका उदित होना, इससे संसारकी अनित्यताको पक्षी अपनी कलकल ध्वनिसे प्रकट कर रहे हैं।

चन्द्रमा निष्प्रभ हो गया है। क्यों ? इसका उत्तर कवि से पूछिए—

यन्मीलितं सपदि कैरविणीभिराभिः
क्षीणा क्षपाऽस्तमितमच्युत तारकाभिः।
संचिन्तयन्दयितदारतयेन्दुदेवः
प्राप्नोति पाण्डुवपुरित्यथवा शुचेव ॥२१॥

चन्द्रमाकी तीन स्त्रियाँ थीं—१. कुमुदिनी, २. रात्रि और ३. तारा। इनमेंसे इस समय कुमुदिनी मूर्च्छित हो गई, रात्रि नष्ट हो गई और तारा अस्तमित हो गई, मर गई। यतश्च चन्द्रमा स्त्रीप्रेमी था, अतः अपनी तथोवक्त स्त्रियोंके विषयमें चिन्ता करता हुआ मानों शोकसे ही पाण्डु—श्वेत शरीरको प्राप्त हो रहा है।

---

हि + इने इतिच्छेदः 'इनःपत्यौ नृपे सूर्ये' इति विश्वलोचनः। २ 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे' इति विश्वः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चन्द्रमा पश्चिम दिशामें पहुँच रहा और पूर्व दिशामें लालिमा छा रही है—इसका आलंकारिक वर्णन देखिए—

धिग्वारुणीमनुभवन्विनिपातमेति,
यो ऽस्मत्सकाश उदयं विधुराप चेति ।
भासौ घृणापरकयेन्द्रदिशाशु दन्त-
वासः परावृतममुष्य समस्तु सन्तः ॥३३॥

हे सत्पुरुषो ! पूर्व दिशामें जो यह लाल-लाल कान्ति फैल रही है, यह किससे उत्पन्न हुई ? मैं कहता हूँ, सुनो, पूर्व दिशा सोचती है कि जो चन्द्रमा हमारे सन्निधानमें उदय (पक्षमें उन्नत दशा) को प्राप्त हुआ, वही वारुणी—पश्चिम दिशा (पक्षमें मदिरा) का सेवन करता हुआ विनिपात-अधोगमन (पक्षमें पतन) को प्राप्त हो रहा है, इसे धिक्कार हो, यह सोच कर घृणा करनेमें तत्पर पूर्व दिशा रूपी स्त्रीने अपना अधरोष्ठ फुलाया, उसीसे यह लाल कान्ति उत्पन्न हुई ।

इसी संदर्भके अन्य उत्प्रेक्षाका अवलोकन कीजिए । रात्रि, एक असंतुष्टा नायिका है—

यात्येकतोऽपि तु कुतोऽपि विरज्य राज-
न्यात्माधिपेऽपरदिशां प्रतियाति राजन् ।
सत्पुष्पतल्पमसकौ रजनी दलित्वा,
रोषारुणा विकृतवाग्भरतश्छलित्वा ॥३६॥

मागध, जयकुमारको सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे राजन् ! अपना पति चन्द्रमा (पक्षमें अपना स्वामी) जब किसी कारणसे नाराज हो पश्चिम दिशा (पक्षमें अन्य नायिका) की ओर चला गया, तब यह रात्रि (पक्षमें असंतुष्ट नायिका) क्रोधसे लाल हो विकृत वाग्-पक्षियोंके द्वारा कृत कलरव (पक्षमें आक्रोश पूर्ण वचनों) से झकझक करने लगी और नक्षत्र रूपी फूलोंकी सेज नष्ट-भ्रष्ट कर एकान्तमें चली गई ।

कुमुदिनीका निमीलन, सूर्यका उदय, चन्द्रमाकी निष्प्रभताका वर्णन एकत्र देखिए—

चन्द्रोऽस्पृशत्कमलिनीमहसत्कमोदि-
न्येतद्द्वयेऽरुणदृगर्यमराड् विनोदिन् ।
स्रागभ्युदेति किल तेन कुमुद्वतीयं,
मौनिन्यमूच्छशभृदेति च शोचनीयम् ॥३८॥

हे विनोदरसिक ! चन्द्रमाने कमलिनीका स्पर्श किया, यह देख कुमुदिनीने हँस दिया, इन दोनों कार्यों पर क्रोधसे लाल-लाल नेत्र करता हुआ सूर्य रूपी राजा शीघ्र ही उदयको प्राप्त हो रहा है, इससे कुमुदिनी—कुमुद्वती—कुत्सित हर्षसे युक्त होती हुई मौन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेकर बैठ गई—निमीलित हो गई और चन्द्रमा शोचनीय अवस्थाको प्राप्त हो गया। राजाके सामने अपराधियोंकी यह दशा होती है।

निःस्नेह अतएव बुझनेके सन्मुख दीपककी अवस्था देखिये—

निःस्नेहजीवनतयापि तु दीपकस्य
संशोच्यतामुपगतास्ति दशा प्रशस्य।
संघूर्ण्यमानशिरसः पलितप्रभस्य,
यद्वन्मनुष्यवपुषो जरसान्वितस्य ॥४१॥

हे प्रशंसनीय! जिसका शिर काँप रहा है और बाल सफेद हो गये हैं ऐसे वृद्ध मनुष्यकी दशा—अवस्था जिस प्रकार स्नेह-प्रीति रहित जीवन होनेसे शोचनीय हो जाती है उसी प्रकार जिसका अग्रभाग काँप रहा है और जिसकी प्रभा क्षीण हो रही है ऐसे दीपककी दशा-वत्ती स्नेह–तैल रहित जीवन होनेसे शोचनीय अवस्थाको प्राप्त हो रही है।

दार्शनिक पद्धतिसे प्रभातका वर्णन करने वाले कविकी श्लेष प्रियता देखिये—

कूटस्थतां खरमरीचिरुपैति तात!
भ्रष्टाध्वरो भवति वा द्विजराडिहातः।
स्याद्वादवागुदितपिच्छमगस्य वृत्ति-
स्सा सौगताय नियता क्षणदाप्रवृत्तिः ॥६०॥

हे तात! खरमरीचि—सूर्य, कूटस्थता–पूर्वाचलकी शिखर पर स्थितिको प्राप्त हो रहा है। पक्षमें प्रखर वक्ता–स्पष्टवादी मरीचि-सांख्यमतका प्रवर्तक कूटस्थता–नित्यैक-वादको प्राप्त हो रहा है (पक्षमें ब्राह्मण भ्रष्टाध्वर–हिंसक यज्ञको प्राप्त हो रहा है।) पूँछको ऊपर उठाने वाले मुर्गोंकी वृत्ति शब्दको प्राप्त हो रही है, अर्थात् मुर्गे बोल रहे हैं। (पक्षमें मयूरपिच्छको धारण करने वाले दिगम्बर मुनियोंकी वृत्ति स्याद्वाद वाणीको प्राप्त हो रही है और क्षणदा–रात्रिकी प्रवृत्ति गताय नियता–अच्छी तरह समाप्त हो गई है (पक्षमें सौगत–बौद्धमतको प्राप्त हो गई है–क्षणिकवादको स्वीकृत कर रही है।)

प्रातःकालके समय होने वाली दिन रातकी सन्धिका वर्णन करते हुए कविने जिस उपमालंकारका प्रयोग किया है उसका रहस्य देखिये कितना गहरा है—

नो नक्तमस्ति न दिनं न तमः प्रकाशः
नैवाथ भानुभवनं न च भानु भासः।
इत्यर्हतो नृप! चतुर्थवचो विलास-
सन्देशके सुसमये किल कल्यभासः ॥६२॥

---

१. जैनेन्द्र व्याकरणमें ह्रस्वकी प्र, दीर्घ की दी, और प्लुतकी प संज्ञा होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हे नृप ! हे राजन् ! अर्हन्त भगवान्के चतुर्थ वचनकी चेष्टाका संदेश देने वाले प्रातःकालीन दीप्तिके सुन्दर समयमें न रात है, न दिन है, न अन्धकार है, न प्रकाश है, न नक्षत्रोंका अनुभवन है और न सूर्यकी दीप्तियाँ हैं।

भावार्थ—जिनेन्द्र देवके द्वारा प्रतिपादित स्दादस्ति आदि सात वचनोंमें चतुर्थ वचन 'स्यादवक्तव्य है' अर्थात् पदार्थ न अस्ति रूप है, न नास्ति रूप है, न अस्ति नास्ति रूप है किन्तु अवक्तव्य है क्योंकि एक ही साथ अस्ति नास्ति ये दो विरोधी धर्म प्रधानतासे नहीं कहे जा सकते। इसी तरह इस प्रभात कालमें न तो रात है, न अन्धकार है, न प्रकाश है, न नक्षत्रोंका अनुभवन-सद्भाव है और न सूर्यकी रश्मियाँ हैं किन्तु प्रकाश और अन्धकारकी एक अवक्तव्य दशा है।

इसी सन्दर्भका श्लेषसे ओत-प्रोत एक पद्य और देखिये—

निर्मूलतां व्रजति भो क्षणदाप्रणीति-
नास्ति प्रदीपभुवि कापिलसत्प्रतीतिः।
स्याद्वाद एव विभवः प्रतिपल्लवं स
भात्यर्हतो दिनकरस्य यथावदंशः ॥६४॥

हे महानुभाव ! सुनो, यह जो क्षणदा प्रणीति—रात्रिकी चेष्टा है वह निर्मूलताको प्राप्त हो रही है अर्थात् रात्रि समाप्त हो रही है (पक्षमें बौद्धोंकी क्षणदा प्रणीति-क्षणिक मत नीति निर्मूल हो रही है, प्रदीप भुवि—दीपकोंके स्थानमें कुछ भी सुन्दर प्रतीति नहीं है अर्थात् दीपकोंकी प्रभा समाप्त हो गई है अथवा प्रदीप—ह्रस्व दीर्घ, और प्लुत संज्ञक स्वरोंके स्थान भूत शब्दोंके उच्चारणमें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वरका भेद नहीं जान पड़ता (पक्षमें कापिल—कपिलानुयायी सांख्योंकी कोई प्रणीति—नित्यवादकी स्थापना नहीं है। वृक्षोंके पल्लव—पात पात पर विभवो वादः स्यात्—पक्षियोंका कलरव हो रहा है अथवा पल्लव पल्लव—अक्षर अक्षरमें अर्हन्त भगवान्का स्याद्वाद—कथंचित् वाद ही दिनकरके अंशके समान विभव—वैभवको प्राप्त हो रहा है।

कमलिनीके सुन्दर दलों पर पड़ी ओसकी बूंदोंका वर्णन देखिये—

सद्वारिशौक्तिकततिं स्वयमेव तेषु
सम्बिभ्रती कमलिनी कलपल्लवेषु।
उद्घाटितस्वनयना निजवल्लभस्या-
सौ स्वागतार्थमभियाति हितैकवश्या ॥६७॥

यह प्रेम परायणा कमलिनी कमलरूप नेत्र खोल कर अपने पति सूर्यके स्वागतके लिये कोमल पल्लव रूप हाथोंमें जल बिन्दु रूप मोतियोंकी पंक्तिकी धारणा करती हुई स्वयं सुशोभित हो रही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक विचित्र कल्पना देखिये—

भ्रष्टोडुमौक्तिकवदुच्चलरक्तरीति-
ध्वान्तेभकुम्भभिदितो रविकेशरीति ।
दृष्ट्वा ततः प्रभवदुत्कलितां महीं ता-
मेषोऽस्ति पालितपृषद् द्विजराट् सचिन्तः ।।७८।।

प्रातर्वेलामें नक्षत्र नष्ट हो जाने हैं, आकाशमें लालिमा छा जाती है और चन्द्रमा कान्ति हीन हो जाता है । ऐसा क्यों होता है ? इस सन्दर्भमें कविकी कल्पना है––नक्षत्र रूपी मोतियोंको विखेरता और अरुणता रूपी खूनके गुब्बारोंको ऊपरकी ओर उड़ाता हुआ सूर्य रूपी बब्बर‍सिंह अन्धकार रूपो हाथीके मस्तकको भेदकर इस ओर आ रहा है यह देख पृथिवी पर व्याकुलता छा गई । कमलकी कलियोंके बहाने उसका हृदय फट गया । इस घटनासे अपने भीतर हरिणकी रक्षा करने वाला चन्द्रमा विचारता है कि जब सूर्य रूपी बब्बर शेरने हाथीको नहीं छोड़ा तब हमारे हरिणको कैसे छोड़ेगा ? इस चिन्तासे ही मानों चन्द्रमा कान्तिहीन हो गया ।

जिस समय इस काव्यका निर्माण हुआ था उस समय भारतमें गांधीजी, नेहरू परिवार, राजगोपालाचार्य, राजेन्द्र प्रसाद, सरोजिनी नायडू तथा जिन्ना आदि राजनेता प्रसिद्ध हो रहे थे । कविने उन सबका नाम श्लेषालंकार द्वारा इस जयोदय काव्यमें बड़ी श्रद्धासे अभिव्यक्त किया है । यह चातुर्य कहीं अन्यत्र नहीं दिखाई देता । कविकी इस प्रतिभा पर आश्चर्य चकित होना पड़ता है । देखिये—

यद्वा सुगां धियमिता विनतिस्तु राज–
गोपाल उत्सवधरस्तव धेनुरागात् ।
हृष्टा सरोजिनि अथो विषमेषु जिन्ना–
नुष्ठानमेति परमात्मविदेकभागात् ।।८३।।

हे राजन् ! आपकी विनीतता उत्तम गतिशील बुद्धि को प्राप्त हैं, आपकी गोरक्षा की प्रीतिसे राजके सब गोपाल-गोरसके आनन्द मना रहे हैं । इस प्रातर्वेलामें सरोजिनी-कमलिनी हर्षित–विकसित है और मदन विजयीपुरुष अपने आप की परमात्मा, परंब्रह्म का एक अंश माननेसे संध्या वन्दनादि अनुष्ठान-प्रशस्त कार्य कर रहे हैं ।

श्लेष से प्रकट होनेवाला दूसरा अर्थ भी देखिये—

हे राजन् ! आपकी विनम्रता या शिक्षा गांधीजी की विनम्रता या शिक्षाका अनुसरण कर रही है, आपको गो प्रेमसे राजगोपालाचार्य आनन्द का अनुभव कर रहे हैं तथा सरोजिनी नायडू प्रसन्न हैं । सिर्फ एक और जिन्ना नामक यवन नेता परकीय भारतको अपना मानते हुए विषम–पारस्परिक विरोधके कार्योंमें—हिन्दुस्तान-पाकिस्तानके विभाजनका अनुष्ठान कर रहे हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी प्रकरणका एक चमत्कार और देखिये—

गान्धीरुषः प्रहर एत्यमृतक्रमाय
तत्सूत नेहरूचयो बृहदुत्सवाय।
राजेन्द्रराष्ट्रपरिरक्षणकृत्तवाय-
मत्राभ्युदेतु सहजेन हि सम्प्रदायः ॥८४॥

हे राजाओंके इन्द्र ! प्रातःकालके पहरमें उत्तम पुरुषोंकी बुद्धि अमृतत्व प्राप्त करनेके लिये पुण्य पाठ रूप गो-वाणीको प्राप्त होती है। इस समय सत्-नक्षत्रोंको दीप्ति महान् उत्सवके लिये होती अर्थात् नक्षत्र निष्प्रभ हो रहे हैं अतः राष्ट्रकी रक्षा करनेवाला आपका यह अय-समीचीन भाग्य, सहज स्वभावसे वृद्धिको प्राप्त हो। गांधीजीके रोषको दूर करनेवाला नेहरू परिवार सत्सु-सज्जनोंमें महान् उत्सवके लिये तत्पर है और राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, यह सब राष्ट्रनेताओंका परिकर अभ्युदय को प्राप्त हो ॥[1]

सत्कीर्तिरञ्चति किलाभ्युदयं सुभासा
स्थानं विनारिमृदुवल्लभराट् तथा सः।
याति प्रसन्नमुखतां खलु पद्मराजो
निर्याति साम्प्रतमित सितरुक्समाजः ॥८१॥

इसी सन्दर्भका एक श्लोक और देखिये—

हे अजात शत्रु ! तथा कोमल प्रकृति वाले मनुष्योंको प्रिय राजन् ! इस प्रातर्वेला में सूर्य दीप्तिकी समीचीन कीर्ति अभ्युदयकी प्राप्ति हो रही है अथवा अभिगत-प्राप्त है उदय-उत्कर्ष जिसमें ऐसे स्थानको प्राप्त हो रहे हैं। पद्मराज-श्रेष्ठ कमल (शतदल-सहस्र दल) प्रसन्न मुखताको प्राप्त हो रहा है अर्थात् विकसित है और सितरुक्समाज—चन्द्रमाका परिवार-नक्षत्रगण यहाँसे निकल रहा है छिप कर अन्यत्र जा रहा है।

अर्थान्तर—हे देव इस समय (विक्रम संवत् २५०७) सुभाषचन्द्र बोस की उज्ज्वल कीर्ति अभ्युदयको प्राप्त हो रही है, अजात शत्रु तथा कोमल प्रकृति वालोंको प्रिय राष्ट्र-डा० राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपतिके आसनको प्राप्त हो रहे हैं, पद्मराज प्रसन्न मुखताको प्राप्त है अर्थात् देशके स्वतन्त्र होनेसे हर्षका अनुभव कर रहे हैं और सितरुक्समाज—गौराङ्ग अंग्रेजोंका परिवार अथवा समूह यहाँसे निकल रहा है—अपने देशको जा रहा है।

इस प्रकार अठारहवाँ सर्ग ही नहीं सम्पूर्ण ग्रन्थ विचित्र सूक्तियोंसे परिपूर्ण है। कैलासका वर्णन, जयकुमारके द्वारा कृत जिनेन्द्र पूजाका विस्तार, भगवान् वृषभदेवके

१. 83-84, 81 श्लोकोंकी संस्कृत टीका द्रष्टव्य है, इसके बिना शब्दोंकी तोड़-फोड़ हृदयंगत नहीं हो सकती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समवसरणका वैभव, जय कुमारका वैराग्य, पुत्रको राजनीतिका उपदेश तथा तपश्चर्याका विशद वर्णन इस काव्यकी गरिमाको बढ़ाने वाले प्रकरण हैं। सुलोचनाके सतीत्वके प्रभाव-से उफनती गङ्गाका प्रभाव कम होना, ग्राहसे जयकुमारके गजका मुक्त होना, अर्ककीर्ति-को जीतनेके बाद जयकुमारका भरत चक्रवर्तीसे साक्षात्कार और भरत चक्रवर्तीके द्वारा जयकुमारका शुभाशंसन आदि सन्दर्भ बरबश पाठकोंका मन मोहित कर लेते हैं।

१४ वें सर्गसे लेकर २८ वें सर्ग तकका यह उत्तरार्ध संस्कृत और हिन्दी टीकाके साथ प्रकाशित हो रहा है। श्री आचार्य ज्ञानसागरजी द्वारा विरचित जयोदय, वीरोदय, दयोदय, सुदर्शनोदय और समुद्रदत्त चरित्रका अध्ययन कर कुमारी विदुषी डा० किरण टण्डनने कुमायूँ विश्वविद्यालयसे 'मुनि श्री ज्ञान सागरका व्यक्तित्व और उनके संस्कृत काव्य ग्रंथोंका साहित्यिक मूल्यांकन' विषय पर पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की है।

ग्रन्थ पर विस्तृत प्रस्तावना श्री डॉ० भगीरथ त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री' निदेशक अनुसंधान संस्थान सम्पूर्णानन्द संस्कृत महाविद्यालय काशीने लिखकर महाकाव्यका गौरव बढ़ाया है। अनुवाद संस्कृत टीकाके आधार पर किया गया है। कुछ श्लोक ऐसे हैं जिन पर आचार्य ज्ञानसागरजीने स्पष्ट लिखकर संस्कृत टीका नहीं लिखी थी पर आवश्यक थी अतः संस्कृत टीकाका संयोजन भी किया है। समास बहुल अनेकार्थक श्लोकोंका हिन्दी अनुवाद कठिन होता है। यदि शब्दार्थकी ओर दृष्टि जाती है तो हिन्दीका सौन्दर्य समाप्त होता है और हिन्दीके सौन्दर्यकी रक्षा की जाती है तो कविका भाव प्रकट नहीं हो पाता। फिर भी यथाशक्य दोनोंको सँभालनेका प्रयत्न किया गया है। प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है इसका निर्णय विज्ञ पाठक मनीषी स्वयं करेंगे। काव्यके निर्माता श्री महाकवि भूरामल शास्त्री (स्व० आचार्य ज्ञानसागर जी) की प्रतिभासे चमत्कृत हुए बिना नहीं रहेंगे।

इसके १–१३ सर्ग तकके पूर्वार्धमें संस्कृत टीकाके साथ अन्वय भी दिया गया है परन्तु १४–२८ सर्गके उत्तरार्धमें अन्वय नहीं दिया जा सका है क्योंकि द्वयर्थक श्लोक अधिक हैं तथा शब्दोंकी तोड़ फोड़ अधिक मात्रामें है अतः संस्कृत टीका साथमें रहनेसे अन्वयकी सार्थकता हृदयगत नहीं हुई।

१७ वें सर्गमें संभोग शृङ्गारका वर्णन है उसकी हिन्दी टीका मैंने नहीं लिखी। जिज्ञासु महानुभाव संस्कृत टीकाके माध्यमसे अपनी जिज्ञासा शान्त करें। एक निवेदन है कि "जयोदय महाकाव्य" काव्य ग्रन्थ है काव्यमें प्रसङ्गवश सब रसोंका वर्णन होता है। शृङ्गारके स्थान पर शृङ्गारका और शान्तके स्थान पर शान्त रसका वर्णन आवश्यक होता है। अतः पाठकोंका लेखक पर यह आक्षेप नहीं होना चाहिये कि लेखकने खुलकर शृङ्गारका वर्णन किया है।

आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज अपने विद्या और दीक्षा गुरुकी इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महनीयकृतिको प्रकाशित देख प्रसन्नताका अनुभव करेंगे। अनुवाद करते समय आचार्यश्रीसे कई बार परामर्श किया गया है तथा प्रकाशनके पूर्व ग्रन्थकी पाण्डुलिपि विशाल जनसमूहके बीच नैनागिरिजीमें आचार्यश्री को समर्पित की गई थी। संपादन और अनुवाद त्रुटियोंके लिये विज्ञपाठकोंसे क्षमा प्रार्थी हूँ।

इस काव्यके 'प्रभात वर्णन' आदि कुछ प्रसंग अपने आपमें परिपूर्ण हैं तथा विश्वविद्यालयोंके पठन क्रममें सम्मिलित करने योग्य हैं।

श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल<br>पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर

विनीत<br>पन्नालाल जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# प्रथम संस्करण से

## जयोदय महाकाव्य का प्रतिपाद्य विषय


पृष्ठ

**चतुर्दश सर्ग—** ६६८–६८७

स्वयंवरके बाद वाराणसीसे हस्तिनापुरकी ओर प्रयाण करते समय जयकुमार और सुलोचनाके साथ गङ्गा तट पर स्थित एक वनमें ठहरे। वनकी शोभा तथा वनमें युवा-युवतियोंकी वन क्रीड़ाका वर्णन। युवतियोंकी मुग्धताका युवाओं द्वारा छलपूर्ण उपयोग। विविध अलंकारोंकी छटा कविके काव्य कौशलको प्रकट करती है।

सरितामें स्त्री पुरुषोंकी जलक्रीड़ाका सरस वर्णन। नवीन वस्त्रोंका धारण करना। ६८७–७०६

**पञ्चदश सर्ग—** ७०७–७५३

सूर्यकी लालिमा, सूर्यका अस्त होना, दिशाओंमें क्रमशः अन्धकारका फैलना, घर घरमें दीपकोंका जलना, आकाशमें ताराओंका छिटकना, चन्द्रोदय, पतिके आगमन पर स्त्रियोंके हाव-भावका वर्णन।

**षोडश सर्ग—** ७५४–७८८

स्त्री पुरुषोंका सरस आलाप, पानगोष्ठी, दूती प्रेषण, सखियोंकी आलंकारिक-प्रणय कथाका वर्णन। प्रत्येक वर्णनमें कविकी अलौकिक प्रतिभाका प्रदर्शन।

**सप्तदश सर्ग—** ७८९–८२२

शृङ्गार वर्णन

**अष्टादश सर्ग—** ८२३–८८६

प्रातःकालका वर्णन, कविकी काव्य प्रतिभाका पदे-पदे प्रदर्शन।

**एकोनविंश सर्ग—** ८८७–९२९

प्रातःकालिक क्रियाओं, धार्मिक अनुष्ठान, गणधर वलयके अन्तर्गत ऋद्धिधारी मुनियोंका पूजन आदि। ऋद्धि मन्त्रोंका समुल्लेख।

**विंशतितम सर्ग** ९३०–९६८

जयकुमारका अयोध्या जाना, प्रसंगवश अयोध्या वर्णन, राजसभामें जयकुमारका भरत चक्रवर्तीसे मिलना, स्वयंवरके बाद वाराणसीमें अर्क-


Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कीर्तिके साथ हुए युद्धके लिये क्षमा याचना, भरतके द्वारा जयकुमारके प्रति प्रेम प्रदर्शन। अयोध्यासे प्रस्थान करनेके बाद गंगामें हाथी पर व्यन्तरों द्वारा उपसर्ग। तट पर स्थित सुलोचनाके द्वारा महामन्त्रकी आराधना गंगादेवीके द्वारा हाथीका उपसर्ग दूर होना। गंगादेवीके प्रति आभार प्रदर्शन।

एकविंशतितम सर्ग— ९६९-१००४

हस्तिनापुर पहुँचनेमें सैनिकोंकी उत्सुकता, सेनाका वर्णन, हस्तिनापुरमें स्वागत, गोपुरसे लेकर राजमहल तक दोनों ओर खड़े अपार जन समूहका वर्णन, हेमाङ्गद आदि सालोंके साथ जयकुमारका हास्य विनोद। सुलोचनाको आशीर्वाद देकर हेमाङ्गद आदिका वाराणसी वापिस पहुँचना तथा सब समाचार कहकर अकंपन महाराजको प्रसन्न करना।

द्वाविंशतितम सर्ग— १००४-१०५२

जयकुमार और सुलोचनाके दाम्पत्य प्रेमका वर्णन। प्रसङ्गवश चमत्कार पूर्ण ऋतु वर्णन। जयकुमारका प्रजा पालन, सुलोचना का गृह-कार्य सम्बन्धी कौशल।

त्रयो विंशतितम सर्ग— १०५३-१०८४

आकाशमें जाते हुए विद्याधरोंके विमानको देखकर जयकुमारका मूर्च्छित होना तथा मूर्च्छित होनेके पूर्व 'प्रभावती' कहना। कबूतर-कबूतरीका युगल देख सुलोचनाका भी मूर्च्छित होना और उसके 'हा रतिवर' कहना। दोनोंका शीतलोपचार हुआ। सुलोचनाकी सपत्नियोंमें अनेक प्रकारकी आशंकाओंका होना। इसी प्रसंगमें जयकुमारको अवधिज्ञानका होना और सुलोचनाको जाति स्मरण। सुलोचनाके द्वारा पूर्वभवोंका विस्तृत वर्णन। आकाशगामिनी विद्याकी प्राप्ति।

चतुर्विंश सर्ग— १०८५-११४०

विद्यायें प्राप्त कर विमान द्वारा तीर्थ यात्राका वर्णन। कुलाचलोंकी यात्राके बाद जयकुमार और सुलोचना कैलास पर्वत पर गये। जयकुमारके द्वारा कैलासकी प्राकृतिक सुषमाका वर्णन। अलंकारोंकी विस्तृत छटा। जयकुमारका स्नानके अनन्तर जिनमन्दिर जाना, जयकुमारने जल, चन्दन आदि आठ द्रव्योंसे भगवान्‌की पूजा कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भक्ति विभोर हो स्तुति की। सौधर्मेन्द्रकी सभामें जयकुमारके शीलकी प्रशंसा सुन काञ्चना नामक देवी परीक्षाके लिये सुलोचनासे पृथक् बैठे हुए जयकुमारके सामने हावभाव प्रकट करते हुए उसने संभोगकी प्रार्थना कर प्रणय याचना की परन्तु जयकुमार शीलसे विचलित नहीं हुए। अन्तमें वह एक राक्षसीका रूप धर जयकुमारका अपहरण करने लगी इसी बीच सुलोचनाने आकर उसे डांटा। अन्तमें उसने असली रूपमें प्रकट हो जयकुमारकी प्रशंसा की। इस घटनासे जयकुमारके हृदयमें वैराग्य भावकी उत्पत्ति हुई।

पञ्चविंशतितम सर्ग— ११४१–११७३

जयकुमारका वैराग्य चिन्तन। अनेक दृष्टान्तों द्वारा संसार परित्यागका दृढ़ निश्चय।

षड्विंश सर्ग— ११७४–१२१८

जयकुमारने समारोह पूर्वक अपने पुत्र अनन्तवीर्यका राज्याभिषेक कर उसे राजनीतिका उपदेश दिया। जयकुमारका भगवान् आदिनाथके समवसरणमें जाना। प्रसंगवश समवसरणका वर्णन। तदनन्तर भगवान् आदिनाथके चरणोंका सांनिध्य पाकर जयकुमारके नेत्रोंमें हर्षके आँसू छलक उठे। विनयपूर्वक भगवान्‌की स्तुति की।

सप्तविंशतितम सर्ग— १२१९–१२४५

आदि जिनेन्द्रदेवके द्वारा धर्मोपदेश। संसारकी स्थितिका वर्णन। जिसे सुनकर जयकुमारने हर्ष पूर्वक निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की।

अष्टाविंशतितम सर्ग— १२४६–१२६४

जयकुमारको मुनि अवस्थाका वर्णन। तपश्चरणकी चर्चा। गणधर पदपर प्रतिष्ठित होना। निर्वाण प्राप्त करना। पूर्व कवियोंके स्मरणपूर्वक काव्यका समारोप। हिन्दी टीकाकारका किंचिन्निवेदनम्।

•

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जयोदय महाकाव्य
• •

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# जयोदयमहाकाव्यम्

## चतुर्दश सर्गः

[1]अथ तीरारामे सरिताया रुचिरासीन्[2]महतो जनताया।
आत्म[3]भूतनयताऽधिगमाय सुललिततालान्वितोत्सवाय ॥१॥

**टीका**—अथानन्तरं जनताया रुचिरभिलाषा महती बहुला अपि च नारदस्य वीणा चासीत्। क्वासीत्? सरिताया नद्यास्तीरारामे प्रान्तोद्याने। किमर्थम्? आत्मने यो भूतो हितकरो वायुस्तस्य नयः समीचीनतया सेवनं तत्तांया अधिगमाय प्राप्तये वायुसेवनार्थम्। एवमात्मभूतनयो नारदस्तत्ताधिगमाय पुनरपि सुललिता मनोहरा ये तालास्ताडवृक्षाः, उपलक्षणात् सर्वेऽपि पादपास्तैः, पक्षे लयमूर्च्छनादिसंगीतशास्त्रोक्तास्तालास्तैरन्वितो युक्तो योऽसावुत्सवस्तस्मै। समासोक्तिरलंकारः।

असुगतवैभववानिव तेन तत्र तथागतसमीरणेन।
समजनि सुरतविचारविशिष्टो दूरतोऽपि चायातः शिष्टः ॥२॥

**टीका**—तत्र दूरतो दुष्टरतयुक्तः स सुरतस्य विचारेण विशिष्ट इति विरोध इव

---

**अर्थ**—तदनन्तर नदीके तटवर्ती उद्यानमें आत्महितकारी वायुका अच्छी तरह सेवन करने तथा अत्यन्त मनोहर ताड़ आदि वृक्षोंके मध्य क्रीड़ा करने के लिये जन समूहकी महती—बहुत भारी अभिलाषा हुई। **अर्थान्तर**—आत्मभूतनयता नारदपनेकी प्राप्तिके लिए एवं अत्यन्त सुन्दर तालों—संगीतमें उपयुक्त स्वर—मूर्च्छनाओंके उत्सवके लिए महती—नारद की वीणा प्रकट हुई। यह समासोक्ति अलंकार है ॥१॥

**अर्थ**—उस तटोद्यानमें आया हुआ **शिष्ट**—सभ्य जन समूह यद्यपि **दूरत**—दुष्टरत—कुत्सित क्रीड़ा वाला था तो भी **सुरतविचारविशिष्टः**—अच्छी

---

१. हिन्दी टीकाकारक। मङ्गलाचरण—
सारदां शारदां वन्दे कर्मकल्मषहारिणीम्।
धारिणीं गुणभूषाणां विघ्नसन्दोहवारिणीम् ॥
२. 'नारदस्य तु वीणायां महती स्यात् पृथौ त्रिषु' इति विश्वलोचनः।
३. आत्मभूः ब्रह्मा तस्य तनयः पुत्रो नारदस्तस्य भावस्तत्ता तस्या अधिगमाय प्राप्तये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तस्य परिहारः—दूरादायातोऽभिप्राप्तः शिष्टो जनः सोऽपि च सुरतस्य स्त्रीप्रसङ्गस्य विचारेण विशिष्टः समजनि सम्बभूव। केनेति चेत्? तेनतथागतस्य बुद्धस्य समीरणेन प्रेरणेन। स एव चासुगतवैभववान् सुगतवैभवेन हीन इति विरोधः। तस्य परिहारः—तेन तथा मन्दमन्दरूपेणागतेन समीरणेन वायुना, असुभ्यः प्राणेभ्यो गतं प्राप्तं यद् वैभवं तद्वानिव समजनि जात इति। विरोधाभासोलंकारः ॥२॥

**दृष्ट्वाच्छायां तरुणोपात्तां हृष्टा सम्भोक्तुमिहागात्ताम्।**
**अच्छाया स्वयमितः पवित्रीभूतशरीराऽसकौ भवित्री ॥३॥**

**टीका**—काचिद् युवतिस्तरुणा वृक्षेणोपात्तां संजनितां छायां यद्वा तरुणेन युवकेनोपात्तां संलब्धां छायां शोभां तद्गतशरीरसुन्दरतां दृष्ट्वा हृष्टा प्रसन्ना सती तां संभोक्तुं

---

क्रीडाके विचारसे युक्त हो गया। यह विरोध है—जो कुत्सितरतसे युक्त है वह सुरतसे युक्त कैसे हो सकता है? विरोधका परिहार यह है कि **दूरतोऽपि चायातः**—दूरसे भी आया हुआ वह शिष्टजन समूह **सुरतविचारविशिष्टः**—स्त्री संभोगके विचारसे युक्त हो गया। तात्पर्य यह है कि उद्यानकी सुन्दरतारूप उद्दीपक विभावके मिलनेपर काम-शृंगाररससे आकुलित हो गया। साथ ही **तथागत**[1] **समीरणेन**—बुद्धकी समीचीन प्रेरणासे युक्त होनेपर भी असुगत[2] वैभववानिव—सुगत-बुद्धके वैभवसे रहितकी तरह हो गया। यह विरोध है—जो बुद्धकी समीचीन प्रेरणासे युक्त है वह बुद्धके वैभव—प्रभुत्वसे रहित कैसे हो सकता है? विरोधका परिहार इस प्रकार है—वह शिष्टजन समूह **तथा-आगतसमीरणेन**—उस प्रकार मन्दमन्दरूपसे आयी हुई वायुसे असु—प्राणोंके लिये गत-प्राप्त वैभवसे युक्त जैसा हो गया था। भाव यह है कि उद्यानकी मन्द-मन्द सुगन्धित वायुसे शिष्टजन समूहको ऐसा लगा मानों हमारे प्राणोंके लिए कोई वैभव—बहुत भारी सम्पत्ति ही मिल गयी हो यह विरोधाभासालंकार है ॥२॥

**अर्थ**—कोई युवति [3]**तरुणोपात्तां**—वृक्षके द्वारा जनित छाया-अनातपको देखकर प्रसन्न होती हुई उसका उपभोग-सेवन करनेके लिये इस उद्यानमें गयी। अथ च, कोई युवति [4]**तरुणोपात्तां**—युवकके द्वारा प्राप्त छाया—शोभा या कान्तिको देखकर प्रसन्न होती हुई उसका उपभोग करनेके लिये इस उद्यानमें

---

१-२ 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः' इत्यमरः।
३. तरुणा वृक्षेण उपात्तां संजनितां।
४. तरुणेन युवकेन उपात्तां प्राप्तां।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



समास्वादयितुमिहागात् प्राप्ता, किन्त्वसावेवासको स्वयमेवेतः पवित्रीभूतशरीरा वृक्षस्य तस्य छाययालङ्कृतशरीरा भवित्री सती किलाछायाविहीना भवित्रीति, तस्य छायां भोक्तुं-गता स्वयं छायां व्यतीतवतीति वैपरीत्यमभूत्। एष विरोधाभासोऽलंकारः ॥३॥

**अगदलसच्छायां परिपश्य (?) संगदतामनुययौ वनस्य ।**
**दूरे जरस्य निजोयधीतः पृथुलवलिभृतोऽनुरागिणीतः ॥४॥**

**टीका**—काचिद् युवतिः, निजीयधीतः स्वकीयबुद्धित एव, इतः सकाशात् अनुरागिणी सम्बद्धप्रीतिः सती, दूरेजरस्य जरारहितस्यापि पृथुलवलिभृतः बहुबलिशालिनः इति विरोधः। तस्य परिहारः—दूरे जरस्य दूरंगतमूलस्य पृथुं विपुलविस्तारं लवलिंवृक्षं बिभर्तीति तस्य पृथुलवलिभृतो वनस्य, अतएव अगदस्य गदरहितस्य लसन्ती या छाया तां परिपश्य (?) दृष्ट्वा संगतदां पर्याप्तरोगितामनुययाविति विरोधः। तस्य परिहारः—अगस्य वृक्षस्य यानि दलानि पत्राणि तेषां सती या छाया तां परिपश्य (?) संगं ददातीति

---

गयी परन्तु **पवित्र**—उज्ज्वल शरीर वाली वह युवति यहाँ आकर स्वयं **अच्छाया**—छायासे रहित हो गयी। आयी थी छायाका उपभोग करनेके लिये परन्तु स्वयं छायासे रहित हो गयी, यह विरोध है। परिहार यह है कि वह यहाँ आकर स्वयं **अच्छाया**[1]—निर्मल भाग्यवाली हो गयो। अर्थान्तरमें जो युवति किसी युवककी शोभा देखकर हर्षित होती हुई संभोगके लिये यहाँ गयी थी उसका शरीर स्वेद नामक सात्त्विकभावके कारण **पवित्र**[2]—जलरूप हो गया अतः वह उस युवककी छायाका उपभोग नहीं कर सकी ॥३॥

**अर्थ**—कोई एक स्त्री अपनी बुद्धिसे **इतः**—इस उद्यानमें **अनुरागिणी**—प्रीति सहित हो, **दूरेजरस्य**—वृद्धत्वसे रहित होनेपर भी **पृथुल वलिभृतः**—विस्तृत वलियों—वृद्धावस्थामें प्रकट होनेवाली झुर्रियोंको धारण करनेवाले (परिहार पक्षमें) **दूरे**[3]**जरस्य**—दूर तक फैली हुई जड़ोंसे सहित, विशाल लवलि (हरफररे बड़ी) वृक्षको धारण करनेवाले वनकी **अगदलसच्छायां रोगापहारिणी सुन्दर छायाको** देखकर **संगदतां**—सब ओरसे सरोग अवस्थाको प्राप्त हुई थी यह विरोध है। परिहार पक्षमें **अगदलसच्छायां**—वृक्षके पत्तोंकी सुन्दर छायाको

---

१. न विद्यते छाया यस्याः सा। पक्षे अच्छो निर्मलः अयो भाग्यं यस्याः सा। 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः। 'अयः शुभावहो विधिः' इत्यमरः।
२. 'पवित्रमुपवीताम्बुताम्रे दर्भेऽपि धर्मणि' इति विश्वलोचनः। 'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः। वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः' साहित्यदर्पणे। ३. श्लेषके कारण र और ड में अभेद किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



संगदस्तस्य भावः संगदता तामनुययौ। संसर्गयोग्यतां जगामेति विरोधाभासोऽलंकारः ॥४॥

**बहुकल्पपादपैरपि रम्यं सुमनःसमूहतो भुवि गम्यम्।**
**नन्दनं वनमिवातिमनोज्ञं पुण्यपूरुषैर्बभूव भोग्यम् ॥५॥**

**टीका**—यद् वनं नन्दनं स्वर्गीयवनमिव भुवि धरायां बभूव। यतस्तद् बहुकल्पैरनेकप्रकारकैः पादपैरपि रम्य मनोहरं पक्षे बहुभिः कल्पपादपैः सुरवृक्षैरपि रम्यं। सुमनसां पुष्पाणां पक्षे देवानां समूहतो गम्यं ज्ञेयमेव। पुण्यपूरुषैर्महाभागजनैः भोग्यमनुभवयोग्यमिति श्लेषोपमालंकारः ॥५॥

**उच्चैः पल्लवमधोजटीति तपस्यतोऽन्यस्मै गुणरीति।**
**अनोकहस्य सुकृतसंगोतिरभूदतो यौवनंप्रतीतिः ॥६॥**

**टीका**—उच्चैर्गताः पल्लवाः पत्राणि यत्र तद्यथा स्यात्तथा। किञ्चाधो गच्छन्ति जटा

---

देखकर **संगदतां**—पति समागमको देने वाली क्षमताको प्राप्त हुई थी। वृक्षोंकी सघन छाया देख उसे विश्वास हुआ था कि यहाँ अवश्य ही पतिका समागम प्राप्त होगा। यह विरोधाभास अलंकार है ॥४॥

**अर्थ**—वह उद्यान पृथिवी पर नन्दन वनके समान अत्यन्त मनोहर था, क्योंकि जिस प्रकार नन्दन वन [३]बहुकल्पपादपैः—अत्यधिक कल्पवृक्षों से रमणीय होता है उसी प्रकार वह उद्यान भी बहुकल्प-पादपैः—अनेक प्रकारके वृक्षोंसे रमणीय था। जिस प्रकार नन्दनवन [४]सुमनःसमूह—देवोंके समूहसे जानने योग्य होता है उसी प्रकार वह उद्यान भी सुमनःसमूह—विद्वानोंके समूहसे जानने योग्य था और जिस प्रकार नन्दनवन [५]पुण्यपुरुष—यक्षजनोंसे भोग्य होता है उसी प्रकार वह उद्यान भी पुण्यशाली पुरुषोंसे भोग्य था। यह श्लेषोपमालंकार है ॥५॥

**अर्थ**—यतश्च उस उद्यानमें कोई **अनोकह**—वृक्ष **उच्चैः पल्लवं**—ऊपरकी ओर पत्तोंको करके (पक्षमें ऊपरकी ओर पद लवों--पैरोंको करके), **अधो-**

---

१. जटा विद्यन्ते यस्य तत् जटि शिरः।
२. युवतीनां समूहो यौवतम् तस्य प्रतीतिः विश्वासः पक्षे प्रति इतिः गमनमित्यर्थः।
३. बहुप्रकाराः बहुकल्पाः ते च ते पादपाश्च तैः। पक्षे बहवश्च ते कल्पपादपाश्च बहुकल्पपादपाः तैः।
४. 'सुमनाः पुष्पमालत्योः स्त्रियां धीरे सुरे पुमान्' इति विश्वलोचनः।
५. पदोर्लवाः पल्लवाः चरणांशाः, पक्षे पत्राणि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



यत्र तद्यथा स्यात्तथा। अन्यस्मै गुणस्योपकारस्य रीतिर्यत्र तद्यथा स्यात्तथा। तपस्यतः आतपे स्थितिमतोऽनोकहस्य वृक्षस्य तावत् सुकृतस्य-संगीतिः पुण्योदयोऽभूत्। अतो युवतीनां समूहो यौवतं तस्य प्रतीतिः प्रसक्तिरभूत्। योऽपि कोऽपि युवतिसंगमायोपरि चरणलवं नीचैश्च क्लेशसहितं शिरो विधायापरेषु करुणापरायणश्च भवति तपः कर्तुमिति समासोक्तिरलंकारः ॥६॥

**वागाश्रितसम्पदोऽभ्युपास्तिः कौतुकसंग्रहोऽमुकस्यास्ति।**
**सद्य एव भुवि विवहनक्रिया स्पृहणीयापि फलोदयश्रिया ॥७॥**

टीका—अमुकस्य वनप्रदेशस्य वा अगान् वृक्षानाश्रिता प्राप्ता या सम्पत् अभ्युपास्तिः समुपलब्धिः, पक्षे वाग्दानात्मिकायाः सम्पदोऽधिगतिः। तथा कौतुकानां पुष्पाणां पक्षे विनोदभावानां संग्रहः संप्राप्तिरस्ति भवति। फलानामाम्रादीनामुदयः प्रादुर्भावः

---

**जटि**--नीचेकी ओर जड़ोंको करके (पक्षमें जटाधारी—शिरको करके) तथा दूसरोंके लिये **गुणरीति**--उपकार करनेकी रीतिको प्रकट कर तपस्या कर रहा था--घाममें खड़ा था अतः उसके **सुकृतसंगीति**--पुण्यका उदय हुआ था। इसी कारण युवतियोंके समूहका उस ओर **प्रतीति**--प्रति + इति गमन हो रहा था। पक्षमें प्रतीति–विश्वास हो रहा था। यहाँ समासोक्तिसे यह भाव प्रकट किया गया है कि जिस प्रकार कोई पुरुष ऊपरकी ओर पैर और नीचेकी ओर शिर कर धूपमें खड़ा हो, तपस्या करता है तो उसे बहुत पुण्यकी प्राप्ति होती है और उसके फलस्वरूप **यौवत**—युवति समूहका उस पर विश्वास जागृत होता है फलतः युवति समूह आदि भोगोपभोगकी सामग्री उसे प्राप्त होती है। यहाँ समासोक्ति अलंकार है ॥ ६ ॥

**अर्थ**--अथवा वहाँ किसी वन प्रदेशको **अगाश्रितसम्पदः**—वृक्षों सम्बन्धी सम्पत्तिकी प्राप्ति थी अर्थात् कहीं सघन वृक्षावलीकी शोभा बिखर रही थी। कहीं **कौतुकसंग्रह**--पुष्पोंका संग्रह हो रहा था अथवा वृक्षोंके नीचे बैठे लोग तरह तरहके विनोद कर रहे थे अथवा [2]**कौ**—किसी भूमिमें [3]**तुकसंग्रहः** बच्चे एकत्रित हो खेल रहे थे। कहीं भूमि पर **फलोदयश्रिया**—आम आदि फलोंके प्रकट होनेकी शोभासे **स्पृहणीय**--मनोहर **विवहन क्रिया**—तोता मैंना आदि

---

१. कौतुकं त्वभिलाषेऽपि कुसुमे नर्महर्षयोः' इति विश्वलोचनः।

२. 'क्षमा धरित्री क्षितिश्च कुः' इति धनंजयः।

३. 'तुक् तोकं चात्मजः प्रजा' इति धनंजयः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



पक्षे सन्तानोत्पत्तिस्तस्य श्रिया स्पृहणीया, वीनां पक्षिणां वहनक्रिया संधारणचेष्टा पक्षे पाणिपीडनक्रिया सद्य एव शीघ्रमेव भुवि भवतीति किल सर्वदार्थे वर्तमानक्रिया । समासोक्तिरलंकारः ।

विल्वफलानि विलोक्य सहर्षं निजोरोजमण्डलं ददर्श ।
सहसा तानि तथैव सुयोषा पुनरपि द्रष्टुमभूदपदोषा ॥८॥

नेशायामूनि वल्लभानि तव कुचकुम्भवदियानिदानीम् ।
भेदोऽस्तीति समाह वयस्या तदभिप्रायवेदिनी तस्याः ॥९॥

टीका—अपदोषा कार्श्यादिदोषवर्जिता सुयोषा युवतिः हर्षेण सहितं सहर्षं विल्वस्य फलानि विलोक्य निजमात्मीयमुरोजयोः स्तनयोर्मण्डलं ददर्श । पुनरपि सहसोत्साहेन तानि द्रष्टुं तथैवाभूत् तदा तस्याः समीचीनाभिप्रायस्यान्तरङ्गभावस्य वेदिकी ज्ञानवती वयस्या सखी सहसा हासयुक्ता सती समाह समुवाच यत्किलामूनि विल्वफलानि तव कुचकुम्भवत् ईशाय स्वामिने वल्लभानि प्रीतिदानि न भवन्तीतीयानिदानीं भेदोऽस्ति ॥

पश्य पिकोममुकां गुणमालिन् प्रिये मञ्जुलास्याश्च र वाली ।
हन्त हन्त चैषास्त्यतिकाली किन्न तवापि तन्वि कचपाली ॥१०॥

---

पक्षियोंके धारण करनेकी चेष्टा हो रही थी अर्थात् फलयुक्त वृक्षोंपर विविध पक्षी उछल कूद कर रहे थे । यहाँ समासोक्तिसे अर्थान्तर—दूसरा अर्थ प्रकट होता है—

किसी युवकको **वागाश्रित**—वाग्दान—सगाई रूप संपदाकी प्राप्ति हो रही थी, इसी उपलक्ष्य में संगीत आदि विविध कौतुकों-कुतूहलोंका संकलन हो रहा था और किसी जगह **फलोदयश्रिया**—संतान रूप फलकी प्राप्ति रूप शोभासे स्पृहणीय-आकांक्षणीय [1]**विवहन क्रिया**—विवाहकी क्रिया हो रही थी। तात्पर्य यह है कि उस तीरोद्यानमें उपस्थित जन समूहमें किसी युवककी सगाई हुई और वही लगे हाथ विवाह भी हो गया। यह समासोक्ति अलंकारहै ॥७॥

**अर्थ**—कृशता आदि दोषोंसे रहित—गठीले शरीर वाली कोई युवति हर्ष सहित विल्वफलोंको देखकर अपने स्तन मण्डलको देखने लगी। देखकर वह पुनः शीघ्र ही उन विल्व फलोंको देखने लगी। इसी बीच उसके अभिप्रायको जानने वाली सहेली सहसा—हँसकर बोली कि ये विल्वफल तुम्हारे स्तनोंके समान इस समय तुम्हारे पतिको प्रिय नहीं है इतना ही इन दोनोंमें भेद है ॥८-९॥

---

१. विवहनं विवाहः पक्षे वीनां पक्षिणां वहनं धारणम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**टीका**—एका युवतिः कृष्णवर्णां कोकिलां दृष्ट्वा निजवल्लभमाह—हे गुणमालिन् ! स्वामिन् ! अमुकां पिकीं पश्य । तदा तदभिप्रायवेदी स आह—हे प्रिये ! तव अस्याश्च र वापां आली वाक्ततिर्मञ्जुला मनोहारिणी । इत्येतच्छ्रुत्वा सा पुनराह—हन्त हन्त क्वैतस्या मया सह तुलनास्ति । एषा त्वतिकालो श्यामवर्णास्तीत्येवं श्रुत्वा स आह—हे तन्वि ! तव कचानां केशानां पाली परम्पराधि किं काली नास्ति । वक्रोक्तिरलंकारोऽत्र ॥१०॥

**कण्टकितं पदमङ्के नेतुः समधिकृत्य चाऽऽपदमपनेतुम् ।**
**कण्टकिताखिलतनुरजनीति तं च तथा कुर्वती सुगीतिः ॥११॥**

**टीका**—सुष्ठु गीतिरुक्तिर्यस्याः सा सुगीतिः कापि वनिता कण्टकयुक्तं कण्टकितं पदमात्मनश्चरणं नेतुर्नायकस्याङ्के किलापदमपनेतुं निरापदत्वमुरीकर्तुं समधिकृत्य धृत्वा चापि कण्टकिता कण्टकैर्युक्ता रोमाञ्चिताऽखिला सम्पूर्णा तनुर्यस्याः सा सती तं नेतारमपि तथा कण्टकितं कुर्वती विदधत्यजनि जाता । तद्गुणो नामालंकारः ॥११॥

**कुसुमावचये सरजस्कदृशः फूत्कर्तुमिवेशे सति सुदृशः ।**
**चुम्बति मुदश्रुनिस्सरणेन समभावीह समुद्धरणेन ॥१२॥**

**टीका**—इह कुसुमानां पुष्पाणामवचयः संकलनं यत्र तस्मिन् समये रजसा सहिता

---

**अर्थ**—कोई एक युवति काली कोयल देखकर पतिसे बोली—हे गुणमाली-गुणज्ञ ! इस कोयलको देखो। युवतिके अभिप्रायको जानने वाला पति बोला कि प्रिये ! (तुम्हारी) और इस कोयलकी वचनावली मनोहर है अर्थात् तुम दोनों ही प्रियवादिनी हो। यह सुन युवतिने कहा कि बड़े खेदकी बात है—इसके साथ मेरी तुलना कहाँ है ? यह तो काली है (पर मैं काली नहीं हूँ) यह सुनकर पतिने कहा कि हे तन्वि ! क्या तुम्हारी केशपाली भी काली नहीं है यह वक्रोक्ति अलंकार है ॥१०॥

**अर्थ**—किसी मधुरभाषिणी स्त्रीके पैरमें काँटा लग गया, उसने आपदा दूर करनेके लिये अपना कण्टक युक्त पैर पति की गोदमें रख कर कहा कि कांटा निकाल दीजिये, परन्तु पतिके शरीरका स्पर्श पाकर उसका संपूर्ण शरीर कण्टकित—रोमाञ्चित पक्षमें कांटोंसे युक्त हो गया और पतिको भी उसने कण्टकित—रोमाञ्चित (पक्षमें काँटोंसे युक्त कर दिया)। यह तद्गुणालंकार है ॥११॥

**अर्थ**—फूल तोड़ते समय किसी सुलोचना—सुन्दर नेत्रों वाली स्त्रीकी आँखमें फूलकी रज—पराग लग गयी। उसे फूंकनेके बहाने पति उसका चुम्बन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सरजस्का सा चासौ दृग् यस्यास्तस्याः सुदृशः सुलोचनायाः फूत्कर्तुमिव चुम्बति सतीशे स्वामिनि मुदश्रूणां समालिङ्गनसंजातहर्षाश्रूणां निस्सरणेन स्वयमेव समुद्धरणेन रजो निर्गमनेन समजनि जन्म लब्धं सहजसहयोगितालंकारः।

**आस्यस्पर्द्धनफलं प्रदातुं विकसितकुसुममुद्यताऽऽदातुम्।**
**अलिना साम्प्रतमधरमुदारं सीच्चकार महिलैवमुदारम् ॥१३॥**

टीका—एका महिला, आस्येनाननेन सार्धं यत् स्पर्द्धनमीर्ष्याकरणं तदास्यस्पर्द्धनं तस्य फलं प्रदातुं विकसितकुसुमं सम्फुल्लतामाप्तं पुष्पमादातुमुद्यता प्रयत्नशीला सती साम्प्रतं तत्कालमागत्याधरमोष्ठं नुदतीति तेनाधरदंशकेनालिना भ्रमरेण, अरं शीघ्रमेव मुदारमुदात्तरूपं सीच्चकार ॥१३॥

**प्रतिनगमवस्थितौ सुजम्पती शुशुभाते तत्रेति सम्प्रति।**
**भोगभुवः समुदाहरणेन तत्फलस्य समुदाहरणेन ॥१४॥**

टीका—तत्र सम्प्रतिकाले नगं नगं प्रति प्रतिनगं प्रत्येकवृक्षमभिव्याप्यावस्थितौ शोभनौ जम्पती सुजम्पती पतिपत्नीरूपौ तस्य वृक्षस्य यत्फलं तस्य समुद् हर्षसहितं यदाहरणं सम्रादानं तेन हेतुना भोगभुवः प्रथमादिकालावस्थायाः समीचीनेनोदाहरणेन समुदाहरणेन शुशुभाते शोभां जग्मुः। यमकाख्योऽलंकार उपमा च ॥१४॥

**दारवज्जहाराङ्गिनां मनः परिस्फुरन्नेत्राङ्कितञ्जनः।**
**ललितामलकावलिं दधान सालसंगमं च वनवितानः ॥१५॥**

टीका—तदा वनस्य वितानो विस्तारः सोऽङ्गिनां जनानां मनो दारवद् भूत्वा

---

करने लगा। इससे उस स्त्रीके आँखोंसे हर्षके आँसू निकल पड़े जिससे पराग स्वयं ही निकल गया। यहाँ सहज सहयोगिता अलंकार है ॥१२॥

**अर्थ**—डाली पर खिला हुआ यह फूल हमारे मुखके साथ ईर्ष्या कर रहा है इस विचारसे ज्यों ही कोई स्त्री उस फूलको तोड़नेके लिये उद्यत हुई त्यों ही एक भ्रमरने उसके अधरोष्ठ पर आघात कर दिया जिससे वह स्त्री जोर-जोरसे सी-सी करने लगी ॥१३॥

**अर्थ**—उस उद्यानमें प्रत्येक वृक्षके नीचे खड़े स्त्री पुरुषोंके सुन्दर युगल हर्ष पूर्वक फल तोड़ रहे थे इसलिये वे भोगभूमिके युगलोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥१४॥

**अर्थ**—उस समय वनके विस्तारने स्त्रीके समान मनुष्योंके मनका हरण किया था क्योंकि जिस प्रकार स्त्री **परिस्फुरन्नेत्राङ्कितञ्जन**—चञ्चल नेत्रों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जहार। यतः स परिस्फुरत् सुविवासमधिगच्छद् यन्नेत्रं मूलं तेनाङ्कितो युक्तोऽञ्जन नामवृक्षो यत्र सः। पक्षे परिस्फुरती ये नेत्रे चक्षुषी तयोरङ्कितमाकलितमञ्जनं येन स दारजनस्तथा। ललिता मनोहरा याऽऽमलकानां धात्रीवृक्षाणामावलिं पक्षे ललितां सुन्दराकाराम् अलकानां केशानामावलिं पंक्ति दधानः। तथा सालानां सर्जवृक्षाणां संगमं संपर्कं पक्षेऽलसभावेन सहितं सालसं गमं गमनं दधान इति श्लेषोपमा ॥१५॥

**परिफुल्लवदनमापुः सम्यक् मृदुलताभिरामतया गम्यम्।**
**मदनमनोहरं च गुणवत्यो नववयोऽन्वयं वनं युवत्यः ॥१६॥**

**टीका**—गुणवत्यो युवत्योऽपि तद्वनं सम्यक् कान्तमिवेत्यर्थः। आपुः प्रापुः। परितोऽभितः फुल्लानि पुष्पाणि वदने मुखस्थाने यस्य तत्, पक्षे सदैव प्रसन्नाननं। तथा मृदुभिर्लताभिर्याऽभिरामता सुन्दरता तया गम्यं समनुभाव्यं, पक्षे मृदुलतायाः कोमलताया

---

में अञ्जन-काजल धारण करती है उसी प्रकार वनका विस्तार भी **परिस्फुरन्ने[1]-त्राङ्किताञ्जन[2]**—सब ओर फैली हुई जड़ोंसे युक्त अञ्जन नामक वृक्षोंको धारण कर रहा था। जिस प्रकार स्त्री **ललिताम् [3]अलकावलिं**—सुन्दर केशावलीको धारण करती है उसी प्रकार वनका विस्तार भी **ललितामलकावलिं**—सुन्दर धात्री वृक्षोंकी पंक्तिको धारण कर रहा था और जिस प्रकार स्त्री **सालसं गमं**—आलस्य सहित गमनको धारण करती है उसी प्रकार वनका विस्तार भी [4]**सालसंगमं**—सागौन वृक्षोंके संगम—समागमको धारण कर रहा था। यह श्लेषोपमा अलंकार है ॥१५॥

**अर्थ**—गुणवती—सौन्दर्यादि गुणोंसे युक्त युवतियाँ अपने पतिकी समानता रखने वाले उस वनको अच्छी तरह प्राप्त हुई थीं। तात्पर्य यह है कि वह वन, युवतियोंके लिये अपने पतिके समान जान पड़ता था, क्योंकि जिस प्रकार पति **परिफुल्लवदन**—सदैव प्रसन्न मुखवाला होता है उसी प्रकार वह वन भी **परिफुल्लवदन**—खिले हुए पुष्पोंसे युक्त अग्रभाग वाला था। जिस प्रकार पति **मृदुलताभिरामतया गम्य**—कोमलता और सुन्दरतासे सेवनीय होता है उसी

---

१. 'नेत्रं विलोचने वृक्षमूले वस्त्रे गुणे मथि' इति विश्वलोचनः।
२. 'अञ्जनो दिक्करीन्द्रे स्यादञ्जनं तु रसाञ्जने। अक्षिकज्जलयोर्वीरे गिरिभेदेऽप्यथाञ्जने।' इति विश्वलोचनः।
३. 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' इत्यमरः।
४. 'सालः सर्जतरुः स्मृतः'।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



याऽभिरामता सारता तया गम्यं सर्वोत्तमं मधुरमिति। तथा मदनेन नानाम्रवृक्षेण मनोहरं, पक्षे मदनवन्मनोहरं। तथा नवानां वयसां पक्षिणामन्वयः समूहो यत्र तत्, पक्षे नवस्य वयसो यौवनस्यान्वयः सद्भावो यत्र तम्। इति श्लेषोपमालुप्तरूपा ॥१६॥

**पादपमाश्लिष्टवतीं वल्लीं समुदीक्ष्य मुदा युवतिमतल्ली।**
**नेतारमिहालिलिङ्ग गाढं सरसतया घनमालाऽऽषाढम् ॥१७॥**

टीका—इह या युवतिमतल्ली सा पादपं वृक्षमाश्लिष्टवतीं वल्लीं समुदीक्ष्य मुदा प्रसन्नभावेन सरसतया सकामभावेन पक्षे सजलत्वेन यथा घनमाला मेघततिराषाढमासं तथा गाढमालिलिङ्ग स्वकीयं नेतारमित्युपमा ॥१७॥

**आह स कमलनालकुलबाहो हृद्भिन्नं नु दाडिमस्याहो।**
**जम्भजृम्भितकोमलभावं तवाश्चर्यतोऽभिवीक्ष्य तावत् ॥१८॥**

---

प्रकार वह वन भी **मृदु-लताभिरामतयागम्य**—कोमल लताओंकी सुन्दरतासे अनुभव करनेके योग्य था। जिस प्रकार पति [2]**मदनमनोहर**—कामदेवके समान सुन्दर होता है उसी प्रकार वह वन भी **मदनमनोहर**—आम्रवृक्षोंसे मनोहर था और जिस प्रकार पति **नववयोऽन्वय**—नूतन तरुणावस्थासे सहित होता है उसी प्रकार वह वन भी **नववयोऽन्वय**[3]—नये-नये पक्षियोंके समूहसे सहित था। यह श्लेषोपमालंकार है परन्तु 'पतिके समान' यह उपमा लुप्त हैं। मात्र विशेषणोंके द्वारा उसका बोध होता है ॥१६॥

**अर्थ**—इस उद्यानमें किसी प्रशस्त युवतिने वृक्षसे लिपटी लताको देख प्रसन्नतापूर्वक [4]सरसभाव—श्रृंगार भावसे अपने पतिका उस तरह गाढ़ आलिङ्गन किया जिस तरह कि मेघमाला सरसभाव—जलभावसे आषाढ़ मासका आलिङ्गन करती है। उपमालंकार है ॥१७॥

---

१. 'मदनः स्मरधत्तूरवसन्तद्रुमसिक्थके' इति विश्वलोचनः वसन्तद्रुम आम्रवृक्ष इत्यर्थः।

२. वयस्तु यौवने बाल्यप्रभृतौ विहगे वयः' इति विश्वलोचनः।

३. मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ।
प्रशस्तवाचकान्यमून्ययः शुभावहो विधिः॥ इत्यमरः।

४. रसः स्वादेऽपि तिक्तादौ शृङ्गारादौ द्रवे विषे।
पारदे धातुवीर्याम्बुरागे गन्धरसे तनौ॥ इति विश्वलोचनः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



टीका—तदा स नेता आह तावत्—अहो कमलनालकुलबाहो ! मृणालतुल्यकोमलभुजे ! तव जम्भानां दन्तानां जृम्भितं परिवर्द्धमानं कोमलभावं सौन्दर्यमभिवीक्ष्य तावदाश्चर्यतो नु किल दाडिमस्य करकफलस्य हृद् अन्तो भिन्नं विदीर्णमिति । 'जम्भो दन्तेऽपि जम्भीर' इति विश्वलोचने ॥१८॥

**करं करजकिरणैः कुसुममर्ति कांचिदप्यपकुसुमे संदधतीम् ।**
**दृष्ट्वा युवतिं सखीजनेन स्मितपुष्पाण्यर्पितानि तेन ॥१९॥**

टीका—काचिदपि चापकुसुमे पुष्पैर्विहीनेऽपि देशे करजानां स्वकीयनखानां किरणैः कृत्वा कुसुमानां पुष्पाणां मतिर्बुद्धि यत्र यस्य वा तं करं स्वहस्तं संदधतीं क्षिपन्तीं युवतिं नवयौवनां दृष्ट्वा तेन तत्रोपस्थितेन सखीजनेन स्मितानि मन्दहास्यरूपाणि पुष्पाणि अर्पितानि दत्तानि तस्यै ॥१९॥

**यमिति विटपमालिलिङ्ग रामा कुसुमेषुयुवतितोऽप्यतिरामा ।**
**तेनाऽऽमोदपूर्णताऽदर्शिभूत्वा सहजेन कुसुमवर्षी ॥२०॥**

टीला—अथवा कुसुमेषोः कामस्य युवतिर्या रतिस्ततोऽप्यभिरामाऽधिकसुन्दरी रामा यमिति कमपि विटपं लतास्तम्बमालिलिङ्ग तेनैव सहजेन स्वभावेन कुसुमवर्षी भूत्वाऽऽमोदपूर्णता सौरभसमर्थताऽदर्शीत्यनेन पुण्यप्रतीतिः ॥२०॥

---

अर्थ—आलिङ्गनके समय पतिने कहा—अहो मृणालके समान कोमल भुजाओं वाली प्रिये ! तुम्हारे दाँतोंके बढ़ते हुए सौन्दर्यको देख आश्चर्यसे अनारका हृदय—अन्तःकरण विदीर्ण हो गया है ॥१८॥

अर्थ—कोई एक युवति अपने नखोंकी किरणोंसे पुष्प रहित प्रदेश पर भी पुष्प समझ अपना हाथ डाल रही थी अर्थात् नखोंकी किरणोंको ही पुष्प समझ तोड़नेके लिये बार-बार हाथ डाल रही थी उसे देख उपस्थित सखीजनों ने उसके लिये मन्दहास्यरूपी पुष्प समर्पित कर दिये। तात्पर्य यह है कि सखीजनोंने उसके भोलेपन पर हँस दिया ॥१९॥

अर्थ—रतिसे भी अधिक सुन्दर स्त्रीने जिस किसी विटप—लतास्तम्ब का आलिङ्गन किया—पुष्प तोड़नेके लिये जिस पर अपने हाथ रक्खे उसीने सहजभावसे पुष्पवर्षी होकर हर्षकी पूर्णता दिखलायी। भाव यह है कि जिस प्रकार सुन्दर स्त्रीका आलिङ्गन पाकर विटप—शृङ्गार रसमें रचा-पचा विट पुरुष हर्ष प्रकट करता है उसी प्रकार लतास्तम्बने भी स्त्रीका आलिङ्गन पाकर पुष्प वृष्टि द्वारा अपना हर्ष प्रकट किया था ॥२०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तुल्या तरुणीभिश्च[1]भरूणां तरुणानामिव तत्र तरूणाम् ।
विपल्लवाभावतया ख्याता लताः सतां सङ्गवतां ताः ॥२१॥

टीका—तत्र स्थले ता लता या विपल्लवानां भृष्टपत्राणां विपत्तिलवानां वाभावस्तत्तया ख्याताः सत्यः सतां समीचीनानां सङ्गवतां प्रसङ्गप्राप्तानां तरूणां मध्ये तरुणानां यौवनवतां भरूणां भर्तॄणां मध्ये स्थिताभिस्तरुणीभिस्तुल्याः सदृशा बभुरित्युपरिष्टात् ॥२१॥

करस्फुरच्चम्पकवृन्तस्य संवादमिषादेकान्तस्य ।
चकार कान्तमतिथिमित्यधुना प्रगल्भतायामुत्तीर्णमना: ॥२२॥

टीका—प्रगल्भतायां चतुरतायामुत्तीर्णं कुशलं मनो यस्याः सा प्रौढाऽधुना साम्प्रतं करे हस्ते स्फुरति लगितस्तिष्ठति चम्पकस्य वृन्तं यत्प्रसवबन्धनं तस्य सम्वादः कथनं तस्य मिषात्कान्तमात्मनो दयितमेकान्तस्य निर्जनदेशस्या तिथिं चकार तं तथैकान्तस्थाने नीतवतीत्यर्थः ॥२२॥

विजित्य विश्वं विशतस्तस्या हृदयेऽनङ्गस्य धवः शस्याम् ।
वन्दनमालामिव सुमस्रजं क्षिप्तवानिदानीं मुदं व्रजन् ॥२३॥

टीका—धवः कान्तः सः विश्वं जनसमूहं विजित्य तस्याः कान्ताया हृदयं विशतो गच्छतोऽनङ्गस्य कामदेवस्य वन्दनमालामिव शस्यां शोभनीयामिदानीं मुदं व्रजन् सन् तस्या हृदये सुमस्रजं पुष्पमालां क्षिप्तवान् ॥२३॥

---

अर्थ—उस उद्यानमें जो लताएँ **विपल्लवाभावता**—सघन पत्रावलीसे प्रसिद्ध थीं वे अपने समागमको प्राप्त उत्तमवृक्षोंके बीच तरुणपतियोंके बीच स्थित तथा **विपल्लवाभावता**—अल्पतम विपत्तिसे भी रहित—सुखी तरुणियों के समान सुशोभित हो रही थीं ॥२१॥

अर्थ—उस समय चतुराईमें निपुण किसी प्रौढ़ा स्त्रीने हाथमें स्थित चम्पा की बोंड़ीका रहस्य बतानेके बहाने पतिको एकान्त स्थानका अतिथि किया अर्थात् उसे एकान्त स्थानमें ले गई ॥२२॥

अर्थ—इस समय हर्षको प्राप्त होते हुए पतिके समस्त विश्वको जीत कर स्त्रीके हृदयमें प्रवेश करने वाले कामदेवके स्वागतके लिये वन्दनमालाके समान फूलोंकी माला उसके हृदय पर डाल दी ॥२३॥

---

१. 'भरुर्भर्तरि काञ्चने' इति विश्वलोचनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



चाम्पेयरुचौ तनौ तवेति चम्पकदाम न रुचिमभ्येति ।
मुमोच मालामिति वकुलस्यालिङ्गन् कुचौ गले खलु तस्याः ॥२४॥

टीका—कश्चिच्चतुरो नरः स्वकान्तां प्रति हे तन्वि चाम्पेयस्य सुवर्णस्य रुचिरिव रुचिर्यस्यास्तस्यां तव तनौ वपुर्लतायामिदं चम्पकपुष्पाणां दाम माला रुचिं नाभ्येतीत्युक्त्वा तदुद्धरणपूर्वकं तस्याः कुचौ स्तनावालिङ्गन् सन् तस्या गले वकुलस्य (पुष्पाणां) मालां मुमोच खलु । एक इति शब्द उक्तिप्रकारार्थो द्वितीयो विधिविधानार्थः । खलु च वाक्यालंकारे ।

लताप्रताने गता महति या चकर्ष कान्तं परिरम्भधिया ।
मुमुदे साम्प्रतमितो वयस्या वलयस्वनेन वध्वास्तस्याः ॥२५॥

टीका—या वधू महति सघनतामिते लतानां प्रताने गता प्राप्ता सती परिरम्भस्यालिङ्गनस्य धिया मनस्यया कान्तं चकर्ष साम्प्रतमितस्तस्या वध्वा या वयस्या सखी सा वलयस्य कंकणस्य शब्देन तज्ज्ञात्वा मुमुदे । अन्यथानुपपत्तिरलंकारः ॥२५॥

मुहुरपि नतोन्नतश्रोणिभरा नरायितस्येवाभ्यासपरा ।
परिफुल्लोलपाञ्चनेनासीद्यासौ लोके सुरूपराशिः ॥२६॥

टीका—यासौ लोके सुरूपस्य राशिः सौन्दर्यस्य सम्पत्तिर्ललना सा तत्र परिफुलं च तदुलपं लताग्रं च तस्याञ्चनेन विनर्तनेन तदुपरि एव तया मुहुरपि बारं बारं नतश्चोन्नतश्च

---

अर्थ—कोई एक चतुर मनुष्य अपनी स्त्रीसे बोला कि स्वर्णके समान कान्ति वाले तुम्हारे शरीर पर यह चम्पाकी माला शोभाको प्राप्त नहीं होती (क्योंकि पीले रङ्गमें पीला रङ्ग छिप जाता है। यह कहकर चम्पाकी माला निकालनेके बहाने स्तनोंका आलिङ्गन करते हुए उसने स्त्रीके गलेमें वकुल—मौलिश्रीके फूलोंकी माला डाल दी ॥२४॥

अर्थ—जो स्त्री सघन लताओंके झुरमुटमें पहुँच गई थी उसने आलिङ्गन की इच्छासे पतिको खींचा इधर उसी समय उस स्त्रीकी सखी कंकणके शब्द से रहस्य जानकर प्रसन्नताको प्राप्त हुई ॥२५॥

अर्थ—लोकमें जो सौन्दर्यकी सम्पत्तिरूप थी ऐसी कोई अतिशय रूपवती स्त्री पुष्पित लताग्रको नीचा करनेका प्रयत्न कर रही थी, ऐसा करनेसे उसके-

---

१. 'चाम्पेयश्चम्पके नागकेसरे पुष्पकेसरे।
स्वर्णे क्लीबं' इति विश्वलोचनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



श्रोणिभरो यस्याः सा नरस्येवाचरणं नरायितं तस्याभ्यासे परा तल्लीनेवासीद्बभूव । गुल्मिन्यामुलपं मतमिति विश्वलोचने ॥२६॥

उदग्रकुसुमोच्चिचीषयान्या लताग्रदुःस्थाङ्घ्रितया मान्या ।
असोढुमीशेवोरोजभरं निपपातोपरि धवस्य त्वरम् ॥२७॥

टीका—अन्या काचिन्मान्या वधूः सोदग्रमत्युच्चैर्गतं यत्कुसुमं पुष्प तस्योच्चिचीषा गृहीतुमिच्छा तयाऽतो लताग्रे दुष्टतया तिष्ठति स दुःस्थः स चासावंघ्रिस्तत्तया असम्यग्धृत-चरणतया कारणेन, उरोजयोः स्तनयोभरमसोढुमीशेवाशक्नुवानेव सती त्वर शीघ्रमेव धवस्य स्वामिन उपरि निपपात ॥२७॥

पीडयतः पञ्चभिरेव शरैर्जगत्स्वगत्यानङ्गस्य वरैः ।
गणनातिगैः सहायस्यूतीत्यपहृता जनैर्वनस्य भूतिः ॥२८॥

टीका—पञ्चभिरेव शरैर्बाणैः पुष्परूपैः स्वगत्या निजचेष्टया जगत् तावद्विश्वंभरं पीडयतो दुःखं नयतोऽनङ्गस्य कामस्येदं वरैस्तैः श्रेष्ठैर्गणनातिगैरसंख्यातैः सहायस्य स्यूतिः सन्ततिर्यत्र तदिदमिति किल जनैर्वनस्य भूतिः सम्पत्तिरपहृता विनाशं नीता । 'भूतिर्मातङ्ग-श्रृङ्गारे भस्मसम्पत्तिजन्मसु' । 'सन्ततौ सीव्यने स्यूतिः' इति च विश्वलोचने । अनुप्रेक्षा-लंकारः ॥२८॥

नर्मवश्यया वयस्ययाऽऽलेः श्रीतिलकं कलितं खलु भाले ।
रुचात्मनस्तु जगत्तिलकाया अन्वर्थभावमेवमथायात् ॥२९॥

---

स्थूल नितम्ब बार बार ऊँचे नीचे हो रहे थे जिससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानों पुरुषायित क्रियाका अभ्यास ही कर रही हो ॥२६॥

अर्थ—कोई एक मान्य स्त्री ऊँचाई पर लगे फूलोंको तोड़नेकी इच्छासे लताके अग्रभाग पर चढ़ी परन्तु पैर अच्छी तरह न जमनेके कारण वह स्तनों का भार धारण करनेके लिये असमर्थ हुईकी तरह शीघ्र ही पतिके ऊपर गिर पड़ी ॥२७॥

अर्थ—यद्यपि कामदेव अपनी चेष्टासे पाँच ही बाणोंके द्वारा समस्त जगत् को पीड़ित करता है पर यहाँ तो असंख्यात उत्कृष्ट बाणोंके द्वारा उसके सहायकोंकी सन्तति विद्यमान है, यह सोच कर लोगोंने वनकी पुष्परूपी सम्पत्तिका अपहरण कर लिया अर्थात् इच्छानुसार अत्यधिक फूल तोड़ लिये ॥ २८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



टीका—अथ कया नर्मवश्यया विनोदवशंगतया वयस्यया सख्या, आलेः प्रतिसख्या भाले ललाटे खलु श्रीतिलकं नाम पुष्पं कलितं धृतं, कीदृश्याः सख्याः ? आत्मनो रुचा शोभया जगत्तिलकाया विश्वशिरोमण्याः, अतस्तदन्वर्थभावमयात् सार्थकतामवाप तदा ॥२९॥

दत्तं दयितेनापि सुभागा श्रवणेऽशोकपुष्पमनुरागात् ।
प्रतीपपत्न्यास्तदेव किन्न समभूत्स्विदसीमशोकचिह्नम् ॥३०॥

टीका—दयितेनापि प्रियेणापि अनुरागात्प्रेमवशात् सुभगाया भाग्यशालिन्याः श्रवणे कर्णे दत्तं स्थापितं यदशोकपुष्पं तदेव प्रतीपपत्न्याः सपत्न्याः स्विदिति प्रत्युतासीमशोकस्या-पूर्वस्या पश्चात्तापस्य चिह्नं किन्न समभूदेवेति वक्रोक्तिरलंकारः ॥३०॥

लग्नाङ्गेषु च शुशुभे तेषां तावत्पुष्पप्रकरादेशाः ।
जगज्जिगीषोः स्मरस्य बाणोदिता लक्ष्यवलना न तदा नो ॥३१॥

टीका—तदा तेषां जनानामङ्गेषु तावत् पर्याप्तमात्रायां पुष्पाणां प्रकरः समूह एवादेशः संनिर्देशो यस्याः सा जगज्जिगीषोः स्मरस्य बाणोदिता लक्ष्यवलना शरव्य-परम्परा न शुशुभे इति नो किन्तु शुशुभ एव ॥

---

अर्थ—किसी विनोदप्रिय सखीने दूसरी सखीके ललाट पर श्रीतिलक नामका फूल रख दिया। वह सखी अपनी कान्तिके द्वारा जगत्की तिलक थी शिरोमणि स्वरूप थी अतः वह श्रीतिलक नामका फूल अपने नामकी सार्थकताको प्राप्त हो गया अर्थात् भाल पर रखे जानेके कारण सचमुच ही तिलक हो गया ॥ २९ ॥

अर्थ—किसी पतिने प्रेम वश सौभाग्यशालिनी प्रियाके कान पर अशोकका फूल लगा दिया परन्तु वही फूल सपत्नी-सौतके असीम शोकका चिह्न क्या नहीं हो गया था ? वक्रोक्ति अलंकार है ॥ ३० ॥

अर्थ—उस समय नर नारियोंके शरीर पर, पर्याप्त मात्रामें पुष्प समूह ही जिसमें आदेश रूप था ऐसी जगत्को जीतनेके इच्छुक कामदेवके बाणोंकी लक्ष्य परम्परा अवश्य ही सुशोभित हो रही थी। तात्पर्य यह है कि पुष्प समूह से सुशोभित नर नारी ऐसे जान पड़ते थे मानों जगद्विजयी कामदेवने उन्हें अपने बाणोंका निशाना ही बना रक्खा हो ॥३१॥

---

१. 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानावधारणे' इत्यमरः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



बद्धमुष्टिवलितोचितबाहमुन्नमय्य कुचयुगलमुताह ।
क्लममिषेण निजमीप्सितमेषा प्राणपतिं प्रति तदा सुवेषा ॥३२॥

टीका—बद्धमुष्टी च वलिते कुटिलतामिते चोचिते बाहे भुजे यत्र तदुत कुचयोः स्तनयोर्युगलं द्वयमुन्नमय्य तदैषा सुवेषा योषा क्लममिषेणालसताव्याजेन प्राणपतिं प्रति निजमीप्सितं स्वाभिलषितमाहाभिव्यक्तवती ॥

उच्चित्याधःस्थं कुसुमं तु परमबला यावत्संगन्तुम् ।
पदमदाशोकयष्टौ नामामूलं सा फुल्लैरभिरामा ॥३३॥

टीका—काचिदबलाऽधःस्थं कुसुमन्तूच्चित्य परं कुसुमं संगन्तुं यावदशोकयष्टौ पदं-दात्तावत् सा पुनरामूलं पूर्णरूपेण नाम फुल्लैरभिरामाभूदिति दिक् ॥३३॥

पुरा तु राजीवदृशा दत्तामनुस्मरन् वरमालासत्ताम् ।
प्रत्युपक्रियामिवाभिमानी तन्निगले क्षिप्तवानिदानीम् ॥३४॥

टीका—तु पुनः कश्चिदभिमानी जनः पुरा विवाह-समये राजीवदृशा कमल-चक्षुषा स्त्रिया दत्तां वरमालायाः सत्तामनुस्मरन्निह किलेदानीं तस्याः प्रत्युपक्रियामिव तन्निगले मालां क्षिप्तवान् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥३४॥

---

अर्थ—उस समय उत्तमवेषको धारण करनेवाली किसी स्त्रीने, जिन पर बद्धमुष्टि तथा मुड़ी हुई दोनों कोमल भुजाएँ लग रही हैं ऐसे स्तन युगलको ऊपर उठाकर आलस्यके बहाने अपना अभिप्राय पतिसे प्रकट किया ॥ ३२ ॥

अर्थ—किसी स्त्रीने अशोक यष्टिके नीचे स्थित फूलोंको तोड़कर ऊपर लगे हुए फूलोंको तोडनेके लिये उस पर पैर रक्खा कि वह पुनः मूल-जड़ तक फूलों से रमणीय हो गई ।

भावार्थ—'पादाघातादशोको विकसति च वकुलो योषितामास्यमद्यैः' इस कवि समासके कारण स्त्रीके पैरका स्पर्श पाकर वह अशोकयष्टि पुनः नीचेसे लेकर ऊपर तक फूलोंसे युक्त हो गई ॥३३॥

अर्थ--किसी अभिमानो पुरुषने विवाहके समय कमललोचना स्त्रीके द्वारा दो हुई वरमालाकी सत्ता स्मरण करते हुएके समान प्रत्यर्पणकी भावनासे उसके गलेमें माला डाल दी ।

भावार्थ—अभिमानी मनुष्य किसीके उपकारको विस्मृत नहीं करता । चूँकि स्त्रीने विवाहके समय पतिके गलेमें वरमाला डाली थी अतः इस समय उसका बदला चुकानेकी भावनासे पतिने भी उसके गलेमें माला डाल दी ॥३४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**याच्ञोदञ्चत्सुमग्रहाय सहजालिङ्गनसुखाभ्युपायः ।**
**उदास दोर्भ्यां द्रुतं सचेता दशनांशुविजितशशिरुचिमेताम् ॥३५॥**

टीका—एषोदञ्चत्सुमग्रहायोपरिदेशस्थपुष्पग्रहणाय यासौ सहजा याञ्चा सा किलालिङ्गनसुखस्याभ्युपाय इति मत्वा सचेता विचारशीलो नर एतां दशनानां दन्ताना-मंशुभिः किरणैर्विजिता पराजिता शशिनश्चन्द्रस्य रुचिः प्रभा यया तां दोर्भ्यां बाहुभ्या-मुदासोत्थापितवानेव ॥३५॥

**रमणं धृत्वा कापि करेण स्कन्धे रामा समादरेण ।**
**उदग्रपुष्पोच्चयोपलम्भे पुलकितेव सा पुनर्जजृम्भे ॥३६॥**

टीका—कापि रामा समादरेण प्रेम्णा करेण स्वकीयेन रमणं पतिं स्कन्धेऽंसोपरि-प्रदेशे धृत्वा रमणस्पर्शनेन पुलकितेव सोदग्रपुष्पोच्चयस्योपलम्भे जजृम्भे समर्था बभूव ।३६।

**पवनप्रचारनिपतत्केशाऽपाकरणमिषाद्विशुद्धवेशाम् ।**
**उदग्रशुम्बस्थपाणिलेशां चुचुम्ब वक्त्रे पतिर्विशेषात् ॥३७॥**

टीका—कस्या अपि पतिः स्वामी तां विशुद्धो वेशः समाचारो यस्यास्तामुदग्रे समु-च्चैर्गतिशुम्बेऽग्रकाण्डे तिष्ठति लगति पाणिलेशो हस्ताग्रभागो यस्यास्तां पवनस्य प्रचारेण निपतन्ति ये केशास्तेषामपाकरणं निवारणं तस्य मिषाद् वक्त्रे मुखे विशेषाच्चुचुम्ब तस्य न कापि बाधा प्रोभूत् ॥३७॥

---

अर्थ—ऊपर लगे हुए फूलको तोड़नेके लिये किसी स्त्रीने पतिसे सहज याचना की । विचारशील पतिने सोचा कि यह आलिङ्गन सम्बन्धी सुख प्राप्त करनेका अच्छा उपाय है, ऐसा विचार कर उसने दाँतोंकी किरणोंसे चन्द्रकान्ति-को जीतनेवाली स्त्रीको दोनों भुजाओंसे ऊपर उठा दिया (तथा कहा कि लो तुम्हीं तोड़ लो) ॥३५॥

अर्थ—कोई स्त्री ऊँचाई पर लगे फूल तोड़ना चाहती थी इसके लिये उसने बड़े आदरसे पतिके कन्धेपर हाथ रक्खा; पतिके स्पर्शसे वह रोमाञ्चित हो गयी, रोमाञ्चित होनेसे वह कुछ लम्बी हो गयी अतः ऊँचाई पर लगे फूलोंको प्राप्त करनेमें समर्थ हो गयी ॥३६॥

अर्थ—विशुद्ध—उज्ज्वल वेषवाली कोई स्त्री दोनों हाथोंसे ऊपरकी शाखा पकड़े हुए थी । इधर वायुके वेगसे खुलकर उसके केश मुखपर आ गये उन्हें दूर करनेके बहाने पतिने उसके मुखका बार-बार स्पर्श किया । स्त्रीकी ओरसे कोई बाधा नहीं हुई ॥३७॥



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



उदग्रशाखानिलग्नबाहोः सवेगवक्षःस्फुरणेनाहो ।
स्खलितं कुचाञ्चलं मृदुदत्याः कस्य न मोदकरमभूत्सत्याः ॥३८॥

टीका—तथैवोदग्रशाखायामुच्चैर्गतायां शाखायां निलग्ना सम्बद्धा बाहुर्भुजा यस्यांस्तस्यास्तथा मृदुदयः सुकोमला दन्ता यस्यास्तस्याः सत्या यद्वेगसहितं वक्षसो हृदयस्य स्फुरणं तेन कारणेन स्खलितं प्रच्युतं कुचाञ्चलं स्तनयोर्वस्त्रं तदहो कस्य मोदकरं हर्षदायकं नाभूत् किन्तु बभूवैवेति वक्रोक्तिः ॥३८॥

कुसुमेषोः शरजर्जरितापि या जनता स्वयमितस्तयापि ।
स्फुटं कुसुमसंधारणरीतिर्विषमगदं विषस्य भवतीति ॥३९॥

टीका—या जनता कुसुमेषोः स्मरस्य शरेण पुष्पेण जर्जरिता तया तदेतः स्फुटं स्पष्टमेव स्वयं कुसुमानां पुष्पाणां सन्धारणरीति रापि स्वीकृता, यतो विषस्यागदं प्रतीकारो विषमेव भवतीति निरुक्तिरस्त्यत्र किलेत्यर्थान्तरन्यासः ॥३९॥

सज्जनतया वियुक्तो यावत्संयुज्यापि तरुरभूत्तावत् ।
कौतुकिताऽऽस्तां विपल्लवित्वमप्याविरभूद्यतोऽपवित्वम् ॥४०॥

---

अर्थ—कोमल दाँतोंवाली कोई प्रशस्त स्त्री अपनी भुजासे ऊपरकी डाली पकड़े हुए थी इधर वेगसे उठी वक्षःस्थलकी धड़कनमे उसके स्तनपरका वस्त्र नीचे खिसक गया। उस समय उसके स्तन वस्त्रका नीचे खिसकना किसके लिये हर्षदायक नहीं हुआ था। यह वक्रोक्ति अलंकार है ॥३८॥

अर्थ—कामके बाणोंसे जर्जरित होनेपर भी जनताने उस समय स्पष्टरूपसे फलों—कामके बाँणोंको धारण करनेकी रीति अपनाई थी, सो ठीक ही है क्योंकि विषकी औषधि विष ही होती है। यह अर्थान्तरन्यास अलंकार है ॥३९॥

---

१. सती समीचीना चासौ जनता तया, पक्षे सज्जनस्य भाव. सज्जनता तया।

२. कौतुकानि पुष्पाणि विद्यन्ते यत्र स कौतुकी तस्य भावः कौतुकिता, विनोदसहितता च।

३. विगतं विनष्टं पल्लवित्वं पत्ररहितत्वं पक्षे विपदां लवा अंशा विद्यन्ते यस्य स विपल्लवी तस्य भावः।

४. अपगता विनष्टा वयः पक्षिणो यत्र स अपविस्तस्य भावः अपवित्वम् अथवा न विद्यते यस्य पवनस्य विरवकाशो यत्र तस्य भावः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



टीका—तत्र तदा सज्जनतया समीचीनया जनतयाऽथवा सुजनभावेन संयुज्य संयोगमवाप्यापि पुनर्यावद् वियुक्तस्तद्रहितोऽभूत्तरुर्वृक्षस्तावदेवापि कौतुकिता पुष्पवत्ताऽथवा विनोदभावस्तु दूरमास्तां विपल्लवित्वं पल्लवरहितत्वं तथा विपत्तियुक्तत्वमपि किलाविरभूत् प्रकटतामाप यतस्तत्रापवित्वं पक्षिभिश्च रहितत्वं तथा पस्य पवनस्य विरवकाशस्तद्रहितत्वमर्थात्सर्वशून्यत्वमभूत् ततः सज्जनता कदापि न त्याज्या हितैषिणेति समासोक्तिरलंकारः ।।४०।।

**प्रियपरिमलितागुरुपरिणामौ कलभनिकुम्भविभाभिरामौ ।**
**कुसुमभरपतत्परागसातौ सुदृशः कुचौ गुरुतरौ जातौ ।।४१।।**

टीका—सुदृशः सुलोचनायाः कुचौ स्तनौ यौ कलभस्य हस्तिशावकस्य निकुम्भस्य मस्तकस्य निभा प्रभेव निभा ययोस्तौ तत एवाभिरामौ सुन्दरौ। किञ्च, प्रियेण भर्त्रा परिमलितौ मुहुर्मर्दितोऽगुरुचन्दनस्य परिणामो विलेपनं यद्वा लघुभावो ययोस्तौ। किन्तु कुसुमानां भरः पुष्पदाम योऽधुनावधारितस्तस्मात्पतन् समागच्छन् योऽसौ परागः पुष्परजस्तेन सा (शा) तौ कल्याणरूपावंतो गुरुतरौ पूर्वापेक्षयाधिकोन्नतौ जातौ ।।४१।।

---

**अर्थ**—उस वनमें वनक्रीडाके समय जो वृक्ष **सज्जनता**—समीचीन जनसमूहसे युक्त थे, **कौतुकिता**—नाना प्रकारके पुष्पों अथवा संगीत आदि विनोदोंसे सहित थे, **विपल्लवित्व**—रङ्ग विरङ्गे विशिष्ट पल्लवों—पत्तोंसे सहित थे तथा वायु और पक्षियोंके संचारसे सहित थे, वे ही वृक्ष अब वनक्रीडाके अनन्तर **सज्जनता**—समीचीन जनतासे रहित हो गये, उनका पुष्प समूह नष्ट हो गया, उनके नीचे होनेवाले नाना विनोद समाप्त हो गये, और पक्षियोंकी चहल कदम अथवा मन्द सुगन्ध वायुका संचार भी समाप्त हो गया।

यहाँ समासोक्तिसे एक यह अर्थ अन्तर्निहित है कि जो व्यक्ति सज्जनता-सुजनभावसे सहित पश्चात् जब उसे छोड़ देता है तक उसके सब कौतुक-विनोद नष्ट हो जाते हैं, यह बात तो दूर है, विपत्तियोंके अंश भी उसे घेर लेते हैं यही नहीं वायुका संचार भी नष्ट हो जाता है—लोग बाग उसके पास आना जाना छोड़ देते हैं जिससे उसे शून्यताका अनुभव करना पड़ता है अतः किसीको सुजनता नहीं छोड़ना चाहिये ।।४०।।

**अर्थ**—पतिके द्वारा बार-बार मर्दित होनेसे जिनपर लगा हुआ अँगुरु चन्दन का लेप छूट गया था और इसी कारण जो अगुरु—लघु हो गये थे ऐसे किसी सुनयनाके करिशावक के मस्तक के समान सुन्दर स्तन, पुष्पमाला से पड़ती हुई परागसे आनन्ददायक तथा गुरुतर श्रेष्ठ अथवा पहलेकी अपेक्षा अधिक उन्नत हो गये थे ।।४१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


किसलयशकलोदितेन पद्मरागरुचि करद्वयं च सद्म ।
रसेन मञ्जुलदृशः पवित्र-विद्रुमसम्पदोऽपि परमत्र ॥४२॥

टीका—मञ्जुलदृशः स्त्रियाः पद्मरागस्य तन्नामरत्नस्य रुचिरिव रुचिर्यस्य तत् करयोर्द्वयं युगलं तदत्र पुष्पावचयस्थाने किसलयानां सद्योजातपल्लवानां शकलानि खण्डानि तेभ्य उदितेन रसेन पवित्रस्य विद्रुमस्य प्रवालस्य या सम्पत् तस्या अपि परं सद्म स्थलं द्विगुणितरागरुचिमदभूदित्यर्थः ॥४२॥

दीर्घदर्शितां लब्धुमिवात उत्पले उपश्रुति स्म भातः ।
साम्प्रतं तुलयितुं नयनाभ्यां सन्निहिते खलु गभीरनाभ्याः ॥४३॥

टीका—साम्प्रतं खलु गभीरागाधयुता नाभिर्यस्यास्तस्याः श्रुत्योः श्रवणयोरुप समीपं नयनाभ्यां तुलयितुं खलु सन्निहिते उत्पले कमले ते अतो दीर्घदर्शितां नयनगतां लब्धुं सम्प्राप्तुमिवायाते भातः स्म शशुभाते । 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यमिति' सूत्रेणात्र प्रकृतिभावः । उत्प्रेक्षालंकारश्च ॥४३॥

दयितजनैरुत्कलितं दाम-भरं दधानाः स्त्रियां ललाम ।
तदसहमानतयेव सदंसा अतिनतिमापुः स्फुरत्प्रशंसाः ॥४४॥

टीका—दयितजनैर्वल्लभैरुत्कलितं संक्षिप्तं दामभरं माल्यमण्डलं यल्ललाम वस्तुतो मनोहरं तं दधानाः स्त्रियां नारीणां सदंसाः समीचीनाः स्कन्धाः स्फुरति प्रकटीभवति प्रशंसा येषां ते तद्दामभरमसहमानतयेव किलातिनतिं पूर्वापेक्षयापि किलाधिकां विनतिमापुः स्वीचक्रुरुत्प्रेक्षालंकारः ॥४४॥

---

अर्थ—किसी सुनयना-स्त्रीके पद्मरागमणिके समान कान्तिवाले दोनों हाथ पल्लव खण्डोंसे उत्पन्न रस-रङ्गके द्वारा पवित्र मूँगाकी शोभाके भी स्थान हो गये थे—उनकी लालिमा दूनी हो गयी थी ॥४२॥

अर्थ—गहरी नाभिवाली किसी स्त्रीके कानोंके समीप दीर्घदर्शिताको प्राप्त करनेके लिये जो नील कमल सुशोभित हो रहे थे वे अब इन नेत्रोंके साथ अपनी तुलना करनेके लिये ही मानों निकटस्थ हो गये थे अर्थात् कानोंसे कुछ खिसककर नेत्रोंके पास आ गये थे । यह उत्प्रेक्षालंकार है ॥४३॥

अर्थ—पतिके द्वारा डाली हुई मालाओंके समूहको जो सचमुच ही अत्यन्त मनोहर था, धारण करने वाले स्त्रियोंके कन्धे अत्यधिक प्रशंसित हो रहे थे उस प्रशंसाको सहन नहीं कर सके इसीलिये अत्यन्त नीचे हो गये थे । सज्जन पुरुष अपनी प्रशंसा सुन नम्र हो ही जाते हैं ॥४४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वनश्रिया: समुचितपुष्पायाः सम्पर्कितया सभ्यनिकायाः ।
युक्तमेव संस्नातुमिदानीमापुर्जलस्रुतेर्विभवालीम् ॥४५॥

टीका—अथेदानीं सभ्यानां निकायाः समूहास्ते समुचितं पुष्पं फलकारणं मासिकरजो वा यस्यास्तस्या वनश्रिया वनस्य शोभायाः स्त्रिया वा संपर्कितया समागमभावेन हेतुना संस्नातुं स्नानं कर्तुं जलस्रुतेः सरितो विभवालीं विभवस्य सीमानमापुः प्राप्नुवन्तस्तद्युक्तमेव ॥४५॥

उपमधुवनमद्रिराजकं च स्फुटमनुरागितयेव समञ्चन् ।
सुखमुपलभमान एष लोकः सम्बभूव शिवकेलिसदोकः ॥४६॥

टीका—एष लोकोऽनुरागितया प्रेम्णा, उपमधु वसन्ततुं सहितं तथाद्रिभिर्नानावृक्षै राजकं शोभितं स्फुटमिव स्पष्टं यथा स्यात्तथा समञ्चन् सेवमानोऽतः सुखमुपलभमानोऽत्राधुना शिवस्य जलस्य या केलिः क्रीडा तस्या अपि सदोकः स्थानं सम्बभूव, जलकेलिकरणायोद्यतोऽभूत् । पक्षे मधुवने विराजमानमद्रिराजकं सम्मेदाचलमाराधयन्नैहिकसुखप्राप्तिपूर्वकं शिवकेलिसदोकोऽपि परम्परयेति सूचितमतः समासोक्तिरलंकारः ॥४६॥

रसप्रसन्नास्तरुणाक्रान्ता वलिभिर्मनोज्ञमध्या कान्ता ।
समाप पाथोजमुखी सरितां वयःप्रतीता तुलनाकलिता ॥४७॥

---

अर्थ—तदनन्तर इस समय सभ्य मनुष्योंके समूह समुचित पुष्प—फूलोंसे सहित (पक्षमें रजोधर्मसे युक्त) वनश्री—वनकी लक्ष्मी (पक्षमें स्त्री) के सम्पर्क—समागम होनेके कारण अच्छी तरह स्नान करनेके लिये नदी तटकी ओर गये यह उचित ही था ॥४५॥

अर्थ—यह जन समूह वसन्त ऋतुसे सहित तथा नानावृक्षोंसे सुशोभित वनका स्पष्ट रूपसे सेवन कर—स्वेच्छापूर्वक वन विहार कर सुखको प्राप्त हुआ। पश्चात् जल क्रीड़ाका भी उत्तम स्थान हुआ—वन क्रीड़ाके अनन्तर जल क्रीड़ाके लिये उद्यत हुआ। यहाँ श्लिष्ट शब्द विन्याससे यह अर्थ भी ध्वनित होता है—यह जनसमूह मधुवनके समीप विद्यमान पर्वतराज सम्मेदाचलकी अच्छी तरह आराधना करता हुआ ऐहिक सुखको प्राप्त हुआ और परम्परासे शिवकेलि—मोक्षसुखका भी पात्र हुआ। समासोक्ति अलंकार है ॥४६॥

---

१. 'अद्रिः शैले द्रुमे सूर्ये' इति विश्वलोचनः ।
२. 'शिवं मोक्षे सुखे जले' इति विश्वलोचनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


टीका—कान्ता स्त्रीजातिरपि सरितां नदीं समाप तुलनया तुल्यतया कलिता स्वीकृता सती। यतो रसेन शृङ्गारेण पक्षे जलेन प्रसन्नाह्लादकारिणी तथा तरुणेन यूना स्वभर्त्रा क्रान्ता संयुक्ता पक्षे तरुणा वृक्षनामपदार्थेन क्रान्तोभयोः पार्श्वयोरलंकृता। आवलिभिस्तरङ्गैर्मनोज्ञं मध्यं यस्याः सा तथा वलिभिर्भङ्गीभिर्मनोज्ञं मध्यं यस्यास्सा। तथा पाथोजं कमलमेव मुखं तदिव वा मुखं यस्याः सा पाथोजमुखी। तथा वयोभिर्जल-पक्षिभिर्यद्वा वयसा यौवनेन प्रतीतेति किल श्लेषालंकारः ॥४७॥

पाद्यमुत्तमं सफेनहासाऽऽतिथ्यहेतवेऽदात्सरिता सा।
कोकोक्तिभिः कृतक्षेमकथा सत्तरङ्गहस्तप्रणतिपथा ॥४८॥

टीका—सा सरिता तेषामागतानामातिथ्यहेतवे सफेनहासा फेनरूपेण हासेन सहिता सती, कोकस्य चक्रवाकस्योक्तिभिः कृता क्षेमस्य कथा यया सा सती, सन्तो ये तरङ्गास्त एव हस्तास्तैः प्रणतेर्नम्रतायाः पन्था यस्यास्सा सती, किलोत्तमं पाद्यं जलं पदप्रक्षालनायादात् ददौ। रूपकालंकारः ॥४८॥

विभिन्नशैवलदलच्छलेन मुदङ्कुरानपि दधती तेन।
लास्यं प्रचलन्तीभिरूर्मिभिः क्लृप्तवतीवामानि जन्मिभिः ॥४९॥

टीका—सा सरिता विभिन्नानां जलमलानां दलस्यच्छलेन तेन व्याजेन मुदङ्कुरान्

---

अर्थ—उस समय अपनी तुलनासे युक्त स्त्रीजाति, नदीको प्राप्त हुई क्योंकि जिस प्रकार स्त्रीजाति रसप्रसन्ना—शृङ्गार रससे आह्लाद करने वाली होती है उसी प्रकार नदी भी रसप्रसन्ना—जलसे आह्लाद उत्पन्न करने वाली थी। जिस प्रकार स्त्री तरुणाक्रान्ता-युवक पतिसे आक्रान्त होती है उसी प्रकार नदी भी तरुणाक्रान्ता—दोनों तटों पर खड़े वृक्षोंसे सहित थी। जिस प्रकार स्त्रीका मध्यभाग वलि-विशिष्ट रेखाओंसे मनोहर होता है उसी प्रकार नदीका मध्यभाग भी आवलि—तरङ्गोंसे मनोहर था और जिस प्रकार स्त्री पाथोजमुखी—कमलके समान मुखवाली होती है उसी प्रकार नदी भी पाथोजमुखी-कमलरूपी मुखसे सहित थी। यहाँ श्लेषालंकार है ॥४७॥

अर्थ—उन आगत नरनारियोंके अतिथिसत्कारके लिये जिसने फेनरूपी हास्यको धारण किया है, चकवोंकी उक्तियोंसे जिसने कुशल समाचार की प्रच्छना की है तथा विद्यमान तरङ्गरूपी हाथोंके द्वारा जिसने नमस्कार करने की पद्धति पूर्ण की है ऐसी उस नदीने उन्हें पाद प्रक्षालनके लिये उत्तम जल दिया ॥४८॥

अर्थ—जो नाना प्रकारके शैवालदलोंके छलसे हर्षके रोमाञ्च धारण कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



हर्षजन्यरोमाञ्चानपि वधती स्वीकुर्वती तथैव प्रचलन्तीभिरूर्मिभिर्लहरीभिर्लास्यं नृत्यं क्लृप्तवती कुर्वतीव जन्मिभिर्लोकैरमानि कथिता। अपह्नुत्यलंकारोऽत्र कथितः ॥४९॥

पर्यंटतामिव विकासिकमलेषु शिलीमुखानां गीतिं तेषु।
शुश्रूषवोऽप्यपाङ्गैः स्त्रीणां जिता हरिण्यो द्रुताश्च रीणाः ॥५०॥

टीका—तेषु नद्यां संजातेषु विकासिकमलेषु प्रफुल्लितपद्मेषु पर्यंटतां विचरणं कुर्वतां शिलीमुखानां भ्रमराणां गीतिं गानं शुश्रूषवोऽपि श्रोतुमिच्छावत्योऽपि हरिण्यो मृगयोषितस्तासां स्त्रीणां तत्रागतानामपाङ्गै र्नेत्रकोणैर्जिताः पराभूताः सत्यो रीणा उदासीना अतएव द्रुतास्ततोऽन्यत्र गताः। स्त्रीणां नेत्रसौन्दर्यं मृगीभ्योऽधिकमिति ॥५०॥

पङ्केजातं जितं मुखेन तव सुकेशि! साम्प्रतमसुखेन।
मूर्ध्नि मिलिन्दावलिच्छलेन कृपाणपुत्रीं क्षिपदिव तेन ॥५१॥

तव नयनयोश्च सौन्दर्येण पश्य शस्यवाग्जितमिति तेन।
ह्रियेव मीनमण्डलं विमले विलीयते गङ्गायास्तु जले ॥५२॥

यन्मध्यं च सरसतामञ्चल्ललितावर्तं गम्भीरं च।
नाभिभवोचितसम्पत्तितयाऽऽकर्षति चित्तं मम चातिशयात् ॥५३॥

सुराजहंसप्रतिपत्तिमतो कमलानुसारिणोयं तु सती।
अविकलकुशला त्वमिव विभाति हे सुलोचने! नदस्य जातिः ॥५४॥

सरसेणेत्थं संकलितायाः श्रीवचनेन भर्तुरबलायाः।
अन्तरार्द्रभावेनाङ्कुरितं गात्रमिहासीत्तटमिव सरितः ॥५५॥

(पञ्चभिः कुलकम्)

---

रही थी ऐसी उस नदीको लोगोंने चलती हुई लहरोंसे नृत्य करती हुईके समान माना था। यहाँ अपह्नुति अलंकार है ॥४९॥

**अर्थ**—नदीमें विकसित कमलोंपर विचरण करनेवाले भ्रमरोंके गानको सुननेकी इच्छुक होनेपर भी हरिणियाँ स्त्रियोंके कटाक्षोंसे पराजित हो गयी थीं इसीलिये वे उदासीन हो वहाँसे अन्यत्र चली गयी थीं। यह अपह्नुति अलंकार है ॥५०॥

**अर्थ**—हे सुकेशि! चूंकि इस समय तुम्हारे मुखने कमलोंको जीत लिया है इसलिये वह खेदसे भ्रमरावलिके बहाने अपने मस्तकपर मानों छुरी चला रहा है। हे मधुर भाषिणि! देखो, तुम्हारे नयनोंके सौन्दर्यसे मछलियोंका समूह जीत लिया गया है इसीलिये वह लज्जासे गङ्गाके निर्मल जलमें विलीन हो रहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**टीका**—हे सुकेशि सुन्दरकेशवति, पङ्केजातमिदं कमलं तव मुखेन जितं पराभूतं सत् तेन कारणेन साम्प्रतमसुखेन खेदेन मिलिन्दानां भ्रमराणामावलेश्छलेन मूर्ध्नि स्वशिरसि कृपाणपुत्रीं छुरिकां क्षिपदिव किल। किञ्च, हे शस्यवाक् मञ्जुभाषिणि पश्येदं मीनानां मण्डलं तव नयनयोः सौन्दर्येण जितमस्तीति कारणेन ह्रिया लज्जयेव किल विमले गङ्गाया जले विलीयते गुप्तो भवति तु तावत्। तथा हे सुलोचने नदस्य जातिरियं तु त्वमिव विभाति। यत इयमविकलमनल्पं कुशं जलं लाति स्वीकरोति, त्वं चाविकलकुशला बुद्धिमती। इयं तु कमलानि पङ्कजान्यनुसरति त्वं च कमलां लक्ष्मी-मनुसरतीति कमलानुसारिणी। यदस्या मध्यं सरसतां सजलतां सजलतां सौन्दर्यसहित-तां चाम्वत् स्वीकुर्वत्। ललितावर्तं सुन्दरपरिभ्रमणयुक्तं गम्भीरं च। किञ्च, अभि-भवो न भवति यस्या इत्युचिता सम्पत्तिः पक्षे नाभौ तुण्डिकायां भवतीति नाभिभवा

---

है। हे सुनयने ! यह नदीकी जाति और तुम एक समान हो। क्योंकि जिस प्रकार नदीका मध्यभाग **सरसता**—सजलताको प्राप्त है उसी प्रकार तुम्हारा मध्यभाग भी **सरसता**—स्नेह अथवा शृङ्गारसे सहितताको प्राप्त है। जिस प्रकार नदीका मध्य भाग **ललितावर्त**—सुन्दर भँवरोंसे सहित है उसी तरह तुम्हारा मध्यभाग भी **ललितावर्त**—सामुद्रिक शास्त्रमें प्रतिपादित सुन्दर रोम-चिह्नोंसे सहित है। जिस प्रकार नदीका मध्य भाग **गंभीर**—गहरा है उसी प्रकार तुम्हारा मध्यभाग भी (नाभिकी अपेक्षा) **गभीर-गहरा** है। जिस प्रकार नदीका मध्यभाग **नाभिभवोचित सम्पत्ति**—आदरके योग्य उचित शोभासे हमारे चित्तको अत्यन्त आकर्षित कर रहा है उसी प्रकार तुम्हारा मध्यभाग भी **नाभिभवोचित सम्पत्ति**—नाभिसम्बन्धी सौन्दर्य सम्पत्तिसे हमारे चित्तको अत्यन्त आकर्षित कर रहा है। जिस प्रकार नदी **सुराजहंस**--उत्तम राजहंस पक्षियोंके सद्भावसे सहित है उसी प्रकार तुम भी **सुराजहंस**—उत्तम राजाओंके सन्मानसे सहित हो। जिस प्रकार नदी **कमलानुसारिणी**—कमलोंसे सहित है उसी प्रकार तुम भी **कमलानुसारिणी**—लक्ष्मीका अनुसरण करने वाली

---

१. 'रसः स्वादेऽपि तिक्तादौ शृङ्गारादौ द्रवे विषे। पारदे धातुवीर्याम्बुरागे गन्धरसे तनौ' ॥ इति विश्व०।

२. 'आवर्तश्चिन्तने चाऽऽवर्तने वाप्यम्भसां भ्रमे'। इति विश्व०।

३. 'राजहंसस्तु कादम्बे कलहंसे नृपोत्तमे' इति विश्व०—'राजहंसास्तु ते चञ्चु-चरणैर्लोहितैः सिताः' इत्यमरः।

४. 'कमलं जलजे नीरे क्लोम्नि तोषे च भेषजे। कमलो मृगभेदे स्यात् कमला श्रीवर-स्त्रियाम्। इति विश्व०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



योचिता सम्पत्तिस्तया मम चित्तं चातिशयादाकर्षति हरति सतीयमित्थं सरसेन भर्तुः स्वामिना श्रीवचनेन संकलितायाः समादरीकृताया अबलाया गात्रं शरीरं सरितो नद्यास्तटमिवान्तरात्रं भावेनान्तःप्रेम्णा क्लिन्नतया वेहाङ्कुरितं रोमाञ्चितं चाङ्कुरैर्युक्तं वासीद् बभूव। तथा राजहंसस्य पक्षिणो भूपशिरोमणेश्च प्रतिपत्तिमतीयं च त्वं च ॥५१-५५॥

**तटस्थितानां वारि योषितां मुखारविन्दच्छविवलोदितम्।**
**श्रियमुपेत्य साम्प्रतं ललाम सर्वतोमुखं बभूव नाम ॥५६॥**

टीका—साम्प्रतं तटस्थितानां योषितां स्त्रीणां मुखारविन्दानां छवयः प्रतिबिम्बानि तासां वलेन समूहेनोदितां प्राप्तां श्रियं शोभामुपेत्य वारि जलं तत्सर्वतोमुखमिति ललाम सार्थनाम बभूव। नामेति पादपूर्तौ ॥५६॥

**जले विशन्ती श्रीरमणीया प्रतिमेवामले निजीयाम्।**
**करावलम्बार्थमिहायातां मेने जलदेवतां तदा ताम् ॥५७॥**

टीका—या श्रीरमणीया युवतिः सा विशन्ती नद्यन्तर्यान्ती सती तदाऽमले जले निजीयामेव प्रतिमां तामिह करावलम्बार्थमायातां जलदेवतां मेने। देवतातुल्यशोभना सा किलेति भावः। भ्रान्तिमानलंकारश्च ॥५७॥

---

हो और जिस प्रकार नदी **अविकलकुशला**[1]—पूर्ण जलको धारण करने वाली है उसी प्रकार तुम भी **अविकलकुशला**—संपूर्ण कुशल-क्षेमको धारण करनेवाली हो। इस प्रकार पतिके **सरस**—रसीले वचनोंसे सन्मानित स्त्रीका शरीर आन्तरिक प्रेमसे सरिता तटके समान **अङ्कुरित**—शष्पप्ररोहों सहित पक्षमें रोमाञ्चित हो गया ॥५१-५५॥

**अर्थ**—तटपर स्थित स्त्रियोंके मुखकमल सम्बन्धी प्रतिबिम्बोंके समूहसे जल, 'सर्वतोमुख' इस सार्थक नाम वाला हो गया था।

**भावार्थ**—संस्कृतमें 'सर्वतोमुख' पानीका एक नाम है उस समय नदीके तटपर स्थित स्त्रियोंके मुख पानीमें प्रतिबिम्बित हो रहे थे इसलिये सब ओर मुख ही मुख दीख रहे थे अतः कवि की दृष्टिमें 'सर्वतोमुख' नाम सार्थक हो गया ॥५६॥

**अर्थ**—निर्मल जलमें प्रवेश करती हुई किसी सुन्दरीने अपनी परछाईंको हस्तावलम्बन देनेके लिये आई हुई जल देवता माना था ॥५७॥

---

१. 'शरं वनं कुशं नीरम्' इति धनंजयः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**न्यस्य मृदुपदं पुराभिगाधं कामिचित्तवद् वारि अगाधम् ।**
**रागिभिरङ्गैरनुरञ्जयति स्म चान्तराविष्टतया युवतिः ।।५८।।**

टीका—युवतिर्वारि नद्या जलं कामिनश्चित्तमिव कामिचित्तवत् पुरा प्रथमं तु अभिगाधं यावदवगाहनीयं तावन्मृदु पदं न्यस्य प्रीतिजनकं कोमलवचनमुक्त्वा ततः पुनरगाधमतलस्पर्शमपि तदन्तराविष्टतयाऽभ्यन्तःप्रवेशेन रागिभिरङ्गैर्यावकादियुक्तचरणादिभिः प्रेमवद्भः कैश्चापाङ्गादिभिरनुरञ्जयति स्मानुरञ्जयामास । समासोक्तिरलंकारः ।।५८।।

**आत्तमात्तमप्यञ्जलौ जलमधीरनेत्रा सिञ्चितुं बलम्(रम्) ।**
**निजनेत्रप्रतिबिम्बसंश्रयाज्जहावहो सविसारशङ्कया ।।५९।।**

टीका—अधीरे चपले नेत्रे नयने यस्यास्सा युवतिर्वरं स्वभर्तारं सिञ्चितुं स्नपयितुमञ्जलौ जलमात्तमात्तं मुहुर्मुहुर्गृहीत्वापि निजनेत्रयोः प्रतिबिम्बे प्रतिमे तयोः संश्रयात् समाश्रयाद्धेतोर्विसाराभ्यां मीनाभ्यां सहितं सविसारं तस्य शङ्कया जहौ त्यजति स्माहो-आश्चर्यकरमेतत् । भ्रान्तिमानलंकारः ।।५९।।

**मनोभुवा पाण्डुनि कपोलके नतभ्रुवः प्रतिबिम्बितालके ।**
**स्फुरदगुरुदरो (लो) दारशङ्कया मृष्टुमिहारब्धं वयस्यया ।।६०।।**

---

अर्थ—किसी युवतिने पहले, कामी मनुष्यके चित्तके समान प्रवेश करनेके योग्य (कम गहरे) जलमें कोमल पैर रक्खा पश्चात् अतलंस्पर्शी गहरे पानीमें भीतर प्रविष्ट होकर माहुर आदिकी लालिमासे युक्त अङ्गोंके द्वारा उस जलको अनुरञ्जित-लाल लाल कर दिया ।

यहाँ समासोक्तिसे यह अर्थ ध्वनित है कि जिस प्रकार कोई स्त्री पहले मृदु-पद-कोमल वचन कहकर पतिके हृदयको टटोलती है—उसके अनुरागका अंदाज लगाती है । पश्चात् धीरे-धीरे उसके अन्तर—हृदयमें प्रवेशकर अपने राग वर्धक अङ्गोंके द्वारा उसे अनुरक्त कर लेती है—प्रेमपाशमें बद्ध कर लेती है उसी तरह यहाँ युवतिने पहले उथले—कम व गहरे पानीमें अपने कोमल पैर रक्खे पश्चात् गहरे पानीमें प्रविष्ट हुई और अपने हस्तपाद आदि अङ्गोंसे उसे अनुरक्त कर दिया-लाल कर दिया ।।५८।।

अर्थ—कोई चञ्चलाक्षी पतिको नहलानेके लिये अञ्जलिमें बार बार पानी लेती थी परन्तु उसमें अपने ही नेत्रोंका प्रतिबिम्ब पड़नेसे उसे मछलियोंकी शङ्का हो जाती थी । इसलिये वह पानीको यूं ही छोड़ देती थी । यह भ्रान्तिमान् अलंकार है ।।५९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



टीका—इह जलकेल्यवसरे नते भ्रुवौ यस्यास्तस्याः सुलोचनाया मनोभुवा कामदेवेन पाण्डुनि स्वच्छाकारे कपोलके गण्डमण्डलेऽत एव प्रतिबिम्बिताः अलकाः रशा यत्र तस्मिन् स्फुरता मगुरोवला (रा) मां पत्राणामुदारा स्पष्टा या शङ्का तया हेतुभूतया वयस्यया सख्या तन्मृष्टुं परिमार्जितुमारब्धम् । सन्देहोऽलंकारः ॥६०॥

सुतनोर्मकरन्दातिशयेन स्माश्रितालिगुञ्जनमिति तेन ।
श्रितसंसर्गसुखं वियोगसात्पूतकुरुते श्रवणोत्पलं रसात् ॥६१॥

टीका—सुतनोर्युवत्याः श्रवणोत्पलं कर्णगतकमलं यत्किलश्रितसंसर्गसुखं येन तस्याः संसर्गस्य सुखं लब्धं तदधुना वियोगसाद् विरहमनुभवत्सत् रसाद्विगत् सुखानुभवनात् किल तेन स्वप्रसिद्धेन मकरन्दातिशयेन सुगन्धबाहुल्येन श्रितं समालब्धमलिगुञ्जनं भ्रमराणां रोदनं येन तदिति पूत्कुरुते स्म । उत्प्रेक्षालंकारः ॥६१॥

भूषणभङ्गभयादिवाधुनाऽम्भो निर्ममे स्त्रियां तु साधुना ।
फेनसंचयेनोरसि हारं शैवलैः कपोले दलसारम् ॥६२॥

टीका—अम्भो नद्या जलं तदधुना स्त्रियां नारीणां भूषणानां किलालंकाराणां यो भङ्गस्तस्माद्भयादिव तु पुनस्तासामुरसि साधुनाऽभ्युचितेन फेनसंचयेन तु हारं मुक्तादाम तथा कपोले गण्डमण्डले शैवलैर्जलमलैर्दलानां पत्राणां सारं समुचितांशं निर्ममे चकारेत्युत्प्रेक्षा ॥६२॥

---

अर्थ—नतभौंहोंवाली अर्थात् नीचेकी ओर देखनेवाली किसी स्त्रीके कपोल–गाल काम व्यथासे पाण्डुवर्ण-स्वच्छ हो गये और उनमें उसीके केशोंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। सामने खड़ी उसकी सहेलीने समझा कि यह इसके कपोलोंपर अगुरुपत्र-अगुरुचन्दनसे निर्मित काली काली पत्र रचना है अतः उसने उसे धोना शुरू कर दिया। यह संदेहालंकार है ॥६०॥

अर्थ—किसी स्त्रीके कान पर जो नील कमल लगा हुआ था उसके ऊपर मकरन्द की तीव्र सुगन्धके कारण भ्रमर गुंजार कर रहे थे। इससे ऐसा जान पड़ता था कि जिसने स्त्रीके संसर्ग से सुखका अनुभव किया था ऐसा वह नील कमल अब जल क्रीड़ाके समय कानसे जुदा होनेका प्रसङ्ग पाकर दुःखसे मानों रो ही रहा हो। यह उत्प्रेक्षालंकार है ॥६१॥

अर्थ—नदीके जलको इस बातका भय लगा कि हमारे द्वारा स्त्रियोंके आभूषण नष्ट हो गये हैं इस भयसे ही मानों उसने संचित फेनसे वक्षःस्थलपर मोतियोंका हार बना दिया और कपोलों पर शैवालके द्वारा श्रेष्ठ पत्र रचना कर दी ॥६२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



यद्रु रम्यं मम वक्त्रविधानमाहृता सरोजात्सुषमा न ।
इति किल वारिणि निममज्ज मुहुः शपनायेशान्तिकं जितकुहूः ॥६३॥

टीका—जिता कुहूः कोकिलस्य शब्दो यया सा नारी, ईशस्यान्तिकं स्वामिनः समीपम् । हे नाथ ! मया सरोजात्कमलात्सुषमा शोभा न हृता, किन्तु मम वक्त्रस्य विधानं तत्स्वयमेव रम्यमस्तीति किल शपनाय स्पष्टीकरणाय मुहुर्वारंवारं वारिणि निममज्ज । उत्प्रेक्षालंकारः ॥६३॥

निमज्जितताया जले जवेन नेत्रानुमितं मुखं सुखेन ।
तदङ्गरागगन्धलुब्धेन सम्पतता रोलम्बकुलेन ॥६४॥

टीका—जवेनानभिज्ञातरूपेण जले निमज्जितताया निमग्नाया वल्लभाया मुखं तस्या अङ्गे यो रागश्चन्दनादिकृतो लेपस्तस्य गन्धे लुब्धेनानुरागयुक्तेनातस्तत्र सम्पतता समागत्य पर्यटता रोलम्बानां भ्रमराणां कुलेन समूहेन हेतुना सुखेनानायासेनैव नेत्रा स्वामिनाऽनुमितं ज्ञातमित्यनुमितिरलंकारः । 'रोलम्बः षट्पदो भृङ्गश्चञ्चरीकोऽलिरित्यपि' इति कोशः ॥६४॥

सुगुरुश्रोणिजुषः शनैः शनैर्जले प्लवन्त्यास्तर्कितं जनैः ।
उरोजयुगलं तत्सहकारि सहजालाबुफलप्रतिहारि ॥६५॥

टीका—सुगुरुश्रोणिजुषोऽत्यन्तं गुरुं श्रोणिभरं वहन्त्या अपि शनैः शनैरपरिश्रमेण

---

अर्थ—कोयलकी कूकको जीतने वाली कोई स्त्री पतिके समीप पानी में बार-बार डुबकी लगा रही थी मानों वह यह स्पष्ट करनेके लिये कि हे नाथ ! मैंने कमलसे उसकी शोभाको नहीं चुराया है मेरे मुखका जो विधान है वह स्वयं स्वतः ही रमणीय है ।

भावार्थ—मेरे मुखकी सुन्दरता देख आप मुझपर यह आरोप न लगावें कि मैंने यह कमलसे छीन ली है । मेरी मुखकी शोभा स्वाभाविक है कृत्रिम नहीं । इसीलिये तो पानीमें बार-बार डूबनेपर भी वह ज्यों की त्यों बनी हुई है । उत्प्रेक्षालंकार है ॥६३॥

अर्थ—किसी स्त्रीने बेगसे—पतिको जताये बिना ही पानीमें डुबकी लगा ली । उसके अङ्गरागकी सुगन्धके लोभी भ्रमरोंका समूह वहाँ मँडराने लगा । उस भ्रमर समूहसे पतिको अनायास ही अनुमान हो गया कि यह डूबी है । अनुमिति अलंकार है ॥६४॥

अर्थ—कोई एक स्त्री स्थूल नितम्ब वाली होकर भी पानीमें धीरे-धीरे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जले प्लवन्त्यास्तरन्त्या युवत्याः सहजयोः स्वभावसम्पन्नयोरलाबुफलयोः प्रतिहार्यनुकरण-कारि यदुरोजयुगलं स्तनद्वयं तत्सहकारि सहायकरं तर्कितं विचारितं जनैस्तत्रेत्यप्यनुमिति-रलंकारः ॥६५॥

पृथुलहरितया मुरारिरूपं कमिति जना आत्मनः स्वरूपम् ।
संदिग्धादिग्धतया तद् देवमयं चानुययुः ख्यातम् ॥६६॥

टीका—जनास्तद्वारि पृथवो लहरयो भङ्गा यत्र तत्तया । अथवा पृथुलश्चासौ हरिश्च तत्तया मुरारिरूपं नारायणरूपमनुययुः । तथा कमिति नामतया आत्मनः स्वरूपमनुययु-रित्येवं संदिग्धादिग्धतया ख्यातं देवमयं मेघसन्तानत्वादनुययुरनेकप्रकारं तत्तावदिह ।६६।

पुमांसमासीनमिहानुमितिमंसमात्रके तद्दघ्नमिति ।
आत्मनोऽपि कृत्वा निमज्जती साऽऽश्लेषिजवात् प्रेमिणा सती ॥६७

टीका—इह पुमांसमंसमात्रके स्कन्धपर्यन्तजले किलासीनमित्यनुमितिं कृत्वा तथैवा-त्मनोऽपि तद्दघ्नमंसमात्रमेव स्यादित्यनुमितिं कृत्वा तत्र निमज्जती सती सा केनापि प्रेमिणा जवादेवाश्लेषि समालिङ्गिता ॥६७॥

नितम्बमाश्रित्योन्नमन्नितः पयःप्रवाहोऽवाप योषितः ।
मन्दरस्य कन्दरप्रवेशलीलामुदरगह्वरेऽप्येषः ॥६८॥

---

अनायास तैर रही थी अतः लोगोंने सहज तुम्बीफलका अनुकरण करनेवाले स्तनयुगलको उसका सहायक माना था। यह भी अनुमिति अलंकार है ॥६५॥

**अर्थ**—यह पृथुलहरितया—बड़ी-बड़ी लहरोंसे युक्त होनेके कारण जल है, अथवा पृथुल-हरितया—स्थूल-पुष्ट शरीर हरि—विष्णु रूप होनेके कारण मुरारि—कृष्णरूप है अथवा 'क' इस नाम सादृश्यके कारण आत्मस्वरूप है, इस प्रकार संदिग्ध असंदिग्धपनेसे प्रसिद्ध देवरूप है—देवता रूप है मेघरूप है ऐसा समझकर लोग उसका अनुगमन कर रहे थे उसका सेवन कर रहे थे तात्पर्य यह है कि वह नदी का जल अनेक रूप था ॥६६॥

**अर्थ**—स्कन्ध पर्यन्त गहरे पानी में किसी पुरुषको खड़ा देख स्त्रीने सोचा कि यह मेरे लिये भी स्कन्धपर्यन्त गहरा होगा, ऐसी सोच वहाँ जाकर स्त्री डूबने लगी परन्तु उसके प्रेमीने वेगसे निकाल कर उसका आलिङ्गन किया ॥६७

---

१. 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु ।
कं सुखे वारिशीर्षे च' इति विश्व० ।

२. 'देवो राज्ञि सुरे देवे' इति विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



टीका—पयसः प्रवाहः स योषितो नार्या नितम्बं श्रोणिपृष्ठभागमाश्रित्याधिकृत्येत उन्नमन् उन्नतिभावं गच्छन् सन्नेषोऽपि पुनस्तस्या एवोदरगह्वरे गभीरतरे नाभिकुहरे मन्दरस्य महापर्वतस्य कन्दरे गुहामध्ये प्रवेशस्य लीलामवाप । योऽसावुद्धततामेति तस्या अभिभवो गर्तपातो वावश्यंभावीति चिन्त्यम् ॥६८॥

**निरस्य शैवालदुकूलमारात्मध्यं स्पृशति मानुषे वाराम् ।**
**ततेरानतं त्रपयेवातः कमलमाननं बभूव वा तत् ॥६९॥**

टीका—वारां ततेः नद्या जलपङ्क्तेः शैवलमेव दूकूलं वस्त्रं निरस्यापाकृत्याराच्छीघ्र-मेव मानुषे नरे तस्या मध्यं देशं स्पृशति सति त्रपया लज्जयेव वा तत्प्रसिद्धं कमलमेवानन-माननमेव वा कमलं तदानतं बभूव नम्रतां जगाम । रूपकयुक्तसमासोक्तिः ॥६९॥

**प्रियास्यमब्जं वा सस्फाति भ्रमो विभ्रमैर्निरकाशीति ।**
**वारिरुहामतिदूरवर्तिभी रसिकस्य मनोऽभूत्तमामभि ॥७०॥**

टीका—इदं दृश्यमानं प्रियाया आस्यं मुखं वाब्जं यत् सस्फाति सुविकसितमस्तीत्येष भ्रमः सन्देहोऽसौ वारिरुहादतिदूरवर्तिभिः कमले कदापि न संभवद्भिर्वि भ्रमैर्निरकाशि दूरीकृतोऽभूदेवं रसिकस्य मनोऽभि भिया वर्जितमभूत्तमाम् । यदेतद् विभ्रमैर्युतं तदेव प्रिया-मुखमिति निर्णयं जगामेति भ्रमपरिहारोऽलंकारः स्त्रीमुखं कमलादपि वरमिति च ॥७०॥

**शीतार्तिमतेव वाससा रसैर्निषेकाद्विस्फुरद्दृशाम् ।**
**वासोष्मजुषोः स्तनयोः शीत-समीरभाजागतं भुवीतः ॥७१॥**

---

अर्थ—जो पानीका प्रवाह स्त्रीके उन्नत नितम्बका आश्रय पा उछल रहा था वही इधर उसके नाभिगर्तमें प्रवेश कर रहा था। इस तरह वह किसी ऊँचे पर्वतकी कन्दराओंमें प्रवेश करनेकी लीलाको प्राप्त होता है। भाव यह है कि जो उद्धतता दिखलाता है उसका पतन होता ही है ॥६८॥

अर्थ—जब किसी पुरुषने शैवाल रूपी वस्त्रको दूरकर शीघ्र ही नदीकी जलपङ्क्तिके मध्यभागका स्पर्श किया तब उसका कमलरूपी मुख लज्जा से नीचा हो गया ॥६९॥

अर्थ—यह प्रियाका मुख है या विकासको प्राप्त कमल है, इस प्रकारका भ्रम-संदेह कमलोंसे दूर रहनेवाले विभ्रमों—हावभाव विलासोंके द्वारा निकाल दिया गया था और इस तरह रसिक अनुरागी पतिका मन मुखके विषय भय-रहित हो गया था ॥७०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**टीका**—भुवि पृथिव्यामितस्तावत्तज्जलकेलिकाले तस्प्रत्ययस्य प्रायः सर्वास्वपि विभक्तिषु सद्भावात् । विस्फुरद्दृशां विकसितचक्षुषां स्त्रीणां वाससा वस्त्रेण रसैर्जलैर्निषेकात्समभिसेचनात् किल शीतार्तिमता शीतस्य पीडामनुभवतेवापि पुनः शीतसमीरभाजाऽतिशीतलवायुं चानुभवता तेन कामोष्मजुषोर्यथेष्टं वा स्मरमयं वोष्मभावं संदधतोः स्तनयोरुपरि आगतं प्राप्तमित्युत्प्रेक्षा ॥७१॥

**शमितः प्रियकरवारिविधानात् मदनजातवेदा ललनानाम् ।**
**धूममञ्जुता-सौ कुतोऽन्यथा समुज्जजृम्भे दृगञ्जनकथा ॥७२॥**

**टीका**—ललनानां स्त्रीणां मदनः काम एव जातवेदा अग्निर्दाहकत्वात्स प्रियस्य वल्लभस्य करेण वारिविधानाज्जलसेचनाद् हेतोः शमित उपशमभावमितः किलान्यथा तु पुनर्वृशोश्चक्षुषोरञ्जनं यन्निर्गतमित्येषा कथा यस्याः साऽसौ धूमस्य मञ्जुता मनोज्ञता कुतः समुज्जजृम्भे ॥७२॥

**कठिनस्तनस्थले वनितायाः सिक्तं रसिना दग्धुमथायात् ।**
**तदौष्ण्यमादायोत्पतज्जलं पुरःस्थरिपुयोषितो हृद्बलम् ॥७३॥**

**टीका**—अथ वनिताया वल्लभायाः कठिने स्तनस्थले रसिना प्रीतिकरेण सिक्तं यज्जलं तद् तद्गतमौष्ण्यमादाय गृहीत्वोत्पतत् सद् रिपुयोषितः सपत्न्या हृदो मनसो बलं सत्त्वं दग्धुं भस्मयितुमयात् जगाम पुरः स्थिताया इत्युत्प्रेक्षा ॥७३॥

---

**अर्थ**—पृथिवीपर जलक्रीडाके समय जलसे सींचे जानेके कारण विकसित नेत्रोंवाली स्त्रियोंके वस्त्र मानों शीतकी बाधासे सहित थे साथ ही शीत वायुकी भी वाधाका अनुभव कर रहे थे अतः काम जन्य गर्मीसे युक्त स्त्रियोंके स्तनोंके ऊपर आ लगा । यह उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥७१॥

**अर्थ**—ऐसा जान पड़ता है कि स्त्रियोंकी कामाग्नि पतिके हाथोंसे संपन्न जलसेचनसे शान्त की गयी थी । यदि ऐसा न होता तो धूमकी जो मनोहरता बढ़ रही थी वह नेत्रोंसे निर्गत अञ्जन है ऐसा कहना कैसे ठीक होता ?

**भावार्थ**—जलक्रीडाके समय स्त्रियोंके नेत्रोंका काजल घुलकर वक्षःस्थलपर आ गया था और श्यामताके कारण वह धूमके समान जान पड़ता था अतः यह कल्पना की गई कि हृदयमें विद्यमान कामरूपी अग्नि पतिके हाथोंसे सींचे गये जलसे शान्त हुई थी, उसीका यह धूम उठ रहा है । अग्नि बुझानेपर धूम उठता ही है ॥७२॥

**अर्थ**—स्त्रीके कठिन वक्षःस्थलपर रसिक-पतिके हाथोंसे सींचा गया जल स्तनोंकी उष्णताको लेकर जो उछल रहा था वह ऐसा जान पड़ता था मानों सामने खड़ी सौतके मनोबलको भस्म करनेके लिये ही जा रहा था । यह उत्प्रेक्षालंकार है ॥७३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कमिति च कान्तकरादायातं जातं पत्न्या यदेव सातम् ।
शरतामत्र वैरिरामाया हृदयभेदनायैतद्‌गतायात् ॥७४॥

टीका—यदेव जलं कमन्ते पार्श्वे यस्य तस्य कान्तस्य करादायातम् तस्मात् कमिति जलं तदेव सुखं चेति स्मृतिपूर्वकं पत्न्याः सातमानन्दकरम् जातमेतदेवोतात्र वैरिरामायाः सपत्न्या हृदयस्य भेदनाय शरतां वाणरूपतां शरापरनामत्वादथाज्जगामेति विरुद्ध-' भावोऽलङ्कृतिः ॥७४॥

न सुष्ठु मृष्टाऽगुरुपत्रततिस्त्वकया लोकोत्तरकान्तिमति ।
वञ्चितेतिनिजगण्डमण्डलमर्पयति स्म नियोगिनेऽमलम् ॥७५॥

टीका--हे लोकोत्तरकान्तिमति ! त्वयैव स्वकया गण्डयोः स्थिताऽगुरुपत्राणां ततिः पंक्तिः सुष्ठु न मृष्टा किलेत्युक्त्वा वञ्चिता सती साऽमलमपि स्वच्छमपि निजं गण्ड-मण्डलं नियोगिने स्वामिनेऽर्पयति स्म दत्तवतीति मौग्ध्याभिव्यक्तिरेवालङ्कृतिरत्र ॥७५॥

जलेन लौल्याद्वसनेऽपहृते विलासवत्या जघने प्रसृते ।
नखमण्डलावलिच्छलतोऽभात्स्मरप्रशस्तिः प्रणीतशोभा ॥७६॥

टीका जलेन लौल्यात् स्वाभाविकतरलतया वसने दुकूलेऽपहृते दूरीकृते संति विलासवत्याः श्रीमत्याः प्रसृते जघने रतकाले समासानि नखमण्डलानि तेषामावलिः परम्परा तस्याश्छलतः प्रणीता शोभा यया सा स्मरस्य प्रशस्तिर्यशः स्थितिरभाद्बभावित्य पह्नुतित्यलंकारः ॥७६॥

---

**अर्थ**—पतिके हाथसे आया—उछाला हुआ जो जल स्त्रीके लिये सुखदायक हुआ था वही सपत्नीका हृदय विदीर्ण करनेके लिये शरता—वाणपनेको प्राप्त हुआ था।

**भावार्थ**—जिसके अन्त—पासमें 'क' है जल है वह कान्त हुआ अर्थात् जलमें खड़े हुए पतिने जो क—जल पत्नीके ऊपर उछाला था वही क—जल पत्नीके लिये क—सुख रूप हुआ परन्तु वही क—जल सौतके हृदयको विदीर्ण करनेके लिये शर—वाण पानेको प्राप्त हो गया। एक ही वस्तुने दो विरुद्ध कार्य किये अतः यह विरुद्ध भाव अलंकार है ॥७४॥

**अर्थ**—हे सर्वश्रेष्ठकान्तिको धारण करनेवाली प्रिये ! 'तुमने अगुरु चन्दनसे निर्मित पत्रपङ्क्तिको अच्छी तरह साफ नहीं किया है' इस तरह छली हुई स्त्रीने अपना निर्मल कपोल मण्डल पतिके लिये अर्पित किया (साथ ही कहा आप ही साफ कर दें) स्त्रीके भोलेपनका प्रदर्शन ही अलंकार है ॥७५॥

**अर्थ**--जलने अपनी स्वाभाविक चपलतासे किसी स्त्रीका वस्त्र दूर कर दिया जिससे उसके विस्तृत नितम्ब पर अङ्कित नखाघातकी पङ्क्ति कामदेवकी प्रशस्ति-यशोगाथाके समान सुशोभित होने लगी ॥७६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वाग्मिता हि येषां रुचिहेतुः सम्विदिता मनस्विनिवहे तु ।
यदत्र तूष्णीं नूपुरैः स्थितं जडप्रसङ्गे मौनं हि हितम् ।।७७।।

टीका—मनस्विनां विचारवतां निवहे समाजे सुत्पुनर्येषां मिता परिमिता वागेव वाग्मिता सा हि रुचिहेतुः प्रीतिकारणं सम्विसिता मता । तैर्नूपुरैः स्त्रीणां चरणभूषणै-रत्र भूषणं स्थितं मौनमादाय प्रावर्ति । यद् यस्माज्जडानां मूर्खाणां डलयोरभेदात् पुनर्जलानां प्रसङ्गे मौनं विहितं भवति अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ।।७७।।

मीनमत्स्यकादेस्तु जीवनं ह्युत्पलजातेरस्ति यद्वनम् ।
गावोऽभ्युन्नतगिरेरागतं पय इत्येवं जगतोऽत्र मतम् ।।७८।।
उद्भिज्जातेरमृतमितीष्टं विषममग्नये स्वतोऽस्त्यनिष्टम् ।
शिवमिति हिन्दुजनानामेतद्भुवनमन्वभूज्जनस्य चेतः ।।७९।।

टीका—एतद् यन्नद्यां तिष्ठति तन्मीनमत्स्यकादेस्तु जीवनं प्राणधारणमेव हि मतं । तथा चोत्पलजातेः कमलसत्ताथा वनं निवासस्थानं मतं । अभ्युन्नताद्गिरेरागतमस्तीत्यतो गाव इत्येवमेतद्गीयते । तथा जगतः पयः पातुं योग्यं, उद्भिज्जातेरङ्कुरदूर्वादेरमृत-ममरणकारणमितीष्टं । विषममग्नये जनायास्ति यतस्तस्मै स्वतो ह्यनिष्टं भवति, हिन्दुजनानां वेदानुयायिनामेतच्छिवमिति, किन्तु जनस्यास्मदादेश्चेतस्त्वेतद् भुवनमित्यन्व-भूत् । उल्लेखालंकारः ।।७८-७९।।

---

**अर्थ**—विचारवान् मनुष्योंके समूहमें थोड़ा बोलना (वाग्मिता-प्रशस्त बोलना) रुचिकर होता है, यह सोचकर स्त्रियोंके नूपुर उस समय चुप हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि जड़-मूर्खों (पक्ष में जल) के प्रसङ्गमें मौन रह जाना ही हितकर होता है। यहाँ अर्थान्तरन्याम अलंकार है ।।७७।।

**भावार्थ**—जब विद्वानोंके समक्ष थोड़ा बोलना अच्छा है तब जलों-जड़ोंके समक्ष तो बिलकुल नहीं ही श्रेष्ठ होगा यह विचार कर नूपुर चुप हो गये थे उनकी रुनझुन बंद हो गयी थी ।

**अर्थ**—नदीमें जो यह जल है वह मीन मत्स्य आदिका प्राणाधार होनेसे **जीवन** है। कमल कुमुद आदि उत्पल जातिका निवास स्थान होनेसे **वन** है। ऊँचे पर्वतसे आया है अतः **गो** है। जगत्के पीने योग्य होनेसे **पय** है, अंकुर आदि उद्भिज्जातिको अमृत्युका कारण होनेसे **अमृत** है, अग्निके लिए स्वयं अनिष्ट है अतः विषम (**विष**) है। वेदानुयायी हिन्दुओंके लिये वन्दनीय होनेसे **शिव** है और अस्मदादिजनोंका चित्त इसे **भुवन** है ऐसा अनुभव करता है।

**भावार्थ**—उपर्युक्त श्लोकोंमें पानीके विविध नामोंका उल्लेख किया गया



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जलावगाहप्रतिपत्तिकारणैकसम्भवादम्भसि संविभूषणैः ।
हिरण्मयैश्चारुदृशां परिच्युतैः किलौर्ववह्नेः शकलैव्यंशोभि तैः ॥८०॥

टीका—जलावगाहस्य प्रतिपत्तिरनुभवनमेव कारणं तदेवैको मुख्यः सम्भवः सद्भावस्तस्मादम्भसि जले परिच्युतैः स्खलितैश्चारुदृशां सुलोचनानां स्त्रीणां हिरण्मयैर्हेमनिर्मितैः संविभूषणैः कंकणादिभिस्तैः किलौर्ववह्नेर्वडवाग्नेः शकलैः खण्डैः किलेव व्यशोभि शोभा लब्धा । उत्प्रेक्षालंकारः ॥८०॥

मृगीदृशां यावकरागकल्पकान्वयेन सिन्दूरकलाक्तमस्तका ।
पयोधियोषिन्निजनायकं तरां जगाम तावत्सुतरङ्गितान्तरा ॥८१॥

टीका—तावत्काले पयोधियोषिन्नदी सापि मृगीदृशां स्त्रीणां चरणादिषु लग्नस्य यावकरागस्य योऽसौ कल्पकः समूहस्तस्यान्वयेन सम्बन्धेन सिन्दूरस्य कलया सौभाग्यसूचिकयाऽऽक्तं विभूषितं मस्तकं यस्याः सा, सुतरङ्गितं शोभनैस्तरङ्गैर्युक्तमथवा शोभनीयविचारसहितमन्तरं मध्यं मनो वा यस्याः सा सती निजनायकं समुद्रं जगामतराम् । समासोक्तिरलंकारः ॥८१॥

---

है यथा—[1]जीवन, वन, [2]गो, पयस्, अमृत, विष[3], शिव[4] और भुवन ॥७८-७९॥

अर्थ—जलावगाहन रूप प्रमुख कारणसे सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियोंके जो सुवर्णमय आभूषण पानीमें गिर गये थे वे मानों वडवानलके खण्डोंके समान ही सुशोभित हो रहे थे । यह उत्प्रेक्षालंकार है ॥८०॥

अर्थ—जो स्त्रियोंके माहुरकी लालिमासे संयुक्त थी तथा सिन्दूरसे जिसका मस्तक सुशोभित हो रहा था ऐसी नदी, तरङ्गितमध्यवाली (पक्षमें अनेक उमंगों से युक्त हृदय वाली) होती हुई अपने पति समुद्रके पास वेगसे जा रही थी ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई स्त्री पैरोंमें माहुर और मस्तक पर सिन्दूरकी बिन्दी लगाकर मनमें अनेक उमंगोंको संजोती हुई पतिके पास जाती है उसी प्रकार नदी भी समुद्रके पास गई थी । यह समासोक्ति अलंकार है ॥८१॥

---

१. 'पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्' इत्यमरः ।
२. 'तोयं जीवनमब्विषम्' इति धनंजयः ।
३. गौः पुमान् वृषभे स्वर्गे खण्डवज्रहिमांशुषु ।
स्त्रीगविभूमिदिग्नेत्रवाग्वाणसलिले स्त्रियः ॥ विश्व०
४. 'शिवं मोक्षे सुखं जलम्' इति विश्व०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



अपास्तमाल्यं च्युतयावकाधरं निरस्तवस्त्रं दयितेश्वरैः समम् ।
निषेव्यमाणं तरलं जलं बभौ मुदे वधूनां दलवद्यदुत्तमम् ॥८२॥

टीका—यत्तरलमपि जलं तत् दयितेश्वरैः निजनायकैः समं सार्द्धं अपास्तं विनष्टं माल्यं यत्र यथा स्यात्तथा, च्युतं व्यतीतं यावकं यस्मादेतादृगधरं रदच्छदं यत्र तद्यथा स्यात्तथा, निरस्तं गतं वस्त्रं यत्र तद्यथा स्यात्तथा निषेव्यमाणं रतवदुत्तमं सत्, तद्वधूनां मुदे हर्षाय बभौ रराजेत्युपमालंकारः ॥८२॥

स्वार्थभृज्जगदितिप्रकाशितात्तां जहद्भिरथ निम्नगोदिता ।
आत्ततृड्भिरियमङ्गिभिर्हिताद्या नदीनमहिला समर्थिता ॥८३॥

टीका—अथ स्वार्थभृदिदं सर्वं जगदिति प्रकाशितात् प्रसिद्धात्सूक्ताद्धेतोर्या नदी तामिमां जहद्भिर्जनैरुज्जिहानैस्तु निम्नं गच्छतीति निम्नगेयमित्युदिता कथिता । किन्तु आत्ततृड्भिस्तृषातुरैः पुनः सेयमेव नदीनस्य समुद्रस्य सम्पत्तिरतश्च महिला स्त्रीत्येव समर्थिताङ्गिभिर्जनैर्हितात्स्वार्थवशात् ॥८३॥

नितम्बिनीनां जघनाघातात्तटाभिनीतं वारि तदा ताम् ।
कलुषतामगादपि च जडानां पराभवः कष्टकरो नाना ॥८४॥

टीका—तदा नितम्बिनीनां जघनैः श्रोणिपुरोभागैर्योसावाघातस्तस्मात्तटाभिनीतं स्फालितं च निरादरतयैकपार्श्वीकृतं च वारि कलुषतां कर्दमितां सरोषतां चागाज्जगाम । अपि हि पराभवो निरादरो जडानां मुग्धबुद्धीनां विचारहीनानां च नानाकष्टकरो भवति किं पुनरन्येषाम् । अत्र जडानां जलानामपीत्यपि । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥८४॥

---

**अर्थ**—जिसमें मालाएँ टूटकर गिर गयी थीं, अधरोष्ठकी लाली छूट गयी थी तथा वस्त्र भी दूर हो गया था ऐसा वह नदीका चञ्चल उत्तम जल पतिके साथ किये गये संभोगके समान स्त्रियोंके हर्षके लिये हुआ था। यहाँ उपमालंकार है ॥८२॥

**अर्थ**—'जगत् स्वार्थी है' इस प्रसिद्ध सूक्तिके अनुसार जो मनुष्य नदीको छोड़कर जा रहे थे उन्होंने उसे निम्नगा कहा परन्तु जो प्याससे युक्त थे उन्होंने हितकारी होनेसे उसे समुद्रकी सम्पत्ति अथवा स्त्री माना ॥८३॥

**अर्थ**—जिस प्रकार विकट नितम्ब वाली स्त्रीके जघनाघातसे शय्याके किनारे तक पहुँचाया हुआ मुग्धबुद्धि वल्लभ कलुषता-सरोष अवस्थाको प्राप्त होता है उसी प्रकार स्त्रियोंके जघनाघातसे तट तक पहुँचाया हुआ नदीका जल भी कलुषता—मलिनताको प्राप्त हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि जड-जल अथवा मुग्धबुद्धि जनोंको भी पराभव नाना कष्टोंको करने वाला होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**निरम्बरश्रोणिजुषोऽम्बुलोलनात् त्रपापरायाः कुलजेषु साऽधुना।**
**चकार सख्यं लहरी तदङ्गसात्सरोजवल्लीदलदानतो रसात् ॥८५॥**

**टीका**—अधुना जलकेलिकालेऽम्बुनो जलस्य लोलनाच्चलनाद्धेतोः निरम्बरां वस्त्र-वर्जितां श्रोणिं जुषति सेवते या तस्याः, अतः कुलजेषु गोत्रशालिषु जनेषु मध्ये त्रपापराया लज्जायुक्ताया ललनात् रसात्प्रसङ्गवशाल्लहरी जलोर्मिरेव तदङ्गसात् तस्या अङ्गस्य समीपं सरोजवल्ल्याः कमलिन्या दलस्य पत्रस्य दानतः सख्यं सहायभावं चकार ॥८५॥

**तत्याज जलं पश्चादार्त्तस्वरमङ्गनाजनः कलुषम् ।**
**स्मृत्वा धृष्टप्रियतां सहजामिति तां स्वकीयां सः ॥८६॥**

**टीका**—पश्चाज्जलकेलेरनन्तरमङ्गनाजनः स्त्रीसमाजः स तां प्रसिद्धां स्वकीयां स्वसम्बन्धिनीं सहजामकारणसम्भवां धृष्टः समर्थ एव प्रियो यस्मै तत्तामिति किल स्मृत्वाऽऽर्त्तस्वरमार्त्तस्य दुःखिनो रुग्णस्येव वा स्वर इव स्वरो यस्य तत्तथा कलुषं कर्दमितं खिन्नं जलं तत्याजेत्युत्प्रेक्षा ॥८६॥

**चेलाञ्चलैः क्षरद्भिर्जलमिव लावण्यमङ्गनाकुलकैः ।**
**उत्तीर्णमथातितरलतरङ्गरङ्गक्षमैः सरसः ॥८७॥**

**टीका**—अथानन्तरमतितरला ये तरङ्गास्तेषां रङ्गे स्थाने क्षमैः समर्थैरङ्ग-

---

यहाँ श्लेषके कारण 'ड' और 'ल' में अभेद माना गया है। यह अर्थान्तरन्यास अलंकार है ॥८४॥

**अर्थ**—जल क्रीड़ाके समय जलकी चञ्चलतासे जिसका नितम्ब वस्त्ररहित हो गया था तथा इसी प्रकार जो कुलीन मनुष्योंके बीच लज्जित हो रही थी उस स्त्रीकी सहायता पानी की एक लहरने प्रसङ्गवश कमलिनीका एक दल-पत्र पहुँचा कर की थी ॥८५॥

**अर्थ**—जलक्रीड़ाके बाद स्त्री समूहने अपनी सहज-स्वाभाविक शालीनताका स्मरण कर वियोगजन्य दुःखसे ही मानों दुःखपूर्ण शब्द करने वाले जलको छोड़ दिया था। यह उत्प्रेक्षालंकार है।

**भावार्थ**—टीकासे प्रकट होने वाला एक व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि जिस प्रकार कोई सबल स्त्री 'मुझे तो उपभोग समर्थ प्रिय ही पसंद है' इस प्रकारकी अपनी स्वाभाविक परिणतिका स्मरण कर उपभोगमें असमर्थ होनेके कारण रोगीकी तरह दीन शब्द करने वाले मलिन जड—रतिक्रियानभिज्ञ पतिको छोड़ देती है उसी प्रकार स्त्री समूहने नदीके जलको छोड़ दिया था ॥८६॥

**अर्थ**—तदनन्तर अत्यन्त चञ्चल तरङ्गोंके बीच क्रीड़ा करनेमें समर्थ वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



नानां स्त्रीणां कुलकैः समूहैः, कथंभूतैस्तैः ? चेलानां वस्त्राणामञ्चलैः प्रान्तभागैः लावण्य-मिव क्षरद्भिः सरसस्तटाकादर्थाज्जलस्रोतसः उद्धारं प्राप्तं तैरित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥८७॥

**तरुणीं समुत्तरन्तीं तोयत उत्फल्लतामरसहस्ताम् ।**
**अनुमेनिरे नरा हरिरामामिव सिन्धुनिर्मंथनात् ॥८८॥**

**टीका**—नरास्तदानीमुत्फुल्लं विकसितं च तत्तामरसं कमलं हस्ते यस्यास्तां तोयतो जलात्समुत्तरन्तीं निर्गच्छन्तीं कांचित्तरुणीं सिन्धोः समुद्रस्य निर्मंथनान्निर्गतां लक्ष्मी-मिवानुमेनिरे । उपमालंकारः ॥८८॥

**तरलैरलकैः समाकुला ललनाऽऽलिङ्गनमङ्गरागिणा ।**
**अनुकूलमवाप्य सत्वरं रससारं समवाप चापरा ॥८९॥**

**टीका**—अपरा तरलैर्विकीर्यमाणैरलकैः केशैः समाकुला सती साऽङ्गं रङ्गयति भूषयति सोऽङ्गरागी प्रियतमस्तेन सार्द्धमनुकूलमालिङ्गनमवाप्य सत्वरं शीघ्रमेव रसस्यानुरागस्य सारं समवाप ॥८९॥

**अभिगम्य बिम्बमुच्चैः कुचवत्याः कचसंचयः पुनः ।**
**स्म समेति रतिं परिक्षरच्छरदम्भादिव बन्धसम्भयात् ॥९०॥**

**टीका**—उच्चैः कुचवत्याः स्त्रियाः कचानां सञ्चयः केशपाशोऽधुनोन्मुक्तत्वान्नितम्ब-बिम्बमभिगम्य पुनर्बन्धभयादिव परिक्षरतो निर्गच्छतः शरस्य जलस्य दम्भाद् व्याजाद्रो-दनं समेति स्म । उत्प्रेक्षापह्नुत्योः संकरः ॥९०॥

---

स्त्रियाँ वस्त्रान्तभागसे जलकी तरह सौन्दर्यको झराती हुई जल प्रवाहसे बाहर निकलीं ।

**भावार्थ**—नदीसे बाहर निकलते समय उनके वस्त्रोंके प्रान्तभागसे जो पानी झर रहा था उससे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानों अपने सौंदर्य को ही झरा रही हों । यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है ॥८७॥

**अर्थ**—विकसित कमलको हाथमें लिये, पानीसे निकलती हुई किसी युवतिको मनुष्योंने समुद्रमथनसे निकली लक्ष्मीके समान माना था । यह उपमा-लंकार है ॥८८॥

**अर्थ**—चञ्चल केशोंसे युक्त कोई अन्य स्त्री प्रियतमके साथ आलिङ्गनको प्राप्त होकर शीघ्र ही अनुरागके सारको प्राप्त हुई थी ॥८९॥

**अर्थ**—उन्नत स्तन वाली किसी स्त्रीका केशपाश जलसे निकलते समय खुला होनेसे नितम्ब मण्डल तक लटक रहा था और उससे पानी चूँ रहा था उससे वह ऐसा जान पड़ता था कि अबतक तो मैं बन्धन रहित होनेसे नितम्ब मण्डलका स्पर्श करता रहा परन्तु अब बांध दिया जाऊँगा इस भयसे वह मानों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मृदुपद्मदृशः सुमध्यमायाः स्वभुजाभ्यां कचवृन्दबन्धने ।
भुजमूलमथोन्नतं तिरस्तः शनकैः सम्प्रति सस्वजेऽभिसारी ॥९१॥

टीका—अभिसरतीत्यभिसारी कामुकः पुरुषः स्वभुजाभ्यां, मृदुनी पद्मे इव दृशौ यस्याः सा तस्याः, शोभनं मध्यं मध्यभागो यस्याः सा तस्याः नायिकाया स्व भुजाभ्यां स्वकीयबाहुभ्यां कचवृन्दस्यबन्धने तत्परा सन्, शनकैः क्रमशस्तस्या भुजमूलमथोन्नत-मूर्ध्वंभागं तिरस्तस्तिर्यग्भागञ्च सम्प्रति सस्वजे समालिलिङ्ग ॥९१॥

सुदृशां दृगुपान्तरक्तता प्रथमं या हि तिरोहिताञ्जनैः ।
अधुना द्विगुणीकृता जलैरनु बद्धेर्ष्यतयेव निर्मलैः ॥९२॥

टीका—सुदृशां मुग्धाक्षीणां दृशां चक्षुषामुपान्तेषु या रक्तता नेत्रप्रान्तारुणता, प्रथममञ्जनैः कज्जलैस्तिरोहिता विलुप्तासीत् सैवाधुना निर्मलैर्जलै रनुबद्धेर्ष्यतयेव स्पर्धा-वशतयेव द्विगुणीकृता परिवृद्धिं नीतेत्यर्थः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥९२॥

शुचि सिप्र्झरानजानती समुदीक्ष्यात्महृदीशमन्तिके ।
मुहुरम्बुजलोचना तनुं स्नपनार्द्रां निरवापयच्चिरम् ॥९३॥

टीका—काचिदम्बुजलोचना, अन्तिके समीपे एवात्मनो हृदीशं भर्तारं समुदीक्ष्य दृष्ट्वा तदनुभावात्सञ्जातान् शुचीन् सिप्राणां सात्त्विकभावोद्भूतघर्मजलानां झरान् प्रवाहान् अजानती नानुमन्यमाना स्नपनार्द्रामेव तनुं मत्वा मुहुः पुनः पुनश्चिरं दीर्घकालं निरवापयत् प्रोञ्छयामास ॥९३॥

---

रो ही रहा था। यह उत्प्रेक्षा और अपह्नुतिके मेलसे संकर अलंकार है ॥९०॥

अर्थ—कोई एक पुरुष कोमल कमलके समान नेत्रों तथा सुन्दर कमर वाली अपनी स्त्रीके केशपाशको अपनी भुजाओंसे बांधनेके लिये तत्पर हुआ और इस समय वह स्त्रीके कक्ष तथा उन्नत पार्श्व भागका धीरे-धीरे स्पर्श करता रहा ॥९१॥

अर्थ—स्त्रियोंके नेत्र कोणों की जो लालिमा पहले कज्जल से विलुप्त हो गई थी वही इस समय निर्मल जलके द्वारा मानों ईर्ष्यासे ही दूनी कर दी गयी थी यह उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥९२॥

अर्थ—कमलके समान नेत्रों वाली किसी स्त्रीने समीप ही अपने पतिको देखा। फलस्वरूप सात्त्विकभावके रूपमें उसके शरीरसे स्वच्छ पसीना झरने लगा। उसे न समझ वह शरीरको स्नान जलसे ही गीला समझती रही और उसे बार बार पोंछती रही ॥९३॥

---

१ 'निदाघसलिले सिप्रः' इति विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



अभिनववसनानां स्वीकृतौ तावदाभिः
सुचिरपरिचितानि स्पष्टपद्मानानाभिः ।
वधुरविरलवारीत्येवमार्द्राणि यानि
बहुविरहविपत्तेर्मुञ्चितानीव तानि ॥९४॥

टीका—स्पष्टानि विकसितानि यानि पद्मानि कमलानि, तानीवाननानि मुखानि यासां तास्ताभिराभिः । अभिनववसनानां नूतनवस्त्राणां स्वीकृतौ तावद् यानि सुचिरपरिचितानि पुरातनानि, आर्द्राणि वस्त्राणि मुञ्चितानि, तानि बहुविरहविपत्तेर्वियोगदुःखादिव, अविरलवारि वधुः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥९४॥

समुदितजलकेलिं वीक्ष्य तं पीठकेलिं
सकलजनसमूहं तत्र तावन्निरूहम् ।
दिनपतिरपि रागीहाशु गच्छत्प्रयागो
झगिति हि जलराशिं गन्तुमाभूत्प्रवासी ॥९५॥

टीका—दिनपतिः सूर्योऽयोऽपीह रागी शोणिमशाली, तथाशुगच्छन्तः प्रयागा घोटका यस्य सः तत्र तावत् समुदिता जलकेलिर्येन तं पीठकेलिं धृष्टप्रायं सकलानां जनानां समूहं निरूहं निःसंकोचं वीक्ष्य, यः प्रवासी नित्यमेव गमनशीलः स सूर्यो झगिति हि जलराशिं पश्चिम समुद्रं गन्तुमाभूदैच्छत् । 'पीठकेलिः पीठमर्दे' । 'प्रयागस्तीर्थभेदे स्याद्यज्ञे वाहे विडौजसि' इति विश्वलोचनः ॥९५॥

सकलमपि कलत्रमनुमानवं
लिखितमनूक्तं ललितमतिबलम् ।
दधत्स्वपदबलमुचितार्थभवं
बहु सञ्चरितदमवमलं भुवः ॥९६॥

---

अर्थ—विकसित कमलके समान मुखवाली इन स्त्रियोंने नवीन वस्त्रोंको स्वीकृत-धारण करते समय जो चिरपरिचित गीले वस्त्र छोड़े थे वे विरह सम्बन्धी भारी दुःखसे ही मानो अश्रुरूपी अविरल जलको धारण कर रहे थे। यह उत्प्रेक्षालंकार है॥९४॥

अर्थ—वहाँ अच्छी तरह जलक्रीड़ा करने वाले उस धृष्ट समस्त जनसमूहको निःसंकोच देखकर जान पड़ता है कि सूर्य भी रागी—अनुराग से युक्त (पक्षमें लालिमासे) युक्त हो गया था इसीलिये नित्यगमन करनेके स्वभाव वाला वह सूर्य भी शीघ्रगामी घोड़ोंसे युक्त हो शीघ्र ही पश्चिम समुद्रकी ओर जानेकी इच्छा करने लगा था ॥९५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



टीका--अपि पुनः कलेन सुन्दरेण शरीरेण सहितं सकलं कलत्रं नारीवलं तन्मानवं स्वस्वामिनमन्वनुमानवं लिखितं लेखपत्रमनूक्तं किमप्यनुक्त्वा ललितं सुन्दरं तत एवातिवरं, रलयोरभेदात्, । स्वेषां पदानां शब्दानां बलं यत्तत्, तथोचितार्थस्य भवः सदा यत्र तत्, समीचीनं चरितं ददातीति सच्चरितपदं, तथा अवमलं निर्दोषं, भुवो बहु संसारकार्यस्य समर्थकं दधन् धृतवद् बभूव सन्दधार। सरिदवलम्बश्चक्रबन्धोऽयम् ॥९६॥

---

अर्थ—सुन्दर शरीरसे सहित स्त्री समूहने अपने प्रिय जनके प्रति उस पत्रको धारण किया जो मौखिक सन्देह कहे बिना लिखा गया था, मनोहर था, अत्यन्त-वर-श्रेष्ठ था, अपनी शब्दावलीकी सामर्थ्यसे सहित था, जिसमें उचित अर्थका सद्भाव था, जो समीचीन चरितको देने वाला था, निर्दोष था और संसारकी श्रेष्ठ वस्तु स्वरूप था—सांसारिक कार्योंको सिद्ध करने वाला था। यह सरिदव लम्ब नामक चक्रबन्ध है ॥९६॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरीदेवी च यं धीचयम्।
वृत्तोत्तुङ्गतरङ्ग वारि सरिताख्याते प्रसन्नः स्वयं
सर्गोऽत्येति चतुर्दशस्तदुदितेऽस्मिन्सुप्रबन्धेऽप्ययम् ॥१४॥

इति वाणीभूषण ब्रह्मचारि भूरामल शास्त्रि विरचिते जयोदयापरनाम
सुलोचना स्वयंवर नाम महाकाव्ये सरिदम्बलम्बनामा
चतुर्दशः सर्गः समाप्तः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# पञ्चदशः सर्गः

प्राणेशसत्सङ्गमलालसानां कटाक्षबाणैरधुनाङ्गनानाम् ।
हतः किलारादरविन्दवेषमुपैति पूषारुणिमानमेषः ॥ १ ॥

टीका—अधुना दिनात्ययसमये एष पूषा सूर्यं आरादनायासेनैव, अरविन्दस्य रक्त-कमलस्य वेष इव वेषो यस्य तमरुणिमानं लोहितभावमुपैति प्राप्नोति आरक्तवर्णोऽवलोक्यते यतः किलासौ प्राणेशस्य वरस्य सत्सङ्गमे संप्रयोगे लालसा वाञ्छा यासां तासामङ्गनानां स्त्रीणां कदा त्वमस्तं गच्छेर्यदा वयं रात्रिभावात् प्रियेण सहानुतिष्ठाम इति मुहुरवलोकनात् कटाक्षा एव बाणास्तैः कृत्वा हतो जर्जरीकृतः ॥१॥

यथोदयेऽह्नयस्तमयेऽपि रक्तः श्रीमान् विवस्वान्विभवैकभक्तः ।
विपत्सु सम्पत्स्वपि तुल्यतैवमहो तटस्था महतां सदैव ॥ २ ॥

टीका—श्रीमान् जगतां प्रशस्तत्वात् विभवस्य सकलार्थकारितायाः । किञ्च वीनां पक्षिणां भवः सत्ता तस्यैकः प्रसिद्धो भक्तः प्रेमी दिन एव पक्षिणां सञ्चारात् । स एष सूर्यो यथोदये समुद्भवकालेऽह्नि दिने रक्तो लोहितवर्ण आसीत्तथास्तमये निपतन-समयेऽपि रक्त एव । एवं कृत्वा महतामक्षुद्रहृदयानां विपत्सु सम्पत्स्वपि किंवा संकटेषु किंवा महोदयेषु सदैव नित्यं तुल्यता समानभावेन प्रवृत्तिः सा तटस्था भवति न सम्पत्स्वनुरज्यन्ते न च विपत्सूद्विग्नाश्च भवन्ति । अहो महदाश्चर्यस्थानमेतत् ॥२॥

---

अर्थ—तदनन्तर दिन समाप्तिके समय यह सूर्य अनायास ही लालकमलके समान लालिमा को प्राप्त हो गया जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो प्राण-वल्लभके समागममें इच्छा रखने वाली स्त्रियोंके कटाक्षरूपी बाणोंसे घायल होकर ही लालिमा को प्राप्त हुआ था ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीमान् तथा ऐश्वर्यका एक भक्त अथवा पक्षियोंके सद्भाव का प्रमुख भक्त सूर्य जिस प्रकार उदय कालमें लाल होता है उसी प्रकार अस्त कालमें भी लाल रहता है । बड़ा आश्चर्य है कि महापुरुषों की प्रवृत्ति संपत्ति और विपत्तिमें सदा एक सदृश–तटस्थ होती है । तात्पर्य यह है कि महापुरुष न सम्पत्तिमें अनुरक्त होते हैं और न विपत्ति में उद्विग्न[1] ॥ २ ॥

---

१. उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



लयं तु भर्त्रैव समं समेति दिनं दिनेशेन महीयसेति ।
कृतज्ञतां ते खलु निर्वहन्ति तमामसुभ्योऽप्यमलास्तु सन्ति ।।३।।

टीका—दिनमपि तु भर्त्रा निजस्वामिना महीयसा पूज्येन दिनेशेन सूर्येण सममेककालमेव लयं समेति प्रणश्यतीत्येवं येऽमलाः शुद्धस्वभावा भवन्ति ते खलु सत्यमसुभ्योऽपि प्राणानपि त्यक्त्वा कृतज्ञतामुपकारिणामाभारित्वं निर्वहन्ति न कदापि विस्मरन्ति ।।३।।

नवेऽधुना सङ्गमनेऽब्जनेतुर्दिशः प्रतीच्या मुखमण्डले तु ।
हार्दोचितह्रीविभवेन भाति प्रवाललक्ष्मीमुषि, कापि कान्तिः ।।४।।

टीका—अधुना दिनान्तसमयेऽब्जनेतुः सूर्यस्य सङ्गमने समागमे प्रतीच्या दिशः पश्चिमाया मुखमण्डले प्रवालस्य विद्रुमस्य लक्ष्मीं मुष्णाति चोरयतीति तस्मिन् लोहितवर्णे रागपूर्णे वा मुखे हार्देन प्रेम्णोचिता या ह्रीर्नवसमागमत्वात् प्रेमपूर्विका या लज्जा तस्या विभवेनोदयेन कृत्वा, काप्यनिर्वचनीया कान्तिर्भाति शोभते । 'प्रवाललक्ष्मीमुषिका' एवमेकपदत्वेन कान्तिविशेषणत्वं वास्तु । नव इति तु तत्कालसञ्जाते सङ्गमेऽस्मिन्निति ।।४।।

सरोजिनीं कुड्मलितां दिशायाः समीक्ष्य साश्चर्यमितिस्मितायाः ।
मन्ये प्रतीच्या अधुनावभातितमामुदात्ताधरबिम्बकान्तिः ।।५।।

टीका—अधुना साम्प्रतं सरोजिनीं कमलिनीं कुड्मलितां कुड्मलभावमितां संकोचयुक्तां समीक्ष्य दृष्ट्वैव खलु साश्चर्यमिति स्मितायाा आश्चर्येण सहिता साश्चर्या सा चासौ

---

अर्थ—दिन, अपने स्वामी एवं पूज्य सूर्यके साथ ही नष्ट हो जाता है सो ठीक ही है क्योंकि जो शुद्धस्वभाव वाले होते हैं वे प्राणोंसे भी अर्थात् प्राण देकर भी कृतज्ञता का अत्यन्त निर्वाह करते हैं ।। ३ ।।

अर्थ—इस समय सूर्यका नवीन समागम प्राप्त होनेपर पश्चिम दिशाके मूंगा जैसे गुलाबी मुखमण्डलपर प्रेमोचित लज्जा के वैभवसे कोई अनिर्वचनीय कान्ति सुशोभित हो रही थी।

भावार्थ—जिसप्रकार नवीन समागमके समय स्त्रीके मुखमण्डल पर लज्जामिश्रित अनुपम कान्ति सुशोभित होती है उसी प्रकार पश्चिम दिशा रूपी स्त्रीके मुखमण्डल पर भी सूर्य रूप नायकके साथ नवीन समागम होने पर अनिर्वचनीय शोभा प्रकट हुई थी ।। ४ ।।

अर्थ—उस समय पश्चिम दिशामें जो लालिमा फैल रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानों कमलिनीको संकुचित देखकर पश्चिम दिशा रूप स्त्रीने जो अपना अधर फैलाया था उसी की कान्ति हो ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मितिरनुज्ञा तया स्मितायाः विस्मितायाः अहो आश्चर्यचकितायाः प्रतीच्या दिशायाः पश्चिमायाः उदात्तस्योच्छूनीकृतस्याधरबिम्बस्य कान्तिः प्रभा सा बहु भातितमामिति मन्येऽहं जानामि किल। यद्वा साश्चर्यं यथा स्यात्तथा समीक्ष्य स्मितायाः इत्येवमपि व्याख्येयम् ॥५॥

**उपागतेऽहस्कृति तस्य वीनां कलैः कृतातिथ्यकथाप्यशीना।**
**श्री शोणिमच्छद्ममयं प्रतीची दधाति सच्छाटकमात्तवीचिः ॥ ६ ॥**

टीका—अहस्कृति सूर्ये समागते सन्निकटमागते सति अशीना कर्तव्यविचारशीलेव प्रतीची आत्तवीचिः समुपलब्धप्रसक्तिः सती वीनां पक्षिणां कलैर्मधुरशब्दैः कृत्वा तस्य सूर्यस्य कृता प्रारब्धातिथ्यकथाऽतिथिसत्कारविषये सम्भवयोग्यकुशलक्षेमादिरूपा वार्ता यया सा, श्रीशोणिमच्छद्ममयं श्रीशोणिमा सन्ध्यासमयलालिमैवेतिच्छद्मना व्याजेन युक्तमिति तन्मयं शाटकं वस्त्रं दधाति। 'शीनोऽजगरमूर्खयोः'। 'अवकाशे सुखे वीचिः' इति विश्वलोचनकोषे ॥६॥

**निभाल्य भानुं दिशि पश्चिमायां धृतानुरागं द्युपतेर्दिशायाः।**
**मित्रामुकं पश्य तमालदास्यमास्यं जनीमत्सरभावभाष्यम् ॥ ७ ॥**

टीका—पश्चिमायां दिशिधृतः सम्बद्धोऽनुरागो लालिमा प्रेमभावश्च येन तं भानुं

---

भावार्थ—सूर्य, अपनी प्रेमिका कमलिनीको छोड़कर पश्चिम दिशा रूपी नायिकाके पास चला गया। इस अनादरसे कमलिनी संकोच को प्राप्त हो गई। उसकी इस दशाको देख पश्चिम दिशाने आश्चर्य प्रकट किया और अपने सौभाग्यकी वृद्धिका गर्व कर अपना अधरोष्ठ फुलाया था। एक स्त्री पतिके आने पर अपने आपको सौभाग्यशालिनी मानती हुई सपत्नीको चिढ़ानेके लिये ऐसी करती है ॥ ५ ॥

अर्थ—सूर्यके आने पर जिसने पक्षियोंको मधुर शब्दोंसे कुशल समाचार पूछ कर अतिथि सत्कार किया था ऐसी विचारशील पश्चिम दिशाने प्रसन्नता को प्राप्तकर लालिमाके छलसे उत्तम साड़ी धारण की।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रवाससे पतिके आने पर बुद्धिमती स्त्री पहले कुशल समाचार पूछकर उसका अतिथि सत्कार करती है पश्चात् प्रसन्न होती हुई सौभाग्य सूचक लालसाड़ी पहिनती है उसी प्रकार पश्चिम दिशा रूपी स्त्रीने सूर्य रूपी वल्लभके आनेपर पहले पक्षियोंकी मधुर बोलीसे उसका अतिथि सत्कार किया पश्चात् लालिमाके छलसे सौभाग्य सूचक लाल साड़ी पहिनी ॥ ६ ॥

अर्थ—सूर्यको पश्चिम दिशामें सानुराग–लाली अथवा प्रेम सहित देख पूर्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सूर्यं निभाल्यावलोक्य कृतं संजातं वा द्युपतेरिन्द्रस्य दिशायाः पूर्वायास्तमालस्य तमाखुपत्रस्य दास्यं दासभावोऽनुकरणं यस्मिस्तत् तादृगतिश्यामलमास्यं मुखं। यच्च किल जनीषु स्त्रीषु जातिस्वभावतयैव यः समुक्तो मत्सरभावः परोत्कर्षासहिष्णुत्वं तस्य भाष्यं स्पष्टीकरणममुकं हे मित्र ! पश्य तावत् ॥७॥

**बन्धौ परिप्राप्तवतीह भङ्गं सद्योऽधिमध्यं विनिवेश्य भृङ्गम् ।**
**निमीलिताम्भोजदृगब्जिनीति जाता समारब्धविलासनीतिः ॥ ८ ॥**

**टीका**—बन्धौ कुटुम्बिनि सूर्ये भङ्गं परिप्राप्तवति सति अस्तंगते, इहास्मिन्नवसरेऽधिमध्यं मध्यमधिकृत्याधिमध्यं कोषकर्णिकायां धृत्वाथवा तु पुनरङ्कमारोप्य भृङ्गं मधुपं विटं[1] सद्यः शीघ्रमेव विनिवेश्य समारोप्य निमीलितं मुद्रितमम्भोजं पद्ममेव दृग्यया सा निमीलिताम्भोजदृक्, अब्जिनी कमलवल्ली समारब्धा विलासिभ्यो विलासिनीनां वा नीतिः प्रवृत्तिः शिक्षा वा यया सा समारब्धविलासिनीतिरस्ति ॥८॥

**आत्मापराधस्य नराः स्मरन्तु विलोक्य कालं विलयाह्वयं तु ।**
**ग्राहोदयत्वात्तिमिलं वदन्तु विजृम्भमाणं गिलितु जगत्तु ॥ ९ ॥**

**टीका**—ग्रहाणामयं ग्राह उदयो यस्मिस्तत्त्वात्, यद्वा ग्राहस्य मकरनामजलजन्तो रुदय उच्चलनं यत्र तत्त्वात् तदेतत्तिमिलमन्धकारमेव तिमिं लातीति तं समुद्रं जगत् तु

---

दिशा का मुख तमालपत्रके समान अत्यन्त श्याम हो गया। हे मित्र ! स्त्रियोंके मात्सर्य भाव का यह स्पष्ट उदाहरण देखो ॥ ७ ॥

**अर्थ**—अपने बन्धु-कुटुम्बी सूर्यका पतन होनेपर कमलिनीने शीघ्र ही भ्रमरको मध्यमें बन्द कर कमल रूपी नेत्र बंद कर लिये। इसतरह वह विलासिनी-स्त्री की ईति-पीड़ाको प्रकट करने लगी। अर्थात् पतिका निधन होने पर स्त्री शोक वश नेत्र भी नहीं खोलती है। अथवा—जिसप्रकार पतिके मरनेपर कोई विलासिनी-भोग प्रधान स्त्री शीघ्र ही अपने बीच किसी भृङ्ग-विटको बसा कर सुखसे नेत्र बन्द कर सोती है उसी प्रकार सूर्य रूप पतिके अस्तंगत-नष्ट हो जानेपर कमलिनीने भी अपने भीतर भ्रमरको बसा कर सुखानुभूतिसे कमलरूपी नेत्र निमीलित कर लिये। इसतरह उसने अपने आचरणसे विलासिनी-कुलटा स्त्री की ईति-प्रवृत्ति को प्रकट किया ॥ ८ ॥

**अर्थ**—ग्राह-ज्योतिष शास्त्रमें प्रसिद्ध ग्रहोंका उदय होनेसे अथवा मगर मच्छादि जलजन्तुओंके उछलनेसे जिसे तिमिल-समुद्र कहते हैं, जो जगत् को

---

१. 'भृङ्गः पुष्पत्वपे खिङ्गे तथा धूम्याटपक्षिणि' इति विश्वः। खिङ्गो विट इत्यर्थः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



किल गिलितुमुदरसात्कर्तुं विजृम्भमाणं निरङ्कुशत्वेन वृद्धिमाप्तवन्तं वदन्तु कथयन्तु ते नरा ये किल वीनां पक्षिणां लयाह्वयं गुप्तिकारकं यद्वा विलयाह्वयं प्रलयनामानं कालं समयं विलोक्य तु पुनरात्मापराधस्य किमस्माभिरपराद्धं किं नवेत्येवमादि स्वेनानुष्ठितस्यापराधस्य दुष्कर्मणः स्मरन्तु ये किल स्मरन्ति सन्ध्यावन्दनायाम् ॥९॥

[1]रवेरथो बिम्बमितोऽस्तगामि, उदेष्यदेतच्छशिनोऽपि नामि ।
समस्ति पाथेषु रुषा निषिक्तं रतोश्वरस्याक्षियुगं हि रक्तम् ॥१०॥
मित्रं हतं पश्यत आस्यमाराच्छितीकृतं श्रीनभसोऽश्रुधारा ।
उदेष्यदृक्षच्छलतो निरेति ततः शुचेयं मम भावनेति ॥११॥

टीका—मित्रं सूर्यमेव सुहृदं हतं नष्टं पश्यतोऽवलोकयतः श्रीनभसः श्रीमतो गगनस्याराच्छीघ्रमेवास्यं मुखं शितीकृतं श्यामलतां नीतमस्ति । ततश्च मित्रहतिदर्शनाद्धेतोः समुत्पन्नया शुचा पश्चात्तापेन कृत्वोदेष्यतामुद्गच्छतामृक्षाणां नक्षत्राणां छलतो मिषात् इयं दृश्यमानाश्रुधारा नयनजलपरंपरा निरेति निर्गच्छतीति मम कविहृदयस्य भावना वर्तते ॥११॥

---

निगलनेके लिये निरङ्कुश रूपसे वृद्धिको प्राप्त हो रहा है तथा जो पक्षियोंके लिये लय-सुरक्षाकारक अथवा प्रलयकारक होनेसे विलय नामको प्राप्त है ऐसे समय-सूर्यास्त कालको देख कर उत्तम मनुष्य अपने अपराधोंका स्मरण करते हैं अर्थात् सन्ध्यावन्दना-सामायिकमें बैठकर अपने अपराधोंका स्मरण कर उनकी आलोचना करते हैं ॥ ९ ॥

अर्थ—इधर सूर्यका बिम्ब अस्त हो रहा है और उधर चन्द्रमा का प्रसिद्ध बिम्ब उदय को प्राप्त होगा । क्रोधवश कामदेवके लाल-लाल नेत्रयुगल पथिकोंके ऊपर पड़ रहे हैं ॥ १० ॥

अर्थ—मित्र-सूर्य (पक्ष में सुहृद्) को नष्ट हुआ देख शोभासम्पन्न आकाश

---

१. ग्रन्थकर्त्रा श्लोकस्यैतस्य संस्कृतटीका न कृता ।
इसके आगे मूल प्रतिमें निम्नश्लोक अधिक है—
दिनावसाने तरणेर्विनाशो न दृश्यते क्वाप्युडुपस्तथा सः ।
नदीपरूपे तिमिरे ब्रुडन्ति चक्षूंषि नृणां विकलानि सन्ति ॥
इस श्लोक की सं० टीका नहीं है हिन्दी अर्थ अगले पृष्ठ पर देखें ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



हंसं हठात्सायमयेन भुक्तं समुज्झितोपान्ततयोपरक्तम् ।
निभाल्य नीडान्यधुना श्रयन्ति द्विजातयस्तं च पुनः शपन्ति ॥१२॥

टीका—सायमयेन सन्ध्याकालरूपेण केनापि मांसाशिना हठाद् बलात्कारेण कृत्वा समुज्झितोपान्ततया परित्यक्तोपरिमभागतयोपरक्तं उपरिस्थत्वगंशपरिहारेणेति कृत्वाभिव्यक्तलोहितत्वं किल हंसं सूर्यमेव मानसौकसं भुक्तं भक्षितं निभाल्य दृष्ट्वाधुना साम्प्रतमस्माकमप्येवावस्था स्यादिति संत्रस्ताः सन्तः सर्वेऽपि द्विजातयः पक्षिणो नीडानि कुलायस्थानानि श्रयन्ति तं च पुनर्भोक्तारं कलकलेन कृत्वा दुष्टं वदन्तीति ॥१२॥

उच्चैस्तनाकाशगिरीशसानोः श्रीगैरिकस्योच्चय एव भानोः ।
मिषाच्च्युतोऽतः समुदेति पांशुः सायाख्ययायं सुतरां ततांशुः ॥१३॥

टीका—उच्चैस्तन उच्चतरो य आकाशस्यैव गिरीशस्य पर्वतराजस्य सानुः शृङ्गभागस्तस्मात् गगनरूपपर्वतोपरिमस्थलात् भानोः सूर्यस्य मिषात् श्रीगैरिकस्योच्चयो रक्तरेणुस्कन्धश्च्युतो भाति, अतएव कारणात्सुतरां स्वयमेव तता विस्तृता अंशवो यस्य स ततांशुः पांशुः सूक्ष्मधूलिलेशोऽयं सायाख्यया सन्ध्यारुणिमनाम्ना समुदेति किल ॥१३॥

पीत्वा दिवा श्रीमधुनस्तु पात्रं पूषा पुनर्लोहितमेत्य गात्रम् ।
क्षीवत्वमापन्न इवायमद्य समीहतेऽहो पतितुं विपद्य ॥१४॥

---

का मुख श्याम हो गया और इसी शोकसे उदित होनेवाले नक्षत्रोंके छलसे उसकी अश्रुधारा निकल रही है, ऐसी मेरी भावना है—कल्पना है ॥११॥

अर्थ—सन्ध्या समय पक्षी कलकल शब्द करते हुए घोंसलों में चले जाते हैं। क्यों ? इसका उत्तर कवि इस प्रकार दे रहा है—

पक्षियोंने समझा कि हंस[1]—मराल ( पक्षमें सूर्य )को सायंकाल रूपी किसी मांसभोजीने जबर्दस्ती खा लिया है। खाते समय उसके ऊपरका खूनसे लथपथ लाल चमड़ा छोड़ा है। कहीं हमारी भी ऐसी अवस्था न हो जावे, इस आशङ्कासे भयभीत हो पक्षी सुरक्षाकी दृष्टि से घोंसलोंका आश्रय ले रहे हैं और कलकल शब्दके रूपमें उस खाने वालेको दुष्ट कह रहे हैं ॥१२॥

अर्थ—ऐसा जान पड़ता है कि अत्यन्त ऊँचे आकाश रूपी पर्वतराजकी शिखरसे सूर्यके बहाने यह गेरूका समूह गिरा है उसीको यह विस्तृत किरणों वाली धूलि सन्ध्या नामसे ऊपरकी ओर उड़ रही है ॥१३॥

---

१. हंसः सूर्यमरालयोः इति विश्वः हंसः पक्ष्यात्मसूर्येषु' इत्यमरः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**टीका**—पूषा नाम सूर्यो दिवा प्रातरारभ्य सायपर्यन्तं यावद्दिनं श्रीमधुनः पात्रं कमलाख्यं मदकारकं पीत्वास्वाद्य पुनरनन्तरमधुना लोहितं गात्रमेत्य मदानुभावेन शरीरेऽरुणिमानमासाद्य क्षीवत्वमुन्मत्तभावमापन्न इव किलायमद्याधुना विपद्य पदहीनो निष्किरणो भूत्वा पतितुं समीहते निपातमिच्छति। अहो पानशौण्डतायाः परिणामस्याश्चर्यकारि प्रभावद्योतनार्थम् ॥१४॥

**स्थितिः सतां सम्वरितामुकेन समङ्किता श्रीर्जडजेषु येन।**
**रविः कुतो नावपतेदिदानीमुत्तापकोऽसौ जगतोऽभिमानी ॥१५॥**

**टीका**—योऽसौ जगतो विश्वस्याप्युत्तापकः सन्तापकरो भवति घर्मदायको वा। यतो जडजेषु मूर्खेषु तेषु कमलेषु च श्रीः लक्ष्मीः शोभा च समङ्किताऽऽरोपिता, सतां साधुपुरुषाणां भानां वा स्थितिरवस्थानममुकेन सम्वरिता विनाशिता स एषोऽभिमानी मानस्य पराकाष्ठा मितः स इदानीं कुतो नावपतेत्? लोकेऽभिमानस्य पराकाष्ठामितानां पतनस्यावश्यंभावात्। सन्निराकरणेनासतामादरणं त्वभिमानिव एव कार्यम् ॥१५॥

---

**अर्थ**—सूर्य दिन भर कमल रूप मद्य पात्रको पीकर लाल शरीरको प्राप्त हो गया—मदिरापानके नशासे उसका शरीर लाल हो गया। अब वह इस समय विपन्न—पद रहित स्थानभ्रष्ट अथवा निष्किरण हो नीचे गिरना चाहता है। आश्चर्य है कि मदिरा पानका ऐसा कुप्रभाव होता है ॥१४॥

**अर्थ**—इस सूर्यने सत्—साधु पुरुषों ( पक्षमें नक्षत्रों ) की स्थितिको नष्ट किया है और जडज—मूर्खों ( पक्षमें कमलोंमें) श्री—लक्ष्मी ( पक्षमें शोभा ) को स्थापित किया है। साथ जो जगत्को उत्ताप—तपन ( पक्षमें गर्मी ) को देने वाला है तथा अभिमानी है—घमण्डी है ( पक्षमें श्रद्धालु जनोंके अभिमान—समादरसे सहित है ) ऐसे सूर्यका इस समय पतन क्यों न हो ?

**भावार्थ**—जो सज्जनोंकी स्थितिको नष्ट कर दुर्जनोंको प्रोत्साहन देता है, जो ज्ञानीजनोंको दरिद्र बनाकर मूर्खोंको लक्ष्मीका निवास बनाता है, जो एक दो-को नहीं समस्त संसारको संताप पहुँचाता है और स्वयं अपनी उच्चताका अभिमान—अहंकार करता है उसका पतन अवश्य होता है।

सूर्योदय होनेपर सत्[1]—नक्षत्र विलीन हो जाते हैं, कमल विकसित होनेसे श्रीसम्पन्न सुशोभित होने लगते हैं, समस्त जगत्को ऊर्जा—आवश्यक गर्मी प्राप्त होती है तथा श्रद्धालु जनोंके द्वारा उसे अभिमान (संमुख-आदर) प्राप्त होता है। सूर्यकी इस स्वाभाविक स्थितिको यहाँ श्लेष द्वारा रूपान्तरित कर

---

१. श्रीर्लक्ष्मीभारतीशोभाप्रभासु सरलद्रुमे इति विश्व०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**धराभितप्तेति विदां निधाय समेति तस्या अभिषेचनाय ।**
**समात्तसप्ताश्वकशातकुम्भकुम्भान्तिमाम्भोधिमियं दिनश्रीः ॥१६॥**

**टीका**—इयं दिनश्रीर्नाम वनिताहो एषा जगन्माता धरा पृथ्वीदानीमभितप्ता किल सन्तापसमन्वितास्तीति विदां बुद्धिं निधाय धृत्वैव तस्या अभिषेचनाय सन्तापापहरणार्थं स्नपयितुं समात्तः संगृहीतः सप्ताश्वकः सूर्य एव शातकुम्भस्य कुम्भः स्वर्णघटितकलशो यया सा, अन्तिमाम्भोधिं पश्चिमदिवसमुद्रं समेति गच्छति । यतोऽतोऽप्रतोऽसौ धरा सन्ताप-रहिता भवेदिति ॥१६॥

**गर्मुल्कगोलं तु हिमादभीषुं पुनर्जगद्भूषणतां निनीषुः ।**
**तापान्वितं सीमनि सिन्धुवारः प्रक्षिप्तवांस्तं विधिहेमकारः ॥१७॥**

**टीका**—विधिः समय एव हेमकारः पश्यतोहरः स पुनरपि जगतो भूषणतां समस्त-स्यापि भूलोकस्यालंकरणतां नेतुमिच्छुर्निनीषुः सन् एनं हिमादभीषुं हिमं प्रालेयमदन्तीति-हिमादः शीतापहारका अभीषवः किरणा यस्य तं सूर्यमेव गर्मुकस्य गोलं सुवर्णपिण्डं तापान्वितं तापेन घर्मेणान्वितं यद्वा वह्नि संतप्तं च कृत्वा सिन्धुवारश्चरम समुद्रजलस्य सीमनि मध्ये प्रक्षिप्तवान् पातितवान् ॥१७॥

---

पतनका कारण प्रतिपादित किया गया है ॥१५॥

**अर्थ**—'पृथिवी संतप्त है' ऐसी बुद्धि धारण कर उसका अभिषेक करनेके लिये दिनश्री नामक कोई स्त्री सूर्यरूपी स्वर्ण कलशको लेकर पश्चिम समुद्रको गई है ।

**भावार्थ**—सन्ध्या समय लालवर्ण वाला सूर्य पश्चिम समुद्रके समीप पहुँचा है इस सन्दर्भमें कविने उत्प्रेक्षा की है कि जगन्माता पृथ्वीको संतप्त देख उसे नह-लानेके लिये ही मानों दिनश्री नामक कोई स्त्री सूर्यरूपी स्वर्णकलशको लेकर पानी लानेके लिये पश्चिम समुद्र के पास गयी है ॥१६॥

**अर्थ**—ऐसा जान पड़ता है मानों समयरूपी स्वर्णकार, फिर भी समस्त संसारकी आभूषणताको प्राप्त करनेकी इच्छा करता हुआ सुवर्ण पिण्डको तापसे युक्तकर अथवा अग्निमें तपाकर पश्चिम समुद्र सम्वन्धी जलके बीच डाल रहा है ।

**भावार्थ**—कोई स्वर्णकार नया आभूषण बनानेके लिये सुवर्णपिण्डको अग्निमें तपाकर पानीमें डाल देता है उसी प्रकार समयरूपी स्वर्णकार सूर्यरूपी सुवर्णपिण्डको तपाकर मानों पश्चिम समुद्रके जलमें डाल रहा है ॥१७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**प्राचीनतातोऽप्यनुरागवन्तं प्रतिश्रणत्येव नवा दृगन्तम् ।**
**निष्काशयत्याशु नभोनिकायात्सहस्ररश्मि चरमा दिशा या ॥१८॥**

टीका—या चरमा दिशा पश्चिमदिशा सैव चापि रमा स्त्री, कीदृशी सा नवा तत्कालभिनयवती नववयस्का, अनुरागवन्तं लालिमान्वितं प्रीतिधारिण वा सहस्ररश्मि सूर्यं प्रति, प्राच्याः पूर्वदिशाया इनतातः स्वामित्वेनाथवा प्राचीनतातः पुराणभावेन वृद्धत्वेन हेतुना कृत्वा दृगन्तं प्रेमपूर्वकावलोकनं श्रणति ददाति अपि किं, नैव ददाति । यद्वा दृगन्तं नाम क्षणमात्रावस्थानं न ददाति किन्तु नभोनिकायात् स्वस्मान्नभःस्वरूपादालयात् आशु शीघ्रमेवानादरेण निष्काशयति नवाया वृद्धेऽनुरागाभावात् ॥१८॥

**निमीलतीहातिशयेन दिक्षु गलद्द्विरेफाश्रुपयोजचक्षुः ।**
**राजीविनीयं भवतो वियोगाच्छोकाकुलेवाभिरवीति योगात् ॥१९॥**

टीका—रविभमिव्याप्य वर्ततेऽभिरवि योऽसावीतेर्बाधायायोगः समागमस्तस्मात् भवतः संजायमानाद् वियोगात् शोकाकुला संतापपरिपूर्णा राजीविनी कमलवल्ली दिक्षु

---

अर्थ—यह जो पश्चिम दिशारूपी नवीन वय वाली स्त्री है वह अनुरागवान्—लालिमासे सहित (पक्षमें प्रेम सहित) भी सूर्यको, पूर्व दिशाका स्वामित्व होने (पक्षमें वृद्धत्व) के कारण प्रेमपूर्वक अवलोकन क्या देती है ? उसकी ओर नेत्र खोलकर देखती भी है क्या ? अर्थात् नहीं देखती। उसे वह अपने आकाशरूपी घरसे निकाल रही है।

भावार्थ—सूर्यको अस्त होता देख कवि कल्पना करता है कि पश्चिम दिशारूपी नववयस्का स्त्री वृद्धत्वके कारण उसे पसन्द नहीं करती है, उसकी ओर प्रेमसे देखती भी नहीं है, उसे क्षणभरके लिये भी अपने पास नहीं रहने देना चाहती है किन्तु अपने आकाशरूपी घरसे निकाल देना चाहती है जबकि सूर्य अनुराग—पश्चिम दिशारूपी स्त्रीके प्रति अनुराग—प्रेम रखता है। बाहर निकालनेका एक कारण यह भी है कि पश्चिम दिशारूपी स्त्रीको विदित हो गया कि इसके ऊपर तो प्राचीनता—पूर्वदिशाका स्वामित्व है—यह उसके अधीन है अतः इसपर हमारा स्वामित्व स्थापित नहीं हो सकता। भाव यह है कि जिस प्रकार नववयस्का स्त्री वृद्धपतिको पसन्द नहीं करती, इसी प्रकार अन्य स्त्रीमें आसक्त पतिको भी पसन्द नहीं करती ॥१८॥

अर्थ—जिसके कमलरूपी नेत्रोंसे निकलने वाले भ्रमररूपी आँसू दिशाओंमें व्याप्त हो रहे हैं ऐसी यह कमलिनी सूर्यके ऊपर आयी बाधासे होनेवाले वियोग

---

१. इनस्य भाव इनता, प्राच्या इनता प्राचीनता तस्मात्, पूर्वदिक्स्वामित्वात् पक्षे प्राचीनरूपभावः प्राचीनता तस्याः वृद्धत्वात् ।



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



दिशासु समन्ततोऽतिशयेनानल्पभावेन गलन्तो निर्गच्छनो द्विरेफा भ्रमरा एवाश्रवो वाष्प-लेशा यस्मात्तत् पयोजरूपचक्षुर्निमीलति मुद्रयति। इहास्मिन् प्रसङ्गे। इवानुप्रेक्षायाम्।

पतत्यहो वारिनिधौ पतङ्गः पद्मोदरे सम्प्रति मत्तभृङ्गः।
आक्रीडकद्रोर्निलये विहङ्गः शनैश्च रम्भोरुजनेष्वनङ्गः ॥२०॥

टीका—आक्रीडनकद्रोरुद्यानवृक्षस्य। अन्यत्सर्वं स्पष्टं भाति ॥२०॥

न दृश्यते क्वाप्युडुपस्तथा स प्रदोषभावात्तरणेर्विनाशः।
नदीपरूपे तिमिरे ब्रुडन्ति चक्षूंषि नृणां विकलानि सन्ति ॥२१॥

टीका—स उडुपश्चन्द्रमाः क्वापि कुत्रचिदपि न दृश्यतेऽनुदयात्। तरणेश्च सूर्यस्य प्रदीपभावात् सायंकालत्वाद् विनाशस्तिरोभाव एवं कृत्वा नृणां चक्षूंषि यानि विकलानि प्रशक्तानि सन्ति तानि नदीपरूपे दीपाभावरूपे यद्वा दीव्यता विपरीते श्यामरूपे तिमिरे बुडन्ति निमज्जन्ति। लोके यथा झंझावातादिना दोषसद्भावात्तरणिर्नामनौर्नश्यति, उडुपो नामडुलिश्च नोपलभ्यते तदा विकलनि (रलयोरभेदात्) करवर्जितानि यानि भवन्ति तानि तिमियुक्ते नदीपस्य समुद्रस्य रूपेऽवगाहे ब्रुडन्त्येव तावत् ॥२१॥

---

से शोकाकुल हो अपने तथाभूत कमलरूप नेत्रोंको अत्यन्त निमीलित कर रही है। भाव यह है कि जिस प्रकार पतिपर आयी विपत्तिसे शोकाकुल हो स्त्री आँसू बहाती हुई नेत्र बंद कर लेती है उसी प्रकार कमलिनी ने भी नेत्र बन्द कर लिये और निकलते हुए भ्रमरोंके व्याजसे वह आँसू बहाने लगी ॥१९॥

**अर्थ**—आश्चर्य है इस समय कि सूर्य समुद्र में गिर रहा है, मत्तभ्रमर कमल के भीतर पड़ रहा है, पक्षी उद्यान वृक्ष पर बने घोंसले में जा रहा है और काम धीरे-धीरे स्त्रियों में प्रवेश कर रहा है ॥२०॥

**अर्थ**—वह उडुप—नक्षत्रपति—चन्द्रमा कहीं दिखायी नहीं देता और प्रदोष—रात्रिका प्रारम्भ होनेसे तरणि—सूर्यका भी तिरोभाव हो गया है, इस तरह मनुष्योंको नेत्र विकल—बेचैन (पक्षमें कर रहित) होते हुए दीपक-रहित तिमिर—अन्धकारमें डूब रहे हैं।

यहाँ भाव यह है कि जिस प्रकार प्रदोष—-झंझा वायु आदि प्रकृष्ट दोष से जब तरणि—जहाज नष्ट हो जाता है और आपात कालके लिये सुरक्षित कोई उडुप-छोटी नौका भी दिखाई नहीं देती तब जहाज पर सवार विकल—विकर—हाथ रहित मनुष्य जिस प्रकार दुःखी होते हुए तिमिर—तिमिर मगर-मच्छोंसे भरे नदीपरूप-नदीपति-समुद्रके मध्यमें नियमसे डूबते हैं उसी प्रकार रात्रिके प्रारम्भमें चन्द्रमाका उदय न होने, सूर्यका तिरोभाव होने और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



उपद्रुतोऽशुस्तिमिरैः[1] सरद्भिर्भयेऽप्यसंमूढमतिर्महद्भिः ।
विखण्डय देहं प्रतिगेहमेष विराजते सम्प्रति दीपवेषः ॥२२॥

टीका—सरद्भिः प्रसारमङ्गीकुर्वद्भिर्महद्भिर्बहुपरिमाणवद्भिस्तिमिरैरुपद्रुत उपद्रवं गतः सन् भयेऽपि संकटसमयेऽपि न मुह्यते मतिर्यस्य सोऽसंमूढमतिरंशुर्विवस्वान् देहं विखण्डय स्वशरीरं विभिन्नीकृत्य प्रकारान्तरं नीत्वा सम्प्रति गेहं गेहं प्रतीति प्रतिगेहमेषः स्पष्टदृष्टो दीपवेषः प्रदीपरूपधारको भवन् विराजते । यत्किल सन्ध्यायां दीपततिरुद्घाटिता भवति भास्वरत्वात्सा सूर्यखण्डप्रतिकृतिरूपेति तात्पर्यार्थः ॥२२॥

रवेः सवेगं पतनात्समुद्रे समुत्पतन्त्यध्वनि किन्नु शद्रैः ।
तदङ्कजानां पयसां पृषन्ति नक्षत्रनाम्ना सुतरां लसन्ति ॥२३॥

टीका—रवेः सूर्यस्य सवेगं वेगपूर्वकं समुद्रेऽपरवारिनिधिमध्ये पतनात् तदङ्कजानां समुद्रमध्यसंभूतानां पयसां पृषन्ति लेशाः शद्रैर्मेघस्याध्वनि मार्गे गगने समुत्पतन्ति सम्यक् प्रकारेण यानि उच्चन्ति तान्येव नक्षत्रनाम्ना कृत्वा लसन्ति शोभन्ते किन्नु इति प्रश्ने ॥३२॥

पातुं किलात्रारुणमस्रमेष व्यक्तोडुदन्तावलिरम्बरे सः ।
हाहान्धकारोऽपि निशाचरोऽपि विलोक्यते धैर्यधनोपलोपी ॥२४॥

टीका—अत्रावसरेऽरुणं[2] सन्ध्यारक्तिमानमेवास्रं[3] शोणितं पातुमास्वादयितुं किल,

---

दीपकों का अभाव होनेसे मनुष्योंके नेत्र असहाय हो अन्धकारमें डूबने लगे ॥२१॥

**अर्थ**—घर-घरमें दीपक जल उठे उससे ऐसा जान पड़ता था कि सब ओर फैलने वाले महान् अन्धकारके द्वारा उपद्रवग्रस्त होनेपर भी संकटके समय जिसकी मति—विचार शक्ति मूढ नहीं होती ऐसा अंशु—सूर्य ही अपने शरीरको खण्ड-खण्ड कर दीपकोंका वेष रख घर-घरमें सुशोभित हो रहा हो ।

**भावार्थ**—घर-घरमें जलने वाले दीपक मानों सूर्यके ही प्रतिनिधि थे ॥२२॥

**अर्थ**—पश्चिम समुद्रमें वेगपूर्वक सूर्यके पड़नेसे समुद्रके मध्यमें उत्पन्न जलके जो छींटे आकाशमें उछटे थे वे ही क्या नक्षत्र नामसे सुशोभित नहीं हो रहे हैं ? ॥ २३ ॥

**अर्थ**—हाय हाय, जिसने नक्षत्र रूपी दन्तावलीको प्रकट किया है तथा जो

---

१. 'अंशुस्त्विषि रवौ लेशे' इति विश्व० ।
२. 'अरुणोऽनूरुसूर्ययोः । कुष्ठे चाव्यक्त रागे च सन्ध्यारागे च पुंस्यम्' । इति विश्व० ।
३. 'अस्रं तु शोणिते लोभे' इति विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



एष सम्मुखे वर्तमानः व्यक्ता स्फुटीकृता चासाद्डुनामैव दन्तावलिर्येन स प्रसिद्धप्रायोऽन्धकारो नाम निशायां चरतीति निशाचरः पिशाच इव धैर्यधनस्योपलोपं करोतीति स विश्वमात्रस्य भयकारक इत्यर्थः, विलोक्यते स्पष्टमेव दृश्यते, अन्धं करोतीति अन्धकारो यं दृष्ट्वा किं कर्तव्यतामूढतयाऽखिलोऽपि जनोऽन्ध इव भवतीति यावत् ॥२४॥

**सन्ध्यामिषेणापरशैलसानुं[1] प्रज्वाल्य यन्नश्यति चित्रभानुः[2] ।**
**तमांसि धूमाः प्रसरन्ति नो चेद्द्यामश्रुसङ्घो भमिषात्कुतश्चेत् ॥२५॥**

टीका—चित्रभानुर्नाम सूर्य एव वह्निः सन्तापकारकत्वात् स सन्ध्यामिषेण सायंकालकृतारुणिमच्छलेन कृत्वाऽपरशैलस्यास्ताचलस्य सानुं वनं प्रज्वाल्य भस्मसात्कृत्वा यद् यस्मात्कारणान्नश्यति वनं दग्ध्वा स्वयमपि शाम्यति ततोऽमी धूमा एव प्रसरन्ति आकाशे व्याप्नुवन्ति तमांसीतिनामतः ख्यातप्रायाः । नो चेदन्यथा पुनर्भमिषो नक्षत्रच्छलधारकोऽश्रुसङ्घो वाष्पजलसमूहश्च कुतः कारणात् द्यामाकाशं न चेत् पूरयेत् यः पूरयति तावत् ॥२५॥

**नक्षत्रकाचांशतताग्र एष शालो विशालोऽस्तु तमोनिवेशः ।**
**आज्ञामतिक्रम्य रतीश्वरस्य निर्गच्छतां यः प्रतिषेधदृश्यः ॥२६॥**

टीका—एष तमोनिवेशोऽन्धकाररूपधारकः नक्षत्राण्येव काचांशा दर्पणखण्डास्तैस्ततं व्याप्तमग्रं पुरःप्रदेशो यस्य स एष विशालो बहुविस्तारवान् शाल एव अस्तु भवतु । यः किल रतीश्वरस्य कामदेवस्याज्ञामतिक्रम्योल्लङ्घ्य निर्गच्छतां नृणां प्रतिषेधाय निवारणाय दृश्यो दर्शनयोग्यो भवति । लोकेऽपराधकारिजनरोधनार्थं कारागारस्याग्रे प्राकारं दत्त्वा तस्योपरिमभागे काचांशा आरोप्यन्ते यतः सोऽनुल्लङ्घनीयः स्यात्तथात्रापीति ॥२६॥

---

धैर्य रूपी धनको लुप्त करने वाला है ऐसा यह अन्धकार रूपी निशाचर—राक्षस सन्ध्याकी लालिमा रूपी रुधिर पीनेके लिये आकाशमें दिखाई दे रहा है ॥२४॥

अर्थ—चित्रभानु—सूर्यरूपी अग्नि अस्ताचलके वनको जला कर स्वयं शान्त हो गयी—बुझ गयी है। यदि ऐसा नहीं होता तो अन्धकार रूपी धुआं क्यों फैलता और नक्षत्रोंके छलसे आंसुओंका समूह आकाशको क्यों व्याप्त करता ? ॥ २५ ॥

अर्थ—यह अन्धकारका समूह ऐसा एक विशाल कोट है जिसके अग्रभाग पर कांचके टुकड़े खचित किये गये हैं और ऐसा कोट जो कि कामदेवकी आज्ञाका

---

१. 'सानुः शृङ्गे बुधेऽरण्ये' इति विश्व० ।
२. 'चित्रभानुरिनेऽनले' इति विश्व० । इन सूर्य इत्यर्थः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**नष्टेऽपि पत्यौ तरणौ द्युरामा सुधांशु माराद‌भिसर्तुकामा ।**
**समुत्तरीतुं परिवादघाटीं तमोमयीं वा विदधाति शाटीम् ॥२७॥**

टीका—द्युरामाऽऽकाशरूपिणी स्त्री तरणौ सूर्ये नाम पत्यौ स्वामिनि नष्टे सति प्रलयमिते सति, अपि पुनरारादेव शीघ्रमेव सुधांशु चन्द्रमभिसर्तुकामा चन्द्रमसं स्वीकर्तुमिच्छावती भवती तमोमयीमन्धकाररूपिणीं श्यामवर्णां शाटीमावरणवस्त्रं परिवादो नाम लोकापवादो धवं विहायान्यमिच्छतीति परिवादस्तस्य घाटीं घटयित्रीं समुत्तरीतुं पारं गन्तुं विदधाति परिदधाति किल ॥२७॥

**प्रदोषसिंहक्रमणान्वयानां नेदं तमः क्षुब्धदिशागजानाम् ।**
**विनिर्गलद्‌गण्डजलप्रसारस्तारातिचारो कुवलोपहारः ॥२८॥**

टीका—प्रदोषो रजनीमुखं स एव सिंहस्तेन कृते आक्रमणेऽन्वयः क्षुब्धरूपतया प्रत्ययो येषां तेषां क्षुब्धानां दिशागजानां विनिर्गलतो गण्डजलस्य प्रसारः पूर एव नत्विदं तमः । तथा तारातिचारात् नक्षत्रापदेशात्कुवलानां मौक्तिकानामुपहारः परितोषकरणरूपो विद्यते ॥२८॥

---

उल्लंघनकर निकलने वाले मनुष्योंके लिये प्रतिषेधक-निषेध करनेवालेके समान दिखायी देता है ॥२६॥

**अर्थ**—द्यौः—आकाश रूपी स्त्रीने सूर्यरूपी पतिके नष्ट हो जानेपर शीघ्र ही चन्द्रमा रूपी अन्य पतिको स्वीकृत करनेकी इच्छासे लोकापवाद रूपी घाटी—विषम भूमिको पार करनेके लिये अन्धकार रूप काली साड़ी धारण कर ली अर्थात् काले रङ्गका बुर्का ओढ़ लिया ।

**भावार्थ**—जिस प्रकार कृष्णाभिसारिका स्त्री 'मैं पहिचान में न आऊँ' इस भावनासे काला बुर्का ओढ़कर अन्य पतिके पास जाती है उसी प्रकार द्यौः—आकाशरूपी स्त्रीने भी लोकापवादसे बचनेके लिये अन्धकार रूप काला बुर्का ओढ़ रक्खा था ॥२७॥

**अर्थ**—यह अन्धकार नहीं है किन्तु प्रदोष (रात्रिका प्रारम्भ) रूपी सिंह के आक्रमणमें विश्वास रखने वाले क्षुभित दिग्गजोंके झरते हुए मद जलका प्रवाह है और नक्षत्रोंके बहाने मोतियोंका उपहार है ।

**भावार्थ**—यहाँ अपह्नुति अलंकारके माध्यमसे कवि कह रहा है कि यह अन्धकार नहीं है किन्तु प्रदोष रूपी सिंहने दिग्गजोंपर आक्रमण किया है उस आक्रमणसे क्षोभको प्राप्त दिग्गजोंका झरता हुआ काला-काला मद जल है, और

---

१. 'कुवलं तत्पले मुक्ताफलेऽपि बदरीफले' इति विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**स्वर्गीयगङ्गागतकोकिकानामितोऽकिकानां विरहात्तकानाम् ।**
**तारा न वारां तु पृषन्ति सन्ति चक्षुर्भुजां दिक्षु पुनः पतन्ति ॥२९॥**

टीका—एतास्तारा न सन्ति किन्तु इतः सन्ध्यासमयात् कारणात् विरहात्पतितो वियोगात्किलाकं दुःखं यासामित्यकिकास्तासामकिकानां तासामेव तकानां स्वार्थे कविधानात् स्वर्गीयगङ्गागतकोकिकानामाकाशगङ्गास्थितचक्रवाकवधूनां चक्षुर्भुवां वारामश्रुजलानां पृषन्ति विन्दव एव दिक्षु समन्ततः पतन्ति निपतनशीलानि मुहुर्मुहुर्निगमनस्वभावानि तानि एतानि सन्ति ॥२९॥

**चण्डांशुचाण्डालसमाश्रयत्वाद्दुष्टं विहायःसदनं तु मत्वा ।**
**स्फुरत्तमामन्दतमश्चयेन निशावधूर्लिम्पति गोमयेन ॥३०॥**

टीका—चण्डांशुः सूर्य एव चाण्डालः संतापकारकत्वात्तस्य समाश्रयत्वादधिष्ठानकरणाद्धेतोरेतद् विहाय आकाशमेव सदनं गृहं तु पुनर्दुष्टं मत्वा निशानामवधूः स्फुरत्तमेनात्युत्कर्षतया जायमानेनामन्देनानल्पेन तेन तमसश्चयेनान्धकारसमुदायेनैव गोमयेन गोसकृता लिम्पति तावत् ॥३०॥

**दुर्वारमुत्सर्पति तावदस्मिन्दिवार्मणि किन्नु सहस्ररश्मिम् ।**
**तमःसमुद्रे द्रुतमम्बु पातुं स्मरन्त्यमी शुद्धहृदोऽधुना तु ॥३१॥**

टीका—दुर्वारं निरर्गलं यथा स्यात्तथोत्सर्पति तावदस्मिन् दृग्गोचरे तमःसमुद्रे द्रुतं नाम लुप्तं सहस्ररश्मिं दिवार्मणि सहस्रकिरणधारिणं सूर्यं नाम रत्नमभ्युपातुं किलाधुनामी शुद्धहृदः सन्ध्यावन्दनकारिणः स्मरन्ति ॥३१॥

---

ये जो तारे चमक रहे हैं वे दिग्गजोंके द्वारा दिया हुआ मोतियोंका उपहार है ॥२८॥

**अर्थ**—ये तारे नहीं हैं किन्तु सन्ध्या समयके विरहसे दुःखी आकाश गङ्गाकी चकवियोंके नेत्रोंसे उत्पन्न होनेवाले अश्रुजलकी बूंदें हैं। दिशाओंमें बार-बार पड़ रही है। यह अपह्नुति अलंकार है ॥२९॥

**अर्थ**—सूर्यरूपी चाण्डालके अधिष्ठान—स्थित होनेसे आकाशरूपी घरको अशुद्ध-अपवित्र मानकर निशा रूपी स्त्री उसे अतिशय रूपसे प्रकट होनेवाले घोर अन्धकार समूह रूपी गोबरके द्वारा लीप रही है ॥३०॥

**अर्थ**—यह जो सन्ध्या वंदन करनेवाले शुद्ध हृदयसे युक्त-भक्तजन स्मरण—ध्यान कर रहे हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों अबाध रूपसे आगे बढ़ते हुए इस अन्धकार रूप समुद्रमें शीघ्र ही लुप्त हुए हजार किरणोंके धारक सूर्यरूपी रत्नको प्राप्त करनेके लिये उपाय ही सोच रहे हैं ॥३१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



गतस्तटाक्रान्तरमाशु हंसस्त्यक्त्वामुकं पुष्करनामकं सः ।
तमोमिषाच्छैवलजालवंशः स्फुरत्यतोऽस्मिन्नस्तदंशः ॥३२॥

टीका—हंसो नाम सूर्य एव मरालोऽमुकं पुष्करनामकमाकाशमेव जलाशयं त्यक्त्वाऽऽशु शीघ्रमेवाधुना तटाकान्तरं गतः कश्चिदन्यजलाशयं प्राप्तोऽस्त्यत एवास्मिन् पुष्करेऽस्तो दंशो भक्षणकरणपरिणामो यस्य स शैवलजालानां वंशः समूह एवायं तमोमिषादन्धकारच्छलेन स्फुरति उत्तरोत्तरमाधिक्येन लसति ॥३२॥

तमःसमारम्भपरम्पराभित्सूचीरुचः पीनपयोधराभिः ।
दीपान्प्रबुद्धान् प्रतिधाम कामशरानिव स्वर्णधरान्वदामः ॥३३॥

टीका—पीनौ पुष्टौ पयोधरौ यासां ताभिः स्त्रीभिः प्रबुद्धान् समुद्भावितान् तमसः समारम्भस्य परम्परां प्रततिं भिनत्तीति तमःसमारम्भपरम्पराभित् चासौ सूची तीक्ष्णाग्रा तस्या रुगिव रुग्येषां तान् दीपान् धामधामप्रतीति प्रतिधामसम्भवान् स्वर्णधरान्कनकनिर्मितान् कामशरानेव वदामः । निशि दीपोद्योतं दृष्ट्वैव कामिनां कामसंचारसंभवात् ।३३

अभात्तमां पीततमा हि दीपैर्विकस्वरैर्भर्मकितासमीपैः ।
सौभाग्यदात्री विधृतैर्हरिद्रानामाङ्कराङ्का भुवि शर्वरी द्राक् ॥३४॥

टीका—शर्वरीयं रात्रिः दीपैः कृत्वा हीति निश्चयेन पीततमा पीतमुदरसात्कृतं तमो

---

अर्थ—ऐसा जान पड़ता है कि हंस—सूर्यरूपी हंसपक्षी इस पुष्कर—आकाशरूपी पुष्कर-तालाबको छोड़कर शीघ्र ही अन्य तालाबमें चला गया है इसीलिये तो यहाँ अन्धकारके छलसे खण्ड रहित-भक्षण क्रिया से रहित शैवालका समूह उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। तात्पर्य यह है कि जबतक तालाबमें हंस रहता है तबतक वह शैवालका भक्षण करता रहता है और उसके चले जाने पर शैवालका समूह उत्तरोत्तर अधिक मात्रामें बढ़ने लगता है ॥३२॥

अर्थ—स्थूल स्तनोंवाली स्त्रियोंने घर-घरमें जो अन्धकारके समूहको नष्ट करने वाली सूचीके समान दीपक जला रक्खे तो उन्हें हम कामदेवको स्वर्ण निर्मित वाण ही कहते हैं। भाव यह है कि दीपक कामवाणोंके समान जान पड़ते थे ॥३३॥

अर्थ—जो सुवर्णशलाकाओंसे निर्मितकी तरह देदीप्यमान दीपक जगह-

---

१. 'हंसः पक्ष्यात्मसूर्येषु' इत्यमरः ।
२. पुष्करं व्योम्नि पानीये इति विश्व० ।
३. 'ध्वान्तं संतमसं तमम्' इति धनंजयः ।
४. 'दोषेऽपि खण्डने दंशो' इति विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कीदृशैर्दीपैर्दीपैः विकयया सा पीततमाः प्रणष्टान्धकारेति यद्वा पीततमात्यन्तपीतवर्णा भर्मंकिता सन्तीति विकस्वरास्तैरुद्भासमानैः, भर्म सुवर्णं तदेव मर्मकं तद्यत्र भावे भवतीति भर्मंकिता तस्याः समीपैर्यद्वा सा समीपा येषां तैः स्वर्णघटितशलाकासदृशैः, तैर्विधृतैः संस्थापितैः, भुवि पृथिव्या अंकुरा एवाङ्का यस्याः साङ्कुरितरूपा हरिद्रा हरितो नाम दिशा रातीति हरिद्रा तथा च हरिद्रानाम वेशवारवस्तु द्राक् शीघ्रमेव सौभाग्यदात्री अभात्तमां लसति स्मेति नाम ॥३४॥

**प्रदीपयुक्ता मृदुदारभावा समासतस्तद्धितकृत्प्रभावा ।**
**समर्थितं साधुविधानमेति संध्या स्वयं व्याकृतिसत्क्रियेति ॥३५॥**

टीका—इति एवं रीत्या संध्या स्वयं सुतरामेव व्याकृतेर्व्याकरणस्य सत्क्रिया प्रतिभाति यतः प्रदीपयुक्ता प्रदीपैर्दीपकैर्युता संध्या तथा जैनेन्द्रव्याकरणे ह्रस्वदीर्घप्लुतानां क्रमशः प्रदीपसंज्ञा भवन्ति तैर्युक्ता व्याकरणसत्क्रिया । मृदवः सुकोमला दाराणां स्त्रीणां भावाः परिणामाः सुरतोचिता यस्यां सा सन्ध्या, पक्षे मृदां प्रातिपदिकानां सुबन्तानां शब्दानामुदारभावो यस्यां सा । समासतः संक्षेपरूपेण तासां हितं कान्तसंयोगादिरूपं करोतीति प्रभावो यस्याः सा, पक्षे समासतो नामविभक्तिसंहारकर्मणः पश्चात् संज्ञाभ्यः समुक्तप्रत्ययकरणं तद्धितं, धातुभ्यः प्रत्ययकरणं च कृत् तद्धिते च कृत्प्रत्यये च प्रभावो

---

जगह स्थापित किये गये थे उनसे अन्धकारको नष्ट करने वाली यह रात्रि हलदीके अंकुरोसे चिह्नित हो शीघ्र ही सौभाग्य देनेवाली हुई थी।

**भावार्थ**—जिस प्रकार सौभाग्यशालिनी स्त्री हल्दीसे रंगे पीतवस्त्र धारण करती है उसी प्रकार यह रात्रि भी दीपकोंके प्रकाशसे पीतवर्णवाला हो, सौभाग्यशालिनी हो रही थी ॥३४॥

**अर्थ**—इस तरह उस समय वह सन्ध्या स्वयं ही अच्छी तरह व्याकरण सम्बन्धी सत्क्रियाको प्राप्त हो रही थो। क्योंकि जिस प्रकार व्याकरणकी सत्क्रिया **प्रदीपयुक्ता**—ह्रस्व दीर्घ और प्लुत संज्ञाओंसे सहित है उसी प्रकार सन्ध्या भी **प्रदीपयुक्ता**—अनेक दीपकोंसे सहित थी। जिस प्रकार व्याकरणकी सत्क्रिया **मृदुदारभावा**—मृत्—सुबन्त शब्दोंके उदार-श्रेष्ठ सद्भावसे सहित है उसी प्रकार सन्ध्या भी **मृदुदारभावा**—स्त्रियोंके संभोगादि कोमल परिणामोंसे सहित थी। जिस प्रकार व्याकरणकी सत्क्रिया **समासतस्तद्धितकृत्प्रभावा**—समास, तद्धित और कृदन्त प्रकरणोंके प्रभावसे सहित है उसी प्रकार सन्ध्या भी **समासतस्तद्धितकृत्प्रभावा**—संक्षेपसे स्त्रियोंके हितकारी प्रभावसे सहित थी। और जिस प्रकार व्याकरणकी सत्क्रिया धू—भूवा आदि धातुओंके समर्थित सर्वसंमत् विधान-प्रयोगको प्राप्त है उसी प्रकार सन्ध्या भी **साधुविधानं**—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



यस्यास्सा । समर्थितं सर्वं सम्मतं साधूनां विधानं सन्ध्यावन्दनाख्यं, पक्षे सा, धूनाभूवादि धातूनां विधानमेति प्राप्नोति । एवं सन्ध्यासमयस्य व्याकरणत्वम् ।

**अस्तोदयाहार्यगतार्कचन्द्राभिधानकर्णाभरणाप्यतन्द्रा ।**
**समुत्क्षिपन्तीकुसुमानिभानि ह्यायातिसंध्यासुतरामिदानीम् ॥३६॥**

**टीका**—अस्तोदयाख्यावाहार्यौ पर्वतौ तत्रगतौ प्राप्तावर्कचन्द्राभिधानावेव कर्णाभरणे यस्यास्सा तन्द्राहीनानालस्यवतीभानिनक्षत्राणि तान्येव कुसुमानि सुमत् प्रसन्नतया यथा स्यात्तथाक्षिपन्ती सतीदानीमात्मावसरे सुतरामेनायाति किल ॥३६॥

**असौ निशेन्दोः परिरम्भवारादारात्तु ताराश्रमवारिसारा ।**
**ह्रियांशुदीपव्ययिनीत्युदारा तमोमिषात्तत्कृतधूमधारा ॥३७॥**

**टीका**—असौ निशा नाम स्त्री, इन्दोः स्वस्वामिनः परिरम्भवारात् आलिङ्गनसमयात् हेतोस्तु पुनराराात् शीघ्रमेव तारा श्रमवारिणः पतिसंगमकालसंभूतस्य सात्त्विकस्य स्वेदस्य सारा यस्यास्सा । उदारा पवित्राशयवती ह्रिया त्रपया कृत्वांशुदीपस्य सूर्यनामक दीपकस्य व्ययिनी हानिकर्त्री समस्ति तत एव तमोमिषात्तिमिरच्छलतः एषा तेनांशु-दीपव्ययेन कृता सम्पादिता धूमधारा प्रसरतीति ॥३७॥

---

साधुओंकी सामायिक-सन्ध्या वन्दन आदि सर्वसंमत् विधिको प्राप्त हो रही थी ।❀ यह श्लेषोपमालंकार है ॥३५॥

**अर्थ**—अस्ताचल और उदयाचल पर स्थित सूर्य और चन्द्रमा ही जिसके कर्णाभरण हैं तथा जो आलस्यमें रहित है ऐसी सन्ध्या (सन्ध्यारूपी स्त्री) बड़ी प्रसन्नतासे नक्षत्र रूपी पुष्पोंको वर्षाती हुई स्वयं ही इस समय आ रही है ॥३६॥

**अर्थ**—जिसके शरीर पर तारारूपी स्वेद जलकी बूंदे झलझला रही हैं ऐसी इस पवित्र आशय वाली रात्रि रूपी बधू ने चन्द्रमारूपी पति के आलिङ्गन का समय होनेसे लज्जावश सूर्यरूपी दीपकको बुझा दिया है। इसीलिये अन्धकारके बहाने उस बुझे हुए दीपकसे धुएँकी धारा उठ रही है ॥३७॥

---

१. 'अहार्यः पर्वते पुंसि' इति विश्व० । २. 'अंशुस्त्विषि रवौ' इति विश्व० ।

❀ जैनेन्द्र व्याकरण में प्र-दी-प ये ह्रस्व-दीर्घ और प्लुत की संज्ञाएँ हैं । 'मृत्' सुबन्त की संज्ञा है और 'धु' यह धातु की संज्ञा है, समास-तद्धित और कृदन्त प्रकरण सभी व्याकरणोंमें प्रसिद्ध है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



नारी निशा चावनिशादरस्य नारीह सा रीतिकरी स्मरस्य ।
लात्वा रतिं सञ्चरतीव लोके पतत्यतः सम्प्रति नाबलोऽके ॥३८॥

टीका—असौ निशा रात्रिः कारी कः सूर्योऽरिर्वैरी यस्याः सा कारी श्यामला च वर्तते । अवनौ पृथिव्यां मच्छं शं तस्मिन्नादरो यस्य सोऽवनिशादर स्तस्य । यद्वा, न निशावनिशा तस्या दरपरिणामो भीतिभावो यस्य सोऽवनि शादरस्तस्य घस्रे तूष्णींशीलस्य रात्रौ समुद्यमवतः स्मरस्य कामस्येहास्मिन्नवसरे सा नारी स्त्री जातिः न विद्यते अरिर्यस्या एवंभूता निरङ्कुशा भवतीत्यर्थाः । सा स्मरस्य रीतिकरी भवति । यद्वा स्मरस्य हसनं हसः प्रसत्तिस्तस्यारि स्तस्येति करोतीति स्त्री हसारीतिकरी । सैव स्मरस्य करी हस्ती स रतिं कामदेव स्त्रीं प्रातिप्रसूं (?) लात्वा लोकेऽस्मिन् संसारे सञ्चरतीव इतस्ततः पर्यटतीवेति । अतएव सम्प्रतिं अधुना पुन रबलो जनः स्त्रीविहीनो मनुष्यः सोऽके संकटे पतति निःस्त्रीको दुःखीभवतीति ॥३८॥

अकाय शंका सहितः सकायः पन्थाः सतां व्योमभवद्विहायः ।
कुमुद्वती नाम सुमुद्वनोति कृत्वात्र जाता क्षणदा प्रणोतिः ॥३९॥

टीका—स कश्चिदपि कायः—कः सूर्य एवाय आजीवनं यस्य स कायः कोवाकमलप्रभृतिर्जनः स तु अकस्य दुःखस्यायः सम्प्राप्तिभावस्तस्यशंका सहितो भवति । यद्वा कायेन सहितः सकायः शरीरधारी जनः स चाकायस्य अनङ्गस्य कामस्य शंका सहितः कामातुरो भवतीति । असौ सतां नक्षत्राणां पन्था मार्गो य आकाशः वीनां पक्षिणाम् ओम स्वीकरणं यस्य व्योम स एवाधुना विहायोऽभवत् । वीनां पक्षिणां हायकरणत्वात् । यद्वा सतां पन्था

---

**अर्थ**—एक तो अँधेरी रात है, फिर स्त्री जाति पृथिवी सम्बन्धी सुखमें आदर रखनेवाले कामदेवकी आज्ञाकारिणी है, यही नहीं कामदेव अपनी स्त्री रतिको साथ ले लोकमें सर्वत्र भ्रमण कर रहा है अतः स्त्री रहित मनुष्य इस समय संकटमें पड़ रहा है ॥३८॥

**अर्थ**—इस समय **काय**--क-सूर्यके आश्रित **आय**—आजीविकावाले चकवा तथा ककल आदि पदार्थ **अकायशंकासहित**—दुःख प्राप्तिकी शंकासे सहित हो रहे हैं—सूर्यके अभावमें दुःखकी शंका कर रहे हैं अथवा **सकाय**—शरीर धारी मनुष्य **अकाय**—कामकी शंकासे सहित हो रहे हैं अर्थात् कामातुर हो रहे हैं। नक्षत्रोंका मार्ग तथा व्योम्पक्षियोंको स्वीकार करनेवाला आकाश विहाय—अन्धकारके कारण विहाय—पक्षियोंके लिये कष्टकारक हो रहा है। अथवा नक्षत्रोंका मार्ग आकाश व्योम कहलाता हुआ **भवत्**—नक्षत्रोंसे युक्त **विहायत**

---

१. 'को ब्रह्मानिल सूर्याग्नियमात्मद्योति बर्हिषु' विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



व्योमाधुना भवत्-नक्षत्रसंघातयुक्तं सत् विहायो भवतीति। या कुमुद्वती घस्रे दुःखिता नाम कैरविणी संकुचितत्वात् साधुना सुमुद्वती प्रशस्तियुक्ता जाता। इत्यतः कृत्वात्र लोके क्षणदाप्रणीतिः क्षणदाया रात्रेः प्रणीतिः प्रवृत्तिर्यद्वा तु क्षणदा क्षणसात्परिवर्तन-शीला प्रणीतिर्जाता लक्ष्यते तावत् ॥३९॥

**पीतं यदेतन्निशयाम्बरन्तु नीडं खगाः स्पष्टमिति श्रयन्तु।**
**प्रयाति कामी नवलोहितन्तु दारा श्रयन्ते धवलम्भवन्तः ॥४०॥**

टीका---यदेतदम्बरमाकाशमेव वस्त्रं तन्निशया रात्र्या पीतं ग्रस्तं यद्वा तु हरिद्रया पीतवर्णमस्ति। तु पुनः खगाः पक्षिणस्तदेव नीडमिति डलयोरभेदात् नीलं श्यामवर्णं स्पष्टं यथास्यात्तथा श्रयन्तु निभालयन्तु यन्निभालयन्ति तावत्। यद्वा नीडं कुलायं श्रयन्तु सन्ध्यासमयत्वात्। कामी कामातुरो मनुष्यः स नवं च तल्लोहितं रक्तवर्णं च तत्प्रयाति जानाति यतः किलानुरागवान् भूत्वा नवलस्तरुणवयस्कः कामी हितं सुख-शर्मसाधनं प्रयाति तदेवाकाशं प्रत्येति। दाराश्च भवन्तस्ते प्रख्याता युवतय इत्यर्थः। ताश्च तदाकाशं धवलं शुक्लवर्णं जानन्ति, तस्मिन्नन्धकारबहुले गगनेऽपि यथेच्छप्रक्रमं कुर्वन्ति, धवस्य प्राणेश्वरस्य लम्भः प्राप्तिस्तद्वन्तो जाता इति यावत्। अर्थादेकवर्णमप्याकाशं यथारुचि नाना वर्णतयानुज्ञातं लोकैरिति ॥४०॥

---

आकाश हो रहा है। और जो कुमुदिनी दिनमें संकुचित रहनेसे **कुमुद्वती**---कुत्सित हर्षसे सहित थी---दुखी थी वही इस समय विकसित हो जानेसे **सुमुद्वती**---उत्तम हर्षसे सहित है। इस तरह इस समय **क्षणदा**---रात्रिकी प्रवृत्ति परिवर्तनशील है। तात्पर्य यह है कि किसीको दुःखका कारण है और किसीको सुखका कारण है। **'क्षणमुत्सवं ददातीति क्षणदा'** जो उत्सव देवे वह क्षणदा और जो **'क्षणमुत्सवं द्यति खण्डयतीति क्षणदा'** जो उत्सवको खण्डित करदे वह क्षणदा है। अथवा **'क्षणं परिवर्तनं ददातीति क्षणदा'** जो क्षण क्षणमें परिवर्तनको देती है वह क्षणदा है। इस प्रकार क्षणदा-रात्रि वाचक क्षणदा शब्द-के विविध अर्थ हैं ॥३९॥

**अर्थ**---यह जो **अम्बर**---आकाश है उसे रात्रिरूपी स्त्रीने **पीत**---पीला वस्त्र समझ पीत कर लिया है---ग्रस्तकर लिया है। पक्षी उसी आकाशको **नीड**---नीला (पक्षमें **घोंसला**) समझकर उसका आश्रय ले रहे हैं। कामी जन उसे **नवलोहित**---नवीनलाल वर्णका समझ रहे हैं (पक्षमें **नवल**---नूतन तारुण्ययुक्त कामी जन उसे **हित**---सुखका साधन जान रहे हैं और **दार**---स्त्रियाँ उसे **धवल**---शुक्ल वर्ण समझकर स्वीकृत कर रही हैं अर्थात् आकाशके तिमिराच्छादित होनेपर भी उनकी काम-प्रक्रिया चल रही है। पक्ष में **दारा**---स्त्रियाँ **धवलम्भवन्तः**---पतिकी प्राप्तिसे सहित हो रही हैं अर्थात् कामातुर हो पतिके पास पहुँच

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**कलङ्किनः शासनमत्र रात्रावहो न सा के बलकारिमात्रा।**
**विचारहीनां भुवमीक्षमाणो लभे प्रदेशं न मनागिवाणोः ।।४१।।**

टीका—अत्र रात्रौ निशायां कलङ्किनश्चन्द्रमसः शासनमस्ति। के सूर्ये विषये बलकारिमात्रा सा न विद्यते। वीनां पक्षिणां चारः प्रचारस्तेन हीनां रहितां भुवमीक्षमाणः पश्यन् सन्नहं अणोः परमाणोरिवास्मात् प्रदेशं स्वरूपं न लभे पश्यामि अन्धकारबहुलत्वात्। अत्र रात्रौ कलिरूपायामागमाज्ञया कृत्वा कलङ्किनो नाम राज्ञः शासनं भवति, केवलज्ञानकारिमात्रात्र मनागपि सा न भवति—केवलज्ञानप्रादुर्भावोऽस्मिन्समये नैवास्ति। तथा विचारहीनां भुवं सद्विवेकरहितां प्रजामीक्षमाणोऽहं प्रदे प्रकृष्टशुद्धिविषयं शं धर्मं मनागपि न लभे। सद्धर्मव्याख्यानमपि व्याख्यातृदोषेण कृत्वा सदोषमेवाधुना भवति विसंवादत्वात्। यथाणोः प्रदेशं न लभे तथा धर्मस्य सत्यार्थरूपमपि। के जले पर्यन्ततः समुद्रसद्भावात् लङ्का नाम नगरी यद्वा राजधानी यस्य स कलङ्की तस्य शासनमत्र रात्रावपि अपराधबहुलरूपायां जनसत्तायामपि विद्यते तस्मात् अकेन सहिते साकेऽपराधिजने बलकारिमात्राधुना न विद्यते न्यायशीलस्य ब्रिटिशशासनस्य सद्भावात् किलापराधिजन-

---

रही हैं ।।४०।।

**अर्थ**—रात्रिमें चन्द्रमा चमक रहा है, सूर्य अस्त हो चुका है, पृथिवी पक्षियोंके संचारसे रहित है और अन्धकारकी बहुलतासे कहीं कुछ दिखायी नहीं दे रहा है इस प्राकृतिक बातको कवि अपनी भारतीमें इस प्रकार कह रहा है—

रात्रिमें **कलंकी**—चन्द्रमा (पक्षमें सदोष राजा) का शासन है, **क**—सूर्यकी तिमिरापहारिणी शक्ति नष्ट हो चुकी है। पक्ष में किसी बलिष्ठ राजाकी सामर्थ्यका अस्तित्व नहीं है) और पृथिवी **विचार**—पक्षियोंके संचार (पक्षमें अच्छे विचारों) से शून्य हो रही है अतः मैं परमाणुके प्रदेशकी तरह **प्रदेश**—प्रकृष्टदेशना (पक्षमें **प्रकृष्टं ददातीति प्रदः स चासौ ईशश्चेति प्रदेशः तं निग्रहानुग्रहसामर्थ्यवन्तं नृपं**) श्रेष्ठ राजाको नहीं प्राप्त हो रहा हूँ यह आश्चर्य है।

अथवा

इस समय (इस पंचम कालमें) आगम प्रसिद्ध **कलङ्की**—कल्कि राजाका शासन है, केवलज्ञानका प्रादुर्भाव नहीं है और पृथिवी विचार-सद्विवेकसे रहित है अतः मैं परमाणुके प्रदेशकी तरह कहीं भी शं—सुख-शान्तिको प्राप्त नहीं हो रहा हूँ यह दुःखकी बात है।

अथवा

इस समय **कलंकी**—चारों ओर **क**—जलसे वेष्टित होनेके कारण—लंका तुल्य सुरूपमें निवास करने वाले ब्रिटेनका शासन है **साके**—अपराधी जनोंमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



प्राबल्यमधुनापि नास्ति, विपरीतश्चारो विचारस्तेन हीनां भुवमीक्षमाणोऽहं प्रदे शुद्ध-स्वरूपेऽस्मिन् भूतले शं हिंसां न लभे यथाणौ प्रदेशं न लभे इतिवर्तमानशासनप्रशंसनं भवति ॥४१॥

**सन्ध्यामिषेणोत्कषणप्रतीतमस्तावविध्रे निकषाश्मनीतः ।**
**विक्रीय भानुं भरुपिण्डमानीतानीव खेनोडुकरूप्यकाणि ॥४२॥**

टीका—अस्तावनिध्रे नामास्ताचलरूपे निकषाश्मनि कर्षणपाषाणे इतः सन्ध्यामिषेण सायंकृतारुणिमच्छलेनोत्कषणप्रतीतं समुल्लिख्य प्रत्यायितं भानु सूर्यमेव भरुपिण्डं सुवर्ण-गोलकं विक्रीय दत्त्वा खेनाकाशेनोडुकानि नक्षत्राण्येव रूप्यकाणि नाणकानि आनीतानि समारब्धानि तत एव पुनः सुवर्णगोलकं न दृश्यते तावत् ॥४२॥

**निशावधूः स्वागतमात्मभर्तुरुद्दिश्य वै कैरवहर्षकर्तुः ।**
**बृहत्तमस्तोमककेशवेशे मुक्ताश्च तारा विदधात्यशेषे ॥४३॥**

टीका—सुस्पष्टमिदं वृत्तम् ।

---

बल-सामर्थ्यका अभाव है और पृथिवी—प्रजा विचार—विपरीत आचरणसे रहित है अतः मैं कहीं पर शं–हिंसाको नहीं प्राप्त कर रहा हूँ अर्थात् सर्वत्र सुख शान्तिसे प्रजा जीवन यापन करती है।[1] यह अनुभव कर रहा हूँ ॥४१॥

**अर्थ**—सूर्यास्तके बाद आकाशमें तारे छिटक रहे हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है मानों आकाश (रूप वणिक्) ने अस्ताचल रूपी कसौटी पर इस संध्याके बहाने कसकर सत्यापित सूर्यरूपी स्वर्ण पिण्डको बेचकर उसके बदले नक्षत्र रूपी चाँदीके सिक्के प्राप्त किये हैं ॥४२॥

**अर्थ**—निशारूपी स्त्री अपने पति चन्द्रमाके स्वागतके उद्देश्यसे सुविस्तृत समस्त अन्धकार समूह रूप केश-विन्यासपर तारारूप मोतियोंको धारण कर रही है।

**भावार्थ**—तिमिराच्छादित समस्त आकाशमें छिटके हुए नक्षत्र ऐसे जान पड़ते हैं मानों रात्रि रूपी स्त्रीने अपने पति–चन्द्रमाके स्वागतके लिये अपने केशपाश पर मोती ही लगा रक्खे हो। ॥ ४३ ॥

---

१. जयोदय काव्यकी रचना ब्रिटिश शासनमें हुई थी इसलिये कविने श्लेषसे उसकी प्रशंसा की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



यदर्कबिम्बं करकं त्ववापि तथास्य सन्ध्यात्वगिवोज्झितापि ।
कालेन तद्बीजभुजा तु भानि भवन्तु-अस्थीन्यथ थूत्कृतानि ॥४४॥

टीका—यत्किलार्कबिम्बं सूर्यमण्डलं तत्तु करकं नाम, दाडिमफलमवापि समुपलब्धं कालेन नाम कर्त्रा तथा पुनस्तस्य करकस्य बीजानि भुनक्तीति तद्बीजभुक्तेन तद्बीजभुजा तु पुनरपि सा सायमरुणिमा नाम सा त्वगिव चर्मतुल्योज्झिता समुत्पाट्य परित्यक्ता, अथानन्तरं तदास्वादयता तेन तदस्थीनि नाम बीजान्तर्गतकठिनांशरूपाणि निःसाराणि यानि थूत्कृतानि तान्येवामूनि भानि नक्षत्राणि नामतो भवन्तु तावत् ॥४४॥

निशौतुकी तन्मयकौतुकित्वात्कपोतमादाय विधुं त्वकित्वात् ।
गता नभः सौधशिरोऽथ ऋक्षास्तद्दन्तपातात्पतिता हि पक्षाः ॥४५॥

टीका—निशा रात्रिर्नामौतुकी विडाली सा विधुं चन्द्रमसमेव कपोतं पारावतं तन्मयकौतुकित्वात्कपोतग्रहणैककौतुकशीलत्वात् किलादाय गृहीत्वा तु पुनरकित्वात् तत्कपोतग्रहणरूपापराधयुक्तत्वात् नभ आकाशमेव सौधं हर्म्यं तस्य शिर उपरिभागं गता प्राप्तवती लक्ष्यते तावत् । अथ च ऋक्षा नक्षत्राणि तस्या निशा—विडाल्या दन्तपातात् सहसैव दशनसंघातात्कृत्वा ये पक्षाः पत्राणि पतिता इतस्ततो विकीर्णास्ते मान्तीति शेषम् ॥ ४५ ॥

उत्सङ्गजं सूचयतीन्दुदेवं पूर्वाद्रिमूलान्तरितं दिगेव ।
शोणानना कैरवराशिभृङ्गारवैरियं सन्मणितप्रसङ्गा ॥४६॥

---

अर्थ—सूर्यास्त होनेके बाद सन्ध्याकी लालिमा भी समाप्त हो चुकी है और आकाशमें उज्ज्वल तारे चमकने लगे हैं इससे ऐसा जान पड़ता है कि कालरूपी काल—यमने सूर्यबिम्ब रूपी अनारका फल प्राप्त किया है और सन्ध्या रूपी लाल त्वचा को उजाड़कर फेंकनेके बाद उसने अनारके बीजोंको खाया है खाते समय बीजोंके भीतरका जो कठोर अंश है उसे उसने थूक दिया है, यह कठोर अंश ही तारे हैं ॥ ४४ ॥

अर्थ—रात्रिरूपी बिल्ली, कबूतर पकड़नेके कौतूहलसे चन्द्रमारूपी कबूतरको पकड़कर आकाशरूपी भवनके उपरिम भागपर जा पहुँची, वहाँ अपने अपराधी स्वभावसे उसने दांतोंके आघातसे उस कबूतरके पंखे उखाड़कर फेंक दिये, वे पंखे ही नक्षत्र हैं ॥ ४५ ॥

---

१. करकोऽस्त्री करङ्के स्यात्कुण्डयां चाथ पुमान्खगे ।
कुसुम्भे दाडिमे हस्ते करका तु घनोपले ॥ इति विश्व०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



टीका—पूर्वादिक् शोणमरुणमाननं मुखं यस्यास्सा सम्भवती प्रीतिवशेन प्रसन्नमुखेत्यर्थः। कैरवेषु रात्रिविकासिकमलेषु रागिणो ये भृङ्गा भ्रमरास्तेषामारवैर्गुञ्जनैः कृत्वा कैरवसंगतषट्पदस्वनमिषेणेति भणिते सुरतसमयसम्भवा-नन्दशब्दने प्रसङ्गः प्रस्तावो यस्यास्सा, इन्दुदेवं चन्द्रमेव स्वस्वामिनं अद्रेः पूर्वपर्वतस्य मूलेऽन्तरितं प्रच्छन्नं भवन्तं तमुत्सङ्गमङ्कारोपितं सूचयति चन्द्रमसं प्रेमपरायणं स्पष्टयतीति यावत् ॥ ४६ ॥

**चण्डीशचूडामणिरेष भर्ता कुमुद्वतीनां स्मरसन्निधर्ता।**
**मित्रं समुद्रस्य च पूर्वशैल-शृङ्गे तु सोमः कलशायतेऽलम् ॥४७॥**

टीका—एष दृष्टिपथं गतः सोमश्चन्द्रमाः चण्डीशस्य महादेवस्य चूडामणिर्मुकुटस्थानीयः, कुमुद्वतीनां भर्ता प्रसन्नकर्ता, स्मरस्य नाम रतिपतेः सन्निधर्ता पारिपार्श्विकः, समुद्रस्य च मित्रमुल्लासकारकत्वात्, स पूर्वशैलस्य नाम प्रासादस्थानीयस्य शृङ्गे उपरिमभागे कलशायते कलश इवाचरतीति अलमिति पर्याप्तम् ॥ ४७ ॥

**तमोंऽशुकं राज्ञ्यपसार्य शस्तैः करैश्च मध्यं स्पृशति स्वतस्तैः।**
**परिस्फुरत्कैरववक्त्रबिम्बा श्यामाद्रवच्चन्द्रमणीति दम्भात् ॥४८॥**

टीका—तमोंऽशुकं तिमिरमेव वस्त्रमपसार्योपसंहृत्य राज्ञि चन्द्रमस्येव हृदयेश्वरे तैः प्रख्यातैः शस्तैराह्लादकरैः करैः किरणैरेव हस्तैः कृत्वा मध्यमङ्गदेशं स्पृशति तदुत्सङ्गमाश्रयति सति श्यामा रात्रिर्नाम षोडशवर्षिका स्त्री सा परिस्फुरद्वुत्फुल्लतामागच्छत् कैरवमेव वक्त्रबिम्बं मुखमण्डलं यस्या एवम्भूता भवती चन्द्रमणिषु

---

अर्थ—सन्ध्याकी लालिमारूप मुखसे युक्त पूर्वदिशा रूपी स्त्री कुमुदोंपर गुँजार करने वाले भ्रमरोंके शब्दोंके बहाने संभोगकालीन शब्दको सूचित करती हुई पूर्वाचलके मूलमें छिपे चन्द्रमा रूपी पतिको सूचित कर रही है। तात्पर्य यह है कि पूर्व दिशासे चन्द्रोदय होने वाला है॥ ४६ ॥

अर्थ—जो महादेवका मुकुटमणि है, कुमुदिनियोंका पति है, कामदेव का निकटवर्ती है और समुद्रका मित्र है ऐसा यह चन्द्रमा पूर्वाचल रूप प्रासाद की शिखर पर कलशाके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा है॥ ४७॥

अर्थ—ज्योंही राजा-चन्द्रमारूपी पतिने अपने प्रख्यात-प्रसिद्ध और उत्तम कर-किरणरूपी हाथोंसे अन्धकाररूपी वस्त्रका अपहरण कर मध्यभाग का स्पर्श किया त्योंही श्यामा—रात्रिरूपी नवयुवतिका कुमुदरूपी मुख मण्डल

---

१. 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः' इति विश्वः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



चन्द्रकान्तरत्नेषु या क्लिलेर्तिविकरणपरिणामो जलदानलक्षणस्तस्या दम्भात् व्यपदेशात् स्वतोऽनायासेनैवाद्रवत् स्खलतिस्मेति प्राणेश्वरसंयोगे प्रेमपरायणतया परिणतिमगच्छत् किल ।। ४८ ।।

**तमोमयं केशचयं नियम्य मरीचिभिश्चाङ्गुलिभिश्च सम्यक् ।**
**विमुद्रिताम्भोरुहनेत्रबिन्दुमुखं रजन्याः परिचुम्बतीन्दुः ।।४९।।**

टीका— इन्दुर्नाम चन्द्रमाः स रजन्या निशाया नाम स्त्रियास्तमोमयमन्धकारात्मकं केशचयं शिरोरुहसमूहं स्वकीयाभिर्मरीचिभिः किरणैरेवाङ्गुलिभिः करशाखाभिः कृत्वा नियम्य संभाल्य सम्मुद्रितो अम्भोरुहं जलजमेष नेत्रबिन्दुर्नयनतारकदेशो यत्र तत् तादृक्-मुखं सम्यक् सुष्ठु यथा स्यात्तथा परिचुम्बति प्रेम्णास्वादयति । प्रीतिसंपर्के समुद्भूतेनानन्देन कृत्वा नेत्रनिमीलनं तु जातिस्तथात्र जलजसंकोचनमभूत्किलेति भावः ।।४९।।

**तमोवगुण्ठातिगता तताऽपि तारापदेशाच्छ्रमवारिणापि ।**
**पत्युश्चरत्युत्सवहेतवे तु समुद्यता कैरवहर्षसेतुः ।।५०।।**

टीका—इयं निशा नाम स्त्री तमोवगुण्ठातिगता तम एवावगुण्ठनमाच्छादनं तस्मादतिगता रहिता निरावरणसन्दर्शितशरीरेत्यर्थः । तथा ताराणामपदेशाच्छलाच्छ्रमवारिणा पतिसंयोगेन कृत्वा समुत्थितेन प्रस्वेदजलेन च यापि प्राप्ता व्याप्तासीत् । तथा कैरवाणां नक्तंकमलानां हर्षस्य प्रसन्नभावस्य सेतुः स्थानं यद्वा कैरुद्योतैश्चन्द्रप्रकाशैः कृत्वा रवस्येतिलवस्य चकोरस्य हर्षसेतुः, इत्येवंभूता च पुनः पत्युश्चन्द्रमसो रतिसम्बन्ध्युत्सवस्य हेतवे कारणाय तु समुद्यतास्ति ।।५०।।

---

खिल उठा और चन्द्रकान्त मणियोंसे झरने वाले जलके छलसे वह स्वयं ही द्रवीभूत हो गई ।। ४८ ।।

अर्थ—चन्द्रमा रूपी पति किरणरूपी अङ्गुलियोंके द्वारा अन्धकार रूप केश समूहको संभालकर रजनी—रात्रिरूपी स्त्रीके उस मुख (पक्षमें अग्रभाग) का अच्छी तरह चुम्बन कर रहा है जिसमें कमल रूपी नेत्र प्रदेश निमीलित हो रहे हैं ।।४९।।

अर्थ—रात्रिरूपी स्त्रीके शरीरपर जो अन्धकारका विस्तृत आवरण था वह दूर हो गया, ताराओंके छलसे उसके शरीर पर सात्त्विक भावके रूपमें पसीना की बूंदें झलझला उठीं और कुमुद खिल उठे, इससे ऐसा जान पड़ता है कि यह सब परम्परा, पति—चन्द्रमाके रति सम्बन्धी उत्सवके लिये ही प्रकट हुई है ।।५०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**निष्पीडयमाने तिमिरे करेण भृशं सितांशोर्विधिनाऽऽदरेण ।**
**भङ्क्त्वार्गलं कोकयुगं ह्युदाराशयेन सद्द्वार मदायि चारात् ॥५१॥**

टीका—सितांशोर्नाम चन्द्रस्य करेण किरणेनैव हस्तेन भृशं मुहुः निष्पीडयमाने ताडयमाने तिमिरे तमःसमूहे सत्युदाराशयेन महात्मना विधिनादृष्टेनादरेण विनयेन कृत्वा कोकयोर्युगं मिथुनं तदेवार्गलं निगडं भङ्क्त्वा विभज्याराच्छीघ्रमेव सत् सम्यक् द्वारं मार्गमुखमदायि दत्तं । सूर्यास्तमुपेत्य चक्रवाकमिथुनं विच्छिन्नं चन्द्रोदयेन कृत्वा तिमिरं विनष्टमिति ॥५१॥

**शाणोपलेऽस्मिन्खलु शीतभानावयं जगत्ताडनकुण्ठितानाम् ।**
**उत्तेजनामङ्कपरिस्थितीनां स्मरः शराणां समुपैत्यदीनाम् ॥५२॥**

टीका—अयं स्मरः जगतां प्राणिमात्राणां ताडनं तेन कृत्वा ताडनकर्मणि व्यापारेण कृत्वा कुण्ठितानां शराणामात्मवाणानामङ्कपरिस्थितीनां टङ्ककृतचिह्नस्य परिस्थितिर्यत्र तेषां, अस्मिन् शीतभानौ चन्द्रमसि नाम शाणोपले घर्षणपाषाणे नदीनामदीनामति प्रशस्तामुत्तेजनां तैक्ष्ण्यकरणवृत्तिं समुपैति प्राप्नोति चन्द्रोदये प्राणिमात्रेषु कामसंचारो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥५२॥

**विलासिनीनां प्रतिवीथि आस्यं निरीक्षमाणः शुचिहासभाष्यम् ।**
**करान्प्रसार्योपगवाक्षमिन्दुः सौन्दर्यभिक्षामटतीष्टविन्दुः ॥५३॥**

टीका—वीथिं वीथिं प्रति प्रतिवीथि सर्वासु रथ्यासु स्थितानां विलासिनीनां पण्यस्त्रीणां

---

**अर्थ**—जब चन्द्रमाकी किरण रूपी हाथोंके द्वारा अन्धकार बार-बार अत्यधिक पीड़ित होने लगा तब उदाराशय-दयालु दैवने आदरपूर्वक चक्रवाक युगल रूपी आगलको तोड़कर भागनेके लिये उसे अच्छा-विस्तृत द्वार दे दिया। भाव यह है कि चन्द्रोदय होनेसे अन्धकार नष्ट हो गया और चकवा चकवी का युगल बिछुड़ गया ॥५१॥

**अर्थ**—सचमुच, कामदेव इस चन्द्रमा रूपी मसाण पर जगत्को ताडित करनेसे मोथले अपने उन वाणोंकी तीक्ष्णताको प्राप्त करता है जो अङ्क—चन्द्रमाके चिह्न पर स्थित हैं।

**भावार्थ**—चन्द्रमा काम बाणोंको पैना करनेके लिये मानों मसाण—घिसने का पाषाण है और उसके बीच जो काला चिह्न है वह बाणोंके घिसनेसे उत्पन्न हुआ दाग है ॥५२॥

**अर्थ**—चन्द्रमाकी किरणें गली गलीमें झरोखोंके पास पहुँच रही हैं उससे



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



शुचेः पुनीतस्य हासस्य स्मितलक्षणस्य भाष्यं स्पष्टीकारकमास्यं निरीक्षमाणः पश्यन् सन् इन्दुश्चन्द्रमा इष्टस्य बिन्दुर्ज्ञाताभीष्टसंवदकः उपगवाक्षं जालकं प्रति करान् किरणानेव हस्तान्प्रसार्य तासामग्रे कृत्वा सौन्दर्यस्य लवणिम्नो भिक्षां याञ्चमटति प्राप्नोति। स्त्रीणामास्यं चन्द्रमसोऽपि सुन्दरतरमिति भावः ॥ ५३ ॥

**कुमुद्धवे मोदकरे स्वभावान्नवासुरा[1] सावि नवा सुरा वा ।**
**नरः[2] सरः श्रीसबलाऽबलापि सभं नभस्थानमिदं यदापि ॥५४॥**

टीका—यदिदं नभस्थानमाकाशस्थलं तत् भरहितमप्यधुना सभंभैर्नक्षत्रैः सहितमपि प्राप्तम्। नरो मनुष्यः स पुनरधुना रकारेण कामानलेन सहितः सरः, अबला स्त्रीजातिः सा श्रीसवमुत्सवं लातीति श्रीसबला प्रमोदसहितापि प्राप्ता खलु। कुमुदां चन्द्रविकासि कमलानां धवे स्वामिनि चंद्रमसि मोदकरे उदयमवाप्य जगतामाह्लादकारके भवति सति असौ वासुरा रात्रिरपि वा न वासुरा न रात्रिर्जाता कामिनां दिनवज्जारणकर्त्री, यद्वा नवा सुरा नूतना मदिरेव मदकर्त्री स्वभावादेव ॥ ५४ ॥

**मन्ये मधुच्छत्रमधस्त्वजानिर्भवन्ति यद्विन्दुनिभानि भानि ।**
**तमोमिषादुत्थितमक्षिकाभिर्व्याप्तं जगत्किन्नु पुरैव नाभिः ॥५५॥**

---

ऐसा जान पड़ता है मानों चन्द्रमा वेश्याओंके मुसकुराते एवं मनोभावको स्पष्ट करने वाले मुखको देखकर—किरणरूप हाथ पसारकर उनसे सौन्दर्यकी भिक्षा माँगनेके लिये ही घूम रहा है ॥ ५३ ॥

**अर्थ**—कुमुदपति—चन्द्रमाके आनन्दकारी होनेपर—पूर्णरूपसे उदित होने पर स्वभावसे ही–अपने आप **वासुरा**–रात्रि वासुरा–रात्रि नहीं रही किन्तु दिनके समान प्रकाशमान हो गई अथवा कामी मनुष्योंको दिनके समान जगाने वाली हो गई। अथवा **नवा-सुरा**—नूतन मदिराके समान नशा करने वाली हो गई। **नर**—मनुष्य नर—मनुष्य ( पक्षमें कामरहित ) नहीं रहा किन्तु **सर**—काम सहित हो गया। **अबला**—स्त्री भी **अबला** न रह कर **श्रीसबला**—लक्ष्मीके समान **सबला** अथवा लक्ष्मीके सब—उत्सवको लानेके कारण **श्रीसबला** हो गई और **नभस्थान**—आकाशरूप स्थान **नभस्थान**—नक्षत्रोंका स्थान न होकर भी **भस्थान**—नक्षत्रोंका स्थान हो गया ॥ ५४ ॥

---

१. 'वासुरा वारिताया स्यान्निशाभूम्योश्च वासुरा' इति विश्व०
२. 'रस्तु कामानले वह्नौ' इति विश्व०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



टीका—योऽसावघस्रजानिः, न घस्रमघस्रं नक्तं जाया स्त्री यस्य सोऽघस्रजानिः चंद्रमाः, स एव मधुनश्छत्रमिव भवति, यस्य विंदुनिभानि सम्पतद्भिः विंदुभिस्तुल्यानि नक्षत्राणि भवन्ति। तमसोऽन्धकारस्य मिषाद् व्याजाद् उत्थिता इतस्ततः प्रचलिताश्च या मक्षिकास्ताभिर्व्याप्त व्याकुलीभूतं जगत्समस्तमपि विश्व मिदमस्ति। पुरैव पूर्वमेव किमिदं न सत्यं किंतु सत्यमेव ॥ ५५ ॥

सिंहीसुतस्याप्यरदैर्व्रणन्तु सुधांशुविम्बस्य पदानि सन्तु।
वियोगिनीनामथवा दृगन्तैः समंगतैः रञ्जनकैर्धृतं तैः ॥५६॥

टीका—सिंहीसुतस्य नाम राहो रदैर्दंशनैः कृत्वा सुधांशुविम्बस्य चंद्रस्य व्रणं तु जातं तस्य पदानि चिह्नानि कलङ्क नाम्ना सन्तु भवंतु। अथवा पुनः वियोगिनीनां विरहि-स्त्रीणां दृगंतैर्नयनकोणैः समं सार्धं गतैः प्राप्तैस्तैः प्रसिद्धै रञ्जनकैः कज्जलै धृंतमङ्कितं तच्चंद्रमसो विम्बमिदं भवति किल ॥ ५६ ॥

आकाशनीराशयपुण्डरीकं वदाम्यदोऽङ्कस्थित चञ्चरीकम्।
यूनां मनो वर्त्मनि तर्तरीकं तरत्यहो कामरमामरीकम् ॥५७॥

टीका—अदश्चंद्रबिम्बं तदेतत्खलु अङ्के कर्णिका मध्ये स्थितश्चञ्चरीको भृङ्गो यस्य तत् आकाश एवं नीराशयस्तटाकस्तस्य पुण्डरीकं नाम श्वेतकमल मेवाहं ववामि। यत्किल चंद्रबिम्बं यूनां तरुणानां मनोवर्त्मनि चित्तमार्गे कामस्य रमा रतिः सैवामरी देवी तत्कं तत्सम्बंधि [1]तर्तरीकं जलतरणयानं तावद्वर्ततेऽहो इत्याश्चर्यम् ॥ ५७ ॥

---

अर्थ—मैं मानता हूँ कि यह अघस्रजानि—निशापति—चन्द्रमा मधुच्छत्र—शहदका छत्ता है, नक्षत्र शहदकी बूंदोंके समान हैं और अन्धकारके छलसे मधुमक्खियों द्वारा यह समस्त जगत् क्या पहलेसे ही व्याप्त नहीं है? अर्थात् है ॥ ५५ ॥

अर्थ—चन्द्रमण्डलके बीचमें जो काला काला कलङ्क है वह राहुके दांतोंसे किया हुआ घाव है अथवा विरहिणी स्त्रियोंके नयन कोणोंसे आंसुओंके साथ निकले हुए काजलोंके द्वारा निर्मित काला दाग है ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस चन्द्रबिम्बको मैं आकाशरूपी तालाबका वह श्वेत कमल कहता हूँ जिसकी कर्णिकाके मध्यभाग पर भ्रमर बैठा है और युवाजनोंके मनोमार्गमें यही चन्द्रबिम्ब रतिदेवीका जलयान बनकर तैर रहा है ॥ ५७ ॥

---

१ 'तर्तरीकः पारगे स्यात्तर्तरीकं वहित्रके इति विश्व०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**प्राच्यां पुरारक्तिमुपेत्य पापी शापान्निशाया अधुनोपतापी ।**
**कलङ्कितामेति तुषारसार-गात्रोऽपि रात्रेर्हृदयैकहारः ॥५८॥**

टीका—रात्रेर्हृदयैकहारश्चन्द्रमा पुरा प्राक् सन्ध्यासमये प्राच्यां नाम पूर्वं दिशायामारक्तिमरुणिमानमनुरागं वोपेत्य गत्वा निशायाः स्वनियोगिन्याः शापात् दुराशिवंशात् अधुना साम्प्रतमुपतापी पश्चात्तापशीलः स पापी स्वकृतापराधवशेन कृत्वा कलङ्कितां लाञ्छनयुक्ततामेति । तुषारस्यहिमस्य सार एव गात्रं शरीरं यस्य सोऽत्यन्तधवलतनुरपि भवन् कलङ्कमाप्नोति । उदयकालीनामरुणतामुज्झित्य श्वेततामनुभवन् प्रव्यक्त कलङ्कश्चन्द्रमा भवतीति कृत्वोक्तिः ॥५८॥

**स्मरामरस्यामलमातपत्रं शृङ्गारवारस्य च ताम्रपत्रम् ।**
**विराजते सम्प्रति राजसत्रं सुधामयं श्रीद्युसदाममत्रम् ॥५९॥**

टीका—राज्ञश्चन्द्रमसः सत्रं छद्म यत्र तदेतत् पुरोर्वातिस्मरामरस्य कामदेवस्य निर्मलमातपत्रं साम्राज्यसूचकं छत्रमेव सम्प्रति विराजते । यद्वा शृङ्गारवारस्य सुरतवेलायास्ताम्रमत्रं शासनख्यापकं प्रमाणपत्रमेव । किंवा पुनः सुधामयममृतपूर्णं द्युसदां देवानाममत्रं भाजनमेव वर्तते । 'सत्रं यज्ञे सदादाने कैतवे वसने वने' इति विश्वलोचने ॥५९॥

---

**अर्थ**—रात्रिके हृदयका अद्वितीय हार—चन्द्रमा सन्ध्या समय पूर्व दिशा में लालिमा (पक्षमें अनुराग) को प्राप्त होकर पापी हुआ, इस समय अपनी नियोगिनी रात्रिके शापसे उपतापी—संतप्त शरीर वाला हुआ। इस तरह वह बर्फके समान शुक्ल शरीरसे युक्त होता हुआ कलङ्किताको प्राप्त हो रहा है ।

**भावार्थ**—चन्द्रमाकी असली स्त्री तो रात्रि थी परन्तु वह आते समय पूर्व दिशा रूपी स्त्रीसे अनुराग कर बैठा अतः पापी हो गया। इससे कुपित हो असली स्त्री रात्रिने उसे शाप दे दिया फलस्वरूप उपतापी हो गया—उसके शरीरमें जलन उठने लगी उसकी जलनसे बिरही मनुष्योंको भी जलन होने लगी। उस जलनके प्रतिकारके लिए चन्द्रमाने अपने शरीरको बर्फसे आच्छादित किया, बर्फसे आच्छादित होनेसे वह शुक्ल तो हो गया परन्तु शुक्ल होनेपर उसका कलङ्क और भी अधिक प्रकाशमें आने लगा। एक स्त्रीको छोड़ अन्य स्त्रीसे अनुराग करने वाले नायककी यही दशा होती है ॥५८॥

**अर्थ**—यह जो राजसत्र—चन्द्रमाका छल लिये हुए शुक्ल पदार्थ दिख रहा है वह कामदेवके निर्मल छत्रके समान, अथवा संभोग समयके प्रख्यापक प्रमाण पत्रके समान अथवा अमृतसे परिपूर्ण देवपात्रके समान सुशोभित हो रहा है ॥५९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**गरं जगन्मोहकरं तमस्तु यदस्य चन्द्रस्य हि भक्ष्यवस्तु ।**
**अतः स्वतः कज्जलजालजाति तुषारभासो जठरं विभाति ।।६०।।**

टीका—यद्यस्मात्कारणात् अस्य तुषारभासः स्वच्छप्रभस्य चन्द्रस्य रात्रिपतेः भक्ष्यवस्तु भोजनं जगतां समस्तलोकानां मोहकरमतएव गरं विषरूपं तु तमस्तिमिरं हीति निश्चयेन वर्ततेऽतोऽस्य जठरं नामोदरमध्यं कज्जलस्य जालः समूहस्तस्य जातिरिव जातीर्यस्य तत् स्वत एव सहजतयैव विभाति तमसोऽधिकरणरूपत्वात् ।।६०।।

**तमस्विनीज्योत्स्निकयोः प्रसत्तिसंवादवादीव विधुर्बिभर्ति ।**
**सितासितप्रायमुतात्मकायं द्विच्छायमङ्गाङ्गनयोरिहायम् ।।६१।।**

टीका—तमस्विनी तमिस्रा ज्योत्स्निका चन्द्रिका तयोर्द्वयोः प्रसन्नतायाः संवादवादीवाविसम्वादपक्षपाती व भवन् विधुश्चन्द्रमा इहाङ्गनयोर्द्वयोर्मध्येऽयं प्रवर्तमान उताहो स्वित् सितं चासितं च यदिति बाहुल्येन भवतीति सितासितप्रायमात्मनः कायं शरीरं द्विच्छायं प्रभाद्वितयात्मकं बिभर्ति धारयति । अङ्गेति मृदुभाषणे ।।६१।।

**केचिच्छशं केचिदितः कलङ्कं वदन्तु हीन्दोरनिमित्तमङ्कम् ।**
**पिपीलिकानां तु सुधाकशिम्बं किलावली चुम्बति चन्द्रबिम्बम् ।।६२।।**

---

**अर्थ**—चन्द्रमाकी भोज्य वस्तु रूप जो यह अंधकार है वह समस्त जगत्को मोहित करने वाला विष है। इस विष रूप अन्धकारको ही चन्द्रमा खाता है—नष्ट करता है इसलिये बर्फके समान शुक्ल शरीर वाला होने पर भी इसका उदर काजलके समूहके समान स्वयं ही काला दिखायी देता है।

**भावार्थ**—यतश्च चन्द्रमाने विष तुल्य अन्धकारको खाया है इसीलिये उसका उदर-मध्यभाग कलंक बहाने काला दिखायी पड़ता है ।।६०।।

**अर्थ**—यह चन्द्रमा, रात्रि और चाँदनी रूप दोनों स्त्रियोंको प्रसन्नताका समाचार कहना चाहता है इसीलिये तो रात्रिको प्रसन्न करनेके लिये कृष्ण और चांदनीको प्रसन्न करनेके लिये शुक्ल इस तरह दोनों प्रकारके शरीरको धारण कर रहा है।

**भावार्थ**—चन्द्रमा स्वभावसे शुक्ल है और बीचमें कलङ्कसे युक्त होनेके कारण काला है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि वह चांदनीको प्रसन्न रखनेके लिये शुक्ल और रात्रिको प्रसन्न रखनेके लिये कृष्ण कान्तिसे युक्त शरीरको धारण करता है ।।६१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**टीका**—इत इन्दोश्चन्द्रमसोऽङ्कं चिह्नं तावदनिमितं निष्कारणमेव केचित् जनाः शशमिति वदन्तिः केचित्पुनः कलङ्क मिति वदन्ति, ते वन्दन्तु व्यर्थमेव प्रलपन्तु । तु पुनः किन्तु सुधा कशिम्ब्रमसृतमयगुच्छकं चन्द्रबिम्बं पिपीलिकानां चिण्टिकानामावली परम्परा चुम्बति स्पृशति किलेति युक्तभाषणे तावत् । मधुरपदार्थे पिपीलिकासंसर्गस्य युक्ति युक्तत्वात् ॥६२॥

**दिनेऽपि भावाच्छशिनो न तस्या च कौमुदीयं कुमुदस्य हि स्यात् ।**
**चान्द्री पदे सम्विदि भूपभूवत् सम्बन्धआधार इतो बभूव ॥६३॥**

**टीका**—इयं कौमुदी कुमुदानामियं कौमुदीति कृत्वासौ कुमुदस्य हि स्यात् भवेत्, नाथ शशिनश्चन्द्रस्य, तस्य दिनेऽपि निशात्ययसमयेऽपि भावात्, यदि पुनः कौमुदी चन्द्रस्याभविष्यत्तर्हि दिनेऽपिचाप्राप्यस्य तत्सद्भावा विशेषात् । चन्द्रस्येयं चान्द्रीतिपदे पुनरितः सम्विदि ज्ञाने भूपस्य भूरित्येतावन्मात्रतया रक्ष्यरक्षकरूपसम्बन्धाधारो हेतुरस्तु न पुनः कार्यकारणरूपः सम्बन्धोऽत्र दृश्यते कारणसद्भावे कार्यसद्भावाविशेषात् ॥६३॥

---

**अर्थ**—चन्द्रमाके चिह्नको इधर कोई बिना कारण ही खरगोश कहते हैं और कोई कलङ्क कहते हैं सो कहें—कहते रहें । युक्तिसंगत बात तो यह है कि अमृतके गुच्छक स्वरूप चन्द्र बिम्बको चींटियोंका समूह चुम्बित कर रहा है । भाव यह है कि मधुर पदार्थ पर चीटियोंका लगना युक्तियुक्त है ॥६२॥

**अर्थ**—संस्कृत कोषोंमें चांदनीके जो नाम प्रसिद्ध हैं उनमें **कौमुदी** और **चान्द्री** (चन्द्रिका) नाम भी शामिल है ? इन नामोंकी संगतिका विचार करने वाले कविका कहना है कि यतश्च चन्द्रमा दिनमें भी रहता है अतः यह **कौमुदी** चन्द्रमाकी नहीं हो सकती, यदि चन्द्रमाकी होती तो दिनमें भी रहना चाहिये । इस तर्कसे यह कौमुदी (चांदनी) चन्द्रमाकी न होकर कुमुदोंकी ही हो सकती है क्योंकि कुमुद दिनमें भी रहते हैं परन्तु चांदनी दिनमें रहती नहीं है । चांदनीको **चांद्री** भी कहते हैं पर इसकी संगति **'भूप की भू'** राजाकी भूमिकी तरह रक्ष्य रक्षक भावसे ही सम्भव है कार्य कारण भावसे नहीं । जिस प्रकार राजा भूमिकी रक्षा करता है अतः भूमि राजाकी कहलाती है उसी प्रकार चन्द्र, चांदनीकी रक्षा करता है इसलिये चन्द्रकी कही जाती है । जिस प्रकार भूप, भूका कारण नहीं है उसी प्रकार चन्द्र, चांदनीका कारण नहीं है । यदि कार्यकारण भाव माना जावे तो जब चन्द्रमा दिनमें भी रहता है तब उसका कार्य चांदनी भी दिनमें रहना चाहिये क्योंकि कारण को रहते हुए कार्य अवश्य रहता है । तात्पर्य यह है कि लोग चन्द्रमाको महत्त्व चांदनीके कारण दिया करते हैं पर तर्कसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



एतत्सदिन्दीवरभासि नाम समापतत्साम्प्रतमिन्दुधाम ।
पयोधिमध्ये पततोऽनुनर्ति वृत्तं सुरस्रोतस आबिर्भति ॥६४॥

टीका—एतत्पुरोवर्ति, सदिन्दीवरं समुत्कृष्टनीलोत्पलं तदिव भाः प्रभा यस्य तस्मिन् सदिन्दीवरभासि आकाशे समापतत् यत्पतितं तद् इन्दुधाम चन्द्रमसः प्रकाशो नाम पयोधिमध्ये समुद्रस्यान्तःपततः सुरस्रोतसो गङ्गाप्रवाहस्य वृत्तमाविर्भति धारयति तावत्खलु ॥६४॥

शशी विहायःसरसि प्रसन्नो हंसायते मेचकंशैवलाशी ।
श्रीचन्द्रिकासारिणि वारिणीह तारातती राजति बुद्बुदाशीः ॥६५॥

टीका—विहायःसरसि आकाशसरोवरे प्रसन्नः शशी चन्द्रमा मेचकं[1] तम एव शैवलमश्नातीति सः हंसायते हंस इव लक्ष्यते । श्रीचन्द्रिकासारिणि कौमुद्याः सार इव सारा यस्मिंस्तस्मिन् वारिणि जलप्रवाहे इहाधाररूपे ताराणां नक्षत्राणां ततिः पङ्क्तिः सा बुद्बुदानां जलोत्थफोलकानामाशिर्वचनमिवाशीर्यस्याः सा विराजति खलु ॥६५॥

रामोऽपि राजा हुतवानिदानीं तारावराजीवनकृद्विधानी ।
निशाचरं सन्तमसं विशालैः सलक्षणोऽसौ करवालजालैः ॥६६॥

टीका—राजा चन्द्रमा भूपतिश्च रामो रमणीयो दशरथपुत्रो वा ताराया वरः सुग्रीवो यद्वा ताराणां नक्षत्राणां वरं श्रेष्ठमाजीवनं करोत्येवंविधं विधानं यस्यास्ति सः, इदानीं साम्प्रतं विशालैः सर्वतो गतिशीलैः करवालजालैरसिवरस्य व्यापारैरथवा कराणां

---

कौमुदी और चान्द्री दोनों ही चन्द्रमाकी सिद्ध नहीं होतीं फिर लोग इसे महत्त्व क्यों देते हैं ॥६३॥

अर्थ—समीचीन नील कमलकी प्रभा वाले अर्थात् नीले आकाशमें जो यह चन्द्रमाका प्रकाश पड़ रहा है वह समुद्रके बीच पड़ते हुए आकाश गङ्गाके सादृश्यको धारण कर रहा है ॥६४॥

अर्थ—आकाशरूपी सरोवरमें निर्मल चन्द्रमा, अन्धकार रूप शेवालको खाने वाले हंसके समान आचरण करता है और चन्द्रिकाके सार रूप जलमें ताराओंकी पंक्ति बबूलेके समान सुशोभित हो रही है ॥६५॥

अर्थ—इस समय राम–रमणीय, तारावराजीवनकृद्विधानी—नक्षत्रोंके श्रेष्ठ जीवनको करनेवाले विधानसे सहित एवं सलक्षण—चिह्न युक्त इस राजा–

---

१. 'मेचकः श्यामले बर्हिचन्द्रे ध्वानोऽथ मेचकम्' इति विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



किरणानां बालजालैर्नूतन्तेप्रपञ्चैरसौ निशाचरं रात्रिसम्भवं राक्षसं वा हृतवान् नाशयति स्मेति, सलक्षणः चिह्नसहितो लक्ष्मणनामकेनानुजेन सहितश्च भवतीति ।।६६।।

**स्वगोघृतैरुज्ज्वलितेषु काष्ठोदयेषु तारापरनामसाराः ।**
**जुहोति लाजाः किल कामसिद्ध्यै द्विजाधिराडेष किलाधिकारात् ।।६७।।**

टीका—एष द्विजाधिराट् चन्द्र एव विप्रः स स्वस्य गावो रश्मय एव घृतानि तैरुज्ज्वलितेषु निर्मलीभूतेषु यद्वा ज्वालाकुलितेषु काष्ठोदयेषु दिशागमेष्वेव दारुसंग्रहेषु तारा इत्यपरं नामैव सारो यासां ता लाजाः भ्रष्टतन्दुलानि कामसिद्ध्यै वाञ्छितप्राप्त्यर्थं तथा च स्मरसम्पत्त्यर्थमधिकारात् प्रसङ्गविशेषात् किल जुहोति हवनकर्ता भवति। चन्द्रोदये तारा मन्दतां यान्ति कामवासना वाभिव्यक्ता भवतीति यावत् ।।६७।।

**पयोनिधेः फेनकचन्दनन्तु भङ्गाः समुत्पेष्टुमहो जयन्तु ।**
**मुदे समादाय तदेतदेष दिगङ्गना लिम्पति लाञ्छनेशः ।।६८।।**

टीका—फेनकमेव चन्दनं समुत्पेष्टुं घर्षयितुं पयोनिधेः समुद्रस्य भङ्गास्तरङ्गा

---

चन्द्रमाने विशाल करवालजाल—किरणोंके नूतन प्रपञ्चके द्वारा निशाचर—रात्रि सम्बन्धी सन्तमस—घोर अन्धकारको नष्ट कर दिया है।

**अथवा**

इस समय तारावराजीवनकृद्विधानी—सुग्रीवके उत्कृष्ट जीवन निर्माता तथा सलक्षणः—लक्ष्मण नामक अनुजसे सहित रामो राजा—राजा रामचन्द्रने संतमस—घोर अज्ञानी—महापराधी निशाचर—रावण रूप राक्षसको अपनी विशाल तलवारोंके समूहसे नष्ट कर दिया ।।६६।।

अर्थ—चन्द्रिकाका प्रसार होने पर धीरे-धीरे नक्षत्रोंके समूह दिशाओंमें अन्तर्हित होने लगे इससे ऐसा जान पड़ता है मानों यह चन्द्रमा रूपी श्रेष्ठ ब्राह्मण अपने अधिकारसे कामसिद्धि—अभिलषित अर्थकी सिद्धिके लिये (पक्षमें काम बाधाकी अभिव्यक्तिके लिये) अपने किरण रूप घीके द्वारा प्रज्वलित—प्रकाशमान (पक्ष में ज्वालाओंसे युक्त) काष्ठोदय—दिशाओंके समागममें (पक्षमें समिधानामक काष्ठ संग्रहमें) तारा-नक्षत्र नामक लाईको होम रहा है। तात्पर्य यह है कि नक्षत्र कम होने लगे तथा स्त्री-पुरुषोंमें कामकी अभिव्यक्ति शुरू हो गई ।।६७।।

अर्थ—फेनरूपी चन्दनको घिसनेके लिये समुद्रकी लहरें जयवन्त प्रवर्तें। उसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जयन्तु, तदेतत्समादाय लात्वा मुदे प्रसत्तये लाञ्छनेशश्चन्द्रमाः कर्ता दिगङ्गना लिम्पति चन्द्रोदये समुद्रोऽभ्युदयमाप्नोति दिशाश्च सर्वाः प्रसादमाप्नुवन्ति ॥६८॥

**स्तनन्धयः सम्भवतीव कामी यज्जन्मपत्रस्य विधोः स्मरामि ।**
**यस्यारिभावे गुरुशुक्लतास्ति व्ययस्थलेऽथो तमसोऽभ्युपास्तिः ॥६९॥**

**टीका**—कामी जनो मदनभावनावान् स स्तनं धावतीतिस्तनन्धयो नाम महिला-सहवाससहितोऽथ च स्तनपानशीलः सम्भवति। यस्य जन्मपत्रं यज्जन्मपत्रं तस्य विधोश्चन्द्रस्य स्मरामि चन्द्रमसं स्तनन्धयस्य कामिनो जन्मपत्रमेवानुभवामि, यस्य व्ययभावे द्वादशे स्थाने तमसो नाम राहोरभ्युपास्तिरथ च व्ययस्थले नाशस्वरूपे तमसोऽन्धकारस्याऽभ्युपास्तिः, अरिभावे षष्ठस्थले गुरुर्बृहस्पतिः शुक्लश्च भृगुस्तयोर्भावः गुरुशुक्लता यद्वा गुर्वी शुक्लता धवलीभावोऽस्ति किल ॥६९॥

**पीयूषपात्रान्निपतन्ति यानि पृषन्ति सन्तीव शुभानि भानि ।**
**जनैरिदानीमुत दृश्यते खाद्भिन्नस्य तस्यैव कलङ्करेखा ॥७०॥**

---

फेन रूपी चन्दनको लेकर आनन्दके लिये यह चन्द्रमा दिशारूपी स्त्रियोंको लिप्त कर रहा है।

**भावार्थ**—चन्द्रोदय होनेसे समुद्र लहराने लगा है। लहरानेसे फेन उत्पन्न हो रहा है और उसकी सफेदीसे दिशाएँ उज्ज्वल हो रही हैं ॥६८॥

**अर्थ**—इस समय मनुष्य कामी—कामवासनासे युक्त क्या हुआ है मानों बालकका जन्म हुआ है क्योंकि जिस प्रकार कामी मनुष्य स्तनन्धय—स्तनकी ओर दौड़ता है—स्तनस्पर्श करना चाहता है उसी प्रकार बालक भी स्तनन्धय—स्तनपान करने वाला होता है। मैं चन्द्रमाको उस बालकका जन्मपत्र समझता हूँ अर्थात् चन्द्रमासे मनुष्यके मनमें कामभावनाकी जागृति होती है। उस चन्द्रमा रूप जन्मपत्रके अरिभाव—षष्ठस्थानमें गुरुशुक्लता—बृहस्पति और शुक्र ग्रहका सद्भाव है (पक्षमें अत्यधिक शुक्लता—सफेदीका सद्भाव है) और व्ययस्थान—बारहवें स्थानमें तम-राहुग्रहकी उपासना-सद्भाव है। पक्षमें अन्धकारका सद्भाव है।

**भावार्थ**—जिस प्रकार बालकके जन्मपत्रमें चन्द्र, गुरु, शुक्र और राहुका विचार किया जाता है उसी प्रकार कामी मनुष्यके विषयमें भी श्लेषसे चन्द्र, गुरु शुक्र और तम—राहुका विचार किया गया है ॥६९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



टीका—पीयूषस्य पात्रं चन्द्रमास्तस्मात् यानि कानिचित् पृषन्ति बिन्दवः पतन्ति तानि शुभानि प्रशस्तरूपाणि अमूनिमानि सन्ति लसन्ति। तस्यैव भिन्नस्य कुतोऽपि कारणात् स्फुटितस्य पीयूषपात्रस्य कलङ्करूपेण या लेखा संजाता सा किल जनैरिदानीमधुनापि खान्नभसः स्पष्टं दृश्यते तावत्। उतेति कल्पनान्तरेऽत्र प्रयुक्तः ॥७०॥

**सुधाकरं श्रीकलशं दधानाम्बरं वरं क्षालयतीव मानात्।**
**तमोमलं हन्तुमथ क्षपेयं सायस्फुरत्फेनिलनामधेयम् ॥७१॥**

टीका—इयं क्षपानाम रात्रिः सुधाकरं चन्द्रमेव श्रीकलशं जलपरिपूर्णं कुम्भं दधाना-धारयित्री सायं संध्यालक्षणमेव स्फुरद्भासमानं फेनिलनामधेयं यत्र वर्तते तदेतत्तम एव मलं हन्तुमपाकर्तुमम्बरमाकाशमेव वस्त्रं वरं यथा स्यात्तथा क्षालयतीव। किलेतिमानान्नाम प्रमाणविशेषादनुमान नामधेयादनुज्ञायते ॥७१॥

**पादार्दितामह्नि रवेस्तु दीनां रुतैरिदानीं रुदतीमलीनाम्।**
**परामृशन् भाति निशानिशानः कुमुद्वतीं स्मेरमुखीं दधानः ॥७२॥**

टीका—अह्नि तावद्दिने तु रवेः सूर्यस्य पादैः किरणैरेव चरणाघातैः कृत्वार्दितां पीडितां यावद्दिनं सूर्यपादैस्ताडितामिदानीं पुनरलीनां भ्रमराणां रुतैः शब्दैः कृत्वा रुदतीं कुमुद्वतीं कुमुदलतां स्मेरमुखीं सहासवक्त्रां दधानः कुर्वाणः निशानिशानश्चन्द्रमाः तामिमां परामृशन् भाति खलु ॥७२॥

---

अर्थ—अमृतभाजन—चन्द्रमासे जो बूंदें निकल रही हैं वे ही शुभ नक्षत्र हैं और यह कलङ्ककी रेखा उसी फूटे हुए अमृतभाजनके मध्य दिखने वाला श्यामल आकाश है ॥७०॥

अर्थ—ऐसा अनुमान है कि चन्द्रमारूपी शोभायमान कलशको धारण करनेवाली रात्रिरूपी स्त्री अन्धकाररूपी मैलको दूर करनेके लिये सन्ध्यारूप रीठा या साबुनसे युक्त अम्बर—आकाशरूपी अम्बर—वस्त्रको अच्छी तरह मानों धो ही रही है ॥७१॥

अर्थ—दिनभर सूर्यके पादों—किरणों (पक्षमें चरणाघातों)से पीड़ित अतएव भ्रमर शब्दोंके द्वारा रोती हुई दीन कुमुदिनीको यह चन्द्रमा स्पर्श करता और प्रसन्नमुखी करता हुआ सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई नायक अपनी नायिकाको अन्य पुरुषसे ताडित होनेके कारण रोती तथा दीनावस्थाको प्राप्त देख हाथसे उसका स्पर्श करता हुआ उसे प्रसन्नमुखी बना देता है उसी प्रकार चन्द्रमा भी सूर्यके पदाघातोंसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**श्रीमान् शशी कैरविणीवनेषु नरोऽपि नारी मुखचुम्बनेषु ।**
**नियुज्यमानो भवनप्रदेशे सदम्बरोत्तानिततल्पवेशे ॥७३॥**

**टीका**—सदम्बरेणाकाशेनैन वस्त्रेणोत्तानिते विस्तारिते तल्पस्य शयानकस्य वेशे निवेशे, भानां नक्षत्राणां वनस्य स्थानस्य प्रदेशे यद्वा भवनस्य शय्यागारस्य प्रदेशे कैरविणीवनेषु कुमुद्वतीसमूहेषु नियुज्यमानः शशी चन्द्रमाः, अपि पुनर्नारीणां स्वस्त्रीणां मुखानां चुम्बनेषु आस्वादनेषु नियुज्यमानश्च नरः श्रीमानेव ॥७३॥

**सापि कला शिशिरोचितविभवा कमलं कर्तुमुपगतात्र न वा ।**
**परमहिमामृतवर्षिण्येषा ज्येष्ठसुखाय समस्ति विशेषात् ॥७४॥**

**टीका**—सा सिद्धस्वभावापि पुनः कला शशिन इति शेषः । शिशिरोऽनुष्णरूप उचितो विभवो यस्यास्सा कं पुरुष मलं कर्तुं भूषयितुं वा नोपगता प्रवृत्ता । पर उत्कृष्टो महिमा यस्यास्सा, अमृतस्य पीयूषस्य वर्षिणी वर्षाकर्त्री विशेषात्स्पष्टरूपेण ज्येष्ठमुत्तमं षड्ऋतुजातं सुखं तस्मै समस्ति सर्वदैवाह्लादकारिणी भवति । यतः सा पिकान् कोकिलांल्लाति

---

दिनभर ताडित तथा भ्रमर शब्दोंके बहाने रोती हुई कुमुदिनीको अपने कर स्पर्शसे सान्त्वना देता हुआ प्रसन्नमुखी कर रहा है । भाव यह है कि रातमें कुमुदिनी खिल उठी और उसपर भ्रमर गुञ्जार करने लगे ॥७२॥

**अर्थ**—समीचीन अम्बर-आकाशरूप वस्त्रके द्वारा जिसमें शय्या बिछाई गई है ऐसे भ-वन-प्रदेश—नक्षत्रोंके स्थानस्वरूप आकाश प्रदेशके मध्य, कुमुदिनियोंके समूह में नियुज्यमान-पतित्व भावसे स्वीकृत चन्द्रमा श्रीमान्—अद्‌भुत शोभासे सहित है । और सदम्बर-उत्तम क्षौम—रेशमी वस्त्रसे निर्मित शय्या जिसमें बिछायी गयी है ऐसे भवन प्रदेश-उत्तममहलके मध्य अपनी स्त्रियोंके मुख चुम्बनमें संलग्न पुरुष भी श्रीमान्—सौभाग्य लक्ष्मीसे युक्त हैं ॥७३॥

**अर्थ**—जो, **शिशिरोचितविभवा**—शीतलता प्रदान करने वाले योग्य वैभवसे युक्त है, **पर-महिमा**—उत्कृष्ट महिमासे सहित है, तथा **अमृतवर्षिणी**—सुधा बरसानेवाली है ऐसी चन्द्रमाकी वह प्रसिद्ध कला **कमलंकर्तुं**—किसे विभूषित करनेके लिये यहाँ नहीं आयी है ? अपितु सभीको विभूषित करनेके लिये आयी है । इस प्रकार वह कला स्पष्टरूपसे [1]**ज्येष्ठसुखाय**—श्रेष्ठ सुखके लिये है ।

---

१. अतिशयेन प्रशस्यं श्रेष्ठं ज्येष्ठं च । 'प्रशस्य श्रा' 'ज्या च' इत्यनेन प्रशस्य स्थाने 'श्रा' 'ज्या' इत्यादेशौ भवतः सि० कौ० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स्वीकरोतीति पिकला वसन्तर्तुस्वरूपा। तथैव शिशिरस्यर्तोरुचितो विभवो यस्यास्सा। कमलं जलजमिति जात्यामेकवचनं ततः कमलसमूहं कर्तुं सम्पादयितुमुपगता। नवा नवीनरूपार्थात् शरदृतुः। परमो हिमः प्रालेयप्रचयो यस्यां सा परमहिमाहिमर्तुवती। अमृतवर्षिणी जलवर्षाकारिणी, ज्येष्ठस्य मासस्य सुखाय वा समस्ति ॥७४॥

**बद्धं त्वनर्घस्य किमर्थमेतद्धैमं तुलाकोटियुगं च मे तत्।**
**इतीव रोषात् पदयुग्ममासीद्रक्तं रमाया अरुणोपभासि ॥७५॥**

टीका—इदानीं पुर्नानिशासमागमेन कृत्वा स्त्रीणां शृङ्गारकरणमेव वर्णयति। मे ममानर्घस्यामूल्यस्वरूपस्य तदेतत् हेमसंजातं हैमं तुलाकोट्योर्नूपुरयोर्युगं द्वितयं किमर्थमिति बद्धं, इतीव कृत्वारोषात् कोपवशात् रमायाः स्त्रियाः पदयोश्चरणयोर्युग्मं द्वितयं अरुणया 'महदी' ति नामिकयोपभासि रक्तं लोहित सासीदभूत् ॥७५॥

**नितम्बबिम्बे परयोपरोपिताभितःस्खलन्ती खलु सप्तकी सिता।**
**मिता पताकेव जिताखिलारिणः प्रासादशृङ्गेऽहिपहारवैरिणः ॥७६॥**

टीका—परया कयाचित् स्त्रिया नितम्बबिम्बे स्वकीयश्रोणिप्रदेशे सिता समुज्ज्वलरूपा सप्तकी 'करधनी' ति प्रसिद्धा मेखला उपरोपिता परिधारिता, या खलु जिताः परास्ता अखिला अरिणः शत्रवो येन तस्य, 'अरं दुष्टत्वं यस्यास्तरीत्यरीतीनन्तत्वसम्पत्तेः। अहिपः शेषनाग एव हारो गलभूषणं यस्य रुद्रस्य वैरी कामदेवस्तस्य पताकेव ध्वजवस्त्रलेखेव मिता लोकैरनुमानिता खलु प्रासादस्य निवासस्थानस्य हर्म्यरूपस्य शृङ्गे ऊर्ध्वप्रदेशे। कामदेवस्य निवासस्थानं तावन्नितम्बस्थलम् ॥७६॥

---

अथवा वह कला छह ऋतुओं सम्बन्धी सुखके लिये है। यतश्च चन्द्रमाकी वह कला **पिकला**—कोयलोंको स्वीकृत करती है अतः **वसन्त ऋतु** रूप है, **शिशिरोचित विभवा**—शिशिरऋतुके योग्य वैभवसे सहित है अतः **शिशिर ऋतु** रूप है, **कमलं कर्तुं**—कमल समूहको करनेके लिये आयी है अतः नूतन **शरद ऋतु** रूप है, **परम-हिमा**—अत्यधिक बर्फसे सहित है अतः **हेमन्त ऋतु** (हिम ऋतु) रूप है, अमृत—**वर्षिणी**—जल बरसाने वाली है अतः वर्षाऋतु रूप है, और **ज्येष्ठ-सुखाय**—जेठमासके सुखको करने वाली है अतः ग्रीष्मऋतुरूप है ॥७४॥

**अर्थ**—[ रात्रि समागमसे स्त्रियोंने अपने शरीरका शृङ्गार किया—यह वर्णन चल रहा है।] मुझ अमूल्यके लिये यह स्वर्णमय नूपुरोंका युगल क्यों बाँध दिया, इस क्रोधके कारण ही मानों स्त्रीका चरण युगल मेहदीसे लाल वर्ण हो गया था ॥७५॥

**अर्थ**—किसी अन्य स्त्रीने अपने नितम्ब स्थल पर वह करधनी पहिन रक्खी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तारुण्यतेजोभिरभूत्स्तनाख्यो द्वीपोऽपियोऽनङ्गनिवासयोग्ये।
व्यच्छादि हारावलिवारिपूरैः क्षेत्रेऽन्यया कान्तिझरैकयोग्ये ॥७७॥

टीका—अनङ्गस्य कामस्य निवासयोग्ये, कान्तेर्झरः प्रवाह तेनैकेनभोग्ये भोक्तुं योग्ये क्षेत्रे स्वकीयशरीरे तारुण्यस्य तरुणिम्नस्तेजांसि तैर्योऽसौ स्तनाख्य उरोरुहरूपो द्वीपोऽभूत् बभूव स हारावलय एव वारिपूरा जलप्रवाहास्तैः कृत्वा व्यच्छादि आच्छादितोऽन्यया कयापि स्त्रिया हारपरिधारणं कृतमित्यर्थः ॥७७॥

श्रुतिलङ्घनाय वाञ्छति नयनद्वितये स्वभावतस्तरले।
उचितज्ञताधिपन्ना साध्वी कज्जलमलंचक्रे ॥ ७८ ॥

टीका—साध्वी सत्स्वभावा स्त्री उचितं जानातीत्युचितज्ञस्तस्य भावे भावे तसिलप्रत्ययं विधायोचितज्ञतयाधिपन्ना प्रसिद्धा सती श्रुतेः कर्णस्य धर्मशास्त्रस्य च लङ्घनाय तिरस्करणाय पारगमनाय च वाञ्छति सति यतः स्वभावत एव तरले चञ्चलरूपे नयनयोर्द्वितये कज्जलमलंचक्रेऽञ्जनमज्जितवती कलङ्कस्वरूपम् ॥ ७८ ॥

गुरुशुक्लतया निवेशिते मृदुचन्द्राननयाथ कुण्डले।
खलु दौरुधरीं श्रियं तरां स्म बिभर्तः प्रियकामजन्मनि ॥७९॥

टीका—अथ पुनर्मृदु सुकोमलं चन्द्रवदाननं यस्यास्तया कयापि स्त्रिया गुरुशुक्लतयातिशयधवलिम्ना निवेशिते आरोपिते कुण्डले तथा गुरुबृहस्पतिः शुक्लो ( रलयो-

---

जो सब ओरसे नीचे खिसक रही थी तथा जिसे लोग सब शत्रुओंको जीतनेवाले कामदेवके महलकी शिखरपर फहराती हुई पताका मानते थे ॥७६॥

अर्थ—कामदेवके निवासके योग्य तथा कान्तिके प्रवाहके योग्य अपने शरीरमें यौवनके तेजसे जो स्तन नामका द्वीप बन गया था वह किसी अन्य स्त्रीके हारावलिरूप जलके प्रवाहोंसे आच्छादित हो गया था—तिरोहित हो गया था ॥७७॥

अर्थ—स्वभावसे चञ्चल नयनयुगल जब श्रुति कर्ण ( पक्षमें धर्मशास्त्र)को उल्लङ्घित करने अथवा तिरस्कृत करनेकी इच्छा करने लगा तब उचित बातको जानने वाली किसी साध्वी—उत्तमस्वभावसे युक्त स्त्रीने उसे कज्जलसे अलंकृत कर दिया—'बस करो' यह कहकर आगे बढ़नेसे रोक दिया अथवा दण्ड स्वरूप उसे कलङ्कित—लाञ्छित कर दिया। तात्पर्य यह है कि किसी स्त्रीने नेत्रोंमें काजल लगाया ॥ ७८ ॥

अर्थ—चन्द्रके समान कोमल मुख वाली किसी स्त्रीके द्वारा अत्यधिक शुक्लता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



रभेदात् शुक्रो ) भृगुस्तयोर्भावो गुरुशुक्लता तया प्रियस्य हृदयेश्वरस्य कामजन्मनि अनुरागोत्पत्तिविषये दौरुधरीं श्रियं बिभर्तस्तरां स्मेति खलूत्प्रेक्षायां। गुरुशुक्रग्रहयोर्मध्ये चन्द्रसन्भावनया दुरुधरयोगो भवतीति ज्योतिः शास्त्रे ॥ ७९ ॥

**अथ चक्रवदाबभौ कयावधृतं गन्धवहाविभूषणम् ।**
**अवकृष्टमिवाशु कोषतो विजिगीषोः स्मरचक्रवर्तिनः ॥८०॥**

टीका—अथ पुनः कयान्ययावधृतं गन्धवहाविभूषणं जेतुमिच्छुर्विजिगीषुस्तस्य स्मरचक्रवर्तिनः कामदेवसम्राजः आशु शीघ्रमेव कोषतोऽवकृष्टं निष्कासितं चक्रवदायुध इवाबभौ ॥ ८० ॥

**एकत्राङ्कितचौरसाधु पतिभिः शश्वत्वणिग्भिर्भवान्**
**रङ्गाहो तुलितोऽसि हेमतुलयास्तां किंतु रत्नाञ्चितम् ।**
**प्रीत्या तत्तु विशालदृग्भिरधुनात्वारोप्यते मस्तके**
**पापाप्नोषि हतोऽसि मुग्धवनितापादेषु पश्य स्थितिम् ॥८१॥**

टीका—एकत्र एकस्थाने चौरः साधुपतिश्चेति द्वौ यैस्तै रेकस्मिंनेवाङ्कनपत्रे चौर नाम साधुजन नाम च लिख्यते यैस्तै र्वणिग्भि हे रङ्ग। हेमतुलया त्वमपि तुलितोऽसि अहो आश्चर्यप्रकाशने। तत्तावदास्तां किंतु अधुना साम्प्रतं तत् हेम स्वर्णं तु खलु प्रीत्या प्रेमपूर्वकं रत्नैः खचितं कृत्वा विशालदृग्भिरुत्फुल्ललोचनाभिर्मस्तके आरोप्यतेऽपि। हे पाप ? मुग्धवनितानां नववधूनां पादेषु चरणेषु स्थितिमाप्नोषि पश्य त्वं तावद्धतोऽसि ॥ ८१ ॥

---

( पक्षमें गुरुशुक्लतया—गुरु और शुक्र ग्रहके योग ) के कारण धारण किये हुए कुण्डल प्रिय—पतिके हृदयमें कामभाव उत्पन्न करनेके लिये दुरुधर योगकी शोभाको अत्यधिक रूपसे धारण कर रहे थे। ज्योतिष शास्त्रके अनुसार गुरु और शुक्र ग्रहके बीच चन्द्रकी संभावना होनेपर दुरुधर योग होता है ॥ ७९ ॥

**अर्थ**—किसी अन्य स्त्रीके द्वारा धारण किया हुआ नाक का आभूषण, विजयाभिलाषी कामदेवके शीघ्र ही म्यानसे निकाले हुएके चक्रके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ८० ॥

**अर्थ**—एक ही अङ्कनपत्र—बंहीमें चौर और श्रेष्ठ साधुओंके नामको अङ्कित करने वाले व्यापारियोंके द्वारा हे रांगे ! आप सदा स्वर्णकी तराजूसे तोले गये हो अर्थात् व्यापारियोंने जिस तराजूसे स्वर्ण तोला है उसीसे आपको तोला है। यह आश्चर्यकी बात थी। पर अब वह दूर रहे। इस समय तो वह सुवर्ण विशाक्षी—स्त्रियोंके द्वारा रत्न जटितकर प्रीतिपूर्वक मस्तकपर धारण किया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



अनुबद्धपरस्पराङ्गुलिस्वकरद्वन्द्वमुदञ्च्य जृम्भिणी ।
हृदयं विशतो मनोभुवः कृतवत्येव च तोरणश्रियम् ॥८२॥

टीका—अनुबद्धाः सम्मिलिताः परस्परस्याङ्गुलयो यत्र तदनुबद्धपरस्पराङ्गुलि स्वस्य करयोर्हस्तयोर्द्वन्द्वमुदञ्च्योच्चैर्विधाय जृम्भिणी जृम्भावती स्त्री तत्कालं हृदयमन्तः-करणं विशतः प्रवेशं कुर्वतो मनोभुवो मदनस्य तोरणश्रियं सालंकारद्वारोद्घाटनशोभां कृतवती सम्पादयतीव रराजेति शेषः ॥८२॥

प्रियागमनतत्परा यदधिजानु सत्कूर्परा-
भिनम्रकरपल्लवार्पितकपोलमूला परा ।
लिलेख समयोचितोत्पठितमञ्जु मञ्जु स्वना
परेण भुवि पाणिना किमपि यन्त्रमाकर्षकम् ॥८३॥

टीका—परान्या कापि स्त्री प्रियस्यागमने तत्परा तल्लीना यत् यस्मात् किल जानू-परिवर्तमानमधिजानु सन् प्रशंसनीयः कूर्परः कफोणिदेशो यत्र स चासावभिनम्रो नतिमाप्तः कर एव पल्लवस्तस्मिन्नर्पितं संधारितं कपोलस्य मूलं यया सा सती मञ्जु-

---

जाता है परन्तु हे पापी रांगे ! तूं मुग्ध स्त्रियोंके पैरोंमें स्थितिको प्राप्त हो रहा है अर्थात् स्त्रियाँ तेरे कड़े बनवाकर पैरों में पहिनती है इस तरह तू भाग्य-हीन है।

**भावार्थ**—अविचारी लोगोंके द्वारा अच्छे बुरेका विचार न किया जावे यह ठीक है परन्तु जो विशाल दृष्टि विचारवान हैं वे अच्छे बुरेका विचार अवश्य करते हैं। इसीलिये विशाल दृष्टि स्त्रियाँ सीसफूल बनाकर रत्न जटित स्वर्णको मस्तकपर धारण करती हैं और मुग्ध–मूढ–ग्राम्य स्त्रियाँ कड़े बनवाकर रांगेको पैरों में पहिनती हैं। तात्पर्य यह है कि स्त्रियाँ रत्न जडित स्वर्णमय शीशफूल मस्तकोंपर धारण कर रही हैं ॥८१॥

**अर्थ**—जिनकी अङ्गुलियाँ परस्पर मिली हुई हैं ऐसे दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर जमुहाई लेती हुई स्त्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों उस समय हृदयमें प्रवेश करते हुए कामदेवके लिये तोरण ही बाँध रही हो ॥८२॥

**अर्थ**—प्रियागमनकी प्रतीक्षामें लीन तथा घुटनोंपर रखी टेहुनीसे कुछ झुके कर पल्लवमें कपोल रखे हुई कोई मधुरभाषिणी स्त्री उस अवसरके योग्य पाठ पढ़ती हुई दूसरे हाथसे पृथिवीपर किसी आकर्षक अनिर्वचनीय यन्त्रको लिख रही थी।

**भावार्थ**—पति प्रतीक्षामें लीन कोई स्त्री घुटनेपर स्थित एक हाथमें कपोल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स्वना मञ्जुभाषिणी परेणेतरेण पाणिना हस्तेन भुवि पृथिव्यां किमप्यनिर्वचनीयमाकर्षक- यन्त्रं समयेऽवसरे यदुचितं तदुत्पठितं तेन मञ्जु यथास्यात्तथा लिलेख ॥८३॥

**विभूषणैः स्पष्टमलंकृतं वपुर्नितम्बिनीनां समलंकृतं पपुः ।**
**मृगाण्डखण्डा गुरु चन्दनार्चावशाच्छ्रियः सदोषं धवसंभुवां दृशाम् ॥८४॥**

टीका—नितम्बिनीनां स्त्रीणां वपुः शरीरं नूपुरकेयूरेकुण्डलादिभिरलंकृतं शृङ्गारितं तदेव पुनर्मृगाण्डस्य कस्तूरिकायाः खण्डो लेशोऽगुरुचन्दनं च तयोश्चर्चना विलेपनं तद्वशात् धवस्य पत्युः सम्भुवां प्राणेशसम्बन्धिनीतां दृशां चक्षुषां श्रियः शोभाः दोषया रात्र्या सहितं सदोषं यद्वा दोषेण दूषणेन सहितं सदोषं पपुः पीतवत्यः खलु ॥८४॥

**इतः कलत्राणि न बालकानि मुखानि येषां तु नवालकानि ।**
**धनूंषि कामेन च तानितानि मनांसि यूनां सुरताश्रितानि ॥८५॥**

टीका—इतः कलत्राणि स्त्रियः बालका न भवन्तीत्यबालकानि युवत्योऽथवा न संजाता बालका येषां तान्यपि नवालकानि नवयौवनवत्यः स्त्रिय इत्यर्थः । येषां कलत्राणां मुखानि तु पुनर्नवालकान्येव यतो नवा नवीनाः कोमलाः श्यामलाः सद्यः शृङ्गारिताश्चालका येषां तानि भवन्ति । कामेन स्मरेण धनूंषि तानितानि (विस्तारितानि) कामः सज्जायुधो बभूव । यूनां तरुणानां मनांसि हृदयानि च सुरतं रतिसुखमाश्रयन्तीति सुरताश्रितानि तथैव सुरतां देवतारूपतां दिव्यतामाश्रयन्तीति वा ॥८५॥

---

रखे हुई थी तथा कुछ गुनगुनाती हुई दूसरे हाथसे पृथिवीको कुदेर रही थी । उससे ऐसी जान पड़ती थी मानों मन्त्रोच्चारणपूर्वक किसी आकर्षक यन्त्रको ही लिख रही हो ॥८३॥

अर्थ—स्त्रियोंका शरीर यद्यपि नूपुर-केयूर-कुण्डलादि आभूषणोंसे अच्छी तरह अलंकृत-शृङ्गारित था तथापि पति—सम्बन्धी नेत्रोंकी शोभाने उसे कस्तूरी और अगुरु चन्दनकी लेपके कारण सदोष—रात्रिसे सहित अथवा श्यामलता रूप दोषसे समलं-कृतं-मलिन किया हुआ देखा था ॥८४॥

अर्थ—इधर स्त्रियाँ न बालक—पूर्ण युवतियाँ अथवा बालक न होनेसे रति क्रियामें पूर्ण सक्षम थीं उनके मुख भी नवालक—नवीन संभाले हुए केशोंसे सहित थे और इधर कामदेवने धनुष नग्न रक्खे थे अतः तरुण जनोंके मन सुरताश्रित—संभोग सुखके आश्रित हो रहे थे अथवा दिव्यरूपताको प्राप्त हो रहे थे ॥८५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**प्रणयविकाशविदः पुनरपाङ्गमयगोभिरुचितचित्तहृतः ।**
**दृश इव सख्यो युवतिभिरधिदयितं प्रेषिताः कतिभिः ॥८६॥**

टीका—पुनरनन्तरं कतिभिर्युवतिभिस्तरुणीभिर्दयितसमीपमित्यधिदयितं प्रियस्य पार्श्वमित्यर्थः सख्यो वयस्याः प्रेषिता इव लोचनानि यथा, प्रणयस्य प्रेम्णो विकाशं विदन्ति जानन्तीति प्रणयविकाशविदः सख्यो दृष्टयश्च । तथापाङ्गो मदनः पक्षेऽपाङ्गाः नेत्रप्रान्तास्तन्मयीभिर्गोभिर्वाणीभिरुत रश्मिभिरुचितं चित्तं यद्वोचितस्य चित्तं हरन्तीति ता उचितचित्तहृतः सख्यो दृष्टयश्च ॥८६॥

**संदिशेति किल तुल्ययोदिता लज्जया किमपि नाहमानिनी ।**
**नम्रया खलु भृशं दृशात्र सा स्मेक्षते त्वतनुतापितां तनुम् ॥८७॥**

टीका—हे सखि सन्दिशेति किल तुल्यया समवयस्कयोदिता प्रतिनिवेदयितुं प्रेरिता मानिनी स्त्री लज्जया कृत्वा किमपि नाह न निजगाद किल । अत्र तु पुनः सा अतनुना कामेन तापितां तनुं शरीरं नम्रया नतया दृशा दृष्टया कृत्वा भृशं पुनः पुनरीक्षते स्म खलु पतिसंयोगवाञ्छाभिव्यक्त्यर्थम् ॥८७॥

**सखि ! त्वं स्निग्धाङ्गी प्रभवति युवा सोऽपि तरलः**
**तमिस्रेयं रात्री रहसि कथनीयं मदुदितम् ।**
**समस्येयं क्लिष्टात्र दिशतु क्लिष्टन्तु भगवा-**
**नियं वाचां वल्ली प्रसरति सती स्माम्बुजदृशः ॥८८॥**

टीका—पतिसंयोगाभिलाषवती स्त्री सखीं प्रति किं सन्दिदेशेति कथयति तावत् ।

---

अर्थ—कितनी ही युवतियोंने अपने पतिके पास उन सखियोंको भेजा जो उन्हींकी दृष्टिके समान थीं, क्योंकि जिस प्रकार दृष्टि प्रेमके विकासको जानने वाली होती है उसी प्रकार सखियाँ भी नायक नायिका सम्बन्धी प्रेमके विकासको जानने वाली थीं और जिस प्रकार दृष्टि **अपाङ्गमयगोभिः**—कटाक्षमय वाणीके द्वारा उचित–योग्य अथवा इच्छित पतिके चित्तको हरती है उसी प्रकार सखियाँ भी **अपाङ्गमयगोभिः**—काममय वचनोंके द्वारा इच्छित पतिके चित्तको हरने वाली थीं ॥८६॥

अर्थ—कोई सखी नायकके पास जाकर कहती है—मानवती सखीने लज्जावश मुझसे ऐसा कुछ नहीं कहा है कि तुम उनसे संदेश कहो । किन्तु नीची दृष्टिसे वह यहाँ कामके द्वारा संतापित शरीरको बार-बार देखती रही ॥८७॥



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



हे सखि ! त्वं स्वयं स्निग्धाङ्गीति स्नेहभूमिः, स च युवा वयःपरिपूर्णस्तरलश्चपलतामापन्नोऽपि प्रभवति स्वतन्त्रायते। इयं रात्रिस्तमिस्रा तमसापरिपूर्णा, मदुदितं च रहस्येकान्तस्थाने कथनीयं निवेदनीयमितीयं समस्या क्लिष्टा दुःसम्पाद्या। अत्र प्रसङ्गे तु पुनर्भगवानिष्टं दिशतु प्रतिपादयतु। इयं सती प्रशंसायोग्यावसरोदितत्वाद्वाचां वल्ली परम्परा कस्या अप्यम्बुजदृशः कमललोचनायाः प्रसरति ॥८८॥

अनुकूलेङ्गितकर्त्रीच्छायेव प्रेषिताथ कामिन्या।
दयितं प्रतीतिदूती सन्देशमुदाजहार सती ॥८९॥

टीका—अथानन्तरं छायेव शरीरच्छविरिवानुकूलं स्वकीयचेष्टानुसारमिङ्गितं चेष्टितं करोतीति स्त्री अनुकूलेङ्गितकर्त्री दयितं स्वस्वामिनं प्रति समीपं प्रियस्येति। कामिन्या कयापि वाञ्छावत्या प्रेषिता दूती सती निम्नप्रकारेण सन्देशमुदाजहार निगदितवतीत्यर्थः ॥८९॥

त्वं विजितमदनरूपस्त्वय्यनुरक्ता च हरिणनयना सा।
इत्यनुशयादिवामूमुत्तपति किलैकिकां मदनः ॥९०॥

टीका—दूती गत्वा यदेवोक्तवती तदेवानुवदति। हे सुन्दर ! त्वं विजितं न्यक्कारतां नीतं मदनस्य रूपं येन स तादृशः। सा च हरिणस्य नयने इव नयने यस्याः सा सुविशालतिरमचञ्चललोचना त्वयि विषयेऽनुरक्तानुरागकर्त्री भवति। ततः शत्रोर्मित्रं च शत्रुरेवेति नीतितोऽनुशयादिव कोपवशादेव किलामूमेकिकामेकाकिनीमसहायां मदनः कामदेव उत्तपति कष्टकरो वर्तते ॥९०॥

---

अर्थ--कोई स्त्री सहेलीसे कह रही है--"हे सखि ! तुम स्नेहकी भूमि हो (तुम्हारा मुझपर जितना स्नेह है यह मैं जानती हूँ) वह युवा चपल है (शीघ्र ही तुम्हारी बात मानने वाला नहीं है) रात अंधेरी है (तुम कैसे जा सकोगी) फिर मेरा संदेश एकान्तमें कहना है (उसके पास भीड़ लगी रहती होगी) इस तरह यह समस्या कठिन है (सुखसे सुलझने वाली नहीं है) (फिर भी आशावती हूँ) भगवान् इष्टमार्गको बतावेंगे।" इसप्रकारके वचन किसी कमल-लोचनाके मुखसे निकल रहे थे ॥८८॥

अर्थ--तदनंतर किसी कामातुर स्त्रीके द्वारा पतिके पास भेजी गई, छायाके समान अनुकूल चेष्टा करनेवाली दूतीने सहेलीका सन्देश कहा ॥८९॥

अर्थ—कोई दूतो नायकसे कहती है--हे सुन्दर ! तुमने कामदेवका रूप जीता है और वह तुममें अनुरक्त है, इस क्रोधसे ही मानों कामदेव उस बेचारी अकेलीको संतप्त करता है ॥९०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कुसुमादपि सुकुमारं वपुरबलानामितीदमुद्धरति ।
इषुणा स्मरस्य सुन्दर ! कुसुमेन हतं तदीयाङ्गम् ॥९१॥

टीका—हे सुन्दर ! मनोहराङ्ग ! तदीयमङ्गं शरीरं स्मरस्यानङ्गस्येषुणा बाणेन कुसुमेन पुष्पात्मकेन हतं क्षतभावं गतं सत् अबलानां स्त्रीणां वपुः शरीरं कुसुमादपि फुल्लापेक्षयापि सुकुमारं कोमलतरं भवतीति लोकख्यातमिदं उद्धरति स्पष्टीकरोति तावत् ॥९१॥

अनुरागवर्तिना तव विरहेणोग्रेण सा गृहीताङ्गी ।
किमु सम्वदामि गौरी सञ्जातार्द्धावशिष्टेव ॥९२॥

टीका—अपि तवानुरागवर्तिना प्रेमवशंगतेन विरहेणैवोग्रेण भयंकरेण रुद्रेण वा गृहीतमङ्गं यस्याः सा गौरी गौरवर्णा गिरिजा वा हे सुन्दर ! अर्द्धावशिष्टा कृशकायतया क्षीणशरीरा महादेवेन कृत्वा कायानुप्रविष्टकायतया वा सञ्जाता हे सज्जनाहं किमु परं सम्वदामि । सा तव विरहवशा प्रतिदिनं क्षीयत इति ॥९२॥

इन्दुकरैर्मलयभवैर्वातैः स्पृष्टा मुहुश्च मञ्जुमते ।
दोषभयादिव सिञ्चति तनुमतनुसदश्रुपूरैः सा ॥९३॥

टीका—हे मञ्जुमते ! सुकुमारबुद्धे ! सा मम सखी इन्दोश्चन्द्रस्य करैः किरणैरेव हस्तैर्मलयभवैर्दक्षिणदिग्भवैः (मलं याति प्राप्नोति मलयस्तस्माद्भवैः समुत्पन्नैर्वा) वातैर्वायुभिः मुहुः पुनः पुनः स्पृष्टा सती मास्म कदाचिद्भवदन्यपुरुषसंसर्गजन्यो दोष इति

---

अर्थ—हे सुन्दर ! उसका शरीर कामदेवके पुष्परूप बाणके द्वारा घायल हो गया है इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्त्रियोंका शरीर फूलसे भी अधिक सुकुमार होता है ॥९२॥

अर्थ—हे सुन्दर ! क्या कहूँ ? तुम्हारे अनुरागके वशीभूत उग्र–भयंकर (पक्ष में विरहरूप रुद्र) विरहके द्वारा जिसका शरीर गृहीत है तथा जो दुर्बलताके कारण आधी रह गई है (पक्षमें महादेवने जिसे अर्धांगी बना लिया है) ऐसी वह गौरी—गौर वर्णवाली स्त्री सचमुच ही गौरी—पार्वती हो गई है ॥९२॥

अर्थ—हे सुकुमारबुद्धे ! इन्दुकर—चन्द्रमाकी किरणरूप हाथों और मलयवात—दक्षिण वायुके द्वारा बार-बार स्पर्शको प्राप्त हुई बेचारी वह दोषके भयसे ही मानों अर्थात् मुझे परपुरुषने अपने हाथोंसे छू लिया है तथा मुझे मलिन पदार्थके संसर्गसे दूषित वायु स्पर्श कर रही है इस दोषके भयसे, कामसे उत्पन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


दोषस्य भयादिव सदश्रुपूरैर्नयनजलसमूहैरतनुसंभूतैस्तैर्विरहलक्षणैः तनुं स्वस्य शरीरं सिञ्चति चाण्डालादिसंसर्गे पवित्रीकरणार्थं स्नाति लोको यथा ॥९३॥

**इति वारितोऽङ्कुराङ्कितनुर्मनुष्यो जवेन सुरतार्थी ।**
**मुक्ताफलानि चाश्रुव्याजादिव सन्ददे तस्यै ॥९४॥**

टीका—इत्युक्तप्रकारेण वारितो वचनसमूहादेव जलतः कृत्वाङ्कुरै रोमाञ्चैरेव कन्दलैरङ्कुरिता व्याप्ता तनुः शरीरं यस्य स मनुष्यः जवेन शीघ्रतयैव सुरतार्थी सुरतं वाञ्छति यद्वा शोभनां लतां वल्लीं वाञ्छतीति सुरतार्थी भवन् अश्रूणां व्याजान्मिषात् तस्यै दूत्यै मुक्ता एव फलानि सन्ददे दत्तवानुपहाररूपेति ॥९४॥

**दयिताहृतस्य मनसः समातुरैः परिमूढतामिव गतैः पुरा नरैः ।**
**उदिते समुद्धृतपदैः क्षपाकरे प्रयये ततोऽनुपदिभिः स्फुरत्तरे ॥९५॥**

टीका—दयितया प्रियया आहृतस्य वशीकृतस्य मनसश्चित्तस्य परिमूढतां मुग्धतामिव किल गतैर्नरैर्युवभिः समातुरैः पुरैव पूर्वमेव व्याकुलीभूतैः पुनस्ततः क्षपाकरे चन्द्रमसि उदिते सति स्फुरत्तरे समुद्धतानि पदानि यै स्तैर्मनुष्यैः प्रययै प्रयत्नं कृतमनुपदिभिरनुकूलचरण सञ्चारैस्तैः ॥९५॥

**अनुतनूपगतस्य वपुष्मतो गुरुतरप्रतिबिम्बमथोद्वहत् ।**
**अतिभरादिव कम्पवतः करान्मुकुरकं निपपात नतभ्रुवः ॥९६॥**

टीका—तनोः शरीरस्य समीपमनुतनु, उपगतस्य प्राप्तस्य वपुष्मतः कान्तिमतः प्रियस्य गुरुतरं श्रेष्ठतरं दुर्भरतरं वा प्रतिबिम्बमुद्वहत् संधारयत्, मुकुरकं दर्पणं नतभ्रुवः

---

अश्रुरूप जलसे अपने शरीरको सींचता रहती है। भाव यह है कि वह उद्दीपक आलम्बनोंके मिलने पर आँसू बहाती रहती है पर आप इतने भोलेभाले हो कि उसकी बाधाको समझते ही नहीं ॥९३॥

**अर्थ**—इस प्रकारके वचनरूपी जलसे जिसका शरीर रोमाञ्चरूपी अङ्कुरोंसे व्याप्त हो रहा था ऐसा कोई एक पुरुष सुरतार्थी—संभोगका र पक्षमें र और ल के अभेदसे लताका) इच्छुक हो गया तथा उसने आँसुओंके बहाने दूतीके लिये मुक्ता फलोंकी भेंट दी ॥९४॥

**अर्थ**—वल्लभाके द्वारा हरे गये मनकी मूढ़ताको प्राप्त हुए के समान जो पहले ही कामसे व्याकुल हो गये थे ऐसे मनुष्योंने अत्यन्त प्रकाशमान चन्द्रमाके उदित होनेपर दूतीके पीछे ही पैर उठाकर चल दिया ॥९५॥

**अर्थ**—पतिके निकट आनेपर स्त्रियोंके शरीरमें प्रकट हुए सात्त्विक भावोंका वर्णन है। शरीरके समीप आये हुए प्रिय पतिके गुरुतर—अत्यन्त श्रेष्ठ अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स्त्रियः कम्पवतः कम्पनशीलात्करात् हस्तात् अतिभरादिवासहमानसम्भारादिव किल निपपात पतितमासीत् ॥९६॥

कान्तावलोकविकसन्नयनप्रणुन्नं
कञ्जन्तु सम्भ्रमवतः श्रवणान्नताङ्ग्याः ।
प्राणेशपादभुवि सन्निपतद् रराजा-
तिथ्ये दृशः परिकृतं प्रतिबिम्बमेव ॥९७॥

**टीका**—कान्तस्य प्रियस्यावलोके विकसद् विकासमाप्तवद् यन्नयनं नेत्रं तेन प्रणुन्नं प्रेरितं सम्भ्रमवतो विनययुक्तायाा नताङ्ग्या अभ्युत्थानादि कृतवत्याः श्रवणात्कर्णदेशात् प्राणेशः स्वामी तस्य पादभुवि पुरोभागे सन्निपतद् पातवत् कञ्जं कर्णपुष्पं तु पुनर्दृशश्चक्षुषः प्रतिबिम्बं प्रतिनिधिस्वरूपमेवातिथ्ये परिकृतं प्रेषितमेव रराज शुशुभे ॥९७॥

प्रमदा प्रमदाश्रुभिः प्रिये समुपागच्छति सत्वरं तराम् ।
स्नपयत्यमुकोचितासनं निजवक्षः स्म चकोरलोचना ॥९८॥

**टीका**—चकोरलोचना चकोरस्य लोचने इव लोचने यस्याः सा प्रमदा प्रसन्नवदना स्त्री प्रिये प्राणेश्वरे समुपागच्छति समीपमागतवति सति अमुकस्य स्वामिनः उचितं योग्यं च तदासनं च तन्निजस्यात्मनो वक्ष उरस्थलं प्रमदेन तत्कालसम्भवेनानन्दसंदोहेन जातै रश्रुभिर्नयनजलैः कृत्वा स्नपयतिस्म । सा प्रसन्ना नायिका ॥९८॥

---

बहुत भारी प्रतिबिम्बको धारण करने वाला दर्पण किसी स्त्रीके कांपते हुए हाथसे नीचे गिर गया मानों प्रतिबिम्बके भारी होनेके कारण ही उसका हाथ कांपने लगा था ॥९६॥

**भावार्थ**—पतिको पास आता देख स्त्री लज्जासे नीचेकी ओर देखने लगी । उसने पतिकी ओरसे लज्जावश अपनी दृष्टि हटा ली परन्तु पतिका प्रतिबिम्ब दर्पणमें लेकर उसे अनुराग पूर्वक देखने लगी । देखते-देखते उसके हाथमें वेपथु—कम्पन नामक सात्त्विक भाव प्रकट हो गया और उस कारण दर्पण हाथसे छूटकर नीचे गिर गया नीचे गिरने का कारण यह था मानों वह प्रतिबिम्ब इतना गुरुतर—श्रेष्ठतर अथवा अत्यन्त वजनदार था कि स्त्रीका हाथ उसका भार सहन करनेमें असमर्थ हो गया था ॥९६॥

**अर्थ**—पतिके आनेपर उठकर खड़े होने और प्रणाम करनेके संभ्रमसे युक्त किसी स्त्री के कानसे गिरकर जो कमलपतिके चरणाग्र—आगे गिर गया था वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो पतिके दर्शनसे खिलते हुए नयन कमलसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मानिनी प्रियमुदीक्ष्य विनीवावंशुके विनमितास्यमिहासीत् ।
सा पदानि परिदृष्टवतीव प्रस्थितस्य सहसा स्मयकस्य ॥९९॥

टीका—या काचिदपि मानिनी स्त्री सा प्रियमुदीक्ष्य समीपमागतं पतिमवलोक्यांशुकेऽधोवस्त्रे विनता नीविबंन्धनग्रन्थिर्यस्य तस्मिन् भवति सति विनमितमास्यं मुखं यथा स्यात्तथासीत् । कथमिति चेत् ? सहसैव सहजेनैव प्रस्थितस्य विनिर्गतस्य स्मयकस्य गर्वस्य पदानि चरणचिह्नानि दृष्टवतीव सा ॥९९॥

निजनायकमवलोक्य तमागतमेका यावद्रामा
शातवतीहोत्थितासनतः परिधानमतिथिरागम् ।
संहर्षवशात्पादयोर्नतं जघनपीठमभिरामं
मङ्क्षु विनिह्नवशालि च समदान्माहात्म्यगतारामम् ॥१००॥

टीका—एका रामा स्त्री तं निजनायकं स्वस्वामिनमागतं पुरतः स्थितमवलोक्य शातवती प्रसन्नताधारिणी सतीहासनतः पीठादुत्थितोऽर्ध्वीबभूव । तावदेवातिथौ प्राघूर्णिके रागः प्रेमभावो यस्य तत्तस्याः परिधानमधोवस्त्रं च संहर्षवशात् प्रसन्नतया कृत्वेत्यर्थः पादयोश्चरणयोर्नतं प्रणतं भवत् माहात्म्येन महत्तया गतः समुपलब्ध आरामो यस्य तद् विशालरूपमित्यर्थः विनिह्नवेन निश्छलभावेन शोभते तत् च विनिह्नवशालि अतएवाभिरामं मनोहारि जघन पीठं समाददौ । निशासमागमश्चक्रबन्ध इति ॥१००॥

---

प्रेरित हो पतिका आतिथ्य—अतिथि सत्कार करनेके लिये नयनोंका प्रतिनिधि ही हो ॥९७॥

अर्थ—चकोरके समान नेत्रों वाली कोई स्त्री पतिके निकट आनेपर उसके आसनके योग्य अपने वक्षःस्थलको हर्षके आँसुओंसे सींचने लगी । यह अश्रु नामक सात्त्विक भावका वर्णन है ॥९८॥

अर्थ—कोई एक मानवती स्त्री पतिको देख अधोवस्त्रकी गांठसे रहित हो गई । लज्जाके कारण उसका मुख नीचा हो गया उससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानों शीघ्र ही निकलकर जाने वाले मानके पद चिह्न ही देख रही हो ॥९९॥

अर्थ—कोई एक स्त्री पतिको आया देख आसनसे उठकर खड़ी हो गयी । साथ ही अतिथि—पतिसे अनुराग रखने उसके अधोवस्त्रने चरणोंमें नम्रीभूत होकर हर्षपूर्वक उसके लिये सुन्दर एवं सुविशाल नितम्ब स्थल रूप पीठ—आसन प्रदान किया । भाव यह है कि कामोद्रेक वश अधोवस्त्रके विगलित होनेसे स्त्रीका नितम्ब-स्थल प्रकट हो गया ॥१००॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स श्रीमान् सुषुवे चतुर्भुजवणिक् शान्तेः कुमाराह्वयं
वाणीभूषणमस्त्रियं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
काव्ये कौमुदमेधयत्यपि सुधाबन्धूज्ज्वले तत्कृतेः
सर्गः स्वीयकलाभिरेष दशमः पञ्चोत्तरो निर्गतः ॥१५॥

अर्थ—श्रीमान् सेठ चतुर्भुज जी तथा घृतवरी देवीने जिस वाणीभूषण, ब्रह्मचारी तथा बुद्धिमान् [1]शान्ति कुमार नामक पुत्रको उत्पन्न किया था, उसके द्वारा निर्मित चन्द्रोत्सवका वर्णन करने वाले चन्द्रमाके उज्ज्वल इस काव्यमें अपनी कलाओंसें सुशोभित यह पञ्चदश सर्ग पूर्ण हुआ ॥१५॥

---

१. कविका राशि नाम 'शान्ति कुमार' था, 'और चालू नाम 'भूरामल' था ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# षोडशः सर्गः

**निशीथतीर्थे कृतमज्जनेन जयाय निर्यातमथ स्मरेण ।**
**पीयूषपादोज्ज्वलकुम्भदृष्ट्या सुभस्फुरन्मङ्गललाजवृष्ट्या ॥१॥**

टीका—अथानन्तरं निशीथोऽर्द्धरात्रिसमयः स एव तीर्थो जलावगाहप्रदेशस्तस्मिन् कृतं मज्जनं येन तेन स्मरेण नाम कामदेवेन पीयूषपादश्चन्द्रमाः स एवोज्ज्वलकुम्भो मङ्गल्यकलशस्तस्य दृष्ट्या दर्शनेन कृत्वा शोभनानि भानि नक्षत्राणि एव स्फुरन्त्यो मङ्गललाजास्तासां सृष्ट्या सर्जनेन च कृत्वा जयाय दिशो विजेतुं निर्यातं तावत् । अत्ररूपकम् ॥ १ ॥

**प्रयाणवेलां कुसुमायुधस्याप्यहो स्वयंस्त्री पुरुषेषु न स्यात् ।**
**तारुण्यमूर्तिष्वपि कस्य कस्य सहायवाञ्छा सुतरां प्रपश्य ॥२॥**

टीका—कुसुमायुधस्य कामदेवस्य प्रयाणवेलां दिग्विजयसमयं सुतरां प्रपश्य (?) ज्ञात्वादि पुनस्तारुण्यमूर्तिष्वपि वयःसन्धिस्थितेषु चापि स्त्रीपुरुषेषु तेषु मिथुनेषु कस्य कस्य किल स्त्रीवर्गस्य पुरुषवर्गस्य वा स्वयमेव सहायस्य वाञ्छा न स्यात् किन्तु सर्वस्यापि सहकारिसमागमायाभिलाषाभूत् । अहो आश्चर्ये ॥ २ ॥

**विश्वस्य यद् धैर्यधनं व्यलोपि वियोगिनोऽथापि तु योगिनोऽपि ।**
**रामाभिधामाकलयन्ति नामाधुना पुनस्ते प्रतिकर्तुकामाः ॥३॥**

टीका—यद् यस्मात्कारणात् विश्वस्य नाम जगतो धैर्यमेव धनं तेन व्यलोपि लुप्तं सर्वस्यापि लोकस्य धैर्यं नष्टप्रायमभूत् तस्माद्वियोगिनो जनाः स्त्रीविरहिता अथापि योगिनः

---

अर्थ—तदनन्तर अर्धरात्रि रूपी जलाशयके घाटपर जिसने स्नान किया था ऐसा कामदेव चन्द्रमा रूप उज्ज्वल कलशको देखकर तथा सुन्दर नक्षत्र रूपी माङ्गलिक लाईकी वर्षाकर दिग्विजयके लिया निकला ॥ १ ॥

अर्थ—आश्चर्य है कि कामदेवके दिग्विजयका समय अच्छी तरह देखकर तरुणाईकी मूर्ति स्वरूप स्त्री पुरुषोंमें किस-किसको सहायताकी इच्छा नहीं हुई थी ? अर्थात् सभी स्त्री पुरुष कामदेवकी सहायताकी इच्छा करने लगे ॥ २ ॥

अर्थ—यतश्च इस समय समस्त जगत्का धैर्यरूपी धन लुप्त हो गया था

---

१. प्रदृश्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



संन्यासिनश्च लोकास्तेऽधुना साम्प्रतं व्यापत्तिं प्रतिकर्तुं, कामास्समयागतामापत्तिमपनेतु-मभिलषन्तः सन्तो नाम रामाभिधामाकलयन्ति वियोगिनो रामाया अभिधां, योगिनश्च रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति स रामः परमात्मा तस्याभिधामाकलन्ति स्मरणं कुर्वन्ति खलु। रस्य कामस्याभा शोभाभावो यत्र स रुद्रो जिनो वा तस्याभिधां ना ॥३॥

**अनङ्गजन्मानमहो सदङ्गशक्त्याप्यजेयं समुदीक्ष्य चङ्गः।**
**गतो विवेक्तुं निजमित्युपायादुपासनायां गृहदेविकायाः ॥४॥**

**टीका**—चङ्गोदक्षो सामर्थ्यवान् नवयौवनपूर्णोऽपि पुरुषोऽनङ्गजन्मानं मदनं नाम सदङ्गस्य सुन्दरशरीरस्य केवलस्यासहायस्य शक्त्या बलेन यद्वा प्रशंसनीयया शक्त्यायुधेन कृत्वापि पुनरजेयं समुदीक्ष्य ज्ञात्वा खलु कस्मादप्युपायान्निज विवेक्तुं ततोऽथ पृथक्कर्तुं गृहदेविकायाः सधर्मिण्या गृहिण्याः (कुलदेवतायाः वा) उपासनायां गतो निरतोऽभूत् ॥४॥

**रतीश्वराज्ञां शिरसा वहन्ति तेऽत्रापि वस्त्राभरणैर्लसन्ति।**
**तच्छासनातीतिकृतश्च के ते वाचंयमास्सन्तु गुहासु ते ते ॥५॥**

**टीका**—ये रतीश्वरस्याज्ञां शिरसा वहन्ति शिरोधार्यां कुर्वन्ति तेऽत्रापि वस्त्राभरणैर म्बरालङ्करणैर्लसन्ति किन्तु ते तच्छासनस्यातीतिकृतस्तदवज्ञानकारिण, केऽपि जनास्ते गुहासु वसन्तो वाचंयमा मौनिनो भवन्तु ॥५॥

**एकाकिने धूमसमं तमस्तु वाष्पाम्बुपूरोदयकारि वस्तु।**
**सदङ्गनस्याञ्जनवत्सुशास्तुर्दृगम्बुजोन्मीलनकृत् सदास्तु ॥६॥**

---

अतः समागत विपत्तिके प्रतिकारकी इच्छा करते हुए वियोगी—स्त्री रहित मनुष्य रामाभिधां—स्त्रीके नामका स्मरण करते थे और योगी—साधुजन रामाभिधा—राम-शुद्ध आत्मा अथवा कामकी सम्पदासे रहित—काम विजयी जिनेन्द्रदेवका स्मरण करते थे ॥३॥

**अर्थ**—समर्थ—नवयौवनसे परिपूर्ण होनेपर भी पुरुष, केवल सुन्दर शरीरकी शक्ति-सामर्थ्य (पक्षमें शक्ति नामक शस्त्रसे) कामदेवको अजेय विचार कर किसी उपायसे अपने आपको उससे पृथक् करनेके लिये गृहदेवी—अपनी स्त्री (पक्षमें कुलदेवी)की उपासनामें निरत—तत्पर हो गया।

**भावार्थ**—कामोद्रेकसे निर्वृत्त होनेके लिये स्त्रीकी शरणमें गया ॥४॥

**अर्थ**—जो रतीश्वर—कामदेवकी आज्ञाको शिरोधार्य करते हैं वे (परलोक-

---

१. 'चङ्गस्तु शोभने दक्षे' इति विश्व०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**टीका**—रात्रिसम्बन्धि तमस्तु एकाकिने विरहिणे जनाय वाष्पाम्बुपूरस्य नेत्रजल-प्रवाहस्योदयकारि वस्तु धूमसमं धूमेन समानं भवति । तदेव सती अङ्गना स्त्री यस्य तस्य सुशास्तुर्जनस्य दृशौ एवाम्बुजे तयोरुन्मीलनकृत् सदज्जनवत् सदैवास्तु समस्तु खलु उल्लेखोऽलंकारः ॥६॥

**सौभाग्यमृद्भीरु जनास्य फुल्लविलोकिने श्रीध्वजवस्त्रपल्लः ।**
**हृद्भेदकृत्सम्भवतीव भल्लः परत्र यो दीपशिखांशमल्लः ॥७॥**

**टीका**—दीपशिखांशमल्लः सौभाग्यमृतो भागवतो भीरुजनस्य ललनालोकस्यास्यमेव फुल्लं विलोकयतीति तस्मै जनाय श्रियो ध्वजस्य वस्त्रपल्लः य एव दीपशिखांशमल्लः परत्र ललनास्यावलोकनरहिते जने हृदो हृदयस्य भेदकृत् भल्ल इव भवतीति शेषः । उल्लेख एवालङ्कारः ॥ ७ ॥

**मुद्द्योतनं द्वैतवतो निकाममुद्योतनं चन्द्रमसोऽभिरामम् ।**
**वियोगिनः संतमसं तथातियत्नादिदानीं मनसि प्रयाति ॥८॥**

**टीका**—चन्द्रमसोऽभिरामं मनोहरमुद्योतनं द्वैतसतो मिथुनजनाय निकामं यथेष्टं मुदः प्रसन्नताया द्योतनं प्रकटीकरणं भवति । इदानीमेव तथा सन्तमसं तु वियोगिनो जनस्य मनसि यत्नात्प्रयाति जगतो गत्वा वियोगिहृदय एव तमःसंभृतं भवतीति खलु युक्तम् । उल्लेखालङ्कारः ॥ ८ ॥

---

की बात दूर रहे) इस लोकमें भी वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित रहते हैं और जो उसकी आज्ञाका उल्लंघन करते हैं वे गुफाओंमें रहते हुए मौनी होते हैं ॥५॥

**अर्थ**—रात्रि सम्बन्धी जो अन्धकार था वह विरही मनुष्यके लिये तो धुएंके समान अश्रु जलके प्रवाहको करने वाला पदार्थ था और स्त्रीसहित मनुष्यके लिये नयन कमलको उन्मीलित करने वाले अज्जनके समान था ॥ ६ ॥

**अर्थ**—जो दीप शिखाका अंशरूप मल्ल था वह सौभाग्य शाली स्त्री जनके मुख रूप कमल पुष्पको देखने वाले पुरुषके लिये लक्ष्मीके ध्वज वस्त्रका पल्ल-प्रान्त-भाग था वही स्त्री जनसे रहित विरही मनुष्यके हृदयको भेदन करने वाला भाला था

**भावार्थ**—रात्रिके समय प्रज्वलित दीपक, संयोगी मनुष्यके लिये हित कारक और विरही—वियोगी मनुष्यको दुःखकारक थे ॥७॥

**अर्थ**—इस समय चन्द्रमाका सुन्दर प्रकाश संयोगी स्त्रीपुरुषोंके हर्षको अत्यधिक बढ़ाने वाला है और संसारका सघन अन्धकर प्रयत्न पूर्वक सिमट कर वियोगी मनुष्योंके हृदयमें आ घुसा है ॥ ८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सिताश्रितं दुग्धमिवादरेण निपीयते सङ्गमिनापरेण ।
अथोषितं तक्रमिवात्र नक्रसंकोचतः श्रीशशिरश्मिचक्रम् ॥९॥

टीका—सङ्गमिना स्त्रीप्रसङ्गभाजा मनुष्येण श्रीशशिनश्चन्द्रस्य रश्मिचक्रं ज्योत्स्नासमूहः सितया शर्करया श्रितं युक्तं दुग्धमिवादरेण प्रेम्णा निपीयते तदेवात्रापरेण वियोगिना जनेनाथ पुनरुषितं द्विद्दिन व्यतीतं तक्रं दधिविकारमिव नक्रस्य नासिकायाः संकोचतोऽरुचित एव निपीयते । उल्लेखपूर्वकोपमानामालङ्कारः ॥ ९ ॥

कामारिनामाप्यभवल्ललामा यदीयमूर्धान्दुकशीतधामा ।
दिशां जये प्रीतिपितुः प्रशस्यं साचिव्यमेष प्रचरत्यवश्यम् ॥१०॥

टीका—कामस्यारिर्हरस्तस्य नामापि ललाम मनोहरमभवज्जातं यत्सम्बन्धी यदीयश्चासौ मूर्धा शिरस्तस्यान्दुकमलङ्करणं शीतधामा चन्द्रमा भवति तस्मात् कामस्यालिमित्रं रलयोरभेदात् । यत एष चन्द्रमाः प्रीतिपितुर्मदनस्य दिशांजये दिग्विजयविषयेऽवश्यमेव प्रशस्यं प्रशंसायोग्यं साचिव्यं सचिवत्वं प्रचरति । चन्द्रसाहाय्येन स्वच्छन्दभावेन कामस्य प्रचारो भवतीति ॥ १० ॥

निशाचरः पञ्चशरोऽस्ति पृष्ठलग्नो ममैकाकिन आ निकृष्टः ।
त्वत्तो लभे नो यदि तन्त्रसूत्रमष्टाङ्गसिद्धो समतास्तु कुत्र ॥११॥

टीका—इत्यतः कोऽपि विरही स्वनायिकाया अनुनयं करोति—पञ्चशरः काम एव निशाचरो रात्रौ संचरणशीलोऽस्ति स निकृष्टः पीडाकरत्वात् ममैकाकिनो निःसहायस्य पृष्ठलग्नः सम्भवति । आ इत्याश्चर्यं । ततो हे दयिते यदि तन्त्रसूत्रं मन्त्रप्रतिपादकं शास्त्रं यदि नो लभे ऐमि तदा पुनरष्टाङ्गसिद्धेरणिमादिरूपसम्भूतेरथवा काममन्दिराद्यष्टाङ्गसिद्धेः समता कुत्रास्तु ॥११॥

---

अर्थ—स्त्री समागमको प्राप्त मनुष्यके द्वारा जो चन्द्रकिरणोंका समूह शर्करा मिश्रित दूधके समान आदरसे पिया जाता है—सेवन किया जाता है वही चन्द्रकिरणोंका समूह विरही मनुष्यके द्वारा वासी छांछके समान नाक सिकोड़कर पिया जाता है ॥ ९ ॥

अर्थ—शंकरका नाम भी आभूषणस्वरूप होता है क्योंकि उनके मस्तकका आभूषणस्वरूप चन्द्रमा भी कामदेवके दिग्विजयके समय प्रशंसनीय सहयोग करता है ॥१०॥

अर्थ—आश्चर्य है कि यह अत्यन्त निकृष्ट कामरूपी निशाचर—राक्षस (रात्रिमें प्रभाव दिखानेवाला) मेरे पीछे लगा है अतः हे प्रिये ! यदि तुमसे तन्त्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**श्यामं मुखं मे विरहैकवस्तु ह्येकान्ततो रक्तमहो मनस्तु ।**
**प्रत्यागतस्ते ह्यधराग्रभाग एवाभिरूपे मनसस्तु रागः ॥१२॥**

टीका—हे प्रिये ! मे मुखं विरहैकवस्तु त्वद्वियोगवशर्वातितया श्यामं कृष्णवर्णं भवति तु पुनर्मनश्च मे एकान्ततो निश्चितरूपतयारक्तमनुरागयुक्तं लोहितं भवति किन्तु ते तव मनसो हृदयस्य रागोऽनुरागोऽसौ हीति निश्चयेनाभिरूपे मनोहरेऽधरस्याग्रभाग एव प्रत्यागतस्तव मनसि तु मम विषये जातुचिदपि नानुरागस्तिष्ठति खलु ॥१२॥

**मुहुर्नु बद्धाञ्जलिरेष दासः सदा सखि ! प्रार्थयते सदाशः ।**
**कुतः पुनः पूर्णपयोधरा वा न वर्तते सत्करकस्वभावा ॥१३॥**

टीका—हे सखि ! एष समक्षे वर्तमानो दासः सदाशः सम्यगाशावान् बद्धाञ्जलिः प्रकृतहस्तयोजनावान् मुहुर्वारंवारं प्रार्थयते । त्वं तु पुनः पूर्णौ प्रव्यक्ततां गतौ पयोधरौ स्तनौ यस्या यद्वा पूर्णतया जलधारणस्वभावापि, कलस्तु मधुरो ध्वनिः कल एव कलकः सन् प्रशंसायोग्यः कलक एव स्वभावो यस्याः प्रशस्तमधुरभाषिणी । किञ्च करकं भृङ्गारकं सत् उत्तमं करकमेव स्वभावो यस्याः सा कुतो न भवसीति, जलधारिणी च तृष्णावते जनाय जलं न पाययसीति कथं कदर्यस्वभावता ते नेति सूक्तिः । श्लेषोऽनुप्रासश्चालंकारः ॥१३॥

---

सूत्र कामरूप निशाचरका निरा करनेवाला मंत्र साधक शास्त्र नहीं प्राप्त करता हूँ तो मुझे अष्टाङ्गसिद्धि—अणिमा महिमा आदि अष्ट विध विभूतिकी अथवा तुम्हारे अष्टाङ्ग शरीरकी प्राप्तिसे समता कैसे हो सकती है ? ॥११॥

अर्थ—हे प्रिये ! मेरा मुख तो विरहकी एक वस्तु है अर्थात् तुम्हारे विरहके कारण कृष्णवर्ण हो गया है परन्तु मेरा हृदय नियमसे रक्त—रागयुक्त अथवा लाल वर्ण है। आश्चर्य है कि तुम्हारे मनका राग मनोहर अधरोष्ठमें आ गया है। तात्पर्य है कि तुम्हारे मनमें मेरे विषयमें कुछ भी अनुराग-प्रेम नहीं है ॥१२॥

अर्थ—हे सखि ! यह सामने खड़ा दास सदासे आशा लगाये बद्धाञ्जलि—हाथ जोड़कर (पक्षमें पानी पीनेके लिये अंजलि बाँधकर) प्रार्थना कर रहा है कि मुझे स्वीकृत करो (पक्षमें पानी पिला दो। तुम पूर्णपयोधरा हो—तुम्हारे स्तन पूर्ण विकसित हैं (पक्षमें तुम जलको धारण करनेवाली हो) फिर भी करकस्वभावा—मधुरभाषिणी नहीं हो रही हो (पक्षमें करकस्वभावा—करक—जलपात्रके स्वभाववाली नहीं हो रही हो, यह आश्चर्यकी बात है)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**सद्धारगङ्गाधरमुग्ररूपं तवेममुच्चैस्तनशैलभूपम् ।**
**दिगम्बरं गौरि ! विधेहि चन्द्रचूडं करिष्यामि तमामतन्द्रः ॥१४॥**

**टीका**—हे गौरि ! गौरवर्णे ! पार्वति ! वा तवेममुच्चैस्तनशैलस्यात्युन्नतपर्वतस्य कैलासाख्यस्य भुवं पातीति उच्चैस्तनशैलभूपं तमेवोच्चैस्तनमेव शैलभूपं उरोरुहपर्वत-नायकं तमेवोग्ररूपं महादेवस्वभावमुन्नतस्वभावं वा सन् चासौ हारो गलभूषणमेव गङ्गा तां धरतीति तं तथैव सती धारा यस्यास्तां गङ्गां धरतीति वा तमेनं दिगम्बरं विधेहि वस्त्ररहित कुरु यमहमतन्द्रोऽनलसो भूत्वा चन्द्रश्चूडास्थाने यस्यैतादृशं नखक्षतेन कृत्वा करिष्यामीति । श्लेषोऽत्र ॥१४॥

---

**भावार्थ**—जलसे भरे कलशको धारण करनेवाली किसी स्त्रीसे कोई तृषातुर मनुष्य पानी पीनेके लिये अंजली बाँधकर पानीकी याचना करे और वह स्त्री 'हां पिलाती हूँ' ऐसे मधुर शब्द न कहे तो लोकमें उसे अच्छे स्वभाववाली नहीं कहा जाता इसीप्रकार मैं चिरकालसे आशा लगाये हुए हाथ जोड़कर तुमसे प्रेमकी याचना कर रहा हूँ पर तुम बोलती भी नहीं हो अतः तुम्हारा स्वभाव प्रशस्त नहीं जान पड़ता है ॥१३॥

**अर्थ**—हे गौरवर्णे ! जो समीचीन हार रूपी गङ्गाको धारण कर रहा है तथा उग्र रूप है—उन्नत है (पक्षमें शिव रूप है) ऐसे उच्चैस्तन शैलभूप—उन्नत स्तन रूप गिरिराजको दिगम्बर—वस्त्र-रहित करो जिससे मैं आलस्य रहित हो उसे चन्द्र चूडकर सकूं—नख क्षतोंसे विभूषित कर सकूं ।

**भावार्थ**—हे गौरि ! तुम्हारा स्तन क्या है मानों शंकर है क्योंकि जिस प्रकार शंकर **सद्धारगङ्गाधर समीचीन धारा वाली गङ्गाको** धारण करते हैं उसी प्रकार स्तन भी **सद्धारगङ्गाधर**—समीचीन हार रूपी गङ्गाको धारण करता है । जिस प्रकार शंकर **उग्र है**—उग्र नामको धारण करते हैं उसी प्रकार स्तन भी **उग्र है**—उन्नत है । जिस प्रकार शंकर **उच्चैस्तन शैलभूप**—अत्यन्त ऊँचे कैलास पर्वतकी भूमिको रक्षा करने वाले हैं उसी प्रकार तुम्हारा स्तन भी **उच्चै—स्तन शैलभूप है**—अत्यन्त उन्नत पर्वत राज है । तुम इसे **दिगम्बर** बना दो—दिगम्बर नामसे युक्तकर दो (पक्षमें वस्त्र रहित कर दो) जिससे मैं **चन्द्रचूड**—चन्द्रमौलि नामसे युक्त कर सकूं (पक्षमें अर्ध चन्द्राकार नखक्षतोंसे विभूषित कर सकूं) । संस्कृत कोषोंमें शंकरके निम्नलिखित नाम प्रसिद्ध हैं—गङ्गाधर, उग्र, कैलासपति, दिगम्बर तथा चन्द्र चूड आदि । यहाँ श्लेषा-लंकार द्वारा इन नामोंका प्रयोग किया गया है । 'गौरी' नाम पार्वतीका भी प्रसिद्ध है ॥१४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



त्वमप्सर:सारमयी त्वदन्त:क्रियाश्रिया मे सफरो दृगन्तः ।
न सम्भवे देवमहो यतस्तु कुतः पुनर्यद्दुरितं समस्तु ॥१५॥

टीका—हे सुन्दरि ! त्वं पुनरप्सरसां स्वर्गवेश्यानां सारमयी, तथा चाप्सरसां जलयुक्त सरोवराणां सारमयी वा, तस्मात्त्वदन्त:क्रियाश्रिया तवान्तःकरणचेष्टया मे दृगन्तो मम कटाक्षविक्षेपः सफरः फलवान् यद्वा मत्स्यवत्क्रीडाकरो न सम्भवेत् । यतो यस्मात् कारणात् यत् किंचिद्दुरितं पातकं ममापराधलेशः समस्तु पुनः किल । श्लेषः ॥१५॥

चण्डः स्मरोऽसौ धनुरेति कान्ते सन्धारयोच्चैस्तन पर्वतान्ते ।
ज्वलत्यलं मे विरहाग्निनान्ते किं स्यान्निवासोऽपि विभूतिमास्ते ॥१६॥

टीका—हे कान्ते ! सुन्दरि ! असौ चण्डः प्रचण्डरूपधरः स्मरो धनुरेति मम वधाय कोदण्डमुद्धरति तस्मात्तवोच्चैस्तन उच्चतरपयोधर एव पर्वतस्तस्यान्ते सन्धारय नान्यथा मम कुशलं भवेत् । विरहेणैवाग्निना मे ममान्ते प्रान्ते ज्वलति सति ते तवापि निवासः सद्म विभूतिमान् वैभववान् भस्मरूपो वा स्यात् किमिति । श्लेषोऽत्रापि ॥१६॥

स्मरः स्म रङ्गस्थलमेत्य दंशस्पृङ्मेऽपि धन्वापहरत्यरं सः ।
त्वं देवि हे दिव्यशराधिभूर्यन्मुदे तु कोदण्डमुदेतु भूयः ॥१७॥

टीका—हे देवि ! स्मरः कामदेवो रङ्गस्थलमेत्य स मे दंशस्पृङ् मर्मस्पर्शकरः

---

अर्थ—हे सुन्दरि ! तुम अप्सराओं—स्वर्गकी सुन्दरियोंमें सारमयी—श्रेष्ठतम हो अथवा तुम अप्सरों—जलयुक्त सरोवरोंमें श्रेष्ठतम हो । यदि तुम्हारे मनो व्यापारसे मेरा कटाक्ष यदि सफर—सफल अथवा सफर—मत्स्यके समान क्रीडा करने वाला न हो सका अर्थात् मैं दृष्टि भर आपको देख नहीं सका तो इस तरह यह मेरा दुरित–पाप अथवा अपराध होगा ॥१५॥

अर्थ—हे प्रिये ! प्रचण्ड रूपको धारण करने वाला यह काम धनुषको प्राप्त हो रहा है—मुझे मारनेके लिये धनुष तान रहा है अतः मुझे **उच्चैस्तन पर्वतान्ते**—पर्वतके समान अत्यन्त उन्नत स्तनोंकी ओटमें रख लो, अन्यथा मेरी रक्षा नहीं हो सकेगी । जब कि **मेरा अन्त**—निकटवर्ती प्रदेश (अथ च अन्तःकरण) विरह रूपी अग्निसे जल रहा है तब तुम्हारा निवास स्थल **विभूतिमान्**—विशिष्ट वैभवसे युक्त क्या रह सकेगा ? (पक्षमें विभूतिमान्—भस्मसे रहित क्या हो सकेगा ?) अर्थात् नहीं ॥१६॥

अर्थ—हे देवि ! कामदेवने रङ्गभूमिमें आकर मेरे मर्मका भेदन किया है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कवचापहारकश्च भवन् धन्वं स्थानं धनुर्वापहरतिस्म । त्वं च पुनर्दिव्यशरस्य गलभूषणस्याधिभूः स्थानं यद्वा दिव्यवाणानामधिभूर्यस्मात् कारणात् तु पुनर्मुदे प्रसन्नतार्थं भूयः पुनरपि कोदण्डं धनुरुदेतु खलु ॥१७॥

नतभ्रु तप्तास्यतनुज्वरेण किलोपवासोऽस्तु सुखाय तेन ।
रसायनाधीट् रसमर्पयास्मिन्नालं तवावेदितलङ्घनेऽस्मिन् ॥१८॥

टीका—हे नतभ्रु ! त्वमपि अतनुज्वरेण विशालज्वरेण कामज्वरेण वा तप्तासि किल तेन हेतुना उपवासी लङ्घनं समं निवासः सुखायास्तु भवतु, इति निगदति सति प्रिये कान्तायाः प्रत्युक्तिः । हे रसायनाधीट् । वैद्यराज ! तवोदितलङ्घने तव कथिते उपवासरूपे लङ्घने यद्वा तवावेदितस्याभ्यर्थनारूपस्योल्लङ्घने निषेधने नालमस्मि समर्था न भवामि ततः शीघ्रमेव रसमर्पय । लङ्घनकरणेऽसमर्थायास्तु रोगिण्याः पारदादिरसप्रदानेन चिकित्सा कार्या भवतीति ॥१८॥

सद्वृत्तसम्वादसमर्थमद्य श्रीचन्द्रकान्तामृतगुं प्रपद्य ।
नितान्तमन्तःकठिनापि वारिमुक्तामथोरीकुरुते स्म नारी ॥१९॥

टीका—योग्येन योग्यसङ्गमरूपं सद्वृत्तं तस्य सम्वादे समर्थं पतिं चन्द्रकान्ता-

---

(पक्षमें कवच तोड़ डाला है) और मेरा धन्व—देश-स्थान (पक्षमें धनुष) छीन लिया है, अर्थात् मैं स्थानभ्रष्ट और शस्त्ररहित हो गया हूँ परन्तु, तुम **दिव्य-शरधिभू**—सुन्दर कण्ठहारकी भूमि हो (पक्षमें **दिव्य**—अलौकिक **शरों**—वाणों-की **अधिनायक** हो अतः प्रसन्नताके लिये मुझे फिर भी कोदण्ड—देश विशेष यद्वा धनुष प्राप्त हो । जिससे मैं स्थान भ्रष्ट और शस्त्ररहित न रहूँ ॥१७॥

**अर्थ**—श्लेष द्वारा नायक नायिका की उक्तिप्रत्युक्ति है। नायक कहता है कि हे नत भौंहों वाली प्रिये ! तुम अतनुज्वर—बहुत भारी बुखार से (पक्षमें काम ज्वर से) संतप्त हो, पीड़ित हो, इसलिये उपवास—लङ्घन करना (पक्षमें साथ ही निवास करना) सुख के लिये हो। नायक के यह कहने पर नायिका कहती है—हे रसायनाधीट् ! रसायन विद्या के सम्राट् ! वैद्यराज ! (पक्षमें रस-अयन-अधीट्) श्रृङ्गार रसके स्वामी प्राणनाथ !) मैं तुम्हारे द्वारा बतलाये हुए इस लंघन रूप उपवासके करनेमें समर्थ नहीं हूँ। पक्षमें आपकी प्रणय-प्रार्थनाके उल्लंघन करनेमें समर्थ नहीं हूँ) इसलिये कोई रस—आयुर्वेदिक रसायन दीजिये (पक्षमें रस-श्रृङ्गार रस) प्रदान कीजिये जिसके द्वारा मैं अनायास अतनुज्वरसे उन्मुक्त हो जाऊँ ॥१८॥

**अर्थ**—जिस प्रकार चन्द्रकान्ता—चन्द्रकान्त मणिसे निर्मित पुतली भीतरसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मणिरिवामृतगुं चन्द्रमसं प्रपद्य लब्धाऽन्तोऽन्तरङ्गे मनसि कठिनापि नारी स्त्री नितान्त-मत्यन्तमेव वारि मुञ्चतीति वारिमुक् तस्य भावो वारिमुक्तामथ च वारिणो जलस्य मुक्तां विन्दुं प्रस्वेदरूपां सात्त्विकभावजातामथवा वारिं वाचं मुञ्जतीति तस्य भावस्तां वारिमुक्तां लङ्घनेऽहमलं न भवामीति रसायनाधीट् रसमर्पयेति च पूर्ववृत्तकथितप्रकारा-मुरु कुरुते स्मेति ॥१९॥

**सविभ्रमां यौवनवारिवेगां वधूनदीं भो शृणु वीर ! मे गाम् ।**
**उदारशृङ्गारतरङ्गसेनां कोऽत्येतुमीशः शुचिहासफेनाम् ॥२०॥**

टीका—भो वीर ! हे भ्रातः । मे मम गामुक्तिं शृणु, यत्किल वधूनदीं स्त्रियमेव नदीं, कीदृशीं ? विभ्रमेण नेत्रविकारेण पक्षे आवर्तेन सहितां सविभ्रमां यौवनस्यैव वारिणो जलस्य वेगः प्रवाहो यस्यां तां, उदारः सर्वग्राह्यश्चासौ शृङ्गारो नाम रसस्तस्य तरङ्गाणां लहरीणां सेना परम्परा यस्यां तां शुचिहासाः प्रेमपूर्वकस्मितलेशा एव फेना यस्यां तामत्येतुमुल्लङ्घयितुं को वा जन ईशः समर्थो भवति न कोऽपीति । श्लेषोऽनु-प्रासो रूपकञ्चालंकारः ॥२०॥

**उदारवक्त्रैरुत दारनक्रैरक्लेशितः सद्रतिवीचिचक्रैः ।**
**समुल्वणं यौवनवारिराशिमत्येति जीयात्स नरोऽस्मराशीः ॥२१॥**

टीका—उदाराणि उत्कृष्टानि महान्ति वा वक्त्राणि मुखानि येषां तैः । उत पुनः दारैरेव नक्रैः स्त्रीमकरैरित्यर्थः कृत्वा सती या रतिस्तस्या वीचयो लहरयस्तासां चक्रैः समुल्वणमुद्वेलभावमाप्तं यौवनमेव वारिराशिं समुद्रं यः कोऽप्यत्येति तदस्पृष्टः प्रवर्तते

---

कठिन—कठोर स्पर्श वाली होकर भी अमृतगु—सुधारश्मि—चन्द्रमाको पाकर वारिमुक्ता—जल स्राविताको प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार कठिन हृदय वाली भी नारी सुयोग्य वल्लभको प्राप्त कर सात्त्विक भावके रूपमें स्वेद बिन्दुओंको धारण करने लगी अथवा पूर्व पद्यमें निरूपित अनुकूलताको प्राप्त हो गई ॥१९॥

अर्थ—हे भाई ! मेरी उक्ति सुनो, जो नेत्रविकार रूप विभ्रमसे सहित है ( पक्षमें भँवरसे सहित है ) जिसमें यौवन रूप जलका प्रवाह विद्यमान है, जिसमें उदार शृङ्गार रस रूप तरङ्गों की सन्तति उठ रही है और जो उज्ज्वल हास्य रूपी फेनसे सहित है ऐसी स्त्रीरूपी नदी को पार करनेके लिये कौन समर्थ है ? ॥ २० ॥

अर्थ—उदार मुख वाले स्त्री रूपी मगरों और समीचीन रति–प्रीति रूप लहरोंके समूहसे उद्वेलभाव को प्राप्त हुए यौवन रूपी समुद्र को जो पार करता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


स किलास्मरस्य ब्रह्मभावस्याशीः शुभाशंसनं यस्य स एवंभूतो नरो जीयादेव । अत्र रूपकालंकारः ॥ २१ ॥

कान्तारसद्देशचरस्य चक्षुःक्षेपोऽभवत् सद्विटपेषु दिक्षु ।
अद्वैतसम्वादमुपेत्य वाणमोक्षः क्षणाद्वा सवयस्य कारणः ॥२२॥

टीका—कान्तया प्रियया लसन् शोभमानो यो देशः स्थानं तस्मिन् चरतीति तस्य, यद्वा कान्तारे वने योऽसौ सन् देशस्तस्मिन् चरतीति तस्य कामदेव स्यैव वनेचरस्य दिक्षु दिशासु समन्ततः सद्विटपेषु सत्सु विटपेषु कामिषु यद्वा वृक्षेषु चक्षुत्क्षेपोऽवलोकनमभवत् यः खलु स एवाद्वैतस्यैकाकिनः सम्वादं प्रसङ्गमुपेत्य सम्प्राप्य सवयसि नवयौवनपरिपूर्णे जनेऽकारणो विकलता रहितो वाणमोक्षः क्षणादेव भवति । अत्र श्लेषोऽलंकारः ॥ २२ ॥

नवोद्धतं नाम दधत्तदिन्दुबिम्बं बभूवेह घृतस्य विन्दुः ।
वियोगवह्न्युत्तपनाय हेतुर्द्वैतस्य वा स्नेहनकर्मणे तु ॥२३॥

टीका—तदेतत् इन्दुबिम्बं नाम चन्द्रमण्डलं वियोगिनो जनस्य वियोगवह्निस्तस्योत्तपनाय प्रज्वलनाय हेतुः कारणं तथा द्वैतस्य मिथुनस्य स्नेहकर्मणे प्रेमोत्पादनाय स्निग्धत्वार्थमिव कारणं भवत् सत् नवोद्धृतमक्षूणं किल घृतस्य विन्दुर्लेशो बभूव तावदिति ॥ २३ ॥

कुन्दारविन्दादितता द्वयेभ्यः शय्येव सासीद् विरहाश्रयेभ्यः ।
हसन्ति अङ्गारकभावमित्थासकौ च कौ मौघमिता तमिस्रा ॥२४॥

---

है तज्जनित विकारोंसे अछूता रहता है ब्रह्मचर्यके आशीर्वादसे युक्त वही पुरुष जयवंत प्रवर्ते ॥ २१ ॥

**अर्थ**—कान्तार सद्देशचर—प्रियासे शोभायमान देशमें ( अथच ) कान्तार-वनके समीचीन प्रदेशमें विचरने वाले कामदेव रूपी वनेचरका दृष्टिपात सब ओर विटप–कामीजनों ( अथ च ) वृक्षोंपर हुआ करता था उसी कामदेव रूप वनेचरका वाण मोचन एकान्तका प्रसङ्ग पाकर यौवनसे परिपूर्ण जनोंपर अकारण–विकलता रहित क्षणभरमें होने लगा । भाव यह है कि एकान्तमें स्थित वयस्यक नर नारियोंमें अनायास हीं काम का संचार होने लगा ॥ २२ ॥

**अर्थ**--जो यह चन्द्रमण्डल है वह वियोगी मनुष्य की वियोग रूपी अग्निको प्रज्वलित करनेका कारण है और संयोगी दम्पतियोंकी स्निग्धता पारस्परिक स्नेह ( पक्षमें चिकनाई ) को बढ़ानेके लिये नवीन निर्गत घृतकी बिन्दु है ॥२३॥



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



टीका—या सकौ दृष्टिपथगता तमिस्रा रात्रिश्च पुनर्भानां नक्षत्राणां मोघेन मिता परिमिता सती कौ च पृथिव्यां द्वयेभ्यो युगलेभ्यः स्त्रीपुरुषेभ्यः कुन्दारविन्दादिभिः कुन्दकुसुमकमलादिभिस्तता व्याप्ता शय्येव शय्यासदृशी आसीत् सैवेयं रात्रिर्विरहाश्रयेभ्यो वियोगिलोकेभ्योऽङ्गारकाणां वह्निकणानाभावेन मिश्रा हसन्तीव गौरसीवासीत्। उल्लेखपूर्वकोपमानामालंकारः ।। २४ ।।

शरीरिवर्गस्य तमां विवेकहान्या महान्याग गुणाभिषेकः ।
सुरा सुराद्धान्तचुरासुयोग आद्यः स्मरेषोरिति सम्प्रयोगः ।।२५।।

टीका—हे यागगुणाभिषेक ! यागस्य हवनस्य गुणे वृद्धिकरणेऽभिषेको दीक्षाप्रयोगो यस्य तत्सम्बोधनम् अर्थात् हे यज्ञकर्तः सम्मुखे वर्तमान विप्रवर ! विद्यार्थिन्नित्यर्थः। शरीरिवर्गस्य संसारिजनसमूहस्य विवेकस्य हान्या कृत्वा राद्धान्तस्यागमस्य चुरा चौर्या कर्म यत्र तासु मतिविहीनासु सुरासु मदिरासु महान् योगोऽभवत् इति स एवाद्यः स्मरस्य कामदेवस्येषोर्वाणस्य सम्प्रयोगो जातः ।। २५ ।।

नालीयकं सौधमिवास्तु वस्तु संयोगिनः किं न वियोगिनस्तु ।
पुंसः पुनः पित्तलपात्रमस्तु-सम्वेदवत्खेदकरं तदस्तु ।।२६।।

टीका—संयोगिनः स्त्रीसंसर्गभृतो जनस्य यत्तालीयकं तालवृक्षरसः सुधाविकारः सौधममृतकृतमिव किल वस्तु अस्तु सारभूतं भवतु। वियोगिनः स्त्रीविरहितस्य तु पुनः पुंसः पुरुषस्य तदेव पित्तलपात्रे स्थितयन्मस्तु दधि तस्य सम्वेदोऽनुभवनं तद्वत् खेदकरं कष्टप्रदं किन्नास्तु अपितु भवत्येव ।। २६ ।।

---

अर्थ—नक्षत्रोंके समूहसे व्याप्त जो रात्रि संयोगी जनोंकी कुन्द तथा कमलादि पुष्पोंसे व्याप्त शय्याके समान जान पड़ती थी वही रात्रि वियोगी जनोंके लिये अङ्गार कणोंसे युक्त हसन्ती—गौरसी (सिगड़ी) के समान हो रही थी ॥ २४ ॥

अर्थ—हे यज्ञकारक विप्रवर ! विवेक—हिताहित ज्ञानकी हानिके द्वारा आगम ज्ञानको अपहृत करने वाली मदिरामें संसारी जनोंकी जो प्रवृत्ति हुई थी वही कामदेवके वाण का प्रथम योग था। तात्पर्य यह है कि मनुष्य कामाकुलित हो मदिरा पानमें प्रवृत्त होते हैं ॥ २५ ॥

अर्थ—संयोगी—स्त्री सहित पुरुषको ताड़ी क्या सौध—सुधा निर्मित वस्तु नहीं है ? अमृतके समान आनन्दकारी क्या नहीं है ? और वियोगी मनुष्यको पीतलके पात्रमें रखे हुए दहीके स्वादके समान क्या खेदकारी वस्तु नहीं है ॥ २६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



द्वंतानि तानि प्रकृतादरस्य नृशंसतायां सरकं स्मरस्य ।
शिलीमुखैर्जर्जरितेष्वसिञ्चन् पुनः पुनः स्वास्वनितेषु किञ्च ॥२७॥

टीका—तदेव सरकं मद्यं, तानि द्वंतानि मिथुनानि कर्तृभूतानि नृशंसताया-माखेटे प्रकृतः सम्पादित आदरो रुचिर्येन तस्य स्मरस्य रतिपतेः शिलीमुखैर्बाणैः कृत्वा जर्जरितेषु छिन्नभिन्नेषु स्वस्यास्वनितेषु चित्तेषु पुनः पुनरसिञ्चन् सिञ्चन्ति स्म ॥२७॥

नालं समुत्पीनपयोध्रभावात्सम्पादने दोर्वलनस्य सा वा ।
विनामने वक्त्रवरस्य मद्यपाने कुतः स्यात्कुशलाद्य सद्यः ॥२८॥

टीका—सा वा युवतिः समुत्पीनौ प्रसन्नोन्नतौ पयोध्रौ कुचौ तयोर्भावात् किल दोर्वलनस्य बाह्वोर्वदनसंमुखीकरणे तथैव च वक्त्रवरस्य मुखमण्डलस्य विनामने नम्रकरणेऽलं समर्था नाभूत् ततोऽद्यास्मिन् मधुवारे मद्यस्य पाने मदिरास्वादने सद्यः सहसैव सा कुतः कथं कृत्वा कुशला स्यान्न कुतोऽपीति ॥२८॥

अन्वाननं पानकपात्रमाशासमन्वितायाः वितरन्विलासात् ।
हस्तेन शस्तस्तनमण्डलान्तमालिङ्ग्य सम्यङ्मदमाप कान्तः ॥२९॥

टीका—कान्तः प्रियजनो हृदयेश्वरः आशासमन्वितायाः पातुमभिलाषवत्या आननमनु समीपमन्वाननं पानकपात्रं मधुभृतचषकं विलासात् कौतुकपूर्वं वितरन् ददानः सन् तस्मिन्नेव काले हस्तेन तस्याः शस्तस्योच्छून मृदुलतमस्पर्शस्य स्तनमण्डलस्यान्तं प्रान्तभागं आलिङ्ग्य स्पृष्ट्वा स्वयमपि सम्यक् यथेष्टं मदं संहर्षलक्षणमाप। असङ्गतिनामालंकारः ॥२९॥

---

अर्थ—स्त्री-पुरुषोंने मदिरा क्या पी थी मानों उन्होंने क्रूरतामें आदर रखने वाले कामदेवके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुए अपने-अपने हृदयोंमें उस मदिराको पुनः पुनः सींचा था ॥२७॥

अर्थ—कोई एक स्त्री स्तनोंकी स्थूलताके कारण न भुजाओंको मुख मण्डलके पास ले जानेमें और न मुख मण्डलको नीचाकर मद्यपात्रके पास ले जानेमें समर्थ थी तब वह उस समय मद्यपानके अवसर पर मदिरा पान करनेमें सहसा कुशल कैसे हो सकती थी ॥२८॥

अर्थ—कोई एक स्त्री मदिरा पीना चाहती थी पर पीनेमें असमर्थ थी उसका पति कौतुकपूर्वक मदिराका पात्र उसके मुखके पास ले जा रहा था और हाथसे स्तनमण्डलका स्पर्श कर रहा था इस तरह वह मदिरा पानके बिना ही मदहर्षरूप नशाको प्राप्त हो रहा था। असंगति अलंकार है ॥२९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



भर्त्रात्तिनाम ग्रहणं सपत्न्याः समर्पिताहो मदिरापि पत्न्या ।
अस्याः समस्या मददारणाय दृश्यापि तस्या मददारणाय ॥३०॥

टीका—सपत्न्याः प्रतिस्त्रिया नाम ग्रहणं यथास्यात्तथा हे सुन्दरि ! मदिरामास्वादयेति कथनपूर्वकं समर्पिता दत्ता मदिरा सुरा पत्न्या ललिताङ्ग्या प्रिययापि प्राप्ता सती समस्या सम्यगास्वादितापि सती सा मदिरास्याः प्रियायाः प्रत्युत मदस्य दारणायापहरणाय बभूव । किन्तु तस्याः सुन्दर्याः केवलं दृश्यापि सत्यनास्वादितापि पुनर्मदोन्मत्तताकर्त्री सती रणाय कोणाय रहस्यं लब्धुमेकान्तवासायेत्यर्थः । 'रणः कोणे कणे युद्धे' इति विश्वलोचनः । सपत्न्याः सुखकर्त्री बभूवेति । पूर्वोक्त एवालंकारो यमकश्चालङ्कारः ॥३०॥

हाला हि लालायितमन्तरङ्गं करोति बीजग्रहणेष्वभङ्गम् ।
हालाहलं प्राह जने त्रपाला बालापिनी प्रीतपणस्य बाला ॥३१॥

टीका—हाला मदिरा सा बीजग्रहणेषु बीजमिति शुक्रपर्यायवाची शब्दः, तस्य ग्रहणेषु सुरतचेष्टास्वित्यर्थः । लालायितमुत्कण्ठितमन्तरङ्गं करोति, हीति निश्चयेन प्रीतपणस्य प्राणप्रियस्यालापिनी आह्वानकर्त्री बाला नववधूः, चपालौ लज्जाकारके जने श्वसुरप्रभृतिके समीपस्थिते सति तामेव हालाहलं प्राह गरलमिव प्रोक्तवती पतिप्रसङ्गेन विना स्थातुं न शशाकेति ॥३१॥

---

अर्थ—सौतका नाम लेकर पतिके द्वारा दी हुई मदिरा पत्नीने प्राप्त की परन्तु आश्चर्य है कि वह मदिरा आस्वादित होनेपर भी मददारणाय—मदगर्वका अपहरण करनेके लिये हुई मद—नशा बढ़ानेके लिये नहीं, किन्तु मददा—मदको देने वाली होकर भी रणाय—ईर्ष्याजनित युद्ध—कलहके लिये हुई । और वही मदिरा सौतके लिये दृश्या—देखने योग्य—अनास्वादित होनेपर मददा—मदको देने वाली होती हुई रणाय—कोण—एकान्त वासके लिये हुई थी । तात्पर्य यह कि वह मदिराके देखने मात्रसे इतनी विह्वल हो गई कि एकान्त स्थानकी इच्छा करने लगी ॥३०॥

अर्थ—सचमुच ही हाला—मदिरा स्त्रीके हृदयको रति क्रियामें उत्कण्ठित कर देती है इसीलिये तो त्रपालु—लज्जा कारक श्वसुर आदिके समीपस्थ रहनेपर भी नववधू नायकका आह्वान करती है—उसे बुलाती है—उसके बिना रहनेमें असमर्थ हो जाती है । इस तरह अपनी चेष्टासे वह हालाको हालाहल—वषि कहती है अर्थात् विष तुल्य सिद्ध करती है ॥३१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मद्यं पिबन्नत्र कृतावतारं स्वयोषितः फुल्लसरोजसारम् ।
पीत्वाऽऽननं यन्मदमाप गाढं न तेन वा तादृशमेव वाढम् ॥३२॥

टीका—मद्यं मदिरां पिबन् जनः, अत्र मद्ये कृतोऽवतारो येन तत् फुल्लस्य सरोजस्य कमलस्य सार इव सारो यस्य तत् स्वयोषितो विवाहितायाः स्त्रिया आननं मुखं पीत्वा-वलोक्य यद् यादृक् गाढं मदमाप प्राप्तवान् तादृशं मदमेष जनस्तेन मद्येनापि कृत्वा न जगाम, वाढमिति सत्यप्रतीतिकमेव ॥३२॥

सोमं समीक्ष्यास्य समत्वहेतुं जेतुं दुरन्तं कुसुमेषु केतुः ।
मधुन्युपात्तप्रतिमावतारं. पपावदः सत्वरमप्यसारम् ॥३३॥

टीका—कुसुमेषोः कामस्य केतुः पताका युवतिः, आस्यस्य मुखस्य समत्वं तुल्यभाव-स्तस्य हेतुं कारणं मधुनि मद्ये उपात्तो गृहीतः प्रतिमायाः प्रतिबिम्बस्यावतारो येन तं सोमं चन्द्रमसं दुरन्तं स्पर्द्धाकारितया प्रतिशत्रुं समीक्ष्य ज्ञात्वा तं जेतुमसारं सारहीनमपि मद्यं परवशकारित्वादित्यर्थः । अदो मद्यमपि सत्वरमेव शीघ्रं पपौ पीतवती ॥३३॥

मद्येन सार्द्धं मम शेमुषीतः स शीतरश्मिश्छविभृन्निपीतः ।
नो चेदिदानीं सुदृशां सदन्तस्तमः स्मयाख्यं च कुतो हृतं तत् ॥३४॥

टीका—मम शेमुषीतो मम विचारेण मद्येन सार्धं छविभृत् मद्ये प्रतिबिम्बितः स शीतरश्मिश्चन्द्रोऽपि निपीत एव नोचेदन्यथा तु पुनः सुदृशां शोभनचक्षुषां स्त्रीणां स्मयाख्यं गर्वापरनामकं तदन्तस्सत्तमो हृदि विद्यमानं तिमिरं च कुतः कस्मात् कारणात् हृतं प्रणष्टं तावत् । अत्र हेतुरलङ्कारः ॥३४॥

---

**अर्थ**—कोई एक पुरुष एक ही पात्रमें स्त्रीके साथ मद्य पान कर रहा था । उस मद्य पात्रमें स्त्रीका मुख कमल प्रतिबिम्बित हो रहा था उसे देखकर पुरुष जिस अत्यधिक मद—नशाको प्राप्त हुआ था उस प्रकारके मदको मद्यको पीता हुआ प्राप्त नहीं हुआ था ॥३२॥

**अर्थ**—कामदेवकी पताका स्वरूप कोई युवति चांदनी रातमें मदिरा पान कर रही थी । मदिराके पात्रमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था उसे देख युवतिने विचार किया कि यह चन्द्रमा मेरे मुखकी तुलनाका कारण है:—उसके साथ स्पर्धा करता है अतः मेरा शत्रु है । शत्रुको पी जाना—नष्ट कर देना ही अच्छा है इस विचारसे उस युवतिने सारहीन मदिराको भी शीघ्र पी लिया ॥३३॥

**अर्थ**—हमारे विचारसे तो स्त्रियोंने कान्तिधारी उस चन्द्रमाको मदिराके साथ पी लिया था यदि ऐसा न होता तो इस समय स्त्रियोंके हृदयमें विद्यमान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



रागं तमक्ष्णोः प्रियवच्छ्रयन्तं रतिप्रतिज्ञां प्रथयन्तमन्तः ।
सुरारसं सन्निदधाति योषा स्मया स्मयोच्छेदपटुं सुतोषा ॥३५॥

टीका—अक्ष्णोश्चक्षुषोर्मध्ये तं प्रसिद्धं रागं रक्तिमानमनुरागं वा श्रयन्तं, अन्तर्हृदये रतेः प्रतिज्ञां प्रथयन्तं विस्तारयन्तं स्मयस्य दुरभिमानस्योच्छेदे निराकरणे पटुं समर्थं सुराया रसं प्रियवत् यथा हृदयेश्वरं तथैव प्रीतिपूर्वकं या सुतोषा सन्तोषवती योषा स्त्री सा सन्निदधाति स्म । अनुप्रास उपमा च ॥३५॥

कलङ्किना क्रान्तपदं च कश्यं नावश्यनश्यत्तमसेदमश्यम् ।
तत्याज वेगाच्चषकं स्वहस्तादित्येवमुत्का सुरताय शस्ता ॥३६॥

टीका—कश्यं मद्यं कलङ्किना कलङ्कयुक्तेन पापिना विरहिजनसन्तापकारिणा चन्द्रमसा क्रान्तपदं प्रतिबिम्बद्वारेणोपलब्धस्थानं तत इदम् अवश्यमेव नश्यत्तमो यस्य तेन विचार कारिणा जनेनाश्यमास्वादनीयं न भवति किलेत्येवं कृत्वा चषकं पानपात्रं स्वहस्ताद् वेगादेव तत्याजोज्झितवती या खलूत्का सुरताय रतिक्रीडार्थं शस्ता प्रशंसनीयाभूत् सा ॥३६॥

अधोऽथ पीतासवसुन्दरेभ्यस्त्यक्तं त्वमत्रं मिथुनाननेभ्यः ।
रुदत्तदिन्दोवरमेव शापश्रिया ह्रियेवालिरवैरवाप ॥३७॥

टीका—अथासव पानानन्तरं पीतेनास्वादितेन तेनासवेन द्राक्षादिसमुत्थेन मद्येन कृत्वा सुन्दराणि मनोहराणि तेभ्यो मिथुनानां दम्पतीना माननेभ्यो मुखेभ्यस्त्यक्तं यदमत्रं

---

गर्व नामक अन्धकार कैसे नष्ट हो जाता ? यहाँ हेतु अलंकार है ॥३४॥

अर्थ—जो नेत्रोंमें राग लालिमा (पक्षमें अनुरागको धारण कर रहा था, हृदयमें रतिकी प्रतिज्ञाको विस्तृत कर रहा था तथा स्मय—दुरभिमानको नष्ट करनेमें समर्थ था ऐसे मदिरा रसको किसी स्त्रीने पतिके समान संतोष पूर्वक सन्निहित किया था ॥३५॥

अर्थ—यतश्च यह मद्य, कलङ्की—कलंक युक्त (पक्षमें पापी) चन्द्रमाके द्वारा आक्रान्त पद है—पापी चन्द्रमाने इसमें अपना पैर रख दिया है अथवा अपना स्थान बना लिया है अतः विचारवान् मनुष्यके द्वारा आस्वादन करने योग्य नहीं है ऐसा विचार कर संभोगके लिये उत्कण्ठित किसी सुन्दरीने पान पात्रको वेगपूर्वक अपने हाथसे छोड़ दिया ॥३६॥

अर्थ—तदनन्तर पी हुई मदिरामें सुन्दर स्त्रीपुरुषोंके मुखोंसे नीचे छोड़े हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुरापात्रं शापश्रिया दुराशिषा कृत्वालिरवैर्भ्रमराणां गुञ्जनैर्हेतुभिः रुदत् रोदनं कुर्वत्सत् तदिन्दीवरं नीलोत्पलमेव किलाधोभूमित्वमाप। न त्वमस्माकं मुखस्य तुलामारोढुमर्हतीति कृत्वा निरादृतं सत् त्यक्तमित्यतो ह्रिया लज्जावशेनेन्दीवरं भ्रमरशब्दमिषाद् रुरोदेति ॥३७॥

**आस्वाद्य मद्यं चषकं त्यजन्त्यास्सम्प्रस्रवत्सीध्वधरं सुदत्याः।**
**चुचूष सद्यश्चतुरस्तमत्यादरेण चूतोचितकं सुदत्याः ॥३८॥**

टीका—मद्यमास्वाद्य यथेच्छं पीत्वा पुनश्चषकं पानपात्रं त्यजन्त्या अतएव प्रस्रवति सीधु यस्मात्तत् संप्रस्रवत् सीधुश्चासावधरश्च तं भजन्त्या धारयन्त्याः सुदत्याः शोभनदन्ताया दयितायाश्चतुरो नरस्तं प्रियाया अधरोष्ठं चूत इवोचितश्चूतोचितः स्वार्थे क प्रत्ययः। आस्रवदित्यर्थः आदरेण परमप्रेम्णा सद्यस्तत्कालमेव चुचूषास्वादितवान् ॥३८॥

**चक्राह्वयद्वैत वदुज्ज्वलाशेऽधराधरि प्रेमजुषो विलासे।**
**वर्त्म स्वयं वै तमसोऽवरुद्धं मनोजराजेन पुनः प्रबुद्धम् ॥३९॥**

टीका—चक्राह्वय योश्चक्रवाकचक्रवाक्योर्द्वैतं मिथुनं तद्वत् उज्ज्वला पवित्रोद्दीप्ता वाशाभिलाषा यत्र तस्मिन् प्रेमजुषोर्वरवध्वोः (अधरे अधरे प्रवृत्य प्रवृत्तमित्यधराधरि) विलासे चेष्टिते सति तमसोऽभिमानस्यान्धकारस्य वा वर्त्म मार्गः स्वयमेव वै अवरुद्धं प्रतिरोधितमभूत् मनोजराजेन कामदेवेन पुनः प्रबद्धं प्रबोधमाप्तं वै ॥३९॥

**मदास्पदोऽसावधुनोदियाय प्रच्छादितोऽन्तस्त्रपया चिराय।**
**यत्नेन योऽम्भोजदृशां महीयान् रागो दृशोः प्रीततमं प्रतीयान् ॥४०॥**

टीका—अम्भोजदृशां कमलाक्षीणां दृशोश्चक्षुषोरन्तरभ्यन्तरे यः रागो यत्नेन कृत्वा

---

मद्य पात्रोंमें नील कमल ही शेष रह गये थे जो अनादृत होनेके कारण भ्रमरोंके शब्दके मिषसे मानों रो ही रहे थे ॥३७॥

**अर्थ**—जो मद्य पीकर पान पात्रको छोड़ रही थी ऐसी किसी स्त्रीके उस अधरोष्ठको जिससे कि मद्य झर रहा था कोई चतुर मनुष्य आमकी तरह चूस रहा था ॥३८॥

**अर्थ**—चकवा चकवीके युगलके समान स्त्री पुरुषोंका अधर पान सम्बन्धी विलास जब उत्कट उत्कण्ठाके साथ चल रहा था तब अभिमानका जो मार्ग स्वयं अवरुद्ध—रुका हुआ था वह कामदेवके द्वारा पुनः प्रबुद्ध हो गया ॥३९॥

**अर्थ**—स्त्रियोंके नेत्रोंके भीतर जो रागलालिमा (पक्षमें अनुराग) लज्जाके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


चिराय चिरकालतस्त्रपया लज्जया प्रच्छादितो गोप्यतां नीतः स एव रागो रक्तिमा प्रीततमं हृदयेश्वर प्रति इयान् महान् महापरिणामवान् सोऽसौ प्रान्तवर्ती अधुना साम्प्रतं मद एवास्पदं स्थानं यस्य स उदियाय प्रकटतामाजगाम ॥४०॥

**यदेवमिन्दीवरपुण्डरीकसारैः समारब्धनिजप्रतीकम् ।**
**मदेन सत्कोकनदस्य शोभां चक्षुर्दधच्चारुदृशामदोऽभात् ॥४१॥**

टीका—यत्किल चारुदृशां मनोहराक्षीणां चक्षुः इन्दीवराणि नीलोत्पलानि पुण्डरीकाणि श्वेतकमलानि तेषां सारैरुत्तमभागैः समारब्धं निष्पन्नं निजप्रतीकं स्वकीयमङ्गं तदेवाद इदानीं मदेन कृत्वा कोकनदस्यारविन्दस्य शोभां लोहितिमानं दधत् सन्दधानं सत् अभात् शुशुभे मद्यपानप्रसादेन स्त्रीणां लोचनानि रक्तवर्णानि सञ्जातानीति ॥४१॥

**अप्रस्तुतत्वात्सुदृशां सदङ्गे गुप्तोऽपि सन्धातुगतो यथार्थः ।**
**मदेन वानेन किलोपसर्ग—पदेन हावादिगणः कृतार्थः ॥४२॥**

टीका—हाव आदिर्येषां ते हावादयस्तेषां गणः आदिपदेन विभ्रमविलासप्रभृतश्च । अप्रस्तुतत्वादप्रासङ्गिकत्वात् सुदृशां शोभने दृशौ यासां ताः सुदृशस्तासां सत् प्रशस्तमङ्गं शरीरं तस्मिन् सन्नपि गुप्तोऽनभिव्यक्तः स एवानेन मदेन मद्यपानेन कृत्वा किल निश्चयेन कृतार्थः प्रस्पष्टलक्षणो बभूव । यथा धातुगतोऽर्थो वाच्यादिः स उपसर्गपदेन प्रादिना प्रव्यक्ततामाप्नोति मद्यपानं कृत्वा स्त्रियो हावभावविभ्रमविलासतत्परा बभूवुरिति ॥४२॥

**ऋजोश्च बध्वाभृशमप्यकारि स्मितं मुखाम्भोरुहिहाव हारि ।**
**वाक्कौशलं किञ्च मदेन यूना छटा कटाक्षस्य दृशोरनूना ॥४३॥**

---

द्वारा चिरकालसे छिपा कर रक्खा गया था वही राग इस समय पतिके प्रति मदिराके आश्रयसे इतने अधिक परिमाणमें प्रकट हुआ था। भाव यह है कि मदिरा पानसे स्त्रियोंके नेत्रोंमें लालिमा आ गई थी और लज्जा धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी ॥४०॥

**अर्थ**—स्त्रियोंका जो नेत्र नील कमल और श्वेतकमलके सारसे निर्मित था वही अब मदिराके मदके कारण लाल कमलकी शोभाको धारण करता हुआ सुशोभित हो रहा था ॥४१॥

**अर्थ**—जिस प्रकार भू आदि धातुओंका छिपा हुआ भी अर्थ प्र-परा आदि उपसर्गोंके द्वारा प्रकट हो जाता है उसी प्रकार अप्रासङ्गिक होनेसे स्त्रियोंके शरीरमें छिपे हुए हाव-भाव विभ्रम-विलास आदि भाव इस मदिरा पानसे प्रकट हो गये थे ॥४२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



टीका—किञ्च यूना तरुणेन मदेन ऋजोश्च बध्वाः सरलहृदयाया वधूट्या मुखाम्भोरुहि मुखकमले हावेन हारि मनोहरं स्मितं हास्यं भृशं पुनः पुनरप्यकारि कृतं । किञ्च वाचां वाणीनां कौशलं चातुर्यमकारि । दृशोश्चक्षुषो रनूना बहुतरा कटाक्षस्यच्छटाऽकारि। एवं कृत्वा नववधूर्वैदग्ध्यमवाप मदप्रसङ्गेन ।।४३।।

रूपं सदेवाप्रतिमच्छवित्रं कार्यानपेक्षि प्रणयं पवित्रम् ।
वचश्च चारु प्रवरेषु तासां वदामि सत्कार्मणमिन्दुभासाम् ।।४४।।

टीका—इन्दोश्चन्द्रस्य मा शोभेव भा यासां तासां सुन्दरीणां न विद्यते प्रतिमा प्रतिरूपं यस्याः साऽप्रतिमा तामप्रतिमां छविं त्रायते यत्तदप्रतिमच्छवित्रं रूपं तथा कार्यमनपेक्षत इति कार्यानपेक्षि स्वाभाविकं प्रत्युपकारवाञ्छारहितमतएव पवित्रं प्रणयं प्रेम तथैव चारु प्रगल्भं वच एतत्सर्वं सत् सम्भवत्खलु प्रवरेषु प्राणनाथेषु विषये कर्मणि कर्तव्यकार्ये कुशलं यद्दिव्यं साधनं तत्कार्मणं बभूवेति वदामि वक्तुं प्रभवामि ।।४४।।

तनूनपाद्भिर्मदनं तथाद्भिः खण्डं तथाम्भोरुहरम्यपाद्भिः ।
समासभृद्धास विलासभाषादिभिर्नृतोऽपगलेत् सकाशात् ।।४५।।

टीका—यथा किल तनूनपाद्भिर्वह्निभिः कृत्वा मदनं नाम मक्षिकोत्थं वस्तु अपगलेत् चलति, यथावाद्भिर्जलैः कृत्वा खण्डं नाम शर्करापगलेत्, तथैव समासभृत् संकोचशालि नृणां चेतस्तत्, अम्भोरुहं कमलमिव मनोहरं पात् चरणो यासां ताभिः स्त्रीभिः, हासो विलासोभाषा सम्भाषणं चादिर्येषांतैरनुनयविनयैः सकाशात् समीपस्थितं नृचेतः प्रियजनस्य मनोऽपि अपगलेत् । दीपकोऽलङ्कारः ।।४५।।

---

अर्थ—जो भोलीभाली स्त्री पहले लज्जावश नम्रमुखी हो चुपचाप बैठी थी मदिराके भारी नशाने उसके मुख कमलपर हावभावसे मनोहर मुसक्यान अत्यधिक प्रकट कर दी, उसकी वाणीमें कुशलता ला दी और नेत्रोंमें कटाक्षोंकी छटा अत्यधिक रूप से प्रकट कर दी ।।४३।।

अर्थ—चन्द्रमाके समान कान्तिवाली स्त्रियोंका अनुपम छविकी रक्षा करने वाला रूप, प्रत्युपकारकी वांछासे रहित पवित्र प्रेम और मनोहारी वचन, यही सब, पतियोंके विषयमें होनेवाला कार्य कौशल है यह मैं कह सकता हूँ ।।४४।।

अर्थ—अग्निके द्वारा मदन—मेन गल जाता है, जलके द्वारा खांड—शक्कर गल जाती है और कमलके समान सुन्दर पैरों वाली स्त्रियोंके हास, विलास तथा सम्भाषण आदिसे पुरुषका संकोचशील—लज्जालु चित्त गल जाता है—वशीभूत हो जाता है ।।४५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जयेज्जनीनां स्मितसारजुष्टिर्नृभ्यो वशीकारकचूर्णमुष्टिः ।
मञ्जीरकोदारकणत्कृत पञ्चेषुमन्त्रोक्तिपदं समञ्चत् ॥४६॥

टीका—जनीनां नारीणां स्मितसारस्य जुष्टिः प्रीतिपूर्वकोपलब्धिः सा नृभ्यो युवभ्यो वशीकारकस्य चूर्णस्य पिष्टविशेषस्य मुष्टिरिव मोहनाय जयेत् । तथैव तासां मञ्जीरकयोर्नूपुरयोर्यदुदारं कणत्कृतं परिकूजनं तच्च पुनः पञ्चेषोः कामदेवस्य मन्त्रोक्तिपदं मन्त्रोच्चारणस्थानसमञ्चदङ्गीकुर्वज्जयेत् । दीपकोऽलंकारः ॥४६॥

रतीशतीर्थाङ्कपदं जघन्यमुद्धाट्य दृक्कोणकणैर्धरन्यः ।
उरोजदुर्गे नयनं जनस्य कस्य स्मरादेशकरो न कश्यः ॥४७॥

टीका—यः कश्यो मद्यविशेषो युवतिभिर्निपीतः स रतीशस्य स्मरस्य तीर्थाङ्कानां-शासनप्रकाशकानां पदं स्थानं जघन्य जघने भवं जघन्यं मदनमन्दिरं तदुद्धाट्य विलासवशाद् निरावरणं कृत्वा दृक्कोणानां कटाक्षाणां कणैरंशैः पुनर्जनस्य प्राणनाथस्य नयनं चक्षुः कर्म तत् किलोरोजे स्तनदुर्गे दुरधिगमत्वात् धरन् प्रवर्तयन् सा कस्य नाम लोकस्य स्मरादेशकरः रतीशशासनप्रवर्तको न बभूव किन्तु सर्वस्यापि लोकस्य कामोत्पत्तिकरो बभूव । रूपकमलंकारः ॥४७॥

जगाम मैरेयभृते त्वमत्र आघ्रातुमात्तप्रतिमेऽलिरत्र ।
वध्वा स वध्वानयनेऽब्जबुद्धि स्याल्लोलुपानां तु कुतः प्रबुद्धिः ॥४८॥

टीका—अलिर्भ्रमरो मैरेयेण मद्येन भृते परिपूर्णेऽमत्रे पात्रे आत्ता प्रतिगृहीता प्रतिमा प्रतिच्छविर्येन तस्मिन् वध्वा नवस्त्रिया नयनेऽत्राब्जस्य कमलबुद्धि बद्ध्वा तदाघ्रातु जगाम, तदिदं युक्तमेव यतो लोलुपानां लोभवशंगतानां प्रबुद्धिर्विवेकः सा कुतो भवितुमर्हति न कुतोऽपि । अत्र सन्देहपूर्वकोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥४८॥

---

अर्थ—स्त्रियोंकी मुसकुराहट पुरुषोंके लिये वशीकरणचूर्णकी मुट्ठी है तो नूपुरोंकी प्रबल झनकार कामदेवके मंत्रोच्चारणके समान है। ये दोनों अपने कार्यमें सर्वोत्कृष्ट हैं ॥४६॥

अर्थ—युवतियोंने जिस मदिराका पान किया था उसने उनके विशिष्ट अङ्गोंको उद्घाटित किया, वस्त्ररहित किया, कटाक्षोंका संचार और स्तनरूप दुर्गपर नायककी दृष्टिको रोका। ठीक ही है मदिरा किस पुरुषको कामदेवका आज्ञाकारी नहीं बनाती ॥४७॥

अर्थ—मदिरासे भरे हुए पात्रमें स्त्रीके नेत्रका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**स्वाद्यां चरान्तां सुमनोहरां तां मुहुर्मुहुः सत्तमसा क्षितान्तां ।**
**तथाविधामेव सुधाम पूर्वां स्थित्यर्थमन्तर्हृदयं दधुर्वा ।।४९।।**

टीका—मिथुनजनाः कर्तारः स्वाद्यां स्वादनीयां चरस्तरलोऽन्तः स्वभावो यस्यास्तां सुमनः पवित्रमन्तःकरणं हरतीति सुमनोहरा मोहकर्त्री तत एव सता तमसा तिमिरेणाक्षिण नयने ताप्तां व्याप्तिकर्त्रीं तथाविधामुक्तलक्षणामपूर्वामप्राक्तनां प्रागननुभूतां तां सुधामिव मन्यमानाः स्थित्यर्थं स्तम्भनकार्यार्थं हृदयस्यान्तर्मध्येऽन्तर्हृदयं दधुः। मुहुर्मुहुर्वारंवारं यथा स्यात्तथा धारयामासुः। अथवा सुकार आद्यः प्रथमस्थो वर्णो यस्यास्तां स्वाद्यां च पुना रकारोऽन्ते यस्यास्तां रान्तां सुरामित्यर्थः। सत्तमः सज्जनोत्तमः प्रियजन इति यावत्। स साक्षी समक्षे वर्तमानस्तेन तान्तां समाक्रान्तां सुमनोभ्यो हरणीयां मधूककुसुमसमुत्थां तामेतां विगतो धाकारो यस्यास्तां विधामेव तथा पुनरकारः पूर्वस्मिन् यस्यास्तामपूर्वां सुधामिति असुं प्राणमेवेति कृत्वा स्थित्यर्थं जीवनसम्पत्यर्थं मुहुर्मुहुरन्तर्हृदयं दधुः। श्लेषो वक्रोक्तिश्चालंकारः ।।४९।।

**ततत्यजेदं भभभाजनं तु दुदुद्रुतं ते मुमुखासवं तु।**
**बध्वा ददेदेहि पिपिप्रियेति मदोक्तिरेषालि मुदे निरेति ।।५०।।**

टीका—स्पष्टमिदं वृत्तम् ।।५०।।

---

उसे कमल समझ कर भ्रमर सूंघनेके लिये गया सो ठीक ही है क्योंकि लोभी जीवोंको विवेक कहाँ होता है ? ।।४८।।

**अर्थ**—आस्वादनीय, चञ्चलस्वभाव वाली, पवित्र मनको मोह युक्त करने वाली और नेत्रों में तिमिर—नशा रूप मूर्च्छाको विस्तृत करनेवाली उस सुराको स्त्री पुरुषोंने अपूर्व सुधा-अमृतमान कर स्तम्भनके लिये—संभोग सम्बन्धी क्षमता प्राप्त करनेके लिये बार-बार हृदयमें धारण किया था—बार-बार पीकर उदरस्थ किया था।

**अथवा**—

**जो सुनोहरा**—महुआ आदि पुष्पोंसे निर्मित थी, तथा जो सत्तम—प्रिय-जनके साक्षीमें **तान्त**—विस्तृत थी, ऐसी **स्वाद्यां**—जिसके आदिमें सुवर्ण है और **रान्तां** जिसके अन्तमें रवर्ण है ऐसी सुरा—मदिराको स्त्री पुरुषोंने **विधा**—धासे रहित और **अपूर्व**—अकार सहित—असु-प्राण जैसा मानकर जीवनकी स्थिरताके लिये बार-बार हृदयस्थ किया था। बार-बार पिया था। यहाँ श्लेष और वक्रोक्ति अलंकार है ।।४९।।

**अर्थ**—मदिराके नशामें किसी स्त्रीको वाणी अस्पष्ट तथा पुनरुक्त हो गई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मणिमयचषके श्रियमवतरितां दृष्ट्वा वरखरुखण्डित करिताम् ।
अधरालक्तनुदोऽपि सुदारास्सम्मुद एव दधुर्मधुवारान् ।।५१।।

टीका—मणिमये चषके पानपात्रेऽवतरितां प्रतिबिम्बितां वरस्य प्राणनाथस्य खरवो दन्तास्तेषां खण्डितानि चिह्नानि तैः करितां सम्पादितां श्रियं शोभां 'खरुर्दशन ईशेऽश्वे' इति विश्वलोचनः। दृष्ट्वाधरस्यालक्तकमोष्ठदेशे विलेपितं लाक्षारसं नुदन्ति तेऽधरालक्तकनुदस्तान् मधुवारानपि सुदारा युवतयः सम्मुद एव प्रसन्नतार्थमेव दधुर्धृतवत्यः ।।५१।।

मधुनाप च रमणी यत्प्रगलभतां वक्रवाक्यरमणीयः ।
सूचितगूढरहस्यः परिहासोऽरिश्च विरहस्य ।।५२।।

टीका—यद् यस्मात्कारणात् मधुना कृत्वा रमणी सुन्दरी स्त्री प्रगलभतां विदग्धत्वं आप जगाम तस्मात् वक्रवाक्यैर्नानाविधैः काकुपदैः रमणीयः शोभमानस्तथा सूचितं प्रकटीकृतं गूढरहस्यं येन यत्र वा स परिहासो हास्यविशेषः यः खलु विरहस्य पतिवियोगस्यारिः प्रतिद्वन्द्वी यस्योदये पतिरहितत्वं सोढुमशक्यं भवति स बभूवेति शेषः। यमकालंकारः ।।५२।।

मन्दगलत्त्रपमिरया निदधत्याथेषदुन्मिषितचक्षुः ।
वध्वाधोमुखयावो दयितमुखमीक्षितममङ्क्षु ।।५३।।
सुदृशां मदेन विभ्रमपुंषि वपूंषीरितानि निजघूर्णुः ।
इतरेतरसंघादिव कुचकुम्भैरुद्धतैयतः ।।५४।।

---

वह प्रियसे कहती है कि मदिराका यह पात्र शीघ्र ही छोड़ो मुझे अपने मुखकी मदिरा देओ। स्त्रीकी यह अस्पष्ट तथा पुनरुक्त वाणी सखीके हर्षके लिये निकल रही थी ।।५०।।

अर्थ—मणिमय पानपात्रमें प्रतिबिम्बित पतिके दन्ताघात सम्बन्धी चिह्नोंकी शोभा देख स्त्रियाँ ओंठोके लेपको दूर करने वाली भी मदिराको हर्षके लिये धारण कर रही थीं ।।५१।।

अर्थ—यतश्च मदिराके द्वारा स्त्री चातुर्यको प्राप्त हो गई थी इसलिये कुटिल वाक्योंसे मनोहर तथा गूढ रहस्यको प्रकट करनेवाला वह परिहास जारी हुआ जो कि पति विरहका शत्रु था अर्थात् जिसके रहते हुए पतिका विरह असह्य हो रहा था ।।५२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सागसि रसिके रुष्टा तुष्टा न पदाब्जयोरपि च जुष्टा ।
मद्यविलुप्तविवेका तथैव तमतोषयदिहैका ॥५५॥
प्रियसंगमनिर्जितरुषि शमितविवादे प्रसन्नया धनुषि ।
नेषुं रतिहृदयेशः श्रितसन्धौ यौवते[1] प्रविदधे सः ॥५६॥
इत्येवमभिनिवेशे स्मरशर सम्बिद्ध सकलभूदेशे ।
नक्तं व्रजति विशेषे संहृतिलिप्सौ नरि अशेषे ॥५७॥
एका सखी विवेकाञ्चितचित्ता सानुकूलमपि चकितां ।
उपदिशति स्म नवोढां प्रोढा वोढारमननुगताम् ॥५८॥
राजीवमधुर नयने नयने अयने निमीलिते कस्मात् ।
जितदर्पकमपि दर्पक वशगं प्रियमीक्षतां स्वस्मात् ॥५९॥
यदि कुपितासि सुभाषिणि करजक्षतपूर्वकं मदनशासिनि ।
भुजपाशेन दृढन्तं बधान निगलेऽत्र विलसन्तम् ॥६०॥

टीका—एते श्लोका नाति क्लिष्टा अतो न व्याख्यताः ॥५३–६०॥

---

अर्थ—तदनन्तर मदिराके नशासे जो अर्धोन्मीलित नेत्रोंको धारण कर रही तथा जिसका मुख नीचेकी ओर था ऐसी किसी स्त्रीने धीरे-धीरे लज्जाको दूर कर शीघ्र ही पतिका मुख देखा ॥५३॥ हावभावोंको पुष्ट करनेवाले स्त्रियोंके शरीर नशासे झूमने लगे और उन्नत स्तनोंके द्वारा दोनों ओर घात प्रतिघात करने लगे ॥५४॥ जो अपने अपराधी पति पर कुपित थी और उसके चरणानत होनेपर भी प्रसन्न नहीं हो रही थी ऐसी किसी एक स्त्रीने मदिरासे विवेकके लुप्त हो जाने पर उस समय पतिको संतुष्ट किया था ॥५५॥ पति समागमसे जब स्त्रीसमूहका क्रोध शान्त हो गया, परस्परका विवाद दूर हो गया और दोनोंमें सन्धि हो गई तब कामदेवने धनुष पर बाण नहीं चढ़ाया ॥५६॥ इस संदर्भमें जब समस्त पृथिवी प्रदेश कामबाणोंसे बिद्ध हो रहा था और मिलनके इच्छुक मनुष्य जब रात्रिके समय यथास्थान जा रहे थे तब एक विवेकशालिनी प्रौढा सखीने नवोढा स्त्रीको इस प्रकार समझाया था—हे कमल नयने ! तुमने मार्गमें ही नेत्र क्यों बन्द कर रक्खे हैं ? अहंकारके विजेता, कामाकुलित वल्लभको देखा । हे मधुरभाषिणी ! यदि तुम कुपित हो तो कामदेवके आज्ञाकारी सुन्दर

---

१. युवतीनां समूहो यौवतं तस्मिन् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



अथ काञ्चिन्मानिनीं प्रतितस्या सखी गदति स्म तदेवाह नीचैः—

**रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽप्यनन्यशरणे वा ।**
**रचिता उचिता न रुषस्तत्त्वं निगदामि सखि ते वा ॥६१॥**

टीका—हे सखि ! रमणे प्राणप्रिये जने यस्य समागमाय यत्नः कार्यस्तस्मिन् चरणयोः प्रणतौ नमनकरणे प्रवणः कुशलो दत्तचित्तो नान्यच्छरणमाश्रयणीयं भवत्या यस्मै तस्मिन् या रुषो रोषास्त्वया रचितास्समारब्धास्ता उचिता योग्या न सन्ति किन्तु यत्किञ्चित् तत्वमस्ति तत्ते तुभ्यं निगदामि । छेकानुप्रासोऽलंकारः ॥६१॥

**शुभवति भवति सतारा नाकाशे भवति भवत्यपि चारात् ।**
**मदवति दवति रतीशे काननमेतस्य वरमीशे ॥६२॥**

टीका—हे मदवति ! मानशालिनि ! भवति नक्षत्रमण्डलसहिते तथैव शुभवति पुण्यस्वरूपे चाकाशे भवति सति अपि पुनर्भवती त्वादृशी च स्त्री आरादेव तारया युक्ता सतारा नयनस्येक्षणिका नाम तारा, तस्मादेतत्सम्मुखालोकनापि न भवति । ततो रतीशे कामदेवे दवो वनाग्निस्तद्वदाचरति यः सः, दवन् तस्मिन् दवति सति एतस्य पत्युः कुत्सितमाननं काननं चिन्तातुरत्वात् तदेव पुनः काननं वनं वरं यथा स्यात्तथाहमीशे जानामि किल । श्लेषोऽनुप्रासश्चालंकारः ॥६२॥

**जयते कञ्चुकहृदयं यदिदं ते तन्वि संकुचति हृदयम् ।**
**भुजवति जवति किलास्मिन्मुञ्च शरंमङ्क्षु गदितास्मि ॥६३॥**

टीका—हे सखि ! ते कञ्चुकं कुचवस्त्रं हरतीति कञ्चुकहृत् सोऽयं जनो जयते

---

वल्लभको नखक्षत्त लगाओ और बाहुपाशसे उसे कण्ठमें बाँध दो ॥५७–६०॥

**अर्थ**—जिसे तुम्हारे सिवाय दूसरा शरण नहीं है ऐसा पति जब चरणोंके समीप नमन करनेमें तत्पर है तव हे सखि ! मैं तुम्हारे लिये तत्त्वकी बात कहती हूँ कि क्रोध करना उचित नहीं है ॥६१॥

**अर्थ**—हे मानिनि ! जबकि भवति—नक्षत्रोंसे युक्त आकाश शुभवति—शुभरूप भवति—हो रहा है अर्थात् आकाशमें तारे छिटक रहे हैं तब तुम समीपस्थ होकर भी सतारा नहीं हो रही हो उसकी ओर आँख भी नहीं उठा रही हो । कामदेव दावानलके समान आचरण कर रहा है जिससे इसका मुख कानन—चिन्तातुर होनेसे मलिन हो रहा है इतना ही नहीं कानन—वन हो रहा है अर्थात् कामरूपी दावानलमें वनके समान जल रहा है ऐसा मैं ठीक जान रही हूँ ॥६२॥

**अर्थ**—हे तन्वि ! हे कोमलाङ्ग सखि ! तुम्हारे कुचवस्त्रको हरण करने-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



यद्यस्मात्कारणात् हे तन्वि ! कोमल शरीरधारिणि । ते हृदयं तदिदं संकुचति संकोचमञ्चति तथा संकुचति सम्यक् कुचौ दधाति । हे भुजवति ! बाहुबलधारिणि । अस्मिन् प्रिये जवति बलात्कुर्वति सति मङ्क्षु शीघ्रमेव शरं मुञ्च हृदयस्थं हारं त्यज निष्कासय, अस्यानुकूला च भव । यद्वा शरं कटाक्षवाणं वा मुञ्च येनासौ तव वशवर्ती स्यात् । किलेति निश्चयेन । श्लेषोऽनुप्रासश्च ॥६३॥

**अञ्चति रजनिरुदञ्चति सन्तमसं तन्वि चञ्चति च मदनः ।**
**युक्तमयुक्तं तत्त्यज रक्तममुष्मिंस्तु रचय मनः ॥६४॥**

टीका—हे तन्वि ! रजनिर्निशासावञ्चति प्रतिपलं गच्छति सन्तमसं तिमिरमुदञ्चति प्रसरति मदनश्च चञ्चति चमत् करोति तत्तस्मात्कारणात् पूर्वोक्तमयुक्तमसङ्गत्वात् त्यजतु पुनरमुष्मिन् प्रियजने मनो रक्तं रचयानुरक्तं कुरु तदेतदेव युक्तम् । अनुप्रासः ।

**मनसि मनसिजमिताया वनिताया विरहदग्धहृदयायाः ।**
**तल्लिङ्गानि तदानीं स्फुलिङ्गानीति निरगच्छन् ॥६५॥**

टीका—मनसि चित्ते मनसिजेन मितायाः पर्याप्तायाः किन्तु विरहेण दग्धं भस्मीभूतं हृदयं यस्यास्तस्यास्तदानीं तस्मिन् सखीवचनश्रवणसमये विरहदग्धहृदयत्वस्य लिङ्गानि ज्ञापकानि, स्फुलिङ्गानि निम्नप्रकाराणीत्येवंभूतानि निरगच्छन् ॥६५॥

**आभीगिरा ह्यकृतिनः पुरापराधा उपेक्षिताः कति न ।**
**अधुना तु तर्जनीयः कितवो नियमेन न वशी यः ॥६६॥**

---

वाला यह जयवंत रहे क्योंकि इस कुचवस्त्रसे तुम्हारा हृदय संकुचित हो रहा है । हे भुजवति ! हे बाहुशालिनि ! यदि यह तुम्हारा वल्लभ वलात् कार्य करता है तो तुम शर—हृदयका हार अलग कर दो अथवा कटाक्षबाण शीघ्र ही छोड़ो, यह मैं कह रही हूँ ॥६३॥

**अर्थ**—हे कृशाङ्गि ! रात्रि बीती जा रही है, सघन अन्धकार बढ़ रहा है और कामदेव चमत्कार कर रहा है अतः पहलेकी जो अयुक्त बात है उसे छोड़ो और इसमें अपने मनको अनुरक्त करो, यह युक्त है—ठीक जान पड़ता है ॥६४॥

**अर्थ**—जो मनमें कामसे परिपूर्ण थी तथा विरहसे जिसका हृदय जल गया था ऐसी किसी स्त्रीके उस समय विरह दग्ध हृदयसे सूचित करनेवाले इस प्रकारके तिलगे निकले—निम्न वचन प्रकट हुए ॥६५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



टीका—हे आलि ! आल्याः सख्यास्तव गिरा बचनेन न हि खल्वस्याकृतिनोऽकुशलस्यापराधा दोषा मया पुरा व्यतीते काले कति नोपेक्षिताः किन्तु बहवोऽपि नाङ्गीकृताः। अधुना तु पुनसौ कितवो धूर्तो नियमेनैव तर्जनीयो न पुनरुपेक्षणीयो यतो यो वशी नीतिपथगामी न भवति किम्वानवा नूतना या शी परास्त्री तस्या या यशःकीर्तिर्गानमर्थात् प्रेम यस्य सः 'शी स्त्रीषु स्वपरस्त्रीषु' इति, 'यो वातयशसोः पुंसि' इति च विश्वलोचनः। वक्रोक्तिरलंकारः ॥६६॥

**स्फुरसि कथंभुजलतिके लोचनतां किंगता त्वमपि वृतिके ।**
**नागतमप्यहममतं स्पृष्टुमलं द्रष्टुमपि मम तम् ।६७॥**

टीका—हे भुज लतिके। कथं त्वं स्फुरसि हे वृतिके वर्तुलाकार धारिणि। यद्वा चिरकालतोऽनालिङ्गनत्वात् नियमस्थे त्वमपि कथंकारं लोचनतां नयनरूपत्वं गतासि त्वंयद्यभियाञ्छसि किन्त्वहं मम मतं सम्मतिर्न विद्यते यत्र तनभमतमनभिवाञ्छितं समागतमपि खलुद्रष्टुमवलोकयितु मपि नालं समर्था न भवामि किं पुनः स्पृष्टुम् ॥६७॥

**सोमो भवान्यदाभूद् विधुमणिघटिता तदाह मपि सा भूः ।**
**खररुचिरद्य शठ त्वं द्युमणि मणि प्रकृति महमपठम् ॥६८॥**

टीका—हे शठ ! यदा भवान् सोम शान्तिरूप उमया कीर्त्या सहितः सोमो यशस्वी अभूत्तदाहमपि विधुमणिश्चन्द्रकान्ता तथा घटिता निर्मिता सा प्रसिद्धा भूर्जाता भवता सोमेन चन्द्रमसा मेलनकर्त्री। अद्य पुनस्त्वं खररुचिः कठोर चित्तो रविश्चासि तस्मात् कारणात् अहमपि द्युमणिमणिः सूर्यकान्त रत्नं तस्य प्रकृतिं चेष्टामपठम्। यथा रवि

---

अर्थ—हे सखि ! तुम्हारे कहनेसे मैंने इस अकुशल—व्यवहारानभिज्ञके पहले कितने अपराध उपेक्षित नहीं किये हैं ? अर्थात् बहुत अपराध उपेक्षित किये हैं परन्तु इस समय यह धूर्त, जो कि नीतिसे भ्रष्ट है अथवा अन्य स्त्रीका कीर्तिगान करता है अवश्य ही तर्जनीय है—उपेक्षणीय है ॥६६॥

अर्थ—फड़कती हुई भुजाको लक्ष्य कर कोई कहती है कि भुजलतिके ! तुम क्यों फड़क रही हो ? तुम क्यों लोचनपनेको प्राप्त हो रही है—लोचनकी तरह फड़कती हो ? तुम तो व्रती हो अर्थात् तुमने उनका आलिङ्गन न करनेका व्रत ले रक्खा है। उनके आनेपर उन्हें देखनेका भी मेरा भाव नहीं है फिर स्पर्श करनेकी बात ही क्या है ? ॥६७॥

अर्थ—हे शठ ! अरे धूर्त ! जब आप सोम-चन्द्रमा रूप थे तब मैं चन्द्रकान्तमणि निर्मित भूमि स्वरूपकी परन्तु अब आप खररुचि-कठोर प्रकृति वाले अथवा सूर्य रूप हो गये अत; मैं भी सूर्यकान्त मणिकी चेष्टाको पढ़ चुकी हूँ। अर्थात

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



समागमे सूर्यकान्तः प्रज्वलति तथा तव दर्शने ममापि कोपसमुद्भूतिः । श्लेषः क्रमश्चालंकारः ॥६८॥

तव निर्घृण किमिहार्थो याहि ययैवानुरज्यसेऽपार्थः ।
माऽपहर कुचग्रन्थिं किमपास्ता तेऽस्ति हृद्ग्रन्थिः ॥६९॥

टीका—हे निर्घृण । लज्जाहीन ! तवेहापि अर्थं प्रयोजनं विद्यते किं ? किन्तु न हि किमपि कार्यं ते । ययैव सहानुरज्यसे यस्यां तेऽनुरागो विद्यते तत्र याहि यतस्त्वमपार्थो दुरभिप्रायोऽसि । मम कुचग्रन्थिं कञ्चुकबन्धनं मापहर नच्छिन्धि । ते तव हृदो हृदयस्य ग्रन्थिर्मायावित्वं साऽपास्ता निष्कासितास्ति किं ? किन्तु नापहृता । वक्रोक्तिः ॥६९॥

उक्तप्रकारेण प्रतारितः प्राणपतिर्यदा विनिर्गतस्तदा पुनर्वियुक्ता विलपति—

मानिन्यसहेति मुहुर्धिक्कृतिरपि कल्पिता मयीह बहुः ।
कितवगुणाननुवदता हे जिन ! सवयोजनेन सता ॥७०॥
क्रीडाकोपात्कथमपि गच्छेति मयोदिते कठिनहृदयः ।
त्यक्त्वा तल्पमनल्पं गतवान् सखि पश्यतादयः ॥७१॥

टीका --सुस्पष्टार्थमेतद्वृत्तद्वयमस्ति ।

---

सूर्यके देखनेसे जिस प्रकार सूर्यकान्त मणि प्रज्वलित हो जाता है उसी प्रकार आपको देख कर मेरा क्रोध प्रज्वलित हो रहा है ।।६८।।

**अर्थ**—हे निर्लज्ज ! अथवा हे निर्दय ! तुम्हें यहाँ क्या प्रयोजन है ? तुम्हारा अभिप्राय अच्छा नहीं है जो तुम्हारे साथ अनुराग रखती है वहीं जाओ । मेरे कुचवस्त्रकी गांठ मत खोलो । क्या तुम्हारे हृदयकी गांठ–माया प्रवृत्ति दूर हो गई है ? ।।६९।।

**अर्थ**—हे भगवन् । उस धूर्तके गुणोंका बार बार कथन करने वाले समीचीन मित्रजनोंने 'तुम बड़ी अभिमानिनी हो तुम बड़ी असहनशील हो' इस तरहके धिक्कार–कुवचन मेरे विषयमें बार-बार कहे है पर मैं सब सहती गई परन्तु मैंने प्रणयकोपसे किसी तरह कह दिया कि 'जाओ-चले जाओ' इतने मात्रसे वह कठोर हृदय विशाल शय्याको छोड़कर चला गया । हे सखि ! देखो, कितना निर्दय है ? ।।७०-७१।।



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**यामि विधावभ्युदिते पुनरायास्यामि चेति संगदितम् ।**
**तदुदन्त्वेनाहं नेदं तत्त्वेन वेद्मि मितम् ॥७२॥**

टीका—यामि गच्छामि च पुनर्विधावभ्युदिते चन्द्रमस उदये सति रात्रौ किंवा भाग्योदये सति वा पुनरायास्यामि प्रत्यागमिष्यामि, इत्येवं प्रकारेण संगदितं तदेतदहमुदन्त्वेन वेद्मि । विधावित्येतत् किलोकारान्तविधुशब्दस्य सप्तम्येकवचनमेव जानामि किन्तु इकारान्तविधिशब्दस्य सप्तम्येकवचनं यद्भवति तस्य न स्मराम्यहं किल । यदुक्तं कुपितेन भर्त्रा तदिदानीमुदन्तत्वेन वार्तारूपेणैव शृणोमि न पुनरिदंत्वेन वास्तवरूपेणापीति यतस्तदुक्तं मितं संक्षिप्योक्तम् ॥७२॥

**मञ्जुलघौ गुणसारे किल क्वचित् सुसखि ! नापदाधारे ।**
**तत्रोपपतौ चेतः पत्यौ नानीदृशि समेतः ॥७३॥**

टीका—हे सुसखि ! मञ्जुश्च लघुश्च तस्मिन् मञ्जुलघौ, गुणानां शृङ्गारादीनां सारो विद्यते यत्र स गुणसारस्तस्मिन् क्वचिदपि आपदानां विपत्तीनामाधारः स्थानं नास्ति यत्र स नापदाधारस्तस्मिन् तत्र तादृशि उपपतौ जारे मम चेतोऽन्तःकरणं प्रवर्तते अनीदृशि य ईदृम् न भवति विरूपो गुणहीनो विपत्तिकरश्च भवति तस्मिन् पत्यौ स्वामिनीतोऽधुना प्रभृति मम मनो नास्ति किल । अथवा मञ्जुला घुसंज्ञा व्याकरणप्रसिद्धा यस्य तस्मिन्, गुण इत्यपि व्याकरणसिद्धा संज्ञा सा सारस्तथ्यांशो यस्य तस्मिन्, तथा क्वचित् तृतीयाया एकवचने नापदस्य नाप्रत्ययस्याधारस्तस्मिन् तत्र तादृश्युपपतौ शब्दे मम चेतः प्रवर्तते न चैतद्विपरीते पत्याविति । श्लेषोऽलंकारः ॥७३॥

---

**अर्थ**—मैं अभी जाता हूँ, विधौ अभ्युदिते'—चन्द्रमाका उदय होने पर आऊँगा, यह जो कहना है उसे मैं एक उदन्त—वार्तामात्र-कहना मात्र जानती हूँ तत्त्व-वास्तविक रूप नहीं; क्योंकि उनका वह कहना मित था—अत्यन्त संक्षिप्त था ।

**भावार्थ**—संस्कृतमें **'विधौ'** यह सप्तमी विभक्तिके एकवचनका रूप है जो विधु—चन्द्र वाची शब्दसे भी बनता हैं जो **विधि**—भाग्य वाची शब्दसे भी बनता है । मैं इसे उदन्त—उकारान्त **विधु** शब्दका रूप समझती हूँ **विधि**—इकारान्त विधि शब्दका नहीं । मेरे विधि—सद्भाग्यका उदय कहाँ हैं जिसके फलस्वरूप मैं पुनः उनके दर्शन कर सकूँ ॥७२॥

**अर्थ**—हे उत्तमसखि ! जो मञ्जु-लघु—मनोहर और लघु शरीर वाला है, गुणसार-शृङ्गारादि गुणोंसे श्रेष्ठ है तथा आपत्तियोंका स्थान नहीं है ऐसे उपपति—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सखि ! शस्तः सखिवत्पतिरिति किं सिद्धान्ततो न जानासि ।
शस्तोऽतिसखिवदुपपतिरित्यालि ! न किं समानासि ॥७४॥

टीका—हे सखि ! सखिवदर्थात्त्वद्वत् पतिरपि प्राणवल्लभोऽपि शस्तः प्रशंसनीयोऽस्ति । यद्वा शस्तः शस्प्रत्ययत आरभ्य पुनः सखिशब्दवत् पतिशब्दोऽपि प्रवर्तत इत्येवं सिद्धान्ततो वस्तुत्वतो व्याकरणशास्त्राच्च त्वमपि किन्न जानासि ? एवं सखिवचने संजाते नायिकापि प्रतिवदति । यत्किल हे आलि ! सहचरि ! उपपतिर्जारः सोऽपि अतिसखिवत् परमवयस्यावद्भवतीवेत्यर्थः । त्वद्वदेव शस्तः प्रशंसनीयो भवति । अथवा तु अतिसखिशब्दवदुपपतिशब्दोऽपि शस्तः शस्प्रत्ययादारभ्य पुनः प्रवर्तत इत्येवं त्वमपि मानेन परिज्ञानेन सहिता नासि किम् ? अपि तु विदुष्येवासि ॥७४॥

---

जारमें अब मेरा चित्त लग रहा है इससे विपरीत—विरूप, गुणहीन और विपत्तियोंके स्थानभूत पतिमें नहीं लग रहा है ।

द्वितीयार्थ—जिसकी मनोहर घु संज्ञा (घिसंज्ञा) व्याकरण प्रसिद्ध संज्ञा है, जो गुण—व्याकरण प्रसिद्ध गुण संज्ञासे श्रेष्ठ है, तथा जिसकी तृतीया विभक्तिमें ना आदेश नहीं होता है ऐसे 'उपपति' शब्दमें मेरा मन लग रहा है इससे रहित पति शब्दमें नहीं ।

भावार्थ—'पति' और 'उपपति' दो शब्द हैं इनमें उपपति शब्दकी घु (पाणिनीय व्याकरणमें घि) संज्ञा होती है । उपपति शब्दमें ङित् विभक्ति पड़े रहते गुण होकर 'उपपतये' आदि रूप बनता है तथा उपपति शब्दकी तृतीयाके एकवचनमें ना आदेश होकर 'उपपतिना' रूप बनता है ऐसे उपपति शब्दके चिन्तनमें मेरा मन लग रहा है पति शब्दके चिन्तनमें नहीं क्योंकि उसकी घु (घि) संज्ञा नहीं होती उसमें ङित् विभक्ति पड़े रहते गुण नहीं होता और तृतीयाके एकवचनमें ना आदेश नहीं होता है । यह श्लेषालंकार है ॥७३॥

अर्थ—हे सखि ! पति, सखिवत्—मित्रवत् अर्थात् तुम्हारे ही समान शस्तः—प्रशंसनीय है यह क्या वास्तवमें तुम नहीं जानती हो । सखीके ऐसा कहनेपर नायिका उत्तर देती है—हे आलि ! उपपति—जार अतिसखिवत्—परम मित्रके समान प्रशंसनीय है इस ज्ञानसे क्या तुम सहित नहीं हो ? भाव यह है कि यदि पति मित्रके समान है तो उपपति परम मित्रके समान है ।

द्वितीयार्थ—हे सखि ! पति शब्द शस्तः—शस् प्रत्ययसे लेकर सखिवत्—सखि शब्दके समान है यह बात क्या तुम सिद्धान्ततः—व्याकरणके अनुसार नहीं जानती हो । सखीके ऐसा कहनेपर नायिका उत्तर देती है—हे आलि ! उपपति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



श्रीमत्तमालशकलभ्रु ! विमुञ्च जालं
त्वच्छब्दबोधमधुना निगदामि मालम् ।
आशासितेति वदनोदलवैश्च शस्यै-
र्मुक्ताफलानि तु ददावुपहारमस्यै ॥७५॥

टीका—उपर्युक्तप्रकारेण नायिकासख्योः परस्परं सम्भाषमाणयोः सत्योः सहसैवागतं नायकं दृष्ट्वा सखी नायिकामनालोकितपतिकां प्रतिजगाद शब्दच्छलेन यत्किल हे श्रीमत्तमालशकलभ्रु ! श्रीमतस्तमालस्य शकलं खण्डमिव भ्रुवौ यस्यास्तत्सम्बुद्धिः जाल प्रपञ्चं छलं वा विमुञ्च जहि । अधुना साम्प्रतं तव शब्दस्य बोधः परिज्ञानं यस्य तं मालं जनं तव स्वामिनमित्यर्थो निगदामि अहम्, अस्माकं परस्परसम्भाषणं तव स्वामिना श्रुतमिति संसूचयित्री सखी तस्या व्याकरणज्ञानं च प्रशंसति यत्ते शब्दबोधं मालं मां श्रियं प्रशंसां वा लाति गृह्णातीति तं निगदामि तावदित्येवं प्रकारेण शासिता सम्बोधिता सती सा नायिकापि साश्चर्यचकिततया वदने सञ्जाताया ये उदलवा जलांशास्तैः शस्यैः प्रशंसनीयैरनल्पैरित्यर्थोऽस्यै वयस्यायै मुक्ताफलानि नामोपहारं पारितोषिकं ददौ । श्लेषो मीलनं चालंकारोऽत्र ॥७५॥

---

शब्द भी तो शस् प्रत्ययसे लेकर अति सखि शब्दके समान है यह क्या तुम नहीं जानती ?

**भावार्थ**—व्याकरणमें शस् प्रत्यय—द्वितीयाके बहुवचनसे लेकर पति और सखि शब्दके रूप एक समान चलते हैं और उपपति तथा अतिसखि शब्दके रूप भी द्वितीया के बहुवचनसे लेकर आगे एक समान चलते हैं ? इसलिये पति, उपपति, सखि और अतिसखि शब्दके श्लेषसे दो सखियोंकी उक्ति प्रत्युक्ति है ॥७४॥

**अर्थ**—जब नायिका और सखीके बीच पूर्वोक्त प्रकारका सभाषण चल रहा था तब अकस्मात् नायिकाका पति आ गया परन्तु नायिकाने उसे देखा नहीं । सखी, नायिकासे कहती है कि हे शोभायमान तमाल पत्रके खण्ड समान भौंहों वाली ! जाल—व्यर्थका वाग्विस्तार अथवा छल छोड़ो । तुम्हारे पति हम दोनोंके संवादको सुन चुके हैं । अब मैं उनसे तुम्हारे शब्दबोध—व्याकरण ज्ञानकी बात कहती हूँ अर्थात् उन्हें बतलाती हूँ कि तुम्हारी प्रिया व्याकरणके ज्ञानमें बहुत दक्ष है । जब सखीने नायिकासे ऐसा कहा तब उसके मुखपर आश्चर्यसे चकित होनेके कारण स्वेद जलके कण छलक आये । उनसे वह ऐसी

---

१. 'मालं क्षेत्रे जने मालो' इति विश्वलोचनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



प्रेयसी प्रियतमस्य पार्श्वतःश्चन्द्रकान्तमृदुपुत्रिकां स्वतः ।
संस्फुरत्तरलवारिकां हि का सङ्गतामकथयत्सपत्निकाम् ॥७६॥

टीका—सुगमम् ॥७६॥

यूनि रागतरलैरपि तिर्यक्पातिभिर्मदमतिष्ववतीर्य ।
दूरर्दाशभिरलङ्घि न बालालोचनैः श्रुतिरहो सुविशाला ॥७७॥

टीका—यूनि स्वप्रिये तरुणे रागेण प्रेम्णा तरलैश्चञ्चलैस्तथा मदमतिषु सुरापानेष्ववतीर्य प्रवर्त्य तिर्यक् पतन्तीति तिर्यक्पातिनस्तैरपि तथापि दूरर्दाशभिर्दीर्घालोचके बलितया लोचनैर्नयनैर्विशाला सुविस्तृता श्रुतिः श्रोत्रं शास्त्रं वा नालङ्घि नोल्लङ्घिता । अहो इति विस्मयो मदिभिः श्रुतलङ्घनस्यावश्यंभावित्वात् ॥७७॥

मधुनाम्मधुना कृतं यत्पुना रसवत्प्रत्ययमेत्य चाधुना ।
मधुरसङ्गमं सम्ब्रवीम्यहं मिथुनजनायोत्तमसुखावहम् ॥७८॥

टीका—मधुनाम्नैव धुना धातुना कृतं संपादितं किंवा कृत्संज्ञकं रसवत्प्रत्ययमेत्य यद्वा सरसबोधमेत्य लब्ध्वाऽधुना साम्प्रतं पुनर्मिथुनजनाय स्त्रीपुंयोगयुक्ताय लोकायोत्तमसुखमावहतीति तं मधुरश्चासौ सङ्गमश्च तमहं सम्ब्रवीमि ॥७८॥

---

जान पड़ती थी मानों सखीके लिये प्रशंसनीय मोतियोंका उपहार—पारितोषिक ही दे रही हो ॥७५॥

**अर्थ**—प्रियतमके सन्निधानसे जिसके शरीरमें सात्त्विकभावके कारण स्वेद जल कण छलक रहे हैं ऐसी किसी स्त्रीने अपने आपको चन्द्रकान्त मणिकी पुतली जैसा प्रकट किया था और सपत्नी के प्रति अपने आपको ऐसा प्रकट किया था जैसे चञ्चल तलवारको धारण कर रही हो ॥७६॥

**अर्थ**—युवा पतिविषयक प्रेमके कारण चञ्चल तथा तिरछे पड़ने वाले किसी स्त्रीके दीर्घदर्शी नेत्रोंने सुरापानमें अवतीर्ण होकर भी आश्चर्य है कि श्रुति—कानों (पक्षमें शास्त्र) का उल्लङ्घन नहीं किया था ॥७७॥

**अर्थ**—कवि कहते हैं कि मैं इस समय सरस ज्ञानको प्राप्तकर स्त्री-पुरुषोंके लिये उत्तम सुखदायक उस मधुर सङ्गमका वर्णन करता हूँ जो मधु नामक धातुसे कृत—विहित है (मदिरा पानसे संपादित है) ॥७८॥

---

१. 'तरलश्चञ्चले खड्गे' इति विश्वलोचनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**हृदि वाचि कपोलयोर्दृशोर्वा निखिलेष्वेव विचेष्टितेष्वपि ।**
**अनुरागमिवानुभावयन्ती प्रथितार्थाऽजनि रञ्जनी जनी ॥७९॥**

टीका—हृदि हृदये वाचि वचने कपोलयोर्गल्लदेशयोर्दृशोर्नयनयोर्निखिलेष्वेव विचेष्टितेषु चेष्टाविशेषेषु अनुरागं प्रीतिभावमिव प्रियजनायानुभावयन्ती ( न दीना-सावदीनात्युदारासौ ) रञ्जनी जनीनां मानुषीणां मध्ये प्रथितः सत्यार्थतां नीतो यया सा प्रथितार्थाऽजनि संजाता ॥ ७९ ॥

**दृगियं श्रुतिलङ्घनोत्सुकाऽऽराद्भ्रकुटीस्मार्तसुधर्मकीर्तिलोप्त्री ।**
**न पुराणपथाश्रिता विलासाः सुरताङ्कोऽयमनीतिरेव तासाम् ॥८०॥**

टीका—तासां स्त्रीणामियं दृग् दृष्टिः श्रुतेः श्रवणस्य लङ्घनं प्रत्याक्रमणं तस्मा-युत्सुकाऽस्त्याराच्छीघ्रमेव । तथैवेयं भ्रकुटी भ्रुवोर्द्वितयी सा स्मृते रागतोऽसौ स्मार्तो मदन-स्तस्य सुधर्मश्चापदण्डस्तस्य कीर्तिः प्रशंसा तस्या लोप्त्री लोपकर्त्री ततोऽपि शोभनतरा । विलासाश्च पुराणं पन्थानं श्रयन्तीति पुराणपथाश्रितास्तादृशा न भवन्ति, नवा नवाः संभवन्ति । एवं कृत्वा सुरतस्याङ्को लक्षणं अनीतिरीतिर्वर्जितः स्पष्ट एवाभूत् । किञ्च श्रुतिरध्यात्मशास्त्रं तस्योल्लङ्घनकर्त्री दृष्टिः । स्मार्तधर्मः स्मृतिप्रतिपादितः सदाचार-स्तस्य कीर्तिलोप्त्री भ्रकुटी, त्रिषष्टिपुरुषचरितप्रतिपादकानि प्रथमानुयोगलक्षणानि पुराणनामशास्त्राणि तेषां पन्थास्तदनाश्रया विलासाः । एवं सुरताङ्कोऽनीतिर्नीतिर्वर्जितो यदृच्छावादपूर्णोऽभूदिति ॥ ८० ॥

---

**अर्थ**—हृदयमें, वचनमें, गालोंमें, नेत्रोंमें और समस्त चेष्टाओंमें अनुराग—प्रेम ( पक्षमें लालिमा ) को प्रकट करने वाली रञ्जनी—मदिरा और जनी—स्त्री सार्थक नाम वाली हुई थी ।

**भावार्थ**—जिस प्रकार स्त्री हृदयमें, वाणीमें, कपोलोंमें, आंखोंमें और हाव-भाव रूपी सभी चेष्टाओंमें अनुराम—प्रेम प्रकट करती है उसी प्रकार रञ्जनी—मदिरा भी उपर्युक्त स्थानोंमें अनुराग—लालिमा को प्रकट करती हुई अपने 'रञ्जनी' इस नामको सार्थक करती थी ॥ ७९ ॥

**अर्थ**—उस समय उन स्त्रियोंकी दृष्टि श्रुतिलङ्घनोत्सुका—अध्यात्मशास्त्रों का उल्लङ्घन करनेके लिये उत्सुक थी ( पक्षमें लम्बाईके कारण श्रुति—कानों का उल्लङ्घन करनेके लिये उत्कण्ठित थी ) भ्रकुटी स्मार्त—सुधर्मकीर्तिलोप्त्री—स्मृतियोंमें प्रतिपादित सदाचार रूप धर्म की कीर्ति का लोप करने वाली थी ( पक्षमें स्मार्त—स्मृति मात्रसे उपस्थित होने वाले कामदेवके सुधर्म—उत्तम धनुष

---

१. 'रञ्जनी नीलिका शुण्डा मञ्जिष्ठा रोचनीष्वपि' इति विश्व०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



लीलातामरसाहतोऽन्यवनितादष्टाधरत्वाज्जनः
सम्मिश्राब्जरजस्तयेव सहसा सम्मीलितालोचनः ।
वध्वाः पूत्कृतितत्परं मुकुलितं वक्त्रं पुनश्चुम्बतो
निर्यातिस्म तदेव तस्य नितरां हर्षाश्रुभिः श्रीमतः ॥८१॥

टीका—जनः प्रेमी पुरुषः सोऽन्यवनितया दष्ट आस्वादितोऽधरो यस्य तत्त्वात्, लीलातामरसेन केलिकमलेनाहितः प्रतारितस्सन् सम्मिश्रं मिलितमब्जस्य रजो यत्र [¹तस्य भावस्तत्ता तया । इर्वोत्प्रेक्षायां सहसा झगिति सम्मीलितमालोचनमवलोकनं यस्य तथा भूतो जातः । नायकं निमीलितनेत्रं दृष्ट्वा वधूर्नितरां खिन्ना बभूव । पूत्कृतौ रोदने तत्परं संमुखं मुकुलितं निःश्रीकं च तस्या वक्त्रं मुखं पुनश्चुम्बतः श्रीमतः शोभासंपन्नस्य तस्य नायकस्य हर्षाश्रुभिः प्रमोदबाष्पैस्तदेव रजो लीलातामरसपरागो निर्यातिस्म निःसरति स्म । नायकेन छलेन नायिकायाः कोप उपशमित इत्यर्थः ] ॥८१॥

भूर्जप्रायकपोलके दललताव्याजेन बीजाक्षराः
प्रान्ते कुण्डलसम्पदौ विलसतो युक्तौ ठकारौ तराम् ।
लोमालीति च नाभिकुण्डकलिता श्रीधूपधूमावली
सज्जीयाज्जपमालिका गुणवतीयं हेमसूत्रावली ॥८२॥

टीका—पत्रावलीविभ्राजितं वध्वाः कपोलं दृष्ट्वा कविः कल्पनां करोति—दललता-

---

की कीर्तिका लोप करने वाली थी ) और उनके विलास—हावभाव आदि **पुराणपथाश्रिता न**—प्रथमानुयोग सम्बन्धी पुराण ग्रन्थोंमें प्रतिपादित शिष्ट व्यवहार का आश्रय करने वाले नहीं थे ( पक्षमें प्राचीन व्यवहारके अनुकूल नहीं थे ) इस तरह उनका वह सुरत लक्षण समागम अनीति—नीतिसे रहित था ॥ ८० ॥

**भावार्थ**—नायकके अधरोष्ठको अन्य स्त्रीके द्वारा डसा देख नायिकाने उसपर क्रीड़ा कमलसे प्रहार किया। नायकने झटसे नेत्र बन्द कर लिये मानों उस कमलकी पराग नेत्रोंमें चली गई हो। नायकको निमीलित नेत्र देख नायिका घबड़ा गई वह रोना ही चाहती थी कि नायकने उसके मुखका चुम्बन कर उसका क्रोध शान्त कर दिया। नायकके नेत्रोंसे हर्षके आँसू निकल पड़े मानों उन आँसुओंके द्वारा वह कमलकी पराग बाहर निकलगई हो ॥८१॥

**अर्थ**—नायिकाके कपोलोंपर जो पत्रोपलक्षित लताका आकार बना हुआ

---

१. इतोऽग्रे टीकाभागस्त्रुटितः प्रकरणदृष्ट्या संपादकेन योजितः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



व्याजेन पत्रोपलक्षितवल्लीछलेन भूर्जप्रायकपोलके भूर्जपत्रतुल्यगण्डप्रदेशे बीजाक्षरा मन्त्रा इव लिखिताः। कपोलयोरन्ते कुण्डलसम्पदौ कुण्डलकारौ युक्तौ मिलितौ ठकाराविव मंत्रशास्त्रे प्रयुक्तौ ठकारौ—ठकारौ वर्णौ विलसतस्तराम् अतिशयेन शुशुभाते। नाभिरेवं कुण्डं यज्ञ कुण्डं परितो विभ्राजमाना लोमाली रोमपङ्क्तिः श्रीधूपधूमावली—श्रीधूपस्य धूमावली धूमपङ्क्तिरिव शुशुभे वध्वा मध्यभागे स्थिता गुणवती गुणकारिणी पक्षे गुणोत्पादिका हेमसूत्रावली स्वर्णमेखला जपमालिका जापमालेव सज्जीयात् समीचीनतया शुशुभे यथा कश्चिन्मन्त्रसाधको भूर्जपत्रे ठकारयुक्तान् बीजाक्षरान् विन्यस्य यज्ञकुण्डे हवनं करोति तस्य धूपः परितः प्रसर्पति पार्श्वे जपमालिकां च समादत्ते तथा कामः कुरुते इति भावः ॥८२॥

मायात्रयपरिवेष्टिता त्रिवलिमिषेण तनूदरी।
भात्येषा सा स्मरभूपतेः स्तम्भनविद्या सुन्दरी ॥८३॥

टीका—त्रिवलयो नाभेरधस्ताद्विद्यमाना रेखाविशेषास्तासां मिषेण व्याजेन मायात्रयेण परिवेष्टिता सहिता तनूदरी कृशोदरी एषा सुन्दरी नायिका स्मरभूपतेर्मदनमहीपस्य स्तम्भनविद्येव भाति शोभते ॥८३॥

सुन्दरीः सद्यः सुन्दरैः कलयितुमनुष्णरुचोऽनुसम्।
मधुरकलालिरिवोज्ज्वलप्रतिभा बभावाप्तक्षया ॥८४॥

टीका—आप्तः प्राप्तः क्षयो[1] निवासो यया तथाभूता, अनुष्णा शीतला रुक् कान्ति-

---

था वह ऐसा जान पड़ता था मानों भूर्जपत्रपर मन्त्रके बीजाक्षर लिखे गये हों कपोलोंके दोनों ओर कुण्डल ऐसे जान पड़ते थे मानों मन्त्रमें प्रयुक्त होनेवाले 'ठः ठः' नामक बीजाक्षर हों। नाभिके पास जो काली काली रोमावली थी वह ऐसी लगती थी मानों नाभि रूपी यज्ञ कुण्डसे धूमको पङ्क्ति उठ रही हो और मध्यभागमें स्थित सुवर्ण मेखला ऐसी जान पड़ती थी मानों मन्त्र साधकके उपयोगमें आनेवाली जपकी माला—स्मरणी ही हो ॥८२॥

अर्थ—जो त्रिवलियोंके बहाने मानसिक, वाचनिक और कायिक इन तीन प्रकारकी मायाओंसे वेष्टित था ऐसी कोई कृशोदरी स्त्री काममहीपालकी स्तम्भन विद्याके समान सुशोभित हो रही थी ॥८३॥

अर्थ—घरपर चमकती हुई चन्द्रमाकी मनोहर कला स्त्रियोंको पतियोंके

---

१. क्षयौऽपचयकल्पान्तनिवासेषु रुगन्तरे इति विश्वलोचनः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



यस्य तस्य चन्द्रमसः मधुरा मनोहरा चासौ कला चेति मधुरकला, सुन्दरीः कामिनीः सुन्दरैः कामिभिः सह सद्यो झटिति कलयितुं मेलयितुं आप्ता प्रतिभाचातुरी यया तथाभूता बुद्धिमतीत्यर्थः। आलिरिव सखीव अनुसम्-सम्यक्प्रकारेण बभौ शुशुभे। गृहाम्बरे चकासतीं चान्द्रीं कलां दृष्ट्वा स्त्रियः पुरुषैः सह [1]संगन्तुमातुरा बभूवुरित्यर्थः ॥८४॥

रतिषु पाटवमासवोऽलमलं विधातुमभूत् पुनः।
नतनोः सुखानुमतेः परं लालसकरः पठावनः ॥८५॥

टीका—आसवो मद्यं रतिषु सुरतेषु पाटवं दाक्ष्यं विधातुं कर्तुम् अलमलम् अतिशयेन समर्थोऽभूत्। पुनः भूयः न विद्यते तनुर्यस्य स नतनुस्तस्य कामस्य सुखानुमतेः सुखसंवेदनस्य परं लालसकरः इच्छावर्धकः पठावनः पौनःपुन्यप्रवर्तकश्च बभूव ॥८५॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
वाणीभूषणमस्त्रियं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।
तस्यास्मिन् मदयन् मनः समनसां सर्गः समाप्तिं गतः,
श्रीकाव्ये स्वरसेन चैष दशमः षष्ठोत्तरः श्रीमतः ॥८६॥

टीका—स प्रसिद्धः श्रीमान् लक्ष्मीसंपन्नः श्रेष्ठी चासौ चतुर्भुजश्च श्रेष्ठिचतुर्भुजः चतुर्भुजनामधेयः श्रेष्ठी घृतवरी तन्नामधेया देवी पत्नी च वाणीभूषणं एतदुपाधिसहितं अस्त्रियं ब्रह्मचारिणं धीचयं बुद्धिराशिभूतं भूरामलोपाह्वयं 'भूरामल' इति नामधेयं यं पुत्रं सुषुवे जनयामास तस्य श्रीमतः अस्मिन् श्रीकाव्ये समनसां सहृदयानां मनो मदयन्

---

साथ शीघ्र ही मिलानेके लिये चतुर सहेलीके समान अत्यन्त सुशोभित हो रही थी ॥८४॥

अर्थ—मदिरा पान, रति क्रिया विषयक चातुर्यके करनेमें ही अत्यन्त समर्थ नहीं था किन्तु काम सुखकी अनुभूति सम्बन्धी लालसाको बढ़ाने वाला एवं पुनः पुनः प्रवृत्ति कराने वाला भी हुआ था ॥८५॥

अर्थ—अत्यन्त प्रसिद्ध चतुर्भुज सेठ तथा उनकी पत्नी घृतवरी देवीने वाणीभूषण पदवीके धारक ब्रह्मचारी तथा अत्यन्त बुद्धिमान् जिस 'भूरामल' को जन्म दिया था उस श्रीमान्के इस श्रीकाव्यमें सहृदय मनुष्योंके मनको प्रसन्न

---

१. क्षयोऽपचयकल्पान्तनिवासेषु रुगन्तरे इति विश्वलोचनः।



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



हर्षयन् एव षष्ठोत्तरो दशमः षोडश इत्यर्थः स्वरसेन स्वाभाविकरीत्या समाप्तिं गतः प्राप्तः ॥८६॥

---

करने वाला यह सोलहवाँ सर्ग अपनी स्वाभाविक गतिसे समाप्तिको प्राप्त हुआ ॥८६॥

इस प्रकार वाणीभूषण ब्रह्मचारी भूरामलके द्वारा रचित जयोदय काव्यमें सहृदय मनुष्योंके मनको प्रसन्न करने वाला सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# सप्तदशः सर्गः

अथोर्जतीन्दौ बहुमानवित्तं हर्तुं प्रहर्तुं च वियोगिचित्तम् ।
भयाढ्यतामभ्युपगम्य शिष्टाः सर्वे युवानो रहसि प्रविष्टाः ॥१॥

अथेत्यादि—अथ रात्रिसमुद्भवानन्तरं । बहुमानमनमनरूपमेव वित्तं धनं तद्धर्तुं च पुनर्वियोगिनां स्त्रीविरहिणां चित्तं प्रहर्तुं वशीकर्तुमिन्दौ चन्द्रमसि ऊर्जति समुदयं गच्छति सति भया प्रभया नूतनवस्त्राभरणादिकृतया शोभयाऽऽढ्यतां परिपूर्णतामभ्युपगम्य सर्वे शिष्टाः सभ्यतामुपपन्ना युवानो रहसि स्त्रीप्रसङ्गस्थाने प्रविष्टाः । बहुमानमनल्पपरिमाणं यद्वित्तं तद्धर्तुं वियोगिनामन्यमनस्कानां च चित्तं प्रहर्तुं कस्मिंश्चिदिन्दुनामनि प्रवर्तमाने सति भयाढ्यतां भययुक्ततामुपेत्य रहसि गूढस्थानं शिष्टास्तिष्ठन्तीति यावत् ॥१॥

श्रिया क्रियातोऽपि किलाप्रशस्यं कलङ्किनं जेतुमिवाप्यवश्यं ।
भास्वान् पवित्राणि रहःकृतानि जयोऽभ्यवाञ्छन्मृदुचेष्टितानि ॥२॥

श्रियेति—श्रिया कालिमोपयुक्तया प्रभया क्रियातोऽपि चौर्यादिभयकारिण्या हेतुभूतया कलङ्किनं तत एवाप्रशस्यं जेतुमिव जयो जयनशीलो भास्वान् सूर्यः रहसि कर्तुं योग्यानि पवित्राणि वज्रविभवानि जनताहितकरतया मृदूनि च तानि चेष्टितानि केन प्रकारेणेन्दुं जयानीति मन्त्रकार्याणि अभ्यवाञ्छत् तथा भास्वान् सुषमावान् जयो नाम राजा जयकुमारः रहःकृतानि स्त्रीसम्पर्काणि प्रसक्तहेतुतया मृदुचेष्टितानि कामशास्त्रतया पवित्राणि तान्यवश्यमभ्यवाञ्छत् ॥२॥

कोकस्य कल्पो विधुजन्मनीति लोकस्य तल्पोक्तगुणप्रणीतिः ।
जयस्य चानन्दभुवीष्टिमाया नो कस्य वाञ्छा प्रभवेत्कलायाम् ॥३॥

कोस्येत्यादि—विधुजन्मनि चन्द्रोदये कोकस्य लोकस्य चक्रवाकजनस्य यत्र तल्पे शय्या सञ्जल्पे स्त्रीप्रसङ्गे उक्ता कथिता गुणस्य प्रणीतिरनुस्मरणरीतिर्येन स कल्पः सकल्पो भवति तथा कराहतस्याङ्गस्य सूर्यविदूरस्य लोकस्य कः कल्पो विचारो भवति । तल्पोक्तगुणप्रणीतिरेवाब्रह्मचारिणः सम्भवति 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नीत्यादिना कस्यापि ब्रह्मार्थपरकत्वात् । तथैव जयस्य चानन्दभुवि सुलोचनायामिष्टिमायासमादरणसम्भावना प्रभवदेव । कलायां कं सुखं लातीति कला तस्यां कस्य जनस्य वाञ्छा न भवेत् किन्तु कलायां चन्द्रसत्तायां कस्य सूर्यस्यैव वाञ्छा न प्रभवेत् ॥३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



संकोचभृत्पद्मधुरा पुरा तु कुमुद्वती सालिरिता नु मातुम् ।
सौरभ्यमेकान्ततयात्र तेन तदा सभासारजनो हितेन ॥४॥

संकोचभृदित्यादि—अत्र लोके तदा दिनावसानकाले तेन राज्ञा चन्द्रमसा वा। कीदृशेन तेन ? सभासारजनीहितेन भैर्नक्षत्रैः सहिता सभा रात्रिस्तत्र सारोऽवश्य-कर्तव्यतया सम्मतो जनीनां स्त्रीणां हितमीहितं वा येन तेन पक्षे भासा दीप्त्या सहितेन सभासा रजन्या निशाया हितेन मङ्गलकर्त्रा। एकान्ततयाऽनन्यभावतया सौलभ्यं सुलभ-भावं पक्षे निश्चितरूपेण सौगन्ध्यमनुमातुं सा कौ पृथिव्यां मुद्वती कुमुद्वती सुलोचना पक्षे कैरविणी पुरा तु प्रथममेव संकोचभृती पदे चरणौ यस्यास्सा लज्जानुभावेन संकुच-न्तीत्यर्थः। मधुरा रमणीया पक्षे संकोचभृत् च पद्मधुरा कमलिनी यत्र सा, आलिभिः सखीभिः सहिता पक्षे सषट्पदा, इता प्राप्ता ॥ ४ ॥

तां सम्पदामभ्युपगम्य धात्री सम्बाधमध्यादुपभोगपात्रीम् ।
ततः समुद्धर्तुमिवाभ्यवाञ्छच्छनैरसौ निःस्व इवाध्वयात्री ॥५॥

तामित्यादि—असौ जयकुमारः निर्गतं विनष्टं स्वं धनं यस्य स निर्धनोऽध्वयात्री प्रवासकर्तेव भवन् समीचीनं पदं स्थानं यस्यास्तां सुलोचनां धनसम्पदां धनसमृद्धिमिवोप-भोगस्य पात्रीं पुनःपुनरनुभवनयोग्यामभ्युपगम्य ततः पुनस्तां धात्रीसम्बाधो मातृवर्गस्तन्म-ध्यात् पक्षे पृथ्वीप्रतलान्तरात् शनैर्निभृतमिव समुद्धर्तुं स्वसात्कर्तुमभ्यवाञ्छत् ॥ ५ ॥

सहालिभिः पार्श्वमुपागमि प्राक् ततः शनैस्तेन तयैकया स्राक् ।
क्व मायिना तां च नियुज्य बालावशेषितात्मैकसुहृद्रसाला ॥६॥

सहालिभिरित्यादि—तेन जयकुमारेण सा रसाला बाला प्राक् पूर्वं बह्वीभि-रालिभिः सह पार्श्वमुपागमि ततः पुनः शनैरेकैकमिति बहिष्कृत्य तया कयाचिदेकया साकमुपालब्धा पुनस्तेन मायिना मिषकरणकुशलेन स्राक् शीघ्रमेव तामेकां च क्व कस्मिंश्चिदपि कार्यविशेषे नियुज्यात्मैवैकः सुहृद् यस्याः साऽनन्यतमैवावशेषिता ॥ ६ ॥

अथास्य दोषा रजनीव राज्ञ उरीकृता सत्कृतसूक्तिभाग्यः ।
निरुक्तवेशाभरणैः समुक्तैः समन्ततः पीततमा भरुक्तैः ॥७॥

अथेत्यादि—यः सत्कृते स्त्रीसत्कारे सूक्तिं मञ्जुभाषणतां भजतीति सत्कृत-सूक्तिभाग् तस्यास्य राज्ञो जयकुमारस्य पक्षे चन्द्रमसोऽपि दोषा भुजयोरीकृता सा बाला भरुणोक्तैः सुवर्णघटितैरथ च मुक्ताभिः सहितैः समुक्तैः निरुक्तवेशाभरणैस्तैस्तैः प्रसिद्धैः समन्ततः पीततमा सर्वोत्तमपीतवर्णयुक्ता पीतं कवलीकृतं तमः शार्वरं यया सा रजनीवाभादिति शेषः ॥ ७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**महाशयोऽगस्त्य इवैष वारां निधिं स्वसात्कर्तुमगाद्विहारात् ।**
**अजायताक्षीणरसर्द्धिरेषा योगोऽनयोः स्फूर्तिकरो विशेषात् ॥८॥**

महाशय इत्यादि—वारांनिधिं समुद्रं स्वसात्कर्तुमगस्त्य इव 'वारिनिधिं चुलुकीचकारागस्त्य' इति जनश्रुतेः । एष महाशयो जयकुमारो वारां रलयोरभेदाद् बालां सुलोचनामेव निधिं वाञ्छितदात्रीं स्वसात्कर्तुमगात् प्रयत्नवानभूत् । इहैवावसरे एषा बालापि आराच्छीघ्रमेवाक्षीणानल्पया रसस्यर्द्धिर्यत्र तादृश्यजायत । एवमनयोर्द्वयोरेष योगः सम्बन्धो विशेषात्स्फूर्तिकरोऽजायत ॥ ८ ॥

**योगस्तयोः कौतुकमित्यथोऽधाद्यस्याणिकायां गणिका अबोधाः ।**
**न यद्विचारश्चतुरैरवापि लेभे मुनीनां न मनोऽप्यपापि ॥९॥**

योग इत्यादि—इति पूर्वोक्तप्रकारको योगस्तां समग्रभावेनोपभोक्तुमिच्छा राज्ञस्तस्याश्च यथोत्तरमधिकाधिकसौष्ठवसम्पत्तिरेवंरूपः प्रयोगस्तयोर्द्वयोस्तत्कौतुकमनिर्वचनीयं विनोदमधाद्दधार । यस्याणिकायां लेशमात्रपरिणतावपि गणिकाः पण्यस्त्रियो याः सुरतस्याधिष्ठात्र्यो भवन्ति ता अबोधा बोधविहीना बभूवुः । चतुरैः कामन्दकादिभिरपि यस्य विचारो नावापि । मुनीनामपापि मनोऽपि यन्न लेभे तत्र तेषामनधिकारात् ॥ ९ ॥

**सिंहासने स्थातुमथानुयोग्ये योग्ये नृशार्दूलवरेण भोग्ये ।**
**कुरङ्गनेत्राधिकृतापि नेत्रा शशाक सा कम्पवती न जेत्रा ॥१०॥**

सिंहासन इत्यादि—अथ पार्श्वगमनानन्तरं कम्पवती वेपथुनामसात्त्विकभावयुक्ता सा कुरङ्गनेत्रा कुरङ्गस्य नेत्रे इव नेत्रे यस्याः मृगाक्षी सुलोचना जेत्रा जयनशीलेन नेत्रा नायकेन जयकुमारेण अधिकृतापि स्वायत्तीकृतापि नृशार्दूलवरेण नरश्रेष्ठेन जयकुमारेण भोग्ये भोगमर्हति योग्ये स्वार्हे अनुयोग्ये अनुयोगः सम्बन्धस्तदर्हे सिंहासने उपवेष्टुं न शशाक शक्ता न बभूव लज्जातिशयादिति यावत् ॥ १० ॥

**दिशां च यामादरभावकर्तासनेऽपि तस्थौ परिरभ्य भर्त्ता ।**
**न तामुपाद्रष्टुमहो मनीषामवाप सम्यक् स्मयसारिणी सा ॥११॥**

दिशामित्यादि—आदरभावकर्ता वल्लभां प्रत्यादरभावस्य प्रकटयिता भर्ता वल्लभो जयकुमार यां दिशां च परिरभ्य समाश्रित्य आसनेऽपि तस्थौ समुपविष्ठः स्मयसारिणी स्मयो गर्वोऽद्भुतं वा तस्य सारिणी कुल्या सा सुलोचना तां दिशं सम्यक् प्रकारेण उपाद्रष्टुमवलोकयितुमपि मनीषां बुद्धिं नावाप न प्राप्ता लज्जानुभाववशादित्यर्थः ॥ ११ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सदस्यदः शीलितमेव माला क्षेपात्मकं ज्ञातवतीव बाला ।
तच्चापलं चाप ललामसारं दृशापि लब्धुं न शशाक सारम् ।।१२।।

सदसीत्यादि—यत्किल मालाक्षेपात्मकं स्वयंवरसभायां जयकुमारस्य कण्ठे मालारोहणात्मकं चापलं चपलत्वं तदद इदं सारं समुद्दे श्य पूरकत्वात्, यच्च चाप इव धनुःसदृशं ललाम सुन्दरं सदसि सभायां शीलितं कृतं तच्चारमधुना चापललाम असमञ्जस-मसभ्यकार्यतया कुलीनानां लज्जास्पदत्वात् ज्ञातवती सञ्जानतीव तत्त्वतस्तु तन्न सुन्दरं कृतमितीवशब्दस्यार्थः । सा बाला सुलोचना दृशापि चक्षुर्व्यापारेण च जयकुमारं लब्धुं न शशाक किं पुनरालिङ्गितुम् ॥ १२ ।

मास्तूत सुस्निग्धतमेऽत्र हृद्वा न्यस्तं दुराकर्षमितीङ्गकृद्वा ।
चापल्यचारु प्रियसाद्व्रजन्तं प्रत्याचकर्षार्द्धपथाद् दृगन्तम् ।।१३।।

मास्तूतेत्यादि—सा सुलोचना दृगन्तमपाङ्गवीक्षणं यश्चापल्ये चपलतायां चारुस्तं सहजचञ्चलं तत एव प्रियसाद् व्रजन्तं वल्लभस्य दिशि गच्छन्तं तमत्र सुस्निग्धतमे परमस्नेहस्थानेऽनन्यप्रेमाधारेऽतिशयचिक्कणे च वा न्यस्तं दापितं हृदिव चित्तं यथा तथैव दुराकर्षं पुनस्तस्मादाकृष्टुमशक्यं मास्तु न भवेदेवेत्युतेङ्गं विचारविनिमयं करोतीतीङ्गकृत् सदभिप्रायवतीव सा तमर्द्धपथाद् वर्त्ममध्यादेव प्रत्याचकर्ष तं स्वकटाक्षं । वेत्युत्प्रेक्षायाम् ॥ १३ ॥

स्वाङ्गं प्रदातुं भवतीव वामानुयाचमानाय पुनर्नवा मा ।
राज्ञे किलाज्ञेव पुनर्ननामासकौ समारब्धपुनीतनामा ।।१४।।

स्वाङ्गमित्यादि—तदा समागमारम्भकालेऽनुकूलतया याचमानायानुयाचमानाय तस्मै राज्ञे सा वामा वक्रा न भवतीति नवामा सरलस्वभावापि स्वाङ्गमनुयाचितं निजमङ्गं प्रदातुं वामा कुटिला विरुद्धपरिणामा भवतीति सैव पुनर्नवा नवीना मा लक्ष्मीस्तद्रूपा प्रिया वामा वामभागस्यार्द्धाङ्गिनी भवत्यसकौ सुलोचना समारब्धं समुपलब्धं हे प्रिये ! हे प्राणेश्वरि ! वल्लभे ! इत्यादि पुनीतं नाम यया सापि न किमपि नाम संज्ञाविशेषो यया सा ननामा, यथा स्त्री स्वस्वामिनामोच्चारणं न करोति तथैव पुरुषोऽपि पत्नीनामनिर्देशं न करोतीति लोकाचारः¹ । पुनीतनामापि ननामेति विरोधश्च ततोऽसकावज्ञेव न किमपि जानातीति तदिव भद्रस्वभावा किल तथा पुनराज्ञानुशासनपद्धतिरिव ननाम नमननिमग्ना-भूदिति ॥ १४ ॥

---

१. 'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च ।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ॥'

इति लोकाचारः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



उत्थातुमर्हः स्तनपो हरारिर्ह्रिया भयेनापि पुनर्न्यवारि ।
यथा कुदृष्टया दुरितेन सम्यग्गुणः पवित्राभ्युदयैकगम्यः ॥१५॥

उत्थातुमित्यादि—उत्थातुमर्हं उद्भवनशीलो हरारिः कामः स्तनपः शिशुरिव स ह्रिया लज्जया भयेनापि पुनर्न्यवारि वारं वारं न्यषेधि, यथा पवित्राभ्युदयैकगम्यः पुण्य-कर्मजन्मा सम्यग्गुणः सच्छ्रद्धापरिणामः कुदृष्ट्यानुचितशिक्षया दुरितेन मांसासनादिना कुचेष्टितेन निवार्यते तथा ॥ १५ ॥

ह्री क्रीडितुं स्थातुमथात्र कामः न सन्दिदेशाब्जदृशः स्म नाम ।
प्रत्याव्रजन्त्यर्द्धपथाद्धि वाणास्तिरश्चरन्तोऽपि दृगन्तवाणाः ॥१६॥

हीत्यादि—अथात्रास्मिन्नवसरे कामो मदनः क्रीडितुं क्रीडां कर्तुं स्थातुं वा अब्जदृशः कमललोचनायाः सुलोचनायाः न सन्दिदेश सन्देशं दत्तवान् नामेति संभावनायां स्मेति पाद-पूरणे, हीति विस्मये 'ही विस्मयविषादयोः' इति विश्वलोचनः । अतएव हि निश्चयेन दृगन्तवाणाः कटाक्षशरा एव वाणाः शराः, तिरश्चरन्तोऽपि तिर्यक्व्रजन्तोऽपि अर्द्धपक्षात् अर्द्धमार्गात् प्रत्याव्रजन्ति प्रत्यागच्छन्ति वल्लभं द्रष्टुमुत्सुका अपि कटाक्षास्त्रपावशात् प्रतिनिवर्तन्त इति भावः ॥ १६ ॥

तनौ लतायां क्वचिदेव गूढेऽङ्गकेऽपि दृष्टिं निदधत्यमूढे ।
तामागतां धर्तुमिवाववारां शुकेन तत्राम्बुजलोचनारात् ॥१७॥

तनावित्यादि—न मूढो भवतीत्यमूढस्तस्मिन् समुचितकर्तरि भर्तरि तस्यास्तनौ लतायामिव सुकोमलायां क्वचिदेव गूढे वस्त्राच्छादितेऽपि अङ्गकेऽवयवविशेषे दृष्टिं निदधति सति तत्राम्बुजलोचना कमलनयनी तामागतां प्रियस्य दृशं धर्तुमिवाराच्छीघ्र-मेवांशुकेन दुकूलेनावकाराच्छादितवती । भ्रमरी त्यादिकं धर्तुं वस्त्रेणाच्छादयतीति बाल-जातिः । शाढकेन सम्यङ् निगूढमप्यङ्गं प्रागल्भ्येन कस्मिंश्चिदभिपश्यति सति समुद्घाटित-भ्रमेण तत्र मुहुरावरणकरणं नवोढाजातिः ॥ १७ ॥

नापोपकण्ठं सहसोपकण्ठीकृतापि यूना पिकमञ्जुकण्ठी ।
नैकासनैकासनिताप्यसुप्ता संशायिता वावयवेषु गुप्ता ॥१८॥

नापेत्यादि—पिकस्य कोकिलस्येव मञ्जु मधुरं कण्ठं यस्याः सा सुलोचना सहसोप-कण्ठं समीपदेशमपि नाप नैवाजगाम । अपि पुनर्यूना प्रगल्भेन तेनोपकण्ठीकृता कथमपि सामीप्यं नीतापि, एकमभिन्नमासनं प्रियेण सह यस्याः सैकासना सा न बभूव, पुनरेकास-निताप्येकासने स्थापितापि असुप्ता पुनः संशायिता शयनभावं नीतापि सती अवयवेषु निजाङ्गप्रत्यङ्गेषु गुप्ता समाच्छादितसकलावयवा जाता, न किन्तु निःसंकोचा बभूवेति यावत् ॥१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



लुप्ता न संकोचतती रमायाः कृताः प्रणेत्रा बहुशोऽप्युपायाः ।
अपत्रपा स्यादिह सात्रपापि तेनाथ भूयो गुणसंकटापि ।।१९।।

लुप्तेत्यादि—प्रणेत्रा वल्लभेन बहुशोऽपि पूर्वोक्तरीत्या उपायाः कृतास्तथापि रमाया लक्ष्मीस्वरूपायास्तस्याः संकोचततिर्लज्जालुता न लुप्ता । अथ पुनः सा त्रपापि न पत्राणि पाति रक्षतीत्यपत्रपा पल्लवभावरहिता स्यात् । अथवाऽपत्रपा निर्लज्जतां नीता स्यादित्येवमभिप्रायवता तेन सा भूयः पुनरपि गुणैरनुनयविनयादिभिः संकटा समाप्तक्षेत्राऽऽपि प्राप्ता । वल्लीगुल्मादिकं पल्लवनक्षत्राभावे न पल्लवितं भवति तथा जनसमाजसमागमेऽनवकाशतया स्त्री विनिर्गच्छति तथैव त्रपापीति यावत् ।।१९।।

आयाति नाथे सुतरां निरस्ता वागादिसख्यः खलु यास्तु शस्ताः ।
लज्जाऽपलज्जा भवतीव कान्तसमागमेऽस्याः समगादुपान्तम् ।।२०।।

आयातीत्यादि—अस्याः सुलोचनाया वाक् वाणी आदिर्यासां ताश्च ताः सख्यश्च प्रगतिविश्वतोवलोकनवृत्तिरेवमादयो यास्तु शस्ताः प्रशंसायोग्यास्तास्तु नाथे भर्तरि आयाति नैकट्यमञ्चति सत्येव सुतरां सहजतयैव निरस्ताः किन्तु लज्जानाम सखी अपलज्जा स्वयं लज्जाविहीना भवतीव कान्तस्य समागमे संयोगसमये प्रत्युतोपान्तं सामीप्यात्सामीप्यतरं समगात् । प्रियसंसर्गे वचनशून्यत्वं निश्चेष्टतां चासाद्य ह्रीणतरा जातेत्यथः ।।२०।।

त्रपात्त पापिन्यपयातु केन क्रमेण कृत्वेति सुवर्षणेन ।
श्रीवारिदेनानुनयान्वयादिनदी त्वदीना सहसोदपादि ।।२१।।

त्रपेत्यादि—अत्रास्मिन् प्रसङ्गे पापिनी मनोरथबाधकतया पापवती त्रपा लज्जा केन क्रमेण कृत्वा केन प्रकारेण अपयातु दूरीभवतु इतोत्थं अदीना दैन्यरहिता अनुनयान्वयनदी अनुनय वाक्परम्परा श्रीवारिदेन मेघेनेव वारिदेन वचनोच्चारणकुशलेन तेन वल्लभेन सहसा झटिति उदपादि उत्पादिता समुच्चारिता । सुवर्षणेन सुवर्षणशीलेन मेघेन नायकपक्षे शोभनवचनोच्चारणतत्परेण । वारि जलं ददातीति वारिदो मेघस्तेन नायकपक्षे वारिं सरस्वतीं वाचं ददातीति वारिदस्तेन 'वारिः सरस्वतीदेव्यां वारि ह्रीवेरनीरयोः' इति विश्वलोचनः ।।२१।।

इवालिरस्मीह तु कौतुकाय लताङ्गि ते जातु न वास्त्वपायः ।
मयेति विश्वासमयेऽभिनेतुस्तां नेतुमासीत्सुवचोऽयने तु ।।२२।।

इवालिरित्यादि—हे लताङ्गि । वल्लीसदृशसुकोमलशरीरवति ! अहमिव तव कौतुकाय विनोदाय पक्षे कुसुमाय आलिः सखीव, अथवा भ्रमरवदस्मि, मया ते जातुचिद् अपायो हानिर्न वास्तु नैव भवेत्, इत्येवं प्रकारकमन्यदपि अभिनेतुर्वल्लभस्य सुवचः शोभनं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वचनं तां सुलोचनां विश्वासमयेऽयने मार्गे कर्तव्यपथे नेतुं प्रवर्तयितुमासीत् संजातं। तु विशेषे ॥२२॥

**न याचिता सा सुरताय वाचमदात्तदाऽवादि मुहुःस्तवा च।**
**जयेन, येनासि समात्तमौना जानामि नानादरिणीं रतौ ना ॥२३॥**

न याचितेत्यादि—पूर्वोक्तप्रकारं मुहुः पुनः पुनः कृतः स्तवः स्तवनं यस्याः सा मुहुःस्तवा सा सुलोचना सुरताय याचिता सती वाचं नादात् न किमप्युक्तवती, तदा जयेन पुनरप्यवादि उक्तं यत्किल हे प्रिये! मया प्रार्थितापि त्वं येन कारणेन समात्तमौनासि न किमपि प्रतिवदसि तेनैवाहं ना सुविचारशीलः पुरुषस्त्वां 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' इति सूक्तेन त्वां रतौ सुरतक्रीडायां न विद्यतेऽनादर उन्मनस्कप्रकारो यस्यास्तामुत च नाना-नेकप्रकारक आदरोऽनुकूलभावो यस्यास्तां जानामि, इत्येवमुक्ते ॥२३॥

**समाह सा सम्प्रति नेति नेति स स्मामृतेनेव मुदं समेति।**
**अहो भवत्या भुवि नद्वयेन समर्थितं मल्लपितं हितेन ॥२४॥**

समाहेत्यादि—सा च सम्प्रति आलिङ्गनविषयिण्याः सम्मत्याः सम्प्रदानकाले नेति-नेति समाह नहि नहि किलालिङ्गनं वाञ्छामीति। तदा स तस्या नेति-नेति सूक्तेनामृतेनेव मुदं समेतिस्म। तत्कथमिति स्पष्टयति—भुवि धरायां भवत्या त्वया नद्वयेन नकारयोर्द्वितयेन हितेन प्रेम्णा मल्लपितं मदुक्तमेव समर्थित स्वीकृतमिति ॥२४॥

**सा काममुत्सङ्गकृतापि तेन साऽऽकाममुत्सङ्गकृतापिते न।**
**वाञ्छामि बालेऽन्तलतामतोऽहं वाञ्छामि बालेऽन्तलतामतोऽहम् ॥२५॥**

साकाममुदित्यादि—सा प्रसिद्धा सुलोचना काममुत् मदनमोहवतीत्यतः सङ्गकृता प्रसङ्गकर्त्री तेन जयकुमारेण तदा हे बाले! भद्रपरिणामिनि। अहं तव वाले लोम्नीन्यपि अन्तलतां रलयोरभेदादन्तरतां व्यवधानपरिणतिं वाञ्छामि जानामि लोमकृतव्यवधानमपि त्वया सह न शक्नोमि अतोऽहमन्तमन्यस्थानं लाति गृह्णातीत्यन्तलस्तस्य भावोऽन्तलता तया मतं सम्मतमूहं वितर्कं न वा वाञ्छामि मदन्यत्स्यानस्थितिं तव नेच्छामि, इत्युक्तिपूर्वकं सा सुन्दरी आकामं यथेच्छमुत्सङ्गे स्वक्रोडदेशे कृता स्थापिताऽऽपि समारब्धा ॥२५॥

**स्खलत्तदन्यश्रवणावतंसानुयोजने दत्तशयद्वयं सा।**
**मुखं तिरःक्लृप्तवती सुगात्री भर्त्रे कपोलस्य बभूव दात्री ॥२६॥**

स्खलदित्यादि—तदोत्सङ्गकरणकाले स्खलतः प्रच्यवतः तस्मात्समुद्दिष्टादन्यस्य श्रवणस्यावतंसस्ताटङ्कस्तस्यानुयोजने दत्तं प्रयुक्तं शययोर्हस्तयोर्द्वयं यत्र तत्स्वकीयं मुखं तिरःक्लृप्तवती प्राणेशदिशि कुर्वती सा सुगात्री भर्त्रे स्वामिने कपोलस्य दात्री सहजमेव बभूव ॥ २६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



दिने तु नेतुर्विरहासहन्वान्निशः प्रभोः सङ्गदिशः स्मरन्ती ।
दिनोदयं सा पुनरिच्छतिस्म स्मरक्रियां भर्तुरनुत्तरन्ती ।।२७।।

दिनेत्यादि—स्पष्टमेतत् ।

निचुम्बने ह्रीणतया नतास्या स्विन्ने हृदीशप्रतिबिम्बभाष्यात् ।
समुन्नमय्याशुमुखं सुखेन बाला ददौ चुम्बनकं तु तेन ।।२८।।

निचुम्बन इत्यादि—निचुम्बने चुम्बनकाले बाला सुलोचना ह्रीणतया लज्जालुतया नतं विनम्रमास्यं मुखं यस्याः सती तस्मिन्नेव काले सात्विकतया स्विन्ने स्वेदपरिपूर्णे हृदि स्ववक्षःस्थले ईशस्य सम्मुखस्थ प्राणनाथस्यैव यत् प्रतिबिम्बं तस्य भाष्यात् स्पष्टीकरणात् तस्मात् पुनरपि लज्जिता सती आशु शीघ्रमेव मुखं समुन्नमय्य तेन कारणेन तु पुनः सुखेनानायासेनैव चुम्बनकं ददौ ।। २८ ।।

रतिह्रियोः प्रेक्षणकारिणीशान्वाशाजुषः कुण्डलकद्वयी सा ।
तिरोनताभ्युन्नतवक्त्रभाजस्तुलेव लोला सुतनो रराज ।।२९।।

रतिह्रियोरत्यादि—ईशमनु आशा दिशा तां जुषति सेवते तस्याः प्राणनाथसम्मुखीनायाः तिर एकतो नतमन्यतोऽभ्युन्नतं वक्त्रं भजतीति तस्याः सुतनोः सुन्दर्याः लोला चञ्चला या कुण्डलकद्वयी सा रतिश्च ह्रीश्च तयोः प्रेक्षणकारिणी—कतिमात्रा ह्रीः कतिमात्रा रतिरधुना सञ्जातेत्येव प्रेक्षणीतुलेव रराज ।। २९ ।।

विचुम्बतोऽधीश मुखस्य शीतकरत्वमित्युक्तवती सतीतः ।
सत्त्वोद्भवद्वेपथुका तु तानि वितन्वती सम्प्रति सीत्कृतानि ।।३०।।

विचुम्बत इत्यादि—सती सत्संसर्गवती सा सम्प्रति चुम्बनकाले सत्त्वेन प्रसक्तिभावेनोद्भवती वेपथुः प्रकम्पनं यस्याः सा स्वार्थे कप्रत्ययः सत्प्रकम्पवतीतश्च तानि हर्षसञ्जातानि सीत्कृतानि वितन्वती सन्दधती विचुम्बतश्चुम्बनं कुर्वतोऽधीशमुखस्य वल्लभवक्त्रस्य शीतकरत्वं शीता अनुष्णाः कराः किरणा यस्य तद्भावं चन्द्रमस्त्वमुत च शीतं हिमर्त्तुपरिणामं करोतीति तद्रूपत्वमिति—एवं रूपेण प्रकम्पनपूर्वकसीत्कारकरणेनोक्तवती ।।३०।।

न याचनातो ददती कपोलमथान्यहृत्कां स्मरसिन्धुकोलः ।
कृत्वा तदादाय स सिस्मिये न किमित्थमुक्ति गदितास्मि येन ।।३१।।

न याचनात इत्यादि—स्मरसिन्धौ कामशास्त्रसमुद्रे कोलः सन्तरणकाष्ठ इव योऽसौ सुरतक्रियाकुशलो जयकुमारो याचनातः कपोलं न ददतीमथ पुनरन्यहृत्कामन्यत्र क्वचिदपि दत्तमनस्कां कृत्वा समिषवार्तालापे तामेव समुत्तार्य ततस्तत्तस्याः कपोल—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मादाय स किन्न सिस्मिये किन्तु सिस्मिये। इत्थमुक्तिं गदितास्मि वदाम्यहम्। येने-त्येतस्य पदस्य निम्नवृत्तेन सहान्वयः ॥३१॥

**ह्रीणां न वीणां कुरुषे गिरा वा न कौमुदीवासि मृदुस्मिता वा ।**
**अथाद्य मूकासि कुतोऽप्यनूकात्ततान तामित्यपि वावदूकाम् ॥३२॥**

ह्रीणामित्यादि – हे अङ्ग ! गिरा मृदुलतरवाचा स्वकीयया वीणां ह्रीणां लज्जितां न कुरुषे, कौमुदीव चन्द्रिकावत् मृदु मधुरं स्मितं हसितं यस्याः सापि वा न भवसि, अद्य कुतोऽप्यनूकात् केनापराधेन वा मूकासि न हससि न वदसि न किमपि चेष्टसे, इत्येव-मथ निगद्य तां मौनशीलामपि वावदूकां ततान यतः सा निम्नप्रकारेणोक्तवती बभूव ॥३२॥

**वाणी कृपाणीव न कर्कशार्यास्मि कौमुदी वन्न कलङ्किभार्या ।**
**नूनं तनुं भो सभयाऽनिवार्या त्रपात्रपायाच्च कुलीननार्याः ॥३३॥**

वाणीत्यादि—हे आर्य ! वाणी या मर्मच्छेदकरी कृपाणी असिपुत्रिका तद्वत्कर्कशा कठोरपरिणामा नास्मि तथा कौमुदीवत् कलङ्किनः कलङ्कयुक्तस्य चन्द्रमसो वा भार्या न भवामि किन्तु भवच्चरणसेविकास्मि कुलीनाङ्गना । अत्र पुनः कुलीननार्याश्च तनुं भयेन सहिता सभया त्रपा लज्जा या किलानिवार्या न केनापि वारयितुं शक्या । अथवा सभया निवार्या विद्वद्गोष्ठ्यैव निवार्या 'सभायां लज्जा न कार्या विद्वद्भिरिति' सा लज्जा-नूनं निश्चयेन पायात् रक्ष्यात् ॥३३॥

**बलादुपात्ताधरचुम्बनाय नता निपीता दृशि सस्मिता यत् ।**
**धवस्य दृष्ट्वाधरमात्ततुत्थं विधोः कलेवाब्धिमुताह सूत्थम् ॥३४॥**

बलादित्यादि—ततोऽधरचुम्बनाय बलादुपात्तात एव नता नम्रमुखी जाता तस्मात् रदच्छदे न निपीय दृशि चक्षुषि निपीता तस्मात् धवस्य स्वामिनो यदधरमात्ततुत्थमात्तं संगृहीतं तुत्थमञ्जनं येन तत्तादृशं दृष्ट्वा सस्मिता भवन्ती तदाब्धिं समुद्रं विधोः कलेव सा तमुत सम्यगुत्थानं तत्परत्वं यस्य तं सूत्थं आह गदितवती कृतवतीत्यर्थः ॥३४॥

**पत्या च रत्यादरिणो निपीतरदच्छदप्रोञ्छनकारिणीतः ।**
**परं न तस्यैव हि रागभागाभिव्यक्तये स्वस्य हृदोऽपि चागात् ॥३५॥**

पत्येत्यादि—रतिबदादरवती रत्यादरिणी सा पत्या स्वामिना निपीतस्य रदच्छदा-धरौष्ठस्य प्रोञ्छनकारिणी सम्मार्जनकर्त्री, इतः परं सा तस्यैव स्वरदच्छदस्य रागभावा-भिव्यक्तये एवं परं केवलं नागात् किन्तु स्वस्य हृदोऽपि अन्तरङ्गदेशस्यापि रागभावाभि-व्यक्तयेऽगात् जगाम प्रवृत्ताभूत् प्रोञ्छनेन यथा यथाधरस्यारुणिमपरिणामाभिव्यक्ति-रभूत्तथा हृदये लज्जांशापगमादनुरागाभिव्यक्तिरपीति यावत् ॥३५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**सारोऽभ्युदारो दयिते तवायं हारं समारब्धुमितीद्धमायम् ।**
**आरभ्य नाभे रसिकेन सम्यगाकण्ठमाश्लेषि वधूर्विनम्य ॥३६॥**

सार इत्यादि—दयिते ! हे प्रिये ! तवायं दृश्यमानः हार इत्यर्थः सारः श्रेष्ठोऽभ्युदारोऽत्युत्कृष्टश्च वर्तते इति हारं स्तनोपरि विभ्राजमानं ग्रैवेयकं समारब्धुं संस्पृष्टुं इद्धा माया यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात्तथा नाभेरारभ्य आकण्ठं कण्ठपर्यन्तं रसिकेन रसवता नायकेन वधूः सुलोचना विनम्य नम्रीभूय सम्यग् सुष्ठु आश्लेषि समालिङ्गिता । नाभेरारभ्य कण्ठपर्यन्तमालिङ्गितवानिति यावत् ॥३६॥

**किलाभिभूतं स्मरवह्निमत्यादराद्धसन्त्या हि विभूतिमत्या ।**
**विकाशयामास शयाशयेन यथापशैत्यं जयराट् स तेन ॥३७॥**

किलाभिभूतमित्यादि—बलादित्यादि वृत्तप्रकारेण हसन्त्याः प्रहसनसहितायास्तस्या हसन्त्या अङ्गारिकाया इव विभूतिमत्या वैभवशालिन्याः पक्षे भस्मतूलवत्या अभिभूतं संगुप्तं स्मरवह्नि मदनानलं स जयराट् चरितनायकः 'सारोऽभ्युदार—' इत्यादि वृत्तविहितविधिना तेन शयस्य हस्तस्याशयेन सञ्चालनेन कुत्सेरणेन वात्यादरात् समादरणपरिणामात् अपशैत्यं स्फूतिसत्करणं निरनुष्णत्वं वा यथा स्यात्तथा विकाययामास ॥३७॥

**शनैश्च पश्चान्निरकाशि तेन भीर्ह्रीश्च नेत्रा शयचालनेन ।**
**रहो महोमन्त्रभिदा विदारादपूजि साध्व्या स्मितपुष्पधारा ॥३८॥**

शनैश्चेत्यादि—रहसः स्त्रीप्रसङ्गस्य मह उत्सवस्तस्य मन्त्रभिदां संसिद्धिकरणप्रकारं वेत्तीति तेन नेत्रा भर्त्रा जयकुमारेण पश्चात् पूर्वोक्तक्रमानन्तरं सखिनिष्काशनानन्तरं वा शनैर्मन्दं मन्दं यथा स्यात्तथा शयस्य हस्तस्य चालनेन भीश्च ह्रीश्च निरकाशि निष्काशिता बहिष्कृताभूत्, तदैवारात्सत्वरमेव साध्व्या तया सत्यापि स्मितपुष्पाणां धारा परम्पराप्यपूजि सम्पूरिता ॥३८॥

**जयाननेन्दुः सुदृगास्यपद्मश्रियान्वयं प्राप्य मुदेकसद्म ।**
**सानङ्गता किन्न यशोधमा यदलम्बि वैरस्यविशोधनाय ॥३९॥**

जयाननेन्दुरिति—जयस्यानन मेवेन्दुराह्लादकत्वात्, स सुदृशः सुलोचनाया आस्यमेव पद्मं तस्य श्रिया शोभया सहान्वयं सम्बन्धं प्राप्याधुना मुदः प्रसन्नताया एकमद्वितीयं सद्म स्थानं बभूव । सेयमनङ्गता कामदेवपरिणतिरथवाऽनङ्गताऽसंघटितघटनात्मिकावस्था किं खलु नयशोधना नीतिपरिवृत्तिरतएव चैषा यश एव धनं यस्याः सा यशोधना किन्न भवति, किन्तु भवत्येव, यत्सा वैरस्य विद्वेषपरिणामस्य विशोधनाय यद्वा वैरस्यस्य नीरागपरिणामस्य विशोधनायालम्बि स्वीकृताभूत् ॥ ३९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**सुधाश्रयं प्रागधरं समाहावराङ्गपानेषु कृतावगाहा ।**
**सद्भा रतप्रान्तगतं मुहुर्वाऽवदत्तरामुद्गतवेपथुर्वाक् ॥४०॥**

सुधाश्रयमित्यादि—वाग्वाणी जयकुमारस्येति शेषः। अवराया रलयोरभेदाद-बलायाः सुलोचनाया अङ्गपानेषु, कीदृशेषु ? आवराङ्गपानेषु वराङ्गपर्यन्ताङ्गस्वादनेषु कृतावगाहा, सती समीचीनाभा प्रभा स्फूर्तिर्यस्याः सा सम्भवती प्राक् प्रथमं तु अधरमोष्ठ-देशं सुधाया आश्रयं स्वर्गमेव समाह, यद्वा रतस्य प्रान्ते गतमनुभूतं सुधाश्रयमधरं नीचै रूपं गुणहीनं समाह, तथा तमेव मुहुर्वानुभूय पुनरुद्गतवेपथुः समारब्धसात्त्विकप्रकम्पना सम्भवती सैव वाक् तमेवाधरं सद्भारतस्य वर्षस्य प्रान्तगत हिमालयपर्वतमिवा-वदत्तराम् ॥ ४० ॥

**स्मितामृतांशैः परितोषितत्वात्तवोरु सम्वाहनमैमि सत्त्वात् ।**
**इत्युक्ति लेशेन तदुक्तदेशे करं पवित्रं कृतवानशेषे ॥ ४१॥**

स्मितामृतांशैरित्यादि—हे सुन्दरि ! तव स्मितमेवामृतं तस्यांशैर्लेशैः परितो-षितत्वात्सन्तोषभावभागतत्वादहं तवोर्वोः सम्वाहनं पादचम्पन मिति किल सत्त्वात् कृतज्ञतामाश्रितत्वादैमीत्युक्तिलेशेन एवं प्रकारकवचनोच्चारणेन स जयकुमारस्तस्याः सुन्दर्या उक्तदेशे ऊरूयुगप्रदेशे पवित्रं मृदुतरं करं हस्तमशेषे नीचैरारभ्योपरिपर्यन्तं सम्पूर्ण एव कृतवान् ॥ ४१ ॥

**आप्तुं कुचं हेमघटं शुशोच सकोऽररं कञ्चुकमुन्मुमोच ।**
**चुकूज तन्व्या मृदुबन्धनश्वाभूद्रोमराजी प्रतिबोधभृद्वा ॥४२॥**

आप्तुमित्यादि—स एव सको जयकुमारश्चौर इव तन्व्याः सुलोचनायाः कुचमेव हेमघटं सुवर्णकलशमाप्तुमात्मसात्कर्तुं शुशोच चिन्तयामास, तदर्थं कञ्चुकनाम कुचाच्छादनवस्त्रमवाररं कवाटमुन्मुमोचोद्घाटयामास। तदानीमेव कशनमिति ( ? ) मृदु सुकोमलं बन्धनमेव श्वा कुक्कुरश्चुकूज शब्दं चकार प्रतिबोधनार्थमिवेति यावत्। तदा रोमराजी लोमावली प्रतिबोधमृदभूत् जागरिता जाता। संहर्षवशाद्रोमाञ्चन-मभूदिति ॥ ४२ ॥

**सदं चलं संप्रतिकर्तुं मीश करोऽङ्गनावक्षसि तूद्यमी सः ।**
**अभूच्छुभाछादयदाशु भान्तं भुजालताभ्यां कुचकुड्मलान्तम् ॥४३॥**

सदञ्चलमित्यादि—ईशास्य करो हस्तोऽङ्गना वक्षसि सम्यगञ्चलं छादनवस्त्रं संप्रतिकर्तुमपहर्तुमुद्यमी अभूत्। तदा सा शुभा लज्जावती आशु शीघ्रमेव कुचकुड्मलयोः स्तन कोरकयोरन्तं प्रान्तं भुजालताभ्यां बाहुवल्लीभ्या माच्छादयत्। मा स्पृशताविति

---

१. 'वराङ्गंमूर्धगुह्ययो' रित्यमरः 'वराङ्गं मस्तके योनौ' इति विश्वलोचनः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सम्ववार तम् । भान्तं शोभनीयमित्येतत्कुचकुड्मलान्तस्यास्ति विशेषणं । तु पुनर्वंकारेण सहितं सदं च तं लमर्थात् दलं पल्लवं प्रति कर्तुमुद्यमी यावदभूत्तावद्भ्रान्तं कुड्मलान्तमाच्छादयदिति युक्तमेव ।। ४३ ।।

विलासवत्या उदितावकस्मात्पयोधरौ श्रीकलशाविवास्मात् ।
वितेनतुर्मङ्गलमुद्यतस्य जगद्विजेतुं रतिवल्लभस्य ।।४४।।
राजाभिषेकाम्बुघटौ स्मरस्य निधानकुम्भाविव यौवनस्य ।
रतेरिवाक्रीडधरौ धवेन प्रोद्घाटितौ स्त्रीस्तनकौ जवेन ।।४५।।

सुगमामेतौ

मुदञ्चभावेन कुचौ सुपीनौ करौ स्फुरद्धस्ततलौ ज दीनौ ।
कुतोऽत्र पर्याप्तिमगच्छतां तौ नतभ्रुवश्चावनिपस्य भान्तौ ।।४६।।

मुदञ्चभावेनेत्यादि—नतभ्रुवः सुलोचनायाः कुचौ तावधुना मुदञ्चभावेन प्रसक्तिकृतोदञ्चनेन सुपीनौ पूर्वपिक्षयापि पीनतरौ जातौ । च पुनरवनिपस्य भान्तौ शोभमानौ करौ तौ स्फुरत् समुञ्चद् हस्ततलं यत्र तावतएव संकोचभावेन दीनावल्पपरिमाणौ जातावित्येवं तौ चात्र कुचसंमर्दने कुतः कस्मात्कारणात् पर्याप्तिमनुकूलतामगच्छतां न कथमपि ।। ४६ ।।

मेरोः शिलामूलधने प्रियायाः कुचोच्चये सोमतुजोऽभ्युपायात् ।
भूयोऽभिपातेन नखैः प्रकाममवापि भुग्नैर्नखरेति नाम ।।४७।।

मेरोरित्यादि—सोमतुजः सोमप्रभतनूजस्य जयकुमारस्य नखैः कराग्रैरभ्युपायात् प्रयत्नविशेषात्समेत्य मेरोर्देवगिरेः शिलामूलवद्घनेऽतिशयकठोरे प्रियायाः सुलोचनायाः कुचोच्चये स्तनमण्डले भूयः पुनः पुनरभिपातेन सम्पततेन हेतुना प्रकाममत्यर्थं यथा स्यात्तथा भुग्नैश्छिन्नभिन्नाग्रभागैरेवं तदानीं खरास्तीक्ष्णा न भवन्तीति 'नखरा' इत्येतन्नाम—वाच्यताऽवापि लब्धा ।। ४७ ।।

दृढं च यूनः करवारमाप्त्वाप्यपत्रतावापि किलाकुलेन ।
कुण्ठात्मकोरः कठिनेन तन्व्यास्तथापि नानामि मनाक् कुचेन ।।४८।।

दृढमित्यादि—यूनस्तस्य जयकुमारस्य करवारं हस्तप्रहारं किल निश्चयेनाकुलेन कल्पनान्तररमितेन तदानीं तेनापत्रता निश्छदताऽगुरुचन्दनादिकृतपत्ररचनाहीनताऽवापि तेन तन्व्याः सुलोचनायाः कुचेन, तथापि कुण्ठात्मकेन सुदृढस्वरूपेणोरसा वक्षःस्थलेनेति हेतुना कठिनेन सहजकठिनेन चोरःसहायमितेन तेन मनागपि नानामि नम्रता न स्वीकृता । तथा करवालं नामायुधप्रहार माप्त्वा तेनापत्रता वाहनहीनताऽवाप्ता पुनरपि तदधीनता न स्वीकृता । 'पत्रं छदनमाख्यातं पत्रो घोटक इत्यपि' ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



प्राप्योपहारं कमितुः करन्तु तन्व्याः प्रसन्नादुरसोऽपतन्तुः ।
मुक्तावली हास्यपरम्परा वा पपात तावद्विशदस्वभावा ॥४९॥

प्राप्येत्यादि—कमितुः स्वामिनः करं तु पुनर्हारस्य नामाभूषणस्य समीपमुपहारं तथा चोपहारं पारितोषिकं प्राप्य तदा प्रसन्नात्प्रसत्तिं गतात्तन्व्याः सुलोचनाया उरसो वक्षःस्थलात् अपतन्तुः करसंपर्केण त्रुटितसूत्रा विशदस्वभावा समुज्ज्वलरूपा सा मुक्तानामावली हास्यस्य हसनपरिणामस्य परम्परा वा सन्ततिवत् पपात । उपहारप्राप्तौ हास्यसंभूतिर्युक्तैव तावत् ॥४९॥

वधूरसःस्वामिकरप्रसारमवाप्य सद्यो निजहार हारः ।
स्वेदोदबिन्दुच्छलतोऽत्र मुक्तामालाविशालापि बभूव युक्ता ॥५०॥

वधूरस इत्यादि—स्वामिनो वल्लभस्य नृपस्य वा करप्रसारं हस्तप्रसारं राजस्वविस्तारं वावाप्य प्राप्य हारो मुक्तादाम वध्वाः सुलोचनाया उरो वक्षस्तस्मात् सद्यो झटिति विजहार विहारं कृतवान् । यथा कश्चिज्जनो नृपस्य राजस्वविस्तारं दृष्ट्वा तद्देशादन्यत्र गच्छति तथा वल्लभकरप्रसारं दृष्ट्वा हारस्त्रुटित्वान्यत्र गत इति भावः । अत्र वधूरसि स्वेदोदबिन्दुच्छलतः स्वेदकणव्याजात् विशाला बृहत्परिमाणा मुक्तामाला मौक्तिकस्रक् युक्ता बभूव ॥५०॥

समस्त्यमुष्या हृदये सुकारेः समादरः श्रीगुणिनामुदारे ।
कुतोऽन्यथा स्थातुमशाकि हारैर्गुणच्युतैर्नाद्य हताधिकारैः ॥५१॥

समस्तीत्यादि—शोभना कारिः क्रिया यस्यास्तस्याः सुकारेः 'कारिः क्रिया नापिताद्योः' इति विश्वलोचने । अमुष्याः स्त्रिया उदारे हृदये श्रीगुणिनां सज्जनानामेव समादरः श्रद्धापरिणामः समस्ति, इति निश्चयोऽन्यथा चेदेवं नो चेर्त्तांह पुनरद्य गुणच्युतैर्दोरकरहितैर्निर्गुणैर्वा । अतएव हतः प्रणष्टोऽधिकारः पदप्राप्तिर्येषां तैर्हारैर्गलालङ्कारैस्तैः कुतो नाशाकि तत्रस्थातुमिति यावत् ॥५१॥

अकारि सच्छिल्पकृतः खरारेर्नखैर्विभुग्नैः कथमप्युदारे ।
स्नेदोदसिञ्जन्मृदुभिः पदं दोर्मूले शिलोत्ताननिभे सदन्दोः ॥५२॥

अकारीत्यादि—सती समीचीना अन्दुरलङ्कृतिर्यस्यास्तस्याः सदन्दोः स्त्रियाः 'अन्दुः स्त्रियामलङ्कार' इति विश्वलोचने । शिलोत्ताननिभेप्रस्तरसदृशे सुदृढे उदारे सविस्तारे दोर्मूले स्तनेखरस्य दुष्टलोकस्य कठोरत्रसुनश्चारिः संशोधकस्तस्य जयकुमारस्य सच्छिल्पकृतः सज्जननिर्मापकस्योत्तमशिल्पिनश्च विभुग्नैः कुण्ठभावमितैर्नखैः कराग्रैः टङ्कैरिव तत्रत्यस्वेदोदेन घर्मजलेन सिक्तवद्भिरार्द्रभावं गतैरतएव मृदुभिः क्रियाकुशलैस्तैः कथमपि कृत्वा पदमकारि स्थानमुपलब्धं परत्रापि पाषाणादौ सजलैरेव टङ्कैरुत्कुर्वन्ति शिल्पिन इति ॥५२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



नखैरखानीह पयोधरे तु समुद्गमः श्री परिणाहनेतुः ।
तृतीयसम्पौरुषपादमेतुमजानिहेतुः किल सैव सेतुः ॥५३॥

नखैरित्यादि—इह सुलोचनायाः पयोधरे स्तनमण्डल एव समुद्रे श्रीपरिणाहनेतुः श्रियाः सम्परुर्यैः परिणाहो विस्तारस्तस्य नेतुः स्वामिनो जयकुमारस्य नखैः समुद्गमो यत्किञ्चिदप्युच्छूनव्रणसन्तानोऽखानि खनितः सैव किल तृतीयस्य सम्पौरुषस्य कामपुरुषार्थस्य समुद्रसदृशस्य पारमेतुं गन्तुं हेतुः कारणभूतः सेतुर्जलमार्गोऽजानि (अज्ञायि) ज्ञातस्तेन जयकुमारेणेति ॥५३॥

सरोषदोषापनुदोऽपि वारिर्यतोस्ति लब्धा खल ते न खारी ।
सदक्षरा मञ्जुपयोधराभूर्विलोकयामीत्युदिताक्षराभूत् ॥५४॥

सरोषेत्यादि—सरोषं रोषपूर्वकं यथा स्यात्तथा दोषामाश्लेषकर्तुर्भुजामपनुदति परिहरतीति तस्याः स्त्रियाः, हे खल ! निर्विचारकारिन् ! ते तव नखारी रलयोरभेदान्नखाली करजततिर्यतो यस्माल्लब्धा परिप्राप्ता ततो मम मञ्जू पयोधरौस्तनौ यत्रैवंभूता भूर्वक्षःस्थली सन्ति सुस्पष्टान्यक्षराणि केलिप्रकाशकानि यस्यामेवंभूता जाता । तथा हे खल ! तिलकल्कविशेष ! यतस्ते खरी करञ्जिका न लब्धा तत एव मञ्जु यथोचितं पयो दुग्धं धरतीति मञ्जुपयोधराभूः गोस्थितिः सा सुष्ठु न क्षरति न दुग्धं ददातीति सदक्षरा जाता, इत्येव मुदितान्यक्षराणि यस्यां सा वारिर्वागभूत् ॥५४॥

एवं समुत्तानितजन्मपत्रामत्रासयन्नाह पुनः पवित्राम् ।
नवग्रहोत्साहमयोजयोऽपि न येन संलग्नकथा व्यलोपि ॥५५॥

एवमित्यादि—एवं पूर्वोक्तरीत्या समुत्तानितं समुपलब्धं जन्म यैस्तानि समुत्तानितजन्मानि पदानि त्रायते तां पवित्रां पुनरत्रासयन् किञ्चित्कालमसम्भुञ्जानः, नवे ग्रहे नूतने समालिङ्गने उत्साहमयो जयोनाम नृपोऽप्याह कथितवान् येन संलग्नकथा समासवतवार्ताऽऽलिङ्गनकरणप्रकारो न व्यलोपि न विस्मृतः । तथा चैवं समुत्तानितं विस्तारितं जन्मपत्रं यया तां नवग्रहेषु सूर्यादिषूत्साहमयस्तेषां संचारप्रकारपरिज्ञायक इत्यर्थो येन संलग्नस्य समुचितराशिसमुदयस्य कथा न व्यलोपि कुत्रस्थो ग्रहः कीदृशं फलं ददातीति यो जानाति स आह ॥५५॥

खिन्नास्यकेनासितकेशि नीचैर्गतेन दोषाकरतापि येन ।
निषिद्धचते किन्तु तनौ तवोच्चैस्तनेन सम्यग्गुरुणा हितेन ॥५६॥

खिन्नास्येत्यत्यादि—हे असितकेशि ! श्यामालकधारिणि ! येन तवाङ्गकेन दोषाकरता चन्द्ररूपता अपि समुपलब्धा तेनास्यकेन मुखेन नीचैर्गतेनाधःकृतेन त्वं खिन्ना-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



ध्यर्थमेवाकुलिता भवसि, किन्तु तव तनौ शरीरे उच्चैस्तनेन समुच्छ्रितरूपेण कुचेन सम्यग्गुरुणा गुरुतरेण तेन हि तवावयवेन निषिद्धचते मुखं नीचैः कर्तुं वार्यते किं पुनरन्येनास्मावृशेन। तथा तव तनौ लग्नकुण्डलके नीचैर्गतेन नीचस्थानस्थितेन येन केनापि ग्रहेण दोषाणामाकरः स्थान तत्ता दूषणकारित्वमापि प्रकाशितं ततस्त्वमकेन दुःखेन खिन्नासि किन्तु उच्चैस्तनेन परमोच्चस्थानस्थेन कर्कराशिगतेन गुरुणा बृहस्पतिना हितेन कल्याणकारकेण सम्यङ्निषिद्धचेते सा दोषाकरता निवार्यत इति ॥५६॥

पयोधरालिङ्गन एव कृत्वा समुत्करं गोमयमात्तसत्वात्।
लसत्यथास्यामृतवारि कामधेनो ! त्वयारब्ध मिदं ललाम ॥५७॥

पयोधरेत्यादि—हे कामधेनो ! वाञ्छितकारिणि ! पयोधरालिङ्गन एवात्तसत्वात् सहजस्वभावात् गोमयं सदुक्तिरूपं पक्षे गोपुरीषसमुत्करं कृत्वा त्वयेदमस्य जनस्यामृतकारि आनन्ददायकं क्षीरसम्पत्ति वरं वा। अथ तत एवेदमारब्धं ललाम मनोहरं लसति भाति आस्यामृतकारि हास्यकारकं वा। पयोधरालिङ्गने गोदोहनकाले गोमयगोमूत्रकरणं गोस्वभावः ॥ ५७ ॥

रते च ते संकुचतीह हृद्यत्कौमारमुत्सृज्य तु मेऽतिहृद्यम्।
गुणानुरागी करमर्पयामि ह्यस्योपकारं न हि विस्मरामि ॥५८॥

रते चेत्यादि—हे रते ! रतिवद्रूपवति ! ते हृत् हृदयं यत् कौमारं कुमारकालमुत्सृज्य संकुचति समीचीन कुच पूर्णमस्ति तथा कौमारं सुवर्णरूपत्वमुत्सृज्य सम्वितीर्य संकुचति ततोऽथवा कौ पृथिव्यां मारं विघ्नं विहायेह संकुचति संकोचमञ्चति ततो मे मह्यं हृद्यं प्रीतिकारकमस्ति। 'मारो विघ्ने मृत्यौ स्मरे वृषे' इति विश्वलोचने। ततोऽस्योपकारं सहिष्णुतालक्षणं न हि विस्मरामि किन्तु गुणानुरागी भूत्वा कृतज्ञतया करमुपहारस्वरूपं हस्तमर्पयामि ॥ ५८ ॥

श्रीः सा हृतानेन किलेति कृत्वा ममेभकुम्भस्य तदेकसत्वा।
विमर्दयामास कुचाङ्कमस्याः स कामरामासुषुमैकमण्याः ॥५९॥

श्रीरित्यादि—तथा चानेन तव कठोरेणावयवेन ममेभकुम्भस्य हस्तिमस्तकस्य तस्यैवैकस्य सत्वमधिकारो यत्र सा तदेकसत्वा सा प्रख्यातप्राया श्रीः शोभा हृता, इति कृत्वा स्वमनसि निधाय किल कामरामाया रतिदेव्या या सुषमा सुन्दरता तस्या येका मुख्या मणिः श्यामिका ततोऽप्यधिकसौन्दर्यतया तत्कीर्तिलोप्त्रीत्यर्थंस्तस्या अस्याः सुलोचनायाः कुचाङ्कं विमर्दयामास ॥ ५९ ॥

पयोभुवः स्पर्शकृतेति मन्ये कलप्रवालेन कुलीनकन्ये।
तदेतदागोऽत्र विशोधयामि समर्प्य सन्मौलिर्मणि नमामि ॥६०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



पयोभुव इत्यादि—हे कुलीनकन्ये! ऽकम्पनराजपुत्रि! मम कलप्रवालेन करपल्लवेन तव पयोभुवः कुचस्य स्पर्शकृताऽऽलिङ्गनकारकेणाथवा कलप्रबालेनाबोध-बालकेन तत्र पयोभुवः पानीयस्थानस्य जलकलशस्य स्पर्शकृता यदागः कृतमपराद्धं कुलीन-जलघटस्य बालकेनास्पर्शनीयत्वात् तदेतदागोऽहं सन्मौलिर्मणि मुकुटरत्नमर्पयित्वा विशोधयामि परिहरामि नमामि च क्षमाप्रार्थनां करोमि। मम कोमलकरोऽसौ तव कठिन-कठोरकुचप्रदेशस्योन्मर्दनकर्मणि न समर्थः केवलं स्पर्शनमेव कृतमिति समाश्वासनं दत्तं जयेन ॥ ६० ॥

साऽऽरोप्यहो सानुमतीव तेन वाहेन कृत्वा नवला बलेन ।
सदास्यशीतांशुनिचुम्बनेच्छानुभूतयेऽङ्के स्वयमुन्नतेच्छा ॥६१॥

सेत्याद—सत आस्यस्य मुखस्यैव शीतांशोश्चन्द्रस्य यन्निचुम्बनमास्वादनं तदिच्छानुभूतये सा नवला नवपरिणीतात एवाच्छा स्पृहणीया तेन बलेन बल्लभेनानुमति सहिता सानुमतीव किल ततो बाहेन कृत्वा भुजेनासाद्य स्वयं स्वस्योन्नतेऽङ्के उत्सङ्गे आरोपि धृता। तथा च समीचीना आस्या स्थितिर्यस्य तस्य शीतांशोर्निचुम्बनं संस्पर्शनं तदिच्छानुभूतये सा नवला बलहीना सती च वाहेन वाहनेन कृत्वा बलेन सामर्थ्य-सम्पादनेन सानुमति पर्वत इवोन्नतेऽङ्के स्थाने कस्मिंश्चिदप्यारोपीति। बालस्वभावतया चन्द्रस्पर्शनवाञ्छा युक्तैव। तथा घोटकादिष्वारोप्य पर्वतादिषु समारोपणमपि तदर्थं-युक्तमेव तावत् ॥ ६१ ॥

बलादुपालभ्य मुखं प्रबन्धकर्तर्यथो चुम्बति नीविबन्धः ।
सुमेषुचापभ्रुव एवमापद्भियेव सद्यः शिथिलत्वमाप ॥६२॥

बलादित्यदि—सुमेषुचापभ्रुव कामदेवधनुराकारकभ्रकुटीमत्याः सुलोचनाया मुखं बलात्कारेणापालभ्य समासाद्याथ पुनः प्रबन्धकर्तरि प्रणेतरि तच्चुम्बति सति तस्या नीविबन्धोऽधोवस्त्रग्रन्थिरप्येवं पूर्वोक्तरीत्या बलात्कारकरणप्रकारेणापद्भियेव सद्यः शीघ्रं शिथिलत्वमाय सहजशिथिलतां जगाम न किन्तु भयेनेतीन शब्दवाच्यार्थः ॥ ६२ ॥

सद्यो विनिर्यान्तमधोंऽशुकं सावलम्बितुं लम्बितबाहुवंशा ।
बभूव तावत्सहकृत्तयेव कुचाञ्चलं निर्व्रजदेतदेव ॥६३॥

सद्यइत्यादि—सद्यो निष्कारणमेव विनिर्यान्तं निर्गच्छन्तमधोंऽशुकमवलम्बितुं स्तम्भयितुं लम्बितो प्रर्वाततौ बाहुवंशौ भुजदण्डौ यया सा तादृशी सुलोचना बभूव यावत्तावदेव सहकृत्तयेव सहकारिभावनयेव तत्तस्याः कुचाञ्चलं निर्यत् स्खलितं बभूव ॥ ६३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कृष्टेंऽशुके गूढमुरोभुजाभ्यां स्रस्तेऽन्तरीये वृतजानु नाभ्याम् ।
बद्धेक्षणे नेतरि तत्प्रतीपकर्णोत्पलेनास्तमितः प्रदीपः ।।६४।।

कृष्टइत्यादि—अंशुक इत्यनेन कुचाञ्चले कृ टेऽपसारिते तया सुन्दर्या भुजाभ्यामुरो गूढमाच्छादितं । पुनरन्तरीयेऽधोवस्त्रे स्रस्ते वृते संकलिते च ते जानू जङ्घे यत्र तत्तथा-भूतं भूत्वा च तस्याः, अतः पुनर्नेतरि प्राणेश्वरे नाभ्यामनावरणभूतायां तुण्डिकायां तु बद्धेक्षणे संधृतनेत्रे सति तस्य तन्नयनस्य प्रतीपः सौन्दर्यसाम्यस्पर्द्धनेनारिस्वरूपं यत्कर्णोत्पल तेन प्रदीप एवास्तमितो मुदितो यातो नयनव्यापारो न भूयादिति ।। ६४ ।।

हृतप्रदीपेऽपि मयास्ति पीततमा निशा किं खलु सम्प्रतीतः ।
बालेति साश्चर्यसिता न नेतुरदाद् दृशं सन्मणिमौलये तु ।।६५।।

हृत प्रदीप इत्यादि—सम्प्रति मया हृतप्रदीपे मुदितदीपकेऽपीतः क्षेत्रेऽसौ निशा पीततमाः प्रणष्टान्धकारा किं कुतः कारणादस्तीति न जाने, इत्येवं सा बाला मुग्धस्व-भावाऽऽश्चर्येण प्रकृतविस्मयेन सिता श्वेततरा भवती नेतुः स्वामिनः सन्मणिमौलये प्रशस्तरत्नखचितमुकुटाय तु पुनर्दृशं चक्षुर्नादात् यतः तमःप्रणाशः ।।६५।।

न्यधात्सतो मूर्धमणौ स्वकर्णात् कञ्जं च सत्कर्तुमिवात्तवर्णा ।
भूमण्डलेऽस्मिन्मणिकुण्डले तु समुद्धरन्ती द्युतिदानहेतू ।६६।।

न्यधादित्यादि—आत्तवर्णा लब्धप्रबोधा पुनः सा सतो महाशयस्य मूर्धमणौ मुकुट-रत्नस्योपरि सत्कर्तुं पूजयितुमिव स्वकर्णात्कञ्जं कमलं कर्णपुष्पमादाय न्यधाद्दधौ तदावरणकरणार्थं किन्तु अस्मिन्भूमि मण्डले द्युतिदानहेतू प्रदीप्तिसम्पादननिमित्ते ते स्वकीये मणिकुण्डले रत्नमयकर्णभूषणे समुद्धरन्ती अभिव्यञ्जयन्ती सती सा भर्तुः-किरीटाच्छादनकरणे प्रत्युत द्वे कर्णकुण्डले प्रकटयाञ्चकारेति मुग्धाजातिः ।।६६।।

चरन्नरं प्रेमिकरः प्रतीरेऽत्र नाभिकूपे पतितो गभीरे ।
काञ्चीगुणं प्राप्य पुनः स नाम जवेन तन्व्या जघनं जगाम ।।६७।।

चरन्नित्यादि—अत्र सुलोचनाया अङ्गके प्रतीरे चरन् इतस्ततः पर्यटन् प्रेमिकरो जयकुमारहस्तो गभीरे नाभिकूपे पतितोऽपि सन्नरं शीघ्रं स एव पुनर्नाम काञ्चीगुणं प्राप्य जवेनैव तन्व्या जघनं नामावयवं जगाम प्राप्तवान् ।।६७।।

दक्षोऽथ कक्षागुणतत्परेण पीनोरुकस्तम्भमितः करेण ।
परामृशन् प्रेमयुजो रराज विमोचयन्वा मदनेभराजम् ।।६८।।

दक्ष इत्यादि—अथानन्तरं इतोऽग्रे कक्षागुणे काञ्चीदामनि तत्परेण करेण हस्तेन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



पीनोरुकस्तम्भं स्थूल सक्तिस्तम्भं परामृशन् पुनः पुनः स्पृशन् प्रेमयुजो जयकुमारस्य वक्षश्चतुरः सामर्थ्यवान्वा कर इति शेषः मदनेभराजं कामकरिराजं विमोचयन्वा रराज शुशुभे । वेत्युत्प्रेक्षायाम् । 'कक्षा तु गृहे काञ्चीप्रकोष्ठयोः' इति विश्वलोचने ॥६८॥

आवर्तवत्या वलिनिम्नगाया मध्यंगतः पीनपयोधरायाः ।
समन्दुकूलं स समैच्छदेवं चकार वाराकरवारमेव ॥६९॥

आवर्तवत्या इत्यादि—पीनपयोधरायाः अतिशयोच्चकुचाया आवर्तवत्या दक्षिणावर्तात्मकनाभिसहिताया वलिनिम्नगाया उदरस्थितत्रिवलिनामनद्यास्तस्या मध्यंगतः सन्नुदरदेशमाश्रितो भवन् समं श्रेष्ठं दुकूलं वस्त्रमन्तरीयाभिधं समैच्छत् समाकृष्टुमभ्यवाञ्छत् । एवं तदा वारा सा नवोढा करस्य वारं निवारणमेव चकार स्वामिसंदत्तहस्तस्यापकर्षणं चकार । अथवा स चौरवद्दुकूलमपहर्तुमगच्छत्तदा सा करवालं नामायुधं दर्शयामासेत्यपि सन्ध्येयस्तथा पीन पयोधराया अनल्पजलसहिताया आवर्तवत्या भ्रमणसहिता आवलयो लहरयो यस्यां सा च सा निम्नगा च तस्या मध्यंगतो ब्रुडन् सन् स एवं सं समीचीनान्दुःस्थितिर्यत्र तच्च तत्कूलं तटं च तत् समैच्छत् तदा वारा नाम बालस्वभावापि सा करमेव वारं बालकं स्वकीयं लघुहस्तमेवालम्बनार्थं चकार ददाविति यावत् ॥६९॥

करस्य संहर्षधरस्य नाभ्यामाकर्षतो वस्त्रमदः कराभ्याम् ।
विरोद्धुमेतां कलिमप्रदृश्यां काञ्च्या शिशिञ्जे वलयैश्च तस्याः ॥७०॥

करस्येत्यादि—तस्या नाभ्यां वस्त्रमाकर्षतः करस्य जयकुमारहस्तस्यादः कराभ्याममुष्या हस्ताभ्यां सह संहर्षधरस्य स्पर्द्धावत एता मितरेतरसञ्जातामतएवाप्रदृश्यामनवलोकनीयां कलिं विरोद्धुं मास्मभूयादेषां कलहसम्भूतिरिति सम्वदितुमेव काञ्च्याः कटिमेखलाया वलयैश्च शिशिञ्जे संशब्दितं तावत् ॥७०॥

तनूदरि त्वत्तनुमध्यमेतत् किमुष्ठिसंवाह्यमपीति मे तत् ।
शतच्छदोदारकरस्य नीविं निराचकारेति मिषात् स जीवी ॥७१॥

तनूदरीत्यादि—हे तनूदरि ! स्वल्पोदर धारिणि ! एतत्त्वत्तनुमध्यं कटिस्थानं शतच्छदवत्कमलवदुदारः सुविशालः करो यस्य तस्य मे तदेव मुष्टिसंवाह्यं मुष्टिना ग्रहणयोग्यमपि किं भवितुमर्हतीति मिषात् स समानं सदृशं जीवनं सधर्मिण्या सह स जीवी जयकुमारो नीविं निराचकारेति ॥७१॥

पुरारुणद्गाढमथादृढेन करेण नीविं न नेत्यनेन ।
पदानुवादेन रतेरसाक्षिण्यभूदिवानन्दनिमीलिताक्षी ॥७२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



पुरेत्यादि—सा नवोढा पुरा सर्वप्रथमप्रसङ्गे तु नीविं गाढमरुणत् दृढतया संधृतवती, अथ पुनर्द्वितीयसङ्गमे किञ्चिल्लज्जापंगमात्तामेवादृढेन प्रशिथिलेनैव करेणारुणत्, ततः पुनरथ तृतीयसंगमे च नीविं केवलं न नेत्यनेन पदानुवादेन नेवं नैवमित्युक्तिमात्रेणैव न्यषेधयन्नतु करेणारुणत् । ततश्च पुनरनन्तरं रतेः रतक्रिया या असाक्षिणीवानभिज्ञेवाथ च रते प्रियसङ्गे योऽसौ रसस्तत्राक्षिशालिनीवानन्देन निमीलिते अक्षिणी यस्याः साभूत् ॥७२॥

वलित्रयोपासितविग्रहाय करद्वयी चापलमाप सा यत् ।
सम्भावयाम्यत्र तु तं तृतीयं सुदीर्घसूत्रं पुनरन्तरीयम् ॥७३॥

वलित्रयेत्यादि—वलित्रयेण नामावयवविशेषेणाथ वीरत्रयेणोपासितो यो विग्रहः शरीरं स्त्रिया रणस्थलं च तस्मै सा यूनः करद्वयी चापलमाप तु पुनर्यदत्र तृतीयमन्तरीयं नाम स्त्रिया अधोवस्त्रं तदहं दीर्घसूत्रं प्रलम्बमानतन्तुप्रायमतिशयेनालसं च सम्भावयामि । जयस्य करौ तु समालिङ्गनोत्सुकौ जातौ किन्तु शाटकमत्रान्तरायमभूदिति यावत् ॥७३॥

समन्तरीयोद्भिदि सम्पतन्ती त्रपापगायां स्मरवैजयन्ती ।
प्रसङ्गतः संगतकण्टकत्वादभूदिदानीमुपलब्धसत्त्वा ॥७४॥

समन्तरीयेत्यादि—समन्तरीयस्य सुप्रशस्ताधोवस्त्रस्योद्भिदि सम्भेदनायां त्रपापगायां लज्जासरिति सम्पतन्ती सम्पातमाश्रयन्ती स्मरस्य नाम कामदेवस्य वैजयन्ती पताकेव सा सुलोचना तदानीमेव प्रसङ्गतः प्रियस्य संसर्गतोऽथवानुषङ्गिकरूपेण सङ्गतकण्टकत्वात्समुद्भूतरोमाञ्चत्वात् संलग्नशङ्कुत्वाच्चोपलब्धसत्त्वा समारब्धसहजानन्दा तथा चानिपतनशीलाभूत् । संकटसमये नद्यां पतितुमिच्छन्ती शङ्कुप्रभृतिभिः संघट्य पुनः स्तब्धा भवति तथेयमन्तरीय भेदकाले त्रपानुभावमुपयाता तदानीमेव संश्लेषानन्दसम्भवेन रोमाञ्चेनावलम्बिताभूदिति ॥७४॥

पत्यौ परीरम्भ परेऽभिजात मानन्द सन्दोहमिहाभ्युपात्तम् ।
अमेय मन्तः परिभायितुं द्रागियं चकम्पे किल हर्षरुन्द्रा ॥७५॥

पत्यावित्यादि—पत्यौ प्राणेश्वरे परीरम्भपरे आलिङ्गनसंलग्ने जाते सति सम्प्रत्यभ्युपात्तमभिजातमुत्तममानन्दसन्दोहं यदन्तरभ्यन्तरे हृद्यमेयं सहजेनामान्तं द्राक् शीघ्रमेव परिमायितुं किलेयं सुलोचना हर्षेण रुन्द्रा सम्फुल्लपरिणामा सम्भवन्ती चकम्पे कम्पिताभूत् ॥७५॥

नरे हरत्यंशुकमाततान कोदण्डकं कर्णपयोभुवा न ।
नीव्यां करं कुर्वति सन्दधाना स्मरं सुमास्त्रं किमु ताह मानात् ॥७६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


नर इत्यादि—नरे प्रणेतरि चौरे वांशुकं कुचाञ्चलं हरति सति तदानीं सुलोचना तन्निषेधार्थं कोदण्डकं भूप्रदेशं धनुर्वाऽऽततान चुकोपेत्यर्थः। सैव पुनस्तस्मिन्नरे नीव्यामन्तरीयबन्धनस्थाने मूलधने च करं कुर्वति सति कर्णपयोभुवा श्रवणस्थितेनोत्पलेन सन्दधाना प्रहरन्तीत्येवं सा मानादभिमानात् स्मरं. मदनं सुमास्त्रं किमुतनाह समाहैव। 'कोदण्डः कार्मुके भुवि', 'नीवी तु स्त्रीकटीवस्त्रग्रन्थौ मूलधने स्त्रियाम्' इति विश्वलोचने ।।७६।।

हरत्यधीशे वसन कटीतः ह्रीर्यातु संश्लेषविरोधिनीतः।
स्मिताम्बुभिः सिक्तमुरोजदेवबिम्बं विनम्राननया तदेव ।।७७।।

हरतीत्यादि—पूर्वोक्तरीया निषेधनेऽपि न निवर्त्य पुनरधीशे स्वामिनि कटीतो वसनं हरत्यपसारयति सति सा क्षणान्तरे विनिवृत्तमाना सती तदर्द्धसम्मतिरूपत्वेन, अथ इतः सम्भवन्ती ह्रीर्लज्जा या संश्लेषस्य पतिप्रसङ्गस्य विरोधिनी सा यातु निर्गच्छतु, इत्येवं स्मिताम्बुभिरीषद्धास्यजलैरुरोजदेवबिम्बं स्तनाभिधानदैवतप्रतिमानं तत्प्रसिद्धं सिक्तमभिसेचितं तया विनम्राननया नतमुख्या स्त्रियेति ।।७७।।

स्वमन्तरार्द्रत्वमुताह सम्यगनारतप्रेमरसैकगम्यम्।
वपुर्दृढाश्लेषिणि यूनि वासःक्नोपं पयो मुञ्चदनङ्गभासः ।।७८।।

स्वमित्यादि—तत्तदाऽनङ्गभासोऽनङ्गस्य कामदेवस्य भाः प्रभावो यस्यास्तस्याः स्त्रियाः 'भा प्रभावे रुचि स्त्रियाम्' इति कोषात्। तस्या अनारतस्य निरन्तरसंजातस्य प्रेमरसस्यैकमनन्यतया गम्यमधीनं वपुः शरीरं तद्यूनि तरुणवयस्त्वे स्वामिनि दृढाश्लेषिणि प्रगाढालिङ्गनवति सति वासःक्नोपं वस्त्रार्द्रत्वकरं पयः प्रस्वेदात्मकं जलं मुञ्चत् सन्ददत् तावत् स्वं स्वकीयमन्तरभ्यन्तरस्याद्रत्वं सम्यक् स्पष्टतयाऽऽह। आर्द्रत्वाभावे पयःप्रच्यावनासम्भवात् ।।७८।।

चित्तेशचन्द्रस्य करोपलम्भे त्वानन्दसिन्धुर्द्रुतमुज्जजृम्भे।
बहिर्बभूवाब्जदृशः सदेवंस्वेदापदेशादुदकं तदेव ।।७९।।

चित्तेशचन्द्रस्येत्यादि—चित्तेशो हृदयेश्वरः पतिः स एव चन्द्र आह्लादकरत्वात्तस्य करोपलम्भे हस्तसंस्पर्शे किरणसंक्रमे च संजाते सति, एवं तदाब्जदृशः कमलनयनाया आनन्दसिन्धुर्हर्षसमुद्रो द्रुतं तत्कालमेवोज्जजृम्भे उच्छलितोऽभूत् चन्द्रसंसर्गे समुद्रोच्छलनस्य युक्तिसंगतत्वात् ततस्तत्सदुदकमेव स्वेदापदेशाद् बहिर्बभूव निर्जगामेति ।।७९।।

दीर्घाङ्गुलिः सङ्गवतो नृशद्रेः करोऽतिरिक्तोऽप्युदरे दरिद्रे।
विसंकटं श्रोणितटं तदर्थवत्याः समाप्तुं किमभूत्समर्थः ।।८०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



दीर्घाङ्गुलिरित्यादि—सङ्गवतः समागमं कुर्वतो नृशब्दे नरेन्द्रस्य जयकुमारस्य दीर्घाङ्गुलिरायतकरशाखः करो हस्तो तदर्थंवत्याः तस्य राज्ञोऽर्थवत्या अभिलाषपूरिकायाः सुलोचनाया दरिद्रे कृशेऽल्पपरिमाण इत्यर्थं उदरे जठरप्रदेशे अतिरिक्तो अतिशयेन रिक्त एवासीत् पूर्णतयास्थानमनाप्नुवन् अपिबभूव। सोऽपि विसंकटं विस्तीर्णं श्रोणितटं कटचधः पुरोभागं समाप्तुं सम्यक्प्रकारेण प्राप्तुं किं समर्थोऽभूत् नैव सोऽपि तत्र पर्याप्ति तामवापेति ॥८०॥

वारा यथारात्प्रतिरोमकूपमपूरि वारापि तथापि भूयः।
न वारितामाप पुनीतकेश्या दत्वा दृशं कौतुकतोऽङ्ककेऽस्याः ॥८१॥

वारेत्यादि—वारा रलयोरभेदाद् बाला नवयौवना सा रोमकूपं रोमकूपं प्रति प्रतिरोमकूपं वारा जलेनापि यथाराच्छीघ्रमेवापूरि तथापि भूयोऽस्याः पुनीतकेश्या ललितालकाया अङ्कके शरीरे कौ तु स्थले कतो जलनिमित्ताद्दृशं दत्त्वा वारितां जलभावं नापेति विस्मयोऽथ च कौतुकतो विनोदभावेन दृशं दत्त्वा पुनस्तां वारितां प्रत्यावर्त्तितां नाप। अथवा तत्र दृशं दत्त्वा नवो नवीनोयोऽरिर्वैरी तत्तामाप। समुद्गतं स्वेदजलमपि तदङ्गावलोके वाधाकरमन्वभूत् किमुतान्यत् ॥८१॥

प्रियाश्रितैः प्रागतुषन्नरेन्द्र आभूषणैर्यैः परिणामकेन्द्रः।
तदा तदङ्गे क्षणविघ्नकृद्भ्यस्तेभ्यो विरक्तोऽपि विकारकृद्भ्यः ॥८२॥

प्रियाश्रितैरित्यादि—परिणामानां विविधभावानां केन्द्रः स्थानभूतो नरेन्द्रो राजा जयकुमारः प्राक् समागमात्पूर्वं प्रियाश्रितैर्वल्लाभाधृतैर्यैराभूषणैरलंकारैरतुषत्संतुष्टोऽभूत् स तदा समागमावसरे तस्याः स्त्रिया अङ्गानामीक्षणेऽवलोकने विघ्नकृद्भ्योऽन्तरायं कुर्वद्भ्योऽत एव विकारकृद्भ्यो वैचित्यकृद्भ्यो आभूषणेभ्यो विरक्तोऽपि रागरहितोऽप्यभूदितिशेषः 'न नेपथ्यं पथ्यं बहुतरमनङ्गोत्सवविधौ' इति प्रसिद्धेः ॥८२॥

दृष्ट्वा दृष्टा मुहुरुत्सवेन यालिङ्गितालिङ्ग्य भृशं धवेन।
अचुम्बि बाला परिचुम्बितापि सा नूतना तृप्तिरनूतनापि ॥८३॥

दृष्ट्वेत्यादि—या बाला तरुणवयस्का सुलोचना धवेन स्वामिना जयकुमारेण दृष्ट्वा समवलोक्यापि मुहुर्वारं वारमुत्सवेन तथैव प्रवृद्धेनोत्साहेन दृष्टावलोकिताभूत्। याऽऽलिङ्ग्य संस्पृश्यापि भृशं भृशं पुनः पुनरालिङ्गिता। या चुम्बिताऽधरादिष्वास्वादितापि भृशमचुम्बि चुम्बनविषयीकृता। यतः सा नूतना नूतनायां रुचिरवश्यंभाविनी अनूत (अनु + उत) पुनरपि तृप्तिर्नापि न प्राप्ता तदालिङ्गनादीच्छानिवृत्तिर्नाभूत् किन्तु अनूतना तृप्तिरपि यथोत्तरं नूतनापि नवीनेवानुभूता ॥८३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



योग्येषु भोग्येष्वपि सम्प्रतीकेष्वन्येषु सम्प्रीतिमतो जनीके ।
रुचिर्हि सर्वंप्रथमाधरे तु माधुर्यमेवात्र समस्ति हेतुः ॥८४॥

योग्येष्वित्यादि—अन्येषु ओष्ठात्परेषु सम्प्रतीकेषु अवयवेषु योग्येषु यथोचितेष्वत एव भोग्येषूद्भोगयोग्येषु सत्स्वपि सम्प्रीतिमतो वल्लभस्य सर्वंप्रथमा रुचिर्जनीके स्त्रीसम्बन्धिन्यधर एव जाता । अत्र माधुर्यमेव हेतुः समस्ति ॥८४॥

सपक्षमादष्टवति प्रवालोपमं तु नेतर्यधरं त्रपालोः ।
अकूजि सम्यग्वलयाकुलेन ससाध्वसेनेव पुनः शयेन ॥८५॥

सपक्षमित्यादि—त्रपालोर्लज्जावत्या अधरमोष्ठप्रदेशं यत्खलु प्रवालोपमं प्रवलालस्य विद्रुमस्याथवा तु किसलयस्योपमा यत्रेति सपक्षं तुल्यधर्माणमादष्टवति सन्दशति सति नेतरि प्राणप्रिये तु पुनः सम्यग्वलयाकुलेन कङ्कणसहितेन शयेन हस्तेनापि ससाध्वसेनेनेव भययुक्तेन खलु, यथाऽधरं दष्टवांस्तथा मामपि कच्चिद्दशेदिति सम्यग्यथार्थमेवाकूजि ॥८६॥

न सा कृशाङ्गी विजगाह सम्यक् प्रियस्य वक्षः परिणाहरम्यम् ।
स्पृष्टुं भवानुच्चकुचं सुकेश्याः शशाक किं तत्परिरम्भणेऽस्याः ॥८६॥

न सेत्यादि—तत्परिरम्भणे परस्परसमालिङ्गने मिथुनस्य सा सुलोचना यतः कृशाङ्गीत्यस्थूलशरीरा ततः परिणाहरम्यं सुविस्तृतं प्रियस्य वल्लभस्य वक्षःस्थलं तत् सम्यङ् न विजगाह अवगाहयितुमर्हा न बभूव तथैवास्याः सुकेश्या उच्चकुचमतिशयोन्नतं स्तनस्थलं स्पृष्टुं भवानपि शशाक किं, किन्तु न सहजेन शशाकेति ॥८७॥

कुचोच्चये संचरता जयेन सद्धारभासारमिताश्रितेन ।
सम्भावनाभीच्छितनिम्नसिद्धिर्यत्राभितश्चोदलनामविद्धि ॥८८॥

कुचोच्चयेत्यादि—कुचोच्चये सुलोचनायाः स्तनमण्डले सञ्चरता संस्पर्शनं कुर्वता जयेन यत्र चासमन्तात्सारमासारं सद्धारं समीचीनं हारं नामाभूषणं श्रितेन, अथवा समीचीना व्यवधानरहिता धारा यस्य तं सद्धारमासारं प्रसारं जलपूरमित्यर्थः तं श्रितेन, सम्भावनाभीच्छितनिम्नसिद्धिः समीचीनो भावः स्थितिर्यस्यास्सा सम्भावा सा चासौ नाभिश्च तया तस्यां वेच्छिता निम्नगस्याधःप्रदेशस्य सिद्धिः, तथा सम्भावनाभिरभीच्छिता या निम्नसिद्धिरिता प्राप्ता यत्र च, अभित इतस्ततः पर्यन्ततो हीति निश्चयेनोदलनामविदस्तीति उदकं जलं लाति संददातीति तदुदलं जलप्रायस्थलमथ रत्नयोरभेदादुदर इति च नामविद् ॥८८॥

स्त्रियोऽन्तरीयेऽपि समुद्रतातः बभूव राज्ञः करसन्निपातः ।
कक्षाकलाकैरविणीव यत्रन्यमीलि नेत्राब्जयुगेन तत्र ॥८९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स्त्रिया इत्यादि—स्त्रियाः सुलोचनाया अन्तरीयेऽधोवस्त्रे मुद्रा बन्धनग्रन्थिचिह्न-विशेषस्तया सहितः समुद्रोऽथ च वारिराशिस्तत्तातो राज्ञो जयकुमारस्य चन्द्रमसो वा करसन्निपातो हस्तप्रयोगो रश्मिसंसगो वा बभूव, यत्र कक्षाकला रसना कलापतति-रेव कैर्वल्लभकरस्पर्शजातहर्षै रविणी शब्दायमाना, अथवा कैरविणी कुमुद्वतीव बभूव। तत्रैव नेत्राब्जयुगेन नयनकमलद्वितयेन न्यमीलि मीलनमङ्गीकृतं लज्जानुभावयुक्ता-नन्दसन्दोहेन चन्द्रमसः सम्प्रयोगेणेवेति यावत् ॥८९॥

शास्तारमाप्त्वानुनयन्तमस्मद्दिगम्बरत्वं समगादकस्मात् ।
आनन्दसन्दोहपदैकभूवन्न सान्वभूद्यत्किमतो बभूव ॥९०॥

शास्तारमित्यादि—अस्मादनन्तरं सा सुलोचना, हे सुन्दरि ! किं बिभेषि ? न न किमप्यं ते विकरोमि, त्रपाप्यत्र पापिनीत्येवंरूपेणानुनयन्तं विनम्रवचनोच्चारणं कुर्वन्तं शास्तारं स्वामिनमाप्त्वाथवा तं कमपि अनुनयं नयानुसारं देशकालानुसारो वचनपद्धतिप्रकारो नयस्तदनुसारं शास्तारं शास्त्रप्रणेतारमाप्त्वाऽकस्मादेव सहजतयैव दिगम्बरत्वं वस्त्ररहिततामथाकलङ्कपथारूढतामगत् स्वीचकार । अतः पुनरनन्तरं यत्किमभूत्तन्न सान्वभूदनिर्वचनीयानन्दभागभूत् आनन्दसन्दोहपदानां गुणस्थानानां भूः प्रणीतिस्तद्वद् गुणस्थानेषु सप्तमाद् गुणस्थानादुपरितमगुणस्थानेषु अबुद्धिपूर्वैव चेष्टा भवतीति ॥ ९० ॥

स्तनौ वराङ्गं च परीच्छताहमुत्सृष्टमीशेन रुषेत्युताह ।
विलग्नकम्भोजदृशोऽत्र तेने भ्रूभङ्गमाप्त्याप वलिच्छलेन ॥९१॥

स्तनावित्यादि—अत्र प्रणयप्रसङ्गे स्तनौ च वराङ्गं च परीच्छता सम्भुञ्जानेनेशेन भर्त्रा पुनरहं मध्यगतमुत्सृष्टं परित्यक्तमेवेत्येष पङ्क्तिभेदः कृत इत्येवंभूतया रुषाम्बु-जदृशोऽम्बुजनयनाया विलग्नं नामाङ्गं तत्तदानीमपवलिच्छलेन वलिभ्रंशनव्याजेन भ्रूभङ्गमाप्त्वा भ्रुवोरुत्तानं कृत्वोत किल्लाह वदति स्म तावत् ॥ ९१ ॥

सुकण्ठकम्बुर्यदपूरि तेन निरस्य लज्जायवनीं स्मरेण ।
स्वेदोदपुष्पे सुदृशः सदङ्गे रतिः स्वयं मञ्जु ननर्त रङ्गे ॥९२॥

सुकण्ठकम्बुरित्यादि—सुदृशः सुलोचनायाः सदङ्ग एव रङ्गे नृत्यस्थले तेन जगन्नर्तकेन स्मरेण लज्जाजवनीं लज्जारूपां सावरणवस्त्रविस्तृतिं निरस्यापाकृत्य शोभनीयः कण्ठो गल एव कम्बुः शंखः सोऽपूरि परिपूरितः। स्वेदोदकान्येव प्रस्वेदबिन्दव एव पुष्पाणि विकीर्णकुसुमस्थानीयानि यत्र तस्मिन् सदङ्गरङ्गे स्वयं रतिरेव मञ्जु स्पष्टतया ननर्त ॥ ९२ ॥



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



महाशये कूजति कण्ठकम्बौ काञ्च्यां विपञ्च्यामपि संक्वणन्त्याम् ।
लासं गुरुस्तम्भरतो नितम्बश्चकार चारुस्मरवैजयन्त्याः ॥९३॥

महाशय इत्यादि—महाशये सुमधुरशब्दवति कण्ठकम्बौ कूजति सति काञ्च्यामेव विपञ्च्यां वीणायां संक्वणन्त्यां शब्दं कुर्वन्त्यां सत्यां स्मरस्य कामदेवस्य वैजयन्ती पताकेव सुलोचना तस्या गुरुरतिस्थूलो योऽसावूरुरूपः स्तम्भस्तस्मिन् रतः प्रणिष्ठ-स्तदुपरिगतो नितम्बोऽथ च गुरुः स्थूलतरो नितम्बः स एव भरतो नृत्यकारकश्चारु लासं नृत्यं चकार ॥ ९३ ॥

एकस्य मुक्तावलिरेव सारे बभूव भूषा च्युतहारचारे ।
छायाछलेन श्रमवाःप्रसारे हृद्यन्यदीयेऽपि तयोरुदारे ॥९४॥

एकस्येत्यादि—तयोः संयुक्तयोर्दम्पत्योर्मध्ये एकस्य जयकुमारस्य मुक्तावलिरेव च्युतो निर्गतो हारस्य चारो यस्मात् तस्मिन् हाररहितेऽपि सारे सुविशदे चोदारेऽनति-संकीर्णे अन्यदीये हृदि सुलोचनाया उरःस्थले श्रमवारां स्वेदजलानां प्रसारो यत्र तस्मिन् 'वार्वारि कं पयोऽम्भोऽम्बु' इति धनञ्जयनाममालायाम् । छायायाश्छलेन सम्पतितप्रति-बिम्बपदेन भूषालङ्कारं बभूव ॥ ९४ ॥

मिथस्तयोरुज्ज्वलबाहुवल्लिमतल्लिकालिङ्गनमण्डली या ।
हेमाब्जिनी बालमृणालजन्मा पाशो रतीशस्य स एव जीयात् ॥९५॥

मिथस्तयोरित्यादि—सा च स चेति तौ तयोर्दम्पत्योः मिथः परस्परं या उज्ज्व-लानां गौरवर्णानां बाहुवल्लिमतल्लिकानां भुजलताश्रेष्ठानामालिङ्गनमण्डली पुनः पुनर्जायमानसंश्लेषसन्ततिः स एव हेमाब्जिन्याः स्वर्णारविन्दिन्या बालमृणालेभ्यो मृदुबिसेभ्यो जन्म यस्य स रतीशस्य मदनस्य पाशो बन्धनरज्जुः जीयात् जयवान् भूयात् । दम्पतिबाह्वालिङ्गनं मदनस्य पाश इवाभूदिति यावत् ॥ ९५ ॥

ममाप्युरोजे नखलक्षणापि वृत्तिर्विभो ते न खलक्षणापि ।
बालाह रोषात्तव साधुता वा ममाधरश्रीर्यदि साधुता वा ॥९६॥

ममेत्यादि—बाला सुलोचना रोषादेवमाह—हे विभो ! ममापि मृदुवयस्काया उरोजे नखानां लक्षणं चिह्नं यया सा नखलक्षणा वृत्तिरापि स्वीकृता त्वयेयम् । तेऽपि किं खलु खलस्य धूर्तस्यैव क्षणोऽवसरो यत्र सा खलक्षणा वृत्तिर्नास्ति किन्तु समस्त्येव । वा पुनर्ममा-धरस्यौष्ठस्य श्रीः शोभा सा यावकादिकृता यदि धुताऽपहृता साऽसावेव तव साधुता सज्जन-भावो वाऽवलोकितः ॥९६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



प्रत्युक्तवान्नाहमितः स्मरामि यतो नरे वात्र विभासि सामि ।
सम्बद्धतामेति करो यथा मे स्तनोऽप्यमुक्तस्तव किन्न रामे ॥९७॥

प्रत्युक्तवानित्यादि—पूर्वोक्तं सरोषवाक्यं श्रुत्वा जयः प्रत्युक्तवान् यत्किल हे रामे ! सुन्दरि ! इतोऽहं न स्मरामि नैव जानामि तत्कारणं यतोऽत्र तवानुकूलकारिण्यपि नरे मादृशे सामि वक्रा सरोषा प्रतिकूलकर्त्री विभासि । तथा त्वमत्र नरे वा रतिरिवासि यतस्तत एवाहं न स्मरामि स्मर इव कामदेववदाचरामि । यतो यथैव मे करः सम्बद्धतामेति सम्यक्प्रकारेण बद्धोऽवरुद्धोऽस्ति तथैव तवापि स्तनः किममुक्तो मुक्तिरहितो नास्ति किं किन्तु समस्ति । तथा च मे करः सम्बद्धतामेति संस्पर्शनं करोति तथैव तव स्तनोऽप्यमुक्तो मौक्तिकैर्हीनः किं नास्ति । स्पर्शनमात्रेणैव ते स्तनस्येदृशो दशा, किमहं करोमीति ॥९७॥

सुलोचना सोमसुतावितस्तु रतिस्मरौ यत्प्रतिपक्षवस्तु ।
अभूत् प्रतिस्पर्धितयेव रङ्गभूमावितः स्फूर्तिकरः प्रसङ्गः ॥९८॥

सुलोचनेत्यादि—इतस्तु सुलोचना च सोमसुतश्च सोमप्रभनृपतितनूजो जयकुमारश्च स्तः, कथंभूतौ तौ ? रतिस्मरौ रतिकामदेवौ ययोः प्रतिपक्षवस्तु प्रतिस्पर्धिवस्तु आसीदिति शेषः । अत इतोऽत्र रङ्गभूमौ तयोः प्रतिस्पर्द्धितयेव मिथो विजिगीषयेव स्फूर्तिकरः समुत्तेजनाकरः प्रसङ्गः संसर्गोऽभूदिति ॥९८॥

सुमेषुरुच्चैस्तनशैलमन्वास्थितो बभूवाप्यनुकर्णधन्वा ।
परागरङ्गप्यस्रमभूच्छ्रमाम्भोऽनयोर्जयद्वीरभुवोस्त्रपाम्भो ॥९९॥

सुमेषुरित्यादि—उच्चैस्तनशैलमन्वास्थितः सुमेषुः कामोऽपि यदानुकर्णधन्वा समाकृष्टधनुर्बभूव तदानयोर्वीरभुवोर्दम्पत्योरस्त्रं तत्प्रहारेण निर्गतमस्त्रं रुधिरं परागस्य तद्बाणगतपुष्परजसो रङ्गो वर्णो यत्र तत्परागरङ्गि सम्भवत् तयोस्त्रपां जयद् लज्जां छादयत् श्रमाम्भः प्रस्वेदजलमित्यादेशभागभूत् ॥९९॥

अपत्यभावाय च रोमराजीतो जागरित्वव्रतमित्यभाजि ।
तयाथ मुक्ताफलतान्वकारि समुत्थधर्माम्बुलवप्रकारिः ॥१००॥

अपत्यभावायेत्यादि—पत्युरभावो वैधव्यं तस्याभावोऽपत्यभावः सौभाग्यं तस्मै तथाऽपत्यस्य भवनं भावः पुत्रोत्पत्तिस्तस्मै रोमराजिकयेति रोमराजीतस्तृतीयायां तसिल् । जागरित्वव्रतमित्यभाजि अञ्चनमुपात्तं जागरणं वा कृतम् । अथ च तया रोमराज्या समुत्थानां संजातानां घर्माम्बुलवानां प्रकारिः प्रक्रिया यत्रैवंभूता मुक्ता परित्यक्ता चावफलता निष्फलत्वपरिणामोऽन्वकारि मौक्तिकभावः ॥१००॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



शरीरमेतद्घनसारबिन्दोः समेत्य सद्व्यञ्जनसत्त्वमिन्दोः ।
तुल्याननाया अमृतस्य धारा पिगल्य जाता द्वितयीव सारात् ॥१०१॥

शरीरमित्यादि—इन्दोस्तुल्याननायाः सुलोचनायाः समीचीनानां व्यञ्जनानामवयवानां सत्त्वं यत्र तच्छरीरं समेत्य गत्वा घनोऽप्रविरलश्चासारश्च बिन्दुः शुक्रो यस्य तस्य जयस्य शरीरं पुनः सा द्वितयी तथा च सद्व्यञ्जनस्य रुचिकारकस्य सत्त्वं समेत्य घनसारबिन्दोः कर्पूरांशस्य शरीरं तत्पुनः सा द्वितयी पिगल्यामृतधारा जाता । संयोगकाले तयोः शरीरं प्रस्वेदप्रायमभूत् । यथा कर्पूरं रुचिकरसत्वसंयोगे पिगलति तथा तयोः शरीरं परस्परसंयोगे सति पिगलति स्मेति यावत् ॥१०१॥

यथा सदैवास्य कथा सुवर्षा सौदामिनी साप्यभवत् सहर्षा ।
यदाप सा कल्पलताप्रकर्षं तदङ्घ्रिपोऽप्यम्बरमाचकर्ष ॥१०२॥

यथेत्यादि—यथास्य जयस्य सदैव सर्वदैव सुवर्षा शोभनवर्षवती यौवनपूर्णरुचिकरी च कथा जाता तदा साऽसौ बाला दामिनी मालावती सहर्षाभवत् । यद्वास्य कथा सदैवा मेघसहिताऽत एव सुवर्षा सुवृष्टिकरी जाता तदा सा सौदामिनी तडिदपि सहर्षा चमत्कारिण्यभूत् । यदा च सा कल्पलता प्रकर्षं हर्षभावमाप तदा तदङ्घ्रिपः कल्पवृक्षोऽपि अम्बरमाचकर्षाकाशमलंचकार । यद्वा कल्पं किं कार्यं किं न कार्यं वेति विकल्पं लातीति तद्भावस्य प्रकर्षमाप लज्जाभयादिव वशंगता तदा स तदङ्घ्रिपस्तस्याश्चरणधरणोऽपि भवन्नम्बरं वस्त्रं तस्या आचकर्षेति ॥१०२॥

तां माननीयां समयन् समापः स्वभावतः सानुनयत्वमाप ।
रुषःस्थली सा पुरुषोऽत्र जातुचिदूनभावान्नवपुस्तदा तु ॥१०३॥

तामित्यादि—तां मानेनाभिमानेन नीयां नीयमानां गर्ववतीं समयन् सम्बोधयन् क्षमापः सहनशीलो जयनृपः स्वभावत एवानुनयसहितत्वं सानुनयत्वमाप विनयानुनयं चकार यतः सा माननीया सम्मानयोग्या । अथवा तां माननीयां निश्चलभावतया पृथ्वीरूपां समयन् संगच्छन् क्षमापो राजा सानुनयत्वं तदग्रे स्थितिमावहन् सन् पर्वतरूपतामचलभावमाप । यदा सा रुषःस्थली कोपवती जाता रुकारषकारस्थली जाता समभूत्तदा जातुचिदूनभावान्न्यूनपरिणामान्नवपुरशरीर इवाभूत् । किञ्च, नवः केवलः पुकार एव यस्य सोऽभूत् ॥१०३

विधुर्यदा कामधुरा नदीनस्वरूपतामाप तदा कुलीनः ।
कलान्वया चेत् पृथुरोमभावात्सासीत्समुद्रो मुदितस्तदा वा ॥१०४॥

विधुरित्यादि—यदा कामधुरा कामो धुरि अग्रभागे यस्याः सा विधुर्विगतधुकारा कामरा कामधना वाञ्छितदायिनी चुम्बनादिषु बभूव तदा स कुलीनो दीनो न भवतीति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तद्रूपतामाप, तत एव सा यदा विधुश्चन्द्र इव प्रसन्नरूपा जाता तदा नदीनस्य समुद्रस्य स्वरूपतामाप सः, चन्द्रेण समुद्रस्य प्रसक्तिभावात् तस्यामासक्तोऽभूदिति। तथा यदा सा तेन सह कं सुखं लातीति एवंरूपोऽन्वयः स्वभावो यस्याः सा पृथुरोमभावाद्रोमाञ्चितत्वाज्जाता तदा स समुद्रो मुद्रिकया युतो धनी मुदितः पूर्वस्मादप्यधिकप्रसन्नो बभूव। किं वा सा पृथुरोमभावान्मीनस्वभावत्वात् कं जलं लातीत्येवंरूपा कलान्वया जलजीवनाभूत्तदा स समुद्रोऽपि मुदितो मुत्काररहितोऽर्थात्सरो जलाशयोऽभूत्तत्रैव मीननिवसनात्। किं वा यदा सा कलान्वया चन्द्ररूपतः कदाचित्प्रच्युत्य कलारूपा संकुचिताभूत्तदा समुद्रोऽपि स सर एव जात इति ॥१०४॥

**अनङ्गसौख्याय सदङ्गगम्या योच्चैस्तना नम्रमुखीति रम्या।**
**विभ्राजते स्माविकृतस्वरूपा प्रसक्तिमाप्त्वा महिषीति भूपात् ॥१०५॥**

अनङ्गेत्यादि—या सुलोचना सद्भिः प्रशंसनीयैरङ्गैर्गम्याधिगमयोग्यापि पुनरङ्गसौख्यं न भवतीति तस्मादिति विरोधस्तस्मादनङ्गसौख्यं सुरतानन्दस्तस्मै बभूव। या किलोच्चैस्तनातिशयोन्नतापि नम्रमुखीति विरोधस्तत उच्चैःस्तनवती पुष्टस्तनीत्यतो लज्जावशान्नम्रमुखीत्येवं रूपतया रम्या रमणीया। तथा भूपाद्राज्ञः सकाशान्महिषी रक्ताक्षीत्येवं प्रसक्तिमाप्तापि पुनरविना मेषेण कृतं सम्पादितं स्वरूपं यस्या अजेत्येवं विरोधेऽविकृतः सर्वगुणसम्पन्नं स्वरूपं यस्या एवं भवती भूपान्महिषी पट्टराज्ञीत्येवं प्रसक्तिमाप्त्वा विभ्राजते स्म ॥१०५॥

**निलेतुमन्तस्त्वितरेतरस्याभिवाञ्छत श्रीमिथुनस्य यः स्यात्।**
**विरोधहेतुः स्तनकः प्रियोरःसमुद्भवः स्पष्टतया कठोरः ॥१०६॥**

निलेतुमित्यादि—इतरेतरस्यान्तर्निलेतुमेको द्वितीयस्य हृदि प्रविश्यानन्यतामवाप्तुमभिवाञ्छतः श्रीमिथुनस्य सुलोचनाजयकुमारयोर्द्वितयस्य यः कश्चिदपि विरोधहेतुस्तदिच्छाया विरोधकारी बभूव स प्रियायाः सुलोचनाया उरसि समुद्भवः स्तनकः स्पष्टतया प्रकटमेव कठोर आसीत् ॥१०६॥

**अनादिरूपा सुदृगित्यनेन ह्यनन्तरूपत्वमितं जयेन।**
**अनाद्यनन्ता स्मरतिक्रियास्ति तयोरनङ्गोक्तपथाभ्युपास्तिः ॥१०७॥**

अनादिरूपेत्यादि—आदौ पूर्वस्मिन् काले न जातं यत्तदनादि रूपं यस्याः साऽनादिरूपा सुदृक् सुलोचना। न विद्यतेऽन्तो यस्य तत्तादृग्रूपं यस्य तस्य भावं जरारहितत्वमिति जयेनेतं प्राप्तम्। इत्यनेन हेतुना तयोर्द्वयो रतिक्रिया अनादिरपूर्वा चानन्ता च निरन्तरास्ति स्म बभूव। तथा स्मरतिक्रियायामनादिरूपाऽऽदिवर्णरहिता रती रतिः सलोचना। अनन्तरूपोऽन्तवर्णरहितः स्मर इति च जयः। तयोर्द्वयोरनङ्गोक्तपथाभ्यु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



णास्तिः कामदेवप्रतीतमार्गसदुपासनेयमस्ति। किञ्चाङ्गं यत् किञ्चिदप्यवयवरूपं न भवति यत्र तदनङ्गमित्युक्तम् ॥१०७॥

**वामा नवा मापि यथोत्तरं सा रक्तोऽभवच्छ्रीहरितोऽपि वंशात्।**
**जातो ह्यपीतो मधुराभिराभिः कषायलः कामधुरः क्रियाभिः ॥१०८॥**

वामेत्यादि—सा सुलोचना वामापि न वामा कुटिलापि सरलेति विरोधस्ततः सा नवा नूतना मा लक्ष्मीरेव वामा स्त्री आपि प्राप्ता। तेन जयेन ततः स श्रीहरितो नीलवर्णोऽपि रक्तोऽरुणवर्णोऽभवदिति विरोधस्ततः श्रीहरितः पुरुषोत्तमादपि यथोत्तरमधिकतरं रक्तोऽनुरक्तो जात इति। तथा वंशाद्वेणोर्जातः समुत्पन्नो हि अपीतः पीतवर्णरहित इति विरोधस्ततो वंशात्सत्कुलाज्जातो हि सोऽपीत इत्यत्र कामधुरः कामचेष्टाधारिण्या आभिरुपर्युक्ताभिर्मधुराभिश्चेष्टाभिः क्रियाभिरपि कषायलः कषायरसयुक्त इति विरोधस्ततः कषायलोऽङ्गरागवानभूत् चन्दनादिविलेपयुक्तो जातः ॥१०८॥

**सानुनयाधिगमा महिला सा मणितत्वार्थमिता मृदुहासा।**
**बहुलोहमयः पार्श्वमुपेतः काञ्चनरुचिं गतः स तथेतः ॥१०९॥**

सानुनयेत्यादि—सा महिला स्त्री मृदुहासा ईषत्स्मितवती अनुनयेन चाटुकारेण सहितोऽधिगमः संगमो यस्यास्सा, यथा मणितत्वं सुरतरवत्वमेवार्थं प्रयोजनमिता नीता प्राप्ता वा, तथा पार्श्वमुपेतः समीपं गतः स जयकुमारो बहुलोहमयो नानातर्कवितर्कयुक्तस्सन् काञ्चनानिर्वचनीयां रुचिं गतः। अपि च सानोर्नयेन पर्वतस्य रूपेणाधिगमः परिज्ञानं यस्यास्सा महिला पृथ्वीप्राया सा मणीनां हीरकादिरत्नानां तत्त्वार्थेन रूपेण मितानुमानिता, तथैव लोहमय आयसरूपस्स पार्श्वनामपाषाणमुपेतस्सन् काञ्चनस्य स्वर्णस्य रुचिं गतः ॥१०९॥

**पीता सुरोचनापि जयेन नीतानुरागमप्युत तेन।**
**हरिताश्रयेण यात्र रमेदं धवलत्वं स्वात्मनो विवेद ॥११०॥**

पीतेत्यादि—सा सुरोचना रमा लक्ष्मीरिव हरितायाः पुरुषोत्तमत्वस्याश्रमेण स्थानेन तेन जयेन पीता सम्भुक्तास्वादिता सत्यनुरागं नीता प्रीतिभावं प्राप्ता। अत्र स्वात्मनो निजरूपस्य [1]धवलत्वं भर्तृसनाथतां विवेद। यापि सुरोचना गोरोचनद्रव्यं सा पीता पिङ्गलवर्णा तु पुनारागं लालिमानं नीता, श्रमेणायासेन कृत्वा हरिता नीलतां नीता धवलत्वं शुक्लतां च विवेदानुभूतवतीति बहुरूपतां तदावाप सा ॥११०॥

**गौरी सम्प्रति साशु भारती राजते स्म खलु या रमा सती।**
**हरति वसनमधिगम्य समस्थां स्मरति च पुरुषोत्तमेऽत्र तस्याः ॥१११॥**

१. धवं पतिं लाति गृह्णातीति धवलं तस्य भावस्तत्त्वम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



गौरीत्यादि—अत्र स्मरति कथं कार्यं किं विधेयमित्यनुशोचति सम्प्रति समस्यामधिगम्य पुरुषोत्तमे नरश्रेष्ठे जयकुमारे तस्या वसनं दुकूलं हरति सति सा आशु शीघ्रोच्चारणमागता भारती वाणी 'मा मे वसनमपहर' इत्यादिरूपतया प्रत्युक्तिर्यस्यास्सा राजते स्म, खलु या रन्तुं योग्या रमा गौरी नवयौवना च या। या च तस्मिन् पुरुषोत्तमे कृष्ण इव कौतुकवति भवति रमा लक्ष्मीरिव सती तथा समस्यामधिगम्य स्मरति स्मर इवाचरति सति शुभा रतिरिव। तथा तस्या वसनमधिगम्य हरति हर इवाचरति सति गौरी पार्वतीव राजते स्म ॥१११॥

शाटीमिव बहुगुणां रतिं तु तनौ निशायामप्यधिगन्तुः।
संकुचतातिशयेन नानापद्ह्रीणा स्मरवीणा समवाप ॥११२॥

शाटीमित्यादि—स्मरस्य वीणेव मधुरभाषिणी सुलोचना रतिं सुरतक्रीडां शाटीमिव बहवो गुणाश्चुम्बनालिङ्गनादयः पक्षे तन्तवश्च यत्र तामधिगन्तुरनुभवनकर्तुर्भर्तुस्तनौ शरीरे चैव तनौ स्वल्पविस्तारे, अथवा तनौ निशायां लघुरूपायां रात्रौ तत्र संकुचतायाः शोभनस्तनत्वस्यातिशयेन नानानेकविधा यन्मर्दनादिरूपा यस्यास्सा, एवं ह्रीणा लज्जावती। तथा च संकुचता संकोचवतातिशयेन प्रभावेणानापद् निर्विघ्ना सती। अपि च संकुचतायाः सुदृढोरोजतायाः अतिशयेन च तां समवाप परिपूर्णं कृतवती ॥११२॥

सद्यस्तनस्तबकभारमहोदयेन
पुष्टापि सज्जघनमूलसमुच्चयेन।
जातात्र संकलितरूपगतेन कामा
रामाविभूचितविहारवनीव रामा ॥११३॥

सद्य इत्यादि—वामा स्त्री सा सुलोचना विभूचितो वैभवसम्पन्नस्य योग्यो विहारो यस्यां सा सौवनीवात्र जाता सम्बभूव यतः सा संकलितं सम्पादितं रूपं सौन्दर्यंगतेन। अथ च शोभनाः कलयः कोरकाणि यत्र ते च ते तरवो वृक्षाश्च तानुपगतेन, सद्यस्तनावभिनवकुचावेव स्तबकौ, किञ्च सद्यस्तनास्तत्कालसंजाता ये स्तबकाः पुष्पगुच्छकास्तेषां भारस्य महोदयेनापि, पुनः सत्समीचीनं यज्जघनमूलं श्रोणिपुरोभागरूपं तस्य समुवा संहर्षितेन चयेन प्रचारेण, अथ च सज्जानि घनानि च तानि मूलानि तेषां समुच्चयेन संग्रहेण पुष्टा सम्पन्नावयवा, ततः कामस्य मदनोन्मादस्यारामः पर्यायोः ॥११३॥

अञ्चलं च यदा कर्तुकामोऽभूत्तस्य वारकः।
सुवर्णघटकत्वेनोरस्तस्या गुरुतामगात् ॥११४॥

अञ्चलमित्यादि—तस्य जयस्य वारको नाम शिशुर्यदा खल्वं च पुनर्लमित्यनेन नालं नाम समस्तमक्षरसमूहमाकर्तुकामः स्वीकर्तुमिच्छुरभूत् तदा सुलोचनाया उरःस्थलं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सुवर्णघटकत्वेनाक्षरसम्पादकत्वेन गुरुतां शिक्षकतामगात् । तथा चालंकर्तुकाम आभूषणमिच्छुरभूत्तदा सुवर्णघटकत्वेन हेमकारत्वेन तस्या उरो गुरुतामगात् । किञ्च, यदाञ्चलं वस्त्रपल्लवमाकर्तुं कामस्तस्य वारकः करप्रचारोऽभूत्तदा तस्या वक्षः सुवर्णघटकत्वेन कनककलशात्मत्वेन गुरुतां गौरवमाप कुचप्राकट्यमभूत् ॥११४॥

सकामादावथ क्षान्तां समुपेत्य तदन्वयम् ।
अन्ततो वञ्चितं कृत्वा रङ्गतत्त्वमितोऽभवत् ॥११५॥

सकेत्यादि—अथ कुचालिङ्गनानन्तरं तत्रादौ ककारेण सहितां सकां पुनः क्षकारोऽन्ते यस्यास्तां क्षान्तां कक्षां करधनीमुपेत्यानु पुनरयं जयकुमारो 'अम्' इत्यंकारं पुनर्वं वकारं चितं संगृहीतं कृत्वा रस् रकारं गच्छतीति तत् तस्या अम्बरस्याधोवस्त्रस्य तत्त्वमितस्तदुद्घाटनं गतोऽभूत् । एवंकाम आदौ क्षान्तां मदनस्थले क्षमावती समुपेत्यान्ततः पुनस्तस्या अन्वयं लज्जानुभावादिरूपं प्रकरणं वञ्चितं कृत्वानुनयादिना निराकृत्य रङ्गस्य नाम रात्रिवृत्तस्य तत्त्वमितोऽभवत् ॥११५॥

स्वाद्यं मृदुलमध्याया भान्तमास्थेन्दुमञ्चतः ।
सत्सुखं जनसत्त्वं तु सुलभं समभूदतः ॥११६॥

स्वाद्यमित्यादि—मृदुलः सुकोमलो मध्योऽवलग्नप्रदेशो यस्यास्तस्याः स्वाद्यमास्वादनयोग्यं भान्तं शोभायमानमास्येन्दुं मुखचन्द्रमसं तावदञ्चतः स्वीकुर्वतस्तस्य जयस्य सत् प्रशंसनीयं सुखं यस्य तत् जनसत्त्वं मनुष्यत्वमथ च सत्सु मध्ये खञ्जनसत्त्वं चकोरपक्षित्वं तु पुनः सुलभं समभूत्, यथा चन्द्रमसि चकोरानुरागस्तथा तत्र तस्यानुरागोऽभूदित्यतः । मृदुलंकारो मध्ये यस्यास्तस्याः सुकार आदौ भवति यत्र तत्स्वाद्यं तथा भकारोऽन्ते वर्तते यत्र तं भान्तमास्येन्दुमञ्चतः सुलभत्वं युक्तमेवेति ॥११६॥

उदयन्तं सरोमध्यमन्त्यजेनान्वितं श्रयन् ।
तृष्णावानेन सोऽप्यासीदपि कञ्जमुखो भवन् ॥११७॥

उदयन्तमित्यादि—स जयकुमार उदयन्तमुन्नतिं गच्छन्तं सजलमपि सरोमध्यं जलाशयाङ्कमन्त्यजेन चाण्डालेनान्वितं श्रयन् पश्यन् कञ्जमुखो जलजातमुखोऽपि तृष्णावानेवासीज्जलं न पीतवान् यतः । तथा चोदित्युकारेण यः संविधानं यस्य, किञ्चान्तेभवोऽन्त्यो जकारो यस्य, तथा रोकारेण सहितं मध्यं यस्य तनुरोजं नताङ्ग्याः स्तनदेशं श्रयन् स कञ्जमुखः कमलवत्प्रसन्नमुखो भवन् तृष्णावानभिलाषी आसीत् ॥११७॥

अधरं मधुरं शश्वद्रमणीकं समाश्रयन् ।
समन्तात् पावनोऽप्यासीदपि पुण्य जनेश्वरः ॥११८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



अधरमित्यादि—रमण्या इमं रमणीकमधरं नामौष्ठं शश्वन्मधुरं नित्यमेव स्वादुरसं समाश्रयन् सन्नपि स पुण्यजनानामीश्वरः स्वामी जयः समन्तात्पावनः पवित्र एवासीत्, न किन्तु इतरजनवत् पापभागभूत् । तथा चाधरमकारधारकं पुनर्मधुरं मकारो धुरि यस्य ततश्च रमणीकं रकारो मणिवदग्रवर्ती यस्य तं समाश्रयन् नामामरमिति गत्वा समन्तात्पुनस्तस्यान्ते पावनः पकारस्यावनं परिरक्षणं यस्यैवं शीलोऽमरपो मघवा सन् पुनरपि पुण्यजनेश्वरो नाम दानवेन्द्रोऽभूदिति । यद्वाऽधरं धरावर्जितं मघवे नाम दैत्याय योऽग्निर्भस्मकारको यत तत एव रमणीकं स्वर्गवन्मनोहरमिति च समर्थनीयमस्ति तावत् ॥११८॥

आननेनारविन्देन शर्वरीं सोऽन्वभून्मुदे ।
सदामलक्षणं बाला तद्वक्षः समभावयत् ॥११९॥

आननेनेत्यादि—स जयकुमार आननेनारविन्देन मुखेनैव कमलेन तं शर्वरीं युवतिं मुदे प्रसन्नतार्थमन्वभूत् । किञ्च, न रविं ददातीरविन्दस्तेनारविन्देन नाम चन्द्रेण शर्वरीं नाम रात्रिमिवान्वभूत्तां मुदे सः । सा च बाला तस्य वक्षःस्थलं सदामलक्षणं दाम्ना माल्येन सहितं सदाम, तदेव लक्षणं यस्य तत्तथा सदैवामलं शुद्धं प्रकाशरूपं क्षणं यत्र तं दिवसमिव पवित्रं समभावयत् । रात्रिदिवसयोश्च सङ्गमः प्रकृतिसिद्धः ॥११९॥

वलिसद्मोदरं नाभिजातगर्तं नतभ्रुवः ।
वामनोहरभावेन नरस्तावत् समभ्यगात् ॥१२०॥

वलिसद्मेत्यादि—नतभ्रुव उदरं बलिनामकस्यावयवस्य पक्षे वलिनाम्नोऽसुरराजस्य सद्म स्थानं नाभ्यास्तुण्डिकाया जातो गर्तो यत्र पक्षे नाभिजातमसुन्दरं गर्तं यत्र पातालगतत्वात् तत्, नरो जयकुमारो हरिश्च वा मनोहरभावेन सुन्दरत्वेन पक्षे वामनस्योहं रातीति तद्भावेन खर्वरूपसूक्ष्मरूपसम्पादकत्वेन समभ्यगात् जगाम तावत् ॥१२०॥

तदेकव्रतिना भानुभानितां तामपश्चिमाम् ।
सरोमाञ्चतया गत्वा सा कुशेशयता श्रिता ॥१२१॥

तदेकव्रतिनेत्यादि—तस्यामेवैकं व्रतं स्वीकरणं यस्य तेन तदेकव्रतिना कुशेशयता दर्भासने शयनशीलताऽथवा कुशेशयता कमलरूपता श्रिता । भया शोभयानुभानितां यद्वा भानुना भानितामलङ्कृतां तामपश्चिमां स्त्रीषु प्रथममेव गणनीयां तथा प्राचीं नाम दिशां गत्वा लब्ध्वा रोमाञ्चैः सहितता सरोमाञ्चता तथा सरो जलाशय एव माञ्चं पर्यङ्कं शयनस्थानं यस्य तत्तया वा । यथा सूर्योदययुतां पूर्वदिशां दृष्ट्वा कमलं विकसितं भवति तथैव साभूदिति ॥१२१॥

नवनीतं वपुस्तस्याः पूतपुण्यपयोभवम् ।
समाराधयतो जाता सुतक्रमहिता स्थितिः ॥१२२॥

---

१. 'शर्वरी तु त्रियामायां हरिद्रायोषितोरपि' इति विश्वलोचनः ।



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


नवनीतमित्यादि—तस्याः सुलोचनाया वपुः शरीरं तदेव नवनीतं नवीनतया लब्धं नववयस्कत्वात्तथा म्रक्षणं मृदुलतमं भूत्वा, तच्च पूतपुण्यमेव पयो दुग्धं तस्मादुच्चितिरुत्पत्तिर्यस्य तत्समाराधयतः सन्दधानस्य तस्य जयकुमारस्य स्थितिः शोभनेन तक्रक्रमेण महिता संकलिता । अथवा सुतस्य क्रमे पुत्रोत्पत्तिकरणे हितानुकूला जाता ॥१२२॥

मुखं मुकुलमाचुम्बन् कुलीनो न लतां नयन् ।
समग्रभावतो गत्वा शान्ततामाप सुभ्रुवः ॥१२३॥

मुखमित्यादि—सुभ्रुवः सुलोचनाया मुखमाननं तदेव लज्जानुभावादिना मुकुलं कुड्मलमिव सम्भूतम् । ततस्तन्नलतां कमलरूपतां नयन् विकसितं कुर्वन् कुलीनः सज्जातिमान् जयकुमारः समग्रभावतः पूर्णरूपेण शान्ततामाप सुखमनुबभूव । तथा तदेव मुकुलं मुखं मुकारस्य खं नाशो यत्र तत् कुलमित्येवंभूतं नलतां लकाररहिततां नयन् केवलं कुलीनः कुकारमात्रपरायणः सन्, सं सकारमग्रे प्रथमे यत्र तत् सकु इति तद्भावतः पुनः शान्ततां शकारोऽन्ते यस्य तत्तां शकारान्ततां सकुशता प्रसन्नतया रोमाञ्चभावमापेति यावत् ॥१२३॥

सुरोचितकविलग्नात् सुवर्णसूत्रधृक् भवन् ।
नाभितोयमधीत्यापि जलजातवदाबभौ ॥१२४॥

सुरोचितेत्यादि—सुरोचितमेव सुरोचितकं तच्च तद्विलग्नं मध्यं च तस्मात्परमसुन्दरकटिप्रदेशात् सुवर्णसूत्रधृक् काञ्चीदामापहारको भवन् सन्नयं जयकुमारो नाभितो नाम सुलोचनायास्तुण्डीसमीपमधीत्य गत्वा जलजातवत्कमलवत्प्रसन्नवदन आबभाविति प्रकृतोऽर्थः । तथा सुरेषूचितो यः कविः शुक्रस्तल्लग्नात् प्रदेशात् सुवर्णसूत्रधृग् भवन् ललिताक्षरं सूक्तमाश्रयन् सन् अयं ना मनुष्योऽभितः समन्तादधीत्य पठित्वापि पुनर्जडजातवन्मूर्खस्य पुत्रवदाबभौ । तथा सुवर्णसूत्रधृक् शोभनरज्जूधारको भवन्नपि सुरोचितात्कस्य जलस्य विलग्नात् स्थानात्तोयस्य समीपमभितोयमधीत्य गत्वापि जलजातवन्न बभावित्यपि ॥ १२४ ॥

सुरतसमुद्राद् हृदयामत्रे खलु शर्मवारिसम्भरणम् ।
भृशमित्यर्थात्सुदृशः समभाद् गद्गदगिरोद्धरणम् ॥१२५॥

सुरतेत्यादि—सुदृशो हृदयामत्रेऽन्तरङ्गपात्रे घटे सुरतसमुद्रात् शर्मवारिणः सम्भरणं बभूवेत्यत एवार्थाद् भृशं वारं वारं गद्गदगिरोद्धरणं समभात् खलु इत्युत्प्रेक्षा ॥ १२५ ॥

सुरतरङ्गिणि उत्कलिकावतो तरणिरद्य न विद्यत इत्यतः ।
पृथुलकुम्भयुगं हृदि सन्दधद् घनरसस्य स पारमुपागतः ॥१२६॥

सुरतरङ्गिणीत्यादि—सुरतरङ्गिणी सुरतस्य रङ्गवती तथैव सुरतरङ्गिणी भागीरथी गङ्गेवोत्कलिकावती समुत्कण्ठावती लहरिमती चाभूत् तथापि तरणिः सूर्योऽद्य न विद्यते रात्रिरस्ति पक्षे नौका नास्तीत्यतः कारणात् पृथुलयोरतिविस्तृतयोः कुम्भयोः कुचरूपयो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



युगं सन्दधत् समासादयत् सन् स जयकुमारो घनरसस्य भृङ्गारानन्दस्य प्रभूतजलस्य च पारमपरतीरमुपागतः प्राप्तवान् । 'भवेदुत् लिका हेला सलिलवीचिषु' इति विश्वलोचने । रात्रिसमागमे सुरतक्रीडा नौकाभावे सन्तरणार्थं च कुम्भयुगलसंयोजनं युक्तमेवेति ॥ १२६ ॥

**स्मराध्वरे तर्पितमिष्टमञ्चकं समर्पितप्रीति हि देवपञ्चकम् ।**
**व्यभूषि भूराभरणैरिहाधिकाप्यधारि निःस्वेदपदात्तदाशिका ॥१२७॥**

स्मराध्वर इत्यादि—स्मराध्वरे कामयज्ञे इष्टं मनोहरं मञ्चकं पल्यङ्कं यस्य तत् तथेष्टस्य वाञ्छितस्य मञ्चकमभिलषितदायकं देवानां स्पर्शनादीन्द्रियाणां सुराणां च पञ्चकं समर्पिता प्रीतिर्यत्र यथा स्यात्तथानुरागपूर्वकमिति यावत् तर्पितम् । इह चाधिका भूः आभरणैर्दक्षिणास्वरूपै रतिक्रियासंलग्नतया परिच्युतैर्व्यभूषि भूषिता । अथ च निःस्वेदपदाद् घर्मजलव्याजात्तस्याशिकाऽधारि स्वीकृता ॥ १२७ ॥

**नैषा वेगं तावकं संविसोढुं शक्ता नैनां खेदयेतीह वोढुः ।**
**कर्णोपान्ते रत्युदात्तस्य गत्वा प्राहोढाया नूपुरं नाम सत्त्वात् ॥१२८॥**

नैषेत्यादि—एषा नायिका तावकं त्वदीयं वेगं रतिप्राचुर्यं सम्यक्प्रकारेण विसोढुं शक्ता समर्था नास्ति, एनां न खेदय खिन्नां न विधेहि । इतीत्थम् इह सुरतावसरे नवोढायाः नवपरिणीताया वध्वा नूपुरं मञ्जरीकं रत्युदात्तस्य सुरतप्रसक्तस्य वोढुः पत्युः कर्णोपान्ते श्रवणसमीपे गत्वा सत्त्वाद् बलात् प्राह कथयति स्म नामेत्युत्प्रेक्षायाम् ॥१२८॥

**योषाया अधरे वरेण कलिते सद्यो दृशा मीलितं**
**निर्यातं रदरोचिषाब्जरुचिना हस्तेन वा वेपितम् ।**
**एवं रत्नविनिर्मितैश्च वलयैराक्रन्दितं वेगतः**
**स्तत्रान्यव्यसनातुरा हि भुवने ते सम्भवन्तीत्यतः ॥१२९॥**

योषाया इति—वरेण पत्या योषायाः स्त्रिया अधरे अधरोष्ठे कलिते दष्टे सति सद्यो झटिति पीडातिरेकाद् दृशा दृष्टया मीलितं, रदानां दन्तानां रोचिषा किरणेन चीत्कृतकरणात् निर्यातं निर्गतं, अब्जस्य कमलस्येव रुचिः कान्तिर्यस्य तेन हस्तेन करेण वा वेपितं कम्पितं, एवमित्थमेव रत्नविनिर्मितैर्मणिरचितैर्वलयैः कटकैश्च वेगतो रयेण आक्रन्दितं शब्दितं, इत्यतो ज्ञायते ते दृगादय भुवने लोके अन्यस्य व्यसने संकटे आतुरा दुःखिनो जायन्ते हि परमार्थतः ॥ १२९ ॥

**रतान्ते सा भूयो दशनवसनं प्रोञ्छितवती**
**विलोलेनेदानीं शयकिसलयेनोज्ज्वलदतिः ।**
**विहस्यैवं रेजे तरलितदृशा तत्परिणति-**
**र्मुहुर्वक्त्रं पत्युः शिथिलसकलाङ्गीक्षितवतो ॥१३०॥**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


रतान्त इति—रतान्ते सुरतावसाने भूयः पुनर्विलोलेन चञ्चलेन शयकिसलयेन करपल्लवेन दशनवसनमधरोष्ठं प्रोञ्छितवती प्रोच्छितं कुर्वन्ती, उज्ज्वला दन्ता यस्यास्सा तथाभूता धवलदशना, शिथिलानि रतिबाहुल्येन निःसहानि अङ्गानि यस्याः सा, तस्य रतस्य परिणतिः समाप्तिर्यस्यास्तथाभूता सा, इदानीं पत्युर्वल्लभस्य वक्त्रं मुखं तरलित-दृशा रत्यतिरेकभयेन चपलदृष्ट्या मुहुः पुनः पुनः, ईक्षितवती पश्यन्ती सा एवं 'तव साधुता दृष्टा' व्यङ्ग्येन विहस्य हास्यं कृत्वा रेजे शुशुभे ॥१३०॥

रत्यन्तं गत्वाप्यददाने याचन्त्या वसनं बहुमाने ।
सरोषकुटिलं सम्पश्यन्त्या रुचिरुचितैवाथवा हसन्त्याः ॥१३१॥

रत्यन्तमित्यादि—रत्यन्तं सुरतावसानं गत्वापि याचन्त्या वल्लभाया वसनं वस्त्रं बहुमानयुते भर्तरि अददाने अदत्तवति सति सरोषकुटिलं यथा स्यात्तथा पश्यन्त्या अथवा 'मामकीनं वस्त्रं मह्यं न ददासि तर्हि कस्यै दास्यसि ? स्वयं वा धास्यसि' इति व्यङ्ग्येन हसन्त्या रुचिः शोभा उचितैव तदवसरयोग्यैवासीदिति शेषः ॥ १३१॥

सुप्ता कामकलाश्रमात्कुलवधूः पूर्वं प्रबुद्धापि वा
रन्तुः श्रीसुखनिद्रितस्य ललितं दोःपाशसम्पद्रसम् ।
तस्थौ निश्चलसत्तनुर्विलसतः संच्छेत्तुमेषाधुना
नागच्छत्सुविचारचेष्टितमना वाञ्छैकसंभावनाम् ॥१३२॥

सुप्तेत्यादि—अधुना सुरतावसाने एषा कुलवधूः सुलोचना कामकलाश्रमात् रति-केलिखेदात् सुप्ता प्राप्तस्वापा पूर्वं पत्युः प्राक् प्रबुद्धापि जागृतापि श्रीसुखनिद्रितस्य निद्रानिमग्नस्य विलसतः शोभमानस्य रन्तुर्वल्लभस्य ललितं सुन्दरं दोःपाशो भुजपाश एव सम्पद् सम्पत्तिस्तस्या रसमानन्दं संछेत्तुं दूरीकर्तुं वाञ्छैकसंभावनां वाञ्छाया एकाद्वितीया सम्भावना तां नागच्छत्वल्लभभुजबन्धनमपनेतुं नाचकाङ्क्ष किन्तु सुविचारेषु शोभन-विचारेषु चेष्टितं मनो यस्यास्तथाभूता सती निश्चला निश्चेष्टा सती प्रशस्ता तनुः शरीरं यस्यास्तादृशीभूता तस्थौ स्थितवती ॥१३२॥

(सुरतवासना नाम षडर चक्रबन्धः)

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
वाणीभूषणमास्त्रियं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
अस्मिन्स्तद्विहिते निरीति दशमः सप्ताधिकोऽङ्कः प्रियः
शिष्टानां सुरतोपहारकरणः संसूक्तयुक्तक्रियः ॥१३३॥

श्रीमानित्यादि—व्याख्यानं पूर्ववत् ॥१३३॥

इति श्रीवाणीभूषण-ब्र० भूरामलशास्त्रिविरचिते जयोदयमहाकाव्ये सप्तदशः सर्गः

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# अष्टादशः सर्गः

श्रीयुक्तपाठक ! शृणुत विनोदकृत्ते
सिद्धिं गतेऽर्हत इव द्वितयस्य वृत्ते ।
ऋद्धिं यतीन्द्रवदुपेतरि सूर्यकान्ते
वृद्धिं समर्णवदिते तमसि क्षपान्ते ॥१॥

श्रीयुक्तेत्यादि—श्रीयुक्तपाठक ! हे वाचक—महाशय ! ते विनोदकृत् हर्षकारकयुताथवा वृत्तान्तं शृणु । यत्तावत् किलार्हतो जिनस्य वृत्तेऽनशनाद्याचरण इव द्वितयस्य स्त्रीपुरुषयोर्मिथुनस्यापि वृत्ते मैथुने सिद्धिं मुक्तिमुतावसानपरिणतिं गते सति सूर्यकान्ते नाम मणौ च यतीन्द्रवदृषिवर इव ऋद्धिमुपेतरि लभमाने यथा मुनीन्द्रऋद्धिमुपेत्य स्वचेष्टिते चमत्कुरुते तथा सूर्यकान्तमणिरप्यधुना कस्माद्वह्निं प्रकटयतीति भावः । तमसि अन्धकारे पुनः समर्णवत् सम्यगृणे यथा तथा वृद्धिं नामाधिकपरिणतिमिते प्राप्ते इवानीं क्षपान्ते प्रातःकाले चन्द्रमसः प्रकाशाभावे सूर्ये चानभ्युदितेऽधुनान्धकारवृद्धिर्भवतीति ॥१॥

स्वस्तिक्रियामतति विप्रवदर्कचारे
भद्रं सुगेहिवदिते कमलप्रकारे ।
स्वस्तु स्वतोऽद्य भवितुं जगतोऽधिकारे
सर्वत्र भाविनि किलामलताप्रसारे ॥२॥

स्वस्तीत्यादि—अर्कचारे सूर्यस्योदये विप्रवत् स्वस्तिक्रियामतति, ब्राह्मणो यथा स्वस्तिवाचनं करोति तथा शोभनामस्तिक्रियां गच्छति सति, कमलप्रकारे च सुगेहिवत्

---

अर्थ—हे श्रीयुक्त वाचक महाशय ! आगामी वृत्तान्त सुनो जो आपके हर्षका कारण है। जिस प्रकार अर्हन्तदेवका अनशनादि आचार सिद्धि—सफलताको प्राप्त होता है उसी प्रकार रात्रिके अन्तमें अर्थात् प्रातःकालके समय जब दम्पतीका समागमरूप कार्यसिद्धि—समाप्तिको प्राप्त हो गया था। मुनिराजके समान जब सूर्यकान्त मणि ऋद्धि—दीप्तिको प्राप्त हो रहा था और अन्धकार जब ऋणके समान वृद्धिको प्राप्त हो रहा था ॥१॥

अर्थ—जब सूर्योदय ब्राह्मणके समान स्वस्तिक्रिया—शोभनक्रिया (पक्षमें स्वस्तिपाठ) को प्राप्त हो रहा था, जब कमलोंका समूह सद्गृहस्थके समान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


गृहस्थराज इव भद्रं पुण्यपरिणामं विकसनमिते प्राप्ते, सर्वत्र किलामलताया निर्मलपरिणतेरथ चामरताया देवभावस्य प्रसारे सति, इदानीमद्य स्वतोऽनायासेनैव स्वः स्वर्गं भवितुं जगतो महितलस्याधिकारे सति ॥२॥

सूक्ति प्रकुर्वति शकुन्तगणेऽर्हतीव
युक्ति प्रगच्छति च कोकयुगे सतीव ।
मुक्ति समिच्छति यतीन्द्रवदब्जबन्धे
भुक्ति गते सगुणवद्रजनीप्रबन्धे ॥३॥

सूक्तिमित्यादि—अर्हति जिनदेव इव शकुन्तगणे पक्षिसमूहे सूक्ति सन्मार्गप्ररूपणामुत कलकलप्रायामुक्ति प्रकुर्वति सति, सज्जन इव कोकयुगे चक्रवाकमिथुने युक्ति बुद्धिविशदतामुत परस्परसंयोगवृत्ति प्रगच्छति सति, यतीन्द्रवद् योगिराज इवाब्जबन्धे कुड्मजरूपे मुक्ति संसारातीतावस्थामुत स्फुरणदशां समिच्छति सति, सगुणः पुण्यात्मा पुरुषस्तद्वत् रजनीप्रबन्धे निशासत्त्वे भुक्ति समाप्तिमवाप्ते पक्षे भोजनभाजनादिसम्पत्तिमधिगच्छति सति ॥३॥

लुप्तोरुरत्ननिचये वियतीव ताते चन्द्रे तु निष्करदशामधुना प्रयाते ।
घूकेऽपकर्मनयने द्रुतमेव जाते मन्दं चरत्यभिगमाय किलेति वाते ॥४॥

लुप्तोरुरत्नेत्यादि—सर्वेषामाश्रमदानत्वात् तात इव जनकस्थानीये वियत्याकाशेऽधुना लुप्तोरुरत्ननिचये संजाते लुप्तः समाप्तिमित उडूनामेव रत्नानां निचयोऽथवा

---

भद्र–विकास (पक्षमें शुभपरिणाम) को प्राप्त हो रहा था। जब पृथिवीतलको स्वर्ग बननेका अधिकार प्राप्त हो रहा था और जब सर्वत्र अमलता—निर्मलता (पक्षमें र–ल का अभेद होनेसे अमरता—देवभाव) का प्रसार हो रहा था ॥२॥

**अर्थ**—जब पक्षियोंका समूह अर्हन्तके समान सूक्ति—मनोहर कलकल (पक्षमें सन्मार्गकी प्ररूपणापरक सुभाषित को कर रहा था, जब चकवा–चकवोका युगल सज्जन पुरुषके समान युक्ति—परस्परसंयोग (पक्षमें बुद्धिकी विशदता) को प्राप्त हो रहा था, जब अब्जबन्ध–कमलकुड्मल योगिराजके समान मुक्ति—विकास (पक्षमें संसारातीत अवस्था) को प्राप्त हो रहा था और जब रात्रिका सत्त्व—पुण्यशाली मनुष्यके समान भुक्ति—समाप्ति (पक्षमें भोजनभाजनादिरूप सम्पत्ति) को प्राप्त हो रहा था ॥३॥

**अर्थ**—प्रातःकालके समय वायु मन्द मन्द—धीरे धीरे चल रही थी। क्यों? इसके लिये कविकी उत्प्रेक्षा यह है। कि सबके लिये आश्रय देनेसे पिताके तुल्य जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



लुप्तोऽवधिगतिदशामितो रत्नानां हीरकादीनामुरुरनल्पो निचयः संग्रहो यस्य तस्मिन्निति। अधुनैव पुनस्तत्पुत्रस्थानीये चन्द्रे निष्करदशां किरणरहितावस्थामुत हस्तहीनतां प्रयाते तदन्वेषणयोग्यताभावे सतीत्यर्थः। तथैव घूके काकारिपक्षिणि अपकर्मणी कर्तव्यताविहीने नयने चक्षुषी यस्य तस्मिन् द्रुतमेवाकस्मादेव जातेऽन्वेषणकर्मण्ययोग्ये सति तदन्वेषणार्थमन्यः कः स्यादित्यस्माद्धेतोः किलाभिगमायान्वेषणार्थमिव वाते मन्दं चरति शनैः शनैर्वाति सति। वायोः स्वाभाविकं मन्दगमनमन्वेषणाय कल्पितमित्युत्प्रेक्षा ॥४॥

**सुप्ते विजित्य जगतां त्रितयं तु कामे लुप्ते तदीयधनुषो विरवेऽति वामे।**
**उप्ते रथाङ्गयुगचञ्चुपुटेऽभिरामेऽहोरात्रकस्य मधुरे चरमेऽत्र यामे ॥५॥**

सुप्त इत्यादि—कामे मदने जगतां त्रितयं लोकत्रयं विजित्य स्ववशीकृत्य सुप्ते प्राप्तस्वापे सति, तदीयधनुषो मदन शरासनस्य अयिवामे क्रूरतरे विरवे विशिष्टास्फालनशब्दे लुप्ते प्रशान्ते सति, अत्र प्रभातवेलायाम् अहोरात्रकस्य रात्रिदिवस्य मधुरे मनोहरे चरमेऽन्त्ये यामे प्रहरे अभिरामे संयोगजन्यप्रसन्नतयाभिरामे मनोज्ञे रथाङ्गयुगस्य चक्रवाकमियुनस्य चञ्चुपुटे चञ्च्वभ्यन्तरे उप्ते प्राप्तवपने सति विलीने सतीत्यर्थः ॥५॥

**मन्दत्वमञ्चति विधोर्मधुरे प्रकाशे**
**पर्याप्तिमिच्छति चकोरकृते विलासे।**
**सस्पन्दभावमधिगच्छति वारिजाते**
**सर्वत्र कीर्णमकरन्दिनि वाति वाते ॥६॥**

मन्दत्वमित्यादि—विधोश्चन्द्रस्य मधुरे मनोहरे प्रकाशे मन्दत्वमल्पत्वमञ्चति प्राप्नुवति सति, चकोरैः जीवंजीवैः पक्षिभिः 'जीवंजीवश्चकोरकः इत्यमरः' कृते विहिते विलासे

---

आकाश था, उसका विशाल रत्नोंका संग्रह (नक्षत्र-समूह) लुप्त हो गया—लूट लिया गया। पुत्र तुल्य जो चन्द्रमा था वह निष्कर—किरण रहित (पक्षमें हस्त-रहित) अवस्थाको प्राप्त हो गया अर्थात् चन्द्रमा आकाशके लुप्त रत्नोंको खोजनेमें असमर्थ हो गया और रात्रिमें विचरने वाले जो उलूक थे उनके नेत्र देखनेमें असमर्थ हो गये, अतः किसी सहायकको न पाकर वायु स्वयं ही उन लुप्त रत्नोंके समूहको खोजनेके लिये ही मानों धीरे-धीरे जब चल रहा था ॥४॥

**अर्थ**—जब कामदेव तीनों जगत्को जीतकर सो गया था, जब कामदेवके धनुषकी क्रूर टंकार लुप्त हो गई थी, जब रात-दिनका अन्तिम मनोहर प्रहर चकवा-चकवीके चञ्चूपुटमें विलीन हो गया था, जब चन्द्रमाका प्रशस्त प्रकाश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



हर्षव्यापारे: पर्याप्ति समाप्ति इच्छति वाञ्छति सति, वारिजाते कमले सस्पन्दभावं संस्फुरतामधिगच्छति प्राप्नुवति सति, सर्वत्र भूतले नभस्तलेऽपि च कीर्णः प्रक्षिप्तो मकरन्दो विद्यते यस्य तस्मिन् वाते पवने वाति वहति सति ॥६॥

सम्पूर्णरात्रमुचितां रतिनामलीलां
तां रागिणामविरतप्रतियोगशीलाम् ।
दीपेऽभिवीक्ष्य बहुकौतुकतोऽधुना वा
संघूर्णमानशिरसीह सनिद्रभावात् ॥७॥

सम्पूर्णेत्यादि—सम्पूर्णरात्रं सायमारभ्य प्रभातपर्यन्तम्, अविरतो निरन्तरसम्भूतो योऽसौ प्रतियोग. क्रमपरिणामस्तच्छीलामुचितां योग्यतामापन्नां रागिणां परस्परमनुरागवतां मिथुनानामिति यावत् तां प्रसिद्धां रतिनामलीलां बहुकौतुकतोऽभिवीक्ष्याधुना वा पुनरिह तस्मिन् दीपे सनिद्रभावादेव निद्रापन्नपरिणामात्किल संघूर्णमानशिरसि संजाते । प्रभातसमये विनाशसन्मुखत्वाद्दीपकस्य घूर्णमानत्वं सहजं निद्रायुक्तस्य च शिरो घूर्णत एवेति ॥७॥

व्योम्नि स्थितिं भरुचितां समतीत्य दीने
राज्ञोऽपवर्तनदशां प्रतिपद्य हीने ।
सद्योऽथवाभ्युदयमेतरि भावनाना-
माद्येऽर्थवत्यपि पदे विकृतोक्तिमानात् ॥८॥

व्योम्नीत्यादि—अथवेत्युक्तिपरिवर्तने । व्योम्नि गगने राज्ञश्चन्द्रमसो नृपते वाऽपवर्तनमस्तोन्मुखत्वं कुत्सितप्रवर्तनं वा प्रतिपद्य लब्ध्वा भेभ्यो नक्षत्रेभ्यो रुचितामुत भरुभिः सुवर्णैश्चितां स्थितिं धनाढयतां समतीत्य दीने जाते । इने सूर्ये सद्य एवाभ्युदयमेतरि उद्गमनं गच्छति सति, हीति निश्चयार्थं । तथा हीनेऽवनतदशापन्नेऽपि पुरुषेऽभ्युदय-

मन्दताको प्राप्त हो रहा था, जब चकोर पक्षियोंके द्वारा किया हुआ नृत्यादि हर्ष व्यापार समाप्त होना चाहता था, जब कमल विकासोन्मुख था, जब सर्वत्र मकरन्द-परागको बिखेरने वाली वायु बह रही थी, और जब दीपक संपूर्ण रात्रिमें निरन्तर होने वाली रागी जनोंकी योग्य रतिलीलाको कौतुक वश देखकर निद्रासे ही मानों अपने शिरको हिला रहा था ॥५-७॥

**अर्थ**—जब आकाश राजा-चन्द्रमा ( पक्ष में नृपति ) की अपवर्तन दशा-अस्तोन्मुख अवस्था ( पक्षमें कुत्सित शासन प्रवृत्ति ) को प्राप्तकर भरुचितां-नक्षत्रोंसे देदीप्यमानता ( पक्षमें भरु-चिन्तां-सुवर्ण सम्पन्नता ) को छोड़कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मुन्नतिपरिणामं गच्छति, एवं च विभिः पक्षिभिः कृतमुचितमानं कलकलरवस्तस्मादुत विकृतोक्ते विकारपरिणतेर्मनाद्दर्शनात् भावनानामनित्याशरणेत्यादिद्वादशानुप्रेक्षाणां जिनागमोक्तानामाद्ये पदे तावदनित्यवचनेऽर्थवति समर्थके सञ्जाते सति ।। ८ ।।

सत्यार्थतां व्रजति चैव नभःस्वरूपे
भृङ्गे सतीह मधुसूदननामभूते ।
अम्भोरुहि स्फुरणतः स्विदहीनधुर्ये
श्रीकौस्तुभाकृतिमिते स्वयमेव सूर्ये ।। ९ ।।

सत्यार्थतामित्यादि—इह प्रातर्वेलायां नभसो गगनस्य स्वरूपं समाकृतिस्तस्मिन् सत्यार्थतामन्वर्थतामेव, न विद्यते भानां नक्षत्राणां स्वरूपं यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या व्रजति प्राप्नुवति सति, भृङ्गे मधुपे मधुसूदन इति नाम यस्य तथाभूतश्चासौ भूपो नृपश्च तस्मिन् कृष्णनामधेये सति पक्षे मधु कमलरसं सूदयति मधुसूदनस्तथाभूते सति प्रफुल्लपयोजमधुपानतत्परे सति, स्विदथ वा अम्भोरुहि कमले स्फुरणतो विकासात् अहीनधुर्ये उत्कटशोभासम्पन्ने सति, किञ्च सूर्ये बालदिनकरे श्रीकौस्तुभस्य शोभासम्पन्नमणिविशेषस्याकृतिम् इते गते सति । प्रातःसमये गगने नक्षत्राणि विलीयन्ते भ्रमरा

---

दीन हो गया—प्रभाहीन हो गया ( पक्ष में निर्धन हो गया ) तथा सूर्य शीघ्र ही अभ्युदय-उदय ( पक्षमें समुन्नतता ) को प्राप्त हो गया, तब पक्षी अपनी कलकल ध्वनिसे आगमोक्त बारह अनुप्रेक्षाओंमेंसे प्रथम अनित्यानुप्रेक्षा को सार्थक कर रहे थे।

**भावार्थ**--[1]राजा-चन्द्रमा रूपी एक राजाका अस्त होना और इन[2]-सूर्य रूपी अन्य राजाका उदित होना। इससे संसारकी अनित्यताको पक्षी अपनी कलकल ध्वनि से प्रकट कर रहे हैं, यह उत्प्रेक्षा की गई है ॥ ८ ॥

**अर्थ**—जब नभःस्वरूप-आकाश का स्वरूप भ-नक्षत्रों के विलीन होनेसे ( न विद्यते भानां नक्षणाणां स्वरूपं यत्र ) इस व्युत्पत्ति के कारण सत्यार्थता-सार्थकताको ही प्राप्त हो रहा था। जब भ्रमर मधुसूदन-मधु नामक दैत्य को नष्ट करने के कारण मधुसूदन-कृष्ण नामक राजा हो रहा था (पक्ष में विकसित कमल पुष्पसे मधु-पुष्प रसको ग्रहण कर रहा था)। जब कमल प्रफुल्लित होने से अत्यधिक शोभा युक्त हो रहा था और जब प्राची दिशा से उदित होने

---

१ 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः' इति विश्वः ।
२ इनः पत्यौ नृपे 'सूर्ये' इति विश्वलोचनः ।



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


मधुपानं कुर्वन्ति, अम्भोरुहृणि विकसन्ति, बालदिनकरश्च प्राच्यामुदेतीत्येवमिह वर्णितम् ॥ ९ ॥

यन्नाक्षि चाक्षिपदहो पलकांशमासा-
मेणीदृशां तु रतिरासबृहद्विलासात् ।
प्राभूज्जवाद्रजनिनिर्गमनैकनाम-
सन्देशकस्य पटहस्य रवोऽभिरामः ॥ १० ॥

यन्नाक्षीत्यादि—उल्लिखितेषु कार्येषु सत्सु यत्र रजन्यामासामेणीदृशां मृगाक्षीणामक्षि नयनं रतिरासस्य सुरतक्रीडाया यो बृहद् विलासस्तस्मात् पलकांशं पक्ष्मपातलवं नाक्षिपत् नैव चिक्षेप, क्रीडातिरेकात्ता नयनपक्ष्मशतमपि नाकुर्वन्निति भावः। तथाभूताया रजन्या रात्रेर्निर्गमनं निःसरणमेवैकमद्वितीयं नाम यस्य तथाभूतः सन्देशो यस्य, कप्-समासान्तः, एवंभूतस्य पटहस्यानकस्य 'आनकः पटहो ढक्का' इत्यमरः। अभिरामो मनोहरो रवशब्दः, जवाद् वेगात् प्राभूत्प्रकटितो बभूव ॥ १० ॥

विश्रान्तिमभ्युपगते तु विभाततूर्ये
श्रीमेदिनीरमणधाम समाययुर्ये ।
सूता जगुः सुमृदुमञ्जुलमुत्सवाय
रात्रिव्यतीतिविनिवेदनकारणाय ॥ ११ ॥

विश्रान्तिमित्यादि—तु पुनः विभाततूर्ये प्रभातवादित्रे विश्रान्तिमभ्युपगते सति, तद्ध्वनिविरामानन्तरमित्यर्थः। ये सूता मागधाः स्तुतिपाठका श्रीमेदिनीरमणस्य राज्ञो जयकुमारस्य धाम भवनं समाययुः समागतास्ते उत्सवाय उल्लासाय रात्रेर्व्यतीतिर्व्यपगमस्तस्या विनिवेदनं सूचनं तस्य करणाय विधानाय सुमृदुमञ्जुलं कोमलकान्तपदावली-सहितं यथा स्यात्तथा जगुर्गायन्ति स्म ॥ ११ ॥

---

वाला बाल दिनकर अतिशय सुशोभित कौस्तुभ मणिकी आकृतिको प्राप्त हो रहा था ॥ ९ ॥

अर्थ—आश्चर्य है कि जिस रात्रि में इन मृगनयनी स्त्रियों ने रति क्रीडा के विस्तारसे आँखकी पलक भी नहीं झपने दी वह रात्रि अब जा रही है–पूर्ण हो रही है, यही एक संदेश देनेके लिये मानों दुन्दुभि का मनोहर शब्द हो रहा है ॥ १० ॥

अर्थ—प्रातःकालीन वादित्रके विश्रान्त होनेपर जो स्तुतिपाठक–चारण राजभवन में आये थे, वे उत्सवकी वृद्धि तथा रात्रि समाप्ति की सूचना देनेके लिये कोमलकान्त पदावली से ग़ान करने लगे ॥ ११ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



त्वं वासुरासि मदनैकधुराशिकाभि-
र्हे देवि ! सेवितसुखा मुखवासिकाभिः ।
लब्ध्वा मुकन्दगुणमन्यजनाय नाम
मोहंकरीति तव संस्तवनं श्रयामः ॥ १२ ॥

त्वमित्यादि—हे देवि ! सुलोचने ! मदनैकधुरा कामोत्पत्तिकरणक्रियावती अन्यजनाय सर्वसाधारणाय मोहंकरी निद्रादायिनी स्वयं तु सेवितसुखा कृतारामा लब्धविश्रामा सती मुकुन्दगुणमेनं जयकुमारं मुकारस्य खं नाशस्तत्र वासिकाभिराशिकाभिरर्थात्तु कं सूर्यं ददाति सम्पादयतीति कन्दो दिवसस्तद्गुणमेनं लब्ध्वा त्वं वासुरा रात्रिरिवासि तथा रात्रिंदिनमनुसरति तथा त्वमेनमनुभवसीति । तथा हे देवि ! मदनैकधुस्त्वं मुकन्दगुणमेनं मुखवासिकाभिराशिकाभिरर्थात् कं सुखं ददातीति तद्गुणमेनं लब्ध्वा सेवितसुखा लब्धानन्दाऽथच सेवितं संपादितं सुकारस्य खं यया सा वासुरार्थात् वारा रलयोरभेदाद्बाला नवयौवनासि अन्यजनाय मोहंकरी, यद्वामुकमेनं दगुणं दातारं जयकुमारमित्यपि । तथा हे देवि ! मुखवासिकाभिराशिकाभिः सुवासनाभिरिति यावत्, कन्दगुणं कन्दानां पृथिवीतलस्य पदार्थानां गुणं लब्ध्वा मदनैकधुरा किलोन्मत्तताकरणकारणेनान्यजनाय मोहंकरी बुद्धिभ्रंशकारिणी सुरा मदिरेवासि त्वं । यद्वा मुकुन्दगुणं श्रीकृष्णसदृशमेनं लब्ध्वा मदनैकधुरा मदनस्य नाम प्रद्युम्नस्यैवैकस्य धुरा जन्मदात्री अन्यजनाय माया लक्ष्म्या ऊहं वितर्कं करोति सम्पादयतीति मोहंकरी त्वं मुखवासिका-

---

अर्थ—हे सुलोचना देवि ! तुम वासुरा—रात्रिके समान हो, क्योंकि जिस प्रकार रात्रि मदनैकधुरा—कामोत्पादक क्रियाओंसे सहित होती है, उसी प्रकार तुम भी नायक—पतिके हृदयमें कामोत्पादन करनेवाली हाव-भाव-विलास आदि क्रियाओंसे सहित हो । जिस प्रकार रात्रि, सेवितसुखा—विश्राम जन्य सुखको देनेवाली होती है, उसी प्रकार तुम भी सेवितसुखा—रति सुखका सेवन करनेवाली हो । जिस प्रकार रात्रि मुखवासिताभिः—मुकारके अभावसे सहित वासिता—अनुभूत आशिकाओं—सुखकारी संपदाओंसे सहित होती है, उसी प्रकार तुम भी मुखवासिता—गुरुजनोंके मुखमें वास करनेवाली अर्थात् उनके मुखसे उच्चरित होनेवाली आशिकाओं—आशीर्वादोंसे सहित हो । जिस प्रकार रात्रि कन्दानुसारिणी अर्थात् दिनका अनुगमन करने वाली है, उसी प्रकार तुम भी दगुण—दाताके गुणोंसे सहित अमुकं—इस जयकुमारको पाकर उसका अनुगमन करने वाली हो और जिस प्रकार रात्रि अन्यजन—सर्वसाधारण जनोंके लिये मोहंकरी—निद्रारूप मूर्च्छाको उत्पन्न करने वाली है, उसी प्रकार तुम भी अन्यजन—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



भिराशिकभिः 'भद्रं भवत्विति' वाचनाभिरिति सेवितमुखा सुरार्थाद्विवासि । एवं तव स्तवनं श्रयामो वयं तवानुचरा इति ॥ १२ ॥

एषोऽस्ति मङ्गलमयः समयः प्रभात-
स्तत्तेऽर्थिनीह वशिनः शशिनः प्रभातः ।
ऐच्छन्मुखश्रियमिवानधिकारितातः
बिम्बं पलाशदलतामयतेऽथवातः ॥१३॥

एष इत्यादि—हे वशिनो जितेन्द्रियस्य तवाधीनस्य च जयकुमारस्यार्थिनि ! इच्छावति ! शृणु इति शेषः। एष प्रभातनाम समयः मङ्गलमयः सर्वेषामेव कल्याणकारकोऽस्ति । इह चात एव शशिनश्चन्द्रस्य बिम्बं प्रभातः (पञ्चम्यास्तसिल्प्रत्ययः) पलाशदलतामयते पलाशपत्रवन्निष्प्रभमभूदिति किल । ते तव मुखश्रियं त्वदीयाननशोभामैच्छदभ्यवाञ्छदनधिकरितातोऽपि यतस्ते मुखसाम्यवाञ्छनेन तस्य कलङ्किनो जातुचिदधिकारो नास्तीति ॥१३॥

शाटीमिता कुसुमितामसकौ विभात-
सन्ध्याप्यवन्ध्यभवनाय सुभावितातः ।
मुञ्च क्षणं खलु विचक्षणदृक्तयात-
स्तामीश्वरः सफलयेदिति तं कृपातः ॥१४॥

शाटीत्यादि—हे देवि ! असकौ विभातसन्ध्यापि सुभावितातः सहजतया, वन्ध्या-

---

समस्तजनोंमें मोह-प्रीतिको उत्पन्न करने वाली हो। इसीलिये हम आपका स्तवन-गुणगान कर रहे हैं।

यहाँ संस्कृत टीकामें श्लेषका आश्रय लेकर वाला, सुरा तथा लक्ष्मी आदिका पक्ष लेकर श्लोककी व्याख्या की गई है। उन सब पक्षोंको संस्कृत टीकासे जानना चाहिये ॥१२॥

अर्थ—वशी-जितेन्द्रिय अथवा तुम्हारे अधीन रहने वाले जयकुमारकी इच्छा रखने वाली हे सुलोचना देवि ! सुनो, यह मङ्गलकारी प्रभात समय है। यतश्च चन्द्रमाके बिम्बने तुम्हारे मुखकी शोभा प्राप्त करना चाही थी, जबकि उसे इस प्रकारकी अधिकारिता नहीं थी, ततश्च अनधिकारिताके कारण ही वह प्रभाकी अपेक्षा पलाशदलताको प्राप्त हो रहा है, अर्थात् पलाश दलके समान निष्प्रभ हो गया है ॥१३॥

अर्थ—यह प्रभातसन्ध्या भी (पक्षमें सन्तानकी इच्छुक स्त्री) सहज स्वभावसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



रूपं न भवतीत्यवन्ध्यभवनं तस्मै सार्थकतानिमितमुत प्रसवभावसम्पत्त्यर्थमिति कुसुमितां कौसुम्भरागसंयुक्तां शाटीमिता प्राप्तास्ति खलु, पश्येति शेषः। तीर्थस्नाता स्त्री पतिसंयोगार्थमरुणवर्णां शाटीं परिदधाति तथासकौ सन्ध्यापि तावत्। अतः कारणात्तामीश्वरो जयकुमारस्तां प्रभातसन्ध्यामपि सफलयेत् स्वसंयोगेन सार्थिकां कुर्यात् सन्ध्यावन्दनां सम्पादयेदिति यावदिति हेतोस्त्वं विचक्षणदृक्तया भवती किल विचारशीला यतः समाजानुग्रहबुद्धया तं जयदेवनृपं क्षणं किञ्चित् समयमात्रं मुञ्च ॥१४॥

श्राद्धे यथावनिमहेश्वरि! विप्रजातः
पूर्णोदरः ससुरभिश्च विभाति वातः।
कोकोऽपि मङ्क्तवरो धृतमोदकोऽतः
सन्तोषिणां तु विनतिः कणकाय नोऽतः ॥१५॥

श्राद्ध इत्यादि—हे अवनिमहेश्वरि! महाराज्ञि! श्राद्धे श्रद्धापूर्वकदानकाले यथा विप्रजातो ब्राह्मणपुत्रः सुरभिणा धेन्वा सहितः पूर्णोदर इष्टभोजनेन संभृतोदरो भवति, तथासाविदानीं वातः पवनः ससुरभिः जलकमलप्रस्फुटभावात्सुगन्धयुक्तः पूर्णोदरो जलकणपरागसंग्रहयुक्तश्च विभाति। तथा मं पापं दुःखं वा गच्छन्ति ते मङ्क्ता दरिद्रिणस्तेषु वरः प्रधानोऽसौ वनितावियुक्तत्वात्कोकश्चक्रवाकपक्षी सोऽपि पुनरधुनात्र

---

सार्थकता प्राप्त करनेके लिये (पक्षमें बन्ध्यापन को दूर करनेके लिये) कुसुमानी रङ्गसे रंगी हुई लाल साड़ीको धारण कर चुकी है, इसलिये ईश्वर—राजा (पक्षमें वल्लभ) जयकुमार अपने संयोग—समीचीन योगदान (पक्षमें समागम) से उस प्रभात सन्ध्याको सफल कर सकें सन्ध्यावन्दनादिके द्वारा सार्थक कर सकें (पक्षमें सन्तानवती) कर सकें, अतः अपनी विचारशील दृष्टिके कारण क्षणभरके लिये उन्हें छोड़ दें।

**भावार्थ**—जिस प्रकार स्त्री चतुर्थ स्नानके अनन्तर बांझपनका दोष नष्ट करनेके लिये सहज स्वभावसे लाल साड़ी पहिनती है, उसी प्रकार सन्ध्याने भी अपनी निरर्थकताको नष्ट करनेके लिये छाई हुई लालीके बहाने लाल साड़ी पहिन रक्खी है, अतः उसे सार्थक करनेके लिये वल्लभ-जयकुमारको छोड़ें ॥१४॥

**अर्थ**—हे महाराज्ञि! जिस प्रकार श्राद्धमें ब्राह्मणपुत्र मनचाहा भोजन मिलनेसे पूर्णोदर और दक्षिणामें सुरभि-गायकी प्राप्त कर ससुरभि होता है, उसी प्रकार इस प्रभात वेलामें वायु भी जलकण तथा पुष्प परागसे युक्त होनेके कारण पूर्णोदर-पूर्णमध्य है तथा विकसित कमलोंकी सुगन्धसे सुगन्धित हो रहा है। यही नहीं दुःखियों अथवा दरिद्रोंमें प्रधान यह चक्रवाक पक्षी भी धृत-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



धृतमोदको धृतः सम्प्राप्तो मोद एव मोदकः प्रसन्नभावो येन स इति, पक्षे च धृतः संलब्धो मोदकः लड्डुको येनेति। नोऽस्माकं सन्तोषिणां तु पुनः कणकायैव धान्यकणार्थमेव कायात्मचिन्तनार्थमेव विनतिः प्रार्थनास्ति। प्रभातसमयत्वात्प्रबुद्धा भवती सामायिकादिप्रातःकालीनां क्रियां कुर्विति भावः ॥१५॥

कृत्स्नप्रपालननिमित्तमिहाङ्गिमातु-
स्त्वत्तोऽक्षतस्य तु परित्यजनं प्रयातुम्।
अभ्यागतो रविरुपात्तकरप्रसारः
कस्मात्तवापि महती दृढमुष्टितारम् ॥१६॥

कृत्स्नेत्यादि—इह प्रभातसमये त्वत्तोऽङ्गिमातुर्लक्ष्म्याः कृत्स्नपालननिमित्तं सकलप्रजापरिपालनार्थं तावत्। अक्षतस्य—अक्षस्याचारस्य परिपालनकर्ता यस्तस्याचारव्यवहारवतो जयकुमारस्य परित्यजनं प्रयातुम्, उपात्तकरप्रसारः स्फुटितकिरणकलापो रविरभ्यागतः सन्निकटतमोऽस्ति। पुनरपि तवेयमिदानीं महती दृढमुष्टिता निद्रितावस्था कस्मादस्ति? निद्रावस्थायां गाढमुष्टित्वात्। तथा कृत्स्नस्योदरस्य परिपालननिमित्तं परिपोषणार्थमक्षतस्य धान्यकणस्य परित्यजनं दानं प्रयातुं लब्धुमुपात्तकरप्रसारो विस्तारितहस्तोऽसौ रविनामाभ्यागतो मङ्गतोऽस्ति, पुनरपि तव दृढमुष्टिताऽनुदारता

---

मोदक—हर्षको प्राप्त अथवा लड्डुओंको प्राप्त हो रहा है, अतः हम सन्तोषी जनोंकी तो कणक—धान्यके कणों अथवा आत्मचिन्तनके लिये ही विनति—प्रार्थना है। अर्थात् सामायिक आदि प्रातःकाल सम्बन्धी क्रियाओंको कीजिये।

**भावार्थ**—श्रद्धापूर्वक किये जाने वाले दानमें ब्राह्मणपुत्रने भरपेट भोजन और दक्षिणामें गाय प्राप्त की तथा चक्रवाक पक्षी (पक्षमें दरिद्र भिखारी) ने मोदक लड्डू प्राप्त किये। हमलोग यतश्च संतोषी हैं, अतः अनाजके दानोंकी ही प्रार्थना करते हैं॥१५॥

**अर्थ**—हे देवि! जगत्की लक्ष्मी स्वरूप तुमसे सबका पालन करनेके निमित्त अक्षत—आचार-व्यवहारके पालक—जयकुमारका परित्याग प्राप्त करनेके लिये किरणोंके प्रसारसे मुक्त सूर्य निकटतम है, अर्थात् प्रार्थना करनेके लिये सम्मुख स्थित है, फिर भी इस समय तुम्हारी दृढमुष्टिता क्यों है? तुम मुट्ठी बांधे क्यों सो रही हो?

**अर्थान्तर**—कृत्स्न उदरका पालन करनेके निमित्त तुमसे अक्षत-चांवलोंका दान प्राप्त करनेके लिये रवि नामका भिखारी हाथ पसार कर आया है। फिर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


कस्मादस्ति ? 'आचारे व्यवहारे च चुल्लावक्षः समिष्यते' । 'पालने पालके तः स्यात्', 'कृत्स्नं स्यादुदरे जले' इति च विश्वलोचने ॥ १६ ॥

हे नाथ ! नाथ भवतो भवतोऽपि शस्य-
　　रूपस्य पश्य कथमद्य किलाशुभावः ।
सन्तृप्तये भवभृतां भवतात् समाय-
　　कायस्य यस्य बहुधान्यहितप्रभावः ॥१७॥

हे नाथेत्यादि—हे नाथ ! भवभृतामस्मदादीनां सन्तृप्तये सम्यगाजीवनमेव समाय एव कायो यस्य तस्य । अथ च समस्य प्रशान्तिपरिणामस्याय एव कायो यस्य तस्य महानुभावस्य सर्वदैवान्यहिताय परोपकाराय प्रभावोऽथवा बहुरनल्पो योऽसौ धान्यहित-प्रभावोऽभूदोदनरूपपरिणामो जातस्तस्यैव भवतस्तव भवतोऽपि[1] जन्मत एव शस्यरूपस्य प्रशंसनीयस्वरूपस्याथ च धान्यस्वरूपस्यापि किलाद्याशु[2]भावः शीघ्रपरिणामोऽथवा व्रीहिभावः कथमिव न भवतात् । प्रभातसमयत्वात् सामायिकक्रियार्थं शीघ्रमेवोत्थानं कर्तव्यमिति यावत् ॥ १७ ॥

मन्दाग्निरुग्युगभवद्दिननाथकान्ता
　　सन्दर्शितश्वयथुशार्वरमप्युपान्तात् ।
नेत्राण्यमूनि तिमिराख्यमथाप्यधू रे
　　दोषं किलौषधिपतौ प्रतियाति दूरे ॥१८॥

---

भी तुम्हारी दृढ़मुष्टिता—अनुदारता क्यों है ? मुट्ठी खोल कर उसे अक्षत क्यों नहीं देती हो ? ॥ १६ ॥

**अर्थ**—हे नाथ ! हम भवभृतां—जन्मधारी प्राणियों की तृप्तिके लिये सम्यक् परिपालन अथवा प्रशान्त परिणाम रूप शरीरसे सहित तथा भवतः—जन्मसे ही प्रशंसनीय रूपसे युक्त भवतः—आपका सदा अन्यजन हितकारी प्रभाव क्यों न हो ? अवश्य हो ।

**अर्थान्तर**—हे नाथ ! आप भवतः—जन्मसे ही शस्यरूप हैं—धन्यरूप हैं, सबको जीवित रखना ही जिसका काय—लक्ष्य है तथा धान्योंमें जिसका बहुत प्रभाव है, अर्थात् जो सर्वश्रेष्ठ धान्य माना जाता है, ऐसे आपका आशुभाव-धान्यरूप परिणाम क्यों न हो ? अवश्य हो ॥ १७ ॥

---

१. भवशब्दात्तसिल् प्रत्ययः । २. 'आशुर्व्रीहौ क्लीबं तु सत्वरे' इति विश्वलोचनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मन्दाग्नीत्यादि—इदानीं हे महानुभाव ! ओषधिपतौ चन्द्रमसि तथैव भिषग्वरे दूरे प्रतियाति सति अस्तप्रायतां गच्छति असन्निकटदेशं गते च दिननाथकान्ता नाम सूर्यकान्ता नाम मणि; सा मन्दाऽनधिकपरिणामाया अग्नेर्वह्ने रुग् रुचिस्तद्युगभवत् । अथ च दिननाथनामकमहाशस्यकान्ता स्त्री मन्दाग्निनामकरोगवती जाता । उपान्तादेव शार्वरं नाम तिमिरमिदं सन्दर्शितं श्वयथु स्थूलत्वमुत च शोथरोगो वा येन तदभवत् । अमूनि नेत्राणि पुनरप्यथ तिमिराख्यं दोषमधुः । अनवलोकनदशां तिमिरनामकरोगं वा प्रापुरिति । रेऽव्ययः खेदप्रदर्शने, अत एव नाशस्योप-समीपं गतो यो भावस्तस्मादुपान्ताद्वा ।। १८ ।।

शीताङ्गतां विचलतः पवनस्य पश्य
विस्फोटवत्त्वमधुना सलिलोद्भवस्य ।
संदृश्यतेऽवनितुजो विकृतः प्रलापः
मूर्च्छां कुमुद्वति उतैतितमामपाप ।।१९।।

शीताङ्गतामित्यादि—हे अपाप ! पुण्यात्मन् ! अधुना विचलतः पवनस्य शीताङ्गतां शीतलतां तथैव शीताङ्गनामरोगवत्तां पश्यावलोकय । सलिलोद्भवस्य कमलस्य विस्फोटवत्त्वं विकासभृत्त्वमुत विस्फोटकनामरोगवत्त्वं पश्य । अवनितुजोवृक्षस्य

---

अर्थ—हे महानुभाव ! अब ओषधिपति-चन्द्रमा दूर चला गया है—अस्त होनेके सन्मुख है, सूर्यकान्तमणि तुच्छ अग्निके समान निष्प्रभ हो गया है और विस्तारको दिखाने वाला शर्वर-अन्धकार उपान्त-नाशके निकट है, फिर भी ये नेत्र तिमिर नामक दोषको धारण कर रहे हैं, अर्थात् निद्रामें निमग्न हो अनवलोकन दशाको धारण कर रहे हैं, कुछ देख नहीं रहे हैं ।

अर्थान्तर—ओषधिपति-श्रेष्ठ वैद्यराजके दूर चले जाने पर सूर्यकी कान्ता-स्त्री मन्दाग्नि रोगसे युक्त हो गई है, अन्धकारको शोथका रोग हो गया है और उससे वह नष्ट हो रहा है तथा ये नेत्र तिमिर नामक रोग-रतोंधीको धारण करने लगे हैं, यह खेदकी बात है ।। १८ ।।

अर्थ—हे पुण्यात्मन् ! इस समय चलने वाली वायुकी शीताङ्गता-शीतलताको देखो (पक्षमें शीताङ्गनामक रोग विशेषको देखो), कमलकी विस्फोटता-विकसित अवस्थाको (पक्षमें विस्फोट नामक रोगको देखो), इधर वृक्षका विकृत-पक्षियोंके द्वारा किया हुआ प्रलाप-कलकल शब्द सुनाई दे रहा है, पक्षमें विकृत-दूषित प्रलाप-बकझक करने वाला रोग दिखाई दे रहा है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



विभिः कृतः पक्षिभिः कृतः प्रलापः कलकलशब्द उत विकृतः प्रलापनामरोगः सन्दृश्यते। ततः खेदादुत कुमुद्वती मूर्च्छां मुद्रणावस्थां मूर्च्छानामरोगं वेतितमाम् ॥ १९ ॥

यद्वा यथाभिरुचि सन्तमसं निशीय-
दम्भोरुहाणि मुकुलाञ्जलिभिर्निपीय।
नाथोद्वमन्ति तदजीर्णतयाधुनार-
मेतानि निर्यदलिवृन्दपदप्रकारम् ॥२०॥

यद्वेत्यादि—हे नाथ! अम्भोरुहाणि कमलानि निशि रात्रौ मुकुलाञ्जलिभिः कृत्वा यथाभिरुचि स्वेच्छानुसारमियद् बहुलतरं सन्तमसमन्धकारं निपीय पीत्वाऽधुना निर्यतामलीनां भ्रमराणां वृन्दः समूहस्तस्य पदं छद्मैव प्रकारो यस्य तदेतदजीर्णतयैव किलोद्वमन्ति प्रत्युद्गिलन्ति एतानि तानि कमलानीति ॥ २० ॥

यन्मीलितं सपदि कैरविणीभिराभिः
क्षीणा क्षपास्तमितमप्युत तारकाभिः।
संचिन्तयन् दयितदारतयेन्दुदेवः
प्राप्नोति पाण्डुवपुरित्यथवा शुचेव ॥२१॥

यदित्यादि—सपदि साम्प्रतमाभिः कैरविणीभिर्यत्किल मीलितं सम्मूर्छितं, क्षपा रात्रिः सा क्षीणाभूत् तारकाभिरुतास्तमितं मरणमवाप्तमित्यथवा चिन्तयत् दयिताः प्रियतमा दाराः स्त्रियो यस्य तद्भावेन। असाविन्दुदेवश्चन्द्रः शुचेव किल वपुः शरीरं पाण्डु श्वेतप्रायं प्राप्नोति ॥ २१ ॥

---

इन सब अनहोनी बातोंको देखकर ही मानों कुमुदिनी मूर्च्छा–मुद्रितदशा (पक्षमें मूर्च्छा नामक रोगको) अत्यधिक रूपसे प्राप्त हो रही है ॥ १९ ॥

अर्थ—हे नाथ। कमलोंने रात्रिमें कुड्मलरूपी अञ्जलियोंके द्वारा इच्छानुसार इतना अधिक अन्धकारका पान किया था कि अब वे ही कमल निकलने वाले भ्रमरोंके छलसे अजीर्णके रूपमें उसी अन्धकारको उगल रहे हैं ॥ २० ॥

अर्थ—चन्द्रमाके तीन स्त्रियाँ थीं—१ कुमुदिनी, २ रात्रि और ३ तारा। इनमेंसे इस समय कुमुदिनी मूर्च्छित हो गई, रात्रि नष्ट हो गई और तारा अस्तमित हो गई, मर गई! यतश्च चन्द्रमा स्त्रीप्रेमी था, अतः अपनी तथोक्त स्त्रियोंके विषयमें चिन्ता करता हुआ मानों शोकसे ही पाण्डु–श्वेत शरीरको प्राप्त हो रहा है ॥ २१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


विस्फूर्तिभृन्नृवर ! किन्नवदद्रुरेष
प्रागुत्थितो वियति शोणितकोपदेशः ।
श्रीसद्मनोऽनुभवतो मधुमेहपूर्ति
भो राजरुग्विजयिनस्तव भाति मूर्तिः ॥२२॥

विस्फूर्तीत्यादि—भो नृवर ! जयकुमार ! वियति गगने प्रागुत्थितः पूर्वदिशि सञ्जातः शोणित एव शोणितकोऽरुणवर्णस्तस्योपदेशः समस्ति । अत एवैष द्रुर्वृक्षो वीनां पक्षिणां स्फूर्तिभृत् यथोद्देशं कणभक्षणायोद्गमनचेष्टाकृत् किन्नास्ति किन्त्वस्त्येवेति त्वं वद कथय जानीहीति तात्पर्यार्थः । इह च पूर्ति विकासलक्षणामविकलतामनुभवतः श्रीसद्मनः पङ्कजस्य मधुनो मा लक्ष्मीः सम्पत्तिर्मकरन्दप्राप्तिरस्ति । राजश्चन्द्रस्य रुचिं कान्ति विजयते प्रहरतीति राजरुग्विजयी तस्य तव मूर्तिस्तु भाति रोचतेऽस्मभ्यमिति शेषः । तथा वियति शोणितस्य कोपदेशो रक्तप्रकोपः प्रागेवोत्थितः पूर्वस्मिन् काल एव संजातोऽधुना तु पुनरेष नवो नवीनश्चासौ दद्रुश्च कुष्ठविकारविशेषः, विस्फूर्तिभृत् समभिव्यतिमानस्ति । किमिति पृच्छाकरणे । यतः खलु राजरुजः क्षयरोगस्य विजयिनस्तव मूर्तिस्तावन्मधुमेहस्य नाम मूत्रमार्गरोगस्य पूर्तिमनुभवतः श्रीसद्मनो धनाढ्यजनस्यापि भाति किमुतान्येषां सर्वसाधारणरोगिणामिति ॥२२॥

---

**अर्थ**—हे नरप्रवर ! जयकुमार ! आकाशकी पूर्व दिशामें उठा जो यह लाल रंग दिख रहा है, वह क्या **विस्फूर्तिमान्**—पक्षियोंकी चहल-पहलसे युक्त द्रु—वृक्ष ही नहीं है ? यह कहो । अर्थात् यह लाल लाल पल्लवोंसे युक्त वृक्ष ही है और उसके आश्रयमें रहने वाले पक्षी दाना चुगनेके लिये इधर-उधर उड़ रहे हैं । इधर **पूर्ति**—पूर्ण विकासका अनुभव करने वाले **श्रीसद्म**—कमलके **मधु**—मकरन्दकी **मा**-लक्ष्मी सुशोभित हो रही है, अर्थात् खिले हुए कमलोंसे मकरन्द चू रहा है और इधर **राजरुग्विजयिनः**—चन्द्रमाकी कान्तिको जीतने वाला आपका शरीर सुशोभित हो रहा है, हम सबको रुचिकर हो रहा है । तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा निष्प्रभ हो रहा है और आपकी प्रभा बढ़ रही है ।

**अर्थान्तर**—इधर आकाशमें जो पूर्वकी ओर लाली दिख रही है, वह रक्तके प्रकोप से उत्पन्न निरन्तर बढ़ने वाली उसकी दद्रु—दाद क्या नहीं है ? अर्थात् है । और इधर **राजरुग्विजयी**—क्षयरोगपर विजय प्राप्त करने वाला आपका शरीर **मधुमेह**—मूत्रमार्गके रोग विशेषसे युक्त **श्रीसद्म**—धनाढ्य पुरुषोंको भी अच्छा लगा रहा है—काश, ऐसा शरीर हमें भी प्राप्त होता, फिर साधारण रोगियोंकी तो बात ही क्या है ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



चन्द्राश्मतः प्रचलदम्बुभरं चकोर-
दृग्भ्यां समादृतमनङ्गसुरूपचौर ।
कोकद्वयोक्तहृदयस्य तथैव वह्नि-
राप्नोति किन्न रविकान्तमणिः स्विदह्नि ॥२३॥

चन्द्राश्म इत्यादि—अनङ्गस्य कामदेवस्य यत् सुरूपं सौन्दर्यं तस्य चौरस्तत्सम्बुद्धौ, हे मदनादपि मनोहर जयकुमार ! चन्द्राश्मतश्चन्द्रकान्तमणितः प्रचलत्प्रक्षरत् चकोर-दृग्भ्यां जीवंजीवनयनाभ्यां समादृतं सम्मानितम् अम्बुभरं जलप्रवाहो यथा कोकद्वयस्य विरहसंतप्तस्य चक्रवाकमिथुनस्य यदुक्तं कथितं हृदयं तस्य यथा वह्निरभूत् संताप-दायकं जातम्, स्वित्पुनरह्नि दिवसे रविकान्तमणिः सूर्यकान्तमणिस्तथैव चन्द्रकान्तमणि-श्चोतत्सलिलमिव वह्निः किन्नाप्नोति ? विरहानलसंतप्तस्य चक्रवाकमिथुनस्य चन्द्रकान्त-मणिप्रक्षरज्जलमपि वह्निवत्संतापदायकमासीत् । दिवसे तु संयुक्तस्य चक्रवाकमिथुनस्य सूर्यकान्तमणिप्रस्फुटितोऽनलो न संतापदायको वर्तत इति भावः ॥२३॥

निर्यातु जातु न तमोऽप्यपराधकारि
स्त्रागभ्युदेति भगवान् स तमोपहारी ।
इत्यर्गलायितमुदारविचारतत्या
चक्राङ्गनाममिथुनेन न किं जगत्याम् ॥२४॥

निर्यात्वित्यादि—वियोगकारणात्तमश्चक्रवाकमिथुनस्यापराधिकारि । अपराधि तमो दृष्ट्वा चक्रवाकमिथुनं विचारयति—अपराधकार्येतत्तमो जातु न निर्यातु न पलाय-ताम्, तमोपहारी तिमिरापहारी स भगवान् ऐश्वर्यवान् सूर्यः स्त्राग् झटिति, अभ्युदेति सम्मुखमायाति, इत्युदारविचारतत्या विमर्शसरण्या चक्रवाकमिथुनेन रथाङ्गयुगलेन जगत्यां पृथिव्यां किं नार्गलायितमर्गलवदाचरितम् । यावन्न्यायाधिकारी न समागच्छति

---

**अर्थ**—रात्रिके समय चन्द्रकान्त मणिसे झरने वाला एवं चकोर पक्षीके नेत्रोंसे निकला जल जिस प्रकार चक्रवाक युगलको अग्नि रूप था, उस प्रकार दिनमें सूर्यकान्तमणि अग्नि रूप क्यों नहीं हो रहा है। तात्पर्य यह है कि विरही प्राणीको जल भी संतापकारी होता है और संयोगी प्राणीको अग्नि भी संताप-कारी नहीं होता ॥२३॥

**अर्थ**—यह अपराधकारी—हमारे वियोगको करने वाला अन्धकार कहीं भाग न जावे, अन्धकारको नष्ट करने वाला भगवान् सूर्य शीघ्र ही आने वाला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तावत् कश्चिद्यथापराधकारिणं गृहीत्वा रक्षति तथा चक्रवाकमिथुनमपि सूर्यागमनपर्यन्त-मपराधि तिमिरं ररक्षेति भावः ॥२४॥

एणीदृशां रतिरसप्रसरोपभुक्तैः
सम्मृष्टपत्त्रततिभिः शुचिभिः समुक्तैः ।
गण्डैस्तकैः प्रहसितः स कलङ्कराशि-
र्निर्जीर्णकोहलफलच्छविरेवमासीत् ॥२५॥

एणीदृशामित्यादि—रतिरसप्रसरेण रतिक्रीडासमूहेन उपभुक्तैश्चुम्बनादिविधिं प्राप्तैरत एव सम्मृष्टाः प्रोच्छिताः पत्त्रततयोऽगुरुचन्दनाविकृतरचनाविशेषा येषां तैः, शुचिभिरुज्ज्वलैः शिरोऽवस्रंसिनीभिर्मुक्ताभिः सहितत्वेन समुक्तैः, एणीदृशां मृगाक्षीणां स्त्रीणां तकैः प्रसिद्धैः गण्डैः कपोलैः प्रकर्षेण हसितः स प्रसिद्धः कलङ्कराशिश्चन्द्रः सम्प्रति प्रातः निर्जीर्णं यत्कोहलफलं मधूकफलं तस्य छविरिव छविर्यस्य तथाभूत आसीत् । चन्द्रो दीप्तिरहितो जात इत्यर्थः ॥२५॥

तां पुष्पिणीं व्रततिमभ्युपगम्य सम्यक्
शुद्धेन तेन पयसा प्लवनं वरं यः ।
सम्प्राप्तवान्न पुनरप्युपसर्ग एष
स्यान्मन्दमित्यमनिलश्चरति प्रगे सः ॥२६॥

तामित्यादि—पुष्पिणी कुसुमोपेतां रजस्वलां वा व्रततिं लतां स्त्रियं वा अभ्युपगम्य संस्पृश्य सेवित्वा च शुद्धेन विमलेन तेन प्रसिद्धेन पयसा तीर्थोदकेनेति यावत्-सम्यक् शोभनरीत्या वरं श्रेष्ठं मस्तकपर्यन्तमित्यर्थः, प्लवनं स्नानं सम्प्राप्तवान् योऽनिलो न विद्यत

---

है, इस विचार संततिसे क्या चकवा-चकवीका युगल पृथिवीमें अन्धकारको रोकनेके लिये अर्गलके समान नहीं हुआ था ? अवश्य हुआ था ॥२४॥

**अर्थ**—रतिक्रीड़ाके समय चुम्बनादिके कारण जिनके वेलबूटे साफ हो गये हैं तथा जो मस्तकसे लटकने वाले मोतियोंसे सहित हैं, ऐसे स्त्रियोंके कपोलोंसे हास्यको प्राप्त हुआ वह कलङ्की चन्द्रमा इस समय मसले हुए महुआके फलके समान कान्तिरहित हो गया है ॥२५॥

**अर्थ**—पुष्पित लता (पक्षमें रजस्वला स्त्री)का संपर्क पाकर जो शुद्ध जलसे अच्छी तरह स्नानको प्राप्त हुआ था ऐसा पवन यह सोचकर कि यह झंझट पुनः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



इला पृथिवी यस्य तथाभूतः सदागगनविहारीत्यर्थः, पवनः पुनरपि भूयोऽपि एष रजस्वलाविसंस्पर्शजन्य उपसर्ग उपद्रवो न स्यादिति हेतोः स प्रगे प्रातःकाले मन्दं यथा स्यात्तथा चरतीत्युत्प्रेक्षा । सुगन्धिः शीतलो मन्दश्च वायुर्वहतीत्यर्थः ॥२६॥

किञ्चाहतः स्तनतटैर्निपतन् विलग्ने
योषाजनस्य परिवर्तितनाभिदघ्ने ।
रुद्धो नितम्बशिखरैरिति सम्प्रबुद्धो
मन्दं प्रयाति पवनः स पुनस्तु शुद्धः ॥२७॥

किञ्चेत्यादि—पवनस्य मन्दतायामन्यदपि कारणं विद्यत इत्याह—किञ्चेति । स पवनो योषाजनस्य स्तनतटैः कुचाग्रैराहतस्ताडितो विलग्ने कटिप्रदेशे निपतन् पतनं कुर्वन्, परिवर्तितो नाभिदघ्नो नाभिपर्यन्तभागो येन सः, वस्त्रोत्थापनादिक्रिययेत्यर्थः, तथाभूतः, नितम्बशिखरैः स्थूलनितम्बै रुद्धः कृतावरोधः पुनस्तु योषाजनकृतोपद्रवोऽपि शुद्धो निर्दोषो विकारशून्य इति यावत्, सम्प्रबुद्धः प्रकृष्टबोधयुक्तः पवनो मन्दं यथा स्यात् प्रयाति । उत्प्रेक्षा ॥२७॥

सम्पल्लवं कविरिवाब्जततिः प्रभाते
सम्पल्लवं प्रतिरवेर्लभते यथा ते ।
वाचालतां निशि जगाम तमश्चमूक-
स्तस्मादुलूकतनयात् कतमश्च मूकः ॥२८॥

सम्पल्लवमित्यादि—यथा ते तव भूपालस्य सम्पल्लवं विभूतिभावं प्रति कविरसौ काव्यकर्ता सम्पल्लवं समीचीनवचनांशं लभते, तथैवाब्जततिः कमलपंक्तिरपि प्रभातेऽस्मिन् रवेः सम्पल्लवं सम्यक्प्रकारपादप्रक्षेपं प्रति सम्पल्लवं समीचीनं पल्लवं पत्रं विकासभावाल्लभते । यथा कवयस्ते श्लाघां कुर्वन्ति तथा सूर्यस्य कमलानीति भावः । अत्र च तमसोऽ-

---

प्राप्त न हो, प्रातःकालके समय धीरे-धीरे चल रहा है। तात्पर्य यह है कि इस प्रभात वेलामें सुगन्धित, शीतल और मन्द वायु बह रही है ॥२६॥

**अर्थ**—दूसरी बात यह है कि यद्यपि पवन स्त्रीजनोंके स्तनतटोंसे ताड़ित हुआ, उसे उनके कटिप्रदेशपर गिरना पड़ा, नाभितकके प्रदेशोंमें घूमना पड़ा और नितम्ब शिखरोंसे अवरुद्ध होना पड़ा, फिर भी वह चूंकि सम्प्रबुद्ध–ज्ञानवान् था, अतः शुद्ध निर्विकार रहकर धीरे-धीरे चल रहा है ॥२७॥

**अर्थ**—हे राजन् ! जिस प्रकार कवि आपके संपल्लव (संपत् + लव) विभूतिके अंशका वर्णन करनेके लिये संपल्लव (संपद + लव) समीचीन पदोंके अंशको प्राप्त करता है, उसी प्रकार कमलसमूह सूर्यको संपल्लव–समीचीन पदनिक्षेपकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



न्धकारस्य चमूः सेना तत एव कं सुखं यस्य स, निशि रात्रौ वाचालतां वावदूकत्वं जगाम। तस्मादुलूकतनयात् पुनरन्यः कतमो जनो यो मूको भवेत् किलास्मिन् मङ्गलसमये न स्वस्तिवचनं कुर्यादिति ॥२८॥

श्रीकैरवेषु तु दलैर्विनमद्भिरेव-
मभ्युन्नमद्भिरिव वारिरुहेषु देव !
तं सन्दधत्सु परिणाममपूर्णमारात्
तुल्यत्वमञ्चति मिलिन्द इहाधिकारात् ॥२९॥

श्रीकैरवेष्वित्यादि—हे देव ! विनमद्भिर्मुद्रणभावमाव्रजद्भिर्दलैश्छदनैस्तैः श्रीकैरवेषु रात्रिविकासिकमलेषु तथैवमेवाभ्युन्नमद्भिर्विकासभावं गच्छद्भिस्तैर्दलैर्वारिरुहेष्वरविन्देषु आरात् तमपूर्णमपर्याप्तं परिणामं सन्दधत्सु इह प्रभातसमयेऽधिकारान्मिलिन्दः षट्पदस्तुल्यत्वमञ्चति समानभावमेति ॥२९॥

आदित्यसूक्तविपदोपहतप्रकारं
हे धीश्वरासुरहितं सहसान्धकारम् ।
दृष्ट्वैव नालदलसद्धसितं विभाति
शोच्या तथास्ति कुमुदस्य तु मौनजातिः ॥३०॥

आदित्येत्यादि—हे धीश्वर ! बुद्धिमन् ! यद्वा हे अधीश्वर ! स्वामिन् ! सहसा-

---

अपेक्षा उसके संपल्लव-समीचीन पत्र विकासको प्राप्त होता है। अर्थात् सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे कमलकी कलिकाएँ विकासको प्राप्त हो रही हैं और चूंकि तमश्चमूक-अन्धकारकी सेनासे क-सुखका अनुभव करने वाला उलूक पक्षी रात्रिमें वाचालताको प्राप्त होता है-अत्यधिक बोलता है, अतः इस प्रभातके समय उलूकपुत्र-उल्लूके बच्चेके सिवाय दूसरा कौन मूक है, चुप बैठा है, अर्थात् कोई नहीं। तात्पर्य यह है कि सभी लोग स्वस्तिपाठ कर रहे हैं। केवल उलूक पुत्र-उल्लूके बच्चे-मूर्ख ही चुप बैठे हैं ॥२८॥

**अर्थ**—हे देव ! इस समय कुमुद-मुद्रणभावको प्राप्त होनेवाले और कमल, विकसित भावको प्राप्त होनेवाले पत्रों-कलिकाओंसे एक समान अपूर्ण विकसित अवस्थाको प्राप्त हो रहे हैं, अतः अधिकारकी अपेक्षा भ्रमर उन दोनोंमें तुल्य-भावको-मध्यस्थ भावको प्राप्त हो रहा है।

**भावार्थ**—इस समय कुमुद न पूर्णरूपसे निमीलित हुए हैं और न कमल पूर्णरूपसे उन्मीलित-विकसित हुए हैं, अतः एक सदृश अवस्था होनेसे भ्रमर दोनोंमें समान भावको प्राप्त हो रहा है ॥२९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



ऽकस्मात् स्वसाहसेन वाऽसुरहितमसुभिः प्राणै रहितमुतासुरेभ्यो हितं तमन्धकारं नाम तिमिरमुतान्धकारं नाम दैत्यं, कीदृशं तम् ? आदित्यसूक्तविपदोपहतप्रकारम् आदित्यस्य सूर्यस्य सूक्तं स्तवनं यत्र तेषां वीनां पक्षिणां पदैर्वाग्विन्यासैश्चरणन्यासैर्वा पक्षे आदित्यैर्देवैः सूक्ता प्रक्लृप्ता या विपत् तयोपहतो व्यापन्नः प्रकारो यस्य तं तादृशमन्धकारं दृष्ट्वैव खलु नालदलसद्धसितं नलस्य कमलस्यामी नाला ये दलाः पत्राणि तेषां सत्प्रशंसनीयं हसितं स्फुरणमुत रलयोरभेदान्नारदस्य लसद्धसितं हास्यं प्रसन्नताहेतुकं विभाति तथा कुमुदस्य नाम चन्द्रविकासिनो वारिजातस्य मौनजातिर्मुद्रणमुत कुमदनामदैत्यस्यावाग्भवनदशासौ शोच्या शोचनीयास्ति ॥३०॥

भीतेर्भरं तु कुलटाहृदयेऽवशिष्टं
घूकस्य लोचनयुगे तिमिरं प्रविष्टम् ।
बिम्बं रवेरुदयेनेन सता विशिष्टं
पश्येह मञ्जुलमहो नरनाथ दिष्टम् ॥३१॥

**भीतेरियतादि**—अहो नरनाथ ! साम्प्रतं भीतेर्भयस्य भरं समूहः कुलटाया इत्वरिकाया हृदयेऽवशिष्टमवस्थितम्, याः कुलटा रात्रौ निर्भयं व्यचरंस्ताः सूर्योदये सति भीता जाता इति भावः । तिमिरं ध्वान्तं तु घूकस्य दिवान्धस्य लोचनयुगे नयनयुग्मे प्रविष्टम्, साम्प्रतं तिमिरं नष्टमिति यावत् । रवेः सूर्यस्य बिम्बं मण्डलं सता प्रशस्तेनोदयनेन विशिष्टं युक्तं जातम् । इत्थमिह मञ्जुलं मनोहरं दिष्टं कालं पश्य विलोकय ॥३१॥

---

**अर्थ**—हे बुद्धिमन् ! अथवा हे अधीश्वर ! आदित्य–सूर्यके सूक्त–स्तवनसे युक्त वि–पक्षियोंके पद–कलकल वाग्विन्याससे जिसकी प्रगति रुक गई है ऐसे अन्धकारको अकस्मात् असुरहित–निष्प्राण देखकर ही कमल पत्रोंका समीचीन विकास सुशोभित हो रहा है और कुमुदकी स्थिति मौनजाति–शोचनीय हो गई है ।

**अर्थान्तर**—असुरहित–असुरोंके लिये हितकारी अन्धकार–अन्धकासुरको आदित्य–देव कृत विपत्तिसे विनष्ट हुआ देखकर ही नारदजीका मनोहर हास्य विकसित हो रहा है और कुमुद नामक दैत्यकी मौनावस्था शोचनीय हो गई है, शोभा रहित हो गई है ॥३०॥

**अर्थ**—अहो राजन् ! इस समय भयका समूह व्यभिचारिणी स्त्रीके हृदयमें अवस्थित है, अन्धकार उल्लूके दोनों नेत्रोंमें प्रविष्ट हो गया है और सूर्यका बिम्ब सुन्दर उदयसे युक्त है । आप इस सुन्दर प्रातर्वेलाको देखिये ॥३१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



भास्वानसौ क्वचन यापितसर्वरात्रि-
रम्भोजिनीं विरहतोऽप्यतिदीनगात्रीम् ।
अङ्गीकरोति किल सम्भवता रसेन
तां सानुरागकरचारकलावशेन ॥३२॥

भास्वानित्यादि—क्वचनान्यत्रापरिचितस्थाने यापिता व्यतीता सर्वा रात्रिर्यस्य सोऽसौ भास्वान् सूर्योऽपि पुनर्विरहतो वियोगाद्धेतोरतिदीनगात्रीं म्लानप्रायशरीराम्मभोजिनीं कमलवल्लीं तामिमां, सानावुदयनामपर्वतदेशे रागकरोऽरुणिमसम्पादकश्चार उद्गमनप्रकारस्तस्य तत्र वा या कला भागस्तद्वशेन, अथवानुरागेण प्रेम्णा सहितः सानुरागः स चासौ करस्य हस्तस्य चार आलिङ्गनविशेषस्तस्य तत्र वा या कला चतुरता तद्वशेन सम्भवता यथोचितेन रसेनाङ्गीकरोति किल ॥३२॥

धिग्वारुणीमनुभवन्विनिपातमेति
योऽस्मत्सकाश उदयं विधुराप चेति ।
भासौ घृणापरकयेन्द्रदिशाशु वन्त-
वासः परावृतममुष्य समस्तु सन्तः ॥३३॥[1]

धिगित्यादि—हे सन्तः ? असौ भा शोणिमच्छविः कुतो जाता तद्वदामि । यत्किल यो विधुश्चन्द्रोऽस्मत्सकाशे मम सन्निधावुदयमुद्गमनमुन्नतत्वं चाप लब्धवान् स एव वारुणीं दिशां पश्चिमामनुभवन् तामनुगच्छन्निदानीमथवा वारुणीं मदिरामनुभवन् पिबन्

---

अर्थ—जिसने कहीं अन्यत्र पूर्णरात्रि व्यतीत की थी ऐसा सूर्य (पक्षमें नायक) विरहसे अत्यन्त दीन शरीर वाली कमलिनी (पक्षमें नायिका) को पर्वतशिखरपर लालिमा बिखेरने वाली किरणोंके उद्गमन सम्बन्धी कलाके वशसे (पक्षमें अनुराग सहित कर—हाथके संचार सम्बन्धी चतुराईके वशसे अङ्गीकृत कर रहा है—अपना रहा है ॥३२॥

अर्थ—हे सत्पुरुषो ! पूर्वदिशामें जो यह लालकान्ति फैल रही है यह किससे उत्पन्न हुई ? मैं कहता हूँ सुनो, पूर्वदिशा सोचती है कि जो चन्द्रमा हमारे सन्निधानमें उदय (पक्षमें उन्नतदशा) को प्राप्त हुआ वही वारुणी—पश्चिम दिशा (पक्षमें मदिरा) का सेवन—(पक्षमें पान) करता हुआ विनिपात-अधोगमन

---

१. एतस्य पाठान्तरम् अस्मत्सकाशमसको विधुरभ्युदेति, स्राग्वारुणीमनुभवन्विनिपातमेति । प्राच्या परावृतपुनीतरदच्छदाया, यद्भास्तिकान्तिरयिनाथ घृणापरायाः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सन् विनिपातमधःपतनमस्तभावं चेति समाप्नोतीति धिगिति घृणापरकयेन्द्रदिशा प्राच्याशु शीघ्रमेव वन्तवासः स्वकीयमधरनामकमङ्गं परावृतमुद्दलितममुष्यैव समस्ति कान्तिः ॥३३॥

उच्चैस्तनोदयगिरौ करकृत्तु पूषा
शस्तानुरागभृदहो वियदेकभूषा ।
विद्मः स्फुरत्तरनखक्षतसंविधानं
प्राच्या उरस्यवनिराडिति शोणिमानम् ॥३४॥

उच्चैरित्यादि—हे अवनिराट् राजन् जयकुमार ! वियत आकाशस्यैकानन्या यासौ भूषालङ्करणभूमिः पूषा सूर्यः सोऽधुना शस्तानुरागभृत् समस्ति प्रशस्तमनुरागं रक्तपरिणाम-युतप्रेमभावं बिर्भात । तत उच्चैस्तनाऽतिशयोच्छ्रायरूपो योऽसावुदयनामगिरिः पर्वतस्तस्मिन् करकृत् किरणक्षेपको भवति तथोच्चैस्तन एवोदयगिरिस्तस्मिन् करकृद्धस्तक्षेपकरः । तत एव कारणात् प्राच्याः पूर्वदिशाया उरसि वक्षःस्थले स्फुरत्तरं प्रस्फुटितप्रायं नखक्षतस्य संविधानं यत्र तमेनं शोणिमानं विद्मो जानीमहे वयमिति ॥३४॥

स्नाता सुधाकररुचां निचयैर्दिगेषा
प्राची स्वमूर्ध्नि खलु हिङ्गुलुलेखलेशा ।
भास्वत्सुवर्णकलशं तु गृहीतुकामा
त्वन्मङ्गलाय परिभाति विभो ललामा ॥३५॥

स्नातेत्यादि—हे विभो ! हे स्वामिन् ! सुधाकरश्चन्द्रस्तस्य रुचां किरणानां कान्तीनां वा निचयैः समूहैः स्नाता कृतस्नाना ललामाभरणभूता एषा प्राची दिक् पूर्वदिशा स्वमूर्ध्नि स्वशिरसि स्वकीयभाल इति यावत्, हिङ्गुलू रक्तवर्णपदार्थविशेषः (इंगुर इति प्रसिद्धः), तस्य

---

(पक्षमें पतन) को प्राप्त हो रहा है, इसे धिक्कार हो, यह सोचकर घृणा करनेमें तत्पर पूर्वदिशारूप स्त्रीने अपना अधरोष्ठ फुलाया, उसीसे यह लाल कान्ति उत्पन्न हुई है ॥३३॥

**अर्थ**—हे राजन् ! आकाशके अद्वितीय अलंकाररूप सूर्यने प्रशस्त अनुराग-लालिमा (पक्षमें प्रेम) से युक्त हो अत्यन्त ऊँचे उदयगिरिपर करप्रक्षेप किया किरणोंका संचार किया (पक्षमें उन्नतस्तनरूपी उदयाचलपर करप्रक्षेप-हाथ-का संचार किया। हस्तसंचारके समय जो स्पष्ट नखक्षत किये, उन्हींसे यह लालिमा है, यह हम जानते हैं ॥३४॥

**अर्थ**—हे स्वामिन् ! जिसने चन्द्रमाकी किरणोंके समूहसे स्नान किया है



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



लेखस्य लेशस्तिलकरूपो विद्यते यस्यास्तथाभूता सती तव मङ्गलं तस्मै तावकीनं मङ्गलाचारं कर्तुमित्यर्थः। भास्वानेव सुवर्णकलशस्तं सूर्यरूपकाञ्चनकलशं गृहीतुकामा मातुमना इव परिभाति शोभते ॥३५॥

यात्येकतोऽपि तु कुतोऽपि विरज्य राज-
न्यात्माधिपेऽपरदिशां प्रतियाति राजन् ।
सत्पुष्पतल्पमसकौ रजनी दलित्वा
रोषारुणा विकृतवाग्भरतश्छलित्वा ॥३६॥

यातीत्यादि—हे राजन् ! कुतोऽपि कारणाद्विरज्य द्वेषमासाद्यात्माधिपे राजनि चन्द्रमसि अपरदिशां पश्चिमामाशामुताननुकूलां दिशं प्रति याति सति असकौ रजनी रात्रिः, रोषेणेवारुणा रोषारुणा प्राभातिकमरुणिमानं रोषकृतमुत्प्रेक्षते कविरिति। विभिः पक्षिभिः कृतं वाग्भरमुत विकृतमाक्रोशात्मकं वाग्भरं ततश्छलित्वा सतां नक्षत्राणामेव पुष्पाणां तल्पं शय्यातलं दलित्वा पादमर्दितं कृत्वापि तु पुनरेकतोऽन्यत्र याति गच्छति ॥३६

सद्वृत्तिरञ्चति निशाशनकैः प्रहाणि-
मप्येवमञ्चति यज्जलजस्य वाणी ।
कश्चिन्नभोऽदय इहास्ति विचारभावा-
च्छ्रीवर्द्धमानतरणेरुचिता प्रभा वा ॥३७॥

सद्वृत्तिरित्यादि—सतां नक्षत्राणां वृत्तिर्यत्र सा निशा शनैरेव शनकैस्तथा न भवतीत्यशनकैः शीघ्रमेव प्रहाणिमभावमञ्चति, अथवा सतां सज्जनानां वृत्तिः सदाचारो निशायामशनकैर्भोजनैः प्रहाणिमभावमञ्चति। एवं यद् यस्मात् कारणाज्जलजस्यापि

---

तथा ललाटपर इंगुलका तिलक लगा रक्खा है, ऐसी आभूषण स्वरूप यह पूर्व दिशा आपके मङ्गलके लिये अपने मस्तकपर सूर्यरूप कलशको रखनेके लिये उत्सुक जान पड़ती है ॥३५॥

**अर्थ**—अपना पति चन्द्रमा जब किसी कारणसे नाराज हो पश्चिम दिशाकी ओर चला गया, तब यह रात्रि क्रोधसे लाल हो पक्षियोक कलरवके बहाने बकझक करने लगी और नक्षत्ररूपी फूलोंकी सेजको नष्टभ्रष्टकर एक ओर—एकान्तम चली गई ॥३६॥

**अर्थ**—हे विभो ! इस समय सद्वृत्ति—नक्षत्रोंके सद्भावसे युक्त रात्रि शीघ्र ही नाशको प्राप्त हो रही है, कमलोंकी अणी—अग्रभाग समुन्नत हो रही है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वाऽणी कमलस्याग्रदेश उञ्चति स्फुटीभवितुमुद्गच्छति । किं च जलजस्य डलयोरभेदाज्जडजस्य मूर्खजनबालकस्यापि वाणी वागुच्चलति प्रव्यक्ता भवति । तस्मादिह लोके भानां तारकाणामुदयः कश्चिदपि नास्ति । यद्वा भो इति सम्बोधनात्मकमव्ययं मत्वा पुनरदयो दयाहीनः कश्चिदपि जनो न भाति । विचारस्य पक्षिसंचारस्योत मनस्कारस्य भावाद्धेतोः श्रीवर्द्धमान उद्गमनशीलो यस्तरणिः सूर्यस्तस्योचिता योग्या प्रभा कान्तिरुत श्रीवर्द्धमानोऽन्तिमस्तीर्थंकृत् स एव तरणिः सूर्य इव तस्य प्रभा वा रुचिता स्वीकृता भवतीति ॥३७॥

चन्द्रोऽस्पृशत्कमलिनीमहसत्कमोदि-
न्येतद्द्वयेऽरुणदृगर्यमराड् विनोदिन् ।
स्रागभ्युदेति किल तेन कुमुद्वतीयं
मौनिन्यभूच्छशभृदेति च शोचनीयम् ॥३८॥

चन्द्र इत्यादि—हे विनोदिन् ! विनोदरसिक राजन् ! चन्द्रः कमलिनीमब्जिनीमस्पृशत् पस्पर्श, के जले मोदत इत्येवं शीला कमोदिनी कैरविणी अहसत् जहास, परस्त्रीस्पर्शकरं स्वपतिं दृष्ट्वा मात्सर्येण जहासेति यावत् । एतयोरनुचितकार्ययोर्द्वयं तस्मिन् अरुणदृग् कोपारुणितलोचनः अर्यमा सूर्य एव राट् राजा स्राग् झगिति अभ्युदेति सम्मुखमागच्छति । तेन किलेयं कमोदिनी कुमुदिनी कुमुद्वती कुत्सिता मुद् हर्षो विद्यते यस्यास्तथा-

---

विकसित हो रही है, नक्षत्रोंका कुछ भी उदय नहीं है–एक भी भ–नक्षत्र विद्यमान नहीं है, सर्वत्र विचारभाव–पक्षियोंके संचारका सद्भाव है और शोभासे बढ़ते हुए तरणि–सूर्यकी उचित–योग्य प्रभा दीप्ति विस्तृत हो रही है ॥३७॥

**अर्थान्तर**—इस समय सद्वृत्ति–रात्रि भोजन त्याग आदि सत्पुरुषोंका आचरण अशनक–रात्रिभोजी पुरुषोंके द्वारा नाशको प्राप्त हो रहा है, जलजा–मूर्ख पुत्रोंकी वाणी प्रभावको प्राप्त हो रही है। यहाँ कौन अदय–दयाहीन नहीं है–सर्वत्र दयाका अभाव दिख रहा है। इस प्रकारके विचारसे अनन्त चतुष्टयरूपी लक्ष्मीसे युक्त श्रीवर्धमान स्वामीकी प्रभाका विस्तार अथच जन्म लेना उचित ही है, क्योंकि अधर्मका विस्तार होनेपर उसका नाश करनेके लिये तीर्थंकर भगवान् का जन्म होता ही है ॥३७॥

**अर्थ**—हे विनोदरसिक ! चन्द्रमाने कमलिनीका स्पर्श किया, यह देख कुमुदिनीने हँस दिया। इन दोनों कार्योंपर क्रोधसे लाल-लाल नेत्र करता हुआ सूर्यरूपी राजा शीघ्र ही उदयको प्राप्त हो रहा है। इससे कुमुदिनी तो मौन लेकर बैठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



भूता सती मौनिनी मौनयुक्ता निमीलिता जाता शशभृच्चन्द्रश्च शोचनीयं दैन्यमेति किलोत्प्रेक्षायाम् ॥३८॥

रात्रीमुचेऽमलरुचे विरहं विहाय
सन्तप्ततां द्युमणिसन्मणये तथा यत् ।
श्रीचक्रवाकमिथुनं मिलतीदमद्य
राजन् मुदश्रुझरसंस्नपनं प्रपद्य ॥३९॥

रात्रीमुच इत्यादि—हे राजन् ! यत्किल श्रीचक्रवाकमिथुनमस्ति तदद्यामलरुचे उज्ज्वलकिरणाय चन्द्रमसे रात्रीं मुञ्चति परित्यजतीति रात्रिमुक्तस्मै तु विरहं वियोगं संतप्ततां च द्युमणिसन्मणये सूर्यकान्तोत्तमरत्नाय विहाय त्यक्त्वा मुदश्रुझरेण प्रसन्नता-सूचकनयनजलप्रवाहेण च संस्नपनं प्रपद्य परस्परं मिलति । तौ च सूर्यकान्तचन्द्रमसौ सज्जनरूपावतस्तत्स्वीकुरुतः, परदुःखहरणस्वभाववत्वात् । यद्वाऽमलरुचे समुज्ज्वलमनसे जनाय सत्सुमणिरूपाय सज्जनराजाय विरहसन्तप्ततानामकवस्तुद्वयं विहाय दत्त्वा चक्रवाकमिथुनं मिलति सत्समागमे यत्किञ्चिदप्यात्मीयं वस्तु दत्त्वैव सम्मेलनं क्रियत इति समाचारः सत्सम्मेलनं जातमिदानीमिति यावत् ॥३९॥

---

गई—पूनिमीलित हो गई और चन्द्रमा दीन दशाको प्राप्त हो रहा है ॥३८॥

**अर्थ**—हे राजन् ! यह जो चकवा-चकवीका जोड़ा है, वह रात्रिको छोड़ने वाले तथा उज्ज्वल कान्तिके धारक चन्द्रमाको अपना विरह और सन्मणि—सज्जनोत्तम (पक्षमें नक्षत्रोत्तम) सूर्यके लिये अपनी सन्तप्त दशा देकर हर्षाश्रुओंके झरनेमें अच्छी तरह स्नानकर इस समय मिल रहा है ।

**भावार्थ**—चकवा-चकवीका युगल रातभर विरह एवं संतप्त दशासे दुःखी रहा। प्रातःकाल जब चन्द्रमा रात्रिको छोड़कर जाने लगा तब उसने उसके लिये अपना विरह सौंप दिया—तुम भी हमारी तरह रात्रिके विरहका अनुभव करो और सूर्य जब उदित हुआ तब उसके लिये अपनी संतप्त दशा दे दी—तुम भी दिनभर संतप्त दशाका अनुभव करो। यतश्च चन्द्रमा अमलरुक्—उज्ज्वल रुचि वाला था और सूर्य सन्मणि—सज्जनोंमें मणिके समान श्रेष्ठ था, इसलिये दोनोंने उनके विरह और संतापको लेकर स्वयं विरह और संतापका अनुभव किया। चन्द्रमा और सूर्यकी इस उदारतासे चकवा—चकवीके नेत्रोंसे हर्षाश्रुओं का झरना बहने लगा। उस झरनेमें अच्छी तरह स्नानकर दोनों मिल रहे हैं ॥३९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तारापतिर्हि नलिनीर्मलिनीर्विधाय
　　तत्प्रीतिदेऽभ्युदयतीह न संविधा यत् ।
तारा निगुह्य सहसास्तगिरिं प्रयाता
　　जिह्रेति तत्करगताः कति वीक्ष्य वा ताः ॥४०॥

तारापतिरित्यादि—ताराणां पतिश्चन्द्रमा नलिनीः कमलवल्लीर्मलिनीर्मुद्रिततया म्लानरूपा विधाय रात्रावधुना पुनस्तासां कमलिनीनां प्रीतिदे सूर्येऽभ्युदयति सम्पन्नभावं गच्छति सतीह यद् यस्मात्कारणात् संविधा निवसनयोग्यता नास्ति, तदिदं मनसि कृत्वा सहसा तारा निगुह्य संगोप्य स्वयमस्तगिरिं प्रयाता चरमाचलं गतवान्, सोऽसौ तास्ताराः कतिचित्संख्याकास्तत्करगतास्तस्य सूर्यस्य करे प्रकाशे हस्ते च गच्छन्ति पतन्तीति तत्करगता वीक्ष्य जिह्रेति चिन्तितो भवति लज्जते वा । हीत्युत्प्रेक्षायां समस्ति ॥४०॥

निःस्नेहजीवनतयापि तु दीपकस्य
　　संशोच्यतामुपगतास्ति दशा प्रशस्य ।
संघूर्ण्यमानशिरसः पलितप्रभस्य
　　यद्वन्मनुष्यवपुषो जरसान्वितस्य ॥४१॥

निःस्नेहेत्यादि—हे प्रशस्य ! प्रजाजनैरखिललोकैः श्लाघनीय ! जरसान्वितस्य वृद्धस्य मनुष्यवपुषो नरशरीरस्य यद्वत्तद्वत् दीपकस्यापि पलितप्रभस्य पलभावं क्षणिकतामिता पलिता प्रभा यस्य, पक्षे पलितं श्वेतकेशत्वं तस्य प्रभा यस्य, अत एव घूर्ण्यमानशिरसो वृद्धस्य यथा शिरो घूर्णते, तथास्तप्रायदीपकस्य शिखापि प्रकम्पत एवेति, स्नेहेन तैलेन

---

**अर्थ**—ताराओंका पति चन्द्रमा रात्रिके समय कमलिनियोंको मलिन-मुद्रित करता रहा, अब प्रातःकाल जब कमलिनियोंको प्रीति प्रदान करने वाला सूर्य अभ्युदयको प्राप्त हुआ तब उसने विचार किया कि अब यहाँ रहना उचित नहीं। यह विचार कर वह अपनी स्त्री रूप ताराओंको छिपाकर शीघ्र ही अस्ताचलकी ओर चला गया, पर जाते-जाते उसने देखा कि कुछ तारा सूर्यके कर-प्रकाश अथवा हाथमें पड़ गई हैं, इससे वह चिन्तित हो रहा है अथवा लज्जित हो रहा है ॥४०॥

**अर्थ**—हे श्लाघनीय ! जिसका शिर काँप रहा है और बाल सफेद हो गये हैं, ऐसे वृद्ध मनुष्यके शरीरकी दशा-अवस्था जिस प्रकार स्नेह-प्रीति रहित जीवन होनेसे शोचनीय हो जाती है, उसी प्रकार जिसका अग्रभाग काँप रहा है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


प्रीतिभावेन वा वर्जितं यज्जीवनं निःस्नेहजीवनं तद्भावेन दशा वर्तिकाऽवस्था च संशोच्यतामुपगतास्ति ॥४१॥

रात्रावहो पुलकितानि हसन्ति भानि
स्माम्भोरुहाणि किल मुद्रणमाश्रितानि ।
वार्बिन्दुभावमुपगम्य दलेषु तेषां
भिक्षामटन्ति परितो दिवसप्रवेशात् ॥४२॥

रात्रावित्यादि—रात्रौ निशासमये यानि पुलकितानि प्रसन्नभावमितानि भानि नक्षत्राणि, मुद्रणं संकोचमाश्रितानि अम्भोरुहाणि जलजानि हसन्ति स्म हास्यं कुर्वन्ति स्म किल तान्येव पुनरधुना परितो दिवसप्रवेशाद् दिनोदयसद्भावात् कमलानां विकासावसरत्वात् तेषां दलेषु पत्रेषु जातीयसमुदायेषु तद्गेहद्वारेषु वा वार्बिन्दुभावं जलकणरूपतामुपगम्यातिशयलाघवमासाद्य भिक्षामटन्ति, इत्यहो ॥४२॥

संसूयते तनयरत्नमपश्चिमातः
संश्रूयते कलकलो द्विजजातिजातः ।
पाथोरुहोदरदरादलिनो विमुक्ता
आमोदपूर्णमखिलं जगदेतदुक्तात् ॥४३॥

संसूयत इत्यादि—अपश्चिमातः सर्वप्रथमातः स्त्रिय इवेन्द्रदिशातस्तनयरत्नं सूर्यनामसत्पुत्रः संसूयते समुत्पाद्यते, तत एव द्विजानां पक्षिणां ब्राह्मणानां वा जातेः समूहाज्जातः कलकलस्वरः संश्रूयते । पाथोरुहोदरदरात् कमलकोषगह्वरादलिनः कारावासिन इव भ्रमराश्च विमुक्तास्सन्ति । तथोक्तादेव कारणात् जगद्विश्वमखिलमप्येतदामोदेन सुगन्धेन

---

और जिसकी प्रभा क्षीण हो रही है, ऐसे दीपककी दशा—बत्ती स्नेह—तेल रहित जीवन होनेसे शोचनीय अवस्थाको प्राप्त हो रही है ॥४१॥

**अर्थ**—रात्रिके समय प्रसन्नताको प्राप्त हुए जो नक्षत्र निमीलित—दीनदशाको प्राप्त कमलोंकी हँसी उड़ा रहे थे, वे इस समय सब ओरसे दिनका प्रवेश होनेके कारण जल कणोंका रूप रख उन्हीं कमल दलोंपर (उनके द्वारपर) मानों भिक्षा माँग रहे हैं ॥४२॥

**अर्थ**—पूर्व दिशारूपी प्रथम पत्नीसे सूर्यरूपी पुत्ररत्न उत्पन्न हो रहा है, इसलिए द्विज—ब्राह्मण अथवा पक्षियोंके समूहसे उत्पन्न हुआ कल-कल शब्द सुनाई पड़ रहा है, कमलोंके उदरगर्त रूप बन्दीगृहसे भ्रमर रूपी बन्दी छोड़े

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



प्रसन्नभावेन वा पूर्णं सम्भृतमिति। पुत्रोत्पत्तिसमये द्विजलोकस्योक्तिर्वन्दिमोक्षणं च भवतीत्यत्रापि ॥ ४३ ॥

यत्नोऽमृताश्रमपरेण च खेन तात-<br>
ख्यात ! प्रभातहविरासन एष जातः ।<br>
भिन्ने भवत्यमृतधामनि नाम शुम्भत्-<br>
स्वर्णस्य संकलितुमत्र नवीनकुम्भम् ॥४४॥

यत्न इत्यादि—हे तातख्यात ! महोदय ! भवति तारासहितेऽमृतधामनि चन्द्रमसि तथा क्षीरपात्रे भिन्ने नष्टे सति, अमृतानां देवानामाश्रमः स्वर्गस्तत्परेण तेनैव दुग्धाश्रमाधिकारिणा खेनाकाशेन प्रभात एव हविरासनो वह्निस्तस्मिन् स्वर्णस्य कनकस्य शुम्भत् शोभमानं नाम नवीनकुम्भं संकलितुं निर्मातुमत्र यत्नो जातः, स युक्त एवेति भाव ॥ ४४ ॥

वीरोदिते समुदितैरिति संवदामः<br>
कल्यप्रभाववशतः प्रतिबोधनाम ।<br>
सम्प्रापितं च मनुजैश्चतुराश्रमित्व-<br>
मेकान्तवादविनिवृत्तितयासि विश्वम् ॥४५॥

वीरोदित इत्यादि—हे चतुर ! जयकुमार ! शृणु। विः पक्षी रोदिते कलकलकरणे

---

जा रहे हैं और इसी कारण यह समस्त जगत् आमोद—हर्ष अथवा सुगन्धसे परिपूर्ण हो गया है ॥४३॥

अर्थ—हे महोदय ! जब भवत्—नक्षत्र युक्त अमृतधाम—चन्द्रमा अथवा दुग्धपात्र नष्ट हो गया—फूट गया, तब अमृताश्रम—स्वर्गरूप दुग्धाश्रमके अधिकारी आकाशने प्रातःकाल रूपी अग्निमें स्वर्णका शोभायमान नवीन घट बनाने का प्रयत्न किया।

भावार्थ—पूर्व दिशामें उदित होता हुआ लाल-लाल सूर्य ऐसा जान पड़ता है मानों आकाश रूपी दुग्धाधिकारीके द्वारा अग्निमें तपाकर स्वर्णका नवीन घट बनाया जा रहा हो। चन्द्रमा रूपी घटके नष्ट हो जानेपर नवीन घटका बनाया जाना उचित है। चन्द्रमा रूपी चाँदीका मटका फूट गया, अतः अब मजबूती की दृष्टिसे सुवर्णका घट बनाया जा रहा है ॥४४॥

अर्थ—हे चतुर ! विचारशील राजन् ! पक्षी कलकल करनेमें प्रसन्न हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



समुत् प्रसन्नचित्तोऽस्ति तावत्। इत्येवमितैरनुभवनशीलैर्मनुजैः कल्यस्य प्रभातस्य प्रभावः प्रत्युत्थापनकरणं तद्वशतः प्रतिबोधनाम सचेतनत्वमेव स एव चैकान्तवादो रहः-स्थानस्थितिकरणं तस्माद्विनिवृत्तिर्येषां तद्भावेन पुनरश्रमित्वं स्वस्थत्वं च सम्प्रापितम्। यद्वा वीरस्य श्रीवर्धमानतीर्थकर्तुरुदिते संवदिते मते समुदितैः सङ्घशक्तिमितैर्मनुजैः कलेः कालस्याप्रभावो मुग्धत्वाभावस्त्वद्वशतः प्रतिबोधनाम कर्तव्यकर्मणि दत्तावधान-त्वमेवैकान्तवादो हठवृत्तिस्तद्विनिवृत्तितयाऽनेकान्तवादाश्रयणेन चतुराश्रमित्वं वर्णि-गृहस्थ-वानप्रस्थर्षिनामकाश्चत्वार आश्रमास्तद्वत्त्वं च सम्प्रापितमिति वयं संवदामस्तवाग्रे यतस्त्वं विद् विचारशीलोऽसि। तदेव स्पष्टयति कविः ॥ ४५ ॥

कञ्जोच्चयेन विकचत्वमवापि तात
सुश्रावकत्वमिति पक्षिवरेष्विहातः।
भानोः करग्रहभृतो भुवि धामनिष्ठा
भैराश्रिता पुनरुताध्ययनप्रतिष्ठा ॥४६॥

कञ्जोच्चयेनेत्यादि—हे तात ! पूज्यवर ! कञ्जानां कमलानामुच्चयेन विकचत्वं प्रस्फुरणमुत च केशरहितशिरस्कत्वं संन्यस्ताश्रमे प्रविश्य केशलुञ्चनमवापि। पक्षिवरेषु चटकादिषु सुश्रावकत्वं चकचकेत्यादिमधुरशब्दकरणं तथा वानप्रस्थत्वं चेह दृश्यत इति

---

इसलिये अनुभवशील मनुष्योंने प्रातःकालके प्रभाव वश प्रबोधको प्राप्त हो एकान्त वासका परित्याग कर स्वस्थता प्राप्त की है, अर्थात् विचारशील मनुष्योंने विचार किया कि जब पक्षी भी घोंसलोंसे निकलकर कलकल शब्द करते हुए प्रमुदित हो रहे हैं, तब हमलोगों का एकान्त स्थानमें निद्रानिमग्न रहना अच्छा नहीं है, इस विचारसे मनुष्योंने एकान्त स्थानोंका त्याग कर प्रबुद्ध हो स्वस्थताको प्राप्त किया है।

अथवा—भगवान् महावीरके द्वारा समर्थित मत—अनेकान्तवादमें समुदित—संगठित हुए मनुष्योंने कलिकालके अप्रभाववश अर्थात् कलिकालसे प्रभावित न हो प्रबोधको प्राप्त किया अर्थात् अपने कर्तव्य कर्मका निर्धार कर ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और ऋषित्व इन चार आश्रमोंको प्राप्त किया तथा एकान्त-वादको छोड़कर स्वस्थताका अनुभव किया। हे राजन् ! आप यह सब जानते हैं, अतः हम कहते हैं कि आप ज्ञानी हैं ॥ ४५ ॥

अर्थ—हे पूज्यवर ! इस समय कमलोंके समूहने विकचत्व—विकास को प्राप्त किया है। पक्षमें संन्यास धारण कर केशलुञ्चन की अवस्था को प्राप्त किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



शेषः। अत एव भुवि धरातलेऽस्मिन् करग्रहभृतः किरणकलापयुक्तस्योत विवाहितस्य सपत्नीकस्य भानोः सूर्यस्य धामनिष्ठा तेजोवत्त्वमुत गृहस्थत्वमस्त्येव। पुनरुतायनं गमनमधिकृत्य प्रतिष्ठा प्रलुप्तिरुताध्ययने पठने या प्रतिष्ठा सार्धाद्र्णिभावगतिर्भैर्नक्षत्रै-राश्रितेति दिक् ॥ ४६ ॥

भानुस्तपोधन इवायमिहाभ्युदेति
निःशर्वरीत्वमपि यज्जगतस्तथेति।
कोकः प्रसिद्धविभवो गृहिणीमुपेतः
कौपीनभावमयते वनवासिचेतः ॥४७॥

भानुरित्यादि—इहायं भानुः सूर्यः स तपोधनो धर्मसम्पत्तिस्स तपोधनस्तपस्वी वाभ्युदेति समुन्नतिमुपैति, तथा शर्वरी[1] रात्रिः स्त्री च तदस्तित्वं शर्वरीत्वं ब्रह्मचारित्वं तदपि जगतः सर्वजनसमुदायस्यास्ति, प्रसिद्धश्चासौ विभवः पक्षिजन्मा तथा प्रसिद्धो विभवः सम्पत्तिमद्भावो यस्य सोऽसौ कोको गृहिणीं सधर्मिणीमितो भार्यया संयुक्तो जातो गृहस्थोऽस्तीति कृत्वा वनवासि [2]वने जले वासो निवासो यस्य तद्वनवासि कमलं च पुनरितः कौ पृथिव्यां पीनभावं प्रफुल्लावस्थामुत वनवासिनां वानप्रस्थानां चेतो मानसं तत्कौपीन-

---

चिड़िया आदि श्रेष्ठ पक्षियोंमें उत्तम श्रावकपना देखा जाता है—वे चक चक आदि विविध शब्द सुना रहे हैं ( पक्षमें उनमें वानप्रस्थ दशा विद्यमान है )। करग्रहभृत्—किरणोंके समूहसे युक्त ( पक्षमें पाणिग्रहण—विवाह संस्कारसे युक्त ) सूर्यमें धामनिष्ठा—गृहस्थता दिखाई दे रही है और भ—नक्षत्रोंने अध्ययनशीलता प्राप्त की है (पक्षमें ब्रह्मचर्य आश्रम ग्रहण किया है)। इस तरह यहाँ पृथिवी पर चारों आश्रमोंकी स्थिति विद्यमान है ॥ ४६ ॥

**अर्थ**—तपोधन—घामरूपी धनसे सहित यह सूर्य, तपोधन—तपस्वी ऋषिके समान यहाँ अभ्युदयको प्राप्त हो रहा है। निःशर्वरीत्व—रात्रिका अभाव (पक्षमें स्त्रीका अभाव) समस्त जगत्को है ही। प्रसिद्ध विभव—जिसका जन्म प्रसिद्ध पक्षीसे हुआ है, ऐसा कोक—चक्रवाक प्रसिद्धविभव—प्रख्यात सम्पत्ति वाला होता हुआ, गृहिणो—स्त्रीको प्राप्त हो रहा है और इधर कौ—पृथिवी पर वनवासि—कमल, पीनभाव—विकसित होनेके कारण स्थूल भावको प्राप्त हो रहा है (पक्षमें वनवासी—वनमें निवास करने वाले वानप्रस्थों का चेतः—चित्त अन्य सब वस्त्र

---

१. 'शर्वरी तु त्रियामायां हरिद्रायोषितोरपि' इति विश्वलोचनः।
२. 'जीवनं भुवनं वनम्' इत्यमरः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



भावं कौपीनस्य वस्त्रचिल्लिकाया भावमयते शेषवस्त्रादिपरिग्रहं परित्यजति ।। ४७ ।।

किञ्चित्पठत्यतिशयेन तु वायसादि-
भार्याधुना दिनकृताधिकृतान्ववादि ।
घूकोऽव्रजच्च विपिने कुमुदस्य शं वा-
धीशाभिभाति मुनिवन्मुखमुद्रणं वा ।।४८।।

किञ्चिदित्यादि—हे अधीश ! हे स्वामिन् । अधुना वायसादिः काकादिपक्षिसमूहः, अतिशयेन दीर्घस्वरेण नितरां वा किञ्चित्किमपि शास्त्रमित्यर्थः, पठत्यधीते । एतेनाध्ययनशीलो ब्रह्मचर्याश्रमः सूचितः । दिनकृता सूर्येण आर्या श्रेष्ठा भा दीप्तिरधिकृता स्वीकृताथ च भार्या स्त्री अधिकृता परिणीता । एतेन गृहस्थाश्रमोऽन्ववादि निरूपितः । घूको मूर्खोपमान उलूक इति यावद् विपिनमरण्यमव्रजत् जगाम । एतेन वानप्रस्थाश्रमो निवेदितः । कुमुदस्य रात्रिविकासिकमलस्य शं शान्तिर्मुखमुद्रणं वा निमीलनं वा मुनिवत्संन्यासिवदभिभाति शोभते । एतेन संन्यासाश्रमो वर्णितः ।। ४८ ।।

आमन्त्रणार्थमिति चन्द्रमसो रसेन
शङ्खोऽसकौ ध्वनति सोदरतावशेन ।
औदास्यतो जगदतीत्य विचित्रवस्तु-
गेहायमानमिव निर्व्रजतोऽन्ततस्तु ।।४९।।

आमन्त्रणेत्यादि—असकौ शङ्खः, विचित्रवस्तुगेहं 'अजायबघर' इति देशभाषायाम् तदिवाचरतीति विचित्रवस्तुगेहायमानं जगदिदमतीत्य परित्यज्योदास्यत उदासस्य भाव

---

छोड़कर कौपीन भाव—लंगोटीके अस्तित्वको प्राप्त हो रहा है) । इस तरह इस प्रातर्वेलामें यहाँ ऋषि, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ, ये चारों आश्रम अनुभवमें आ रहे हैं ॥ ४७ ॥

**अर्थ**—हे अधीश्वर ! इस समय काक आदि पक्षी अत्यधिक रूपसे कुछ पढ़ रहे हैं । सूर्यने आर्या-श्रेष्ठ भा—दीप्तिको प्राप्त कर लिया अथवा सूर्यने भार्या—पत्नीको प्राप्त कर लिया है । उलूक वनमें चला गया है और कुमुदकी शान्ति तथा मुख मुद्रण—निमीलन मुनिके समान सुशोभित हो रहा है । तात्पर्य यह है कि इस समय ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम प्रकट हो रहे हैं ।। ४८ ।।

**अर्थ**—यह शंख, अजायबघरके समान आचरण करने वाले इस जगत्को उदासीनतासे छोड़कर कहीं अन्यत्र जाने वाले चन्द्रमाको बुलाने अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



औदास्यं तत उन्मनस्कतयेति यावत्, अन्ततः कुतोऽप्यन्यत्र तु निर्व्रजतो यदृच्छया गच्छतश्चन्द्रमस आमन्त्रणार्थं सम्बोधनार्थमिति किल सोदरतावशेन रसेन ध्वनति शब्दायते शङ्खः समुद्रजातश्चन्द्रोऽपीति भ्रातृस्नेहेन तमाह्वयतीति किल । शङ्खस्तु प्रभाते देवालयादौ सहजमेव ध्वन्यते ।। ४९ ।।

नक्षत्ररीतिरधुना नभसो न भाति
गुप्तोऽप्युलूकतनयस्य तथा सजातिः ।
विप्राप्तसंवदनतो नरपामरत्वं
केषाञ्चिदुद्धरति वर्णविधेर्महत्त्वम् ।।५०।।

नक्षत्रेत्यादि—अधुना नभस आकाशस्य नक्षत्राणां रीतिर्न भाति तारकाततिर्नास्ति तथा क्षत्रस्य बाहुजवर्णस्य रीतिर्नास्तीति न, किन्त्वस्त्येव सर्वेषामवकाशदानत्वात् । अपि पुनरुलूकतनयस्य सजातिः सदृशो निशाचरवर्गस्तथा गुप्तः प्रच्छन्नतामवाप्तो गुप्तो वैश्यवर्णः सञ्जातो वास्तीति । तथैव हे नरप ! राजन् ! कमात्मानमिच्छन्तीति केषः आत्मानुभवकारिलोकास्तेषाममलत्वं पवित्रत्वं देवताभूयस्त्वं वोद्धरति प्रकाशयति । यत्खलु विभ्यः पक्षिभ्यः प्राप्तं यत्संवदनं शब्दोच्चारणं ततो हेतुतोः वर्णविधेर्महत्त्वं स्तुतिक्रमस्योत्तमत्वमस्ति तत्कर्तृभूतं वस्तु हे नर ! विप्रेभ्यो ब्राह्मणेभ्य आप्तमुपलब्धं संवदनं ततः पुनः केषां प्रविरलानामेव लोकानां पामरत्वं शूद्रवर्णत्वमुद्धरति । तव प्रजावर्गे शूद्राणामाधिक्यं नास्तीति वर्णविधेर्महत्त्वमस्त्येव तावत् । तथा ब्राह्मणा मुखाज्जाता वर्णविधेरिति विप्रैराप्तं संवदनं मुखं यस्मात्तत इति वा ।। ५० ।।

---

सम्बोधित करनेके लिये भ्रातृभावसे स्नेहवश शब्द कर रहा है। भाव यह है कि इस समय देवालयोंमें शंख बज रहे हैं ।। ४९ ।।

**अर्थ**—इस समय आकाश सम्बन्धी नक्षत्ररीति–ताराओंकी स्थिति सुशोभित नहीं हो रही है, पक्षमें आकाशकी क्षत्रिय रीति–(न शोभते इति न, अपितु शोभत एव) अत्यन्त सुशोभित हो रही है। उलूक सजाति–निशाचर-राक्षस गुप्त हो गये हैं, कहीं छिप गये हैं, पक्षमें गुप्त–वैश्यवर्णी हो गये हैं। हे नरप ! हे राजन् ! विप्र–ब्राह्मणोंसे समर्थन प्राप्त होनेके कारण, केषां–आत्माका अनुभव करने वाले लोगोंकी अमलता–पवित्रता अथच देवरूपता प्रकट हो रही है अथवा हे नर ! विप्रवर्णकी प्रमुखताके कारण पामरत्व–शूद्रपना किन्हीं विरले लोगोंमें ही है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पिछले पद्योंमें चार आश्रमोंकी स्थापना अर्थान्तरसे प्रकट की थी, उसी प्रकार इस पद्यमें क्षत्रियादि चार वर्णोंकी स्थापना अर्थान्तरसे प्रकट की गई है। विशेष अर्थ संस्कृत टीकासे ज्ञातव्य है ।। ५० ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



एवं प्रभूतदलसत्स्फुरणं गतस्य
स्पर्ष्टि प्रयाति भुवि सौरभवस्तु तस्य ।
अम्भोरुहस्य सहसा समुदर्करीतिं
स्वीकुर्वतो मधुरसं प्रति जातगीतिम् ॥५१॥

एवमित्यादि—सहसाऽकस्मादेव समुद् प्रसन्नतासहितामर्कस्य सूर्यस्य रीतिं चेष्टामुदयलक्षणामुत चोदर्करीतिमागामिफलप्रदर्शनरूपां स्वीकुर्वत एवं मधुरसं प्रति जातगीतिं स्वीकुर्वतः 'सहद'मिति प्रसिद्धमुत्पादयत उतहे मधुर ! प्रीतिजनक ! इत्येवं सम्बोधनं विश्लिष्य पुनः सम्प्रति कालजातानां पदार्थानां गीतिं स्पष्टीकरणं स्वीकुर्वतः, एवं प्रभूतानां बहूनां दलानां पत्राणां सत्स्फुरणं गतस्य विकासमाप्तस्याम्भोरुहस्य तस्यामुकस्य भुवि पृथिव्यां सौरभमेव वस्तु सुगन्धरूपं तथा सुरस्यैष सौरः स चासौ भवश्च सौरभवो देवजातिस्तु पुनः स्पर्ष्टि प्रयाति प्रचलति तथा जातानां जन्मवतां बालकानां गीतिं कुण्डलीकरणनीतिं स्वीकुर्वतो भुवि सौरभवो भूसुरभावो ब्राह्मणत्वं सम्भवति वेति ॥ ५१ ॥

यस्मादितः प्रलयमेति विभावरीति-
र्विश्वाश्रयिन् मृदुलताश्रयणान्यपीति ।
सद्भावनाविजयिनीं खलतां हसन्ति
तान्युत्तमानि किल कौतुकभाववन्ति ॥५२॥

यस्मादित्यादि—हे विश्वाश्रयिन् । लोकस्याधारभूत ! यस्मात्कारणादितो भूतलाद् विभावरीकृता ईतिर्बाधा विभावरीतिरथवा विकृतभावस्य विभावस्य रीतिश्चेष्टा प्रलयमेति विनश्यति । तस्मान्मृदुलताश्रयणानि मृदूनां लतानामाश्रयणानि निकुञ्जदेशा उत

---

अर्थ—हे राजन् ! इस तरह जो सहसा बहुत भारी कलिकाओंके समीचीन विकासको प्राप्त है तथा जो प्रसन्नतासे युक्त सूर्यकी उदय रूप चेष्टा तथा मधु-शहदको उत्पन्न करने वाली स्थितिको स्वीकृत कर रहा है, ऐसे कमलकी सौरभ-सुगन्ध पृथिवीमें स्पष्टताको प्राप्त हो रही है, सर्वत्र फैल रही है ।

भावार्थ—श्लोकके चतुर्थ चरणमें 'मधुर' को राजाका सम्बोधन बनाकर संप्रति कालमें जात-उत्पन्न बालकोंके सूर्य तथा भविष्य आदिका विचार संस्कृत टीकासे जानता चाहिये ।

अर्थ—हे लोकके आधारभूत ! जिस कारण इस भूतलसे विभावरीति-रात्रि सम्बन्धी बाधा अथवा विकृत भावकी चेष्टा नाशको प्राप्त हो रही है, उस कारण मृदुलता-कोमल लताओंके आधारभूत वे निकुञ्ज, जो कि कौतुकभाव-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मृदुलताया भद्रताया आश्रयणानि सज्जनचेतांसि यानि किलोत्तमानि प्रशस्तानि तथा कौतुकानां कुसुमानामुत विनोदपरिणामानां भावन्ति सन्ति तानि, सतां नक्षत्राणामुत परोपकारिणां भावनाया विजयिनीं जयनकारिणीं खलतामाकाशप्रदेशपङ्क्तिमुत मूर्खतां हसन्ति तदुपहासं कुर्वन्तीति ॥ ५२ ॥

संहृत्य वै रजनिमित्यथ वीतराग-
वृत्तिं गतश्चरति सत्स्वभिवृद्धभागः ।
योगीयते सहजलम्बकरः सुवृत्त-
भावेन भानुरपि भो जगदेकवृत्त ॥५३॥

संहृत्येत्यादि—भो जगदेकवृत्त ! जगत्येकं प्रधानमादर्शरूपं वृत्तं यस्य तस्य सम्बोधनम् । भानुः सूर्योऽपि वै निश्चयेन रजनिं रात्रिं संहृत्याथ पुनर्वीतरागवृत्तिं गतः, विभिः पक्षिभिरितस्य सम्प्राप्तस्य रागस्य सुस्वरोच्चारणस्य वृत्तिं गतः, सुवृत्तभावेन वर्तुलरूपतयोत सदाचारचेष्टितेन सहजमेव लम्बाः प्रसारिताः करा रश्मयो येन स, योगीयते योगीवाचरति योगीव निश्चेष्टतया प्रलम्बमानहस्तो भवति । एवं च यः सत्सु नक्षत्रेषु साधुषु वा चरति अभिवृद्धां भां दीप्तिं गच्छतीति सः, अथवा वृद्धः समुन्नतरूपो भागो देवादेशो यस्य स गीयते लोकैः कथ्यते स एवंभूतः ॥५३॥

---

फूलोंके सद्भावसे युक्त तथा उत्तम–प्रशस्त हैं, सद्भावनाविजयिनीं–नक्षत्रोंके सद्भावको जीतने वाली खलता–आकाश प्रदेशोंकी पंक्तिका उपहास करते हैं। अथवा मृदुलता–कोमलताके आधारभूत सज्जनोंको वे चित्त, जो कि उत्तम–उत्कृष्ट तथा कौतुकभाव–विनोदोंके सद्भावसे सहित हैं, सद्भावनाविजयिनीं–सज्जनोंकी भावनाको जीतने वाली खलतां–दुष्टता अथवा मूर्खताका उपहास करते हैं।

**अर्थ**—हे जगत्के आश्रयभूत वृत्त–आचरणके धारक ! निश्चयसे सूर्य भी रात्रिको नष्टकर **वीतरागवृत्ति गतः**—पक्षियोंके द्वारा प्राप्त सुस्वरोच्चारण रूप रागकी वृत्तिको प्राप्त (पक्षमें रागद्वेष रहित वीतराग वृत्तिको प्राप्त) **सुवृत्तभाव**–गोलाकार (पक्षमें सदाचारसे युक्त) **सत्सु**–नक्षत्रोंमें **अभिवृद्धभाग**–वृद्धिगत भा–दीप्तिको प्राप्त, (पक्षमें सत्पुरुषोंमें वृद्धिगत भागसे सहित) एवं **सहजभाव लम्बकरः**–सहजभावसे लम्बायमान किरणोंसे सहित (पक्षमें सहज स्वभावसे लम्बमान–नीचे लटकते हुए हाथोंसे सहित) होता हुआ **योगीयते**–योगीके समान आचरण करता है, अर्थात् ध्यानस्थ मुनिके समान जान पड़ता है। अथवा **योगीयते**–जो सूर्य, उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त कहा जाता है ॥५३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


विभ्राजते सुमुख ! सम्प्रतिपद्य सानुं
चारित्रकल्पवशर्वातितयैष भानुः ।
प्रोद्भिद्य मङ्क्षु कमलं स्फुरता पराग-
भावेन भूरिभरिताखिलभूमिभागः ॥५४॥

विभ्राजत इत्यादि—हे सुमुख ! एष भानुः सूर्यः सानुमुदयाचलशृङ्गवनप्रदेशं सम्प्रतिपद्य च पुनररित्रो भ्रमरस्य रक्षको यः कल्पो विचारस्तस्य वशवर्तितया, उत चारित्रकल्पस्य वशर्वातितया मङ्क्षु शीघ्रमेव कमलं सरोजं प्रोद्भिद्य यद्वा कस्यात्मनो मलं कश्मलं प्रोद्भिद्य स्फुरता प्रकाशमागच्छता परागभावेन मकरन्देनोतापरागभावेन वीतरागपरिणामेन भूरि पुनः पुनर्भरितः सम्पूरितोऽसावखिलो भूमेर्भागो येन स विभ्राजते शोभतेऽसौ ॥५४॥

लोकोन्वितो धृतविभावसुखश्रियासीत्
सज्जो विधावुदितसत्कृतसम्पदाशीः ।
सद्यो विसर्गपरिणाममुपेत्य यावद्
विभ्राजतेऽयि नृप ! केवलभृत् स तावत् ॥५५॥

लोक इत्यादि—योऽयं लोकः सर्वसाधारणो जनो भुवनदेशश्च स विधौ चन्द्रमसि यद्वा सद्भाग्ये उदिते सति धृता स्वीकृता विभावसुर्निशा येन तस्य खस्य नभसः श्रिया शोभया यद्वा धृतो विभावोऽशाश्वतभावो येन तस्य सुखस्येन्द्रियजन्यभोगविलासस्य श्रिया

---

अर्थ—हे समुख ! यह सूर्य उदयाचलके शिखरको प्राप्त कर अरित्र[1]—अलित्र भ्रमररक्षक भावकी वशर्वातिता (पक्षमें चारित्र रक्षाके भावकी वशर्वातिता) से शीघ्र ही कमल (पक्षमें आत्माकी कलुषता) को प्रोद्भिद्य—विकसित (पक्षमें नष्ट) कर प्रकट होने वाले पराग—मकरन्द (पक्षमें अपराग—वीतराग परिणाम) से पुनः पुनः पृथिवीके भागों—प्रदेशोंको भरता—परिपूर्ण करता हुआ देदीप्यमान हो रहा है ॥५४॥

अर्थ—हे राजन् ! जो यह लोक—जगत्, (पक्षमें सर्वसाधारण जन) है, वह रात्रिके समय विधु—चन्द्रमाका उदय होनेपर (पक्षमें विधि—सद्भाग्यका उदय होनेपर) विभावसुखश्रिया—रात्रियुक्त आकाशकी शोभासे (पक्षमें वैभाविक

---

१. रलयोरभेदादरिः अलिः भ्रमरस्तं त्रायत इत्यरित्रः अलिरक्षको यः कल्पो विचार-स्तस्य वशर्वातितया ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सज्जः समायुक्तः सन् उदितैः संप्रकटितैः सद्भिर्नक्षत्रैः कृता या सम्पत् तस्या आशीः समाशंसनं यस्य स आसीदभूद् निशासमये, स एवाद्य प्रभातकाले वीनां सर्गपरिणामं पर्यटनभावमुत विसर्गपरिणामं लोकोत्तरवृत्तिं त्यागभावमुपेत्य यावद्विभ्राजते तावदेव हे नृप ! राजन् ! स केवलबोधभृद् अतीन्द्रियज्ञानमाप्तवान्, अपि किल । किञ्च, के नामार्के बलस्योदयरूपबोधभृत् चास्तीति ॥५५॥

श्रीभारतोक्तविभवो धृतराष्ट्र एष
वीरं जनाय खलु कौरवमीक्षते सः ।
कृष्णोऽलिरत्र कलिकालसदुत्सवाय
विद्मोऽथ पद्ममपि सौरभविस्मयाय ॥५६॥

श्रीभारतेत्यादि—श्रीभासो रविदीप्तेर्लतया पङ्क्त्योक्तो योऽसौ विभव एष धृतः समाक्रान्तो राष्ट्रो देशो येन स समस्ति । तथा श्रीभारते नामेतिहासग्रन्थे उक्तः प्रख्यापितो विभवो यस्य स धृतराष्ट्रो नाम राजा । स विः पक्षी यो रात्रौ वृक्षमध्यवसत् स एव कौ भुवि रञ्जनाय प्रसक्त्यर्थं खलु रवमीक्षते शब्दं करोति । यद्वा कौरवं नाम वीरं जनाय खलु सर्वसाधारणायेक्षते पश्यति, नान्यः कोऽपि तस्य दृक्पथमुपयातीति । अत्र च भूतले कृष्णो धूम्रवर्णोऽलिर्भ्रमरः कलिकायां कमलपत्रिकायां लसन् शोभमानो य उत्सवः स्फुरणलक्षणस्तस्मै । किं वा कलिकालस्य संश्चासावुत्सवश्च तस्मै । अथापि पुनः पद्मं कमलं सौरभस्य सुगन्धस्य विस्मयाय । अथवा पद्मं नाम बलदेवं सुराणामसौ सौरः स चासौ भत्रो यस्यास्ति तस्य देवलोकस्य स्मयायाश्चर्याय भवति ॥५६॥

---

अशाश्वत इन्द्रियजन्य सुखकी संपदासे) संयुक्त होता हुआ उदित सत्कृत–नक्षत्र कृत शोभाके आशिषसे (पक्षमें उदयागत पुण्य कर्मसे प्राप्त संपदाके आशिषसे सम्पन्न था), वही अब प्रातर्वेलामें विसर्गपरिणाम–पक्षियोंके पर्यटन भाव (पक्षमें त्यागके परिणाम) को प्राप्त होकर के-वल-भृत्–सूर्यमें दृढ़ताको धारण करता हुआ (पक्षमें केवलभृत्–केवलज्ञानको धारण करता हुआ) शोभायमान हो रहा है ॥५५॥

**अर्थ**—श्रीभास्–सूर्यकान्तिकी रता–(लता) पङ्क्ति द्वारा कथित जो विभव है, वह धृतराष्ट्र है–समस्त देशको व्याप्त करने वाला है, अर्थात् सूर्यरश्मियोंका वैभव समस्त देशोंमें व्याप्त हो रहा है। वह वि–पक्षी जो कि रात्रिमें वृक्षपर रहता है, कौ–पृथिवी पर आनेके लिये रवं ईक्षते–शब्द कर रहा है। यहाँ कृष्ण अलि–काला भ्रमर कलिकाओं पर शोभायमान विकास रूप उत्सवको प्रतीक्षा कर रहा है तथा वह पद्म–कमल भी सौरभविस्मयाय–सुगन्धके द्वारा आश्चर्यके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


न क्वापि भाति-अधुना द्विजराजवंशः
सुप्तोऽसि बाहुजसमाजसतां वतंस ।
कस्ते तुलाधर उदेति जनेषु वा यः
संविप्लवोऽत्र बहुधान्यसमीक्षणाय ।।५७।।

न क्वापीत्यादि—हे बाहुजसमाजसतां वतंस ! हे क्षत्रियजनशिरोमणे ? अधुना द्विजराजस्य चन्द्रस्य वंशस्तारकासमाजो यद्वा द्विजराजानां विप्राणां वंशो न क्वापि भाति, तथापि त्वं सुप्तोऽसि नैतद्युक्तम् । वाऽथवा पुनर्जनेषु स कोऽस्ति यस्ते भवतस्तुलाधरः सादृश्यधरो विद्यते । अथवा वणिगस्ति । अत्र च प्रभातत्वाद् बहु अनल्पं च तद्धान्यं च तस्य समीक्षणायान्वेषणार्थं संविप्लवो वीनां पक्षिणां सम्यक्प्लव उद्गमनन्, अथवान्यस्य शूद्रस्य समीक्षणाय कः कीदृक् शूद्रः स्यादित्यादितर्कणार्थं बहुधा संविप्लवो विसंवादो भवतीति ।।५७।।

---

लिये हो रहा है-अपनी आश्चर्यकारी सुगन्धको प्रकट कर रहा है ।

**अर्थान्तर**—भारत नामक इतिहासके ग्रन्थमें जिसका विभव-वैभव प्रख्यात है, ऐसा धृतराष्ट्र नामका राजा जनहितके लिये कौरव-दुर्योधनादिकको देख रहा है, अर्थात् वह पाण्डवोंको उपेक्षितकर कौरवोंको ही जनहितकारी मान रहा है । यहाँ कृष्ण-श्रीकृष्ण कलिकालमें शोभायमान उत्सवके लिये प्रतीक्षारत हैं, अर्थात् पाण्डवोंको विजयी बनाकर कलिकालको भी आनन्द निमग्न करना चाहते हैं और पद्म-बलदेवको हम सौरभवि-देवोंके भी स्मय-आश्चर्यके लिये मानते हैं, अर्थात् पद्म अपने शौर्यसे देवोंको भी आश्चर्य चकित कर रहे हैं, ऐसा हम मानते हैं ।।५६।।

**अर्थ**—हे क्षत्रियकुल शिरोमणे ! इस समय द्विजराज-चन्द्रमाका वंश-ताराओंका समूह कहीं भी सुशोभित नहीं हो रहा है अथवा ब्राह्मणोंका वंश कहीं भी प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं हो रहा है, फिर भी आप सो रहे हैं, उसके हितकी ओर आपकी दृष्टि नहीं है । मनुष्योंमें वह कौन है जो आपकी तुला-सदृशताको धारण कर सके अथवा तुलाधर-तराजूको धारण करने वाला वणिक् कौन है ? यहाँ प्रभात हो जानेसे **बहुधान्यसमीक्षणाय**—प्रचुर अन्नके अन्वेषणके लिये, **संविप्लव**-अच्छी तरह अथवा सब ओर पक्षियोंका उत्पलवन-उत्पतन हो रहा है, अर्थात् अत्यधिक अन्नकी खोजके लिये पक्षी सब ओर उड़ रहे हैं । अथवा अन्य-क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्यसे अतिरिक्त शूद्रवर्णकी समीक्षा के लिये विसंवाद हो रहा है ।।५७।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



नक्षत्रता स्वयमधीतिदशामुपेता
पद्मे श्रियः समुदिताः प्रभवन्त्य एताः ।
कल्याख्य एष समयो भवदीक्षणीयो
जल्पे द्विजातिरुचितं सुजनानणीयः ।।५८।।

नक्षत्रेत्यादि—हे सुजन ! द्विजातीनां पक्षिणामुत च विप्राणां रुचितमभिलषितं जल्पे कलकलरवेऽथवा व्यर्थवितण्डावादेऽनणीयो वारं वारं भवति । नक्षत्रता ताराणां संहतिरीतिमधिकृत्य वर्तत इत्यधीति या दशावस्था तामुपेता विनाशं गता । अथवा क्षत्रता क्षत्रियत्वस्थितिः साऽधीतिदशामध्ययनदशां नोपेता स्वयं सुतरामेवापठितैव तिष्ठति । तत एवैतच्छ्रियः स्फूर्तिकीर्त्यादिरूपास्ताः समुदिता एकत्रीभूय पद्मे प्रभवन्ति पदोर्मा यस्यास्तीति तस्मिन् चरणजे शूद्रे स्फुरन्ति, पद्मे कमले तु श्रियः सम्भवन्त्येव किल । इत्थमेष किल कल्याख्यः प्रातर्नामकः समयो भवता सुजनेन ईक्षणीयो दर्शनीयो विद्यतेऽथवा कलिः आख्या यस्य स कलिकालनामा समयो भवताऽवलोकनीयोऽस्ति ।।५८।।

नानाप्रसक्तिरिति यज्जडजेषु तेन
रक्ताम्बरत्वमितमर्कमहोदयेन ।
सर्वैर्द्विजैरधिकृता कणभक्षशिक्षा
सम्पादिता च तमसा सुगतैकदीक्षा ।।५९।।

नानेत्यादि—यद्यस्मात्कारणात् जडजेषु कमलेषूतापठितजातेषु नानाप्रसक्तिरनाप्रसक्तिरप्रसन्नभावो न भवति, उतानेकविधासक्तलग्नतास्ति । इत्यत एव तेनार्कमहोदयेनार्कस्य

---

अर्थ—हे सुजन ! सज्जनोत्तम ! इस समय द्विजातियों–पक्षियोंकी बहुत भारी रुचि जल्प–कलकल शब्द करनेमें है और नक्षत्रता–नक्षत्रोंकी पंक्ति नाशको प्राप्त हो गई है, अतः ये समस्त लक्ष्मियाँ–शोभारूप सम्पत्तियाँ पद्म–कमलमें एकत्रित हुई हैं । यह कल्य–प्रातः नामका समय आपके द्वारा दर्शनीय है ।

अर्थान्तर—हे सुजन ! इस समय द्विजातियों–ब्राह्मणोंकी बहुत भारी रुचि जल्प–व्यर्थके वितण्डावादमें है और क्षत्रता–क्षत्रिय जाति स्वयं अध्ययनकी दशाको प्राप्त नहीं है, अर्थात् वह स्वयं पठन–पाठनसे रहित है, अतः ये समस्त लक्ष्मियाँ पद्म–शूद्र वर्णमें एकत्रित हुई हैं–शूद्रोंका प्रभाव बढ़ रहा है। यह कल्याख्य–कलि नामका समय आप देखिये ।।५८।।

अर्थ—जडज–जलज–कमलोंमें अनाप्रसक्ति–अप्रसन्नता नहीं है, अर्थात् कमल विकसित होकर पूर्ण उल्लासको प्राप्त हो रहे हैं । इसलिये अर्कमहोदय–



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


महतोदयेन रक्ताम्बरत्वमाकाशस्यारुणत्वमुत चार्कमहाशयेन रक्ताम्बरत्वं रक्तवस्त्रधारकसम्प्रदायित्वमितं प्राप्तम् । सर्वैर्द्विजैः पक्षिभिः कणभक्षशिक्षा धान्यादनतत्परताधिकृता प्राप्ता । अथवा द्विजैर्ब्राह्मणैः कणादनामाचार्यस्य शिक्षोपदेशोपलब्धिः स्वीकृता । तमसान्धकारेण पुनः सुष्ठु गतं गमनं निस्सरणं तत्रैका दीक्षा निर्गमनप्रवृत्तिः सम्पादिता । अथवा सुगतस्य नाम बौद्धाचार्यस्य दीक्षा सम्पादिता ।।५९।।

कूटस्थतां खरमरीचिरुपैति तात !
भृष्टाध्वरो भवति वा द्विजराडिहातः ।
स्याद्वादभागुदितपिच्छगणस्य वृत्तिः
सा सौगताय नियता क्षणदाप्रवृत्तिः ।।६०।।

कूटस्थतामित्यादि—हे तात ! खरमरीचिः प्रखरकिरणः सूर्यः कूटे प्राक्पर्वतस्य शिखरे तिष्ठतीति तत्तामथ च खरः स्पष्टवक्ता मरीचिर्नाम सांख्यसम्प्रदायाचार्यः स कूटस्थतां नित्यवृत्तिमुपैति । अत एवेह द्विजराट् चन्द्रमाः स भृष्टमध्व मार्गं राति गृह्णातीति भृष्टाध्वरो भवति । वाथवा विप्रवर्णो भृष्टो विकृतिमवाप्नोतिर्हिंसकदशां मुक्त्वा बलि-

---

सूर्यने रक्तांम्बरता-आकाशकी लालिमा प्राप्त कर ली है। तात्पर्य यह है कि इस समय कमल विकसित हैं और सूर्योदयके कारण आकाश लाल-लाल हो रहा है। सब द्विजों-पक्षियोंने कणभक्षशिक्षा-दाना चुगनेकी शिक्षा प्राप्त कर ली है अर्थात् पक्षी दाना चुगने लगे हैं और अन्धकारने सुगत-अच्छी तरह चले जानेकी कला सीख ली है। भाव यह है अन्धकार बिलकुल नष्ट हो गया है।

**अर्थान्तर**—अर्कमहोदयेन-सूर्य ग्रहके महान् उदयसे अपने मूर्ख पुत्रोंकी नानाभोग विलास सम्बन्धी संलग्नता देख किसी अर्क नामक वृद्ध कुटुम्बीने लाल वस्त्र पहिनने वाले सम्प्रदायकी दीक्षा ले ली है। सब द्विजों-ब्राह्मणोंने अध्यात्मविद्याको छोड़ उदरम्भरी शिक्षाको प्राप्त किया है, अथवा कणाद ऋषि प्रणीत न्यायशास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की है और अन्धकारने सुगत-बौद्धमतकी दीक्षा स्वीकृत की है ।।५९।।

**अर्थ**—हे तात ! खरमरीचि-सूर्य, कूटस्थता-पूर्वाचलके शिखरपर स्थितिको प्राप्त हो रहा है (पक्षमें प्रखरवक्ता-स्पष्टवादी मरीचि-सांख्यमतका प्रवर्तक) कूटस्थता-नित्यैकवादको प्राप्त हो रहा है। इधर द्विजराट् चन्द्रमा भ्रष्ट-छूटे हुए मार्गको प्राप्त हो रहा है (पक्षमें ब्राह्मण भृष्टाध्वर-हिंसक यज्ञको प्राप्त हो रहा है)। पूँछको ऊपर उठाने वाले मुर्गोंकी वृत्ति शब्दको प्राप्त हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



हिंसात्मतां गतोऽध्वरो यज्ञो यस्य स भवति। उदितपिच्छानामुत्थापितपिच्छानां ताम्रचूडानां गणः समूहस्तस्य वृत्तिर्वादभाग् वादं शब्दं भजतीति तथाभूता स्याद् भवेत्, ताम्रचूडा वदन्तीत्यर्थः। अथवा उदितपिच्छानां मयूरपिच्छधारिणां दिगम्बराणां गणः समूहस्तस्य वृत्तिः प्रवृत्तिः स्याद्वादभाक् स्याद्वादमनेकान्तवादं भजतीति तथाभूता, भवतीति शेषः ॥६०॥

दृष्ट्वा विवादमिह शाखिपदेषु नाना-
भिन्नां स्थितिं स्मृतिभवाधिगतेर्निदानम्।
तां पङ्कजातकलितामिति हासवृत्ति-
मस्त्येव निर्वृतिपथेऽथ सतां प्रवृत्तिः ॥६१॥

दृष्ट्वेत्यादि—इह लोके शाखिनां वृक्षाणां पदेषु स्थानेषु यद्वा वेदानां शब्देषु वीनां पक्षिणां वादं शब्दकरणमुत विसंवादं नानानेकप्रकारकं दृष्ट्वा तथैव स्मृतिभवः कामस्तस्याधिगतिरुत स्मृतिभ्यो मनुप्रभृतिकृताभ्यो याधिगतिर्ज्ञप्तिस्तस्याः स्थितिं भिन्नामुच्छिन्नामनेकप्रकारां वा दृष्ट्वा। इत्यत एव च पुनस्तां प्रसिद्धां पङ्कजातैः कमलैः कलितां स्वीकृतां हासवृत्तिं विकासलक्षणामुतेतिहासानां पुरावृत्तग्रन्थानां वृत्तिं टिप्पणिकां व्यवस्थितिरूपेण पङ्कजातेन कर्दमसमूहेन कलितां दृष्ट्वा निदानादस्मात् कारणादेवाथ पुनः सतां नक्षत्राणामुत सज्जनानां प्रवृत्तिर्निर्वृतिपथेऽस्ति ॥६१॥

---

रही है, अर्थात् मुर्गे बोल रहे हैं (पक्षमें मयूरपिच्छको धारण करनेवाले दिगम्बर मुनियोंकी वृत्ति स्याद्वाद वाणीको प्राप्त हो रही है और क्षणदा—रात्रिकी प्रवृत्ति सौगताय नियता—अच्छी तरह समाप्त हो गई है। (पक्षमें सौगत—बौद्ध मतको प्राप्त हो गई है—क्षणिकवादको स्वीकृत कर रही है ॥६०॥

**अर्थ**—इस लोकमें शाखिपद—वृक्षोंके स्थानोंपर होने वाले विवाद—पक्षियोंके कलकल शब्द को, कामकलाकी खण्डित स्थितिको और कमलों द्वारा प्राप्त विकासकी वृत्तिको देखकर सतां—नक्षत्रोंकी प्रवृत्ति निर्वृतिपथ—समाप्तिके मार्गमें हो रही है। तात्पर्य यह है कि इस समय वृक्षोंकी शाखाओं पर पक्षी चहक रहे हैं, रात्रिमें होने वाली कामकला भिन्न—खण्डित हो गई है, कमल हासवृत्ति—विकासको प्राप्त हो रहे हैं और नक्षत्र विलुप्त हो रहे हैं।

**अर्थान्तर**—विविध शाखाओंसे युक्त वेदोंके स्थानोंमें होने वाले विवाद—विसंवाद, स्मृति ग्रन्थोंके ज्ञानकी छिन्न-भिन्न दशा तथा इतिहासकी वृत्तिको पङ्कजातकलित—कर्दमसमूहसे लिप्त—मलिन देखकर सतां—सज्जनोंकी निर्वृतिपथ—निर्वाण मार्गमें प्रवृत्ति हो रही है। भाव यह है कि संसारके दूषित—अधार्मिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**नो नक्तमस्ति न दिनं न तमः प्रकाशः**
**नैवाथ भानुभवनं न च भानुभासः ।**
**इत्यर्हतो नृप ! चतुर्थवचो विलास-**
**सन्देशके सुसमये किल कल्यभासः ॥६२॥**

**नो नक्तमित्यादि**—हे नृप ! हे राजन् ! अर्हतश्चतुर्थवचः 'स्यादस्ति १ स्यान्नास्ति २ स्यादुभयं ३ स्यादवक्तव्यं ४ स्यादस्त्यवक्तव्यं ५ स्यान्नास्त्यवक्तव्यं ६ स्यादुभयं चावक्तव्यम् ७' एतेषु सप्तभङ्गेषु चतुर्थवचः स्यादवक्तव्यं नाम तस्य विलासश्चेष्टितं तत्सन्देशके कल्यभासः प्रभातस्य सुसमये किलाधुना नो नक्तं नैव दिनमप्यस्ति न च तमो नैव प्रकाशोऽपि नैव भानां नक्षत्राणामनुभवनं न च भानुभासः, किन्त्वस्फुटदृगेवेति ॥६२॥

**प्राक् शैलमेत्य विचरत्ययमंशुमाली-**
**त्थं तत्पदप्रचालितात्रजगैरिकाली ।**
**व्योम्नीक्ष्यते नरवराथ तदेकभागः**
**संगत्य भो जलरुहामधुना परागः ॥६३॥**

**प्रागित्यादि**—भो नरवर ! अयमंशुमाली सूर्यः प्राक्शैलं पूर्वपर्वतमेत्य गत्वा विचरति पर्यटनं करोति किलेत्थं तत्पदैस्तत्किरणैरेव चरणैः प्रचलिता समुत्थितात्र-

---

वातावरणको देख सज्जन पुरुष निर्वृतिपथ—निर्वाण मार्ग अथवा उपर्युक्त विवादोंसे दूर रहने वाले मार्गमें प्रवृत्त हो रहे हैं—तटस्थ बन रहे हैं ॥६१॥

**अर्थ**—हे नृप ! हे राजन् ! अर्हन्त भगवान्के चतुर्थ वचनकी चेष्टाका संदेश देने वाले प्रातःकालीन दीप्तिके सुन्दर समयमें न रात है, न दिन है, न अन्धकार है, न प्रकाश है, न नक्षत्रोंका अनुभवन है और न सूर्यकी दीप्तियाँ हैं ॥६२॥

**भावार्थ**—जिनेन्द्र देवके द्वारा प्रतिपादित स्यादस्ति आदि सात वचनोंमें चतुर्थ वचन 'स्यादवक्तव्य' है, अर्थात् पदार्थ न अस्ति रूप है, न नास्ति रूप है, न अस्तिनास्ति रूप है, किन्तु अवक्तव्य है, क्योंकि एक ही साथ अस्ति-नास्ति ये दो विरोधी धर्म नहीं कहे जा सकते । इसी तरह इस प्रभात कालमें न तो रात है, न दिन है, न अन्धकार है, न प्रकाश है, न नक्षत्रोंका अनुभव-सद्भाव है और न सूर्यकी रश्मियाँ है, किन्तु प्रकाश और अन्धकारकी एक अवक्तव्य दशा है ॥६२॥

हे नरश्रेष्ठ ! यह सूर्य पूर्वाचलपर पर्यटन करता है, घूमता है, यह बात प्रसिद्ध है । पर्यटनके समय सूर्यके पदों—चरणों (पक्षमें किरणों) से उस पर्वतपर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जातस्य गैरिकस्याली परम्परा सैवेयं रक्तप्रभा व्योम्नि नभसोऽक्ष्यते। अथ च तस्यैव गैरिकस्यैको भागोंऽशः सूर्यपादसंलग्नः सन् जलरुहा कमलेन सह संगत्य संगतिमासाद्य तत्रस्थेन मधुना धवलवर्णेन पुनर्धवलवर्णः परागो नाम पुष्परजो जातः ॥६३॥

निर्मूलतां व्रजति भो क्षणदाप्रणीति-
र्नास्ति प्रदीपभुवि कापिलसत्प्रतीतिः।
स्याद्वाद एव विभवः प्रतिपल्लवं स
भात्यर्हतो दिनकरस्य यथावदंशः ॥६४॥

निर्मूलतामित्यादि—भो महानुभाव ! शृणु। क्षणदाया रात्रेः प्रणीतिश्चेष्टाथवा क्षणदा यासौ प्रणीतिः क्षणिकमतनीतिः सुगतसूक्ता सा निर्मूलतां व्रजति प्रहाणिमाप्नोति। प्रदीपानां दीपकानां भुवि स्थाने लसन्ती शोभमाना या प्रतीतिः सा कापि नास्ति, तथैव कपिलानां कपिलानुयायिनां सती प्रतीतिर्नास्ति। प्रदीपभुवि ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञकस्वराणां स्थाने, शब्दे इत्यर्थः। एवं पल्लवं पल्लवं प्रति वृक्षस्य पत्रं पत्रं प्रति यद्वा पदो लवं लवं प्रति, प्रत्यक्षरदेशमित्यर्थः, विभवः पक्षिसमुत्थो वादः स्यादेव। अथवा स्याद्वादे कथञ्चिद्वादे खलु विभवः सत्यार्थप्रकाशकः प्रभावः सोऽस्तीत्यर्हतः श्लाघनीयस्याथ च जिनवरस्यैव दिनकरस्य सूर्यस्य यथावदंशो भाति ॥६४॥

---

उत्पन्न हुई गेरुकी धूलि उड़ी, वही धूलि आकाशमें कालप्रभाके रूपमें दिखाई देती है। उसी धूलिका कुछ भाग सूर्यके पादों–चरणों (पक्षमें किरणों) में लग गया। जब सूर्यका पाद कमलपर पड़ा तब वह गेरुको धूलि कमलकी मधुके साथ मिलकर सफेद रङ्गकी पराग बन गई ॥६३॥

**अर्थ**—भो महानुभाव ! सुनो, यह जो क्षणदाप्रणीति–रात्रिकी चेष्टा है, वह निर्मूलताको प्राप्त हो रही है, अर्थात् रात्रि समाप्त हो रही है (पक्षमें बौद्धोंकी क्षणदाप्रणीतिः–क्षणिक मतनीति निर्मूल हो रही है। प्रदीपभुवि–दीपकोंके स्थानमें कुछ भी सुन्दर प्रतीति नहीं है, अर्थात् दीपकोंकी प्रभा समाप्त हो गई है, अथवा प्रदीप–ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञक स्वरोंके स्थानभूत शब्दोंमें कुछ भी सुन्दर प्रतीति नहीं है, अर्थात् इस समय शब्दोंके उच्चारणमें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वरका भेद नहीं जान पड़ता। (पक्षमें कापिल–कपिलानुयायी–सांख्योंकी कोई प्रणीति–नित्यवादकी स्थापना नहीं है)। वृक्षोंके पल्लवपल्लव–पात-पातपर विभवो वादः, स्यात्–पक्षियोंका कलरव हो रहा है, अथवा पद्लवपद्लव–अक्षर अक्षरमें अर्हन्त भगवान् का स्याद्वाद–कथंचिद्–बाद ही दिनकरके अंशके समान विभव–वैभव–प्रभावको प्राप्त हो रहा है ॥६४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



नैकान्तयुक् सपदि देहभृतोऽधिकारः
स्याद्वादतत्परतया नियतो विचारः ।
नैवाप्युलूकतनयप्रभृतेः प्रचारः
इत्यर्हतः समुदयस्तपनस्य सारः ।।६५।।

नैकान्तेत्यादि—सम्प्रति देहभृतो मानवस्याधिकार एकान्तेन युङ्क्त इत्येकान्तयुग् रात्रेर्विरतत्वादेवान्तवासतत्परो न विद्यतेऽथवा देहभृतो देहपोषणतत्परस्य चार्वाकस्य एकान्तयुग् एकान्तवादासक्तोऽधिकारो मतप्रसारो न विद्यते । वीनां पक्षिणां चारो गमनं वादे कलकलकरणे तत्परतया नियतः स्याद् अस्ति । पक्षिणः कलकलरवं कुर्वाणा एव समुत्पतन्तीत्यर्थः । अथ च विचारः पदार्थस्वरूपविमर्शः स्याद्वादे कथञ्चिद्वादे तत्परता तया नियतो निश्चितः । दार्शनिका विद्वांसः स्याद्वादपद्धत्यैव तत्त्वविचारं कुर्वन्तीत्यर्थः । उलूकतनयप्रभृते रात्रिचरघूकादिपक्षिणां प्रचारः पर्यटनं नास्ति, सर्वे तेऽन्तर्हितास्तिष्ठन्तीत्यर्थः । इतीत्थमर्हतः श्लाघनीयस्य लोकयात्राकारणेन प्रशस्तस्य तपनस्य सूर्यस्य सारः श्रेष्ठसमुदय उद्गमो विद्यत इति शेषः । अथ च तपनस्य प्रतापवतोऽर्हतः प्रक्षीणघातिकर्मणो जिनवरस्य सारः श्रेष्ठसमुदयः सम्यक्प्रभावो वर्तते ।। ६५ ।।

नैर्मल्यमेति किल धौतमिवाम्बरं तु
स्नाता इवात्र सकला हरितो भवन्तु ।
प्राग्भूभृतस्तिलकवद् रविराविभाति
चन्द्रस्तु चौरवदुदास इतः प्रयाति ।।६६।।

नैर्मल्यमित्यादि—अम्बरमाकाशं वस्त्रं वा धौतमिव किल नैर्मल्यमेति, क्षालनेन

---

**अर्थ**—इस समय देहधारी मानवकी प्रवृत्ति एकान्तवादसे युक्त नहीं है, पक्षियोंका परिभ्रमण नियमसे कल-कल शब्दसे युक्त हो रहा है, उलूक आदि रात्रिचर पक्षियोंका प्रचार नहीं है और प्रशस्त—लोकोपकारी सूर्यका श्रेष्ठ उदय हो रहा है ।

**अर्थान्तर**—इस समय एकान्तवादके पोषक चार्वाक मतका अधिकार नहीं है, जितना भी तत्त्वविचार होता है, वह स्याद्वाद—कथंचिद्वादके अनुरूप होता है । उलूकपाद ऋषिके मतका प्रचार नहीं है, किन्तु प्रतापयुक्त अर्हन्त देवका ही श्रेष्ठ अभ्युदय हो रहा है ।। ६५ ।।

**अर्थ**—अम्बर-आकाश वस्त्रके समान निर्मलताको प्राप्त हो रहा है, समस्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वस्त्रस्य निर्मलता यथा भवति तथाकाशस्य वैशद्यमिदानीमस्ति। सकला हरितो दिशास्तास्तु पुनरत्र स्नाता इव भवन्तु शुद्धिमवाप्ताः। रविश्च प्राग्भूभृतः पूर्वपर्वतनामनरपतेस्तिलकवदाविभाति मूर्ध्नि वर्तते। चन्द्रस्तु चौरवदुदास्ते निष्प्रभस्सन्नितः प्रयाति निर्गच्छति ॥ ६६ ॥

सद्वारिशौक्तिकततिं स्वयमेव तेषु
संबिभ्रती कमलिनी कलपल्लवेषु।
उद्घाटितस्वनयना निजवल्लभस्या-
सौ स्वागतार्थमभियाति हितैकवश्या ॥६७॥

सद्वारीत्यादि—असौ दृक्पथगता कमलिनी हितैकवश्या प्रेमपरायणा सती उद्घाटितानि स्वनयनानि नाम नयनस्थानीयानि कमलानि यया सा, निजवल्लभस्य सूर्यस्य स्वागतार्थं तेष्वात्मीयेषु कलपल्लवेषु मृदुलदलेषु यद्वा हस्तकिसलयेषु सद्वारि शौक्तिकततिं सन्ति प्रशंसायोग्यानि वारीणि बिन्दुरूपत्वमाप्तानि यद्वा सत्प्रशस्तं वारि नैर्मल्यं येषां तानि च तानि शौक्तिकानि मुक्ताफलानि तेषां पङ्क्ति बिभ्रती संदधती स्वयमेव भाति शोभते ॥ ६७ ॥

उच्चैस्तनं स्पृशति कुड्मलमर्कदेव-
स्तत्रत्यकेशरकृतोपशरीरमेव।
अस्यापहृत्य जयिनः कललोहितत्वं
श्रीवारिजातवितते: समुदायसत्त्वम् ॥६८॥

उच्चैस्तनमित्यादि—अर्कदेवः सूर्यनामनरपतिः स श्रीवारिजातवितते: कमलिन्याः कुड्मलं समुदायसत्त्वं संग्रहरूपतामापन्नमुत मुदः प्रसन्नताया आयस्य सत्त्वेन सहितं समुदायसत्त्वमत एवोच्चैस्तनमुन्नतिगतं स्तनं स्पृशति। तत एवास्य सूर्यस्य केशरेण

---

दिशाएं स्नान कियेके समान—शुद्ध हो रही है, सूर्य पूर्वाचल रूप राजाके मस्तक पर तिलकके समान सुशोभित हो रहा है और चन्द्रमा चौरके समान उदास ( निष्प्रभ ) हो यहाँसे जा रहा है ॥ ६६ ॥

अर्थ—यह प्रेमपरायणा कमलिनी कमलरूप नेत्र खोलकर अपने पति—सूर्यके स्वागतके लिये कोमल पल्लव रूप हाथोंमें जलबिन्दु रूप मोतियोंकी पंक्तिको धारण करती हुई स्वयं सुशोभित हो रही है ॥ ६७ ॥

अर्थ—यतश्च सूर्य नामक राजा कमलिनी रूप स्त्रीके स्थूल एवं उन्नत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


कृतमुपशरीरं विलेपनं तत्रत्यं स्तनगतं च तत्केशरकृतोपशरीरं च तदपहृत्य जयिनोऽस्य सूर्यस्य कलं स्पष्टतमं लोहितत्वमुत च कलेषु ( करेषु ) किरणेष्वेव हस्तेषु लोहितत्वं सम्भवतीति यावत् ॥ ६८ ॥

भो भो प्रशस्तभविसम्भविसम्पदिभ्य !
प्राच्यम्बरं लसति लोहितमब्जिनीभ्यः ।
सद्योऽलिमुद्धरति शल्यमिवांशुमाली
कारुण्यपूर्णमिव पूत्कुरुते द्विजाली ॥६९॥

भो भो इत्यादि—भो भो इति सम्बोधनवाचकाव्ययपदम् । प्रशस्तभवो विद्यते येषां ते प्रशस्तभविनस्तेषु सम्भविनी भवितुमर्हा या सम्पत् तया इभ्य आढ्यस्तत्सम्बुद्धौ हे लोकोत्तरविभवशालिन् ! प्राचि पूर्वदेशे लोहितमरुणवर्णमम्बरं नभो लसति शोभते। अंशुमाली सूर्योऽब्जिनीभ्यः कमलिनीभ्यः शल्यमिव कण्टकमिवालिं षट्पदमुद्धरति निष्कासयति। द्विजानां पक्षिणामाली पङ्क्तिः कारुण्येन दयाभावेन पूर्णमिव यथा स्यात्तथा पूत्कुरुते रोदिति, परदुःखकातरत्वादिति यावत् ॥ ६९ ॥

शीर्षे हिमांशुमुलुकं प्रतिलोमभागं
द्यौर्मूर्च्छिताप्यनिशि चिरवमिताप्यनागः ।
सिन्दूरपूररुचिरं सुचिरप्रभाव-
मेषाऽधुना झगिति कम्बलमेति तावत् ॥७०॥

शीर्षे इत्यादि—हे अनागः ! आगोर्वजित ! निष्पाप ! निशि मूर्च्छिता सती या द्यौः शीर्षे हिमांशु चन्द्रमेव प्रालेयखण्डमाप्य लोमभागं लोमभागं प्रति भवतीति प्रतिलोम-

---

स्तनरूप कुड्मलका उसपर लगे हुए केशरके लेपको दूरकर स्पर्श करता है, अतः उस विजयी सूर्यके किरणरूप हाथोंमें लेपकी लालिमा आ लगी है ॥ ६८ ॥

अर्थ—हे लोकोत्तर सम्पत्तिसे युक्त राजन् ! पूर्व देशमें लाल आकाश सुशोभित हो रहा है। सूर्य अपनी प्रिया कमलिनियोंसे कांटेकी तरह भ्रमरको बाहर निकाल रहा है और उससे दुःखी हो पक्षियोंकी पंक्तिरूपी सहेली करुणा भावसे रो रही है ॥६९॥

अर्थ—जो दिव् (आकाश) रात्रिमें मूर्च्छित थी, वह अपने शिर पर चन्द्रमा रूपी हिमखण्ड और प्रत्येक रोमकूप पर नक्षत्ररूपी ओले रखकर चेतनताको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



भागं सर्वत्र स्वशरीर एवोलुकं डलयोरभेदादुडुकं नाम नक्षत्रमेव करकोपलमाप्यैवंविध-प्रकारेण चित्त्वं सचेतनावस्थामिता गताधुना शैत्यनिवारणाय सिन्दूरपूररुचिरमरुण-वर्णं सुचिरप्रभावं दीर्घकालं यावत्प्रभावकारकं कम्बलमेति प्राप्नोति तावत् ॥ ७० ॥

आशा सिता सुरभि-तानव-कौतुकेन
वा शासिता सुरभिता नवकौतुकेन ।
पुण्याहवाचनपरा समुदर्कसारा
पुण्याहवाचनपरा समुदर्कसारा ॥७१॥

आशेत्यादि—आशाखिलापि दिशा यद्वा लोकानां मनोवृत्तिस्सा सुरभीणां धेनूनां तानवं तनुसम्बन्धि यन्नवं कौतुकं विनोदस्तेन शासिता समाक्रान्ता सिता श्वेता जाता । नवकौतुकेन प्रफुल्लनवकमलकुसुमेन सुरभिता सौगन्ध्यमितास्ति । अर्कस्य सूर्यस्य सारः प्रसरणं समुद् हर्षसहितोऽर्कसारो यत्र सा समुदर्कसारा । अत एव पुण्याहस्य पवित्रदिवसस्य याचने कथने परा परायणा सती समुदर्कस्य भविष्यतः परिणामस्य सारो यत्र सोत्तरलोकसुधारणतत्परा, अत एव पुण्याहवाचने स्वस्तीत्यादिसमुच्चारणे तत्परास्ति ॥ ७१ ॥

सम्मुद्रणं सह समेत्य समेन राज्ञा
भास्वन्तमाप्य च मणिं हसतीह भाग्यात् ।
आमोदसम्भरभृदेष किलाब्जभूपः
संपश्य शस्यमनुजेष्ववतंसरूप ॥७२॥

सम्मुद्रणमित्यादि—हे शस्यमनुजेषु सत्पुरुषेषु अवतंसरूप ! सच्छिरोमणे ! अय-मब्जभूप एष कमलमहीपालः समेन राज्ञा श्रीमता चन्द्रेणोत समकक्षकेण सह सम्मुद्रणं

---

प्राप्त हुई थी, वह अब प्रातःकालके समय मानों शीतकी बाधा दूर करनेके लिये दीर्घकाल तक प्रभाव रखने वाले लाल कम्बलको ओढ़ रही है ॥ ७० ॥

**अर्थ**—समस्त दिशाएँ गायोंके शरीर सम्बन्धी विनोदसे व्याप्त हो सफेद हो गई हैं अथवा नवीन प्रफुल्ल कमल पुष्पोंसे व्याप्त हो सुरभित-सुगन्धित हो रहे हैं, अथवा सूर्यके हर्ष पूर्ण संचारसे युक्त हो 'आज पवित्र दिन है' यह कहनेमें तत्पर हैं अथवा सुन्दर पारलौकिक भविष्यकी श्रेष्ठतासे युक्त हो पुण्याह वाचन–स्वस्तिपाठके उच्चारणमें तत्पर हैं ॥ ७१ ॥

**अर्थ**—हे सज्जनशिरोमणे ! यह कमलरूप राजा श्रीमान् चन्द्रमारूपी राजाके साथ संमुद्रण–संकोच अथवा हर्ष सहित युद्धको प्राप्त कर, अर्थात् रातभर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



संकोचमुत प्रसन्नतायुक्तं युद्धं समेत्य कृत्वा च पुनर्भाग्याद् भास्वन्तं सूर्यमेव प्रकाशमानं मणिमाप्य हसति आमोदस्य सुगन्धस्य प्रमोदस्य च सम्भरभृत् किलैष समस्ति ॥ ७२ ॥

सूर्याख्यया प्रतिभटः स्फुटकेशरालो
पूर्वोक्त सानुमति सानुमतिः सुधालिन् ।
शब्दत्यनेन रणकर्मणि ताम्रचूलः
स्पर्द्धर्चङ्कुशत्वविषये भवतोऽनुकूलः ॥७३॥

सूर्याख्येत्यादि—हे सुधालिन् ! सुधारवादिन् ! पूर्वोक्तसानुमति उदयपर्वते सूर्याख्या प्रतिभटः स्फुटकेशराली तिष्ठति । अनेन ताम्रचूलः सानुमतिस्त्वदीयानुमतियुक्तः सन् स्पर्द्धर्चङ्कुशत्वविषये रणकर्मणि भवतोऽनुकूलः सन् शब्दति स्पर्द्धाकारिणमाह्वमन्निव किल शब्दं करोति ॥ ७३ ॥

वृत्रघ्नतामनुभवन् सुमनोऽनुशास्ता
हे देव ! देवपतिवत् सदृशस्तवास्ताम् ।
सम्यङ्निशान्तसमवायधरो दिनेश-
श्चित्रादिकोत्कलितसंग्रहवान् स एषः ॥७४॥

वृत्रघ्नतामित्यादि—हे देव ! स्वामिन् ! एष दिनेशो देवपतिवत् सुरेश इव तव सदृशश्चास्तामेव, 'वृत्रो दानवशक्रादिध्वान्तवारिदवैरिषु' इति वचनात् वृत्रमन्धकारं सुरेशपक्षे

---

चन्द्रमाके साथ जूझकर इस प्रातर्वेलामें सद्भाग्यसे सूर्यरूपी देदीप्यमान मणिको पाकर आमोद-हर्ष अथवा सुगन्धके भारको धारण कर हँस रहा है—आनन्दका अनुभव कर रहा है ॥ ७२ ॥

**अर्थ**—हे सुधारवादिन् ! पूर्वोक्त उदयाचल पर स्पष्ट कलगीसे युक्त सूर्य नामका प्रतिद्वन्द्वी स्थित है, अतः रणकार्य-युद्धरूप कार्यमें कुशल मुर्गा आपकी अनुमतिसे युक्त हो युद्धकार्यमें स्पर्धा करता हुआ उसे ललकार रहा है ।

**भावार्थ**—प्रातर्वेलामें मुर्गा बोलता है। क्यों बोलता है ? इसमें कविकी कल्पना है कि कोई राजा मुर्गोंको लड़ानेका खेल देख रहा है। पृथिवी तलका मुर्गा उदयाचल पर स्थित लाल कलगीसे युक्त सूर्यरूपी मुर्गाको देख कर राजाकी अनुमति पाकर उसे युद्धके लिये मानों ललकार रहा है ॥ ७३॥

**अर्थ**—हे देव ! यह सूर्य सुरेश-इन्द्र और आपके समान है । श्लेषालंकार होनेसे श्लोकगत सब विशेषण सूर्य, इन्द्र और जयकुमारके पक्षमें आयोजित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वृत्रं नाम दानवं जयकुमारपक्षे वृत्रं शत्रुं हन्तीति तत्तामनुभवन् स्वीकुर्वन्, सुमनसां कुसुमानां देवानां मनस्विजनानां वानुशास्ता। निशाया अन्तोऽभावो निशान्तः प्रभातकालस्तस्य समवायधरः, सुरेशपक्षे नितरां शान्ता निशान्तास्तेषां शान्तप्रकृतिकलोकानां समवायधरः, जयकुमारपक्षे निशान्तानां भवनानां समवायधरः। चित्रादिकैर्नक्षत्रैरुत्कलितो योऽसंग्रहश्चैत्रादिमासरूपस्तद्वान्, सुरेशपक्षे चित्रानाम स्वर्गवेश्या सादिर्यासां ताभिरुत्कलितसंग्रहवान्, जयकुमारपक्षे चित्राणि नानाप्रकारकाणि प्रतिबिम्बान्यादौ येषां तैः शयनासनदर्पणपरिकरैरुत्कलितः संग्रहस्तद्वान् ॥७४॥

सत्संगमापकरणो द्विजराड्विरोधी
सर्वत्र विभ्रमपरो जडजानुरोधी।
स्यूनोऽकुलीन इव गोलकरूकपत्वाद्
भो भूमिपाल ! तिमिलक्षणभक्षकत्वात् ॥७५॥

सदित्यादि—भो भूमिपाल ! स्यूनो नाम सूर्यः, स सतां नक्षत्राणामुत प्रशस्तपुरुषाणां सङ्गमस्यापकरणं निराकरणं यत्र सः, द्विजराजश्चन्द्रमसो विप्रस्य वा विरोधी, जडजानां

---

हैं। यथा—**सूर्यके पक्षमें**—सूर्य वृत्र—अन्धकारके नाशका अनुभव करता है, सुमनस्—कमल आदि पुष्पोंका अनुशासन करने वाला है, निशान्त—प्रातःकालके साथ समवाय—सम्बन्धको धारण करने वाला है और चित्रा आदि नक्षत्रोंसे प्रकट होनेवाले चैत्र आदि मासोंका संग्रह करने वाला है। **सुरेशके पक्षमें**—सुरेश वृत्र नामक दैत्यका घात करने वाला है, सुमनस्—देवोंका अनुशासन करने वाला है, निशान्त—अत्यन्त शान्त प्रकृति वाले मनुष्योंके समूहका धारक—रक्षक है और चित्रा आदि स्वर्गकी अप्सराओंके द्वारा निष्पादित संग्रहसे सहित है। **जयकुमारके पक्षमें**—जयकुमार वृत्रुओंके घातकपनेका अनुभव करने वाला है, सुमनस—विचारवान् मनुष्य अथवा विद्वानोंका अनुशासन करने वाला है, निशान्त—भवनोंके समूहसे सहित है और चित्र—नाना प्रकारके शयनासन-दर्पण तथा प्रतिबिम्ब आदिके संग्रहसे युक्त है ॥७४॥

**अर्थ**—हे भूमिपाल ! यह स्यून¹—सूर्य, अकुलीन—नीचकुलोत्पन्न मनुष्यके समान है। श्लेषालंकार होनेसे सब विशेषण सूर्य और अकुलीनके पक्षमें आयो-

---

१. 'स्यूनोऽर्के किरणे' इति विश्वलोचनः।
२. अमृते जारजः कुण्डो मृते भर्तरि गोलकः' इत्यमरः। पतिके जीवित रहते जारसे जो संतान होती है, उसे कुण्ड तथा पतिके मर जानेपर जारसे होने वाली संतान गोलक कहलाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कमलानामपि मूर्खाणामनुरोध आग्रहस्तद्वान्, सर्वत्र जगति विभ्रमपरो भ्रमणकारकः संदिहानश्चैवं पुनः, तिमिलक्षणस्यान्धकारसमयस्य निशीथस्य भक्षकत्वात् तथा तिमिर्नाम मत्स्यजातिर्लक्षणं स्वरूपं यस्यैवंभूतस्य मांसस्य भक्षकत्वात्, गोलकरूपकत्वाद् वर्तु लाकारत्वादुत द्विजनकत्वादकुलीन आकाशचारी निम्नकुलसञ्जातश्च भवति ।।७५।।

**यः पङ्कजातपरिकृच्च पुनः सुवृत्तो**
**राजाध्वरोधि अपि सत्पथसंप्रवृत्तः ।**
**एवं विरुद्धभवनोऽप्यविरोधकर्ता**
**हे विश्वभूषण ! विभाति दिनस्य भर्ता ।।७६।।**

य इत्यादि—हे विश्वभूषण ! जगतामलङ्कार ! एष दिनभर्ता सूर्यः, विभिः पक्षिभिः रुद्धं भवनं गृहं यस्य सोऽपि अविरोधकर्ता भवतीति विरोधे विरुद्धमननुकूलं भानां नक्षत्राणां वनं निवसनं यस्यैवंभूतः सन् वीनां रोधस्य कर्ता न भवति पक्षिणां संचारोऽऽधुनास्ति यतः । यो राजाध्वरोधी राजमार्गप्रतिकूलः सन्नपि सत्पथसंप्रवृत्तः

---

जित होते हैं। यथा—**सूर्यके पक्षमें**—सूर्य, सत्संगमापकरणः—नक्षत्रोंके संगमको दूर करने वाला है, द्विजराड्विरोधी—चन्द्रमासे विरोध करने वाला है, सर्वत्र विभ्रमपरः—समस्त पृथिवीमें भ्रमण करने वाला है, जडजानुरोधी—कमलोंका अनुरोध करने वाला है, आकृतिका गोल है, तिमिलक्षणभक्षक—अन्धकारको नष्ट करने वाला है तथा स्वयं अकुलीन—पृथिवीमें लीन नहीं, अर्थात् आकाशमें चलने वाला है। **अकुलीनके पक्षमें**—अकुलीन मनुष्य, सत्संगमापकरण—सत्पुरुषोंके संगमको दूर करने वाला है, द्विजराड्विरोधी—ब्राह्मणोंसे विरोध करने वाला है, सर्वत्र विभ्रमपरः—सब जगह सन्देह उत्पन्न करने वाला है, जडजानुरोधी—मूर्खोंसे अनुरोध—आग्रह करने वाला है, गोलक—जारज होनेके कारण अकुलीन है और मत्स्य आदिके मांसका भक्षक होनेसे निम्न कुलमें उत्पन्न है ।।७५।।

**अर्थ**—हे जगद्विभूषण ! इस पद्यमें विरोधाभासालंकारसे सूर्यका वर्णन है अतः सब विशेषण विरोध और परिहार पक्षमें आयोजित होते हैं यथा **विरोध पक्षमें**—यह दिनभर्ता—सूर्य, विरोधभवन—जिसका भवन पक्षियोंके रोधसे सहित है, ऐसा होकर भी अविरोधकर्ता—पक्षियोंके रोधका कर्ता नहीं है। **परिहार पक्षमें**—जिसे भ—नक्षत्रोंका निवास विरुद्ध प्रतिकूल है, ऐसा होकर भी अविरोधकर्ता—पक्षियोंके रोधको करने वाला नहीं है, अर्थात् पक्षियोंके संचारको करने वाला है। **विरोध पक्षमें**—राजाध्वरोधी—राजमार्गका विरोधी होकर भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सन्मार्गंचर इति विरोधे राजाध्वरोधी चन्द्रसञ्चाररोधकः सन् सत्पथसंप्रवृत्त आकाश-चारीति परिहारः । पङ्कजातः पापसमूहस्तस्य परिकृत्संपादकोऽपि सुवृत्तः सदाचारीति विरोधे पङ्कजानां कमलानां परिकृत् पुष्टिकारकस्सन् सुवृत्तो वर्तु लाकृतिर्विभाति ।।७६।।

> यः कश्यपान्वयतया मधुलिड्ढिताय
> विक्षिप्तरूपतरुणाङ्कितसम्प्रदायः ।
> पीत्वैष फुल्लदरविन्दजमात्महस्तैः
> सारं सहस्रकिरणोऽस्ति मदाश्रितस्तैः ।।७७।।

य इत्यादि—यः सहस्रकिरणः सूर्यः कश्यपान्वयतया 'कश्यपस्य पुत्रो रविर्भवतीति' पौराणिकानां मान्यता, तामाश्रित्य कश्यपान्वयतया लसन् मधुलिहां भ्रमराणां हिताय भवति । तथा कश्यं मदिरारसं पिबन्तीति कश्यपास्तदन्वयतयाऽथवा कश्यं पाति रक्षति स कश्यपः कलारस्तदन्वयतया मधुलिहां मद्यपानां हिताय भवति स एवैषोऽधुना फुल्लदर-विन्दजं विकसितकमलसम्भवं सारं तैरात्महस्तैः पीत्वा मदाश्रित उन्मत्तः खलु विक्षिप्त-रूपतरुणाङ्कितसम्प्रदायोऽस्ति, विभिः पक्षिभिः क्षिप्तं परित्यक्तं रूपं यस्य स चासौ तरु-स्तेनाङ्कितः सम्प्रदायः प्रचारो यस्य सोऽथवा विक्षिप्तरूपैरुन्मत्तैस्तैस्तरुणैर्यु वभिरङ्कितः सम्प्रदायो यस्य सोऽस्तीति ।।७७।।

---

सत्पथप्रवृत्तः-समीचीन मार्गमें चलने वाला है। **परिहार पक्षमें**—राजा चन्द्रमाके मार्गको रोकने वाला होकर भी सत्पथसंप्रवृत्तः-नक्षत्रोंके मार्ग-आकाशमें अच्छी तरह प्रवृत्त है। **विरोध पक्षमें**—पङ्कजातपरिकृत्-पाप समूहका सम्पादक होकर भी सुवृत्तः-समीचीन वृत्त-आचारसे सहित है। **परिहार पक्षमें**—पङ्कजात-कमलोंका परिकृत् पोषक होकर भी सुवृत्त-गोल है ।।७६।।

**अर्थ**—यतश्च यह सहस्रकिरण-सूर्य कश्यपके वंशमें उत्पन्न हुआ है, अतः मधुलिह्-भ्रमरोंके हितके लिये है। अथवा कश्यप-मद्यपायीके कुलमें उत्पन्न हुआ है, अतः मधुलिह्-मद्यपायी मनुष्योंके हितके लिये है। ऐसा यह सूर्य विक-सित कमलोंमें उत्पन्न होनेवाले सार-मद्यको अपने किरणरूप हाथोंसे पीकर मदाश्रित-नशामें विमग्न हो गया है, अत एव इसका सम्प्रदाय विक्षिप्तरूप-उन्मत्तप्राय तरुणों युवा जनोंसे अङ्कित है। इसके पीछे यही उन्मत्ततरुण लगे रहते हैं, अथवा विक्षिप्त-पक्षियोंसे त्यक्त तरु-वृक्षोंसे अङ्कित है। प्रातःकालमें पक्षी वृक्षोंको छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं, यह स्वाभाविक है ।।७७।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



भृष्टोडुमौक्तिकवदुच्चलरक्तरीति-
ध्वान्तेभकुम्भभिदितो रविकेशरीति।
दृष्ट्वा ततः प्रभवदुत्कलितां महीं ता-
मेषोऽस्ति पालितपृषद् द्विजराट् सचिन्तः ॥७८॥

भृष्टेत्यादि—भृष्टानि सम्पातितानि उडुमौक्तिकानि तद्वच्च पुनरुच्चलोद्गच्छन्ती रक्तरीतिररुणता यत्र यद्वोच्चलस्य नाम शरीरसारस्य रीतिर्यत्रैवं यथा स्यात्तथा ध्वान्त एवेभोऽन्धकाररूपो हस्ती तस्य कुम्भभिद् मस्तकभेदकरोऽसौ रविरेव केशरी सिंहो भवतीति किल दृष्ट्वा, तत एव प्रभवन्तो संवर्धमानोत्कलिता व्याकुलता प्रस्फुटत्कमलपत्रता यत्र तां महीं दृष्ट्वा तत एवैष पालितः पृषद्धिरणोऽङ्कगातो येन स द्विजराट् चन्द्रो वा ब्राह्मणो वा सचिन्तश्चिन्तातुरोऽस्ति। तत एव निष्प्रभो जात इति प्रसङ्गध्वनिः ॥७८॥

अश्नन्निवोडुकुवलैककुलं नमस्य !
हंसोऽयमेति तटमम्बरमानसस्य।
यत्पादपातनवशेन तमालनीलं
चैतस्य सन्तमसशैवलमस्तशीलम् ॥७९॥

अश्नन्नित्यादि—हे नमस्य ! नमस्करणीय। अयं हंसः सूर्यो हंसत्वादुडून्येव कुवलानि मौक्तिकानि तेषामेकं मुख्यं कुलं समूहमश्नन् कवलीकुर्वन् सन् अम्बरमानसस्याकाशमानसरोवरस्य तटं तीरप्रदेशमाप्नोति, यस्य पादानां किरणानामेव चरणानां पातनवशेन

---

अर्थ—प्रातःकालमें नक्षत्र नष्ट हो जाते हैं, आकाशमें लालिमा छा जाती है और चन्द्रमा कान्तिहीन हो जाता है। ऐसा क्यों होता है, इस सन्दर्भमें कविकी कल्पना है—नक्षत्ररूपी मोतियों को बिखेरता और अरुणतारूपी खूनके फुव्वारोंको ऊपरकी ओर उड़ाता हुआ सूर्यरूपी बब्बर सिंह अन्धकाररूपी हाथीके मस्तकको भेदकर इस ओर आ रहा है। यह देख पृथिवीमें व्याकुलता छा गई—कमलकी कलियोंके बहाने उसका हृदय फट गया। इस घटनासे अपने भीतर हरिणकी रक्षा करनेवाला चन्द्रमा विचारता है कि सूर्यरूपी बब्बर शेरने जब हाथीको नहीं छोड़ा, तब हमारे हरिणको कैसे छोड़ेगा ? इस चिन्तासे ही मानों चन्द्रमा कान्तिहीन हो गया है ॥७८॥

अश्नन्नित्यादि—हे नमस्य ! हे नमस्करणीय ! यह हंस—सूयरूपी हंस—मराल नक्षत्ररूपी मोतियोंके प्रमुख समूहको खाता हुआ आकाशरूपी मानसरोवरके तट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


संचारेणास्य गगनतडाकस्य तमालवन्नीलं सन्तमसं तम एव शैवलं तदेतदस्तशीलं नष्टप्रायमभवत्तत इति ॥७९॥

आकाशनीरनिकरे मकरः कुलीरो
मीनोऽब्ज इत्यनुमतानि पदानि धीर ।
यत्रानिमेषनिवहो विभवत्यपोति
तस्यैव विद्रुमकृतेयमुषः प्रतीतिः ॥८०॥

आकाशेत्यादि—हे धीर ! आकाशनाम नीरनिकरे समुद्रे मकरः कुलीरः, कर्कटः मीनः, अब्जश्चन्द्रमा इत्यनुमतानि [1]पदानि वस्तूनि सम्भवन्ति, मीनमकरकर्कटनामराशिसद्भावात् । यत्र च निमेषाणां देवानां झषाणां निवहः संग्रहोऽपि विभवति शोभते, तस्यैव विद्रुमैः प्रवालैः कृता सम्पादितेयमुषःप्रतीतिः प्रातररुणिमास्ति खलु ॥८०॥

सत्कीर्तिरञ्चति किलाभ्युदयं सुभासा
स्थानं विनारि-मृदुवल्लभराट् तथा सः ।
याति प्रसन्नमुखतां खलु पद्मराजो
निर्याति साम्प्रतमितः सितरुक्समाजः ॥८१॥

सत्कीर्तिरित्यादि—हे विनारिमृदुवल्लभराट् ! विना अभावं गता अरयो यस्य स विनारिः, मृदूनां कोमलप्रकृतीनां वल्लभः प्रिय इति मृदुवल्लभः, विनारिः मृदुवल्लभश्च

---

पर आ रहा है। इसीके पाद-किरणरूप पाद-चरणोंके पड़नेसे तमालके समान काला अन्धकाररूपी शैवाल नष्ट हो गया है ॥७९॥

**अर्थ**—हे बुद्धिमन् ! आकाश रूपी समुद्रमें राशियोंके रूपमें मकर, मीन और चन्द्रमा ये वस्तुएँ सर्वसंमत हैं। उसी आकाश रूप समुद्रमें अनिमेष–देव अथवा मत्स्योंका समूह भी सुशोभित है। उसी आकाश रूप समुद्रके मूंगा–प्रवालोंके द्वारा प्रातःकालीन लालिमाकी गई है ॥८०॥

**भावार्थ**—आकाश एक समुद्र है, यह तो उसमें मीन, कुलीर तथा मकर आदि जलजन्तुओं (तन्नामक राशियों) के निवाससे सिद्ध है। उसी आकाशमें विद्रुम–प्रवाल भी रहता है। इसका समर्थन इस प्रातःकालीन लालिमासे होता है ॥८०॥

**अर्थ**—हे अजातशत्रु तथा कोमल प्रकृति वाले मनुष्योंको प्रिय राजन् ! इस प्रातर्वेलामें सूर्यदीप्तिकी समीचीन कीर्ति अभ्युदयको प्राप्त हो रही है,

---

१. 'पदं व्यवसितस्थानत्राणलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



यो राट् तत्सम्बुद्धौ हे जयकुमार ! साम्प्रतमधुना प्रभात इव विक्रमस्य २००९ वर्षेऽपि किल सुभासः सूर्यदीप्त्याः सती चासौ कीर्तिरभ्युदयमञ्चति, यद्वा सती कीर्तिर्यस्य स सुभासमहोदयोऽभ्युदयमञ्चति प्राप्नोति । तथा विनारिरजातशत्रुः मृदुवल्लभः कोमलप्रकृतिकप्रियो राट् राजेन्द्रप्रसादः स्थानं प्रथमं राष्ट्रपतिस्थानमञ्चति । अथवा विगता दिवंगता नारि-स्त्री यस्य स विनारिः, मृदुः कोमलप्रकृतिको वल्लभराट् 'वल्लभभाई पटेल' इति नाम्ना प्रसिद्धो राजनेता स्थानं प्रतिष्ठामञ्चति । पद्ममेव राजेति पद्मराज उत पद्मेषु राजेति पद्मराजः कमलं प्रसन्नं मुखमग्रभागो यस्य तद्भावस्तां प्रफुल्लतां याति । अथ च पद्मराज एतन्नामा राजनेता भारतदेशस्य स्वातन्त्र्यप्राप्तेः प्रसन्नमुखतां सस्मितवदनतां याति । सिता रुक् दीप्तिर्यस्य स सितरुक् चन्द्रस्तस्य समाजः परिवारो नक्षत्रसमूह इतोऽस्मात् स्थानाद् निर्याति निर्गच्छति । अथवा सितरुचो गौराङ्गाः 'अंग्रेज' इति नाम्ना प्रसिद्धास्तेषां समाजः समूह इतो भारतदेशान्निर्याति निर्गच्छति स्वदेशं गच्छति ॥८१॥

**मञ्जुस्वराज्यपरिणामसमर्थिका ते सम्भावितक्रमहिता लसतु प्रभाते ।**
**सूत्रप्रचालनतयोचितदण्डनीतिः सम्यग्महोदधिषणासुघटप्रणीतिः ॥८२॥**

**मञ्जुस्वरेत्यादि**—अस्मिन् प्रभाते हे जयकुमार ! ते तव सम्यङ् महोदधिषणाया सुघटप्रणीतिः—सम्यङ् समीचीनं महस्तेजो ददातीति सम्यङ्महोदा, तथाभूता धिषणा बुद्धिर्यत्र तादृशी सुघटप्रणीतिर्मनस्कृतिरथवा सम्यङ् मह उत्सवो यस्मात्तच्च तद् दधि च तस्य

अथवा अभिगत-प्राप्त है उदय-उत्कर्ष जिसमें, ऐसे स्थानको प्राप्त हो रही है । पद्मराज-श्रेष्ठ कमल ( शतदल-सहस्रदल ) प्रसन्न मुखताको प्राप्त हो रहा है, अर्थात् विकसित है और सितरुक्समाज-चन्द्रमाका परिवार-नक्षत्रगण यहाँसे निकल रहा है, छिपकर अन्यत्र जा रहा है ।

**अर्थान्तर**[1]—हे देव ! इस २००९ विक्रम संवत्में सुभासबोसकी उज्ज्वलकीर्ति अभ्युदयको प्राप्त हो रही है, अजातशत्रु तथा कोमल प्रकृति वालोंको प्रियराट्-डॉ० राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपतिके आसनको प्राप्त हो रहे हैं, पद्मराज प्रसन्नमुखताको प्राप्त है, अर्थात् देशके स्वतन्त्र होनेसे हर्षका अनुभव कर रहे हैं और गौराङ्ग-अंग्रेजोंका परिवार अथवा समूह यहाँसे निकल रहा है-अपने देशको जा रहा है ॥८१॥

**अर्थ**—हे जयकुमार ! इस प्रभात वेलामें आपकी वह दण्डनीति अच्छी तरह सुशोभित हो जो **मञ्जुस्वराज्य-परिणामसमर्थिका**-अपने राज्यके सुन्दर

१. स्वतन्त्र भारतमें जयोदय काव्यकी रचना होनेसे कविने उस समयका दिग्दर्शन कराया है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



षणः श्रेष्ठ निर्णयो यत्र सा सुघटप्रणीतिः कुम्भव्यवस्था 'षकारस्तु मतः श्रेष्ठे णकारो ज्ञाननिर्णये' इति कोषसद्भावात् । सूत्रस्य प्रामाणिकन्यायसूक्तस्य पक्षे सूत्रस्य तूलतन्तु-समूहस्य प्रचालनं स्पष्टीकरणं तद्भावेनोचिता सम्भवप्राया दण्डनीतिः सामदामदण्डभेदा इत्येवं राज्यव्यवस्थाया स्तृतीयोक्तिरथवा दण्डस्य दधिमन्थस्य नीतिर्यत्र एतादृशी भवति, तथा सभावितेन क्रमेण हितं प्रजाकल्याणं यत्राथवा सम्भाविना भविष्यता तक्रेण महिता सती मञ्जोः प्रशस्तस्य स्वराज्यपरिणामस्य समर्थिका, यद्वा मञ्जुस्वरा सुशब्दवती सती आज्यस्य घृतस्य परिणामसमर्थिका लसतु । अथ च हे महोद ! तेजःप्रद ! ते तव धिषणा बुद्धिरेवंभूता भवतु । तथाहि मञ्जु मनोहरं यत् स्वराज्यं तस्य परिणामः साफल्यं तस्य समर्थिका । सम्यक्प्रकारेण भावितेन समितिषु चिन्तितेन क्रमेण कार्यप्रणात्याऽहिता सहिता । सूत्रसंचालनं राज्यतन्त्रपरिचालनं तस्य भावस्तया उचिताऽभ्यस्ता योग्या वा दण्डनीतिर्यस्यां वा सुघटप्रतीतिः सुघटिता सुसंगता प्रतीतिर्यस्या तथाभूता ॥८२॥

---

परिणामका समर्थन करने वाली है, **सम्भावितक्रमा**–उत्तम क्रमसे सहित है, **हिता**–प्रजाका कल्याण करने वाली है, **महोदधिषणासुघटप्रणीतिः**–उत्सव अथवा तेजको देने वाली बुद्धिका जिसमें उत्तम प्रयोग किया गया है, तथा **सूत्र-प्रचालनतया**–राज्यशासन चलानेके कारण जो उचित है ।

**अर्थान्तर**—हे जयकुमार ! इस प्रभात वेलामें आपकी वह **सुघटप्रणीति**–उत्तम कुम्भ व्यवस्था अच्छी तरह शोभायमान हो जो **मञ्जुस्वरा**–सुन्दर शब्द वाली है, अर्थात् मन्थनके समय जिसमें 'कलछल'का सुन्दर शब्द हो रहा है, जो **आज्यपरिणामसमर्थिका**–घृतरूप फलका समर्थन करने वाली है, **सच्भावित-क्रमहिता**–तैयार होने वाली छाँछसे जो उत्तम है, **सूत्रप्रचालनतयोचितदण्डनीति**–संलग्न सूत्र–रस्सीके संचालनसे जो योग्य मन्थन दण्डसे सहित है, अर्थात् संलग्न रस्सीके संचालनसे जिसमें मन्थन दण्ड–मथानी अच्छी तरह घूम रही है और जो **महोदधिषणा**-उत्सव अथवा तेजरूप दहीके ज्ञान और निर्णयसे युक्त है, अर्थात् जिसमें स्थित दहीका ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त किया गया है ।

**भावार्थ**—भारतवर्षमें प्रातःकाल दही विलोनेका कार्य होता है, अतः आप उठकर इस व्यवस्था को संचालित करें ।

**अथवा**—से महोद ! हे तेज या प्रतापको देनेवाले ! आपकी ऐसी बुद्धि हो जो मनोहर गणतन्त्रकी सफलताका समर्थन करने वाली हो, जो असेम्बलीमें अच्छी तरह विचारित कार्यप्रणालीसे सहित हो, जो राज्यतन्त्रके संचालनकी दृष्टिसे उचित दण्डनीतिसे सहित हो और सुघटप्रतीति–सुसंगत प्रतीतिसे सहित हो–व्यवहार्य कार्योंको करने वाली हो ॥८२॥



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



यद्वा सुगां धियमिता विनतिस्तु राज-
गोपाल उत्सवधरस्तव धेनुरागात् ।
हृष्टा सरोजिनि अथो विषमेषु जिन्ना-
नुष्ठानमेति परमात्मविदेकभागात् ॥८३॥

यद्वेत्यादि—हे राजन् ! यद्वा तव विनतिर्विनीतता सुखेन गच्छतीति सुगां निर्बाधगतिशालिनीं धियं बुद्धिमिता प्राप्ता। किञ्च, धेनुषु रागस्तस्माद् गोपालानां गोपानां राजेति राजगोपालः, राजवार्त्तिकवत्प्रयोगः, उत्सवस्योल्लासस्य धर इत्युत्सवधरः, तव गोरक्षणप्रणाल्या सर्वे गोपालाः सोत्सवाः सन्ति । सरोजिनी कमलवल्ली हृष्टा विकसिता । अथो किञ्च विगमेषुः कामस्तं जयतीति विषमेषुजिन्मदनविजयी वा पुरुषः परमात्मविदः परमात्मानं वेत्तीति परमात्मवित् तस्यैकभागत्वात् तस्यैकांशरूपत्वादिह प्रातःसमयेऽनुष्ठानं सामायिकजिनपूजनादिकं प्रशस्तकार्यमेति प्राप्नोति । अथ च ते तव विनतिर्नम्रता शिक्षा वा सुगांध्रियं गांधीति प्रसिद्धो राष्ट्रपुरुषस्तस्येदं गांधियं शोभनं गान्धियं सुगान्धियं गान्धीसम्बन्धिकार्यमिता प्राप्ता तदनुसारिणी वर्तत इति यावत् । धेनुरागाद् गोसंरक्षणविचारात्, राजगोपालः राजगोपालाचार्येति प्रसिद्धो राजनेता उत्सवधरः प्रसन्नो वर्तते । एतस्मादेव सरोजिनि 'सरोजिनी नायडू' इति प्रसिद्धा राजनेत्री हृष्टा संप्राप्तहर्षा वर्तते । किञ्च, जिन्ना एतन्नामा यवननेता विषमेषु हिन्दूयवनविरोधेषु अनुष्ठानं हिन्दुस्तान-पाकिस्तानविभजनरूपं कार्यमेति । कथंभूतोऽसौ ? परं परकीयं भारतवर्षमात्मानं स्वकीयं वेत्ति मन्यत इति परमात्मवित् । एकश्चासौ भागश्चेत्येकभागस्तस्मात् । भारतवर्षस्यैको भागो मदीयो वर्तत इति बुद्धया ॥ ८३ ॥

---

**अर्थ**—हे राजन् ! आपकी विनीतता उत्तम गतिशील बुद्धिको प्राप्त है। आपकी गोरक्षाकी प्रीतिसे राजके सब गोपाल आनन्द मना रहे हैं। इस प्रातवेंलामें कर्मालनी हर्षित-विकसित है और मदनविजयी पुरुष अपने आपको परमात्मा-परब्रह्मका एक अंश माननेसे संध्यावन्दनादि अनुष्ठान-प्रशस्त कार्य कर रहे हैं।

**अर्थान्तर**—हे राजन् ! आपकी विनम्रता या शिक्षा **गांधी जी** की विनम्रता या शिक्षाका अनुसरण कर रही है। आपके गोप्रेमसे **राजगोपालाचार्य** आनन्दका अनुभव कर रहे है तथा **सरोजिनी नायड्** प्रसन्न हैं। सिर्फ एक ओर **जिन्ना** नामक यवननेता परकीय भारतको अपना मानते हुए विषम-पारस्परिक विरोधके कार्योंमें हिन्दुस्तान-पाकिस्तानके विभाजनका अनुष्ठान कर रहे हैं ॥ ८३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


गान्धीरुषः प्रहर एत्यमृतक्रमाय
सत्सूत नेहरुचयो बृहदुत्सवाय ।
राजेन्द्रराष्ट्रपरिरक्षणकृत्तवाय-
मत्राभ्युदेतु सहजेन हि सम्प्रदायः ॥८४॥

गान्धीत्यादि—राज्ञां राजसु वेन्द्रस्तत्सम्बुद्धौ हे राजेन्द्र ! जयकुमार ! उषःप्रहरे प्रातर्यामे धीर्बुद्धिः, पुंसामिति शेषः, अमृतस्य मोक्षस्य क्रमः प्राप्तिस्तस्मै गां पुण्यपाठरूप वाणीमेति प्राप्नोति । प्रातर्वेलायां पुण्यपाठं कुर्वन्ति मोक्षाभिलाषिण इति भावः । उत पुनरिह प्रातःसमये सत्सु नक्षत्रेषु रुचयो दीप्तयो बृहदुत्सवाव महोत्सवाय न भवन्तीनि शेषः । अत्रेह भारते राष्ट्रस्य परिरक्षणं करोतीति राष्ट्रपरिरक्षणकृत् देशरक्षाकरस्तवां जयकुमारस्यायं सम्प्रदायः सम्प्रददातीति सम्प्रदः स चासौ अयः शुभावहो विधिश्चेति । तथा हि निश्चयेन सहजेन सहजस्वभावतयाभ्युदेतु समृद्धिं प्राप्नोतु । अथ च गान्धी एतन्नामा राष्ट्रपिता तस्य रुट् कोपस्तस्य प्रहरो निराकर्ता नेहरुचयो जवाहरलालनेहरुपरिवारः सत्सु सज्जनेषु बृहदुत्सवाय प्रधानमन्त्रित्वेन महोत्सवाय एति आगच्छति । गान्धीः शान्तिवादी नेहरुचयश्च उग्रवादी बभूव । तदुग्रतां दृष्ट्वा गान्धीः कदाचिद्रोषं प्रदर्शयति स्म । अन्ते नेहरुरपि शान्तिप्रियो बभूव । एतेन स तस्य रुषोऽपहर्ता जातः । राजेन्द्रश्चासौ राष्ट्रपरिरक्षणकृच्चेति तथा प्रथमराष्ट्रपती राजेन्द्रप्रसादः । अत्र देशे तवायं सम्प्रदायो राष्ट्रनेतृपरिकरः सहजेनाभ्युदेतु समृद्धिं प्राप्नोतु ॥ ८४ ॥

श्रीवर्द्धमानकमलं भुवने लसन्तं
दृष्ट्वाञ्चति भ्रमरवोऽथ उपायनं तत् ।
तस्यामृतस्रुतिमयीं प्रतिपद्य हे गां
लोकस्य किन्न घट एवमुदेति वेगात् ॥८५॥

श्रीत्यादि—हे राजन् ! भुवने लोके अलमत्यन्तं लसन्तं शोभमानं श्रीवर्द्धमान एव

---

अर्थ—हे राजाओंके इन्द्र ! प्रातःकालके पहरमें उत्तम पुरुषोंकी बुद्धि अमृतत्व प्राप्त करनेके लिये पुण्य पाठरूप वाणीको प्राप्त होती है। इस समय सत्-नक्षत्रोंमें दीप्ति महान् उत्सवके लिये नहीं होती, अर्थात् नक्षत्र निष्प्रभ हो जाते हैं। अतः राष्ट्रकी रक्षा करने वाला आपका यह समीचीन भाग्य सहज स्वभावसे वृद्धिको प्राप्त हो। गांधीजीके रोषको दूर करने वाला नेहरु परिवार सत्सु-सज्जनोंमें महान् उत्सवके लिये तत्पर है और राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र-प्रसाद, यह सब राष्ट्रनेताओंका परिकर अभ्युदयको प्राप्त हो ॥ ८४ ॥

अर्थ—संसारमें अतिशय शोभायमान श्रीमहावीर स्वामीके दर्शन करनेसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



श्रीवर्द्धमानकस्तं पश्चिमतीर्थंकरं दृष्ट्वा अयनस्य मोक्षमार्गस्य समीप इत्युपायनं मोक्षमार्गविषये भ्रमस्य संदेहस्य रवः शब्दोऽधो नीचैरञ्चति गच्छति, मोक्षमार्गविषये लोकस्य सन्देहो नश्यतीत्यर्थः। तत्तस्मात् कारणात्तस्य श्रीवर्द्धमानजिनेन्द्रस्य अमृतस्रुतिमयीं पीयूषप्रवाहरूपामुत मोक्षप्राप्तिरूपां गां वाणीं प्रतिपद्य लब्ध्वा लोकस्य जनसाधारणस्य घटो हृदयमेवं वेगात् किन्नोदेति मोक्षं प्रति किन्नोत्पतति ? जिनवाणीमाकर्ण्य भव्येन मोक्षप्राप्त्युपायः कर्तव्य इति भावः। अथ च भुवने जले लसन्तं शोभमानं श्रिया शोभया वर्द्धमानमेधमानं कमलं कमलपुष्पं दृष्ट्वा भ्रमरस्य बोधो ज्ञानं तद् कमलपुष्पमुपायनमुपहारभूतमञ्चति गच्छति, जले विलसन्तं कमलमुपायनं मत्वा भ्रमरस्तदुपरि गच्छतीत्यर्थः। तस्य भ्रमरस्यानन्दस्राविणीं झङ्कृतिं श्रुत्वा लोकस्य घटो हृदयमेवं वेगात् किन्नोदेति किं नोत्पतति, अपि तूत्पतत्येव ॥ ८५ ॥

निर्दोषतामनुभवन्नुत केवलेन
प्राभातिकः समय एष नरेश तेन ।
सन्मार्गदर्शकतया विधृतोक्तिकत्वा-
दर्हन्निवोपकुरुताद् भुवने किल त्वाम् ॥८६॥

**निर्दोषतामित्यादि**—हे नरेश ! एष प्राभातिकः प्रभातसम्बन्धी समयोऽर्हन्निव तीर्थंकरपरमदेववत् केवलेन के सूर्येऽभ्युदयात्मकबलसद्भावेनोत केवलनामकेनातीन्द्रियज्ञानेन निर्दोषतां रात्रिरहिततां तथा रागादिदोषरहिततामनुभवन् विभिः पक्षिभिर्धृताऽभिव्यञ्जितोक्तिः शब्दपरम्पराऽथवा जीवन्मुक्तदशायां विधृता दिव्यध्वनिरेतत्कत्वात् सन्मार्गस्याकाशस्योत मुक्तिवर्त्मनो दर्शकतया त्वामुपकुरुतात् ॥८६॥

---

मोक्षमार्गके विषयमें होने वाले सन्देहकारक शब्द नष्ट हो जाते हैं। फिर उनकी अमृतप्रवाहिणी वाणीको प्राप्तकर लोगोंका हृदय मोक्षके प्रति वेगसे पुरुषार्थ क्यों नहीं करता ?

**अर्थान्तर**—भुवन-जलमें खिले हुए कमलको देखकर भ्रमरबोध-भ्रमरका ज्ञान उसे उपहार समझ प्राप्त करता है। उस भ्रमरकी आनन्ददायिनी झङ्कार सुनकर मनुष्यका हृदय वेगसे क्या नहीं उछलता ? अर्थात् उछलता ही है ॥८५॥

**अर्थ**—हे नरेश ! यह प्रातःकाल सम्बन्धी समय, अर्हन्त भगवान्‌के समान, **केवलेन**—सूर्यके उदयरूप अभ्युदयसे (पक्षमें केवलज्ञान नामक अतीन्द्रिय ज्ञानसे) **निर्दोषता**—रात्रिके अभावका (पक्षमें वीतरागताका) अनुभव करता हुआ, **विधृतोक्तिकत्वात्**—पक्षियोंके शब्दोंको धारण करनेसे (पक्षमें दिव्य ध्वनिसे युक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**भानोर्दर्शनमवनिपशस्य ! सङ्गमनाय रथाङ्गयुगस्य ।**
**ज्ञानं मरुतश्चरणं चारु मुक्तिर्मुकुलस्यास्ति यथारुक् ॥८७॥**

भानोरित्यादि—हे अवनिपशस्य ! नरपतिप्रधान ! संगमनाय संचारार्थमुत सन्मार्गप्रवृत्त्यर्थं भानोर्दर्शनमवलोकनं सन्मतोपलम्भनं च । रथाङ्गयुगस्य चक्रवाकमिथुनस्य संगमनाय परस्परमालिङ्गनार्थं ज्ञानं प्रति बोधसन्मार्गप्रवृत्त्यर्थं च तथा मरुतो वातस्य चारुचरणं प्रचार आचरणं च, मुकुलस्य कुड्मलबन्धनस्य पुनर्मुक्तिरुन्मोचनं संसाराभावो वा यथारुक् रुचमधिगम्य भवतीति यथारुक् ॥८७॥

**कोकः शोकमपास्य याति दयितां लोकस्तु तां मुञ्चति**
**भो कल्याणनिधे ! विकासकलनामोकः श्रियामञ्चति ।**
**नो कस्मात्तव याति दोः कृतिविधिं साधो ! कलाकौशले-**
**ऽहो कर्तव्यकथोपदेशकृदथो सूर्योऽस्ति पूर्वाचले ॥८८॥**

कोक इत्यादि—भो कल्याणनिधे ! हे श्रेयोभाण्डार ! कोकश्चक्रवाकः शोकं विरहजनितं दुःखमपास्य दूरीकृत्य दयितां वल्लभां चक्रवाकीं याति प्राप्नोति । तु किन्तु लोको जनो तां दयितां मुञ्चति । श्रियां लक्ष्मीणामोकः सदनं कमलमित्यर्थः, विकासकलनां प्रफुल्लतामञ्चति गच्छति । हे साधो ! तव दोर्बाहुः कलाकौशले कलाचातुर्ये कृतिविधिं कार्यकरणप्रकारं कस्मात्कारणात् नो याति । अहो ! कर्तव्यकथानामुपदेशं करोतीति कर्तव्यकथोपदेशकृत् सूर्यः, अथोऽनन्तरमेव काले पूर्वाचलेऽस्ति विद्यते । सूर्यः पूर्वाचलमधिष्ठाय तव दैवसिककार्यकरणाय कथयतीति भावः ॥८८॥

---

होनेके कारण) **सन्मार्गदर्शकतया**—आकाशके दिखानेसे (पक्षमें समीचीन मार्गके दिखानेसे) जगत्‌में तुम्हारा उपकार करे ॥८६॥

**अर्थ**—हे नरपतिप्रधान ! सूर्यका दर्शन चकवा-चकवीके मिलनके लिये है। सूर्य दर्शनसे यथार्थ ज्ञान होता है, वायुका सुन्दर संचार होता है और कमल-कुड्मलकी बन्धमुक्ति भी होती है। यह सब कार्य रुचिके अनुसार होते हैं ॥८७॥

**अर्थ**—हे कल्याणके भाण्डार ! चकवा शोक छोड़कर वल्लभाके पास जा रहा है, परन्तु जनसाधारण वल्लभाको छोड़ रहा है। कमल प्रफुल्लताको प्राप्त हो रहा है, फिर हे सत्पुरुष ! आपकी भुजा कलाकौशलके विषयमें कर्तव्य विधिको क्यों नहीं प्राप्त हो रही है, यह आश्चर्यकी बात है। कार्योंकी कथाका उपदेश करने वाला सूर्य अभी हालमें उदयाचल पर अधिष्ठित हो चुका है ॥८८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


तल्पं कल्पय केवलं संकल्पय कृतिकर्म।
विचर विचारशिरोमणे! जनताया अनुशर्म ॥८९॥

तल्पमित्यादि—तल्पं शय्यां कल्पय मुञ्च। केवलं कृतिकर्म करणीयकार्यं संकल्पय निश्चितं कुरु। हे विचारे तत्त्वविमर्शे शिरोमणिः श्रेष्ठस्तत्सम्बुद्धौ जनताया जनसमूहस्य अनुशर्म सुखमुद्दिश्य विचर विचरणं कुरु। जनसमूहस्य हितं यथा स्यात्तथा कार्यं कुरु। दोहकछन्दः ॥८९॥

एवं सम्प्रतिकविकृतवाचि मुदितप्रदीपदशायां काचित्।
संवृत्ताब्जदलानुविकासिन्यपि यावद् भुवि परिणतिरासीत् ॥९०॥

एवमित्यादि—एवमुक्तप्रकारेण सम्प्रतिकविनाऽऽधुनिकेन काव्यकृता कृता यासौ वाग् वाणी तस्याम्, कीदृश्यामिति चेत्? मुदिता प्रसन्ना प्रदीपानां ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञितानां स्वराणां दशावस्था यस्यां तस्यामिति। यावत्कालं समीचीनानां वृत्तानां छन्दसामेवाब्जानां कमलानां दलस्य समुदायस्यानुविकासिनी परिणतिरप्यासीदभूत्। किंवा सम्प्रतिकविभिः प्राभातिकमङ्गलोक्तिकरैश्चारणैः कृता यासौ वाक् तस्यामित्यप्यवधारणीयम्। तथा च सम्प्रतिका तत्कालभवा विभिः पक्षिभिः कृता या वाक् कलकलध्वनिस्तस्यां सत्यां मुदितास्तमिता प्रदीपानां दीपकानां दशा वर्तिका तस्यां सत्यां संवृत्तानां कुड्मलभावं गतानामब्जदलानामनुविकासिनी या परिपाटी सासीद्यावत्तावदेव यदभूत्-वुच्यते ॥९०॥

मृदुतमस्तुतकचोपसंग्रहा संकुचन्ति उत सूक्तविग्रहा।
मन्दस्पन्दितारका शयनासनादगात् क्षणदा सुरोचना ॥९१॥

मृदुतमेत्यादि—मृदूनि कोमलानि तमानि तिमिराण्येव स्तुताः प्रख्याताः कचाः

---

**अर्थ**—हे विचार करने वालोंमें श्रेष्ठ राजन्! शय्या छोड़िये, सिर्फ करने योग्य कार्यका संकल्प कीजिये तथा जनसमूहके सुखका ध्यान रखते हुए कार्य कीजिये ॥८९॥

**अर्थ**—इस प्रकार जब ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वरोंकी दशासे युक्त तथा समीचीन छन्दरूपी कमलोंके विकाससे सहित आधुनिक कवि-चारणोंकी वाणी प्रकट हो रही थी, अथवा प्रातःकालिक पक्षियोंकी कलकल ध्वनि तथा दीपकोंकी बत्तियाँ अस्तमित हो रही थीं, तब पृथिवीपर कमल दलोंको विकसित करने वाली परिणति हुई थी ॥९०॥

१. 'ध्वान्तं संतमसं तमम्' इति धनञ्जयः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यगाचरणे परायण इति परिहारोऽस्ति। एवं रुजा रोगेण हीनो रहितोऽपि सरुग् रोगसहित इति विरोधे सति पुनः रुजा हीनो नीरोगो भवन् रुजा कान्त्या सहितः सरुग् स्यादेवं परिहारः ॥९४॥

प्रातःसन्ध्यामधिकुर्यादेवमवन्ध्यां
तत्त्वार्थाध्ययने कुशलस्तस्मादाविः।
सम्भूयाच्च हरेत् कुवासनाया वादं
दम्भप्रायं तदसम्बन्ध्यात्मविषादम् ॥९५॥

प्रातरित्यादि—एवमुपर्युक्तरीत्या प्रातःसन्ध्यां सफलामधिकुर्यात्, यतस्तत्त्वार्थस्याध्ययने जीवादिपदार्थस्य चिन्तने कुशलो बोध आविः सम्भवेत् प्रकटीभूयात्। योऽसौ बोधो दम्भप्रायं छलबहुलं तस्यासम्बन्धी तत्त्वार्थाध्ययनस्यासम्बन्धी योऽसावात्मनो विषादं च कुवासनाया विषयवासनाया वादं च हरेदिति यावत्।

एतद्वृत्तं षडरचक्रबन्धात्मकं लिखित्वा प्रत्यराग्राक्षरैः प्रातःसन्ध्याविद इत्येवं निर्गच्छति तावत् ॥९५॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
वाणीभूषणमस्त्रियं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।
सर्गस्तेन जयोदये विरचिते स्याद्वादविद्यालया-
न्तेवासिप्रथितेन याति गणितोऽप्येकोनविंशाख्यया ॥९६॥

---

आचरणमें तत्पर रहे। तथा रुजा—रोगसे रहित होकर भी सरुग्—रोगसे सहित हो यह विरोध है, परिहार पक्षमें सरुग्—रुच् कान्तिसे सहित हो ॥९४॥

**अर्थ**—इस प्रकार मनुष्य प्रातःकालीन सन्ध्याको सफल—सार्थक करे, क्योंकि इसके करनेसे तत्त्वार्थके अध्ययनमें कुशल—निपुण ज्ञान प्रकट होता है। साथ ही वह ज्ञान मिथ्यावासनाओं—कुत्सित संस्कारोंके छलपूर्ण विवादको तथा उससे असम्बद्ध अपने विषाद—खेदको दूर करता है ॥९५॥

इति श्रीवाणीभूषण-ब्रह्मचारिभूरामलशास्त्रिविरचिते जयोदयकाव्ये
एकोनविंशः सर्गः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# विंशतितमः सर्गः

**जगदाह्लादकरं राजानं बिनियम्याथ तपननामानम् ।**
**अभ्युदयन्तमसहमान इव राजराजमभिययौ स पदिवत् ॥ १ ॥**

जगदित्यादि—अथ प्रभातवन्दनानन्तरं पुनः स जयकुमारो जगतामाह्लादकरं राजानं नीतिमन्तं चन्द्रमसं वा विनियम्य पराजितं कृत्वाऽभ्युदयन्तं स्वतन्त्रतामाप्नुवन्तमुद्गच्छन्तं वा तपननामानमितरमिदमसहमान इव किल पदिवत् प्रार्थनाकारको भूत्वा राज्ञां राजानं चक्रिणं भरतभूपालमभिययौ । अकम्पनभूपालस्यावहेलनाकारकं तमर्ककीर्तिमसहमानस्तदुदन्तस्य स्पष्टीकरणप्रकारेणात्मसात्करणार्थं भरतस्याग्रे गतवानिति वा ॥१॥

**बहुधावलिधारिणीं स्रवन्तीं नितरां नीरदभावमाश्रयन्तीम् ।**
**जयराड् जरतीतिनामबोध्यां द्रुतमुल्लङ्घ्य जगाम तामयोध्याम् ॥२॥**

बहुधेत्यादि—नितरामतितरां नीरदभावं जलदानत्वमुत रदरहितत्वमाश्रयन्ती-

---

**अर्थ**—प्रभात वन्दनाके बाद वह जयकुमार जगत्को आनन्दित करने वाले नीतिमान् राजा अथवा चन्द्रमाको पराजित कर अभ्युदयको प्राप्त होने वाले तपन नामक राजा अथवा सूर्यको सहन न करते हुए प्रार्थीकी तरह राजाधिराज चक्रवर्ती भरतके पास गये ।

**भावार्थ**—सुलोचनाके स्वयंवरमें भरत चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिने न्याय प्रिय राजा अकम्पनकी अवहेलना कर जयकुमारके साथ युद्ध किया था। जयकुमारने अर्ककीर्तिको परास्त कर सुलोचनाके साथ विवाह किया था। अर्ककीर्तिके परास्त होनेसे चक्रवर्ती भरतकी क्या मनःस्थिति है, यह जानने तथा अर्ककीर्तिकी उच्छृङ्खलताको स्पष्ट करनेके लिये जयकुमार अयोध्यामें विद्यमान भरतके पास गये । अथवा न्यायनीतिकी अवहेलना कर प्रजा पर आतंक फैलाने वाले राजाकी शिकायत करनेके लिये जैसे कोई छोटा राजा बड़े राजाके पास जाता है, वैसे ही जयकुमार अर्ककीर्तिकी उद्दण्डता प्रकट करनेके लिये भरत चक्रवर्तीके पास गये ।

**अर्थ**—राजा जयकुमार जरती नामकी उस नदीको जो सचमुच ही जरती-वृद्धा स्त्रीके समान जान पड़ती थी, शीघ्र ही उलांघ कर अयोध्या गये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


मत एव बहुधावलिधारिणीं लहरियुक्तां भूरिवलिवद्धशरीरां वा स्रवन्तीं नदीं जरतीति नाम्ना बोध्यां संज्ञातां द्रुतमुल्लङ्घ्य तामयोध्या नाम नगरीं निम्नवर्णनायुक्तां जगाम ॥ २ ॥

स्वमुपपयोधरदेशं चलदुज्ज्वलध्वजनिवसनविशेषम् ।
त्रपयेव वोन्नयन्तीं श्रियाखिलं विश्वमपि जयन्तीम् ॥ ३ ॥

स्वमित्यादि—पयोधरदेशस्य वार्दरवलस्योत स्तनमण्डलस्य समीपमुपपयोधरदेशं चलत् प्रस्खलद् वायुना यदुज्ज्वलं च तत् ध्वजस्य निवसनं वस्त्रं तस्य विशेषं त्रपयेव लज्जानुभावेन किलोन्नमन्तीमुत्सारयन्तीमेवं श्रिया शोभयाखिलं विश्वमपि पुनर्जयन्तीं जगामेति पूर्ववृत्ते ॥३॥

प्रणयातिशयाय पश्यताथ बहूत्तावशयोपलक्षिताम् ।
महतीमनुजानता क्षितावपि विश्रम्भपरायणां हिताम् ॥ ४ ॥

प्रणयेत्यादि—बहुभिरुत्तानशयैस्तनयैरुपलक्षिता युक्ता तां बहुबालवतीमिति । तथा स्वागतार्थं जयोस्त्वेवमुच्चारणपुरस्सरमुत्ताना उत्तानीकृताः शया हस्ता यैस्तैर्बहुभिरुपलक्षिताम् । विश्रम्भे नम्रतायामुत क्रीडाकलहे परायणाम्, 'विश्रम्भः केलिकलहे विश्वासे प्रणये वधे' इति विश्वलोचनः । तामेतामयोध्यां प्रणयातिशयाय सन्मार्गातिशयार्थमुत

---

जिस प्रकार वृद्धा स्त्री बहुधा वलिधारिणी-अनेक झुर्रियोंको धारण करती है, उसी प्रकार वह नदी भी अनेक आवलि-लहरोंको धारण करने वाली थी और वृद्धा स्त्री जिस प्रकार नीरदभाव-दन्तरहित अवस्थाको धारण करती है, उसी प्रकार वह नदी भी नीरदभाव-जल देनेकी स्थितिको धारण कर रही थी ॥ २ ॥

**अर्थ**—वह नगरी पयोधरमण्डल-मेघमण्डलके पास फहराती हुई ध्वजाके वस्त्रको वायुसे ऊपरको उत्सारित करती थी । इससे ऐसी जान पड़ती थी जैसे कोई स्त्री लज्जावश अपने पयोधर-स्तनमण्डलके समीपके वस्त्रको उत्सारित करती रहती है । साथ ही वह नगरी अपनी शोभासे समस्त विश्वको जीत रही थी ॥ ३ ॥

**अर्थ**—उस अयोध्याको जयकुमारने ऐसा जाना कि वह **प्रणयातिशय**-बहुत भारी प्रेम प्रदर्शित करनेके लिये ऊपर उठाये हुए अनेक चित्त हाथोंसे सहित है, महान् है, **विश्रम्भ**-नम्रता दिखानेमें तत्पर है तथा पृथिवी पर मेरा हित करने वाली है । अथवा जयकुमारने अयोध्याको उस श्रेष्ठ स्त्रीके समान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


विवहनार्थं पश्यताऽऽलोचकेनापि पुनः क्षितौ महतीं बहुविष्कम्भवतीमुताधिकवयस्कामनुजानता जयेन ॥ ४ ॥

उच्चैस्तनकुम्भबलाच्छकलाभ्युदिताब्दसंकुला नवला ।
कामितयेवाभिसृता प्रासादततिस्तु तेन तता ॥ ५ ॥

उच्चैरित्यादि—उच्चैस्तनस्यात्युन्नतस्य कुम्भस्य शिरसि निहितस्य बलात्प्रभावात् शकलं खण्डतां नीतमित्यभ्युदितैर्वार्दैरैरितस्ततः संकुला व्याप्ता शृङ्गस्थकलशसंघट्टनतो भिन्नीभूतजलदलवैरलङ्कृता तथैवोच्चैस्तन एवोन्नतकुच एव कुम्भस्तस्य बलं प्रभावो यस्याः सोच्चैस्तनकुम्भबला, अत एवाच्छकलाभिश्चन्द्रमसो वृद्धिरूपाभिरभ्युदितैरब्दैः संवत्सरैः संकुला षोडशवर्षवयस्का प्रासादततिर्हर्म्यपंक्तिर्नवला नवीनाङ्गनेव सा तेन सता कामितयेव किलाभिसृता सम्पर्कमवाप्ता ॥ ५ ॥

मधुरसमुन्नतनरमहितायां कुशलक्षणपरिणामहितायाम् ।
अथ मध्यस्थराजहंसायां वात इवायातः स सभायाम् ॥६॥
सरसीवरसिद्धान्तमितायां सुतरां कविकुलकलकलितायाम् ।
कल्लोलाञ्चितवारिचरायां शुशुभे चाशु शुभेन मितायाम् ॥७॥

मधुरेत्यादि—स जयकुमारोऽथ पुनर्वात इव विचरन् सभायामायातः शुशुभे । कीदृश्याम् ? सरस्या वरेण सिद्धान्तेन मितायां पुष्करिणीतुल्यायां यतः कविकुलस्य काव्य-

---

जाना था, जो अनेक **उत्तानशय**–छोटे बच्चोंसे सहित है, विश्वास करनेमें तत्पर है, हितकारी है तथा अत्यधिक प्रेम प्रदर्शित करनेके लिये उद्यत है ॥ ४ ॥

अयोध्याके भवनोंकी उस पंक्तिको जो उत्तुङ्गशिखर पर स्थित कलशोंके संघट्टनसे खण्ड खण्ड हुए **अब्दों**–मेघोंसे सहित थी, एक नई नवेली स्त्रीके समान कामुक दृष्टिसे प्राप्त किया था, क्योंकि नई नवेली स्त्री भी **उन्नत स्तनरूप कलशोंसे** सहित थी और **चन्द्रमाकी** निर्मल कलाओंसे प्रकट होने वाले **अब्दों**–सोलह वर्षोंसे युक्त थी, अर्थात् वयस्क थी ॥ ५ ॥

**अर्थ**—तदनन्तर जयकुमार वायुकी तरह घूमते हुए उस सभामें आकर शीघ्र ही सुशोभित होने लगे, जो कि पुष्करिणी–सरसीके समान थी, क्योंकि जिस प्रकार सरसी **मधुरसमुन्नतनरमहिता**–मनोहर तथा ऊंचे नल-कमलोंसे महित–सन्मानित होती है, उसी तरह सभा भी मनोहर तथा उत्कृष्ट **नर**–मनुष्योंसे महित सम्मानित थी। जिस प्रकार सरसी **कुशलक्षणपरिणामहिता**–जलके परिणमनसे हितकारी थी, अर्थात् अगाध पानीसे परिपूर्ण थी, उसी तरह सभा भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कर्तृ समुदायस्य पक्षे जलपक्षिवृन्दस्य कलकलितं यस्यां तस्यां कल्लोलेन विनोदेनोत तरङ्गेणाञ्चिता विरुदवक्तारश्चारणा उत मीनादयो वारिचरा जन्तवो यस्यां तस्याम्, मध्ये तिष्ठति राजहंसो भरतभूपतिरुत मरालो यस्यां तस्याम्, कुशस्य जलस्त्र लक्षणपरिणामेन सन्धारणकारणेन हितं यद्वा कुशलस्य क्षणः समयस्तस्य परिणामेन मनस्कारेण हितं यस्यां तस्यां यद्वा मधुरसेन मकरन्देन कृत्वा समुन्नतैस्तैर्नलैः कमलैर्महितायाम् ॥७॥

सदनुमानिते तरलितो हिते परिषदास्पदे भरतमाददे ।
यदिव खञ्जनः परमरञ्जनमथ नभस्तले शशिनमुज्ज्वले ॥८॥
अनुसमग्रहीत्तमपि किन्नहि स च तमोऽभिमित् स्वमृदुरश्मिभिः ।
कौमुदस्थिर्ति वर्द्धयन्निति सम्बभावतोद्धा परिस्थितिः ॥९॥

सदनुमानित इत्यादि—अथ यदिव खञ्जनश्चकोरस्तदिव जयकुमारो हिते तरलितः सन्नात्मसमायोगे सन्नद्धो भवन्, सद्भिः सभ्यैरुत च तारकैरनुमानिते उज्ज्वले पवित्रप्राये परिषदास्पदे सभासदने परमरञ्जनं परमाह्लादकरं भरतं नाम महाराजं शशिन-

---

**कुशलक्षणपरिणामहिता**—कुशल-मङ्गलके समय सम्बन्धी परिणामसे हितकारी थी, अर्थात् सभासद परस्पर कुशल-क्षेम पूछते थे। जिस प्रकार सरसीके मध्यमें **राजहंस**—पक्षी स्थित होता है, उसी प्रकार सभाके मध्यमें भरत चक्रवर्ती नामक श्रेष्ठ राजा स्थित थे। जिस प्रकार सरसी **कविकुलकलकलिता**—जलपक्षियोंके समूहकी कलकल ध्वनिसे सहित होती है, उसी प्रकार सभा भी **कविकुलकलकलिता**—कवियोंके समूहकी रम्य ध्वनिसे सहित थी। जिस प्रकार सरसी **कल्लोलाञ्चितवारिचरा**—लहरोंमें क्रीडा करते हुए जलचर जीवोंसे सहित होती है, उसी तरह सभा भी विनोदपूर्ण विरुद गान करने वाले चारणोंसे सहित थी और जिस प्रकार सरसी **नमिता**—अपरिमित-विस्तृत होती है, उसी प्रकार सभा भी **नमिता**—सभ्य जनोंसे नमस्कृत थी ॥६-७॥

**अर्थ**—जिस प्रकार स्वकीय हितमें उत्सुक चकोर **सदनुमानित**—नक्षत्रोंसे सुशोभित उज्ज्वल आकाश तलमें परमाह्लादकारी चन्द्रमाको नयनगोचर करता है—प्रेम भरी दृष्टिसे देखता है और अपनी कोमल किरणोंसे अन्धकारको नष्ट करता तथा कुमुदसमूहकी विकास रूप स्थितिको वृद्धिगत करता हुआ चन्द्रमा उस चकोरको अनुगृहीत करता है, अपनी निर्मल चांदनीसे प्रसन्न करता है और उस समयकी वह स्थिति अत्यन्त सुशोभित होती है। उसी तरह हिते—आत्म-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मिव शोभमानमाददे दृक्पथगतं चकार। स च भरतनाम महाराजः स्वस्य मृदुरश्मिभि-र्नेत्रवीक्षणैः कोमलैः किरणैरिव तमोऽभिभिद् भवन् दुःखोच्छेदकरः सन् कौ पृथिव्यां मुदः स्थितिं प्रसन्नतामथवा कौमुदस्य कुमुदसमूहस्य स्थितिं वर्द्धयन् तमपि जयकुमारं किमिति नहि अनुसमग्रहीत् किन्त्वनुग्रहं चकारैवेतीद्धा परिस्थितिः प्रशस्ता व्यवस्था सम्बभौ ॥८-९॥

भालं जयस्य नमदादिमचक्रपाणेः
पादाग्रतस्तु समभादिह तत्प्रमाणे।
नित्यं विभावमयदोषविशोधनाय
पङ्केरुहस्य पुरतः शशिनोऽभ्युपायः ॥१०॥

भालमित्यादि—इह चक्रपाणेः पादाग्रतो नमत् प्रणामं कुर्वद् जयस्य भालं तु पुनः समभात् शोभां बभार। तत्प्रमाणे तस्योपमाविषये नित्यं सर्वदैव विभावमयदोषविशोधनाय विरोधपरिहरणाय पङ्केरुहस्य पुरतः शशिनोऽभ्युपायो भवतीति। चक्रवर्तिपादौ कमलोपमौ प्रसन्नौ, जयकुमारस्य मुखं चन्द्रतुल्यमिति यावत् ॥१०॥

---

हितमें **तरलित**–उत्कण्ठित जयकुमारने भी **सदनुमानित**–सभ्य जनोंसे परिपूर्ण एवं उज्ज्वल–पवित्र सभास्थानमें अतिशय आनन्दकारी भरत महाराजको नयनगोचर किया और अपनी कोमल किरणों–पुलकित नयनोंसे देखना, मन्द मुसक्यान तथा मधुर भाषण आदिके द्वारा, अर्ककीर्तिके पराजयसे कहीं महाराज कुपित तो नहीं हैं, इस प्रकारके संशयरूपी तिमिरको नष्ट करने वाले एवं **कौ मुदः स्थिति**–पृथिवीपर प्रसन्नताकी स्थितिको बढ़ाते हुए भरत महाराजने क्या जयकुमारको अनुगृहीत नहीं किया था ? अवश्य किया था। इस तरह जयकुमार और भरतके मिलनेकी वह परिस्थिति अत्यन्त सुशोभित हो रही थी ॥८-९॥

**अर्थ**—आदिचक्रवर्तीके चरणोंके आगे नमन करता हुआ जयकुमारका ललाट ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानों अपने सदातन विरोधको दूर करनेके लिये कमलोंके आगे चन्द्रमाका ही उद्यम हो रहा हो।

**भावार्थ**—चन्द्रमाके उदयमें कमल निमीलित हो जाते हैं। इसका तात्पर्य हुआ कि कमल और चन्द्रमाका यह सनातन वैर है। चन्द्रमाने इस वैरको दूर करनेके लिये नम्रीभूत होकर कमलसे क्षमा याचना की। चक्रवर्तीके पाद कमल थे और जयकुमारका भाल चन्द्रमा ॥१०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**शतशः स्फुरत्किरणभृन्नखाग्रवत्करसंयुगं भरतचक्रिणोऽभवत् ।**
**रविबिम्बशोभि सहसोऽभिमातरं शशिशोभनं जयमुखं समुद्धरत् ।।११।।**

शतश इत्यादि—भरतचक्रिणः शतशः स्फुरत्किरणभृन्नखाग्रवत्करसंयुगं परस्परं संयुज्य सहसोऽनुभावाद् रविबिम्बशोभि भूत्वा शशिशोभनं जयमुखं समुद्धरत् तदभिमातरमुपपृथिवीतलमभवत् ।।११।।

**विबभूव भूः परिक्तेरपीति यत् प्रतिपत्कलोदयकरी कवेरियम् ।**
**समभात्तमां सुरुचिभागिहोत्तमा सदसः प्रहर्षणगणश्रिया ममा ।।१२।।**

विबभूवेत्यादि—अपि किञ्च, इति पूर्वोक्तप्रकारेण परिक्तेः परिकरणाद् व्यवस्थावशादिति यावत्, पद् पद् प्रतीति प्रतिपद् पदे पदे इत्यर्थः, कलानां चातुरीणामुदयकरी उन्नमनकारिणी कवेर्विदुषो राजशासनपारंगतस्य चक्रिणो भरतस्येयमेषा भूर्मही विबभूव विशिष्टगुणोपेताभूत् । अथ या भूः कलायाः चन्द्रषोडशभागस्योदयकरी, किंच कवेः शुक्रग्रहस्योदयकरी प्रतिपत् पक्षाग्रणीस्तिथिर्बभूव सा तदा सुरुचिं सुमेलनं भजतीति सुरुचिभाग् उत्तमोत्कृष्टा सदसः सभायाः प्रहर्षणस्य प्रमोदस्य गणः समूहस्तस्य श्रियां शोभायां विषये न विद्यते मा परिमाणं यस्याः तथाभूता अभा प्रमाणरहिताऽपरिमितशोभायुक्ता सती समभात्तमामतिशयेन शुशुभे । अथ च या पूर्वोक्तप्रकारेण सूर्यरूपस्य चक्रिवर्तिहस्तयुगलस्य चन्द्ररूपस्य जयकुमारभालस्य च युगपत्सद्भावात् सदसः सभायास्तत्र स्थितसभ्यानां प्रहर्षणगणश्रियां हर्षसमूहशोभायां सत्यामुद्गतं प्रकटितं तमं तिमिरं यस्यां तथोत्तमा अमा-अमावास्या समभात्तमां शुशुभेतराम् ।।१२।।

---

**अर्थ**—सैकड़ों देदीप्यमान किरणोंको धारण करने वाले नखाग्रसे युक्त भरत चक्रवर्तीका हस्तयुगल तेजसे सूर्यके समान सुशोभित हो रहा था । जब चक्रवर्तीने अपने दोनों हाथोंसे पृथिवी तलपर विनत जयकुमारके मस्तकको उठाया, तब ऐसा जान पड़ता था मानों सूर्य चन्द्रमाको उठा रहा है ।।११।।

**अर्थ**—इस प्रकारकी व्यवस्थासे बुद्धिमान् चक्रवर्तीकी जो पृथिवी प्रतिपद्–डग डगपर कलोदयकरी–चतुराईकी उन्नति करने वाली होती हुई विशिष्ट–विशिष्ट वैभवसे युक्त हो रही थी । अथ च जो पृथिवी चन्द्रमाकी एक कलाका उदय करने वाली प्रतिपद्–पडिवा बन रही थी, वही उस समय सुरुचिभाक्–उत्तम दीप्तिको प्राप्त, उत्तम तथा सभाके हर्ष–समूहकी शोभाके विषयमें अमा–प्रमाणसे रहित सुशोभित हो रही थी, वही इस समय चक्रवर्तीके करयुगलरूप सूर्य और जयकुमारके भालरूप चन्द्रमाके युगपत् मेलसे उत्तमा–तिमिरपूर्णा अमा–अमावस बन गई थी ।।१२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कल्पवल्लिदलयोः श्रियं तयोः सद्योजातफलोपलम्भयोः ।
पाणियुग्ममपि चक्रिणो जयस्तच्छिरो मृदुगिरोऽभ्युदानयत् ॥१३॥

कल्पवल्लीत्यादि—अपि पुनश्चक्रिणो भरतभूपतेः पाणियुग्मं यत्तत् सद्योजातस्य फलस्योपलम्भः सद्भावो ययोस्तयोस्तादृशयोः कल्पवल्लिदलयोः श्रियं जयदुपमामाश्रयत् सद् मृदुगिरः सुकोमलवचनस्य विनम्रतया गद्गदोक्तिमतस्तस्य जयकुमारस्य तद् धरणीगतं शिरो मस्तकमभ्युदानयत् ॥१३॥

उपलम्भितमित्यथोपकर्तुं हृदयेनाभ्युदयेन नाम भर्तुः ।
उदयदिवोदयभूभृतस्तटे तच्छशिबिम्बं जयवक्त्रमेकमेतत् ॥१४॥

उपलम्भितमित्यादि—अथ पुनरभ्युदयेनोन्नमनेनादारभावेनोपकर्तुं नाम भर्तुः स्वामिनो भरतराजस्य हृदयेन वक्षःस्थलेनेत्युक्तप्रकारेणोपलम्भितं संधारितमेकमेतज्ज-यस्य वक्त्रं मुखं तदानीमुदयभूभृतस्तटे उदयच्छशिबिम्बमिवाभूदित्युपरिष्टात् ॥१४॥

हस्तावलम्बनबलेन किलोपलभ्य
स्रागालिलिङ्ग गलतः प्रणतं स सभ्यः ।
सर्वस्वमूल्यमिति तुल्यतया निजस्य
कुर्याच्छ्रितं लघुमपीह जनः प्रशस्यः ॥१५॥

हस्तावलम्बनेत्यादि—स सभ्यो भरतचक्रीह प्रशस्यो जनः श्रितं शरणमागतं लघुं साधारणमपि जनं निजस्यात्मनस्तुल्यतया सदृशभावेन सम्पन्नं कुर्यात्, यादृक्स्वयं तादृक् तमपि करोत्येवेति किल मनसि कृत्वा प्रणतं नम्रतामितं तं सर्वस्वमूल्यं जयकुमारं हस्तावलम्बनबलेनोपलभ्य स्रागेव गलतः कण्ठादालिलिङ्ग ॥१५॥

---

अर्थ—तत्काल उत्पन्न फलोंके सद्भावसे सहित कल्पलताके दो पत्रोंकी शोभाको जीतने वाले चक्रवर्ती भरतके हस्तयुगलने अत्यन्त मृदुभाषी जयकुमारके भूमिगत शिरको ऊपर उठाया ॥१३॥

अर्थ—तदनन्तर ऊपर उठाकर उपकार करनेके लिये स्वामी भरतराजके वक्षःस्थल पर लगाया हुआ जयकुमारका वह अद्वितीय मस्तक उदयाचलके तटपर उदित होते हुए चन्द्रबिम्बके समान सुशोभित हो रहा था ॥१४॥

अर्थ—इस जगत्में प्रशंसनीय—उत्तम मनुष्य शरणमें आये हुए साधारण मनुष्यको भी स्वयं अपने समान कर लेता है, ऐसा मनमें विचार कर सभामें विद्यमान भरत चक्रवर्तीने सर्वस्वके मूल्यस्वरूप—अत्यन्त प्रिय विनम्र जयकुमारको हस्तावलम्बनके बलसे उठाकर शीघ्र ही गलेसे आलिङ्गित किया। भाव यह है कि पहले भूमिसे उठाकर छातीसे लगाया, पश्चात् गलेसे आलिङ्गन किया ॥१५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



हर्षितेऽवनिपतावनुभावाद् बान्धवागमनतोऽत्र तदा वा।
आसनोपकरणव्यपदेशादुल्ललास सहसावनिरेषा ॥१६॥

हर्षित इत्यादि—बान्धवस्येष्टस्य जयकुमारस्यागमनं ततोऽवनिपतौ चक्रवर्तिनि हर्षिते सत्यत्र सभायां तदासनोपकरणस्य केनापि परिचारकेण समर्पितस्य व्यपदेशात् प्रकाराद्वावनिरप्येषानुभावात्प्रभावाद्धेतोः सहसैवोल्ललास प्रफुल्लतामवापेति ॥१६॥

तदासनं तत्र तदासमन्वाश्रितं श्रितस्फाति जयस्य तन्वा।
दृशापि संस्पर्द्धनसंस्पृशापि श्रीपादपीठं महनीयमापि ॥१७॥

तदासनमित्यादि—तत्र सभायां जयतन्वा शरीरविभूत्याश्रिता स्फातिः प्रसन्नतेति यथा स्यात्तथा तदुपर्युक्तमासनं तदा समर्पणावसर एव समन्वाश्रितमलङ्कृतम्। अपि च, संस्पर्द्धनसंस्पृशा स्पर्द्धनकारिण्या तस्य जयस्य दृशापि तावदेव महनीयं समस्तप्रजा-वर्गेणाराधनीयं श्रीपादपीठं भरतभूपालालङ्कृतं सिंहासनमापि प्राप्तं शरीरेण जय आसने समुपविष्टः, किन्तु दृशा चक्रवर्तिनमेव पश्यन्नास्त इति यावत् ॥१७॥

दृग्भ्रमरी विनिवृत्त्येतरतो जयमुखकमलेऽतिष्ठत्क्रमतः।
रसितुमतिथिसत्करणफलं वाक्पक्षिणी च नृपतेरविलम्बात् ॥१८॥

दृगित्यादि—नृपतेश्चक्रवर्तिनो दृग् दृष्टिरेव भ्रमरी सा तदेतरतः प्रदेशाद्विनिवृत्य जयस्य मुखमेव कमलं तस्मिन् अतिष्ठत्, यावदेतत्क्रमतः प्रसङ्गप्राप्तादवसरतस्तस्य चक्र-

---

अर्थ—उस समय इष्टजनके समागमसे भरत महाराजके प्रमुदित होनेपर परिचारकके द्वारा प्रदत्त आसनरूप उपकरणके व्याजसे यह पृथिवी भी प्रभाव-वश सहसा उल्लसित हो उठी ॥१६॥

अर्थ—उस समय सभामें परिचारक द्वारा प्रदत्त वह सुविस्तृत आसन जयकुमारके शरीरसे अधिष्ठित हुआ और जयकुमारकी ईर्ष्यालु दृष्टिने भी सभ्य जनों के द्वारा आराधनोय चक्रवर्तीका सिंहासन प्राप्त किया।

भावार्थ—जयकुमारकी दृष्टिको इस बातकी ईर्ष्या हुई कि इनके शरीरने तो आसन प्राप्त कर लिया, पर मैं बिना आसनके ही रह गई। इस ईर्ष्याके कारण ही मानों उसने चक्रवर्तीका आसन प्राप्त किया। तात्पर्य यह है कि जयकुमार शरीर से तो सुविस्तृत आसन पर बैठे थे, पर उनकी दृष्टि चक्रवर्तीकी ओर ही लग रही थी ॥१७॥

अर्थ—महाराज भरतकी दृष्टिरूपी भ्रमरी अन्य स्थानोंसे हटकर क्रमसे जयकुमारके मुखरूपी कमल पर जा बैठी और वाणी अतिथिसत्काररूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



र्तिनो वाग्वाणी साप्यविलम्बात् त्वरितमेवातिथिसत्करणमतिथेरागतस्य जयकुमारस्य सत्करणं क्षेमपृच्छादिरूपं तदेव फलं तद्रसितुं समास्वादयितुं पक्षिणी पक्षपातवती जाता। यथा दृष्टिभ्रंमरी जाता तथा वाक्पक्षिणीति यावत् ।। १८ ।।

**नयनतारक ! मेऽप्युपकारक ! सुहृद आव्रज वैरिनिवारक ! ।**
**स्वजनसज्जनयोः परिचारक ! चिरतरादुपयासि विचारक ! ।।१९।।**

नयनेत्यादि— हे मम नयनतारक ! हे सुहृदः सरललोकस्योपकारक ! हे स्वजन-सज्जनयोः परिचारक ! सेवाकारक ! हे विचारक ! आव्रज समागच्छ, चिरतरात्काला-दुपयासि ।। १९ ।।

**इति प्रौढसम्भाषणोपात्तपाणिर्मृदुप्रायपच्छ्रीकुमारस्य वाणी ।**
**बिभीरुः शनैरुद्ययौ हेऽनुमानिन् महीभृत्पतेः पाददेशे तदानीम् ।।२०।।**

इतीत्यादि—इत्युक्तप्रकारं प्रौढनरपतेर्यत्सम्भाषणं तेनोपात्तः पाणिर्यस्यास्सा परिधृतहस्तेव खलु श्रीकुमारस्य जयदेवस्य वाणी या मृदुप्रायाणि सुकोमलानि पन्ति पदानि सुप्तिङन्तरूपाणि यस्याः, पक्षे सुकुमोलचरणक्षेपवती च सा हेऽनुमानिन् पाठकजन ! शृणु । तदानीं तस्मिन्नेवावसरे महीभृत्पतेश्चक्रवर्तिनः, पक्षे नृहत्पर्वतस्य पाददेशे चरण-समीपे, पक्षे उपपर्वतस्थाने या स्वभावादेव बिभीरुः भयवती स्त्रीत्वात् सा शनैर्मन्दं मन्द-मुद्ययौ ।। २० ।।

---

फलका स्वाद लेनेके लिये शीघ्र ही पक्षिणी—अग्रहवती अथ च पक्षिस्त्री बन गई ।

**भावार्थ**—भरत महाराजने दृष्टिके द्वारा जयकुमारको देखा और वाणीके द्वारा कुशल समाचार पूछा ।। १८ ।।

**अर्थ**—हे मेरी आँखोंके तारे ! हे सरलजनोंके उपकारक ! हे वैरियोंके निवारक ! हे स्वजन और परजनोंके सेवक ! हे विचारक ! आओ, बहुत काल बाद आ रहे हो ।। १९ ।।

**अर्थ**—हे पाठकजन ! सुनो, जिस प्रकार कोमल चरणों वाली कोई भक्ति स्त्री किसीके हाथका सहारा पाकर धीरे धीरे किसी विशाल पर्वतके शाखा-पर्वत पर चढ़ती है, उसी प्रकार सुबन्त–तिङन्त रूप कोमल पदोंसे सहित जयकुमारकी भक्ति–संकोचशील वाणी चक्रवर्तीके सम्भाषणरूप हाथका आलम्बन प्राप्त कर धीरे-धीरे महीभृत्पति–राजाधिराज (पक्षमें विशाल पर्वत) के पाददेश–चरणोंके समीप (पक्षमें शाखापर्वत पर) चढ़ी–पहुँची ।। २० ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**तारकवदस्मि मलिनः सदसि समस्तार्थदृशि नितान्तमिन ! ।**
**तव सुदृगनुकारिण्यां प्रान्तेऽवनुरागधारिण्याम् ।।२१।।**

तारकवदित्यादि—हे इन ! स्वामिन् ! सूर्य वा ! तव सुदृशमनुकरोति तस्यां ते दृष्टितुल्यायां प्रान्तेषु मध्ययुक्तसंयुक्तादिप्रदेशेषु अनुरागधारिण्यां स्नेहवत्यां तथा प्रान्तेषु पर्यन्तभागेषु लालिमानमधिगच्छन्त्यां समस्तार्थदृशि सर्वपदार्थावलोककारिण्यां सदसि सभायामहमधुना तारक इव नितान्तं मलिन एवास्मि, त्वया नयनतारक ! इति सूक्तमेव ॥ २१ ॥

**मृदुहृदा विवदंस्तव सूनुना सखिशिरोमणिनापि विभोऽमुना ।**
**तनुतमस्वरसार्थमहंतु तत्परमबन्धुरिहास्मि किल स्तुतः ।।२२।।**

मृदुहृदेत्यादि—हे विभो ! सखिशिरोमणिनाऽपि तव सूनुना मृदुहृदा भद्रचित्तेना-मुनार्ककीर्तिना सार्धं तनुतमस्वरतार्थं किञ्चित्स्वार्थपूर्तिकरणार्थं विवदन् विवादं कुर्वन्नहं किलावश्यमिह यस्त्वया स्तुतः स परमत्यन्तमबन्धुर्न, किन्तु परमश्चासौ बन्धुश्चेति परमबन्धुरस्मीति ।।२२।।

**सुतनौ सुरोचनायां लोलुपतामत्यजिष्यमथ तर्हि ।**
**किं समगमिष्यमेतां महतीं सुरभेः क्षतिं कर्हि ।।२३।।**

सुतनावित्यादि—अथवा यदि चेदहं सुतनौ सुरोचनायां शोभनरूपायामकम्पन-

---

अर्थ—हे महाराज ! यह सभा आपकी दृष्टिके तुल्य है, क्योंकि जिस प्रकार आपकी दृष्टि समस्तार्थदृक्–समस्तपदार्थोंको देखने वाली है, उसी प्रकार यह सभा भी समस्तार्थदृक्–सबके प्रयोजनोंको देखने वाली है, अर्थात् इसमें सबके प्रकरणों पर समीक्षाकी जाती है और जिस प्रकार आपकी दृष्टि प्रान्त भागों–नेत्रकोणोंमें अनुरागधारिणी है, लालिमाको धारण करती है, उसी प्रकार यह सभा भी सब प्रकरणोंके अन्तमें अनुराग–स्नेहको धारण करती है। ऐसी इस सभामें हे स्वामिन् ! आप इन–सूर्य सदृश हैं और मैं तारक–तारेके समान अत्यन्त मलिन–हीनप्रभ हूँ। अतः आपने जो मुझे नयनतारक शब्दसे सम्बोधित किया है, वह उचित ही है।। २१ ।।

अर्थ—हे विभो ! आपके भद्रपरिणामी पुत्र अर्ककीर्तिके साथ, जो कि मेरे मित्रोमें शिरोमणिस्वरूप है, मैंने अल्पतम स्वार्थके लिये विवाद किया, फिर भी आपने मेरी प्रशंसा की, इससे मैं उनका परम अबन्धु–अतिशत्रु नहीं हूँ, किन्तु परमबन्धु–श्रेष्ठ बन्धु हूँ ।।२२।।

अर्थ—यदि मैं सुतनु–सुन्दर शरीर वाली (पक्षमें अल्प परिमाण वाली)



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



राजसुतायामुत स्वल्पपरिमाणायां गोरोचनायां लोलुपतामत्यजिष्यं त्यक्तवानभविष्यं तर्हि पुनः कर्हि कदाचिदपि एतां महतीं वृद्धि गतां सुरभेः सत्कीर्त्या उत धेनोः क्षतिं समगमिष्यं किं ? किन्तु नैव संव्रजिष्यम् ॥२३॥

अहमेवमनर्थकृद्भवेऽयं भवदुक्तस्य समर्थको भवेयम् ।
दिवसेन च नक्तसङ्गमः स्यादपि गम्भीरतमा यतः समस्या ॥२४॥

अहमित्यादि—अहमयमनर्थकृद् विप्लवकारको भूत्वाऽस्मिन्भवेऽपि भवदुक्तस्य नयनतारक इत्यादेरेवमुक्तरूपेणैव समर्थको भवेयम् । अथवा हे समर्थ ! भवदुक्तस्यानर्थकृत् किलार्थकारको न भूत्वा तव को भवेयम् ? कोऽपि न भवेयमननुकूलत्वादुत विच्छेदभागेव भवेयम् । यतो हि दिवसे सूर्योदयावसरे नक्तसंगमो न स्याद्रात्रिसमुद्गमः, यतो रात्रौ गम्भीरं तमोऽन्धकारो यत्रैवं गम्भीरतमा समस्यापि स्यात् । यद्वा हे देव ! दिवसेन च सह नक्तसङ्गमोऽसौ स्यादपि किमिति गम्भीरतमा समस्या ॥२४॥

यतश्च भूतले त्वदङ्गजात आक्रमः कृतः
कृतघ्नभावतो महीमहार्क मय्युदाहृतः ।
हृतश्च सम्भविष्यतीन्दुवन्न कालिमावतः
बत प्रयत्नतः कलङ्क एव मत्त आगतः ॥२५॥

---

सुरोचना—अकम्पन राजाकी पुत्री सुलोचनामें (पक्षमें गायके पित्तमें) लोलुपता—प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषाको छोड़ देता, तो सुरभि—कीर्ति (पक्षमें गायकी) इस बहुत बड़ी क्षति—हानिको क्या कभी प्राप्त होता ? अर्थात् नहीं ।

**भावार्थ**—सुन्दरी सुलोचनाको प्राप्त करनेका तीव्र लालसासे ही 'जयकुमारने चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके साथ विवाद किया' इस तरह मेरी कीर्तिकी बहुत भारी क्षति हुई है । **अर्थान्तरमें**—गोरोचनाकी प्राप्ति गायकी मृत्युसे ही सम्भव है, यदि किसीको जरा सी गोरोचनाको प्राप्त करनेकी लालसा न हो, तो गायकी मृत्यु कब हो, अर्थात् कभी नहीं ॥२३॥

**अर्थ**—यह मैं ही इस भवमें अनर्थकृत्—विप्लवको करने वाला होऊँ और मैं ही आपके द्वारा प्रयुक्त स्वप्रशंसाका समर्थक होऊँ, यह तो दिनके साथ रात्रिका समागम होनेके समान गम्भीर समस्या है—विचारणीय बात है । क्योंकि दिन प्रकाशमान होता है और रात्रि उससे विपरीत **गम्भीरतमा**—सघन अन्धकार वाली होती है । अथवा हे समर्थ ! जबकि मैं आपके कथनसे विपरीत कार्य करने वाला हूँ, तब आपका **को भवेयं**—कौन हो सकता हूँ, अर्थात् कोई नहीं ॥२४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यतश्चेत्यादि—हे महीमहार्क ! मह्यां महानर्क इव तत्सम्बुद्धौ यतो यस्मात्कारणात् तवाङ्गजातस्तस्मिन् त्वदीयपुत्रोपरि मया जयेन कृतघ्नभावतोऽनुपकारज्ञत्वेनाक्रमः कृतो विहितः, एष कलङ्को मयि जयकुमारे उदाहृतः प्रचण्डतया प्रसिद्धिं प्राप्तः। इन्दुवत् चन्द्रादिव कालिमा अवतो रक्षतो मत्तो जयकुमारादेष आगतः प्राप्तः कलङ्कः प्रयत्नतः प्रयत्ने कृतेऽपि हृतो दूरीभृतो न सम्भविष्यति। तु च पादपूर्तौ। बतेति खेदे। यथा चन्द्रात् स्कालिमा न कदाचिं दूरीभवति, तथैष कलङ्को मत्तो न दूरीभविष्यति प्रयत्ने कृतेऽपीति खेदः ॥२५॥

**नापि नाथ दरदाऽऽदरदा भूरापि सापि विपदा विपदाभूत् ।**
**मह्यमेष भवतो ह्यनुभावः श्वेतधामनि रवेरिव गावः ॥२६॥**

नापीत्यादि—हे नाथ ! दरदा भयेनाहं नापि न प्राप्तः। निर्भयो भूत्वा स्वकर्तव्यं करोमि। आदरं ददातीत्यादरदा प्रतिष्ठाप्रदायिनी भूश्च मयापि समुपलब्धा। विपदाऽऽपत्तिर्वैरिप्रभृतिसम्भवा सापि विगतं पदं स्थानं यस्यास्तथाभूता स्थितिरहिता प्रणष्टप्रायाऽभूत्। एष पूर्वोक्तोऽनुभावोऽपि मह्यं भवतस्तव महापुरुषस्यैवास्ति। श्वेतं धाम तेजो यस्य तस्मिन् श्वेतधामनि चन्द्रमसि रवेर्गावो रश्मय इव। चन्द्रः सूर्यत एव प्रकाशमवाप्नोति, एवं लोकोक्तिः ॥२६॥

**कस्मादकम्पननृपस्य तरामुदार-**
**गाम्भीर्यकौशलकुलादसकौ विचारः ।**
**मस्तिष्कतोऽपि समभून्मम भूतिहेतुः**
**पाथोनिधेरिव च वाडवधूमकेतुः ॥२७॥**

---

**अर्थ**—हे महीमहासूर्य। जिस कारण मैंने कृतघ्नभावसे आपके पुत्र—अर्ककीर्ति पर आक्रमण किया है, यह कलङ्क मुझ पर आ पड़ा है, सो जिस प्रकार चन्द्रमासे उसकी कालिमा दूर नहीं होती, उसी प्रकार प्रयत्न करने पर भी यह कलङ्क मुझसे दूर नहीं होगा, यह खेदकी बात है ॥२५॥

**अर्थ**—हे नाथ ! मैं भयके द्वारा प्राप्त नहीं किया गया हूँ, अर्थात् निर्भय होकर अपना कार्य करता हूँ। आदर देने वाली पृथिवी भी मेरे द्वारा प्राप्त की गई है और शत्रु आदिसे प्राप्त होने वाली विपदा भी पदरहित हो गई, अर्थात् नष्टप्राय हो चुकी है। यह सब अनुभाव भी मेरे लिये आपसे प्राप्त हुआ है। इस तरह आपका यह सब काम चन्द्रमामें सूर्यकी किरणोंके समान है। लोकप्रसिद्धिके अनुसार चन्द्रमाको जो प्रकाश प्राप्त होता है, वह सूर्यकी किरणोंसे प्राप्त होता है, उसी प्रकार मेरी सुख-सुविधा आपसे ही प्राप्त हुई है ॥२६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


कस्मादित्यादि—उदारगाम्भीर्यकौशलकुलात् तस्मादकम्पननृपस्य मस्तिष्कतोऽपि मम भूतिहेतुर्वैभवकारकः स्वयंवरलक्षणसुरोचनायाः सैव भूतिहेतुर्भस्मकारकोऽपि असकौ विचारः कस्मादुत कारणात् समभूत्तरां पाथोनिधेर्जलराशेः समुद्राद् वाडवधूमकेतु-वह्निरिवाघटितघटनाकर एवाभूदिति । यतः खलु ॥२७॥

पित्राप्यंते गुणवते स्वसुतेति रीति
सानातनीमननुमन्य मुधादरीति ।
श्रीमानकम्पननृपः समभूत्किलेतः
किं तत्र चाञ्चतु रुचिं चतुरस्य चेतः ॥२८॥

पित्रेत्यादि—पित्रा गुणवते वराय स्वसुताऽर्प्यते दीयत इत्येवंभूतां सानातनीं रीति-मननुमन्य विस्मृत्य मुधादरी उन्मार्गचारितया मिथ्यादरकरः श्रीमानकम्पननृपः समभूत् किलेत्यत एवेतश्चतुरस्य चेतश्च यत्र रुचिमञ्चतु करोतु किमिति, किन्तु नैवेति निर्णयः प्रपद्यते नाथ !

वार्द्धक्यतोऽप्यपरतोऽपि कुतोऽपि हेतोः
संभाव्यतां तदपि तद्धृदि नीतिसेतो ! ।
अस्मादृशा अपि दृशा विबभुर्विहीना
अर्थित्वतः परवशाः समिता नवीनाम् ॥२९॥

वार्द्धक्यत इत्यादि—हे नीतिसेतो ! मर्यादापुरुषोत्तम ! तदपि विकलत्वं तस्या-कम्पनस्य हृदि वार्द्धक्यतोऽप्यपरतोऽपि वा कुतोऽपि हेतोः 'वृद्धत्वे सत्यपैति धीः' इत्यादि-

---

**अर्थ**—अकम्पन राजाके उदार गाम्भीर्य और कुशलताके कुलस्वरूप मस्तिष्कसे यह सुलोचनाका स्वयंवर रूप विचार किस कारण उत्पन्न हुआ ? उनका यह विचार मेरी भूतिहेतु–भस्मरूप परिणतिका कारण है, अर्थात् मुझे नष्ट करने वाला है (पक्षमें मेरे वैभवका कारण है)। उनके प्रशस्त मस्तिष्कसे स्वयंवरका विचार उत्पन्न होना समुद्रसे वड़वानलकी उत्पत्तिके समान है ॥२७॥

**अर्थ**—पिताके द्वारा गुणवान् पुत्रके लिये अपनी पुत्री दी जाती है, इस सनातन रीतिको अमान्य कर श्रीमान् अकम्पन राजा इस तरह स्वयंवर रचकर मिथ्या आदर करने वाले हुए। इस विषयमें चतुर–विचारशील मनुष्यका चित्त क्या रुचि कर सकता है ? अर्थात् नहीं ॥२८॥

**अर्थ**—हे मर्यादापुरुषोत्तम ! वह विकलता भी काशीराजके हृदयमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारणात् संभाव्यताम् किन्तु मादृशा नवयुवका अपि नवीनां काशीराजसुतां समिताः संप्राप्ताः सन्तोऽर्थित्वलः परवशाः 'अर्थी दोषं न पश्यति' इति नीतिमाश्रिता दृशा विहीना विबभुरित्येतच्चित्रमेव ॥२९॥

लूताकृते जगति सौधगणग्रहीति
यद्वौतुपोतपुरतोऽमृतजातवीतिः ।
स्वायं वरीति खलु रीतिरियं प्रतीति-
मायाति भो भरतभूभृदनर्थनीतिः ॥३०॥

लूताकृत इत्यादि—भो भरतभूभृत् ! जगत्यस्मिन् लोके लूताकृते मर्कटिकार्थं सौधगणस्य प्रासादपरम्पराया ग्रहीतिरवाप्तिर्यद्वा पुनरोतुपोतस्य विडालजातस्य पुरतोऽग्रेऽमृतजातवीतिर्दुग्धोत्थितभोजनसत्ता यथा भवति, तथा खल्वियं स्वायंवरी रीतिरनर्थस्य नीतिर्विप्लवकरी चेष्टा प्रतीतिमायाति ॥३०॥

सदधिपवदनेन्दोर्गोचरोच्चारणेन
जयहृदयपयोधिः साम्प्रतं कारणेन ।
सुतरलतरवीचिप्रोज्जजृम्भे किलेति
ध्वनिरपि च तदुत्थः स्मेत्युदारो निरेति ॥३१॥

सदधिपेत्यादि—सदधिपस्य चक्रवर्तिनो वदनरूपो योऽसाविन्दुस्तस्य 'नयनतारक' इत्यादि गोचरमुच्चारणं तेन स्पष्टसम्भाषणेन कारणेन साम्प्रतमधुना जयस्य हृदय-

---

बुढ़ापेके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे संभव हो सकती है, किन्तु हमारे जैसे नवयुवक भी काशीराजसुताको प्राप्त हो स्वार्थसे परवश होते हुए दृष्टि—सद्विचारसे विहीन हो गये, यह आश्चर्यकी ही बात है ॥२९॥

**अर्थ**—हे भरत महाराज ! जिस प्रकार मकड़ीके लिये महलोंके समूहका निर्माण करना अथवा विलावके बच्चेके आगे दूध निर्मित भोजनका रखना अनावश्यक और असुरक्षित कार्य है, उसी प्रकार यह स्वयंवरकी रीति भी सचमुच ही अनावश्यक और अनर्थकरी नीति है, यह बात प्रतीतिमें आती है ॥३०॥

**अर्थ**—चक्रवर्तीके मुखरूपी चन्द्रसे निःसृत 'तुम मेरे नयनोंके तारे हो' इत्यादि वचनोंके उच्चारणरूप कारणसे जयकुमारका हृदय रूप सागर अत्यन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



पयोधिस्तरलतरा वीचयस्तरङ्गा यत्रेति यथा स्यात्तथा प्रोज्जजृम्भे तदुत्थस्तस्माज्जात उदारो ध्वनिस्तारक इवेत्यादितः प्रारभ्य लूताकृते इत्यादि वृत्तपर्यन्तं निरेति स्मापि पुनः ॥३१॥

**अपि तद्गिरमानिशम्य सम्यङ् नृवरो वारिगणं ववर्ष तं यः ।**
**स च बर्हिसमर्हिताब्दरम्यः प्रभवन् शस्यसमाजराजगम्यः ॥३२॥**

अपीत्यादि—तस्य गिरं जयकुमारस्य वचनं सम्यगवधानपूर्वकं निशम्य श्रुत्वापि पुनर्यो नृवरश्चक्रवर्ती स बर्हिभिर्मयूरैः समर्हितः श्लाघनीयो योऽब्दो मेघस्तदिव रम्यः, यतः शस्यानां सभ्यपुरुषाणामेव शस्यानां ( सस्यानां ) धान्यानां समाजराजेन गम्यः प्रभवन् तं निम्नाङ्कितं वारिगणं वचनसमूहमेव जलपूरं ववर्ष ॥३२॥

**यदवाप स वा पराभवमधिकुर्वंस्तु सुलोचनां तव ।**
**किमु तत्र भवेत् कदाश्रव उचितोपायनपावनोत्सव ! ॥३३॥**

यदवापेति—उचिते न्यायसङ्गते उपायने उपहारे विषये पावनः पवित्र उत्सवो यस्य तत्सम्बुद्धिः, हे उचितोपायनपावनोत्सव ! जयकुमार ! सुलोचनां तु पुनरधिकुर्वन् सन् सोऽर्ककीर्तिर्यद्यस्मात्कारणात्पराभवमवाप, तत्र तव किमु कदाश्रवोऽशुभसमागमो भवेत् ? जातुचिदपि त्वमपराध करो नासीति ॥३३॥

**नहि तत्र समस्ति शोचनीयं गतिरुत्सीमगमस्य भाविनीयम् ।**
**निशमिन्दुनियोगिनीं बुभुक्षोः पतनं किन्न रवेरहो मुमुक्षो ! ॥३४॥**

नहीत्यादि—उत्सीमगमस्योत्पथगामिनो जनस्य नुरवस्थेयमेव भाविनी, अत्र तव

---

चञ्चल तरङ्गोंसे लहराता हुआ वृद्धिको प्राप्त हुआ और उससे उत्पन्न उदार ध्वनि 'तारक इव' यहाँसे प्रारम्भकर 'लूताकृते' यहाँ तककी पद्यावली प्रकट हुई ॥३१॥

अर्थ—जयकुमारकी वाणीको अच्छी तरह सुनकर उन चक्रवर्तीने पुनः वचनसमूह रूप जलकी वर्षाकी, जो कि मयूरोंसे प्रशंसित मेघके समान रमणीय थे, प्रभुत्वसे संपन्न थे तथा श्लाघनीय राजा रूपी धान्यसमूहसे गम्य-प्राप्त करने योग्य थे ॥३२॥

अर्थ—न्यायसंगत उपहारसे पवित्र है उत्सव जिसका, ऐसे हे जयकुमार ! सुलोचनाके संदर्भको लेकर यदि अर्ककीर्ति पराभवको प्राप्त हुआ है, तो उसमें तुम्हारा अपराध क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है ॥३३॥

अर्थ—मर्यादाका उल्लंघन करने वाले मनुष्यकी यही अवस्था होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सति नवो नवीनश्चर्द्धमानः समृद्धस्वभावश्च भवतीति परिहारः। इत्येवंरूपेण ते विधा प्रकारो नः खल्वस्माकं विस्मयकृद्भूवत्याश्चर्यायास्तीति ॥२१॥

**वृषध्वजायापि दिगम्बराय भवच्छिदे भूतहितंकराय।**
**देवाधिदेवाय नमो जिनाय न किन्तु लब्धाजिनचर्मकाय ॥२२॥**

वृषध्वजायेत्यादि—वृषो नाम बलीवर्दो ध्वजे यस्य स वृषध्वजो नाभेयस्तीर्थंकरो महादेवोऽपि तस्मै। तथा दिश अम्बराणि भवन्ति यस्मै तस्मै। तथा भवं नाम संसारं छिनत्तीति तस्मै भवच्छिदे। तथा भूतानां प्राणिमात्राणां पक्षे पिशाचानां हितं करोतीति तस्मै। तथा देवानामिन्द्रादीनां देवायाराध्याय जिनाय तीर्थंकरपरमदेवाय नमोऽस्तु, किन्तु पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टायैव लब्धं परिधारितमजिनं चर्मैवाजिनचर्मकं येन, तस्मै लब्धाजिनचर्मकाय महादेवनामकाय नमस्कारो न भवतु खलु इति ॥२२॥

**सरस्वति! श्रीपतिदर्शनाय सुदक्षिणा त्वं गुणलक्षणाय।**
**विज्ञैरविज्ञैरपि सेव्यमाना पुनीतपुण्यैकवरप्रदाना ॥२३॥**

सरस्वतीत्यादि—एवं श्रीवृषभदेवाराधनानन्तरं सरस्वतीं स्तोतुमारभते तावत्। हे सरस्वति! त्वं श्रीपतेर्भगवतो दर्शनाय, कीदृशाय? गुणानां ज्ञानादीनां धर्माचारादीनां लक्षणं यत्र भवति खलु तस्मै। सुदक्षिणातिशयचतुरा यद्वा शोभना दक्षिणा नाम दिशा यया सा सुदक्षिणा, यतो मध्ये श्रीपतेर्भगवतोऽवस्थितिर्भूत्वा तस्य दक्षिणदिग्भागे सरस्वत्या वामभागे च लक्ष्म्याः परिस्थितिर्भवतीति किलाम्नायोऽस्ति। ततस्त्वं पुनर्विज्ञैर्ज्ञानिभिः

---

श्रीवर्द्धमान होकर नव + अर्धमान–नित्य नवीन समृद्ध स्वभाव वाले हैं) इस तरह आपकी यह विधा–पद्धति हम सबको आश्चर्य उत्पन्न करने वाली है ॥२१॥

**अर्थ**—हे भगवन्! आप वृषध्वज हैं–वृषभ चिह्न वाली ध्वजासे सहित हैं, (पक्षमें वृषभवाहन हैं), दिगम्बर–दिशा रूप वस्त्रोंसे सहित अर्थात् नग्नमुद्राके धारक हैं (पक्षमें नग्न हैं), भवच्छिद्–संसारका नाश करने वाले हैं (पक्षमें भव नामक असुरका संहार करने वाले हैं), भूतहितंकर–प्राणीमात्रका हित करने वाले हैं (पक्षमें पिशाचोंका हित करने वाले हैं और देवाधिदेव हैं–सब देवोंमें प्रभुत्व संपन्न देव है (पक्षमें देवोंके आराधनीय हैं)। इस प्रकार महादेवके साथ नामसादृश्य होनेपर भी मेरा जिनके लिये नमस्कार है, किन्तु जो अजिन–चर्मको धारण करने वाले हैं, उन महादेवको मेरा नमस्कार नहीं है ॥२२॥

**अर्थ**—अब भगवान् ऋषभदेवको स्तुतिके बाद सरस्वती–जिन वाणीकी स्तुति करते हैं। हे सरस्वति! तुम श्रीपति–जिनेन्द्रदेवका वह दर्शन कराने वाली हो, जो कि सम्यग्ज्ञान तथा धर्माचरण आदि लक्षणोंसे सहित है। तुम अतिशय चतुर अथवा उदार हो, ज्ञानी तथा अज्ञानी–सभी जनोंके द्वारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


कृतज्ञताप्रकाशनार्थमथाविज्ञैर्मूर्खैरपि ज्ञानसम्पादनार्थं सेव्यमानासि, यतः पुनीतस्य पुण्यस्यैकं प्रधानं वरं यद्वा पुनीतं पुण्यं विद्यते यस्य तस्मै जनायैवैकं वरं प्रददातीति सा ॥२३॥

**कलापि नाथेन च वाह्यमाना करोति भद्राणि जनस्य नाना ।**
**दूरेचराः कश्मलकाद्रवेया भवन्ति यस्मादथहानुमेया ॥२४॥**

कलापीत्यादि—तत्र मयूरस्योपरि विराजमाना चतुर्भुजावती किलैकस्मिन् करे वीणां द्वितीये मालां तृतीये पुस्तकं सन्दधाना चतुर्थं करमङ्के समारोपितवतीति सरस्वत्या आलङ्कारिका मूर्तिराम्नायेन प्रसिद्धास्ति। तामाश्रित्य स्तूयते तावत्। यत्किल या सरस्वती कलापिनां मयूराणां नाथेन शिखण्डिशिरोमणिना वाह्यमाना जनस्य सर्व-साधारणस्यापि नाना भद्राणि कल्याणानि करोति, कश्मलान्येव काद्रवेयाः सर्पास्ते पाप-रूपसर्पा दूरेचरा भवन्ति, यस्मात्खलु मयूरात् सर्पाणां भीतिरिति। अथ सन्देहार्थे तं हन्ती-त्यथहा सन्देहहरा। अनुमेयानुमानकार्ययोग्या च भवति। किं वा या मेऽथहा सन्देहहरा भवति, नु इति चाव्ययमनुनयार्थे वर्तते खलु। अत्र तत्त्वार्थाश्रयणे तु कमात्मानं लपतीति कलापिनो योगिजनास्तेषां नाथेन गणधरदेवेन मयूरपिच्छधारकेण निर्वाह्यते वाणीति ॥२४॥

**बिभर्ति वीणां प्रथमाभिधायां सतामुदन्तोदितसम्पदायाम् ।**
**समर्थितां पुण्यपरम्परायां सत्कीर्तिसंगीतपुनीतकायाम् ॥२५॥**

---

सेवनीय–उपासनीय हो तथा पुण्यशाली लोगोंको अद्वितीय वर देने वाली हो ॥२३॥

**अर्थ**—यहाँ सरस्वतीकी लोकप्रसिद्ध मूर्तिका वर्णन किया गया है। लोकमें प्रसिद्ध है कि सरस्वती मयूरवाहिनी है, उसके चार हाथ हैं। वह एक हाथमें वीणा, दूसरे हाथमें माला, तीसरे हाथमें पुस्तक लिये हुए हैं तथा चौथा हाथ गोदमें रक्खे हुए हैं। यह सरस्वती श्रेष्ठ मयूरके द्वारा वाह्यमान है, जनसमूह-का कल्याण करनेवाली है; पापरूपी सांप इससे दूर रहते हैं। यह अथहा–सन्देहको नष्ट करने वाली है तथा अनुमेया–अनुमान करने योग्य है। अध्यात्म दृष्टिसे **कलापिनाथ** का अर्थ है आत्माकी चर्चा करनेवाले मुनियोंके नाथ–गणधर देव अथवा कलाप–मयूर पिच्छके धारक मुनिराज। इनके द्वारा ही जिन वाणीकी परम्परा चलती है। यह जिनवाणी ही जनसाधारणका कल्याण करने-वाली है, इस जिनवाणीके अध्ययन–अध्यापनसे ही पापरूपी सर्प दूर भागते हैं, यह जिनवाणी ही सन्देहको नष्ट करने वाली है तथा सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थ इसीके द्वारा अनुमेय हैं–जाने जाते हैं ॥२४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**बिभर्तीत्यादि**—या सरस्वती प्रथमाभिधायां भुजायां वीणां बिभर्ति धारयति। कीदृशीं ताम् ? सतां सभ्यानामुदन्तेषु वृतान्तेषु उदिता या सम्पदा सा यस्यामस्ति तस्यां पुण्यस्य परम्परायां तेषां सती या कीर्तिस्तस्याः संगीतमेव पुनीतः कायो यस्या यद्वा सत्कीर्तिसंगीतेन पुनीतः पवित्रीकृतः कायो यस्यास्तस्यां समर्थितामर्थवतीमिति। अर्थात् प्रथमानुयोगो नामेतिवृत्तप्रसादो यस्मिन् महतां चरितमुल्लिखितं यस्योत्कीर्तनं वीणोपलक्षितेन वाद्यप्रपञ्चेन संगीतद्वारा क्रियते तदभिव्यक्त्यर्थं सरस्वतीकरे प्रथमे वीणेति यावत् ॥२५॥

**करे द्वितीयेऽञ्चति पुस्तकं च स्ववाहनीभूतशिखण्डिवंशा।**
**अङ्कानिवाध्येतुमपेतशङ्कानहेतुवादस्य किलाकलङ्कान् ॥२६॥**

**कर इत्यादि**—सरस्वत्याः प्रसादस्य सारस्वतस्य श्रुतस्य तावद् द्वावेव विभागौ मुख्यतया हेतुवादाहेतुवादरूपौ भवतः खलु। तत्र हेतुवादो नाम युक्तिग्राह्यः, किन्त्वहेतुवादस्तु गुरुमुखादेवावगम्यते। न तत्र युक्तिः प्रवर्तते। तत एव तस्य सिद्धान्त इत्यपरं नाम भवति। तत्सूचनार्थं सरस्वत्या द्वितीये करे पुस्तकमित्याम्नायस्तदेव वर्ण्यते। स्वस्य वाहनीभूतशिखण्डिनां मयूराणां वंशो यया सा सरस्वती किलाहेतुवादस्याकलङ्कान् निर्दोषानङ्कान् संकेतान्, अपेता विनष्टा शङ्का येभ्यस्तानध्येतुं पठितुं स्वस्य द्वितीये करे पुस्तकमञ्चति पूजयति ॥२६॥

---

**अर्थ**—जो सरस्वती अपनी पहली भुजामें उस वीणाको धारण करती है, जो सत्पुरुषोंके वृत्तान्तों–इतिहासोंमें कथित सम्पदासे युक्त पुण्य परम्परामें समर्थित है, अर्थात् पुण्यशाली मनुष्योंके जीवन वृत्तान्तका कथन करनेके कारण जो सार्थक है तथा समीचीन कीर्ति अथवा सत्पुरुषोंके संगीत–गुणगानसे जिसका शरीर पवित्र है।

**भावार्थ**—यहाँ कविने वीणाको जिनवाणीके प्रथमानुयोगका प्रतीक माना है। जिसमें तीर्थंकर चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र तथा अन्य पुण्यशाली पुरुषोंका चरित–जीवनवृत्त कहा गया है, उसे प्रथमानुयोग कहते हैं। इसका संगीतमय कथन होता है, अतः इस अनुयोगको वीणा कहा गया है ॥२५॥

**अर्थ**—जिसने मयूरवंशको अपना वाहन बनाया है, ऐसी सरस्वती अपने द्वितीय हाथमें अहेतुवादके निःशङ्क एवं निष्कलङ्क–निर्देशोंका अध्ययन करनेके लिये पुस्तक धारण करती है।

**भावार्थ**—जिनवाणीका द्वितीय अनुयोग करणानुयोग कहलाता है। इसमें अयुक्तिगम्य सिद्धान्त तथा लोक-अलोक आदिका वर्णन गुम्फित है। इस अनुयोगका प्रतीक पुस्तक है। अतः सरस्वती विशिष्ट अध्ययनके लिये अपने द्वितीय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**तृतीयबाहावुपयुक्तदाम-सुमेषुमे विद्विधया स्वधाम।**
**चारित्रवार्धेस्तरलांस्तरङ्गानाख्यातुमेवानुकरोत्यभङ्गान् ॥२७॥**

तृतीयबाहाविति—मे मम विदो बुद्धचा विधया प्रकारेण सा सरस्वती स्वस्य तृतीयबाहौ किलोपयुक्तं यद्दाम कुसुममाल्यं तस्य सुमेषु पुष्पेषु किल चारित्रवार्द्धेश्चरणानुयोगो नाम समुद्रस्याभङ्गान्निरन्तरायान् तरलान् मञ्जुप्रायांस्तरङ्गानाख्यातुं परिगणयितुमेव तावत् स्वस्य धाम तेजःप्रभावमनुकरोतीति। चरणानुयोगवर्णितस्याचारस्य प्रभावेण मनुष्यस्य कीर्तिः कुसुमगन्धवत् प्रसरति किलेति व्यञ्जना ॥२७॥

**उत्सङ्गमध्यप्रहितैकपाणिस्तत्त्वार्थसार्थानुभवे च वाणी।**
**ध्यानैकतानं मनसो विधानं कर्तुं सदैवादिशतीव सा नः ॥२८॥**

उत्सङ्गेत्यादि—उत्सङ्गस्याङ्कस्य मध्ये प्रहितः स्थापित एकः पाणिर्यया सा सरस्वती तत्त्वार्थानां जीवादीनां सार्थः समुदायस्तस्यानुभवेऽनुमनने मनसश्चित्तस्य विधानं प्रकारं ध्यानैकतानं निश्चलं कर्तुमेव नोऽस्मादृशान् सदा सर्वदैवोपदिशतीव खलु। पदार्थानां स्वरूपं मनसा चिन्त्यते, तदर्थं च पद्मासनीभूयाङ्के करधारणमिति ध्यानमुद्रा ॥२८॥

---

हाथमें पुस्तक धारण करती है ॥२६॥

**अर्थ**—सरस्वती अपनी तृतीय भुजामें जो उपयुक्त—उपयोगमें आनेवाली मालाको धारणकर रही थी, उसके फूलोंमें वह चरणानुयोगरूप समुद्रकी मनोहर तथा अभङ्ग—सन्ततिबद्ध तरङ्गों—चारित्रके विकल्पोंको गिननेके लिये अपनी बुद्धिके अनुरूप अपने तेजको ही धारण कर रही हो, ऐसा जान पड़ता है।

**भावार्थ**—सरस्वतीके तृतीय हाथमें जो माला थी, वह फूलोंके बहाने चारित्रके विकल्पोंको ही मानों प्रकट कर रही थी ॥२७॥

**अर्थ**—जिसने गोदके मध्यमें एक हाथ रखा है, ऐसी सरस्वती मानों हम सबको सदा यही आदेश देती है कि मनकी प्रवृत्तिको तत्त्वसमूहके चिन्तनमें ध्यानैकतान—एकाग्र करो।

**भावार्थ**—गोदमें स्थापित चतुर्थ हाथसे सरस्वती मानों यह उपदेश दे रही है कि अपने मनको सदा तत्त्वचिन्तनमें निमग्न करो। यहाँ चतुर्थ हाथकी मुद्रासे तत्त्वार्थका वर्णन करनेवाले द्रव्यानुयोगका वर्णन किया है। इस सन्दर्भमें यहाँ जिनवाणी रूपी सरस्वतीके चार अनुयोग रूप हाथों तथा उनके कार्यकलापका निदर्शन किया गया है। यह प्रशस्त कल्पना है ॥२८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria,.Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**अनेकधान्यार्थकृतप्रवृत्तिर्जडाशयस्योद्धततां समत्ति ।**
**हे शारदे ! शारदवत्तवायः समस्तु मेघस्य विनाशनाय ॥२९॥**

अनेकेत्यादि—हे शारदे ! सरस्वति ! तवायनमेवायो मार्गः शरदोऽसौ शारदस्तद्वत् अस्ति यः किलानेकधार, बहुप्रकारेणान्यस्यार्थं कृता प्रवृत्तिर्येन स त्वदायः, शरन्मार्गश्चानेकानि च यानि धान्यानि शालिप्रभृतीनि तेभ्यस्तदर्थं कृता प्रवृत्तिर्येनेति, यश्च जडाशयस्य मूर्खलोकाभिप्रायस्योद्धततामुद्दण्डपरिणतिं समत्ति भक्षयति निराकरोति, पक्षे जडाशयस्य तटाकादेरुद्धततामुद्वेलभावं समत्ति परिहरति, स त्वदायो हे सरस्वति ! मेऽघस्य पापस्य, पक्षे मेघस्य जलदस्य विनाशनाय परिहरणाय समस्तु तावत् ॥२९॥

**त्वं कोविदानां हृदि दीपिकासि न को विदा नानुमतस्त्वदाशीः ।**
**नानुग्रहं ते भुवि विस्मरामि सस्नेहवर्तित्वमहं दधामि ॥३०॥**

त्वमित्यादि—हे सरस्वति ! त्वं तावत् कोविदानां बुद्धिमतां हृदि चित्ते दीपिकासि समस्तवस्तुसार्थप्रकाशकर्त्री भवसि, तवाशीर्वादो यस्मै स त्वदाशीर्ना मनुष्यः स कः खलु विदा परिज्ञानेनानुमतः समर्थितो नास्ति, किन्तु सर्वोऽप्यस्ति । तस्मादहमिह भुवि पृथिव्यां तेऽनुग्रहं तव कृपापरिणाममनुसरणं च न विस्मरामि, किन्तु स्नेहेन प्रेम्णा सहितो वर्तते स सस्नेहवर्ती तस्य भावम्, पक्षे स्नेहेन तैलादिना सहिता या वर्तिर्दशा सस्नेहवर्तिस्तस्या भावमिति । एवं सरस्वतीस्तवनं विधायेदानीं लक्ष्मीं स्तोतुमारभते ॥३०॥

---

**अर्थ**—हे सरस्वति ! तुम्हारा यह मार्ग—कार्यकलाप शरद् ऋतुके समान है, क्योंकि जिस प्रकार शरद् ऋतु **अनेकधान्यार्थकृतप्रवृत्ति**—अनेक प्रकारके अनाजोंके उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त रहती है, उसी प्रकार आपका मार्ग भी **अनेकधा-अन्य-अर्थकृतिप्रवृत्ति**—अनेक प्रकारके अर्थ—अभिधेय, व्यङ्ग्य और ध्वन्य अथवा अनेक मनुष्योंके प्रयोजन सिद्ध करनेमें प्रवृत्त है और जिस प्रकार शरद् ऋतु **जडाशय**—जलाशयोंकी उद्धतता—उद्वेलावस्थाको नष्ट करती है, उसी प्रकार आपका मार्ग भी जडाशयोद्धतता—मूर्ख मनुष्योंके अभिप्राय सम्बन्धी उद्दण्डताको नष्ट करती है । इस तरह जिस प्रकार शरद् ऋतु मेघ—जलदका नाश करनेके लिये है, उसी प्रकार आपका मार्ग भी मे अघ—मेरे पापोंका नाश करनेके लिये हो ॥२९॥

**अर्थ**—हे सरस्वति ! तुम विद्वानोंके हृदयमें दीपिकारूप हो, अर्थात् तुम्हारे ही आलोकमें उन्हें हेयोपादेय पदार्थोंका परिज्ञान होता है । तुम्हारे आशीर्वादसे सहित ऐसा कौन मनुष्य है, जो ज्ञानसे अनुमत—समर्थित न हो, अर्थात् कोई नहीं है । पृथिवीपर मैं तुम्हारे उपकारको नहीं भूलता हूँ—कभी भी तुम्हारे उपकारको विस्मृत नहीं कर सकता । तुम्हारे विषयमें मैं स्नेहपूर्ण—प्रेमपूर्ण वृत्तिको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**धर्मार्थकामामृतधामबाहुचतुष्टयं सन्दधतीं समाहुः ।**
**रमां समाराधयितुं प्रवृत्तः प्रसूनतुल्येन हृदानुवृत्तः ।।३१।।**

**धर्मार्थेत्यादि**—धर्मश्चार्थश्च कामश्चामृतधाम मोक्षश्चेति धर्मार्थकामामृतधामानि, तान्येव बाहवस्तेषां चतुष्टयं सन्दधतीं यां जनाः समाहुस्तां रमां नाम लक्ष्मीं समाराधयितुं संस्तोतुं प्रवृत्तोऽभूत् स जयकुमारो नाम राजा, यः प्रसूनतुल्येन प्रफुल्लितेन हृदा चित्तेनानुवृत्तो युक्त आसीदिति। लक्ष्मीः कमलासना चतुर्भुजवती चेति किलालङ्कारिकमूर्तिमतीं लक्ष्मीमनुजानन्ति जनाः, किन्तु न जैनाम्नायविद इति केषाञ्चिदभिप्रायः। स न समीचीनो यत उपर्युक्ताकारा लक्ष्म्या मूर्तिः सनातनी जैनानामपि सम्मतैवास्ति। सा किलाकृत्रिम-चैत्यालयेष्वपि भगवतो वामपार्श्वेऽभिवर्तमानेत्येवं श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिभिरप्यभिहितं त्रैलोक्यसार शास्त्रे। किञ्च, तीर्थंकरजननीभिरपि स्वप्नषोडश्यामीक्ष्यते लक्ष्मीरनादिपरम्परयेति निःशङ्कमस्माकं चेतस्तावत् ।।३१।।

**वृद्धयै प्रभावेण सुबुद्धिदेन याङ्गीकृतर्द्धिः किल सिद्धिदे ! नः ।**
**न कामितास्थामिति कामितानु तव तु प्रसादाज्जगदेकमातुः ।।३२।।**

**वृद्धयायित्यादि**—हे नोऽस्माकं सिद्धिदे! सफलतादायिनि! तव जगतामेकमातुः प्रसादात्कृपाकटाक्षवशात् जनस्य कामिता वाञ्छापि न कामितेति विरोधे, सा वाञ्छा कामित्यास्थां श्रद्धां पूर्ति वा नेता न सम्प्राप्ताभूत्, या त्वं किल सुबुद्धिदेन सन्मतिदायकेन

---

धारण करता हूँ। अथवा यतश्च तुम दीपिकास्वरूप हो, अतः मैं उसकी तैल सहित वत्ती हूँ ।।३०।।

**अर्थ**—तदनन्तर पुष्पतुल्य-कोमल हृदयसे युक्त जयकुमार राजा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार भुजाओंको धारण करने वाली लक्ष्मीकी आराधना करनेके लिये उद्यत हुए।

**भावार्थ**—लक्ष्मीकी मूर्ति लोककल्पित है। लक्ष्मी भवनवासिनी देवी है। वह परमार्थसे आराधनीय नहीं है। जिनागमके अनुसार तो अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यके भेदसे अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी ही आराधनीय-पूजनीय है। यहाँ कविने जो वर्णन किया है, वह लाकरीतिको लक्ष्यमें रखकर किया है ।।३१।।

**अर्थ**—हे हमारी सिद्धिको देनेवाली! आप जगत्की अद्वितीय माता हैं, आपके प्रसादसे मनुष्यकी कामिता-वाञ्छा पूर्ण नहीं हुई यह विरुद्ध है, इसका परिहार ऐसा है कि आपके प्रसादसे मनुष्यकी **कामिता**-वाञ्छा, **काम्**-किस **आस्था**-श्रद्धा अथवा पूर्तिको **न इता**-प्राप्त नहीं हुई, अर्थात् सब प्रकारकी श्रद्धा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



प्रभावेण वृद्धचै वृद्धिकरणार्थमङ्गीकृता स्वीकृता ऋद्धिर्योगशक्तिः सम्पत्तिर्वा यया सा सम्भवसि ॥३२॥

**चेतोऽम्बुजाते भुवनाधिपस्य रमे ! विकासं गतवत्यवश्यम् ।**
**दिगन्तरव्यापिसुगन्धयुक्ते पद्मालयेत्यङ्कवती सदुक्तेः ॥३३॥**

चेत इत्यादि—हे रमे ! त्वं दिगन्तेषु व्याप्नोतीति दिगन्तव्यापी तेन तादृशेन सुगन्धेन कीर्त्या यद्वा परिमलेन युक्ते भुवनानां लोकानामधिपस्य त्रिलोकनायकस्य चेतश्चित्तमेवाम्बुजातं कमलं तस्मिन्, यद्वा भुवनानां जलानामधिपस्य समुद्रस्य चेत इहाम्बुजाते वारिरुहे, कीदृशे तस्मिन्निति चेदवश्यमेव विकासं गतवति, अङ्कवती निवासशालिनीति सभ्यानामुक्तिः कथनवार्ता तस्या वशात् त्वं पद्मालया भवसि तावत् ॥३३॥

**मातस्त्वमिष्टास्युपलस्वभावा कैः पूरुषैः कैर्जलराशिजा वा ।**
**विभासि विश्वप्रणयप्रदा वा वयं प्रतीमः खलु बुद्धिनावा ॥३४॥**

मातस्त्वमित्यादि—हे मातस्त्वं कैश्चित्पूरुषैरुपलस्वभावा हीरकादिरूपा तावदिष्टासि सम्मानिता भवसि। तथैव कैश्चित्पूरुषैः पुनर्जलराशिजा समुद्रसमुद्भवा मौक्तिकादिस्वरूपाभीष्टासि। किन्तु त्वं वास्तविकतया विश्वस्य जगन्मात्रस्य यः खलु प्रणयः प्रेमभावस्तं प्रददातीति विश्वप्रणयप्रदा विभासीत्येवं वयं खलु निश्चयेन बुद्धचैव नावा प्रतीमो जानीमहे। यतो ये विश्वप्रेमवन्तो जनास्सन्ति, तेऽभीष्टसम्प्राप्तितया सुखिनो भवन्ति, ये तु तद्विपरीतास्ते पुना रत्नादिषु सम्भवत्स्वपि कलहादिवशेन दुःखिन एव सन्तीति दिक् ॥३४॥

---

या पूर्तिको प्राप्त हुई है। ऋद्धि–योगशक्ति अथवा सम्पदाको स्वीकृत करनेवाली आप अपने सन्मतिदायक प्रभावसे वृद्धि करनेके लिये अङ्गीकृत हैं, अर्थात् सबकी यह मान्यता है कि आप सब प्रकारकी वृद्धि करनेवाली हैं ॥३२॥

**अर्थ**—हे रमे ! हे लक्ष्मि ! आप दिशाओंके अन्तरालमें व्याप्त होनेवाली सुगन्ध–कीर्ति अथवा परिमलसे युक्त एवं विकसित लोकनायकके चित्तरूपी कमलमें निवास करती हैं। अतः सत्पुरुषोंके कथनानुसार आप 'पद्मालया' इस नामसे सहित हैं ॥३३॥

**अर्थ**—हे मातः ! तुम किन्हीं पुरुषोंके द्वारा हीरा आदि रूप होनेसे उपलस्वभाव वाली मानी गई हो और किन्हीं पुरुषोंके द्वारा रत्न–मोती आदि रूप होनेसे समुद्रजा कही जाती हो, परन्तु हम बुद्धिरूपी नौकाके द्वारा जानते हैं कि तुम प्राणिमात्रके लिये प्रणय–प्रेम प्रदान करनेवाली हो, अर्थात् तुम प्राणीमात्रके हृदयमें वास करती हो। भाव यह है कि सभी लोग आपको हृदयसे चांहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**निसर्ग एषोऽपि तवाथ भातु विसर्गलोपं सहसे न जातु ।**
**उद्दिश्यमाना त्रिजगद्धिता या हे लक्ष्मि! मां मातृवदाशु पायाः ॥३५॥**

निसर्ग इत्यादि—हे लक्ष्मि ! तवैष निसर्गः स्वभाव एव भातु यत्किल त्वं वैसर्गस्य स्वरूपापेक्षया त्यागलक्षणस्य दानस्य शब्दस्वरूपापेक्षया तु पुरोभागवर्तिनो बिन्दुद्वयाकारस्य लोपमभावं न सहसे, यतो व्याकरणशास्त्रदृष्ट्या लक्ष्मीतिशब्दस्य प्रथमैकवचने सम्प्राप्तस्य विसर्गाभावस्य लोपो न भवति, यथा नद्यादिशब्दस्य भवति । तथा च ये लक्ष्मीवन्तो भवन्ति ते दानशीला अपि स्वभावत एव सम्भवन्तीति यावत् । हे मातस्त्वमुद्दिश्यमाना नाममात्रतोऽपि निर्दिष्टा सती त्रयाणामपि जगतां हितं पथ्यं यत्र सा त्रिजगद्धिता । तस्मात्त्वं मामपि मातृवदाशु शीघ्रमेव पायाः ॥३५॥

**यस्याश्च कल्याणमहत्त्वलाभादिमेषु वर्णेष्वभिधाश्रिताभा ।**
**त्रिवर्गिभिः साम्प्रतमभ्युपास्या हे देवि! मे त्वं मनसि स्थिरा स्याः ॥३६॥**

यस्या इत्यादि—कल्याणं नाम मङ्गलं महत्त्वं नाम गौरवं लाभो नाम वाञ्छितप्राप्तिस्तृप्तिभावस्तेषां त्रयाणामादिमेषु वर्णेषु यस्या अभिधयाऽऽख्ययाश्रिताऽऽभा वर्तते 'कमला' नामेत्येवंरूपा, सा त्वं हे देवि ! त्रिवर्गिभिर्धर्मार्थकामपुरुषार्थपक्षपातिभिर्गृहस्थैः साम्प्रतमधुनापि, अभ्युपास्याऽऽराधनीया सम्भवसि, सा त्वं मे मनसि चित्तेऽपि स्थिरा स्याः सम्भवेरिति ॥३६॥

---

भावार्थ—परमार्थसे न हीरा आदि लक्ष्मी है और न मोती आदि । अतः आपका न पृथिवीके भीतर निवास है और न समुद्रके भीतर । ज्ञान-दर्शनादि अनन्तचतुष्टय ही वास्तविक लक्ष्मी है और उनका निवास प्राणिमात्रके हृदयमें है ॥३४॥

हिन्दी—हे लक्ष्मि ! आपका यह स्वभाव भी सुशोभित रहे–सदा विद्यमान रहे कि आप कभी विसर्गके लोपको सहन नहीं करतीं, अर्थात् परमार्थसे आपका जो दानस्वभाव है, उसे कभी नहीं छोड़ती और शब्द स्वरूपकी अपेक्षा आप लक्ष्मी शब्दके आगे रहनेवाली विसर्गोको नहीं छोड़ती । नामोच्चारण मात्रसे आप त्रिजगत्का हित करनेवाली हैं, अतः माताके समान आप शीघ्र ही मेरी रक्षा करें ॥३५॥

अर्थ—जिसके नामके अक्षर कल्याण, महत्त्व और लाभ इन तीन शब्दोंके आदि अक्षरोंमें निहित हैं, अर्थात् जिसका 'कमला' नाम है तथा जो धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गके धारक गृहस्थोंके द्वारा इस समय भी सेवनीय है, ऐसी हे देवि ! आप मेरे हृदयमें स्थिर रहें ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**हितैषिणी त्वं जगतां विभासि मातेव यस्मा त्पृथुपुण्यराशिः ।**
**सुचारु वृद्धैरपि मेति नाम तव प्रदत्तं सुतरां वदामः ॥३७॥**

**हितैषिणीत्यादि**—हे लक्ष्मि ! त्वं मातेव पृथुनः पुण्यस्य राशिः समूहो यस्याः सा सती जगतां समस्तानामपि प्राणिनामपि हितैषिणी सुखकर्त्री विभासि यस्मात्तस्माद्वृद्धैः कविभिरपि प्रदत्तं मेति तव नाम सुतरां स्वयमपि सुचारु सुन्दरमिति वयमपि वदामः । मातरमपि त्वामपि च मामिति वदन्ति यतः ॥३७॥

**कामप्रसूः सम्प्रति लोकमातस्त्वमर्हतः कामजितः प्रियाऽतः ।**
**वामा न वामानव संस्तुतस्य पुराणसंवादसमर्थितस्य ॥३८॥**

**कामप्रसूरित्यादि**—हे लोकमातस्त्वं सम्प्रति कामजितः कामहरणस्यार्हतो भगवतः प्रियापि कामप्रसूः कामजन्मदात्रीति विरोधे त्वं कामप्रसूर्वाञ्छितकर्त्रीति परिहारः, अतोऽस्मात्कारणात्पुराणः प्राचीनो योऽसौ संवादस्तेन समर्थितस्यापि नवो नूतन इत्येवं संस्तुतस्य वामापि न वामासीत्येवं विरोधे पुराणानां प्रथमानुयोगशास्त्राणां योऽसौ संवादः सम्यक्कथनं तेन समर्थितस्य प्रशंसितस्यात एव मानवैः संस्तुतस्य प्रशस्तस्य, यद्वा मानवेषु मध्ये संस्तुतस्य सर्वोत्तमभावं गततया प्रशस्तस्य नवा मनोहरा वामा वामभागवर्तिनीति ॥३८॥

---

**भावार्थ**—यतश्च आपका 'कमला' नाम कल्याण, माला और लाभके आदि अक्षरोंसे बना है, अतः यदि आप मेरे हृदयमें स्थिर रहेंगी तो मुझे भी कल्याण-मङ्गल, महत्त्व-बड़प्पन और लाभ-वाञ्छित फल की प्राप्ति होनेसे उत्पन्न मनस्तोष प्राप्त होंगे ॥३६॥

**अर्थ**—हे लक्ष्मि ! जिस कारण आप विशाल पुण्यकी राशि स्वरूप होनेसे माताके समान समस्त प्राणियोंका हित चाहनेवाली हैं, इस कारण वृद्ध कविजनों ने भी आपको 'मा' यह सुन्दर नाम दिया है, यह हम अच्छी तरह कहते हैं ॥३७॥

**अर्थ**—हे लोकमातः ! आप **कामजितः**-कामको जीतने वाले अर्हन्त की प्रिया होकर भी **कामप्रसूः**-कामको उत्पन्न करने वाली हैं, यह विरोध है। परिहार पक्षमें आप मदनविजेता अर्हन्तकी प्रिया-इष्ट होकर **कामप्रसूः**-वाञ्छित पदार्थको देनेवाली हैं। इसी प्रकार 'ये पुराण-प्राचीन हैं' इस प्रकारके संवादसे समर्थित होने पर भी 'ये नव-नवीन हैं' इस प्रकार संस्तुत अर्हन्त भगवान्की **वामा**-मनोहारिणी होकर भी वामा न-मनोहारिणी नहीं हैं, यह विरोध है। परिहार पक्षमें **पुराणसंवादसमर्थितः**-प्रथमानुयोग सम्बन्धी शास्त्रोंके सम्यक् कथन से समर्थित और मानवसंस्तुत-मनुष्यमात्रके द्वारा प्रशंसित अर्हन्त भगवान्की नवा-मनोहर होकर वामा-वाम भागवर्तिनी हैं, अर्थात् मूर्तिनिर्माणमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**विनायकं नाम जना यमाहुः स नायकं सम्मिलदात्मबाहुः ।**
**चकार तं तत्र पुनः समोऽपि तस्मै समन्तात् कृतवान्नमोऽपि ॥३९॥**

**विनायकमित्यादि**—लक्ष्मीस्तवानन्तरं पुनः स सम्मिलन्तावात्मबाहू यस्य तथाभूतो हस्तसंयोगवानिति यावत् । यं नाम जना लोका विनायकमनायकमाहुस्तमेव नायकं स्वस्य स्वामिनं चकार, यद्वा विगतो नायको यस्य तथाभूतमपि नायकेन सहितं सनायकं चकारेति विरोधे जना यं विनायकं विशिष्टं नायकमाहुस्तमेव नायकं स्वस्य स्वामिनं चकारेति परिहारः । किञ्च, पुनस्तत्र तद्विषये स्वयं मया लक्ष्म्या सहितः समोऽपि सन् न विद्यते मा लक्ष्मीर्यस्य नमोऽपि लक्ष्मीरहितोऽपि भूत्वा इति विरोधे समोऽपि सलक्ष्मीकोऽपि सन् तस्मै नमो नमनं चकार । नमस् इत्यव्ययपदम् ॥३९॥

**योऽसौ गणानामधिपो मुनीनां समृद्धिरेतत् कृपया नवीना ।**
**सिद्धिर्यदानन्दविदामधीना स्मरेत् तदेतस्य भवाश्रमी ना ॥४०॥**

**योऽसादित्यादि**—स पुनरेवं स्तौति स्म विनायकं यद्योऽसौ विनायकः स गणानां मुनीनामधिपः स्वामी भवति । सिद्धिः सफलता तावद्यस्यानन्दविदां प्रसादबुद्धीनामधीनास्ति, एतत्कृपयाऽमुष्यानुग्रहेण समृद्धिः सम्पत्तिर्नवीना नित्यनूत्ना भवति तत्तस्मात्कारणात् भवेऽस्मिन् संसारे आश्रमोऽवस्थानं तद्वान् ना मनुष्यो यद्वा भवादश्रमो न परिश्रमस्तद्वान् वा ना नर एतस्य स्मरेत् स्मरणं कुर्यादिति ॥४०॥

---

आपकी स्थापना जिन प्रतिमाके वाम भागमें है ॥ ३८॥

**अर्थ**—लक्ष्मीके स्तवनके बाद राजा जयकुमारने अपने दोनों हाथ जोड़कर विनायक—गणधर देवका स्तवन किया । लोग जिन्हें विनायक—नायकरहित कहते हैं, उन्हें जयकुमारने सनायक—नायकसहित किया, यद्वा अपना नायक—स्वामी किया । उस संदर्भमें जयकुमार यद्यपि सम—लक्ष्मीसहित थे, तथापि उन्होंने नम—लक्ष्मीरहित होकर विनायकको नायक बनाया था, यह विरोध है, परिहार पक्षमें सम—लक्ष्मीसहित होकर तस्मै नमश्चकार—उन विनायकके लिये नमस्कार किया था, ऐसा अर्थ है ॥३९॥

**भावार्थ**—लोकमें विनायक नाम गणेशका है, परन्तु जैन मान्यताके अनुसार गण + ईश—गणेश गणधर कहलाते हैं। उन्हींका यहाँ स्तवन समझना चाहिये ॥३९॥

**अर्थ**—जो यह विनायक—गणधर हैं, वे मुनियोंके अधिपति—स्वामी हैं। समृद्धि—सम्पत्ति इन्हींकी कृपासे नित्य नवीन होती है तथा सिद्धि—सफलता उन्हींकी प्रसन्न बुद्धिके अधीन है। अतः संसारी मनुष्यको उनका स्मरण करना चाहिये ॥४०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**रागश्च रोषश्च हृदन्धकारोऽरिः स्पष्टमेतत्त्रिपुरोक्तकारोः ।**
**समस्ति यो विश्वजनस्य तातस्तस्याप्युमाचेष्टितमाप्य जातः ॥४१॥**

रागश्चेत्यादि—रागः प्रीतिभावो रोषो वैरभावो हृदश्चेतसश्च योऽन्धकारोऽज्ञानभाव एतेषां त्रयाणां पुराणां स्थानानां मध्य उक्ता कथिता या कारुश्चेष्टा तस्या अरिर्वैरी। तथा यो विश्वजनस्य समस्तस्यापि लोकस्य तातः पितृरूपः समस्ति तस्य लोकपितामहस्योमायाः कीर्त्याश्चेष्टितमाप्य पुनर्जातः सम्भूतः, त्रिजगद्गुरोस्तीर्थंकरपरमदेवस्य कीर्ति श्रुत्वा शिष्यो बभूवेति यावत् । त्रिपुरारिर्नाम रुद्र उमा च तस्याः स्त्री पार्वती विनोदवशादात्ममलपरिकरमादाय गणेशमारचितवतीति लोकोकिंवदन्तीमाश्रित्य तत्प्रतिवादरूपेणोपर्युक्तमुक्तवान् ॥४१॥

**मुखं विशालं करिवद्विभाति तथोदरं तुन्दिलमेकजाति ।**
**विश्वस्य वार्ताप्यणुरेव यस्मिंस्तस्मै गणेशाय नतोऽहमस्मि ॥४२॥**

मुखमित्यादि—यस्य किल गणेशस्य मुखं करिवद्धस्तिसदृशं विशालं विभाति तथा चोदरमपि यस्य तुन्दिलं पृथुलाकारमेकाद्वितीयानन्यसदृशी जातिराकृतिर्यस्य तदेकजाति विभाति । यस्मिन्मुखे चोदरे च विश्वस्य समस्तसंसारस्यापि च वार्ताणुरेव स्वल्प इव भवति, तस्मै सुबह्वविशालमुखायातिबृहदुदराय विश्ववार्ताविदिने गणेशायाहं नतो विनयशीलोऽस्मि भवामि खलु। अहो किलामुकस्य मस्तकं किमुतास्त्यपि तु हस्तिनः,

---

अर्थ—राग, द्वेष और हृदयका अज्ञानान्धकार इन त्रिपुर–तीन स्थानों सम्बन्धी शिल्प–चेष्टाके जो अरि–शत्रु हैं, तथा समस्त लोकके जो पिता तुल्य हैं, ऐसे तीर्थंकर परमदेवकी उमा–कीर्तिकी चेष्टाको प्राप्त कर जो उत्पन्न हुए थे, वे गणधर हैं, वे ही गणेश हैं ॥४१॥

अर्थ—जिनका मुख हाथीके मुखके समान विशाल है तथा उदर एक अद्वितीय जातिका इतना स्थूल है कि जिसमें समस्त संसारकी वार्ताएँ अणुरूप ही होती हैं, उन गणेशके प्रति मैं विनत हूँ–उन्हें नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—लोकमें गणेशको गजानन–हाथीके समान मुखवाला तथा लम्बोदर–स्थूल उदर वाला कहा जाता है, परन्तु परमार्थसे मनुष्यकी आकृति ऐसी नहीं होती। यहाँ हाथी की सूंड और विशाल वक्तृत्व से यह बताया गया है कि वे श्रेष्ठ वक्ता ही नहीं हैं, वक्तृत्वके साथ कर्तृत्व शक्तिसे भी संपन्न हैं, अर्थात् निर्भय होकर जैसा स्पष्ट कहते हैं वैसा करते भी हैं, तदनुरूप आचरण भी करते हैं। स्थूल उदरसे यह सिद्ध किया गया है कि उनके उदरमें



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


एतस्योदरं किमुतास्त्यपि तु समुद्रस्य गह्वरं यत्र सर्वमपि वृत्तान्तमवगाढमस्तीति लोकैः स्तुतिपथमानीयते पूज्यस्य तथात्रापीति समवगन्तव्यं पाठकैः ॥४२॥

**स मङ्गलं नाम जनोऽस्य वेद समं गलं तेन दधाम्यखेदः ।**
**मुदङ्गलग्ना मनसीव चेयमुदङ्गलं नाशमुपैति मे यत् ॥४३॥**

स मङ्गलमित्यादि—स सर्वोऽपि जनोऽस्य गणेशस्य नाम मङ्गलमानन्दकरं वेद ज्ञातवान्, इत्यस्मात् कारणादहमपि तेन समं समन्वितमात्मीयं गलं कण्ठं दधामि तस्य नाम रटनमहं करोमीत्यखेदः खेदरहितोऽपि भवामि । यतो मुद् हर्षपरिणतिर्मे ममाङ्गेम लग्नास्ति यथा तथा मनसि चित्ते चेयं मुद् वर्तते । तथा चोदङ्गलं मङ्गलाभावश्च मे नाशमुपैति तावत् ॥४३॥

**पीलो ! कवित्वं खलु लोकवित्त्वं स्विदाशुचित्वं च सदा शुचित्वम् ।**
**ददद् हृदः स्फातिभृदेषकाधुना धरायां तव कीर्तिगाथा ॥४४॥**

पीलो इत्यादि—हे पीलो ! परिपक्वस्वभावशालिन् । त्वं कवित्वमात्मवेदित्वं लोकवित्त्वं लोकाचारवेदित्वं स्विदथवा आशुचित्वं शीघ्रवेदित्वं किञ्च सदा शुचित्वं सततमेव पवित्रत्वं खलु निश्चयेन ददत् समस्ताय संसारायापि यच्छन् हृदो हृदयस्य स्फातिभृद् त्वमसि, अधुना साम्प्रतमेषा सैवैषका तव कीर्तिगाथा स्तवनविषयिणी वार्ता तावद् धरातलेऽस्ति । अथ शुभसंत् वादे । अर्थात्वं हे गणाधिपते ! प्रथमानुयोग-करणानुयोग—चरणानुयोग—द्रव्यानुयोगानामुपदेष्टासीति ॥४४॥

---

समस्त संसारकी वार्ताएँ अणुरूप ही हैं, अथवा वे अत्यन्त गम्भीर हैं, अच्छी बुरी वार्ताओंको सुनकर अपने उदरमें रख लेते हैं, कभी किसीकी निन्दा-स्तुति नहीं करते। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त गुणोंसे युक्त गणधर ही वन्दनीय हैं ॥४२॥

**अर्थ**—जिस कारण सभी लोग इन गणेशके नामको मङ्गल रूप जानते हैं, इसलिये मैं भी उनके नामके साथ स्वकीय कण्ठको प्राप्त हूँ, अर्थात् कण्ठके द्वारा उनका नाम रटता रहता हूँ और इसी कारण मैं खेदरहित हूँ। जिस प्रकार मुद्—हर्षकी परिणति मेरे शरीरके साथ संलग्न है, उसी प्रकार मनके साथ भी संलग्न है। यही कारण है कि मेरा सब उदङ्गल—मङ्गलका अभाव नाशको प्राप्त हो रहा है ॥४३॥

**अर्थ**—हे परिपक्व स्वभावसे सुशोभित गणपते ! आत्मज्ञता, लोकज्ञता, शीघ्रविचारकता और सदाशुचिताको देने वाले आप हृदयकी विशालताको धारण करने वाले हैं। इस समय समस्त धरातलमें आपकी यही कीर्तिगाथा सर्वत्र प्रसरित है ॥४४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**हरन्नलम्बोदरजां स्विदर्ति सद्भ्योऽवलम्बोऽयमदूरवर्ती ।**
**आत्मंस्त्वमस्मै नमनात्सुपात्रमिष्टश्रियोऽखिन्नमना भवात्र ॥४५॥**

हरन्नित्यादि—हे आत्मन् ! वो युष्माकं दरजां भयसम्भवामर्ति पीडां हरन् निवारयन् सर्वान् भयवर्जितान् कुर्वन्, सद्भ्यः सभ्येभ्योऽवलम्बः समाश्रयः, यमाच्च मृत्योर्दूरवर्तीत्य-मरताश्रयो भवति तस्मै नमनान्नमस्कारकरणात् त्वमत्रास्मिन् संसारे न खिन्नमदुःखितं मनो यस्य सोऽखिन्नमना भवत् सन् त्वमिष्टश्रियां वाञ्छितसम्पदानां सुपात्रं सदाश्रयस्थानं भव ॥४५॥

**इत्येवमाराध्यचतुष्टयस्य पुनीतपुण्यैकपदप्रदृश्यः ।**
**योऽसाविदानीं जगतां प्रवासी तेनादृता सम्बलसन्निभाशीः ॥४६॥**

इत्येवमित्यादि—इत्येवमुपयुक्तरीत्याराध्यानामाराधनयोग्यानां चतुष्टयस्य चतुर्णां समुदायस्य पुनीतं पावनं च तत्पुण्यं प्रशंसायोग्यं चैकमद्वितीयं यत्पदं स्थानं तत्र प्रदृश्यो यद्वा तदेव प्रदृश्यं दर्शनयोग्यं यस्य स तथैवमत्र पदशब्दस्य चरणार्थकताप्यवसेया स्यादिति योऽसाविदानीं साम्प्रतं जगतां प्रवासी जगत्त्रयमध्ये वर्तमानो जयकुमारस्तेनानेन तेषामाशीः शुभाशंसनवाक् किं वाशिका सा सम्बलेन मार्गव्ययलक्षणेन सन्निभा सदृशीत्या-दृता स्वीकृताभूत् ॥४६॥

**भवाभियं प्राप्य धियं श्रियंच सतामियन्तं सहकारिणं च ।**
**नीतिं स लेभे चतुरङ्गतानां रुचां स नाथश्चतुरङ्गतानाम् ॥४७॥**

भवाभियमित्यादि—स चतुरं विज्ञं गतानां प्राप्तानां रुचां शोभानां नाथः स्वामी भवात्संसारान्नास्ति भीर्यस्य तं भवाभियं लोकविजयिनं जिननाथं, धियमित्यनेन बुद्धे-रधिष्ठात्रीं सरस्वतीं श्रियं च पुरुषार्थचतुष्टयसमर्थिकां लक्ष्मीं, सतां सभ्यानां सहकारिणं

---

**अर्थ**—हे आत्मन् ! जो तुम्हारी भयसे उत्पन्न पीड़ाको अतिशय रूपसे हरता है, जो सत्पुरुषोंके लिये अवलम्बन है तथा यम-मृत्युसे दूरवर्ती है, अर्थात् अमरताको प्राप्त है, ऐसे गणेशके लिये नमन करनेसे तूं इस संसारमें इष्टलक्ष्मियों-वाञ्छित सम्पदाओंका सुपात्र हो जा ॥४५॥

**अर्थ**—इस प्रकार जो पवित्र पुण्यके अद्वितीय स्थानके समान दिखायी देते थे तथा जो जगत्के मध्यमें विद्यमान थे, ऐसे जयकुमारने इस समय आराधना करने योग्य भगवान् वृषभदेव, सरस्वती, लक्ष्मी और गणेश इन चारोंके आशीष-आशीर्वादात्मक वचनोंको सम्बल-पाथेयकी तरह स्वीकृत किया ॥४६॥

**अर्थ**—ज्ञानी जनोंको प्राप्त शोभाओंके स्वामी उन जयकुमारने संसारसे निर्भय जिनेन्द्रदेव, सरस्वती, लक्ष्मी और सत्पुरुषोंके सहकारी गणधरदेव—इन्हें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



गणाधिपं च प्राप्य संस्तुत्य चतुर्णामङ्गानां सामदामदण्डभेदभिन्नानां तानं विस्तारो यस्यास्तां नीतिं लेभे लब्धवानिति ॥४७॥

**प्राकारि भाले तिलकं च तेन जिनाङ्घ्रिपद्मोत्थितकेशरेण ।**
**योगोऽभवन्मङ्गलदीपकस्य सुधांशुनेवोदयिना प्रशस्यः ॥४८॥**

प्राकारीत्यादि—तेन जयकुमारेण जिनानां भगवतामङ्घ्री एव पद्मे ताभ्यामुत्थितेन च तेन केशरेण भाले स्वकीये ललाटे तिलकं शिरोभूषणं प्राकारि समुल्लेखितं तावदयं संयोगः सुधांशुना चन्द्रेणोदयिनाभ्युदयशीलेन सह मङ्गलदीपकस्य योग इव प्रशस्यः प्रशंसनीयोऽभवत् । सुधांशुस्थाने भालं मङ्गलदीपकमत्र तिलकमिति जानीयात् पाठकः ॥४८॥

**समस्तकर्तव्यशिरश्चरन्तीं निसर्गतः कालकलां व्रजन्तीम् ।**
**शिखामिवैनां प्रबबन्ध तावत् स्वमस्तकस्थां स महानुभावः ॥४९॥**

समस्तेत्यादि—स महानुभावो जयकुमारः स्वस्य मस्तके शिरसि स्थितां स्वमस्तकस्थां शिखां चूडां प्रबबन्ध तावदेनामिव समस्तकर्तव्यानां शिरसि चरन्तीं समस्तकर्तव्यशिरश्चरन्तीं तथा निसर्गतः स्वभावत एव व्रजन्तीं गच्छन्तीं कालस्य कलां घटिकामपि प्रबबन्ध एतावत्समयमिदं कर्तव्यमेतावत्समयमिदमित्येवमादिरूपेण स कल्पयामासेति तथा । मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्धमित्यादि समन्तभद्राचार्यसदुक्तेः सद्भावात् सन्ध्यावन्दनवेलायाः सदाचरणरूपत्वात् । इत्येवं परिकर्म कृत्वा पुनर्महामन्त्रचिन्तनमधस्तान्निर्दिष्टरूपेण चकारेति ॥४९॥

---

प्राप्तकर—इनको स्तुतिकर साम, दाम दण्ड और भेद नामक चार अङ्गोंके विस्तारसे सहित नीतिको प्राप्त किया ॥४७॥

**अर्थ**—तदनन्तर राजा जयकुमारने जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंसे प्राप्त केशरके द्वारा अपने ललाटपर तिलक किया । ललाटपर लगा हुआ तिलक ऐसा जान पड़ता था, मानों उदित होते हुए चन्द्रमाके साथ मङ्गलदीपका संयोग हुआ हो । भाव यह है कि चन्द्राकार गौरवर्ण ललाटपर लाल केशरका तिलक मङ्गलदीपकके समान सुशोभित हो रहा था ॥४८॥

**अर्थ**—उन महानुभाव जयकुमारने अपने मस्तकपर स्थित चोटीके समान स्वभावसे व्यतीत होनेवाली एवं समस्त कार्योंमें अग्रसर समयकी घड़ीको 'यह कार्य इतने समय तक करना और यह कार्य इतने समय तक' इस प्रकारके नियमसे बाँध लिया ।

**भावार्थ**—सन्ध्यादि कार्य करनेके पहले चोटीमें गांठ लगा ली तथा करने योग्य कार्योंका समयविभाग निश्चित कर लिया ॥४९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**ओंकार आदावशरीरिवर्ग उच्छिन्नदोषस्य पुनर्निसर्गः ।**
**ततो महद्भिः समवाप्तपूर्तिः स्तुतो बभूव प्रणवस्त्रिमूर्तिः ॥५०॥**

**ओंकार इत्यादि**—ओंकारे नामपदे आदौ तावत्सर्वप्रथममत एवाशरीरिणां शरीरवर्जितानां सिद्धानां परमात्मनां निर्देशार्थं तदादिमस्याकारस्य परिग्रहः कृतः पुनस्तदनन्तरमुच्छिन्ना दोषा रागादयो यस्मात्स उच्छिन्नदोषः श्रीमदर्हत्परमदेवस्तस्य निर्देशार्थं तदादेरुकारस्य निसर्गः कृतस्ततश्च पुनर्महद्भिराचार्यादिपरमेष्ठिभिर्मुनिनामधारिभिः स्वनाम्न आदिमेन मकारेण समवाप्ता पूर्तिर्यत्र स एव अकारश्चः, उकारश्च, मकारश्चेत्येवं त्रिभिर्मूर्तिनिर्माणविधिर्यस्य स त्रिमूर्तिः प्रणवो नाम मङ्गलशब्दः संस्तुतः स्तुतिपथं नीतस्तेन जयकुमारेणेति ॥५०॥

**ह्रींकारकस्तत्त्वगुणप्रकारः रक्तो रकारो हरितो हकारः ।**
**इन्दुः सबिन्दुर्धवलश्च काल एवं तथौषीत इतस्त्रिकालम् ॥५१॥**

**ह्रींकारक इत्यादि**—ह्रींकार एव ह्रींकारकः स्वार्थे कः । स ह्रींकारकः तत्त्वं

---

आगे पञ्च नमस्कार मन्त्रके चिन्तनका प्रकार बतलाते हैं—

**अर्थ**—'ओम्' यह पञ्चमेष्ठीका वाचक मङ्गलपद है, इसीको प्रणव कहते हैं। ओम्‌की सिद्धि-अशरीर-शरीररहित सिद्ध परमेष्ठीके आदि अक्षर **अ**, उच्छिन्नदोष-रागादि दोषोंसे रहित अरहंत परमेष्ठीके आदि अक्षर **उ** और मुनिनामधारी आचार्यादि परमेष्ठियोंके आदि अक्षर **म** इन तीन अक्षरोंके मेलसे होती है। इसीलिये इसे त्रिमूर्ति कहते हैं। राजा जयकुमारने इस ओंकारकी अच्छी तरह स्तुतिकी।

**भावार्थ**—अन्य ग्रन्थोंमें अशरीर सिद्ध परमेष्ठीके आदि अक्षर, **अ** अरहन्त परमेष्ठीके आदि अक्षर, अ आचार्य परमेष्ठीके आदि अक्षर आ, इन तीनों वर्णोंमें सवर्णदीर्घ करनेसे (अ + अ + आ = आ) **आ** रह गया। उसमें उपाध्याय परमेष्ठीके आदि अक्षर **उ** की गुणसन्धि करनेसे **ओ** हुआ। उसके अन्तमें मुनि परमेष्ठीका **म** लगा देनेसे **ओम्** सिद्ध होता है। इससे स्वार्थमें कार प्रत्यय लगा देनेसे **ओंकार** शब्द बनाया गया है। वैदिक संस्कृतिमें ब्रह्मा वाचक अ, विष्णु वाचक **उ** और महेश वाचक **म**—इन तीन वर्णोंसे **ओम्** शब्द सिद्ध किया गया है। ॐ यह बीजाक्षर भी पञ्चपरमेष्ठियोंका वाचक है। **'प्रकृष्टो नवः प्रणवः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार ओंकार सबसे श्रेष्ठ स्तुति मानी जाती है, क्योंकि इसमें पाँचों परमेष्ठी गर्भित हो जाते हैं ॥५०॥

**अर्थ**—ह्रींकार बीजाक्षर अरहन्त परमेष्ठीके गुणोंका वाचक माना गया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



नामार्हत्परमेष्ठो तस्य गुणानां प्रकारो यत्र वर्तते स तत्त्वगुणप्रकारः । अर्हत्परमेष्ठिगुण-वाचक इत्यर्थः । ह्रींकारमध्ये यो रकारः स रक्तवर्णो यश्च हकारः स हरितवर्णो यश्च स बिन्दुसहित इन्दुरर्धचन्द्राकारः स धवलो धवलवर्णः इत्थं स यद्यपि रक्त-हरित-धवलभेदेन त्रिवर्णो वर्तते, तथापि स त्रिकालं त्रिकालमध्ये कालः कृष्णवर्णः पीतः पीतवर्णश्चेति विरोधे परिहार उच्यते। इत्थं त्रिवर्णोऽपि ह्रींकारक इतोऽत्र काले सार्वविभक्तिकस्तसिल्प्रत्ययः, सन्ध्यावन्दनसमय इत्यर्थः । त्रिकालं प्रातर्मध्याह्नसायंभेदात् त्रिकालम्, अत्यन्तसंयोगा द्वितीयाप्रयोगः । इतः प्राप्तः सस्तुतो जयकुमारेणेति शेषः । जयकुमारो 'ह्रींम्' इत्येतस्य बीजाक्षरस्य स्तवनं चकारेति यावत् ॥५१॥

**अर्हं समर्हं विभवैकभूपे नमो न मोहाय परत्ररूपे ।**
**मन्त्रं पवित्रं स जयोऽप्यपापः स्वयं च विश्वस्मरणीयमाप ॥५२॥**

अर्हमित्यादि—अर्हमित्येतत्पदं विभवः सम्पत्तिसम्भवोऽथवा तु भवाभावः स एव भूपः प्रधानस्वरूपस्तस्मिन् समर्हं योग्यं तथा नम इत्येवं पदं परत्ररूपे स्वात्मनोऽन्यत्र नमोहाय निर्मोहपरिणामाय भवति । एवं किल 'ॐ ह्रीं अर्हं नमः' इत्येवं पवित्रं मन्त्रं विश्वेनापि स्मरणीयमाराधनीयं स्वं शोभनीयं सोऽपापः पापाचाररहितो जयो नाम भूपाल आप प्राप्तवान् तं जजापेति ॥५२॥

**महीं षडङ्गां नवकोटिसिद्धां स्मृत्वाम्बुजेष्टि षडरैर्हृदीद्धाम् ।**
**अष्टाधिकं विंशतियुग्मकंच सम्बिभ्रतीमाप दलप्रपञ्चम् ॥५३॥**

महीमित्यादि—महीं पृथ्वीमिमां नवकोटिभिः संरम्भसमारम्भास्त्रयः कृतकारितानुमननातीति त्रीणि मनोवचनकायाश्चेति त्रय इत्येवं नवकोटिभिः सिद्धां सम्पादितां

---

है। ह्रींकार में जो र् है वह रक्त-लाल रंगका वाचक है, ह् हरित रंगका बोधक है और जो बिन्दु सहित अर्धचन्द्राकार है, वह धवल--श्वेत वर्णका वाचक है, इस तरह ह्रीं यद्यपि तोन व्यञ्जनों की अपेक्षा तीन वर्णका है, तथापि वह तीनों कालों में काला और पोत--पीतवर्ण वाला है, इस प्रकार विरोध आता है। उसका परिहार इस प्रकार है कि इतः काले-सन्ध्या वन्दनके समय जयकुमार ने इस ह्रींकारको इतः प्राप्त किया, अर्थात् उसकी स्तुति की। काले+एवं तथापि+ इतः, इस प्रकारकी सन्धि निकालना चाहिये ॥५१॥

**अर्थ**—'अर्हं' यह बीजाक्षर भव-संसारके अभावरूप प्रमुख कार्यके योग्य हैं तथा नमः पद स्वकीय आत्माके सिवाय अन्य पदार्थोंमें मोहके अभावका वाचक है। इस तरह पापाचारसे रहित जयकुमारने 'ॐ ह्रीं अर्हं नमः' इस मन्त्रको, जो कि सबके स्मरणके योग्य है, स्वयं प्राप्त किया था-जपा था ॥५२॥

**अर्थ**—तदनन्तर राजा जयकुमारने अपने हृदयमें छह अरोंसे देदीप्यमान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



किमपि शोचनीयं नास्ति। इन्दुनियोगिनीं चन्द्रस्यैव समागमनयोग्यां निशां रात्रिं बुभुक्षोः रवे रात्रिसमभिमुखं गन्तुमुद्यतस्य सूर्यस्य पतनं किन्न भवति ? अहो मुमुक्षो ! भवत्येव किल ।।३४।।

**विमृश्य कर्त्रेदमकम्पनेन संयोज्य नूनं किमकार्यनेनः ? ।**
**अर्केण बालामतिकर्कशेन किं मल्लिमालान्वयते कुशेन ।।३५।।**

**विमृश्येत्यादि**—हे अनेनो निष्पाप ! महाशय जयकुमार ! विमृश्य कर्त्रा विचार्यकारिणा तेनाकम्पनेन महाराजेन नूनमिह बालामक्षमालामर्केण नामार्ककीर्तिना सार्धं संयोज्य किमकारि ? अनुचितमेव कृतं तेनेदं तावत्। अतिकर्कशेनापि कुशेन दर्भेण किं मल्लिमाला जातिकुसुमस्रग् अन्वयते सम्बद्ध्यतेऽपि तु नैव ।।३५।।

**जगदुद्योतनहेतोर्वंशान्नं[1] उदेत्ययं समरसेतो ।**
**दीपात् स्नेहा[2]धारात् कज्जलवन्मलिनतम आरात् ।।३६।।**
**जगदाह्लादनकारिणि कुले किलास्माकममरं[3]ताधारिणि ।**
**शशिनि कलङ्क इवायं प्रवर्तते षट्पदच्छायः ।।३७।।**

---

इसमें कुछ भी शोचनीय नहीं है। हे मुमुक्षो ! चन्द्रमाकी नियोगिनी रात्रिका उपभोग करनेके इच्छुक सूर्यका क्या पतन नहीं होता ? अवश्य होता है।

**भावार्थ**—जब सूर्य सायंकाल चन्द्रमाकी नियागिनो रात्रिके सन्मुख होता है, तब उसका पतन जिस प्रकार नियमसे होता है, उसी प्रकार दूसरेकी उपभोग्य स्त्रीकी आकांक्षा करनेवाले मनुष्यका पतन नियमसे होता है ।।३४।।

**अर्थ**—हे निष्पाप ! विचार कर कार्य करने वाले अकम्पन महाराजने अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमालाका अर्ककीर्तिके साथ विवाह कर क्या किया ? उचित नहीं किया। क्या अत्यन्त कठोर डाभके द्वारा मालतीकी माला गूंथी जाती है ? अर्थात् नहीं ।।३५।।

**अर्थ**—हे युद्धकी मर्यादाके रक्षक जयकुमार ! जिस प्रकार जगत्‌को प्रकाशित करने वाले तथा स्नेह–तैलके आधारभूत दीपकसे कज्जल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जगत्‌को प्रकाशित करने वाले एवं स्नेह–प्रीतिके आधारभूत हमारे वंशसे यह अत्यन्त मलिन अर्ककीर्ति अभी उत्पन्न हुआ है ।।३६।।

---

१. नोऽस्माकम्। २. स्नेहस्तैलं प्रीतिश्च।
३. रलयोरभेदादमलताधारिणि, अमरता स्थायिता तस्या धारिणि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


नामार्हत्परमेष्ठो तस्य गुणानां प्रकारो यत्र वर्तते स तत्त्वगुणप्रकारः । अर्हत्परमेष्ठिगुण-वाचक इत्यर्थः । ह्रींकारमध्ये यो रकारः स रक्तवर्णो यश्च हकारः स हरितवर्णो यश्च स बिन्दुसहित इन्दुरर्धचन्द्राकारः स धवलो धवलवर्णः इत्थं स यद्यपि रक्त-हरित-धवलभेदेन त्रिवर्णो वर्तते, तथापि स त्रिकालं त्रिकालमध्ये कालः कृष्णवर्णः पीतः पीतवर्णश्चेति विरोधे परिहार उच्यते। इत्थं त्रिवर्णोऽपि ह्रींकारक इतोऽत्र काले सार्वविभक्तिकस्तसिल्प्रत्ययः, सन्ध्यावन्दनसमय इत्यर्थः । त्रिकालं प्रातर्मध्याह्नसायंभेदात् त्रिकालम्, अत्यन्तसंयोगाद् द्वितीयाप्रयोगः । इतः प्राप्तः सस्तुतो जयकुमारेणेति शेषः । जयकुमारो 'ह्रींम्' इत्येतस्य बीजाक्षरस्य स्तवनं चकारेति यावत् ॥५१॥

अर्हं समर्हं विभवैकभूपे नमो न मोहाय परत्ररूपे ।
मन्त्रं पवित्रं स जयोऽप्यपापः स्वयं च विश्वस्मरणीयमाप ॥५२॥

अर्हमित्यादि—अर्हमित्येतत्पदं विभवः सम्पत्तिसम्भवोऽथवा तु भवाभावः स एव भूपः प्रधानस्वरूपस्तस्मिन् समर्हं योग्यं तथा नम इत्येवं पदं परत्ररूपे स्वात्मनोऽन्यत्र नमोहाय निर्मोहपरिणामाय भवति । एवं किल 'ॐ ह्रीं अर्हं नमः' इत्येवं पवित्रं मन्त्रं विश्वेनापि स्मरणीयमाराधनीयं स्वं शोभनीयं सोऽपापः पापाचाररहितो जयो नाम भूपाल आप प्राप्तवान् तं जजापेति ॥५२॥

महीं षडङ्गां नवकोटिसिद्धां स्मृत्वाम्बुजेष्टि षडरैर्हृदीद्धाम् ।
अष्टाधिकं विंशतियुग्मकंच सम्बिभ्रतीमाप दलप्रपञ्चम् ॥५३॥

महीमित्यादि—महीं पृथ्वीमिमां नवकोटिभिः संरम्भसमारम्भास्त्रयः कृतकारिता-नुमननातीति त्रीणि मनोवचनकायाश्चेति त्रय इत्येवं नवकोटिभिः सिद्धां सम्पादितां

---

है। ह्लींकार में जो र् है वह रक्त-लाल रंगका वाचक है, ह् हरित रंगका बोधक है और जो बिन्दु सहित अर्धचन्द्राकार है, वह धवल—श्वेत वर्णका वाचक हैं, इस तरह ह्लीं यद्यपि तोन व्यञ्जनों की अपेक्षा तीन वर्णका है, तथापि वह तीनों कालों में काला और पोत—पीतवर्ण वाला है, इस प्रकार विरोध आता है। उसका परिहार इस प्रकार है कि इतः काले—सन्ध्या वन्दनके समय जयकुमार ने इस ह्लींकारको इतः प्राप्त किया, अर्थात् उसकी स्तुति की। काले+एवं तथापि+ इतः, इस प्रकारकी सन्धि निकालना चाहिये ॥५१॥

अर्थ—'अर्हं' यह बीजाक्षर भव—संसारके अभावरूप प्रमुख कार्यके योग्य हैं तथा नमः पद स्वकीय आत्माके सिवाय अन्य पदार्थोंमें मोहके अभावका वाचक है। इस तरह पापाचारसे रहित जयकुमारने 'ॐ ह्रीं अर्हं नमः' इस मन्त्रको, जो कि सबके स्मरणके योग्य है, स्वयं प्राप्त किया था—जपा था ॥५२॥

अर्थ—तदनन्तर राजा जयकुमारने अपने हृदयमें छह अरोंसे देदीप्यमान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



किमपि शोचनीयं नास्ति। इन्दुनियोगिनीं चन्द्रस्यैव समागमनयोग्यां निशां रात्रिं बुभुक्षोः रवे रात्रिसमभिमुखं गन्तुमुद्यतस्य सूर्यस्य पतनं किन्न भवति ? अहो मुमुक्षो ! भवत्येव किल ।।३४।।

**विमृश्य कर्त्रेदमकम्पनेन संयोज्य नूनं किमकार्यनेनः ? ।**
**अर्केण बालामतिकर्कशेन किं मल्लिमालान्वयते कुशेन ।।३५।।**

**विमृश्येत्यादि**—हे अनेनो निष्पाप ! महाशय जयकुमार ! विमृश्य कर्त्रा विचार्यकारिणा तेनाकम्पनेन महाराजेन नूनमिह बालामक्षमालामर्केण नामार्ककीर्तिना सार्धं संयोज्य किमकारि ? अनुचितमेव कृतं तेनेदं तावत्। अतिकर्कशेनापि कुशेन दर्भेण किं मल्लिमाला जातिकुसुमस्रग् अन्वयते सम्बद्ध्यतेऽपि तु नैव ।।३५।।

**जगदुद्योतनहेतोर्वंशान्नं[1] उदेत्ययं समरसेतो ।**
**दीपात् स्नेहा[2]धारात् कज्जलवन्मलिनतम आरात् ।।३६।।**
**जगदाह्लादनकारिणि कुले किलास्माकममरं[3]ताधारिणि ।**
**शशिनि कलङ्क इवायं प्रवर्तते षट्पदच्छायः ।।३७।।**

---

इसमें कुछ भी शोचनीय नहीं है। हे मुमुक्षो ! चन्द्रमाकी नियोगिनी रात्रिका उपभोग करनेके इच्छुक सूर्यका क्या पतन नहीं होता ? अवश्य होता है।

**भावार्थ**—जब सूर्य सायंकाल चन्द्रमाकी नियागिनो रात्रिके सन्मुख होता है, तब उसका पतन जिस प्रकार नियमसे होता है, उसी प्रकार दूसरेकी उपभोग्य स्त्रीकी आकांक्षा करनेवाले मनुष्यका पतन नियमसे होता है ।।३४।।

**अर्थ**—हे निष्पाप ! विचार कर कार्य करने वाले अकम्पन महाराजने अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमालाका अर्ककीर्तिके साथ विवाह कर क्या किया ? उचित नहीं किया। क्या अत्यन्त कठोर डाभके द्वारा मालतीकी माला गूंथी जाती है ? अर्थात् नहीं ।।३५।।

**अर्थ**—हे युद्धकी मर्यादाके रक्षक जयकुमार ! जिस प्रकार जगत्को प्रकाशित करने वाले तथा स्नेह–तैलके आधारभूत दीपकसे कज्जल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जगत्को प्रकाशित करने वाले एवं स्नेह–प्रीतिके आधारभूत हमारे वंशसे यह अत्यन्त मलिन अर्ककीर्ति अभी उत्पन्न हुआ है ।।३६।।

---

१. नोऽस्माकम्। २. स्नेहस्तैलं प्रीतिश्च।
३. रलयोरभेदादमलताधारिणि, अमरता स्थायिता तस्या धारिणि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



अथ श्रुतिप्रान्तकृताधिकारा समन्ततो रूपनिरुक्तिसारा ।
भूमण्डलेऽलंकृतिरक्षमाला मुखे तु दृग्वद्यदुदेति बाला ॥३८॥

भद्र ! वाराणसीशेन तस्यामेष नियोजितः ।
कज्जलवच्छ्यामलोऽपि दृश्यते सज्जनैरितः ॥३९॥

वीटिकया परिधृतः पलाशः केतक्याः कलितः किल काशः ।
आद्रियतां महतापि तथा स बालयानुकलितो नरपाशः ॥४०॥

(नातिक्लिष्टा एते श्लोकाः, अतो न व्याख्याताः)

लोकत्रयात्त्रिगुणिताद्बहुमूल्यमेतत्
स्वं जीवनं यदि ददीत महाशयेतः ।
दृग्देशितेषु परिवृत्तियात सुदेश
संवेश एष खलु मुख्यतमोऽस्तु लेशः ॥४१॥

लोकत्रयादित्यादि—हे महाशय ! त्रिगुणितात् सत्त्वरजस्तमांसीति समितादुत त्रिगुणीकृतात् लोकत्रयात् अधोमध्योर्ध्वभेदविभक्तादेतस्माद्बहुमूल्यमेतत् स्वं जीवनं यदि ददीत तदा दृग्देशितेषु दृष्टिपथमितेषु सम्यगवलोकितेषु परिवृत्तितया समाधानभावेनासूनां प्राणानां दशेतिसंख्यातानां देशस्य स्थानस्य मनस्कारस्य संवेशः सन्तर्पणमितो यत्र भवेत्तत्रैव ददीत । एष खलु मुख्यतमो लेशोऽस्तु ॥४१॥

---

**अर्थ**—जिस प्रकार जगत्को आह्लादित करने वाले एवं अमलता—स्वच्छताके धारक चन्द्रमामें काला कलङ्क विद्यमान है, उसी प्रकार जगत्को प्रमुदित करनेवाले एवं अमरता—स्थायित्व अथवा उज्ज्वलताको धारण करने वाले हमारे कुलमें यह अपयशका धारी अर्ककीर्ति विद्यमान है ॥३७॥

**अर्थ**—जिसका सुयश कानोंसे सुना है, सब ओर जिसके सौन्दर्यकी चर्चा है, ज़ो पृथिवीमण्डलका अलंकार है तथा मुखमें नेत्रके समान जिसकी शोभा है, ऐसी यह अक्षमाला है ॥३८॥

**अर्थ**—हे भद्र ! अकम्पन महाराजने उसी अक्षमालाके साथ अर्ककीर्तिका संयोग कराया है । उसके साथ यह कज्जलकी तरह सज्जनों द्वारा देखा जाता है ॥३९॥

**अर्थ**—जिस प्रकार केतकीका पत्र काशसे बाँधा जाता है और इसके साथ वह काश भी प्रतिष्ठाको प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकारका अक्षमालाकी संगतिसे अर्ककीर्ति भी प्रतिष्ठाको प्राप्त कर रहा है ॥४०॥

**अर्थ**—हे महाशय ! तीनों लोकोंसे बहुमूल्य अपना यह जीवन यदि दिया जावे, तो दृष्टिके द्वारा अच्छी तरह देखे हुए पदार्थों में विचार कर मन जहाँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**लोकज्ञताहेतुतया स्तुतिः पितुरादीयतामत्र किलात्र सापि तु ।**
**मत्सी सरस्याश्रयिणी यदृच्छया सा प्रेक्षते साम्प्रतमम्बुपृच्छया ॥४२॥**

**लोकज्ञतेत्यादि**—अत्र विवाहविषये प्रकरणे कन्यकायाः पितुः स्तुतिर्जनकस्यानुमतिर्नामादीयतां सात्रापि तु पुनरस्त्येव किल। यथा मत्सी सरसि यदृच्छयाश्रयिणी स्वैरविचरणशीला भवति, सा साम्प्रतमम्बुपृच्छयैव भवति तदतिवर्त्यं मनागपि गन्तुं न शक्नोतु तथा हे पुत्रि ! एतेषु सत्सु यं कञ्चिदेकं निजेच्छया वृणीष्वेति पितुराज्ञास्तीति ॥४२॥

**विधिरेष विदेहभूर्जितः विधिराविर्भवतीत्यसावितः ।**
**स्वयमस्तु सदेहपूजितः किमु नानन्दसमर्थकोऽभितः ॥४३॥**

**विधिरित्यादि**—एष स्वयंवरलक्षणो विधिर्विदेहभुव्यूर्जितोऽतिशयेन समाख्यातो विधिरसावित आविर्भवतीति इहापि सदैव पूजितः स्वयमेवास्तु। अयमभित एवानन्दसमर्थकः किमु नास्ति, अविसंवादत्वादपि त्वस्त्येव तावत् ॥४३॥

**वसुधामहितस्येति वारिपूरं जयदेवः**
**कन्दवृन्द इव सन्निपीय पीनः पुनरेव ।**
**परमध्वनिमानमन्नेवमाबभार शस्य-**
**समुदायविधानस्य सम्पदाश्रयः प्रहृष्यन् ॥४४॥**

**वसुधेत्यादि**—जयदेवः कुमारो वसुधामहितस्य चक्रवर्तिनोऽथवा वसूनां रत्नानां धाम्ने तेजसे हितस्य समुद्रस्य वारिपूरं वाक्समूहमेव जलसमूहं सन्निपीय श्रुत्वाहृत्य वा

---

संतुष्ट हो वहाँ देना चाहिये, यह सबसे प्रमुख बात है ॥४१॥

**अर्थ**—इस विवाहके प्रकरणमें पिताकी अनुमति ली जाती है, सो वह इस स्वयंवरमें रहती ही है। मत्सी–मछली सरोवरमें स्वेच्छानुसार चलती अवश्य है, पर वह पानीकी आज्ञासे ही चलती है, उसका उल्लंघन कर नहीं चलती।

**भावार्थ**—हे पुत्रि ! इनमेंसे किसी एकका वरण करो, इस प्रकार पिताकी आज्ञा स्वयंवरमें भी रहती है ॥४२॥

**अर्थ**—यह स्वयंवरकी विधि विदेहभूमिमें अत्यधिक प्रसिद्ध है, अब यह यहाँ प्रकट हो रही है। यह यहाँ सदा ही पूजित रहे, चालू रहे तो क्या सब ओर आनन्दकी समर्थक नहीं होगी ? अवश्य होगी ॥४३॥

**अर्थ**—जिस प्रकार **वसुधामहित**–समुद्रके **वारिपूर**–जलसमूहको अच्छी तरह पीकर–ग्रहणकर कन्दवृन्द–मेघसमूह पीन–स्थूल होजाता है और शस्यसमूह–धान्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कन्दवृन्दो मेघसमूह इव पीनः पुलकितो भूत्वा पुनरेवमानमन् नतिं सम्पादयन् शस्यानां सत्पुरुषाणां यवादीनां वा समुदायः समूहः समागमो वा, तस्य विवरणस्य सम्पदाश्रयः सम्पत्तिकरश्चरणचुम्बकोऽपि वा, एवं प्रहृष्यन् सन् स एवं निम्नरूपं ध्वनिं बभार ॥४४॥

मातेव खेलितुमितं तनयं महीपते !
सा बन्धुता च जनता खलु मां प्रतीक्षते ।
गङ्गातटे विधुमतीतवती कुमुद्वती-
वोत्क्लिश्यते किल सुलोचनिका महासती ॥४५॥

मातेवेत्यादि—हे महीपते ! खेलितुमितं क्वापि गतं तनयं नामाङ्गजं मातेव मां सा बन्धुता जनता च प्रतीक्षते खलु । अपि पुनर्गङ्गातटे तिष्ठन्ती महासती सुलोचनिकापि विधुमतीतवती चन्द्रविरहिता कुमुद्वतीवोत्क्लिश्यते, इत्येवं विनिवेद्याज्ञामाप्तवान् प्रस्थानस्येति ॥४५॥

श्रीमत्तरङ्गिणीं तीर्थाभिषिक्तां राजसंसदः ।
प्रस्तुतप्रसवायास्तु निवृत्य जय आययौ ॥४६॥

श्रीमत्तेत्यादि—जयकुमारः प्रस्तुतः प्रसवः समुत्सवः सन्तानोत्पादनं च यया तस्या राजसंसदः सभातो निवृत्य तु पुनस्तीर्थमित्येवमभिषिक्तां प्रख्यातां यद्वा तीर्थस्थानेऽभि-

---

समूहकी सम्पदा-विभूतिका आश्रय-आधार हो हर्षित होता हुआ परमध्वनि-जोरदार गर्जना करता है, उसी प्रकार जयदेव वसुधामहित-चक्रवर्तीके वारि-समूह-वचनसमूहको अच्छी तरह पीकर-सुनकर पीन-हर्षसे स्थूल हो गया अथवा रोमाञ्चित हो गया और शस्यसमूह-सभ्यजनोंकी सम्पदा-सम्पत्तिका आश्रय हो अथवा चक्रवर्तीके चरणोंका आश्रय ले नम्रीभूत होता हुआ इस प्रकारके उत्कृष्ट शब्द कहने लगा ॥४४॥

अर्थ—हे महाराज ! जिस प्रकार खेलनेके लिये गये हुए पुत्रकी माता प्रतीक्षा करती है, उसी प्रकार बन्धुता-बन्धुपंक्ति और जनता-जनतति मेरी प्रतीक्षा कर रही है । साथ ही गङ्गातट पर विद्यमान महासती सुलोचना भी चन्द्रविरहित कुमुदिनीके समान क्लेशका अनुभव कर रही है । ( यह कहकर जयकुमारने चक्रवर्तीसे जानेकी आज्ञा प्राप्त की) ॥४५॥

अर्थ—तदनन्तर जयकुमार उत्सवको प्रस्तुत करने वाली राजसभासे लौट कर शोभासंपन्न उस गङ्गा नदी पर आये, जो तीर्थोंमें अभिषिक्त है, जिसकी तीर्थोंमें गणनाकी जाती है अथवा जिसके तीर्थ-घाट पर लोग अभिषिक्त होते हैं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



षिक्तां स्नातामत एव सङ्गयोग्यां श्रीमतीं तां तरङ्गिणीं गङ्गामुत श्रीमत्तं रङ्गं सङ्गमस्थानं यस्या अस्तीति तां श्रीमत्तरङ्गिणीमाययौ प्राप्तवान् ॥४६॥

**मत्तेभवत्यथैतस्मिन्नापगा सारसाधिका ।**
**मध्यं स्पृशति कल्लोलैः समभूत्परिवारिता ॥४७॥**

**मत्तेत्यादि**—सा रसाधिका प्रभूतजलवती किं वा सारसपक्षिभिरधिका शोभनीया आपगा नाम नदी मत्ते भवति उन्मत्तहस्तिरामधिरूढे एतस्मिन् जयकुमारे मध्यं स्पृशति जलस्यान्तरागच्छति सति कल्लोलैस्तरङ्गैः परिवारिता समभूत् उज्जलावस्थां गतेति तथा चैतस्मिन् मत्ते संसर्गाय तत्परे भवति सति सा काव्यापगा नाम स्त्री रसाधिका जाताभिलाषवत्तया सङ्गमयोग्याभूत् । ततः पुनर्मध्यं नाम शरीरप्रदेशं तं प्रसिद्धं स्पृशति सति तु सा कल्लोलैरानन्दैरनिर्वचनीयैः परि समन्तात् वारिता जलसमूहो यस्यास्तादृशी जाता ॥४७॥

**अन्तस्थया च तिमिलक्षणयोद्व्रजन्ती**
**वृत्त्यात्तया तिरयितुं समभूत् स्रवन्ती ।**
**पद्मेश्वरं च करिवाहनमेवमेनं**
**सन्ध्येव साम्प्रतिकबुद्बुदभावनेन ॥४८॥**

**अन्तस्थयेत्यादि**—सा स्रवन्ती नदी सन्ध्येव दिनावसानवत् समभूत् । एनं जयकुमारं

---

स्नान करते हैं और जो सङ्गमके योग्य रङ्गभूमिसे सहित है। समासोक्तिसे कविने एक यह अर्थ भी प्रकट किया है कि जिस प्रकार कोई पुरुष अपनी प्रसवोन्मुख स्त्रीसे निवृत्त हो तीर्थमें कृतस्नान और श्रीमत्त–लक्ष्मीसे मत्त, अर्थात् उपभोग सामग्रीसे युक्त रङ्ग–क्रीड़ाभूमिसे सहित स्वकीय अन्य स्त्रीके पास जाता है, उस प्रकार जयकुमार राज्यसंसद्से निवृत्त होकर श्रीमत्तरङ्गिणीके पास आये ॥४६॥

**अर्थ**—मत्त हाथीपर सवार जयकुमारने ज्यों ही उस नदीके मध्यभागका स्पर्श किया, अर्थात् जलके भीतर प्रवेश किया, त्योंही रसाधिका–अधिक जल वाली अथवा सारसाधिका–सारस पक्षियोंसे सुशोभित वह नदी कल्लोलों–लहरोंसे घिर गयी।

**अर्थान्तर**—एतस्मिन् मत्ते भवति–संभोगके लिये आतुर जयकुमारने जब आपगा नामक स्त्रीके मध्य–कटिप्रदेशका स्पर्श किया, तब वह रमाधिका–संभोग सम्बन्धी इच्छासे परिपूर्ण हो कल्लोलों–अनिर्वचनीय उमंगोंसे घिर गई ॥४७॥

**अर्थ**—उस समय वह नदी, **करिवाहन**–हाथीपर सवार **पद्मेश्वर**–सुलोचना–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



पद्मायाः सुलोचनाया ईश्वरं प्राणनाथं पक्षे पद्मानां कमलानामीश्वरं विकासकरत्वात् करिवाहनं हस्तिसमारूढं पक्षे करिवाहनं नाम सूर्यमेवभूतं तिरयितुं न्यक्कर्तुमात्तया स्वीकृतया अन्तर्मध्ये तिष्ठति सान्तस्था तया अन्तस्थया पक्षे प्रान्तवर्तिन्या, तिमिरेव लक्षणं यस्यास्तया तिमिलक्षणया पक्षे रलयोरभेदात्तिमिरक्षणयाऽन्धकार एव क्षणो यस्यास्तया तादृश्या वृत्त्योद्व्रजन्तो ॥४८॥

**सिन्धुरमिममित्यथोपकर्तुं द्युनदीत्वं किल पुनरुद्धर्तुम् ।**
**निम्नगात्वदुर्यशोऽपहर्तुमुच्चचाल साग्रतोऽस्य भर्तुः ॥४९॥**

सिन्धुरमित्यादि—सिन्धुं समुद्रं स्वीकरोति स सिन्धुरस्तमिमं जयकुमारस्य हस्तिनमित्यथोपकर्तुं प्रेम्णालिङ्गितुमिव। द्युनदीत्वमाकाशगङ्गात्वं तज्जगत्प्रसिद्धमात्मनः पुनरुद्धर्तुं किल। निम्नमवनतस्थानं गच्छतीति निम्नगा तस्या भावस्तत्त्वमेव यद्दुर्यशोवाच्यभावस्तदपहर्तुमिव सास्य भर्तुः स्वामिनोऽग्रतः सम्मुखे चचाल ॥४९॥

**नभोभिधैकतां कृत्वा धृत्वा स्ववीचिबाहुभिः ।**
**याति समालिङ्गितुं यद्वा प्रजवादम्बु अम्बरम् ॥५०॥**

नभ इत्यादि—'नभोऽम्बुनि वियत्यपि' इति तदभिधानमेवाभिधा तत एकतामनन्य-

---

के पति जयकुमारको तिरोहित करनेके लिये स्वीकृत अपनी उस वृत्तिसे, जो कि **अन्तस्था**—जलके भीतर स्थित थी तथा **तिमिक्षलणा**—ग्राहरूप थी, सन्ध्याके समान सामने आयी, क्योंकि सन्ध्या भी **अन्तस्था**—समीपवर्तिनी और **तिमिलक्षणा**—(**तिमिरक्षणा**) अन्धकारको अवकाश देनेवाली होती है। साथ ही बबूलोंके समान तारोंसे युक्त होती है ॥४८॥

**अर्थ**—हाथीके आगे बड़ी-बड़ी लहरें उठने लगीं। उनसे ऐसा जान पड़ता था कि नदीने विचार किया है कि यह सिन्धुर—हाथी हमारे पति सिन्धु-समुद्रके पास जाने वाला है, उनका स्नेही है, अतः इसका मुझे उपकार करना चाहिये, फिर मैं द्युनदी—स्वर्गकी नदी कहलाती हूँ, अतः मुझे अपनी प्रतिष्ठाका उद्धार करना चाहिये, साथ ही लोग मुझे निम्नगा—अवनत स्थानपर जाने वाली कहते हैं, यह मेरी अपकीर्ति है, इसका भी मुझे निराकरण करना चाहिये। यह सब विचार कर ही मानों समुद्रकी स्त्री नदी उसके आगे ही हाथीका उपकार करनेके लिये चल पड़ी हो ॥४९॥

**अर्थ**—लहरें उठ-उठकर आकाशको छूने लगीं, उससे ऐसा जान पड़ता था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


रूपतां कृत्वोपलभ्य सौहार्देनेव किलाम्बु जलं स्ववीचिबाहुमिधृत्वा निजीयलहरिभुजाभि-रारभ्याम्बरमाकाशमालिङ्गितुं प्रजवाद्वेगादेव याति स्म ॥५०॥

क्षालितेवाम्बुना वीरवरस्यासीत्तु धीरता ।
विपत्त्रभावमादातुमभ्यवाञ्छत्तु धीरता ॥५१॥

क्षालितेवेत्यादि—वीरवरस्यापि जयकुमारस्य धीरता सहिष्णुता सा त्वबुनाम्बुना क्षालितेवासीत् पिगलिता निर्जगाम तु पुनस्सा तस्यधीर्मतिरेव लता वल्लरी सा विपदस्त्राण-भावं विपत्त्रभावमुत विगतानि पत्राणि यत्र तस्य भावमेवाभ्यवाञ्छत् सहायतावाञ्छकोत्स इति । स शुशोच किल ॥५१॥

जगतां जीवनेनापि किमित्यत्र नवारिता ।
समश्च विषमः सूक्तिरित्येषास्ति न वारिता ॥५२॥

जगतामित्यादि—जगतां सर्वेषां जीवानां जीवनेन सञ्जीवनदायकेनाम्बुनात्र नवो नूतनश्चासावरिश्च तत्ता किमिति कस्मात्कारणादपि प्राप्ता । समश्च विषमः सुहृदपि शत्रुर्भवतीति सूक्तिः सतां वाणी सैषाधुना वारिता दूरीकृता नास्ति तावत् ॥५२॥

हृदालोचयतो मेऽदोऽमृतमेव विषं सतः ।
वस्तुतां वस्तुतामङ्गीकरोति श्रीजिना अतः ॥५३॥

---

कि नामकी एकता मानकर जल अपनी लहररूप भुजाओंके द्वारा मानों आकाश-का आलिङ्गन करनेके लिये वेगसे ऊपरकी ओर जा रहा था।

**भावार्थ**—'नभोऽम्बुनि वियत्यपि' इस कोशके अनुसार नभस् नाम आकाश और पानी–दोनोंका है, अतः नामकी अपेक्षा एकरूपता मान कर जल अपनी लहररूपी भुजाओंके द्वारा अपने मित्रका आलिङ्गन करनेके लिये ही वेगसे उछल रहा था ॥५०॥

**अर्थ**—वीरवर जयकुमारकी धीरता–सहिष्णुता मानों पानीसे धुल गई थी, गल कर नष्ट हो गई, परन्तु उनकी धीरता–बुद्धिरूपी लताके विपत्त्रभाव–विपत्ति-से रक्षा करने वाले भावकी इच्छा की थी, अर्थात् उनके मनमें सहायता प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई ॥५१॥

**अर्थ**—उन्होंने विचार किया कि जो जल जगत्के समस्त जीवोंका जीवन है–प्राण रक्षक है, उसने यहाँ नवीन शत्रुता किस कारण प्राप्त कर ली। इस संदर्भ-में सत्पुरुषोंकी जो यह वाणी है कि कभी सम–मित्र भी विषम–शत्रु हो जाता है इसका निषेध नहीं किया जा सकता ॥५२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


हृदित्यादि—अद इदममृतं जलं तदेव विषमिति नामामृत्युदमपि मृत्युदायकमेवेत्यालोचयतः सम्पश्यतो मे हृत् चित्तमेतत् तत्किल हे जिनाः ! भगवन्तोऽतोऽस्मात्कारणादेव वस्तुतां भवतां तु प्रख्यातां स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिरूपां सतो वस्तुतां वास्तवरूपतामङ्गीकरोति ॥५३॥

**वाराणसीभूमिभृतः किशोरी यथोदयन्तं शशिनं चकोरी ।**
**धृतं समारब्धतमश्चयेन प्रतीक्षते स्माथ जयं रयेण ॥५४॥**

वाराणसीत्यादि—समारब्धेन तमसो राहुग्रहस्य चयेनाडम्बरेण धृतं समाक्रान्तमुदयन्तमेव शशिनं यथा चकोरी, तथा वाराणसीभूमिभृतोऽकम्पनस्य किशोरी सुलोचना रयेण जलप्रवाहकृतोपद्रवभूतेन प्रणाशरूपेण धृतं जयं प्रतीक्षते स्म ददर्श ॥५४॥

**छायेवानुवर्तिनी भर्तुर्यतमाना मनीषितं कर्तुम् ।**
**विपदं गते सुखगता नासीत्तस्मिन् सेति कुतस्तु सुभाषी ॥५५॥**

छायेवेत्यादि—भर्तुः स्वामिनो जयकुमारस्य मनीषितं यथाभिलषितं कर्तुं यतमाना प्रयत्नशीला छायेव स्वशरीरप्रतिमेवानुवर्तिनी सा सुलोचनापि तस्मिन् विपदं गते पक्षिस्वरूपं प्राप्ते सति शोभनीया खगता पक्षिता यस्माः साऽसौ सुखगता नासीन्न बभूवेति भाष-

---

अर्थ—यह अमृत-जल ही विष है, अर्थात् जो अमृत्युका कारण है, वही मृत्युका कारण हो रहा है, इस प्रकार विचार करनेवाले मुझ जयकुमारका हृदय हे भगवन्त जिनेन्द्र ! आपके मतमें प्रख्यात सत् की जो वस्तुता–अस्ति नास्ति रूपता है उसे स्वीकृत करती है।

भावार्थ—जिस प्रकार सत्–द्रव्य अस्ति–नास्ति, नित्य-अनित्य आदि रूप है, उसी प्रकार जल भी मृत्युद–मृत्युको देने वाला और अमृत्युंद–मृत्युको नहीं देने वाला, दोनों रूप है ॥५३॥

अर्थ—तदनन्तर जिस प्रकार चकोरी राहु ग्रहके आडम्बरसे ग्रस्त उदित होते हुए चन्द्रमाको देखती है, उसी प्रकार काशीनरेशकी पुत्री सुलोचनाने विनाशकारी जलप्रवाहसे आक्रान्त आते हुए जयकुमारको देखा ॥५४॥

अर्थ—जबकि सुलोचना पतिके वांछित कार्यको करनेके लिये छायाकी तरह उनकी अनुगामिनी रहती थी, तब पतिके **विपदं गते सति**–पक्षिरूपताको प्राप्त होनेपर वह **सुखगता**–उत्तम पक्षिरूपताको क्यों नहीं प्राप्त हुई ? ऐसा कहने वाला मनुष्य **सुभाषी**–सत्यवादी कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


माणो जनः सुभाषी समुचितवाक्कुतः कस्माद्भवितुमर्हतीति चेत् ? विपदं गते आपन्ने सति तस्मिन् सा सुखेन गतं यस्याः सा सुखगता सुखिता नासीदिति यावत् ॥५५॥

**सुदृशो दृशा विरसताऽपूरि जयस्यान्तरम्बुजाय भूरि ।**
**अविरलजलयाथ यो हि बन्धुर्विपरक्षणे स च भवतादन्धुः ॥५६॥**

सुदृश इत्यादि—सुदृशः सुलोचनाया दृशा दृष्टया कथंभूतया ? अविरलं बहुतरं रोदनजनितं जलं यस्यां सा तया किलाविरलजलया जयस्य नामकुमारस्यान्तरम्बुजाय हृदयकमलाय भूरि भूरि विरसता दुःखप्रायताऽपूरि । तां रुदन्तीमवलोक्य जयकुमारो नितरामेव दुःखभागभूत् । यो हि बन्धुर्हितैषी भवति, सोऽपि विपत्क्षणे आपत्तिकालेऽन्धुः कूप इव सम्पतनायैव भवतादिति ॥५६॥

**यदलिगणं हिमकरास्य एष उत्ततार महिमास्य विशेषः ।**
**पदजलजे उत्तर तामस्माज्जलजातादुपद्रवात् कस्मात् ॥५७॥**

यदलीत्यादि—एष महानुभावो हिमकरश्चन्द्र इवास्यं मुखं यस्य स प्रसन्नवदनः, हिमं शरदुत्तराख्यमृतुं करोतीति तदास्यं यस्येति च हिमकरास्यः यत्किलालिगणं वैरिवर्गं भ्रमरकुलं चोत्ततार सोऽस्य महिमा विशेषोऽभूत् । हिमर्तुमवाप्य भ्रमरा विनश्यन्तीति युक्तमेव, किन्तु अस्य पदजलजे चरणकमले द्वे ते च जलजातादस्मादुपद्रवात्कस्मादुत्तरताम्,

---

परिहार यह है कि पतिके **विपदं गते सति**–विपत्तिको प्राप्त होनेपर वह **सुखगता**–सुखको प्राप्त करनेवाली नहीं थी, अर्थात् अत्यन्त दुःखी हो रही थी ॥५५॥

**अर्थ**—अविरल जलप्रवाहसे युक्त सुलोचनाकी दृष्टिने जयकुमारके हृदय-कमलको अत्यधिक विरसता–निर्जलता (पक्षमें नीरसता–दुःखसे पूर्ण कर दिया सो ठीक ही है, क्योंकि जिसका जो बन्धु–हितैषी होता है, वह विपत्ति कालमें उसके लिये अन्धु–कूप होता है, पतनका साधन बनता है ॥५६॥

**अर्थ**—हिमकरास्य–चन्द्रमाके समान मुखवाले (पक्षमें हिम[1] ऋतुको करने वाले मुखसे सहित) जयकुमारने अलिगण–शत्रुओंके समूहको (पक्षमें भ्रमरोंके समूहको) नष्ट किया था, यह इनकी विशेष महिमा थी किन्तु इनके **चरण-जलज**–चरणकमल जलसे उत्पन्न हुए इस उपद्रवसे क्यों नहीं पार हो सके ? जो शत्रुओंके झुण्डके झुण्ड नष्ट करनेकी सामर्थ्य रखता हो उसके चरण कमल जो कि गणनामें एक नहीं दो हैं, एक जलसे उत्पन्न हुए इस उपद्रवसे पार न हो सकें, इसका प्रतिकार न कर सकें यह आश्चर्य है अथवा चरणजलज

---

१. हिमर्तौ भ्रमरास्स्वयमेव नश्यातीति प्रसिद्धिः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जलजलजातयोरेकजनकत्वाद् भ्रातृभावतयेवास्य चरणौ जलजातमुपद्रवं न प्रतिकुरुता-मिति ॥५७॥

**अभावमत्रानुभवामि आतुरा न तेऽनुगृह्णन्तु किमीश्वराः सुराः ।**
**शयालवश्चेन्मम दृष्टिवृष्टितः स्फुटं सहायाः स्युरथासुराः सुराः ॥५८॥**

**अभावमित्यादि**—अहमातुरा कष्टमापन्नाऽत्राभावं निस्सहायत्वमनुभवामि न कोऽपि सहायोऽस्मिन् विषय इति किलाहमभावं तुल्यत्वमस्य महानुभावस्य, तावदनुभवामि, या दशास्य सैव मेऽपि भवेदिति 'अस्तुल्यस्वेऽप्यभावेऽपि' इति वचनात् । ते प्रसिद्धा ईश्वरा अनाथानां सहायकारकास्सुरा इन्द्रादयस्तेऽपि किन्नानुगृह्णन्तु । किन्तेऽपि मम दृष्टि-वृष्टितः शयालवो जाताः, वर्षाकाले देवानां शयनसम्भवादेवमेव चेत्तदाथ पुनरित एवा-सुराः स्फुटं स्पष्टमेव सहायाः स्युरिदानीं तेषामुत्थानकालत्वादिति । अथवाहमत्राभाव-मकारत्वमनुभवामि, शोभनो रकारो यत्र ते सुरास्तपुनः ते तकारा अप्यनु गृह्णन्तु, यदि चेत्ते पुनः शयालवस्तदा पुनरकारस्य सुरा असुरास्तेऽनुगृह्णन्तु ॥५८॥

**विपदम्बुनिधाविहाधुना घृतलेखेवदृढीभवन्मनाः ।**
**शुचिवर्णनयाश्रितापि नो महनीयामलमानसैः पुनः ॥५९॥**

**विपदित्यादि**—विपदम्बुनिधौ इहास्मिन् प्राणपतिसम्बुडनलक्षणेऽधुना पुनः सा सुलोचना स्त्री घृतस्य लेखेवामलमानसैः सज्जनैर्देवानां मनोभिश्च महनीया श्लाघनीया दृढीभवन्मनाः सुदृढतामासादितवती सती नोऽस्माकं शुचिवर्णनयाश्रिता शुचिः पवित्रो

---

जलसे उत्पन्न थे और उपद्रव भी जलसे उत्पन्न था अतः एक जनक—जलसे उत्पन्न होनेके कारण दोनोंमें भ्रातृभाव स्थापित हो गया। इसलिये चरणजलजने जलजात उपद्रवका प्रतिकार नहीं किया ॥५७॥

**अर्थ**—कष्टमें पड़ी हुई मैं यहाँ अभाव—निःसहाय दशाका अनुभव कर रही हूँ अथवा अभाव—तुल्यावस्थाका अनुभव कर रही हूँ, अर्थात् जिस प्रकार उनका कोई सहायक नहीं है, उसी प्रकार मेरा भी कोई सहायक नहीं है। अनाथोंकी सहायता करनेकी सामर्थ्य रखने वाले वे इन्द्रादिदेव क्यों नहीं अनुग्रह करते हैं ? यदि वे मेरी नयनवृष्टि—लगातार आंसुओंकी वर्षासे शयन कर रहे हैं, तो वे असुर ही क्यों नहीं सहायक होते; क्योंकि वर्षाकाल तो उनके उठने का समय है ॥५८॥

**अर्थ**—इस विपत्तिरूप सागरमें जिसका मन घृत की रेखाके समान दृढ़ था तथा जो अमलमानसैः—निर्मल हृदय वाले सज्जनों अथवा अमर-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वर्णस्य स्तवनस्य यो नयः प्रणयनं तेनाश्रितापि प्राप्ता-परमेष्ठिस्तवनं कर्तुं लग्नेति भावः ।।५९।।

**अर्हदुक्तिसन्नद्धहृदारात् प्रतिकर्तुं प्रबभूव च वारा ।**
**आत्मनैव भाव्यं शबरेण धन्वियतापि यथा शबरेण ।।६०।।**

अर्हदित्यादि—रलयोरभेदाद् वारा सा सुलोचना 'अर्हन् अर्हन्' इत्यादिभिरुक्तिभिः सन्नद्धं हृद् मनो यस्यास्सा प्रतिकर्तुं तदुपद्रवं प्रबभूव तावदारात् । यतः खलु आत्मनैवात्मनः शबरेण शंकरेण भाव्यं न पुनरन्येन केनचिद्यथा शबरेण नाम तेनभिल्लेन स्वयमेव द्रोणाचार्यप्रतिमामारोप्य स्वसहायेन धन्वियतापि प्राप्ता किल ।।६०।।

**सुरतरङ्गिणीं तां बहुमानामनुकूलोचितविटपविधानाम् ।**
**वारस्त्रीमुदयन्तीमार्यमापातयितुं हठाद् विचार्य ।।६१।।**
**तिरस्कुर्वती सती निकाममित्येषा सहसा निजगाम ।**
**शमुद्दीपितं साहसमस्या या विकटा खलु साह समस्या ।।६२।।**

सुरेत्यादि—एषा सती सुलोचना तां सुरतरङ्गिणीं देवनदीं तथैव सङ्गरङ्गरङ्गवतीं कीदृशीम् ? बहुमानां सविस्तरामतिशयमानवतीं च सौरूप्यादिविषये मां कापि स्त्री वानुकर्तुमर्हतीति । कूलं तटमनुवर्तन्ते तेऽनुकूलास्तेषामुचितानां विटपानां वृक्षाणां विधानं यत्र तां तथानुकूलानां सम्मुखीकृतानामुचितानां विटपानां कामिनां विधानं यत्र तामेतां वारस्त्रीं

---

मानसैः—देवोंके हृदयसे भी प्रशंसनीय थी, ऐसी वह सुलोचना परमेष्ठियोंके स्तवन में निमग्न हो गई ।।५९।।

**अर्थ**—'अर्हन् अर्हन्'—'अरहन्त अरहन्त' इस प्रकारके उच्चारणमें जिसका मन लग रहा था, ऐसी सुलोचना शीघ्र ही प्रतिकार करनेके लिये समर्थ हुई सो ठीक है, क्योंकि आत्मा स्वयं ही उस तरह शबर—शान्तिको करने वाला होता है, जिस तरहकी एक शबर—भीलने द्रोणाचार्यकी प्रतिमा स्थापित कर अपने आप श्रेष्ठ धनुष विद्या प्राप्त की थी ।।६०।।

**अर्थ**—यह नदी एक वेश्याको समान थी, क्योंकि वेश्या जिस प्रकार **सुरतरङ्गिणी**—संभोगसम्बन्धी रङ्गसे सहित होती है, उसी प्रकार वह नदी भी **सुर-तरङ्गिणी**—देवकृत तरङ्गोंसे सहित थी। जिस प्रकार वेश्या **बहुमाना**—सौन्दर्य आदिके गर्वसे सहित होती है, उसी प्रकार वह नदी भी **बहुमाना**—विस्तृत प्रमाणवाली थी और जिस प्रकार वेश्या **अनुकूलोचितविटपविधाना**—सम्मुखागत परिचित कामीजनोंके विधान—कार्यसे सहित होती है, उसी प्रकार वह नदी भी **अनुकूलोचित-**



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वेश्यां हसन् आर्यं सदाचारिणं तं जयकुमारं हठादापातयितुं पतितं कर्तुमुदयन्तीं तत्परां विचार्य तां सहसा तिरस्कुर्वती इतस्ततो हस्तसंयोगात्प्रतिकुर्वती न्यक्कुर्वती च निजगाम चचाल, नद्यां प्रविष्टाभूदिति यावत्। एवमस्याः सुलोचनायाः शं सुखं साहसं चोद्दीपितं प्रकटितं या च खलु विकटा विशाला समस्यासीत्, साह आक्षेपयुक्ता बभूवेति शेषः। 'आह क्षेपनियोगार्थे' इति विश्वः॥६१-६२॥

**शीलसहस्रांशुतेजसेव शुष्यत्सलिला सा सरिदेव।**
**जानुलग्नतामवाप तस्याः सम्प्रति लघुतरभावमस्या॥६३॥**

शीलेत्यादि—शीलं सतीत्वमेव सहस्रांशुतेजः सूर्यप्रभावस्तेन शुष्यत्सलिला सा सरिन्नदी सम्प्रति लघोरपि लघुर्लघुतरा तस्या भावस्य समस्या यत्र सा यथोत्तरं लाघवमासादितवती तस्याः सुलोचनाया जानुलग्नतां जङ्घापर्यन्तभावमवाप। लघुवयस्का च पदयोर्लगतीति रीतिः॥६३॥

**कार्तज्ञतः प्रत्युपकारपूर्तिराविर्बभौ विघ्नितविघ्नमूर्तिः।**
**रङ्गेऽत्र गङ्गेत्यभिरामनाम देवीमुदे विस्मयिनो निकामम्॥६४॥**
**समस्तनारीनिकरैकभूजिदपूर्ववस्त्राभरणैरपूजि।**
**वाराधिकारादिह स्नापयित्वाऽनया नयानयातगुणाश्रयित्वात्॥६५॥**

कार्तज्ञत इत्यादि—अत्र रङ्गे गङ्गातटे कार्तज्ञतः कृतज्ञतावशात् प्रत्युपकारस्य पूर्तिर्यया सा प्रत्युपकारपूर्तिः, विघ्निता विघ्नं प्रापिता विघ्नमूर्तिः प्रचण्डजलबाधा यया सा, गङ्गेत्यभिरामं मनोहरं नाम यस्यास्सा देवी विस्मयिनो विस्मययुक्तस्य जयकुमारो निकाममत्यन्तं मुदे हर्षायाविर्बभौ प्रकटीभूय शुशुभे। ६३॥

समस्तेत्यादि—अनया गङ्गादेव्या, इह गङ्गातटे नयेन नीत्या आयाताः प्राप्ता ये

---

**विटपविधाना**–तटपर स्थित योग्य वृक्षोंके समूहसे युक्त थी। ऐसी वेश्यातुल्य नदीको हठपूर्वक **आर्य**–सदाचारी पति जयकुमारको **पतित**–भ्रष्ट (पक्षमें निमग्न) करनेको उद्यत देख कर यह सती-पतिव्रता सुलोचना उसका तिरस्कार करती (पक्षमें हाथोंके संयोगसे जलको इधर-उधर करती हुई) शीघ्र ही नदीमें प्रविष्ट हुई। इस तरह सतीका आन्तरिक सुख या,प्रशमभाव और साहस प्रकट हुआ तथा जो विकट समस्या थी, वह **साह**–आक्षेप या समाधानसे सहित हो गई॥६१-६२॥

**अर्थ**—सतीत्वरूपी सूर्य तेजसे ही मानों शुष्यत्सलिला होती हुई वह नदी इतनी लघुताको प्राप्त हो गई कि सुलोचनाके घुटनों तक आ गई॥६३॥

**अर्थ**—तदनन्तर जो प्रत्युपकारकी पूर्ति करनेवाली थी, जिसने उस जलबाधारूप विघ्नमूर्तिको नष्ट कर दिया था तथा जिसका 'गङ्गा' यह सुन्दर नाम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



गुणास्तेषामाश्रयित्वादाधारत्वात् समस्त नारीणां निखिलस्त्रीणां निकरः समूहः स एवैका-द्वितीया भूभूर्मिस्तां जयति स्म तथाभूता वारा बाला सुलोचना अथ च वारा जलेन स्नप-यित्वाभिषिच्य अपूर्वाणि यानि वस्त्राभरणानि तैः अधिकारात्स्वप्रभावात् अपूजि पूजिता। गङ्गादेवी तां सुलोचनां जलेनाभिषिच्यानुपमैर्वस्त्रालङ्कारैः सत्कृतवतीत्यर्थः ॥६५॥

सुमनसि मनसि च जयस्य जातं किमिदमभूदिति कण्टकपातम्।
नखचुण्टिकयेव नूत्नया चाभेदि तया निम्नाङ्कितवाचा ॥६६॥

सुमनसीत्यादि—इदमेतत्किं तावदभूदिति जयस्य नाम कुमारस्य मनसि एव सुम-नसि कुसुमे जातं कण्टकपातमिव सन्देहं निम्नाङ्कितवाचा नूत्नया नखचुण्टिकयेव संकल्पि-तयाऽभेदि समुच्छिन्नमभूत् ॥६६॥

विपिनविहारे पन्नगदष्टाभ्यतीत्य नारीरूपमकष्टात्।
सुदृशा घोषितमनुप्रसङ्गाज्जाताहमहो देवी गङ्गा ॥६७॥
भुजगीचरा चण्डिका देवी दुष्टा त्वयि रुष्टा गुणसेविन्।
स्मोपद्रवकर्त्रीहायाति समयमाप्य विकरोति विजातिः ॥६८॥
ऋद्धिमुपेत्य भवत्या वृद्धिमात्रमेतदेवात्र सद्धि।
अपितवत्यहमेषा दासीह तु सम्यग्दर्शनाभ्युपासिन् ॥६९॥

विपिनेत्यादि—हे सम्यग्दर्शनाभ्युपासिन्! अहं तावद् विपिनविहारे वनविहरण-काले किलैकदा पन्नगेन दृष्टा पुनः सुदृशानया घोषितस्य मनोर्मन्त्रस्य नमस्काराख्यस्य प्रसङ्गादकष्टादेव नारीरूपमभ्यतीत्य गङ्गादेवी जाता। भुजगीचरा सा चण्डिका नामदेवी,

---

था, ऐसी एक देवी उस तटपर आश्चर्यचकित जयकुमारके अत्यन्त हर्षके लिये प्रकट हुई। प्रकट होकर उसने अपने अधिकारसे, न्यायोपात्त गुणोंका आधार होनेके कारण समस्त स्त्रीसमूहरूपी भूमिको जीतनेवाली बाला—सुलोचनाका वारा—जलसे अभिषेककर अपूर्व वस्त्राभरणोंके द्वारा उसकी पूजा की ॥६४-६५॥

अर्थ—यह क्या है? इस प्रकार जयकुमारके मनरूपी पुष्पमें उत्पन्न हुए सन्देहरूपी कांटेको उस देवीने निम्नांकित वचनोंके द्वारा सरलतासे ऐसा नष्टकर दिया, मानों नखकी चिऊँटीसे खुटक दिया हो ॥६६॥

अर्थ—हे सम्यग्दर्शनके उपासक! एक बार वनविहारके समय मुझे सांपने डस लिया, तब इस सुलोचनाके द्वारा उच्चरित नमस्कार मन्त्रके प्रभावसे मैं अनायास ही स्त्रीरूपको छोड़कर यहाँ गङ्गादेवी हो गई और सर्पिणी मरकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सा च त्वयि रुष्टा, हे गुणसेविन् ! अधुनेहोपद्रवकर्त्री किलायाति स्म। अहंतु भवत्या सुलोचनया ऋद्धिमुपेत्यात्र प्रसङ्गेन तद्वृद्धिमात्रमेतत् तदुपद्रवदूरीकरणरूपं किलार्पितवतीति जानाहि ॥६७-६९॥

**ऋणीकृताहं च कदानृणत्वं भजेयमाजेतुमिति व्रणित्वम् ।**
**तद्वृद्धिमात्रैकविशुद्धिहेतुभूतेऽत्र चायामि विभो क्षणे तु ॥७०॥**

ऋणीकृतेत्यादि—ऋणीकृताहमनृणत्वं कदा भजेयमित्येव व्रणित्वं केवलं तस्यवृद्धिमात्रैकविशुद्धिहेतुभूते क्षणे त्वत्रायामि आव्रजामीदानीं तावत् ॥७०॥

**इयं गुरुत्वान्महिमानमेति निरुत्तरं त्वां वरमाश्रितेति ।**
**विश्वं त्वरं कर्तुमुपैमि देव ! गुणोदयं तेऽथ विमानमेव ॥७१॥**

इयमित्यादि—इयं सुलोचना गुरुत्वादुपकारिरूपत्वान्महिमानं श्लाघ्यतमत्वमेति, या निरुत्तरमद्वितीयं त्वां वरं वल्लभमाश्रिता। यतोऽहं विश्वमलंकर्तुं ते गुणोदयं विमानं मानवर्जितमपरिमितपरिणाममुपैमि। इयं गुरुत्वाद् गौरवरूपतया महेर्धरिण्या मानं महिमानमेति त्वामेव त्वा पुनरम्बरमाकाशवदाश्रितास्ति। अथ हे देव! विश्वं त्वरं कर्तुं गतिशीलं विधातुं ते गुणोदयं विमानं व्योमयानमस्ति ॥७१॥

---

चण्डिका देवो हुई। वह दुष्टा आपपर रुष्ट है। हे गुणसेवक ! वही उपद्रव करने वाला समय पाकर यहाँ आ रही थी। उसीसे यह विक्रिया थी। मैं सुलोचनासे ही इस सिद्धिको प्राप्त हुई हूं, मेरी यह वृद्धि इन्हींकी देन है, अतः कृतज्ञतावश मुझ दासीने इन्हें यह सब अर्पित किया है ॥६७-६९॥

**अर्थ**—हे विभो ! मैं इस सुलोचनाके द्वारा ऋणीकी गई हूँ। अब ऋणरहित अवस्थाको कब प्राप्त होऊँगी, यही एक घाव हमारे हृदयमें विद्यमान है। मैं इसकी वृद्धि-प्रत्युपकार कब कर सकूँगी, इस प्रकारकी बुद्धिके कारण समयपर मैं आई हूँ।

**भावार्थ**—अपने अवधिज्ञानसे मुझे विदित हुआ कि हमारा उपकार करने वाली सुलोचना कष्टमें है, अतः उसके निवारणार्थ मैं इस अवसर पर आयी हूँ ॥७०॥

**अर्थ**—यह सुलोचना **गुरुत्वात्**—उपकारो होनेसे महिमाको प्राप्त है और साथ ही आप जैसे अद्वितीय वरको प्राप्त हुई है, अतः मैं विश्वको **अरं कर्तुं**—अलंकृत करनेके लिये आपके **विमान**—अपरिमित गुणोदयको प्राप्त हो रही हूँ।

**अर्थान्तर**—यह सुलोचना **गुरुत्वाद्**—भारी होनेसे **महिमानं**—पृथिवीको महिमाको प्राप्त है और **त्वा अम्बरं**—आप रूपी आकाशको प्राप्त है, अर्थात् आप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**तया रसोद्वेलनकेलिमेतयोः स्रजाक्षराणामिति कर्णकूपयोः ।**
**समुद्ययौ स्पर्द्धितया तरामिदं जगज्जयः पूरयितुं तु वारिदः ।।७२।।**

तयेत्यादि—तया पूर्वोक्तयाक्षराणां स्रजा मालया रसोद्वेलनकेलिमेतयोर्मर्यादाक्रान्तसरसभावमाप्तयोः कर्णकूपयोः स्पर्द्धितयेव किलेद जगद् विश्वं पूरयितुं तु पुनः जयकुमारो वारिदो वाचालो मेघो वा समुद्ययौतराम् ।।७२।।

**न दासि अस्माकमिहासुदासि समासिमध्याप्युत देवतासि ।**
**जगत्त्रयेऽस्मिन् परमुत्तमापि सूक्तिर्भवत्या सुतरामवापि ।।७३।।**

न दासीत्यादि—जय उक्तवानिदं यत्किल हे मातस्त्वं तावदस्माकं दासी नासि प्रत्युतेहासुदा प्राणदात्री असि भवसि, या त्वं समासि संक्षिप्तं मध्यं यस्यास्सा देवतासि । भक्त्या च पुनरस्मिन् जगतां पातालभूतलस्वर्गाणां त्रयेऽथवाहमेषा त्वं चेति त्रये परमतिशयेनोत्तमा-निर्दूषणा सूक्तिः सुतरामवापि किमिति किन्तु नैव । त्वयोक्तं दासीभवामीति तन्न युक्तम् । अपि काकुविषयक एवात्र सम्प्रधार्यः । अथवा तु भवत्या परस्मै सम्मुखस्थिताय मुत्प्रसन्नता सर्वोत्तमा यत्र सा परमुत्तमा सूक्तिरवापि । त्वद्वागतिमधुरतमेति यावत् ।।७२।।

**तव प्रणोऽक्षरशोऽनुगत्य वृद्धिं सदाजीवनकृत्तु सत्यः ।**
**वाचो न वा किंकरता भवत्याः कर्णं त्वरं कर्तुं महोजगत्याः ।।७४।।**

---

दोनों पृथिवी और आकाश रूप हो, अतः विश्व-संसारको अरं कर्तुं-गतिशील करनेके लिये आपका गुणोदय विमान-व्योमयान रूप है ।।७१।।

**अर्थ**—उस पूर्वोक्त अक्षरोंकी मालासे रस-हर्ष अथवा जलकी मर्यादातीत क्रीडाको प्राप्त हुए कर्णकूपोंकी स्पर्धा-ईर्ष्याके कारण ही मानों जयकुमार रूपी, मेघ (पक्षमें वाचाल) इस जगत्को पूर्ण करनेके लिये अत्यन्त उद्यत हुए ।

**भावार्थ**—गङ्गा देवीकी अक्षरमालाने कानोंको रसाप्लावित किया है, तो मैं समस्त जगत्को रसाप्लावित करूँगा, इस ईर्ष्याभावसे जयकुमार वारिद-मेघ अथवा वाचाल हो गये थे, अर्थात् विस्तारसे उत्तर देने लगे ।।७२।।

**अर्थ**—जयकुमारने कहा-हे मातः ! तुम हमारी दासी नहीं हो, किन्तु असुदा-प्राणदात्री हो अथवा पतली कमर वाली देवता हो। तीनों जगत्में अथवा तुम और हम दोनोंके बीच आपने उत्तम-सर्वथा निर्दोष सूक्ति क्या प्राप्त की है ? अर्थात् नहीं । आपने जो अपने आपको दासी कहा है यह क्या योग्य है ? नहीं । **परमुत्तमा**-का एक अर्थ यह भी होता है **परस्मै—मुद् यस्यां सा परमुत्, अतिशयेन परमुदिति परमुत्तमा**-दूसरेके लिये अत्यन्त आनन्द देने वाली सूक्ति ।।७३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तवेत्यादि—हे देवि ! तवायं प्रणः परोपकारकरणलक्षणः स वृद्धिं पाणिनीय-व्याकरणसमुक्तामक्षरशोऽनुगत्य लब्ध्वा सदा सततमेवास्माकं जीवनकृत् प्राण इति भवितुमर्हति। अथवा वृद्धिमधिकतामनुगत्य सम्यगाजीवनकृत् सत्य एव। एवं कृत्वा भवत्या वाचोऽधुना सत्यः प्रशंसनीयाः, जगत्याः कर्णमरंकर्तुं भूषयितुं भवत्या कलताऽतिशय-मधुरता न वा किम् ? अपि तु भवत्येव, कुत्सितमृणं कर्णंत्वरं कर्तुं दूरीकर्तुं पुनर्भवत्याः किंकरता कर्मकरभावस्तु न वा स्यान्नैव सम्भवेत् ॥७४॥

**लेखीभवत्यत्र सदाक्षलानां समाश्रयायैवमथाखलानाम् ।**
**यामो वयं ते खलु पत्रभावमहो दयास्मासु महोदया वः ॥७५॥**

लेखीत्यादि—अहो अस्मासु महोदया वो युष्माकं या दया साथाखलानां सज्जनाना-मक्षलानां चक्षुरादिमतां मानवानां समाश्रयाय लेखीभवति देवतारूपास्ति। ततः खलु वयं ते मानवरूपत्वादधुना पत्रभावं पदत्राणतां यामश्चरणलग्नतामाश्रयामः। अथ चाक्षराणां समाश्रयाय ते दया लेखीभवति लेखरूपतामाप्नोति। तत्र वयं पत्रभावं दलरूपतां यामः। अस्मासु कृता भवतीनां दया सास्मिन् जगतीतले ताम्रपत्रायिता स्वर्णाक्षरा भवति किलेति ॥७५॥

---

**अर्थ**—हे देवि ! परोकार रूप आपका प्रण, वृद्धि-पाणिनीय व्याकरणमें प्रसिद्ध स्वर विकृतिविशेषको अक्षरशः प्राप्तकर **सदाजीवनकृत्**-हमारे जीवन-को अथवा सत्-आजीव-सत् पुरुषोंके आजीवनको अथवा वृद्धि-अधिकताको प्राप्तकर समीचीन-आजीवनको करनेवाला सचमुच ही प्राण है। इस तरह आपके वचन सत्यः-प्रशंसनीय हैं। अथवा जगतो-पृथिवीनिवासी मानवोंके **कर्णमरंकर्तुं**-कानोंको अलंकृत करनेके लिये आपकी **करता (कलता)**-मधुरता क्या नहीं है ? अर्थात् है। अथवा **कर्ण**-कुत्क्षित ऋणको दूर करनेके लिये आपकी किंकरता-कर्तव्यशीलता क्या नहीं है, अर्थात् है।

**भावार्थ**—पाणिनीय व्याकरणमें आ ऐ औ इन तीन स्वरोंकी वृद्धि संज्ञा है, अतः प्रतिज्ञावाची प्रण शब्दके आदि स्वरको आ वृद्धि करनेसे प्राण शब्द बनता है। इस प्रकार आदि अच्की वृद्धिको प्राप्त हुआ प्रण शब्द हमारे प्राण हैं। आपके इस प्रणसे ही हमारे जीवनकी रक्षा हुई है ॥७४॥

**अर्थ**—अहो ! हम लोगोंके बीच आप महोदया हैं, आपकी जो दया है वह **अखल**-सज्जन मानवोंके लिये देवता रूप हैं। इसलिये हम आपकी **पदत्राणता**-को प्राप्त है, आपके चरणोंमें संलग्न हैं। **अथ च**-अक्षरोंके आश्रयके लिये आपकी दया लेखरूपताको और हम पत्ररूपताको प्राप्त हैं। तात्पर्य यह है कि हम लोगोंपर आपकी जो दया है, वह ताम्रपत्रपर अङ्कित स्वर्णाक्षरोंके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**श्रीदेवतानां मिलनाय यासां सतां मतिर्यत्नवती स्थिरा सा ।**
**दृक् चञ्चलाप्नोति तदेव भाग्यं परं समाश्रित्य न याति वाग्यत् ॥७६॥**

**श्रीदेवतानामित्यादि**—यासां श्रीदेवतानां मिलनाय समागमाय सा सतां मतिः स्थिरा यत्नवती च भवति, तदेव देवतानां सम्मेलनमधुना परं भाग्यं समाश्रित्यास्माकं चञ्चला दृगपि आप्नोति, यत्पुनर्वाग् वाणी न याति प्राप्नोति भवतीदर्शनं जातमित्येतदुत्सवाय, किन्तु वाणी वक्तुं न शक्नोतीति किं कुर्मः ॥७६॥

**तृणं ममात्मैव तवासनाय समञ्जलित्वं चलनोदकाय ।**
**मद्बुद्धिवीरुद् विदधातु कानि सम्माननार्थं नहि कौतुकानि ॥७७॥**

**तृणमित्यादि**—अतिथिसत्करणार्थमधुना पुनर्हे देवि ! तवासनायोपस्थापनार्थं ममात्मैव तावत्तृणं भवति लाघवमाप्नोति, तत एवमासनोपादानरूपतृणभावं लभते । चलनोदकाय च सम्यगञ्जलित्वं हस्तसंयोजनरूपं तदेव समं परममनोहरं जलित्वं जलधारित्वं स्यात् । मद्बुद्धिरेव वीरुत् वल्लरी, सा तव सम्माननार्थं कानि कौतुकानि विनोदचेष्टितानि कुसुमानि च नहि विदधातु तावद् विदधात्वेव ॥७७॥

**यशसा श्रुतिः साक्षरा यासां दीव्यति दृक्पुनरद्य सुभासा ।**
**जयति प्रणोऽपरश्च सकाशात्किन्तु पवित्रा पाशकला सा ॥७८॥**

---

समान है ॥७५॥

**अर्थ**—जिन श्रीदेवताओंके मिलन-समागमके लिये सत्पुरुषोंकी स्थिर बुद्धि सदा प्रयत्नशील रहती है, उन्हीं देवताओंके उस मिलनको, उत्कृष्ट भाग्यका आश्रय ले हमारी चञ्चल दृष्टि प्राप्त हो रही है, परन्तु हमारी वाणी प्राप्त नहीं हो रही है।

**भावार्थ**—जिन देवताओंके मिलनकी सज्जन पुरुष सदा इच्छा रखते हैं, उस मिलनको हमारी चञ्चल दृष्टि अनायास प्राप्त हो रही है, परन्तु हमारो वाणी उस मिलनको प्राप्त नहीं हो रही है, अर्थात् कुछ कहनेके लिये समर्थ नहीं है ॥७६॥

**अर्थ**—हे देवि ! आपके बैठनेके लिये मेरी आत्मा ही है और चरणोदकके लिये मेरी अञ्जलि ही जलित्व-जलधारक पात्र है। फिर मेरी बुद्धिरूपी लता आपके सम्मानके लिये किन विनोदचेष्टाओं अथवा पुष्पोंको न करे अर्थात् सभीको करे ॥७७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**यशसेत्यादि**—श्रुतिर्नाम शास्त्रप्रणीतिः, सा यासां यशसा साक्षरा तत्र देवतानां यशोगानसद्भावात् । यद्वा श्रुतिरस्मदादेः कर्णशष्कुली यासां यशसा साक्षरा कर्णपुटेन देवतानां यशः श्रुतमस्ति ततश्च साक्षला पाशकवती । अद्य पुनः सुभासावलोकनेन वृक् दृष्टिरसौ दीव्यति तासामेव देवतानां दर्शनात् दीव्यभावमाप्नोति द्यूतक्रीडां पाशक्षेपण-क्रियां करोति । प्रणश्चापर एव कृतज्ञतालक्षणो जयति । इत्येवं सकाशात्पवित्रा पाशकला सा पाशस्य कला क्रिया किन्नु ? ॥७७॥

**सुरोचिता नाम समस्ति यत्क्रिया धरातरेऽस्मिन् समभावि मत्प्रिया ।**
**त्वया मरुत्संविदिते प्रमाणिता विमानिनीयं न च मानवीक्षिता ॥७९॥**

**सुरोचितेत्यादि**—यस्याः क्रिया चेष्टा नाम सुरोचिता देवानां योग्याऽत एव सुष्ठु-रोचिता सुरोचिता रमणीया च समस्ति, यास्मिन् धरातरे मरुद्भिर्देवैरुत समीरणैः संवि-दिते यद्वा मरुदिति संविदिते संज्ञाते त्वया प्रमाणीकृता सम्मानितेयं विमानिनी मानरहिता देवतैवास्ति न च पुनर्मानेन वीक्षिता वृथा गर्विणी । यद्वा मानवी मनुष्यिणी नेक्षिता न दृष्टा । इयमपि देवतैव नास्याश्चेष्टितं मानवतुल्यं किन्तु परमं श्लाघनीयम् ॥७९॥

**यदस्ति भक्ताय समक्षताप्तिस्तव स्तवः स्वर्गिणि ! सूपकारः ।**
**व्यधायि अस्माभि रहो ललामाशुभक्षणायाञ्जलिरेव सारः ॥८०॥**

**यदस्तीत्यादि**—हे स्वर्गिणि ! देवते ! यद् यस्मात् कारणाद् भक्ताय नाम सेव-कायास्मादृशाय समक्षतायाः साक्षात्कारिताया आप्तिः समुपलब्धिर्यत्र सोऽसौ तव स्तवः

---

**अर्थ**—श्रुति-शास्त्रोंकी रचना जिनके यशसे साक्षर हैं, सार्थकताको प्राप्त हैं अथवा हम लोगोंके कान जिनके यशःश्रवणसे साक्षर हैं, अथवा साक्षल-पासेसे सहित हैं। आज आपके दर्शनसे हमारी दृष्टि क्रीड़ाको प्राप्त हो रही है, अथ च द्यूतक्रीड़ा-पासा फेंकनेकी क्रीड़ा कर रही है और आपका प्रण जीवरक्षा रूप जसवंत है, अतः आपका दर्शन क्या पवित्र पाशकला-द्यूतकीड़ा है ? ॥७८॥

**अर्थ**—जिसकी क्रिया सुरोचिता-देवोंके योग्य अथवा सु-रोचिता-अत्यन्त मनोहर है, ऐसी मेरी यह प्रिया-सुलोचना मरुत्संविदित-देवोंके द्वारा ज्ञात अथवा प्रशस्त वायुसे प्रसिद्ध इस धरातल पर आपके द्वारा प्रमाणित-अत्यन्त सम्मानित हुई है, अतः विमानिनी-विमानवती देवी है, मानवी-मनुष्यिणीरूपसे नहीं देखी गई है, अथवा विमानिनी-मानरहित होकर भी मानवीक्षिता-मानसे देखी गई है, यह विरोध है। परिहार ऊपर किया जा चुका है ॥७९॥

**अर्थ**—अहो देवते ! जिस कारण मुझ जैसे भक्तके लिये साक्षात्कारकी प्राप्ति रूप आपका प्रसङ्ग प्राप्त हुआ, यह एक बड़ा उपकार है। इसीलिये हमने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



प्रस्तावः सूपकारोऽतिशयेनोपकारकरणलक्षणस्ततः पुनरस्माभिः, अस्मै शुभक्षणाय पुण्य-समयाय ललामाञ्जलिरेव सारः कृतः चरणवन्दनार्थं तेऽधुना । अथवा भक्ताय नामौद-नाय सम्यगक्षतानां तण्डुलानामाप्तिर्यतस्तव स्तवः सूपकारो रसवतीकरो वर्ततेऽत एव च पुनरस्माभिर्भक्षणायाशनकरणायाञ्जलिरेव कृतः । अहो इति प्रसक्तिः ॥८०॥

**पत्युक्तिमर्थातिशयेन गुर्वीं धृत्वा कराग्रेण मुदां सदुर्वी ।**
**स्वयं लघुत्वाच्चलनैकदृक्का बभूव सौभाग्यसुमैकसृक्का ॥८१॥**

पत्युक्तिमित्यादि—सौभाग्यसुमैकसृक्का सौभाग्यकुसुमनिर्माणकरी सुलोचना मुदां सदुर्वी प्रसन्नताभूमिः सती, अर्थातिशयेन गुर्वीं गभीरार्थवतीं तत एव वयोवृद्धां च पत्युक्तिं जयकुमारगिरं कराग्रेण धृत्वा हस्तसंयोजनपुरस्सरं श्रुत्वा संवाह्य च पुनः स्वयं लघुत्वाद्विनीतत्वादल्पवयस्कतया च चलनैकदृक्का चरणसन्नीतदृष्टिरभूत् ॥८१॥

**ह्रीविस्मितिस्फातियुजित्रिनद्यां स्नात्वैव वृत्तोत्तमपुष्पभासा ।**
**चक्रे सुनेत्रा पतिदेवतार्चां रदालिक्लृप्ताभिनवांशुका सा ॥८२॥**

ह्रीत्यादि—ह्रीश्च विस्मितिश्च स्फातिश्च ता युनक्तीति तस्यां त्रिनद्यां नदीत्रय-धारायां स्नात्वा रदानां दन्तानामाल्या पङ्क्त्या क्लृप्तं सम्पादितमभिनवमंशुकं रश्मिजालो वस्त्रं च यथा सा सुनेत्रा काशीराजपुत्री वृत्तस्य छन्दस एवोत्तमपुष्पस्य यद्वा वृत्तस्य स्वीकृत-स्योत्तमपुष्पस्य भासा शोभया पतिश्च देवता च तयोर्द्वयोरर्चां चक्रे कृतवती ॥८२॥

---

इस शुभ क्षणके लिये सारभूत सुन्दर अञ्जलि बांधी है, अर्थात् आपने अपने साक्षात्कारका जो अवसर प्रदान किया, उसके लिये मैं हाथ जोड़कर कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

**अर्थान्तर**—भक्ताय-भातके लिये समक्षत-अच्छे चावलोंकी प्राप्ति हुई है। इसलिये सूपकार-रसोइया आपकी स्तुति प्रशंसा करता है और इसीलिये मैंने उसे खानेके लिये शीघ्र ही अञ्जलि बाँध रक्खी है ॥८०॥

**अर्थ**—सौभाग्यरूप पुष्पका निर्माण करने वाली सुलोचनाने प्रसन्नताकी भूमि बन अर्थके अतिशयसे श्रेष्ठ पतिकी वाणीको हाथ जोड़कर सुना और वह स्वयं लघु-नम्र अथवा अल्पवयस्क होनेसे पतिके चरणोंमें संलग्नदृष्टि हो गई ॥८१॥

**अर्थ**—लज्जा, विस्मिति और उदारताके संगम रूप नदीत्रय (त्रिवेणी) में स्नान कर सुलोचनाने छन्दरूपी उत्तम पुष्पोंकी कान्ति और दन्तपंक्तिसे निर्मित नूतन वस्त्रके द्वारा पति और देवताकी पूजा की ॥८२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**आमन्त्रदाना किमु देवताहमहो मदिष्टा किमु देवताह ।**
**मच्चित्तभानामसुदेवतापि त्वं येन लोकेष्विन देवतापि ॥८३॥**

आमन्त्रदानेत्यादि—हे इन ! स्वामिन् ! मदिष्टा देवता किमु तावदाह, आमन्त्रदाना नमस्कारमन्त्रदानतयाऽऽमन्त्रणकर्त्री अहं किमु देवतास्मि ? अहो इत्याश्चर्योच्चारणे । लोकेषु त्रिषु जगत्स्वपि त्वं मच्चित्तभानां मम मनोवृत्तीनाम् असुदेवता प्राणसम्पादनकर्त्री, अपि च पुनरियं देवतापि मम चित्तभा मम चेतसि प्रकाशकर्त्री सुदेवता सूर्यकान्तिसदृशी विद्यते ॥८३॥

**देवीति यासौ नवनीतसम्पत्तयोदियायाभ्युदितानुकम्प !**
**दुग्धस्य धारेव किलाल्पमूल्यस्तत्रानुयोगो मम तक्रतुल्यः ॥८४॥**

देवीत्यादि—हे अभ्युदितानुकम्प ! दयाधारिन् स्वामिन् ! यासौ देवी सा दुग्धस्य धारेव किल नवा च तथा नीता समुपलब्धा सम्पत् तस्या भावस्तयाऽथवा नवनीतस्य म्रक्षणलक्षणस्य सम्पद् यत्र तत्तया वोदियाय । तत्र ममानुयोगः सम्बन्धस्तक्रतुल्योऽल्पमूल्य एव, यथा तक्रसंयोगेन दुग्धस्य दधिपरिणतिर्भूत्वा नवनीतसम्पत्तिकर्त्री स्वयमेव भवति, तथासौ मम निमित्तमात्रेण नमस्कारमन्त्रोपादानेन देवीभावमवाप ॥८४॥

---

**अर्थ**—हे इन ! हे स्वामिन् ! मेरी इष्टदेवता क्या कह रही है, नमस्कार मन्त्र देनेसे क्या मैं आमन्त्रण करने वाली देवी हो गई ? बड़े आश्चर्यकी बात है ? यह देवता तो मेरी मनोवृत्तियोंके लिये **आसुदेवता**—प्राणसंरक्षण करने वाली देवी है, साथ ही **मम चित्तभा नाम सुदेवता**—मेरे चित्तकी दीप्तिरूपी श्रेठ देवता है, अथवा **चित्तमानामिनदेवता**—चित्तके प्रकाशके लिये इनदेवता—सूर्यदेव हैं (इनश्चासौ देवश्चेति इनदेवः, इनदेव एव इनदेवता, स्वार्थे तल्) ॥८२॥

**अर्थ**—हे दयाधारी स्वामिन् ! यह जो देवी है, वह दूधकी धाराके समान नवीन रूपसे प्राप्त सम्पत्तिके रूपमें उदित हुई है, अथवा मक्खनरूप सम्पत्तिके रूपमें उत्पन्न हुई है । इस विषयसे मेरा संयोग तो तक्रके समान अल्पमूल्य है, अर्थात् कोई मूल्य नहीं रखता ।

**भावार्थ**—जिस प्रकार तक्रके संयोगसे दूध दहीरूप होता हुआ स्वयं नवनीत—मक्खन बन जाता है, उसी प्रकार मेरे निमित्तमात्रसे प्राप्त नमस्कार मन्त्रके ग्रहण करनेसे यह देवीपर्यायको प्राप्त हो गई । इसके देवी बननेमें मेरा कुछ मूल्य नहीं है ॥८४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


त्वां मदनमनोहरं व्रजामि यथा तथा कुवलये न यामि ।
किमुपवनश्रियमेनां स्वामिन् परमञ्जरीङ्गितं विदधामि ॥८५॥

त्वामित्यादि—हे स्वामिन् ! कुवलयेऽस्मिन् धरातले यथा त्वां मदन इव कामदेववदथवाम्रवृक्षवत्सरसतासम्पादकतया मनोहरं व्रजामि जानामि, तथा पुनरेनां देवतामपि पवना पुनीता श्रीः शोभा चेष्टा च यस्यास्तां किमु न यामि, यद्वा पुनरुपवनश्रियमेनां किं न यामीति तावत् । अहमपि परं केवलमञ्जलीङ्गितं स्वकीयकरयुगसम्पुटं विदधामि, यद्वा परायाः समुचितायाः मञ्जर्या इङ्गितं विदधामि तव सेवाकरी भवामि । पुनरियं तु सदाधारभूतैवावयोरिति ॥८५॥

त्वदंघ्रियुग्माय ममासनं न कलाब्जयुग्मं भुवि दीयते पुनः ।
न्यगाद्ययुक्तं खलु देव ते क्वचिद्विना ममोरः परमासनं च सत् ॥८६॥

त्वदंघ्रीत्यादि—हे देव ! स्वामिन् ! ते तुभ्यमिति यावत्, तथा हे देवते ! इति च देवतासम्बोधनमपि सम्प्रधार्यम् । त्वदंघ्रियुग्माय तव चरणद्वितयायेदं ममासनं विद्यतेऽमुष्मिन् तिष्ठ तावदिति । न नेत्येवं पुनस्त्रुटिस्मृत्यं कलाब्जयुग्मं करकमलद्वितयमेव भुवि दीयते पुनस्त्वदासनायेति तदेव युक्तम् । पुनरपि त्रुटिस्मरणं कृत्वा वदति, यदुक्तं तदयुक्तं न्यगादि खलु, यतस्तावन्ममोरःस्थलं विना परमन्यदासनं सत्प्रशंसायोग्यं न भवति तदेव तावद्योग्यमस्ति ॥८६॥

सत्सुरतेयं तव सुमनस्त्वं कृत्वा मधुरक्षणैकतत्त्वम् ।
अभ्रमरीतिकरी निगदामि मानवलोकमिमं शिवगामिन् ॥८७॥

---

अर्थ—हे स्वामिन् ! इस धरातल पर मैं जिस प्रकार आपको मदन—कामदेव अथवा आम्रवृक्षके समान मनोहर जान कर प्राप्त हुई हूँ, उसी प्रकार इसे पवनश्री—पवित्र लक्ष्मी अथवा उपवनश्री—उद्यानकी शोभा जानकर क्या प्राप्त नहीं हूँ ? इसीलिये मैं अञ्जलीङ्गितं विदधामि—हाथ जोड़कर नमन करती हूं । अथवा आप आम्रवृक्ष है, यह उपवनकी शोभा है, तो मैं आप दोनोंके आश्रयसे विकसित होनेवाली मञ्जरी हूँ ॥८५॥

अर्थ—हे देव ! हे स्वामिन् ! हे देवते ! प्राणरक्षिके ! आपके चरण-युगलके लिये मेरा आसन ही आसन है, अर्थात् आप मेरे आसन पर पदार्पण कीजिये, अथवा नहीं नहीं, मेरा करकमलयुगल रूप आसन ही पृथिवी पर दिया गया है । अथवा नहीं, गलत कह दिया गया, मेरे वक्षःस्थल (हृदय) के सिवाय दूसरा अच्छा आसन कहां है ? अर्थात् कहीं नहीं ॥८६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**सत्सुरतेत्यादि**—हे शिवगामिन् ! इयं देवता तावत् सत्सुरता सती प्रशंसायोग्या सुरता देवभावो यत्र सा सत्सुरतास्ति। तव च सुमनस्त्वं शोभनमनस्कत्वं देवत्वं च समस्त्येव। अहं पुनरभ्रमरीतिकरी निःसन्देहचेष्टाकारिणीमं मानवलोकं मर्त्यलोकं मधुरक्षणैकतत्त्वं मधुरस्य क्षणस्यैकं तत्त्वं सुखसम्पत्तिर्यत्र तत्स्वर्गं निगदामि। तथा पुनरियं सत्सु सज्जनेषु मध्ये रता वल्लरीरूपा भवति, तव सुमनस्त्वं कुसुमत्वं प्रफुल्लवदनत्वान्निगदामि। भ्रमरीणामलिनीनामीतिकरी बाधाकर्त्री न भवामीति सा पुनरभ्रमरीतिकरीमं भूतलं मधुलक्षणस्य वसन्तस्वरूपस्यैकं तत्त्वं यत्र तदेव वदामि ॥८७॥

**सत्करोमि यत्पदयुगं सन्निधिरयमिह नाम।**
**मम कर्मासन्निर्वृत्तं सममधिगतं ललाम ॥८८॥**

**सत्करोमीत्यादि**—अहं यस्य पदयुगं चरणयुगलं सत्करोमि सेवयामि स सन्निधिरस्माकं निकटवर्ती नामेह सा सन्निधिर्निधानोत्तम इव वर्तते नाम, यतो ममासत्कर्म दुरितं निवृत्तं भवति। ललाम प्रशस्तं कर्म सुकृताख्यं तदिदानीं सममेव सहसैवाधिगतमस्ति, पुण्योदयं विना सत्समागमो न भवतीति। दोहकछन्दः। इदं वृत्तं चतुरात्मकं लिखित्वा 'सत्सङ्गम' इति सर्गनामनिर्देशश्चाराक्षरैर्भवति ॥८८॥

---

**अर्थ**—हे शिवगामिन् ! यह देवी **सत्सुरता**—प्रशंसनीय देवत्वसे सहित है और आपका **सुमनस्त्व**—देवत्व (पक्षमें प्रसन्नमनस्त्व) प्रसिद्ध है ही, ऐसा मान कर सन्देहरहित चेष्टाको करनेवाली मैं इस मानवलोक—मर्त्यलोकको **मधुरक्षणैकतत्त्व**—मनोहर समयरूप अद्वितीय तत्त्वसे युक्त—स्वर्ग कहती हूँ, अर्थात् यह मर्त्यलोक मुझे देव-देवियोंसे युक्त स्वर्ग जैसा लग रहा है।

**अर्थान्तर**—हे शिवगामिन् ! यह देवी **सत्सुरता**—सत्पुरुषोंके बीचमें सुन्दर लता है, आपका **सुमनस्त्व**—पुष्पत्व प्रसिद्ध है ही और में **अभ्रमरीतिकरी**—भ्रमरियोंको बाधा न करनेवाली भ्रमरी हूँ, अतः इस **मानवलोक**—मर्त्यलोक अथवा मा लक्ष्मीसे युक्त नव—नवीन लोकको **मधुरक्षणैकतत्त्व**—मधु-पुष्परसकी रक्षा करना ही जिसका प्रमुख तत्त्व है, अथवा मधुलक्षण—मधु नामसे जो सहित है, ऐसा वसन्त कहती हूँ। लता लहलहा रही है, फूल खिल रहा है, उन पर भ्रमरी मँडरा रही है और लोक—पृथिवी तल शोभासे नित्य नवीन रूप धारण कर रहा है। इसलिये यह ऋतुराज वसन्त ही है, ऐसा मैं कहती हूँ ॥८७॥

**अर्थ**—मैं जिनके चरणयुगलकी सेवा कर रही हूँ, वह यहाँ मेरे लिये समीचीन निधिरूप है। मेरा पाप कर्म दूर हो गया है और पुण्य कर्म शीघ्र ही उदित हुआ है ॥८८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



भक्तानामनुकूलसाधनकरं वीक्ष्यार्हतां संस्तवं
रङ्गत्तुङ्गतरङ्गभृद्घनवने पोतोपमं प्रीतिदम् ।
तस्मिंस्तिग्मकरोदये च न इहास्त्वन्तस्तमोनाशनं
नर्मारम्भकसारमद्भुतगुणं वन्दे सदङ्कं पुनः ॥८९॥

भक्तानामित्यादि—तस्मिन् पूर्वोक्ते तिग्मकरोदये सूर्योदये प्रभातवेलायामर्हतां जिनेन्द्राणां संस्तवं स्तवनरूपमर्चनं वीक्ष्यावलोक्य, कथभूतं संस्तवम् ? भक्तानां भक्तिकराणामनुकूलसाधनकरमुचितसाधनसंयोजकम्, पुनश्च रङ्गतस्तुङ्गान् तरङ्गान् बिभर्ति तथाभूतं यद्घनं गभीरं वनं जलं तत्र पोतोपमं जलयानतुल्यम्, किञ्च प्रीतिदं हर्षप्रदं तं वीक्ष्येह लोके नोऽस्माकमन्तस्तमसो मानसाज्ञानतिमिरस्य नाशनमस्तु भवतु । पुनः नर्मारम्भकसारम् अद्भुता विस्मयकरा अनन्तज्ञानादयो गुणा यस्य तम्, सतां सत्पुरुषाणामङ्कमाभूषणस्वरूपमर्हन्तं वन्दे । अथ च यस्मिन् प्रभातवर्णनानन्तरं जयकुमारकृतगणधरवलयार्चनवर्णनं वर्तते, यस्मिंश्च जयकुमारोपरि सघनजलोपद्रवस्तत्प्रतिकारश्च वर्णितः, यस्मिन् वनक्रीडाजलक्रीडादीनां नर्मणां सुन्दरवर्णनं विद्यते, यस्मिंश्च माधुर्यौजःप्रसादादिगुणाः प्रस्फुटिताः सन्ति, यस्मिंश्च प्रशस्ताः कोमलकान्तपदावलीभूषिता अङ्काः सर्गाः सन्ति, तं जयोदयं वन्दे प्रस्तौमि ॥८९॥

(भरतवन्दनश्चक्रबन्धः)

---

अर्थ—जो भक्तजनोंके लिये अनुकूल साधन जुटाने वाला है, उछलती हुई ऊँची लहरोंसे युक्त अगाध जलमें जलयानके समान है तथा प्रीतिको उत्पन्न करने वाला है, ऐसे अर्हन्त भगवान्के स्तवनको देखकर सूर्योदयके तुल्य उस अर्हत्स्तवनके रहते हुए मेरे अन्तस्तिमिर—मानसिक अन्धकारका नाश हो। अद्भुत गुणोंसे युक्त तथा सत्पुरुषोंके आभूषण स्वरूप उन अर्हन्त भगवान्को पुनः नमस्कार करता हूँ। यहाँ शब्दविन्यासकी महिमासे एक अर्थ यह भी ध्वनित होता है कि जिसमें प्रभात तथा सूर्योदय वर्णनके प्रसङ्गमें जयकुमारके द्वारा गणधरवलयके रूपमें अर्हन्त भगवान्का स्तवन किया गया है, जिसमें गजारूढ हो गङ्गामें विहार करते समय जयकुमार पर चण्डिका देवीके द्वारा भयंकर जलोपद्रव और गङ्गा देवीके द्वारा किये हुए प्रतीकारका वर्णन है, जिसमें सूर्योदय और उपलक्षणसे चन्द्रोदय तथा रात्रि आदिका सुन्दर निरूपण है, जिसमें वनक्रीड़ा, जलक्रीड़ा तथा अन्य क्रीड़ाओंका प्रसङ्गोपात्त वर्णन है, जो श्लेष, प्रसाद तथा माधुर्य आदि गुणोंसे विभूषित है, एवं समीचीन अङ्कों—सर्गोंसे सहित है, ऐसे जयोदय काव्यको मैं प्रस्तुत करता हूँ ॥८९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
वाणीभूषणमस्त्रियं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
सर्गः सम्प्रति याति विंशतितमस्तन्निर्मितेऽस्मिन्नयं
स्फूर्जद्वारितरङ्गिताखिलजगच्चित्तः प्रतीतः स्वयम् ॥९०॥

श्रीमानिति—स्फूर्जंती या वारिः सरस्वती वाक्चातुरी तया तरङ्गितमान्दोलित-मखिलजगतश्चित्तं येन तथाभूत इति सर्गविशेषणम् । शेषं पूर्ववत् ॥९०॥

इति वाणीभूषण-ब्रह्मचारीभूरामलशास्त्रिविरचिते जयोदयमहाकाव्ये
विंशतितमः सर्गः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# एकविंशतितमः सर्गः

**शासनं समुपगम्य भूपतेः पत्तनं प्रति पुनर्विनिर्गतेः ।**
**इत्थमाह समनीकिनीश्वरो गत्वरत्वसमयातिसत्वरः ॥१॥**

शासनमित्यादि—गत्वरस्य गमनशीलस्य यः समयः सिद्धान्तोगमनकरणं तस्मिन्नतिसत्वरः शीघ्रताकरः सन् समनीकिनीश्वरः सेनानायकः स भूपतेर्जयकुमारस्य शासनमाज्ञां समुपगम्य लब्ध्वा, किं तच्छासनम् ? पत्तनं गजपुरं प्रति विनिर्गतेर्गमनकरणस्य स पुनः सेनापतिरित्थं निम्नोक्तमाह । अनुप्रासोऽलङ्कारः ॥१॥

**सज्जिताः सपदि हस्तिसंचयाः स्युश्च कश्यकुथसंयुता हयाः ।**
**युग्यसंयुतयुगा अथो रथा गन्तुमाग्रहधराः सता पथा ॥२॥**

सज्जिता इत्यादि—सता पथा समीचीनमार्गेण गन्तुमाग्रहधराः सपदि हस्तिसंचयाः सज्जिता घण्टादिभिरलंकृताः स्युः, कश्यकुथेन पृष्ठासनेन संयुता हयाः स्युः, युग्याभ्यां युगं धर्तुं योग्याभ्यां हयाभ्यां संयुतानि युगानि येषां ते रथाः स्युर्भवेयुः । अथो सुभगसंवादसूचने । आद्यक्रिया दीपकालंकारः ॥२॥

**सर्व एव कटिबद्धतामति सद्य एव निजपत्तनं प्रति ।**
**यान्तु सम्प्रति हि गम्यते विभोर्जायते समववाद एष भोः ॥३॥**

सर्व इत्यादि—सर्वे जना एवातिसद्यः शीघ्रमेव निजपत्तनं हास्तिनागपुरं प्रति कटिबद्धतां यान्तु गमनायोद्यताः सन्तु । भो लोकाः शृणुत, सम्प्रति हि गम्यते । विभोः स्वामिन एष एव समवादः समाचारो जायते ॥३॥

---

अर्थ—गतिशील मनुष्यके गमनरूप सिद्धान्तमें शीघ्रता करनेवाले सेनापतिने 'हस्तिनापुरकी ओर चलो' इस प्रकार राजा जयकुमारकी आज्ञा पाकर उनसे इस प्रकार कहा ॥१॥

अर्थ—समीचीन मार्गसे चलनेके लिये उतावली करनेवाले हाथियोंके समूह शीघ्र ही सजाये जावें, घोड़े पलानसे सहित किये जावें और रथ समर्थ–शक्तिशाली घोड़ोंसे युक्त किये जावें ॥२॥

अर्थ—अरे लोगों ! सुनो, अपने नगर हस्तिनागपुरकी ओर चलनेके लिये सभी लोग बहुत शीघ्र कटिबद्धताको प्राप्त होओ, कमर कसकर तैयार होओ । अभी चलना है, यह स्वामीका आदेश है ॥३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



प्रस्फुरत्तरमुदङ्कुरश्रियं वर्मितुं वपुरनल्पसत्क्रियम् ।
अद्‌भुता ननु जनेष्वभूत् त्वरा निर्गमक्षणसदेशतत्परा ॥४॥

प्रस्फुरत्तरमित्यादि—ननु तदा जनेषु प्रस्फुरत्तराणां समुद्भवतां मुदङ्कुराणां हर्ष-संजातरोमाञ्चानां श्रीः शोभा यत्र तत् यद् निजीयं वपुः शरीरम्, कीदृशं तच्छरीरम् ? अनल्पा बहुप्रकारा सत्क्रिया सज्जीकरणवृत्तिर्यत्र तत्, वर्मितुं कवचितं कर्तुं निर्गमक्षणः प्रयाणसमयस्तस्य सदेशस्समीपभावस्तत्र तत्परा तल्लीनाऽद्‌भुताऽभूतपूर्वा त्वरा शीघ्रताऽभूत् ॥४॥

आव्रजत्यतिजवेन पत्तनं मा विचारमिह यान्तु किञ्चन ।
ग्रीवया लुलितया मुदं वहन्निर्ययावपि महाङ्गसंग्रहः ॥५॥

आव्रजतीत्यादि—हे लोकाः ! पत्तनं नगरमतिजवेन सद्य एवाव्रजति किलेह किंचन विचारं मा यान्तु कुर्वन्त्विति किल संवदन् निजया लुलितया मुहुश्चलया ग्रीवयाऽथ च मुदं वहन् महाङ्गानामुष्ट्राणां संग्रहः समूहो निर्ययौ ॥५॥

स्यन्दनं समधिरुह्य नायकः कौतुकाशुगसुरूपकायकः ।
प्रीतिसूः सुमृदुरूपिणी प्रिया स प्रतस्थ उचितादरस्तया ॥ ६ ॥

स्यन्दनमित्यादि—नायको जयकुमारः स कौतुकाशुगेन कामदेवेन पुष्पबाणेन सुरूपस्तुल्यः कायो यस्य सः, तस्य प्रिया सुलोचना च प्रीतिसूः प्रेमसमुत्पादिका रतिर्वा सुमृदुरूपिणी कोमलरूपधारिणी । तया सह स्यन्दनं रथं समधिरुह्योचितादरः समुपलब्धादरभावः सन् प्रतस्थे प्रस्थानं चकारेत्युपमा ॥६॥

---

अर्थ—जिसमें अत्यधिक मात्रामें प्रकट होनेवाले रोमाञ्चोंकी शोभा विद्यमान् है तथा जिसे अनेक प्रकारसे सुसज्जित किया गया है, ऐसे अपने शरीरको कवचयुक्त करनेके लिये मनुष्योंमें प्रस्थानकाल पूर्व ही अभूतपूर्व उतावली हुई थी ॥४॥

अर्थ—हे लोगों ! हस्तिनापुर नगर शीघ्र ही आ रहा है, इसमें आप कुछ भी विचार न करें, इस तरह चञ्चल ग्रीवासे कहता और हर्षको धारण करता हुआ ऊँटोंका समूह निकला ॥५॥

अर्थ—नायक जयकुमार कामदेवके समान शरीरसे सहित थे और कोमलांगी प्रिया-सुलोचना प्रीतिको उत्पन्न करने वाली रति थी । इस प्रकार जयकुमारने सुलोचनाके साथ रथपर आरूढ होकर आदर भावसे प्रस्थान किया ॥६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**स्पर्द्धितापि पुनरग्रगामिता-सन्नियोगविषये मिथो रसात् ।**
**तद्रथस्य च मनोरथस्य चानन्यवेगिन इहाविराप सा ॥७॥**

स्पर्द्धितापीत्यादि—इहानन्यवेगिनोऽन्यातिशायिवेगवतस्तद्रथस्य जयकुमारारूढ-रथस्य मनोरथस्य च मिथः परस्परं पुनरग्रगामितासन्नियोगविषये किलावयोः कोऽग्रे गन्तुं समर्थ इत्येवंरूपा सा स्पर्द्धितापि रसात् स्वस्वबलवशादाविराय समुद्बभूव ॥७॥

**मत्स्यकैरपि वराशयः समाः सत्तरङ्गतरलास्तुरङ्गमाः ।**
**सामजा हि मकरानुकारिणः सैन्यसागर इहाभिसारिणः ॥८॥**

मत्स्यकैरित्यादि—इह सैन्यसागरे सेनारूपसमुद्रेऽभिसारिणो गमनशीलाः वराशयः खड्गास्तेऽपि तु मत्स्यकैर्मीनैः समास्तथा ये तुरङ्गमा घोटकास्ते समीचीनास्तरङ्गा इव तरलाश्चञ्चलास्तथा सामजा हस्तिनस्ते हि मकरानुकारिणो नक्रसदृशा बभूवुरिति रूपकालङ्कारः ॥८॥

**राजते हि जगती रजस्वलाऽमी ततोऽथ तुरगाः सुपेशलाः ।**
**स्मास्पृशन्त इति यान्ति कश्मलाद्भीतिमन्त इव तावदुत्कलाः ॥९॥**

राजत इत्यादि—तावदियं जगती भूमिः स्त्रीलिङ्गात् काचित् स्त्री वा होति निश्चयेन रजस्वला रेणुबहुला मासिकधर्मवती च राजतेऽत्र, ततो हेतुनोऽमी स्वमनीषागम्याः सुपेशलाः सुन्दररूपधारिणस्तुरगा घोटकाः कश्मलात्पापाद् भीतिमन्त इव किलोत्कला व्याकुला भवन्त इति तामस्पृशन्तो यान्ति स्मेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥९॥

**मार्गमस्तमयितुं तुरङ्गमाः शीघ्रमेव मरुतो द्रुतंगमाः ।**
**उद्गिरन्त इव तुण्डतः क्षुरांश्चेलुरत्र तु परास्तमुर्मुराः ॥१०॥**

---

**अर्थ**—अतिशय वेगशाली जयकुमारका रथ और मनोरथ इन दोनोंके बीच, देखें कौन आगे जाता है, इस विषयको लेकर अपने अपने बलके अनुसार स्पर्धा प्रकट हुई थी। भाव यह है कि जिस प्रकार रथ शीघ्रतासे आगे जा रहा था, उसी प्रकार शीघ्र पहुँचनेका मनोरथ भी आगे बढ़ रहा था ॥७॥

**अर्थ**—इस सेनारूपी समुद्रमें चलने वाले जो गेंड़े थे, वे मच्छोंके समान थे, जो घोड़े थे वे चंचल तरंगोंके समान और जो हाथी थे वे मगरोंके समान थे ॥८॥

**अर्थ**—घोड़े उछलते हुए जा रहे थे, उससे ऐसा जान पड़ता था मानो ये रजस्वला–धूलिसे युक्त (पक्षमें मासिक धर्मसे सहित) जगती–पृथिवी (पक्षमें किसी स्त्री) को पापके भयसे न छूते हुए व्याकुल भावसे जा रहे थे ॥९॥



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मार्गमित्यादि—मरुतो द्रुतंगमा वातादपि शीघ्रगामिनस्तुरङ्गमा हयास्ते शीघ्रमेव मार्गमस्तमयितुं समाप्तिं नेतुं किलात्र परास्ताः पराभवं नीता मुर्मुराः सूर्याश्वा यैस्ते तुण्डतो मुखात् क्षुरान् शफानुद्गिरन्तः समुद्वमन्त इव चेलुः प्रजग्मुः। 'मुर्मुरः सूर्यतुरगे तुषवह्नौ च मन्मथे' इति विश्वलोचने। उत्प्रेक्षालंकारः ॥१०॥

**कुर्वतीव हि खलीनकर्षणं सोढुमक्षमतया निधर्षणम्।**
**सत्तुरङ्गमगणः स्म धावति स्वामिनि स्वयमयं लसद्गतिः ॥११॥**

कुर्वतीवेत्यादि—स्वयमेव सहजेनैव लसन्ती शोभना गतिर्यस्य स सत्तुरङ्गमानां हयानां गणः स्वामिन्यश्वारोहे खलीनस्य कविकायाः कर्षणं कुर्वतीव हि निधर्षणं स्वावज्ञां सोढुमक्षमतयाऽसमर्थभावेन किल तत्कालमेव धावति स्म दधावेत्युत्प्रेक्षा-लंकारः ॥११॥

**पादिनामतिजवेन गच्छतां तेच्छदा इव तदा गरुत्मताम्।**
**रेजिरे भुवि भुजा निरन्तरं संचलन्त उचिता इतादरम् ॥१२॥**

पादिनामित्यादि—तदातिजवेन गच्छतां पादिनां पद्गानां भुजा बाहव उचिताः प्रस्पष्टाकारा इतः प्राप्त आदरो रुचिभावो यत्र तद् यथा स्यात्तथा निरन्तरमेव सञ्च-लन्तस्ते भुवि पृथिव्यां गरुत्मतां पक्षिणां छदाः पक्षा इव रेजिरे चेत्युत्प्रेक्षा ॥१२॥

**अध्वकर्तनविवर्तविग्रहास्तेऽपि वर्द्धितपरस्परस्पृहाः।**
**शीघ्रमेव गमनश्रमंसहाः पत्तयो ययुरमी समुन्महाः ॥१३॥**

अध्वेत्यादि—अध्वनो मार्गस्य कर्तनं व्यत्ययनं तस्य विवर्तं पर्याय एव विग्रहो येषां

---

अर्थ—जो वायुसे भी अधिक शीघ्रगामी थे तथा शीघ्र ही मार्गको समाप्त करनेके लिये जिन्होंने सूर्यके घोड़ोंको परास्त कर दिया था, ऐसे घोड़े यहाँ मुखसे खुरोंको उगलते हुएके समान चल रहे थे ॥१०॥

अर्थ—स्वयं ही-विना प्रेरणा ही अच्छी गतिसे चलने वाला घोड़ोंका समूह स्वामीके लगाम खींचते ही दौड़ने लगा था, इससे ऐसा जान पड़ता था मानों वह लगाम खींचने रूप तिरस्कारको सहन करनेके लिये समर्थ न होनेके कारण ही शीघ्र दौड़ रहा था ॥११॥

अर्थ—उस समय तीव्र वेगसे चलने वाले पैदल सैनिकोंकी आदर-रुचिपूर्वक निरन्तर चलती हुई भुजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं, मानों पृथिवी पर चलने वाले पक्षियोंके पर ही हों ॥१२॥

अर्थ—जिनके शरीर मार्ग काटनेके पर्याय स्वरूप थे, जो मार्गकी थकावट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



ते तथा गमनस्य श्रमं सहन्ते ते गमनश्रमंसहास्तथा र्वाद्धता परस्परं स्पृहा स्पर्द्धा येषां ते, तथा समुद् हर्षसहितो महः समुत्साहो येषां तेऽमी पत्तयः पदातयः शीघ्रमेव ययुर्गमनं चक्रुः । 'महउत्सव तेजसोः' इति विश्वलोचने ॥१३॥

**सचचमूक्रमसमुच्चलद्रजोव्याजतो व्रजति सा स्म भूभुजः ।**
**नीरुजोऽस्य विरहासहा सती पृष्ठतो वसुमतीव सम्प्रति ॥१४॥**

सचचमूक्रमेत्यादि—सम्प्रत्यधुनाऽस्य नीरुजो रोगरहितस्य भूभुजो विरहासहा वियोगमसहमाना सती साऽसौ वसुमती धरणीव किल सती या चमूः सेना तस्याः क्रमाश्चरणास्तैः समुच्चल दुद्गच्छद् यद्रजस्तस्य व्याजतो मिषात् पृष्ठतो व्रजति स्म । अपह्नुतिरुत्प्रेक्षा वालङ्कारः ॥१४॥

**वायुवर्त्मनि चलन्त्यसौ बलात् केतुपंक्तिरुडुपांशुनिर्मला ।**
**तस्य कीर्तिलतिका स्म राजते वर्द्धमानकतया महीपतेः ॥१५॥**

वायुवर्त्मनीत्यादि—वायुवर्त्मनि गगने बलाद्वायुप्रभावाच्चलन्ती या किलोडुपस्य चन्द्रमसोंऽशुवत्किरणसमूहवन्निर्मला स्वच्छा केतुपंक्तिः पताकाततिः, सा तस्य महीपतेर्जयकुमारस्य वर्द्धमानकतयोत्तरोत्तरप्रसरणरूपेण कीर्तिलतैव कीर्तिलतिका सैव राजते स्मेत्यपह्नुत्यलंकारः ॥१५॥

**भूरिशोऽगुरुविलेपनश्रियं सन्दिशत्किल दिशामतिप्रियम् ।**
**खातमर्वचरणैर्नभस्यदः संजगाम जगतीरजः पदम् ॥१६॥**

भूरिश इत्यादि—अर्वतां हयानां चरणैः खातमुत्कोचितं यज्जगतीरजस्तत् किल दिशां पूर्वादीनां भूरिशोऽगुरुविलेपनस्य श्रियं शोभां सन्दिशत् सद् अदोऽमुके नभसि गगनेऽतिप्रियं पदं संजगाम ॥१६॥

---

सहन करनेमें समर्थ थे, जिन्होंने आगे बढ़नेको परस्पर शर्त बांध रक्खी थी तथा जो हर्ष और उत्साहसे सहित थे, ऐसे ये पैदल सैनिक शीघ्र चल रहे थे ॥१३॥

**अर्थ**—इस समय सेनाके पदाघातसे जो धूलि उड़ रही थी, उससे ऐसा जान पड़ता था मानों नीरोग राजाके विरहको सहन करनेमें असमर्थ होती हुई पृथिवी ही धूलिके बहाने पीछे चल रही हो ॥१४॥

**अर्थ**—आकाशमें वायुके प्रभावसे फहराती चन्द्रमाकी कान्तिके समान निर्मल ध्वजाओंकी जो पङ्क्ति सुशोभित हो रही थी, वह राजा जयकुमारकी दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई कीर्तिलता ही थी ॥१५॥

**अर्थ**—घोड़ोंकी टापोंसे खुदी हुई जो पृथिवीकी धूलि थी, वह पूर्वादि दिशाओंके अगुरु चन्दनसे निर्मित गाढ़ विलेपनकी शोभाको प्रकट करती हुई आकाशमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**साङ्कुशं स च तिरो वहन् शिरः संप्रसारितकरो वशां पुरः ।**
**संगतां प्रतिनिवेदितुं गजः शीघ्रमर्दितसृणिग्रहोऽव्रजत् ॥१७॥**

साङ्कुशमित्यादि—गजो हस्ती स पुरः संमुखमेव संगतां वशां हस्तिनीं प्रतिनिवेदितुं संभालयितुं संप्रसारितकरः समुत्स्फालितशुण्डादण्डः शीघ्रमेवार्दितो निरादरीकृतः सृणेरङ्कुशस्य ग्रहोऽभिप्रायो येन स साङ्कुशं शिरस्तिरोवहन् सन्नव्रजत् चचाल ॥१७॥

**खादति स्म सरसं समीहया केनचिन्निजजनप्रतीक्षया ।**
**सादिनैव सरणौ मुहुर्धृतः सान्द्रमुष्ट्रकयुवेदमग्रतः ॥१८॥**

खादतीत्यादि—कोऽप्युष्ट्रकयुवा केनचित्सादिनैव निजजनस्य प्रतीक्षया हेतुना सरणौ मार्गमध्य एव मुहुर्धृत उपस्थापितस्सन् समीहया सम्यगिच्छयाऽग्रतः सम्प्राप्तं सान्द्रं सरसं वस्तु खादति स्म चखाद । जात्यलङ्कारः ॥१८॥

**लाघवप्रतिमितक्रियाजपिन् स्फालनानुकृतलालनानपि ।**
**अश्विनोऽधिरुरुहुर्हयान् स्वयं वङ्क्षणोऽङ्कितसवल्गपाणयः ॥१९॥**

लाघवेत्यादि—हे लाघवेन सौन्दर्येण प्रतिमितौ संयुतौ क्रियाजपौ यस्य तस्य सम्बोधनम् । तत्राश्विनोऽश्वारोहा जनाः स्वयमात्मनैव वङ्क्षणः पर्याणस्योपरि अङ्कितः स्थापितः सवल्गः खलीनसहितः पाणिर्हस्तो यैस्ते स्फालनेनाश्वासदानेनानुकृतं लालनं सम्भालनं येषां तान् हयानधिरुरुहुः ॥१९॥

---

प्रिय स्थानको प्राप्त हुई थी ॥१६॥

**अर्थ**—सामने आयी हुई हस्तिनीको सँभालने—उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करनेके लिये जिसने अपनी सूंड़को फैलाया है तथा जिसने अंकुशके प्रहारकी शीघ्र ही उपेक्षा कर दी है, ऐसा हाथी अङ्कुश लगे शिरको तिरछा करता हुआ जा रहा था ॥१७॥

**अर्थ**—अपने साथीकी प्रतीक्षामें किसी सवारके द्वारा मार्गमें बार बार रोका गया, खड़ा किया गया तरुण ऊँट सामने आयी सरस वस्तुको रुचिपूर्वक खा रहा था ॥१८॥

**अर्थ**—जिसकी क्रिया और जप—एकाग्रता सौन्दर्यसे सहित है, ऐसे हे प्रिय पाठक ! पीठ तथा मुख आदि पर हाथ फेरनेसे जिनके साथ प्यार प्रकट किया गया है, ऐसे घोड़ों पर सवारी करने वाले लोग, पलान पर लगाम सहित हाथ रखते हुए स्वयं ही—दूसरोंकी सहायताके बिना ही आरूढ़ हुए थे ।

**भावार्थ**—घोड़ों पर आरूढ होने वाले लोगोंने पहले उनके शरीर पर हाथ फेर कर प्रेम प्रदर्शित किया, लगाम हाथमें ली और लगाम सहित हाथको उनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**एक आप नवयोदरश्रिया शोभनाममलनाभिचक्रया ।**
**गन्तुमेव सुखतो रथस्थितिमात्मवानविधुरां वधूमिति ॥२०॥**

एक इत्यादि—एकः कश्चिदात्मवान् विचारचतुरः सुखतो गन्तुमेव वधूमिति रथस्थितिमाप । यतोऽमला निर्दोषा नाभिश्चक्रमध्यवृत्तिर्येषां तानि चक्राणि यस्यास्तथा अमलं नाभिचक्रं तुण्डीमण्डलं यत्र तया नवया नवीनया, उदितिसमुदितानामराणां श्रीर्यस्याः, तथोदरस्य श्रिया शोभनां तथाऽविधुरां धुराया दोषेण रहितां पक्षे सौभाग्यवतीमिति किलोपमालङ्कारः ॥२०॥

**सादिनो नहि दधुर्दवीयसे यावदासनकमध्वविप्रुषे ।**
**व्युत्थिता द्रुतमसह्यरंहसश्चेलुराशु करभाः सहस्रशः ॥२१॥**

सादिन इति—सादिन आरोहणकारिणो जना दवीयसे सुदीर्घायाध्वविप्रुषे मार्गलेशाय यावदासनकमपि नहि दधुस्तावदेवासह्यरंहसः समधिकवेगशालिनः सहस्रशो बहुसंख्याकाः करभा उष्ट्रा द्रुतमेव व्युत्थिताः सन्त आशु चेलुरभिजग्मुः ॥२१॥

**चापलात् समुदधूलयन् दिशः सैन्धवास्तु चरणैः सदा स्तुताः ।**
**भद्रभाववशतः स्म कारणात् स्नापयन्ति मदनिर्झरैस्तु ताः ॥२२॥**

चापलादित्यादि—तत्र चरणैः स्तुताः प्रशंसनीया अपि सैन्धवाहयास्ते तु चापलाच्चपलतावशात् किल दिशः समुदधूलयन्, किन्तु वारणा गजास्ते भद्रभाववशत एव किल तत्र मदनिर्झरैः स्नपयन्ति स्म । स्नापयन्ति, स्नपयन्तीति द्विविधाः प्रयोगा दृश्यन्ते ॥२२॥

---

पलान पर रख उछल कर सवारी की ॥१९॥

**अर्थ**—कोई एक कुशल सुभट सुखसे गमन करनेके लिये स्त्रीके समान रथकी सवारीको प्राप्त हुआ । यहाँ रथस्थिति और स्त्रीका श्लिष्ट विशेषणोंसे सादृश्य प्रकट किया गया है । स्त्री निर्मल नाभिमण्डलसे युक्त नवीन उदरश्री–पेटकी शोभासे सहित थी और रथस्थिति निर्मल छिद्र वाले पहियोंसे युक्त नवीन अरों–चक्रदण्डों की शोभा से सहित थी । स्त्री अविधुरा–सौभाग्यवती थी और रथस्थिति धुराके दोषसे रहित थी ॥२०॥

**अर्थ**—सवार होने वाले लोग जब तक दूरवर्ती पड़ावके लिये आसन नहीं दे पाये कि शीघ्रगामी हजारों ऊँट उठकर शीघ्र ही चलने लगे ॥२१॥

**अर्थ**—उस समय चरणोंसे प्रशंसनीय घोड़े चपलतावश दिशाओंको धूलि युक्त कर रहे थे और हाथी भद्रभाव–सज्जनताके वश उन्हें मदके निर्झरनोंसे नहला रहे थे ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**आगतोपकृतये विचारिभिर्जन्मनश्च सफलत्वकारिभिः ।**
**शाखिभिः स सुखमाप तत्त्वतः श्रीजयो मृदुलपल्लवत्वतः ॥२३॥**

**आगतेत्यादि**—अथ स श्रीजयो नाम राजाऽऽगतस्यातिथेरुपकृतये विचारिभिः पक्षिप्रचारयुतैराचारधारिभिर्वा मृदुपल्लवत्वतः कोमलपत्रयुतत्वतो मृदुभाषित्वतश्च जन्मनः सफलकारिभिः शाखिभिर्वृक्षैः सम्बन्धिजनैर्वा तत्त्वतः सद्भावतः सुखमाप प्राप्तवानिति समासोक्तिः ॥२३॥

**स्यन्दनैरपि हरिद्भिरङ्कितं धन्विभिर्यदुत खड्गिभिर्मितम् ।**
**कक्षमात्मपरिणामवत्सलं दारुणोदितमवाप सद्बलम् ॥२४॥**

**स्यन्दनैरित्यादि**—सतो जयकुमारस्य बलं सैन्यं तदात्मपरिणामेन तुल्यभावेन वत्सलं प्रियं कक्षं वनमवाप, यतः कक्षमपि स्यन्दनैस्तिनिशवृक्षैर्बलं स्यन्दनैः कक्षं स्यन्दनैः रथैः कक्षं हरिद्भिस्तृणैः बलं हरिद्भिरश्वैः, कक्षं धन्विभिरर्जुनवृक्षै बलं धनुर्धारिभिः अङ्कितं सहितं कक्षं खड्गिभिः 'गेंडा' इति प्रसिद्धवन्यप्राणिभिः, बलं खड्गिभिः कृपाणधारिभिः मितं प्राप्तं युक्तमिति यावत् । किञ्च, कक्षं दारुणा काष्ठैरुचितं परिपूर्णम्, जातित्वादेकवचनम्, बलं दारुणे कठिनकार्ये उचितमभ्यस्तमित्युपमा ॥२४॥

---

**अर्थ**—श्री राजा जयकुमारने अभ्यागत-अतिथिके उपकारके लिये तत्पर, विचारिभिः-पक्षियोंके संचारसे युक्त तथा जन्मको सफल-फलसहित करने वाले शाखिभिः-वृक्षोंके द्वारा उनके मृदुपल्लवत्वतः-कोमल पत्तोंसे युक्त होनेके कारण सचमुच ही सुख प्राप्त किया था, अर्थात् मार्गमें आनेवाले हरे भरे फले-फूले छायादार वृक्षोंसे जयकुमारने हर्षका अनुभव किया था ।

**अर्थान्तर**—अतिथि सरकारका अभिप्राय रखने वाले एवं जन्मकी सार्थकता करने वाले शाखिभिः-सम्बन्धी जनोंसे राजा जयकुमारने उनके कोमल वार्तालापके कारण वास्तविक सुखको प्राप्त किया था । भाव यह है कि सदा परोपकारमें तत्पर रहने वाले सहभागी सम्बन्धियोंके मधुर वार्तालापसे जयकुमारने सुखका अनुभव किया था ॥२३॥

**अर्थ**—जयकुमारकी सेना जिस वनको प्राप्त हुई थी, वह अपनी समानताके कारण उसे बहुत प्रिय था । दोनोंमें समानता इस प्रकार है— वन **स्यन्दन**-तिनिश वृक्षोंसे सहित था और सेना **स्यन्दन**-रथोंसे सहित थी । वह **हरित्**-तृणोंसे सहित था और सेना **हरित्**-घोड़ोंसे सहित थी । वन **धन्वि**-अर्जुन (कीहा)के वृक्षोंसे सहित था और सेना **धन्वि**-धनुर्धारियोंसे सहित थी । वन **खड्गि**-गेंड़ा हाथियोंसे सहित था और सेना **खड्गि**-कृपाणधारी सैनिकोंसे सहित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

**दृष्टिमेष परितः प्रसारयन्नित्युदीर्य गुणितां च धारयन् ।**
**वाचमाचरितचापलो व्यभाद् भूपतिश्च रमयन् स्ववल्लभाम् ॥२५॥**

दृष्टिमित्यादि—एष भूपतिर्जयकुमारः स परितो दृष्टिं प्रसारयन् गुणितां गुणयुक्ततां धारयन् सन् आचरितं चापलं विनोदार्थं चाञ्चल्यं येन तथाभूतः सन् वाच वाणीमिति निम्नाङ्कितामुदीर्य स्ववल्लभां सुलोचनां रमयन्नानन्दितां कुर्वन् व्यभात् सम्बभौ ॥२५॥

**हे सुकेशि करहाटसंयुतं सर्वतोऽलिपकपूरपूरितम् ।**
**त्रोटिमत्सर इवेदमञ्चितं सेचनादिभिरपेक्षिणां हितम् ॥२६॥**

हे सुकेशीत्यादि—हे सुकेशि ! इदं वनं सरो जलस्थानमिवापेक्षिणां जनानां हितं सुखदमस्ति यत्तद् इदं करहाटैः[1] शल्यद्रुमैः पक्षे कमलकन्दैः संयुतमस्ति । तथाऽलिपकाः[2] पिकाः पक्षे भ्रमरास्तेषां पूरेण समूहेन पूरितमस्ति । तथा त्रोटिमच्च[3] कट्फलैर्युक्तमपि क्षुद्रमीनभरितम् । तथा सर्वतः रोचनः[4] कूटशाल्मलिवृक्षः पक्षे रक्तकमलं तदादिभिरप्यन्वितमित्युपमालंकारः ॥२६॥

---

थी । वन **दारुणोचित**—काष्ठसे परिपूर्ण था और सेना **दारुणोचित**—कठिन कार्योंमें अभ्यस्त थी ॥२४॥

**अर्थ**—यह राजा जयकुमार सब ओर दृष्टि फैलाते गुणसहितताको धारण करते, चञ्चलताको स्वीकार करते और निम्नाङ्कित वचन कहकर अपनी प्रिया—सुलोचनाको प्रसन्न करते हुए अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ॥२५॥

**अर्थ**—हे सुन्दर केशोंवाली प्रिये ! यह वन अपेक्षा करनेवाले मनुष्योंके लिये सरोवरके समान हितकारक है, क्योंकि जिस प्रकार सरोवर **करहाट**—कमलकी जड़ोंसे सहित होता है, उसी प्रकार यह वन भी **करहाट**—शल्य वृक्षोंसे सहित है । जिस प्रकार सरोवर **अलिपक**—भ्रमरोंके समूहसे पूरित रहता है, उसी प्रकार यह वन **अलिपक**—कोयलोंके समूहसे पूरित है । जिस प्रकार सरोवर **त्रोटिमत्**—क्षुद्र मछलियोंसे सहित होता है, उसी प्रकार यह वन भी **त्रोटिमत्**—कट्फल (कायफल)से सहित है और जिस प्रकार सरोवर **रोचन**—लाल कमल आदिसे सहित होता है, उसी प्रकार यह वन भी **रोचन**—कूटशाल्मलि आदि वृक्षोंसे सहित है ॥२६॥

---

१. करहाटोऽब्जकन्देऽपि शल्यद्रौ कुसुमान्तरे । इति विश्वलोचनः ।
२. पिकेऽलिपकस्तु स्यात्पिकालिरतहिण्डके । „
३. त्रोटिः स्त्रीचञ्चुमीनकट्फले । „
४. रोचनो रक्तकह्लारे कूटशाल्मलिशाखिनि । „

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



राजते यदतिमुक्तमन्मथासार उद्यदनुबन्धमोचकः ।
प्राणकप्रतिहितो यतीन्द्रवत् कक्षबन्ध इह तन्वि ! रोचकः ॥२७॥

राजत इत्यादि—हे तन्वि ! कक्षबन्धोऽयं वनप्रदेशः, इह यतीन्द्रवद्राजते । यद्यस्मात्कारणादसौ [1]अतिमुक्तस्तिनिशवृक्षो वासन्तीलता वा, [2]मन्मथः कपित्थ इत्येवमादीनामासारः समाहारो यत्र, पक्षेऽतिमुक्तः परित्यक्तो मन्मथस्य कामस्यासारः प्रभावो येन सः । तथोद्यन्स्फुरणशीलोऽनुबन्धो मूलभागो यस्यैतादृशो [3]मोचकः शिग्रुवृक्षो यत्र स, पक्षेऽनुबन्धो दोषाणामुत्पादनं तस्य मोचकस्त्यजनशीलः । [4]प्राणको जीवकद्रुमस्तस्य पक्षे प्राणकस्य जीवमात्रस्य प्रतिहितो हितकरः । रोचको रुचिकर इत्युपमा ॥२७॥

देववृन्दमहितो विराजते राजते च मुनिसंघसेवितः ।
नव्यभव्यनिवहैरुपासितो दृश्यते जिन इवेष्टिमानितः ॥२८॥

देववृन्देत्यादि—तथासौ कक्षबन्ध इतो जिनो भगवानिवेष्टिमान् समीहाविषयोऽस्ति । यतो देवानां देवदारुणां पक्षे शक्रादीनां वृन्देन महितो मानितो विराजते । तथा

---

अर्थ—हे तन्वि ! यह **कक्षबन्ध**—वन प्रदेश, **यतीन्द्रवत्**—मुनिराजके समान सुशोभित हो रहा है, क्योंकि जिस प्रकार यह वनप्रदेश **अतिमुक्तमन्मथासार**—तिनिशवृक्ष अथवा वासन्ती लता और कैंथा आदिके समूहसे सहित है, उसी प्रकार मुनिराज भी **अतिमुक्तमन्मथासार**—कामदेवके प्रभावसे रहित होते हैं। जिस प्रकार यह वनप्रदेश **उद्यदनुबन्धमोचक**—अंकुर उत्पन्न करनेवाले शिग्रुवृक्षसे सहित है, उसी प्रकार मुनिराज भी **उद्यदनुबन्धमोचक**—दोषोत्पत्तिको छोड़ने वाले हैं। जिस प्रकार यह वन प्रदेश **प्राणकप्रतिहित**—जीवक वृक्षसे हितकारी है, उसी प्रकार मुनिराज भी **प्राणकप्रतिहित**—प्राणीमात्रका हित करनेवाले हैं और जिस प्रकार वनप्रदेश **रोचक**—रुचिकर—सुन्दर है, उसी प्रकार मुनिराज भी **रोचक**—मोक्षमार्गमें रुचि बढ़ाने वाले हैं ॥२७॥

अर्थ—इस ओर यह वनप्रदेश जिनेन्द्र भगवान्‌के समान **इष्टिमान्**—इच्छाका विषय है, क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् **देववृन्दवन्दित**—इन्द्रादि देवोंके समूहसे नमस्कृत है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **देववृन्दवन्दित**—देवदारु

---

१. अतिमुक्तस्तु वासन्त्यां तिनिशे निष्फले त्रिषु ।
२. मन्मथः कामचिन्तायां कामदेवकपित्थयोः ।
३. मोचकः कदलीतरौ । तत्प्रसूनेऽपि शिग्रौ च निर्मोचकविरागिणोः ।
४. प्राणकः सत्त्वजातीये बोलके जीवकद्रुमे । सर्वत्र विश्वलोचनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मुनीनां प्रियालागस्त्यादिवृक्षाणां पक्षे वाचंयमानां संघेन सेवितः। नव्यानां भव्यानां कर्मरङ्गतरूणां पक्षे मुमुक्षूणां निवहैः समूहैरुपासितोऽपि दृश्यते। 'मुनिर्वाचंयमे बुद्धे प्रियालागस्त्यकिंशुके', 'कर्मरङ्गतरौ भव्यः' इति च विश्वलोचने। उपमालङ्कारः ॥२८॥

**विक्रमातिशयसंयुतो धनुर्बाणसंहतिसमन्वितः स्वयम्।**
**गौरि ! सज्जकवचप्रसाधनः प्रौढशूर इव राजतेऽप्ययम् ॥२९॥**

विक्रमेत्यादि—हे गौरि ! अप्ययं प्रौढशूर इव राजते। यतोऽसौ स्वयं वीनां पक्षिणां क्रमस्य परिपाट्याः, पक्षे विक्रमस्य सहजपराक्रमस्यातिशयेन संयुतः। धनुषां प्रियालानां बाणानां च वृक्षाणां, पक्षे धनुषां चापानां शराणां संहत्या गणेन समन्वितो युक्तः। सज्जानां सुन्दराणां कवचानां हरीतकीवृक्षाणां, पक्षे वर्मणां प्रसाधनं स इत्येवमुपमालंकारः ॥२९॥

**कर्णपूरपरिणामसंयुतः श्रोणिबद्धसुरसा समन्वितः।**
**सर्वतश्च सकटाक्षदर्शनः कामिनीजन इवानुमानितः ॥३०॥**

---

आदि वृक्षोंसे सुशोभित है। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव **मुनिसंघसेवित**—मुनियोंके समूहसे सेवित हैं, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **मुनिसंघसेवित**—प्रियाल तथा अगस्त्य आदि वृक्षोंके समूहसे सेवित हैं। जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् **नव्यभव्यनिवह**—नवीन नवदीक्षित भव्य जीवोंके समूहसे सेवित हैं, उसी प्रकार वनप्रदेश **नव्यभव्यनिवह**—कर्मरङ्ग वृक्षोंसे सेवित—सहित है और जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् **इष्टिमान्** (यजनमिष्टिस्तद्वान्) पूजासे सहित हैं, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **इष्टिमान्**—(एषणमिष्टिस्तद्वान्) इच्छा—अभिरुचिसे सहित है, अर्थात् दर्शकोंकी सुरुचिको बढ़ानेवाला है ॥२८॥

**अर्थ**—हे गौरि ! यह वनप्रदेश सहज ही प्रौढ शूरवीरके समान सुशोभित हो रहा है, क्योंकि जिस प्रकार प्रौढ शूरवीर **विक्रमातिशयसंयुत**—पराक्रमके आधिक्यसे सहित होता है, उसी प्रकार यह वनप्रदेश भी **विक्रमातिशयसंयुत**—पक्षियोंकी परिपाटीसे सहित है। जिस प्रकार प्रौढ शूरवीर **धनुर्बाणसंहतिसमन्वित**—धनुष और बाणोंके समूहसे सहित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **धनुर्बाणसंहतिसमन्वित**—प्रियाल और कटसरैयाके समूहसे सहित है और जिस प्रकार प्रौढ शूरवीर **सज्जकवचप्रसाधन**—सुसज्जित कवच—बख्तरको धारण करनेवाला होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **सज्जकवचप्रसाधन**—सुन्दर

---

१. 'कवचो वारबाणे स्यात्पटहे गर्दभाण्डके' इति विश्व०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**कर्णपूरेत्यादि**—अथवासौ कामिनीजन इवानुमानितो विद्वद्भिः । यतः कर्णपूराणां शिरीषाणां पक्षे कर्णभूषणानां परिणामेन संयुतः । श्रोणिश्च वृक्षविशेषस्तेन बद्धा सम्बद्धा या सुरसा नामौषधिस्तयाथवा सकटी समीचीना भागधी तयेष्टाभियुक्ता सुरसा पक्षे श्रोणौ वा संकटीप्रदेशे वा बद्धा या सुरसा मेखला तया समन्वितः । कटेन किलिञ्जेन वंशजालेन सहितः सकटश्चासावक्षो बिभीतकस्तस्य यत्र सः, यद्वा सकटाक्षः धवस्तस्य दर्शनं यत्र पक्षे कटाक्षेणापाङ्गेन सहितं दर्शनमवलोकनं यस्य सः । 'कटः श्रोणौ शयेऽत्यल्पे किलिञ्जगजगण्डयोः' इति, 'कटी स्यात्कटिमागध्योः' इति विश्वलोचने ॥३०॥

**वातकेलिपरिवारितोऽप्यथालोक्यते कुहरिताश्रयस्तथा ।**
**सद्रसालसहितोऽमुना पथा राजते च सुरताश्रमो यथा ॥३१॥**

**वातकेल्यादि**—अथासौ वनखण्डः स वातकेलिर्वातस्य क्रीडा तया परिवारितस्तथा कुहरितस्य कोकिलरवस्याश्रयस्तथा सद्रसालेनाम्रवृक्षेण सहितोऽवलोक्यतेऽमुना पथा मार्गेण पद्धत्या वा यथा सुरताश्रमो राजते तथा राजते । सुरताश्रमोऽपि वातकेल्या कामि-

---

हरीतकी-हर्डके वृक्षोंको धारण करनेवाला है ॥२९॥

**अर्थ**—अथवा इस वनप्रदेशको विद्वानोंने स्त्रीसमूहके समान माना है, क्योंकि जिस प्रकार स्त्रीसमूह **कर्णपूरपरिणामसंयुत**—कर्णाभूषणोंके विविध प्रकारोंसे सहित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **कर्णपूरपरिणामसंयुत**—शिरीष वृक्षोंके प्रकारोंसे सहित है । जिस प्रकार स्त्रीसमूह **श्रोणिबद्धसुरसासमन्वित**—नितम्बपर बद्ध मेखलासे सहित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **श्रोणिबद्धसुरसासमन्वित**—श्रोणि नामक वृक्षविशेषसे बद्ध सुरसा नामक औषधिसे सहित है और जिस प्रकार स्त्रीसमूह सब ओर **सकटाक्षदर्शन**—कटाक्ष-तिरछी चितवनसे सहित अवलोकनसे युक्त होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **सकटाक्षदर्शन**—कलिंजर नामक वृक्षसहित बहेड़ोंके दर्शनसे युक्त है ॥३०॥

**अर्थ**—अब इस ओर यह वनखण्ड **सुरताश्रम**—संभोग स्थानके समान सुशोभित हो रहा है, क्योंकि जिस प्रकार संभोगका स्थान **[1]वातकेलिपरिवारित**—कामिजनोंके दन्तखण्डन अथवा मधुर-आलापसे सहित होता है, उसी प्रकार यह वनखण्ड भी **वातकेलिपरिवारित**—वायुकी क्रीडासे सहित है । जिस प्रकार संभोगका स्थान **[2]कुहरिताश्रय**—संभोगकालीन शब्दसे सहित होता है, उसी प्रकार यह वन-

---

१. वातकेलिः कलालापे षिङ्गानां दन्तखण्डने ।
२. 'क्लीवं कुहरितं ध्वाने पिकालापे रतस्वने' इति विश्वलोचनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जनानां दन्तखण्डनेन परिवारितः कुहरितस्य रतकूजितस्याश्रयस्तथा सद्रसेन शृङ्गारेणा-लसस्य व्याप्तस्य हितं यत्र भवति स इति ॥३१॥

**भूरिभूतकरुणान्वितः पुनः सत्कुशासनविराजितस्तु नः ।**
**सानुरिच्छितसुखाशसंहतिर्वर्णिवत्तरलकर्णिकावति ! ॥३२॥**

भूरिभूतेत्यादि—हे तरलकर्णिकावति ! सुन्दरकर्णाभरणधारिणि ! सानुरयं वन-खण्डः पुनर्नोऽस्माकमग्रे वर्णिवद् ब्रह्मचारिवद्भवति, यतोऽसौ नानाविधैः करुणैर्वृक्षैरन्वितः, वर्णी च भूरिभूतानां विश्वप्राणिनां करुणयान्वितो भवति । अयं समीचीनैः कुशैर्दर्भैरासनै-र्जीवकद्रुमैश्च विराजितो वर्णी च समीचीने कुशासने विराजितो भवति । अयं सुखाशेन वरुणनाम वृक्षेण संहतिः समागमो यस्याथवा सुखाशानां वरुणानां संहतिर्गणो यत्र सः, वर्णी च सुखस्याशा येषां तेषां संहतिः समागमो यस्य स भवति । 'करुणस्तु रसे वृक्षे' । आसनो जीवकद्रुमे' 'सुखाशो राजतिनिशे वरुणे सुमनोरथे' इति च विश्वलोचने । उपमालंकारः ॥३२॥

**भासतेऽखिलजलाशयाधिपः कर्बुरौघमपि यः किलाक्षिपत् ।**
**सिन्धुवद् वरुणवल्लभोऽभितः सम्भवत्तरणिचारवारितः ॥३३॥**

---

खण्ड भी **कुहरिताश्रय**—कोयलोंके शब्दसे सहित है तथा जिस प्रकार संभोगका स्थान **सद्रसालसहित**—शृङ्गार रससे अलसाये मनुष्योंके हितसे युक्त होता है, उसी प्रकार यह वनखण्ड भी **सद्रसालसहित**—समीचीन आम्र वृक्षोंसे सहित है । साथ ही यह वन **सुरताश्रय**—**सुलताश्रय**—उत्तम लताओंके आश्रय—निकुञ्जोंसे सहित है ॥३१॥

**अर्थ**—हे चञ्चलकर्णालङ्कारधारिणि ! यह वनखण्ड हमारे सामने **वर्णी**—ब्रह्मचारीके समान सुशोभित हो रहा है, क्योंकि जिस प्रकार वर्णी **भूरिभूत-करुणान्वित**—समस्त प्राणियोंकी दयासे सहित होता है, उसी प्रकार यह वनखण्ड भी **भूरिभूतकरुणान्वितः**—नाना प्रकारके वृक्षोंसे सहित है । जिस प्रकार वर्णी **सत्कुशासनविराजित**—समीचीन कुशके आसनपर विराजित होता है, उसी प्रकार वनखण्ड भी **सत्कुशासनविराजित**—समीचीन दर्भ और जीवक वृक्षोंसे विराजित है और जिस प्रकार वर्णी **इच्छितसुखाशसंहति**—सुखकी आशा रखनेवाले मनुष्योंके समागमकी इच्छासे सहित होता है, उसी प्रकार वनखण्ड भी **इच्छित-सुखाशसंहति**—वरुणनामक वृक्षसमूहकी इच्छासे सहित है ॥३२॥

---

१. 'सानुः शृङ्गे बुधेऽरण्ये वात्यायां पल्लवे पथि' इति विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**भासत इत्यादि**—अथवासावखिलजलाशयानामधिपः खशानामाधारो यः किल कर्बुराणां कृष्णवृन्तानामोघमाक्षिपत् स्वीकृतवान्, यश्च वरुणानां नामवृक्षाणां वल्लभस्तथा सम्भवन्ती या तरणिः कुमारी तस्याश्चारेण प्रचारेण वारितोऽलंकृतः परिवारितोऽतः सिन्धुवद्भासते, सिन्धुरपि किलाखिलानां जलाशयानां तटाकादीनामधिपः सन् कर्बुरस्य जलस्यौघमूरीकरोति, वरुणस्य देवस्य वल्लभो भवति, तरणिर्नौकापि तत्र चरतीति। 'कर्बुरा कृष्णवृन्तायां जले हेम्नि च कर्बुरम्'। 'जलाशयो जलाधारे जलदे तु जलाशयम्' इति च विश्वलोचने ॥३३॥

**वेणुवारसहितश्च तन्त्रिकापूरितः सघन इष्यते च यः।**
**नर्तकप्रतिगुणः शुभाननेऽमुष्य पश्य किल नर्तनालयः ॥३४॥**

**वेणुवारेत्यादि**—हे शुभानने ! पश्यामुष्यान्वयोऽयं समागमो नर्तनालयः किलेष्यते, यतोऽसौ वेणुर्वंशोवारश्च कुब्जवृक्षस्ताभ्यां सहितः, पक्षे वेणुवाद्यस्य वारेणावसरेण सहितः। तन्त्रिकया वीणया पक्षेऽमृतया नामौषध्या पूरितः। घनेन वाद्येन मुस्तया वा सहितः सघनः। नर्तकः कदलीवृक्षो नटश्च तस्य प्रतिगुणः प्रभावो यत्र सः ॥३४॥

---

**अर्थ**—यह वनप्रदेश समुद्रके समान सुशोभित हो रहा है, क्योंकि जिस प्रकार समुद्र **अखिलजलाशयाधिप**—समस्त जलाशयोंका स्वामी है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **अखिलजलाशयाधिप**—समस्त खशोंका आधार है। जिस प्रकार समुद्र **कर्बुरौघ**—जल समूहको स्वीकृत करता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **कर्बुरौघ**—कृष्णवृन्त नामक औषध वृक्षोंको स्वीकृत करता है। जिस प्रकार समुद्र **वरुणवल्लभ**-वरुणदेवको प्रिय है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **वरुणवल्लभ**—वृक्षोंको प्रिय है और जिस प्रकार समुद्र **संभवत्तरणिप्रचारवारित**—उपलब्ध नौकाओंके संचारसे सुशोभित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **संभवत्तरणिचारवारित**—सब ओर उत्पन्न होनेवाले घीगुँवारके प्रसारसे सुशोभित है ॥३३॥

**अर्थ**—हे सुमुखि ! देखो, वनका यह प्रदेश एक नर्तनालय—नृत्यशाला है, क्योंकि जिस प्रकार नर्तनालय **वेणुवारसहित**—बांसुरीके अवसरसे सहित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **वेणुवारसहित**—बांस और कुब्ज नामक वृक्षोंसे सहित है। जिस प्रकार नर्तनालय **तन्त्रिकापूरित**—वीणाके स्वरसे पूरित रहता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **तन्त्रिकापूरित**—अमृता नामक औषधिसे परिपूर्ण है। जिस प्रकार नर्तनालय **सघन**—घण्टा आदि घन वाद्योंसे सहित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी सघन—मोथासे सहित है और जिस प्रकार नर्तनालय **नर्तकप्रतिगुण**—नृत्यकारके प्रभावसे सहित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **नर्तकप्रगुण**—कदली वृक्षके प्रभावसे सहित है ॥३४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



रोमहर्षणसमन्वितत्वतः पश्यताच्छिखरिणीश्रितः स्वतः ।
उल्लसन्मदनसारकारणादभ्युपैति सविलासधारणाम् ॥३५॥

रोमहर्षणेत्यादि—अपि च पश्यतादवलोकय । अयं वनखण्डः सविलासस्य मनुष्यस्य धारणामवस्थामुपैति, यतोऽयमुल्लसतो विकाशं गच्छतो मदनस्याम्रवृक्षस्य[1] पक्षे कामस्य सारः स्पष्टभागस्तस्य कारणाद्धेतो रोमहर्षणेन विभीतकतरुणा रोमाञ्चनेन समन्वितत्वतो युक्तत्वतः स्वत एव शिखरिण्या[2] मल्लिकया, पक्षे युवतिरत्नेन श्रित इति ॥३५॥

वायुरित्यभिवदन्ति कोविदा आयुरेव पदवादसम्भिदा ।
अङ्गिनामनुवदाम्यहं महाभूतमेतदपि तन्वि रेकहा ॥३६॥

वायुरित्यादि—हे तन्वि ! कोविदा एव कौविदा बुद्धिमन्तो मनुष्या यदेतन्महाभूतं वायुरित्येवमभिवदन्ति तदेवाहं पदवादस्य सम्भिदा पदच्छेदन्यायेनाङ्गिनां प्राणभृतामायुरेवेत्यनुवदामि, वा-आयुरिति वाव्ययस्य निर्णयार्थसद्भावात् । यतोऽहं रेकहा शङ्काहरो नीचवृत्तेश्च परिहारकः ॥३६॥

हे प्रिये ! परमपावनोऽसकौ गन्धबन्धुपवनो वनस्य कौ ।
अत्र नः खलु पथः परिश्रमं दूरतो हरति वै ससम्भ्रमम् ॥३७॥

हे प्रिये ! इत्यादि—हे प्रिये ! वनस्यास्य कौ भूम्यां परमपावनः पुनीततमः सुगन्ध-

---

अर्थ—देखो यह वनप्रदेश विलासी मनुष्यकी अवस्थाको प्राप्त हो रहा है; क्योंकि जिस प्रकार विलासी मनुष्य **रोमहर्षण**—सुखद स्पर्शसे उत्पन्न रोमाञ्चोंसे सहित होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **रोमहर्षण**—रोमाञ्चन नामक बहेड़ेके वृक्षसे सहित है। जिस प्रकार विलासी मनुष्य **उल्लसन्मदनसार**—बढ़ते हुए कामदेवके स्पष्ट प्रभावसे युक्त होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **उल्लसन्मदनसार**—विकसित होते हुए आम्रवृक्षके सारसे सहित है और विलासी मनुष्य जिस प्रकार **शिखरिणी**—श्रेष्ठ युवतिको प्राप्त होता है, उसी प्रकार वनप्रदेश भी **शिखरिणी**—मल्लिका—मालतीसे सहित है ॥३५॥

अर्थ—जिस महाभूतको विद्वान् लोग वायु कहते हैं, उसे हम पदच्छेदकी पद्धतिसे प्राणियोंकी आयु कहते हैं। 'वा + आयुः=वायुः' यहाँ वा अव्यय सन्देहका निराकरण करने वाला है ॥३६॥

---

१. मदनः स्मरधत्तूरवसन्तद्रुमसिक्थके ।
२. स्त्रियां शिखरिणी वृत्तभेदे तक्रप्रभेदयोः ।
स्त्रीरत्ने मल्लिकायां च रोमावल्यामपि स्मृता ॥ इति च विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



बन्धुपावनः समीचीनगन्धयुक्तो वायुरत्र नोऽस्माकं पथः परिश्रमं मार्गसंभूतखेदं खलु दूरत एव वै ससम्भ्रममादरपूर्वकं हरति खलु वाक्यालङ्कारे ॥३७॥

**श्रीधनुःस्थितिमितः समुद्धरत् संगराश्रयतया वनं वरम् ।**
**हे सुकेशि दमनैः समन्वितं सैन्यवल्लसति विक्रमाङ्कितम् ॥३८॥**

श्रीधनुरित्यादि—हे सुकेशि ! वरमेतद्वनमितः सैन्यवल्लसति भासते यतः संगरस्य शम्याः फलस्य पक्षे युद्धस्याश्रयतया श्रीधनुषः प्रियालस्य पक्षे चापस्य स्थितिं दमनैर्नमपुष्पैस्तथा वीरैः समन्वितं समुद्धरत् सद् विक्रमाङ्कितं वीनां पक्षिणां क्रमाङ्कितं साहससंयुतं च लसति । उपमालंकारः ॥३८॥

**तन्वि ! बालतनयाञ्चिता हितादग्रतः सहचरी समाश्रिता ।**
**नेत्रभागकलिताञ्जना वनी राजते कुलबधूः किलाध्वनि ॥३९॥**

तन्वीत्यादि—हे तन्वि ! हितात्प्रेमवशात् किलाग्रतः सहचर्या झिण्टया समाश्रिता स्वीकृता पक्षे सखीसहिता । बालस्य ह्रीबेरस्य तनयेन प्रसारेण पक्षे बालश्चासौ तनयः सुतस्तेनाञ्चिता । नेत्रभागेन मूलेन कलितोऽञ्जननामवृक्षो यस्यां तथा नेत्रभागे चक्षुः-

---

**अर्थ**—हे प्रिये ! इस वनभूमिमें यह परम पवित्र सुगन्धित वायु दूरसे ही हम लोगोंके मार्गसम्बन्धी खेदको सचमुच आदरपूर्वक हर रही है ॥३७॥

**अर्थ**—हे सुकेशि ! यह वन इधर सेनाके समान सुशोभित हो रहा है, क्योंकि जिस प्रकार सेना **धनुःस्थितिं समुद्धरत्**—धनुषकी स्थितिको धारण करती है, उसी प्रकार यह वन भी [1]**धनुःस्थितिं समुद्धरत्**—प्रियाल (अचार) वृक्षोंकी स्थितिको धारण करता है। जिस प्रकार सेना **संगराश्रय**—युद्धका आधार होती है, उसी प्रकार वन भी [2]**संगराश्रय**—शमीफलका आधार है। जिस प्रकार सेना [3]**दमन**—वीरभटोंसे सहित होती है, उसी तरह वन भी **दमन**—पुष्पोंसे सहित है और जिस प्रकार सेना **विक्रमाङ्कित**—पराक्रमसे सहित होती है, उसी प्रकार वन भी **विक्रमाङ्कित**—पक्षियोंके संचारसे सहित है ॥३८॥

**अर्थ**—हे तन्वि ! मार्गमें आगे चलकर यह वनी कुलवधूके समान सुशोभित हो रही है, क्योंकि जिस प्रकार कुलवधू **बालतनयान्विता**—छोटे पुत्रसे सहित होती है, उसी प्रकार वनी भी **बालतनयान्विता**—ह्रीबेरके विस्तारसे सहित है। जिस प्रकार कुलवधू प्रेमवश **सहचरीसमाश्रिता**—सखीसे सहित होती है, उसी प्रकार वनी भी **सहचरीसमाश्रिता**—झिण्टी नामक वृक्षसे सहित है और जिस प्रकार

---

१. धनुः शरासने राशौ धनुर्धन्विपियालयोः । २. संगरं स्यात् फले शम्याः ।
३. पुष्पे वीरेऽपि दमनः । सर्वत्र विश्वलोचनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



प्रदेशे कलितं लग्नमञ्जनं कज्जलं यस्याः सा वनी साध्वनि मार्गे कुलवधूः किलेत्र राजते ॥३९॥

**हे सुकेशि ! तव केशपाशतो व्यस्तपिच्छ इव पश्यतादितः ।**
**सालशालिविपिनं विशत्यथासावपत्रपतया शिखावलः ॥४०॥**

हे सुकेशीत्यादि—हे सुकेशि ! अथेतः पश्यतात् तव केशपाशतः श्लक्ष्णताविषये व्यस्तः पराजितः पिच्छः पिच्छभागो यस्य स शिखावलः केकी किलासापत्रपतयोन्मुक्तपिच्छतया सलज्जतया वा सालैर्नाम वृक्षैः शालि शोभनं यद्विपिनं वनं विशति विगाहत इत्युत्प्रेक्षा ॥४०॥

**मन्दगामिनि ! तवालसां गतिं शिक्षतेऽथ कलभोऽसकावितः ।**
**वीक्षते दृशि पराजितो मृगोऽङ्कं पलायितुमयं द्रुतं व्रजन् ॥४१॥**

मन्देत्यादि—हे मन्दगामिनि ! असावेवासकौ कलभो हस्तिशावक इतस्तवालसां मनोहरां गतिं शिक्षते । अयं मृगश्च दृशि चक्षुषि विषये पराजितः सन् द्रुतं शीघ्रमेव व्रजन् पलायितुं तिरोभवितुमङ्कं स्थानं वीक्षते । पूर्वोक्त एवालंकारः ॥४१॥

**काननावनिमतीत्य वेगतः स्वात्मवान् समवलम्बते ततः ।**
**काञ्चनस्थितिमतीं वसुन्धरामुत्कतामनुभवन्नथो नृराट् ॥४२॥**

काननेत्यादि—अथो नृराट् जयकुमारो यः किलात्मवान् विचारशीलः स वेगतोऽविलम्बभावेन काननस्यावनिं भूमिं तथा च कुत्सिताननामवनिनाम स्त्रियमतीत्य त्यक्त्वा

---

कुलवधू नेत्रभागकलिताञ्जना–चक्षुःप्रदेशमें कज्जल लगाये होती है, उसी प्रकार वनी भी **नेत्रभागकलिताञ्जना**–जड़से युक्त अञ्जन नामक वृक्षोंसे सहित है ॥३९॥

**अर्थ**—हे सुकेशि ! इधर देखो, तुम्हारे केशपाशसे जिसकी पिच्छ पराजित हो गई है, ऐसा यह मयूर लज्जासे ही मानों सागौनके वृक्षोंसे सुशोभित वनमें प्रवेश कर रहा है ॥४०॥

**अर्थ**—हे धीरे धीरे चलने वाली प्रिये ! इधर यह हाथीका बच्चा तुम्हारी अलसायी चालको सीख रहा है और इधर शीघ्र चलने वाला मृग तुम्हारी दृष्टिसे पराजित हो मानों भागने अथवा छिपनेके लिये स्थान देख रहा है ॥४१॥

**अर्थ**—तदनन्तर विचारशील राजा जयकुमार वेगसे वनभूमिको लाँघकर उत्कण्ठाका अनुभव करते हुए अच्छो स्थितिका धारण करने वाली भूमिको प्राप्त हुए ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



काञ्चनस्थितिमतीं वसुन्धरां साधारणवसतियुक्तां भुवं तथा सुवर्णरूपिणीं युवतिमवलम्बते स्म स्वीचकार। उत्कतां सोत्कण्ठतामनुभवन् सन्निति समासोक्तिः ॥४२॥

**नैककल्पतरुतर्पितस्थितीन् स्वप्सरोवरसमर्थितानिति।**
**नाकनाम दधतो जनाश्रयान् संजगाम पथि शक्रवद्रयात् ॥४३॥**

नैकेत्यादि—स नृराट् पथि मार्गे शक्रवदिन्द्रो यथा स रयाच्छीघ्रमेव नाकनाम दधतो निर्दोषनामयुक्तान् निष्पापान् पक्षे स्वर्गनामकान् जनाश्रयान् देशान् संजगाम, यतो नैककल्पैर्बहुविधैस्तरुभिः पक्षे नैकैर्बहुभिः कल्पनामतरुभिस्तर्पिता अलंकृता स्थितिर्येषां तान्। तथा सुन्दरा आपो जलानि येषु तैः सरोवरैरथवा सुन्दरैरप्सरसां नीलाब्जनादीनां वरैः रलयोरभेदाद् बलैः रूपैः समर्थितान् युक्तानिति। 'बलं गन्धरसे सैन्ये स्यामनि स्थौल्यरूपयोः' इति विश्वलोचनकोषे। श्लेषोपमालंकारः ॥४३॥

**तत्र स प्रभविधेनुगत्वतः स्नेहमाप वृषवत्सलत्वतः।**
**शस्यतोयजनसंश्रयत्वतस्तुल्यतामनुभवन् महत्वतः ॥४४॥**

तत्रेत्यादि—स नरराट् तत्र देशे तुल्यतामनुभवन् स्नेहमाप, यतः प्रभवः श्रेष्ठोत्पादः स यासामस्ति ताः प्रभविन्यः, ताश्च ता धेनवश्चेति प्रभविधेनवस्ता गच्छति यस्तद्भावतः। पक्षे प्रभासहिता सप्रभा, तथाभूता विधा प्रकारो यस्य तस्मिन् सदाचारिणि जनेऽनुगत्वतो विनयभावतः। तथा वृषान् बलीवर्दान् वत्सांस्तर्णकांश्च लाति स्वीकरोति

---

**अर्थान्तर**—जिस प्रकार कोई पुरुष कुत्सित मुखवाली स्त्रीको छोड़कर सुन्दरमुख वाली स्त्रीको बड़ी उत्कण्ठासे प्राप्त होता है, उसी प्रकार जयकुमार ऊबड़-खाबड़ वनभूमिको व्यतीत कर अन्य सुन्दर भूमिको बड़ी उत्कण्ठासे प्राप्त हुए थे ॥४२॥

**अर्थ**—राजा जयकुमार मार्गमें इन्द्रके समान शीघ्र ही उन जनाश्रयों–देशोंको प्राप्त हुए जो अनेक प्रकारके वृक्षोंसे सन्तोषकारक स्थिति वाले थे (पक्षमें अनेक कल्पवृक्षोंसे सन्तोष कारक स्थिति वाले थे), सुन्दर जलके सरोवरोंसे सहित थे (पक्षमें सुन्दर अप्सराओंसे सहित थे) और निर्दोष नामको धारण करने वाले थे (पक्षमें स्वर्ग नामको धारण कर रहे थे) ॥४३॥

**अर्थ**—राजा जयकुमार उस देशमें तुल्यताका अनुभव करते हुए स्नेहको प्राप्त हुए। तुल्यता निम्न प्रकार थी–जिस प्रकार जयकुमार **सप्रभविधेनुग**–सदाचारी जनोंमें विनयशील थे, उसी प्रकार वह देश भी **सप्रभविधेनुग**–अच्छी नस्लकी गायोंको प्राप्त था। जिस प्रकार जयकुमार **वृषवत्सल**–धर्मस्नेहसे सहित थे, उसी प्रकार वह देश भी **वृषवत्सल**–बैल तथा बछड़ोंको स्वीकृत करने वाला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तद्भावतः पक्षे वृषे धर्मे वत्सलत्वतः प्रीतिसद्भावात् । तथा शस्यं धान्यं तोयं जलं जनश्च तेषां त्रयाणां संश्रयत्वतः समाश्रयत्वतः पक्षे शस्यतः प्रशंसायोग्यात् तस्माद् यजनस्य परमात्माराधनस्य संश्रयत्वतः स्वभावत इत्येवं महत्त्वतः स्नेहमाप। श्लेषोपमालंकारः ॥४४॥

**सालकाननतया मनोहरामभ्युपेत्य नरनायको धराम् ।**
**प्राप शं सुरतरूपसम्पदा सन्निकृष्टविकसत्पयोधराम् ॥४५॥**

सालेत्यादि—नरनायको राजा स धरां भूमिं कांचित् स्त्रियं चाभ्युपेत्य शं सुखं प्राप लब्धवान् । कीदृशीं धराम् ? सालानां नाम वृक्षाणां काननं वनं तत्तया पक्षेऽलकैः केशैः सहितं सालकं च तदाननं च तत्तया मनोहराम् । सुरतरूणां कल्पवृक्षाणामुपसंपदा तुल्यश्रिया सुन्दरवृक्षकतया सन्निकृष्टाः समालिङ्गिता विकसन्तः पयोधरा मेघा यया तां पक्षे सुरतरूपा या सम्पत् तया सुरतं च रूपं च तयोर्द्वयोर्या सम्पत्तया सन्निकृष्टौ परस्परं सम्मिलितौ विकसन्तौ पयोधरौ स्तनौ यस्यास्तामिति यावत् । समासोक्तिरलंकारः ॥४५॥

**सौष्ठवेन तु संदिक्षुमानितां भूरिधान्यहितकृद्गुणाङ्किताम् ।**
**मेदिनीं प्रमुमुदेऽवलोकयन् किन्न भद्रपरिणामभृज्जयः ॥४६॥**

सौष्ठवेनेत्यादि—स भद्रपरिणामभृज्जयकुमारस्तां मेदिनीं भूमिमवलोकयन् किन्न मुमुदेऽपि तु मुमुद एव सौष्ठवेन सौहार्दभावेनेति । कीदृशीं तामिति चेत् ? समीचीनैरिक्षुभिः पौण्ड्रैर्मानितां युक्तां तथा भूरिधान्येन विपुलगोधूमादिना हितकृता गुणेनाङ्कितां

---

था। तथा जिस प्रकार जयकुमार **शस्यतोयजनसंश्रय**—प्रशंस्सा योग्य देशसे परमात्माकी आराधनाके आधार थे, उसी प्रकार वह देश भी **शस्यतोयजनसंश्रय**—धान्य, जल और मनुष्योंका आधार था ॥४४॥

**अर्थ**—नरपति-राजा जयकुमार स्त्रीके सादृश्यको प्राप्त उस वनभूमिको पाकर बहुत सुखी हुए। वनभूमि और स्त्रीके पक्षमें विशेषणोंका आयोजन इस प्रकार है—वनभूमि **सालकानन**—सागौन वृक्षोंके वनसे मनोहर थी और स्त्री **सालकानन**—केशसहित मुखसे मनोहर थी। वनभूमि **सुरतरूपसम्पदा**—कल्पवृक्षरूप सम्पत्तिके द्वारा **सन्निकृष्टविकसत्पयोधरा**—बिखरे हुए मेघोंका स्पर्श करने वाली थी और स्त्री **सुरतरूपसम्पदा सन्निकृष्टपयोधरा**—संभोग तथा सौन्दर्यरूप सम्पत्तिके द्वारा स्पर्श किये गये स्थूल स्तनोंसे सहित थी ॥४५॥

**अर्थ**—भद्र परिणामोंको धारण करने वाले राजा जयकुमार सौहार्द भावसे समीचीन पौंड़ोसे संयुक्त अथवा सभी दिशाओंमें आदरको प्राप्त और अनेक



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



यद्वा भूरिधान्यस्य हितकृद् यो गुणस्तेनाङ्किताम् युक्ताम् । तथा स दिक्षु सर्वासु दिशासु मानितामादरयोग्यां भूरिधानेकप्रकारेणान्यस्यातिथे, हितकृद् यो गुणस्तेनाङ्किताम्ः । समासोक्तियुक्तवक्रोक्तिरलंकारः ॥४६॥

**हस्तिमौक्तिकफलादिकं मुदा भूपतेः शबरनायकास्तदा ।**
**दर्शनार्थमभितः समागताः स्रागुपायनमुपेत्य सन्नताः ॥४७॥**

हस्तीत्यादि—तदा शबराणां म्लेच्छजातीयानां नायका हस्तिमौक्तिकफलादिकमुपायनं परितोषकारकं वस्तुजातमुपेत्य संगृह्याभितः सर्वाभ्यो दिशाभ्यो भूपतेर्दर्शनार्थमुपागताः स्राक् शीघ्रमेवमायाता मुदा प्रसन्नतया सन्नताश्च ॥४७॥

**श्यामसुन्दरशरीरसम्पदोऽस्पष्टदृश्यमृदुरोममञ्जरीः ।**
**कृष्णलारचितकण्ठभूषणाः संचलद्दलदुकूलमञ्जुलाः ॥४८॥**
**मण्डनार्थमथ चैणनाभिकाश्चिन्वतीस्तनुतरावलग्नकाः ।**
**तत्र भिल्लतनया विलोकयँल्लोकराट् स मुमुदे वनस्थले ॥४९॥**

श्यामेत्यादि—तत्र वनस्थले स लोकराट् प्रजापतिर्जयकुमारो भिल्लानां तनयाः कन्या विलोकयन् मुमुदे मुदमवाप । कृष्णला गुञ्जा, अवलग्नमेवावलग्नकं मध्यम्, एणस्य मृगस्य नाभिका कस्तूरीत्यर्थः । शेषं स्पष्टम् ॥४८–४९॥

**मोदमाप महिषीमनोहरान् मातृसारखचितक्रियापरान् ।**
**स स्फुरद्धवलधाममण्डितान् वीक्ष्य गोपनिलयान् स्वसंहितान् ॥५०॥**

---

धान्योंके हितकारी गुणोंसे सहित अथवा अनेक प्रकारसे अन्य मनुष्योंका हित करने वाले गुणोंसे युक्त उस भूमिको देखते हुए क्या प्रमोदको प्राप्त नहीं हुए थे ? अवश्य ही हुए थे ॥४६॥

अर्थ—उस समय म्लेच्छ राजा गजमोती आदि की भेंट लेकर सभी दिशाओंसे राजाके दर्शनके लिये आये और हर्षपूर्वक उपहार देकर नम्रीभूत हुए—सभीने नमस्कार किया ॥४७॥

अर्थ—जिनकी शरीरसम्पदा श्याम होने पर भी सुन्दर थी, जिनकी कोमल रोमपंक्ति अस्पष्ट रूपसे दिख रही थी, जिनके कण्ठहार गुमचियों से निर्मित थे, जो हिलते हुए वल्कलोंके वस्त्रोंसे मनोहर थी, जो सजावटके लिये कस्तूरीको धारण कर रही थी तथा जिनकी कमर पतली थी, ऐसी भिल्ल-कन्याओंको देखते हुए राजा जयकुमार वनभूमिमें अत्यधिक प्रसन्न हुए थे ॥४८–४९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

**मोदमित्यादि**—स राजा गोपानां निलयान् गृहान् स्वेनात्मना संहितान् समानान् वीक्ष्य मोदमाप। कीदृशाँस्तानिति चेत्? महिषीभिर्नाम रक्ताक्षाभिः पट्टराज्ञीभिर्वा मनोहरान्, मातॄणां धेनूनां पक्षे मातुर्भुवः सारेण खचिता संरब्धा या क्रिया तत्र परान् संलग्नान्, स्फुरतां स्फूर्तिमाप्तानां धवलानां वृषभाणां धामभिः स्थानैर्मण्डितान् युक्तान् पक्षे स्फुरद्भिर्धवलैर्धामभिर्मण्डितान् ॥५०॥

**भूरिशोभिनवनीतिचेष्टिताद् गोकुलाद्धितमधात् प्रजापिता।**
**आत्मवत् सदधिकारवाञ्छितादेवमेव गुणितक्रमाञ्चितात् ॥५१॥**

**भूरीत्यादि**—स प्रजापिताऽऽत्मनो यथाऽऽत्मवदेव गोकुलाद्धितमधात् स्वीचकार। कीदृशात्तस्माच्चेत्? भूरिशोभा यस्य तन्नवनीतं नवोद्धृतं तद्वच्चेष्टितं यत्र तस्मात्, पक्षे भूरिशोऽनेकप्रकारतोऽभिनवा नूतना स्तुतियोग्या वा नीतिस्तस्याश्चेष्टितं यत्र तस्मात्। दध्ना सहितः कारो यत्नः सदधिकारस्तस्य पक्षे समीचीनोऽधिकारस्तस्य वाञ्छितं यत्र तस्मात्। गुणिनो गुणयुक्तस्य तक्रस्योदश्वितो भया शोभयाऽथवा गुणितेन क्रमेण नीतिपथेनाञ्चिताद्युक्तादित्युपमा। 'कारश्च यतियत्नयोः' इति विश्वलोचने ॥५१॥

**घोषकोलपलसत्कुटोरकप्रान्तमेवमवलम्ब्य बाहुना।**
**वल्लवा नृपवरं सविस्मयं लोलयाथ ददृशुर्दृशाऽधुना ॥५२॥**

---

**अर्थ**—राजा जयकुमार अपने घरोंकी समानता रखने वाले ग्वालोंके घरोंको देखकर हर्षको प्राप्त हुए थे। दोनों पक्षोंमें विशेषणोंकी अर्थयोजना इस प्रकार है—गोपनिलय-अहीरोंके घर **महिषियों**-भैंसोंसे मनोहर थे और राजभवन **महिषियों**-पट्टरानियोंसे मनोहर थे। गोपनिलय-गायोंकी सारभूत क्रियाओं-लिम्पन-दोहन आदि क्रियाओंमें तत्पर थे और राजभवन पृथिवी सम्बन्धी श्रेष्ठ क्रियाओंकी सँभालमें तत्पर थे। गोपनिलय-सुशोभित बैलोंके स्थानसे मण्डित थे और राजभवन देदीप्यमान सफेद मकानोंसे मण्डित थे ॥५०॥

**अर्थ**—राजा जयकुमारने अपनी समानतासे युक्त गोकुलसे हितको स्वीकृत किया था। गोकुल और राजाके पक्षमें विशेषणोंकी अर्थयोजना इस प्रकार है—**भूरिशोभिनवनीतिचेष्टितात्**-गोकुलकी क्रियाएँ अत्यन्त शोभायमान मक्खनसे युक्त थीं, अर्थात् ताजा-ताजा मक्खन निकाला जा रहा था और राजा **भूरिशोभिनवनीतिचेष्टितात्**-अनेक प्रकारको नई नीतियोंकी चेष्टाओंसे युक्त था, अर्थात् वहाँ नवीन-नवीन नीतियों पर विचार होता था। गोकुल **सदधिकारवाञ्छितात्**-दहीविषयक प्रयत्नोंकी इच्छासे सहित था; अर्थात् वहाँ दही विषयकचर्चा होती थी और राजा **सदधिकारवाञ्छितात्**-समीचीन अधिकारोंकी वाञ्छासे सहित था ॥५१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


घोषकेत्यादि—अथाधुनाऽऽभीरस्त्रियस्ता घोषकस्योलपेन घोषवल्ल्या युक्तस्य कुटीरकस्य प्रान्तं बाहुनाऽवलम्ब्य धृत्वा लोलया चपलया दृशा चक्षुषैवंप्रकारेण सविस्मयमाश्चर्यपूर्वकं नृपवरं ददृशुरिति जातिः ॥५२॥

**तेषु सन्निधिमुपाश्रितेषु चानेकधान्यगणकृष्टिमद्रुचा ।**
**ग्रामकेषु स मुदा रतां श्रियं वीक्षमाण उदगादपि ह्रियम् ॥५३॥**

तेष्वित्यादि—स राजा जयकुमारः सन्निधिं नैकट्यं यद्वा समीचीनं निधिं धनराशिमुपाश्रितेषु ग्रामकेषु चानेकधान्यानं गोधूमादीनां गणस्य कृष्टिर्यद्वाऽनेकधाऽन्येकेषां बहुप्रकारेण परेषां गणस्य या कृष्टिराह्वाननं तद्वती या रुक् रुचिस्तया हेतुभूतया मुदा प्रसन्नतापूर्वकं रतां तल्लीनां श्रियं सम्पत्तिं तन्नामस्त्रियमपि वीक्षमाणोऽवलोकयन् ह्रियं त्रपामुदगाज्जगामेति समासोक्तिरलंकारः ॥५३॥

**मन्थनश्रमवशात् परिस्फुरत्सिप्रबिन्दुवदनं महीभृता ।**
**प्रस्फुटामृतकणं सुधारुचो बिम्बमैक्षि खलु गोपयोषिताम् ॥५४॥**

मन्थनेत्यादि—तत्र महीभृतानेन मन्थने दधिविलोडने श्रमवशात् परिस्फुरन्तिः सिप्रस्य प्रस्वेदस्य बिन्दवो यत्र तद् गोपयोषितां गोपीनां वदनं मुखं तत्खलु प्रस्फुटाः प्रकटीभूता अमृतस्य कणा यत्र तत्सुधारुचश्चन्द्रस्य बिम्बमैक्षि समवलोकितमित्युत्प्रेक्षा ॥५४॥

---

**अर्थ**—इस समय अहीरोंकी स्त्रियाँ घोषवल्ली–कुमड़ा आदि की लताओंसे सुशोभित कुटियाके प्रान्त भागको भुजासे पकड़ कर चञ्चल दृष्टिसे राजाको देख रही थी ॥५२॥

**अर्थ**—वह राजा जयकुमार सन्निधि–निकटता अथवा समीचीन धनराशिको प्राप्त हुए ग्रामोंमें लीन लक्ष्मीको अनेक प्रकारके धान्यसमूह अथवा विविध प्रकारके अन्य लोगों सम्बन्धी आह्वाननकी रुचिसे हर्षपूर्वक देखते हुए लज्जाको भी प्राप्त हुए थे।

**भावार्थ**—अन्य पुरुषमें प्रीति करने वाली स्त्रीको देखता हुआ मनुष्य जिस प्रकार लज्जाको प्राप्त होता है, उसी प्रकार जयकुमार ग्रामोंमें रत–तल्लीन लक्ष्मीको देखकर लज्जाको प्राप्त हुए थे ॥५३॥

**अर्थ**—वहाँ राजाने मन्थन क्रियाके श्रमसे उत्पन्न पसीनेकी बूंदोंसे सहित गोपाङ्गनाओंके मुखको क्या देखा था, मानों छलकते हुए अमृत कणोंसे युक्त चन्द्रमाका बिम्ब ही देखा था ॥५४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन्थनातिशयतः समुच्चलत्तक्रबिन्दुनिकरोऽकरोद्धियः ।
पीवनस्तनतटेऽथ संसजन् यत्र मौक्तिकसुमण्डलश्रियः ॥५५॥

मन्थनातिशयत इत्यादि—अथ यत्र गोपयोषितां मध्ये मन्थनस्यातिशयतो वेगतः समुच्चलतां तक्रस्य बिन्दूनां निकरः समूहः स च पीवरे सुपुष्टे तासां स्तनतटे संसजन् विलगन् सन् मौक्तिकानां सुमण्डनस्याभूषणस्य श्रियः शोभाया धियो बुद्धीरकरोत् ॥५५॥

मन्थकर्मणि जुषः कुचद्वयं गर्गरीमतुलयद्यतः स्वयम् ।
व्युत्थमस्तुलवयोगतो हसद् घूर्णते स्म किल विस्फुरद्दृशः ॥५६॥

मन्थेत्यादि—मन्थकर्मणि जुषो दधिविलोडनतत्पराया विस्फुरती दृशौ चक्षुषी यस्यास्तस्याः कुचद्वयं स्तनयोर्युगलं यतः स्वयं गर्गरीं तां किलातुलयत् तुलारूढां चकार, तदा व्युत्था अर्थादुत्थाय लग्ना ये मस्तुलवा दधिबिन्दवस्तेषां योगतः सम्बन्धतो हसत् सद् घूर्णते स्म । एषाप्युत्प्रेक्षैव ॥५६॥

मन्थिनीमुदधिसन्निभामहीशानसुन्दरगुणेन यत्र ताः ।
लोडयन्ति ललनाः स्म मन्दरप्राग्रमन्थकलिनाऽमृताय ताम् ॥५७॥

मन्थिनीत्यादि—यत्र ता ललना गोप्योऽहीनां सर्पाणामीशानः शेषस्तद्वत् सुन्दरो यो गुणो मन्थनरज्जुस्तेन मन्दरप्रायः पर्वततुल्यश्चासौ मन्थो मन्थानदण्डस्तस्य कलिर्यत्र तेनामृताय घृताय पीयूषायेव लोडयन्ति स्म तामित्युपमा । 'मन्थो मन्थानदण्डे स्यादिति', 'अमृतन्तु घृते दुग्धे' इति च विश्वलोचने ॥५७॥

---

**अर्थ**—वहाँ मन्थनकी अधिकतासे उछल-उछल कर छाछकी बूंदोंका जो समूह गोपाङ्गनाओंके स्थूल स्तनोंपर लग रहा था, वह मोतियोंसे निर्मित आभूषणकी शोभा सम्बन्धी बुद्धिको उत्पन्न कर रहा था ॥५५॥

**अर्थ**—मन्थन क्रियामें संलग्न चञ्चल नेत्रों वाली गोपीके स्तनयुगलने स्वयं गर्गरीको तोला था, अर्थात् परिमाणमें गर्गरीसे अधिक विस्तारको प्राप्त किया था, इसलिये वह उछल कर लगे हुए दहीके कणोंसे मानों हँसता हुआ हिल रहा था, अर्थात् विजयके कारण हँसता हुआ झूम रहा था ॥५६॥

**अर्थ**—जिस प्रकार देवोंने शेष नागको मन्थन रज्जु और मन्दरगिरिको मथानी बनाकर अमृत प्राप्तिके लिये समुद्रका मथन किया था, उसी प्रकार वे गोपियाँ समुद्रके समान विस्तृत मटकीको शेषनागके समान श्वेत वर्णवाली मन्थन-रज्जु और पर्वतके समान विशाल मन्थान दण्डको लेकर कल-कल करती हुई अमृत-घृतके लिये विलोडित कर रही थीं ॥५७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**आगताश्च दधिभाजनादिभिर्घोषकान् नृपसुदृष्टये कृती ।**
**प्रीतितः कुशलपृच्छनादिभिर्न्यायवान् स विससर्ग भूपतिः ॥५८॥**

आगताश्चेत्यादि—घोषका आभीरा नृपस्य सुदृष्टये दर्शनार्थं दधिभाजनमादिर्येषां तैर्घृतपात्रैर्दुग्धपात्रैश्च समवेता भवन्त इति शेषः। आगता ये केऽपि तान् स न्यायवान् भूपतिः कुशलपृच्छनमादि येषां तैर्दत्तोपहारग्रहणं तदुक्तश्रवणमाश्वासनदानमित्येतैर्विससर्ज विदां कृतवान् प्रीतितो यतः स कृती विचारवानतः ॥५८॥

**दामनाम दधतो दुधुक्षतोऽभ्याजतोऽतियतिनीं सहुंकृति ।**
**धेनुमैक्षत जयस्तदा स्तनाभ्याससंकलिततूर्णतर्णकाम् ॥५९॥**

दामनामेत्यादि—तदा जयः स्तनानामभ्यासे संचूषणे संकलितस्तूर्णः शीघ्रभावो येन स तादृशस्तर्णको वत्सो यस्यास्तां धेनुं गां दुधुक्षतो दोग्धुमिच्छतो दामनाम पदनियन्त्रणरज्जूं दधतस्तथातियतिनीं पुनरप्यन्यथागन्तुमुद्यतां सहुंकृति यथा स्यात्तथाऽभ्याजतः संतर्जयतो गोपानैक्षत। स्वभावाख्यातिरलंकृतिः ॥५९॥

**प्रेयसीप्रणयपूर्णमानसः शीघ्रमेव निजमण्डलावधिम् ।**
**सच्चिदैकहृदयो मुनीश्वरः प्राप मुक्तिनगरीप्रघाणवत् ॥६०॥**

प्रेयसीत्यादि—प्रेयस्यां सुलोचनायां यः प्रणयः प्रीतिभावस्तेन पूर्णं भरितं मानसं चित्तं यस्य स जयकुमारः सच्चिदा शुद्धात्मबुद्धया सहैकमभिन्नं हृदयं यस्य स मुनीश्वरो मुक्तिरेव नगरी सर्वदा निवासयोग्यत्वात् तस्या प्रघाणवद् देहलीमिव शीघ्रमेव निजमण्डलस्य स्वदेशस्यावधिं सीमानं प्राप लब्धवान्। इत्युपमालंकारः ॥६०॥

---

**अर्थ**—जो अहीर राजाके दर्शनके लिये दही आदिके पात्रोंसे युक्त होते हुए आये थे, उन सबको न्यायवान् कुशल राजाने कुशल प्रश्न आदिसे संतुष्ट कर प्रेमपूर्वक विदा किया था ॥५८॥

**अर्थ**—स्तन चूसनेकी शीघ्रतासे युक्त बछड़ा जिसके समीप है, ऐसी मरकनी गायको दोहनेके इच्छुक तथा हुंकारपूर्वक पैर बांधनेके लिये रस्सी लिये हुए सामने आनेवाले गोपोंको जयकुमारने देखा था ॥५९॥

**अर्थ**—जिस प्रकार शुद्धात्माके साथ हृदयका एकत्व स्थापित करने वाले मुनिराज मुक्तिरूपी नगरीकी देहलीको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार सुलोचनाके प्रेमसे परिपूर्ण हृदयवाले जयकुमार शीघ्र ही अपने देशकी सीमाको प्राप्त हो गये ॥६०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


आतपत्रसितफेनरङ्गिणो सञ्चलद्ध्वजबृहत्तरङ्गिणी ।
चन्द्रहासझषलासवाहिनो निस्ससार विभवेन वाहिनी ॥६१॥

आतपत्रेत्यादि—तस्य वाहिनी नाम सेना सैव नदी याऽऽतपत्राण्येव सिताः समुचिताः फेनास्तेषां रङ्गवती रङ्गिणी तथा सञ्चलन्तो ये ध्वजास्त एव बृहत्तरङ्गास्तद्वती तथा चन्द्रहासा असयस्त एव झषा मीनास्तेषां लासस्य नृत्यस्य वाहः सम्बन्धस्तद्वतीति विभवेन समारोहेण निस्ससार ॥६१॥

अवलम्बितमत्तवारणस्रजमत्यादरतो महीपतिः ।
विरहादिव लम्बितालकां नगरीमेष ददर्श सम्प्रति ॥६२॥

अवलम्बितेत्यादि—एष महीपतिर्जयकुमारः सम्प्रति कालेऽवलम्बिता मत्तवारणस्रक् किल वन्दनवारमाला यस्यास्तां स्वीयां नगरीं विरहाच्चिरवियोगादिव किल लम्बिता अलकाः केशा यस्यास्तामत्यादरतोऽतिशयप्रीतिभावतो ददर्शेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥६२॥

गगनंकषमन्दिरध्वजा मरुता सत्तरलाञ्चला सती ।
प्रथमं खलु वीक्षिता जनैर्यदि वा स्वागतमेव तन्वती ॥६३॥

गगनंकषेत्यादि—तत्र सर्वप्रथमं जनैर्मरुता वायुना सत्तरलमञ्चलं यस्यास्सा सती गगनंकषस्य व्योमचुम्बिनो मन्दिरस्य जिनस्थानस्य ध्वजा यदि वा खलु स्वागतमेव तन्वतीति वीक्षिता दृष्टाभूदित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥६३॥

पुरसीम्नि पुनः पदातयोऽथ पदाञ्चौ विनियम्य चक्रिरे ।
परिशोध्य हि पादरक्षिके उपसंव्यानकविस्तरं तराम् ॥६४॥

---

अर्थ—जो छत्ररूपी योग्य फेनके रङ्गसे सहित थी, हिलती हुई बड़ी-बड़ी ध्वजारूप तरङ्गोंसे युक्त थी तथा तलवाररूपी मछलियोंके नृत्यसे सम्बद्ध थी, ऐसी वह सेना रूपीनदी समारोहसे निकल रही थी, आगे बढ़ रही थी ॥६१॥

अर्थ—जिसमें वन्दनवार मालाएँ लटक रहीं थी और उनसे जो विरहके कारण केशोंको मानों खुले रखे हुई थी, ऐसी उस नगरीको प्रवेशके समय राजा जयकुमारने बड़े आदरसे देखा ॥६२॥

अर्थ—सबसे पहले लोगोंने गगनचुम्बी मन्दिरकी ध्वजा देखी । उस ध्वजाका अञ्चल वायुसे चञ्चल हो रहा था। इससे ऐसी जान पड़ती थी, मानों स्वागत ही कर रही हो ॥६३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



पुरसीम्नीत्यादि—पुनरथ पदातयः पादचारिणो जनास्ते पदाञ्चौ स्वस्याधोवस्त्रस्योत्कोचितौ प्रान्तभागौ विनियम्योन्मुक्तौ कृत्वा पादरक्षिके उपानहौ परिशोध्योपसंव्यानकस्योत्तरीयवस्त्रस्य विस्तरं प्रसारं चक्रिरेतराम्। 'ईदूदेद्‌द्विव' इत्ययेन प्रकृतिभावः ॥६४॥

**तुरगा अपि ते रजस्वलावनिसंपर्कत आत्तकल्मषाः।**
**श्रमवारिभिरेवमाप्लुताः प्रबभूवुः खलु तत्र विश्रुताः ॥६५॥**

तुरगा इत्यादि—ते विश्रुताः सुप्रसिद्धास्तुरगा अपि रजस्वलायाः पांसुलाया रजोधर्मवत्याश्चावनेः पृथिव्याः संपर्कतः संसर्गादात्तं कल्मषं मलिनत्वं यैस्ते तत्रेत्येवं खलु श्रमवारिभिः प्रस्वेदजलैराप्लुताः प्रबभूवुः। उत्प्रेक्षालंकार ॥६५॥

**गमनातिशयाज्जनीजनः शिथिलं साम्प्रतमन्तरीयकम्।**
**दृढयन्नथवा प्रसाधयन् स्म मुहुः पश्यति लोलया दृशा ॥६६॥**

गमनेत्यादि—दृढयन्नीविनिबन्धं संस्कुर्वन् प्रसाधयन् सुसज्जयन्। शेषं स्पष्टम् ॥६६॥

**पवनप्रतिभाविनोऽप्ययात् परिधूसरिताङ्कशङ्कया।**
**रथराजवितानकं पथीत्यधुना शोधयति स्म सारथिः ॥६७॥**

---

**अर्थ**—तदनन्तर नगरकी सीमापर पहुँचते ही पैदल चलने वाले सैनिकोंने अधोवस्त्रके ऊपर चढ़े हुए अंचलको खोलकर तथा जूतोंको साफकर उत्तरीय वस्त्रको अच्छी तरह विस्तृतकर लिया ॥६४॥

**भावार्थ**—मार्गमें चलते समय बाधक समझकर अधोवस्त्रके जिन अंशोंको ऊँचाकर लिया था, उन्हें नीचाकर लिया, धूलिधूसरित जूतोंको साफकर लिया और उत्तरीय वस्त्रको फैलाकर ठीककर लिया। नगरमें प्रवेश करते समय लोग मार्गकी अस्तव्यस्त वेषभूषाको ठीक करते ही हैं ॥६४॥

**अर्थ**—वे प्रसिद्ध घोड़े भी रजस्वला–धूलिसे भरी हुई (पक्षमें रजोधर्मसे युक्त) पृथिवी (पक्षमें स्त्री) के संसर्गसे आत्तकलमष–मलिनताको प्राप्त (पक्षमें पापको प्राप्त) हो गये थे, इसलिये पसीनेके द्वारा मानों उन्होंने स्नान किया था ॥६५॥

**अर्थ**—दूर तक चलनेके कारण ढीली हुई अधोवस्त्रकी गांठको मजबूत बनाती तथा अधोवस्त्रको सुसज्जित करती हुई स्त्रियाँ चञ्चल दृष्टिसे उसे बार-बार देख रही थी ॥६६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



पवनेत्यादि—सारथी रथवाहकः स इदं रथराजस्य वितानकं समावरणवस्त्रं तत् पवनस्य वायोः प्रतिभावः प्रभावो यत्र स पवनप्रतिभावी ततोऽयात् प्रसङ्गात् पथि मार्गे-परितः सर्वत एव धूसरितोऽङ्कः स्थलं यस्येति शङ्कया मनस्तर्कयाऽधुना परिशोधयति स्म ॥६७॥

**मनुजास्तनुजायनश्रमं किमपीमं नहि मेनिरे तदा ।**
**निजपत्तनदत्तनर्मणां परिवारैः परिवारिसम्पदाम् ॥६८॥**

मनुजा इत्यादि—मनुजा गमनादायातास्ते तदा निजपत्तनस्य नगरस्य दत्तं समुक्तं नर्म समाचारो यैस्तेषाम्, परिवारिणां पितृपुत्रादीनां सम्पत् संपर्कः परिचयो वा येषां तेषां परिवारैः समूहैस्तदा तनौ जायते योऽयनस्य गमनस्य श्रमस्तमिमं किमपि नहि मेनिरे । प्रासङ्गिकलोकैः कुटुम्बस्य कुशलसमाचारं श्रुत्वा मार्गस्य श्रमो दूरं गतोऽभूदिति ॥६८॥

**चरणद्वितयेन पत्तिभिः पदवी संसृतिवद् दवीयसी ।**
**स्वरमाभिगमाभिलाषिभिः सहजेनाप्यतिवर्तिता रसिन् ॥६९॥**

चरणेत्यादि—हे रसिन् पाठक ! शृणु, संसृतिवद् दवीयसी दीर्घतमापि पदवी पद्धतिः सा स्वस्वरमया स्वस्त्रिया सहाभिगमः समागमस्तस्याभिलाषो येषां तैः पत्तिभिः पदचारिभिरपि जनैः सहजेनानायासेन चरणद्वितयेन पादद्वयेनैवातिवर्तिता व्यतीता ॥६९॥

**हृदयस्थितकामपावकं कलयन्नञ्चलकैः किलावृतम् ।**
**वनिताजन एकतस्तरां तनुते वाततातिं स्म साम्प्रतम् ॥७०॥**

---

**अर्थ**—नगरमें प्रवेश करते समय सारथिने वायुके प्रभावसे युक्त प्रसङ्गसे रथराजके आवरण वस्त्रको धूलिधूसरित होनेकी शङ्कासे साफकर लिया, अर्थात् उसकी धूलि झटकार दी ॥६७॥

**अर्थ**—उस समय, जिन्होंने अपने नगरका समाचार सुनाया है, ऐसे पारिवारिक लोगोंके संपर्कमें रहनेवाले लोगोंके समूहसे, यात्राकर आये हुए मनुष्योंने शरीरसम्बन्धी इस श्रमको कुछ भी नहीं माना था ।

**भावार्थ**—स्वागतके लिये आये हुए लोगोंसे अपने-अपने कुटुम्बी जनोंका कुशल समाचार जानकर प्रवाससे आये हुए लोग मार्गके सब श्रमको भूल गये ॥६८॥

**अर्थ**—हे रसिक पाठक ! सुनो, अपनी स्त्रीके समागमकी अभिलाषा रखने वाले पैदल सैनिकोंने संसारके समान अत्यन्त दीर्घ मार्गको अनायास ही दो पैरोंसे व्यतीतकर दिया ॥६९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



हृदयेत्यादि—साम्प्रतं वनिताजनः स्त्रीसमाजः स एकत एकपार्श्ववर्तीभूयाञ्चलकै-रुत्तरीयवस्त्रैर्हृदयेऽन्तरङ्गे स्थितो यः कामपावकः स्मरवह्निस्तमावृतं सुगुप्तमपि कलयन् जानन् वाततर्ति वायुवृत्तिं तनुते स्मेति मौग्ध्यम् ॥७०॥

**अतिवर्त्य नदीवनादिकं पुरमात्मीयमवापि सेनया ।**
**नरपस्य यथा यतिस्थितिर्लभते संसृतितः शिवं रयात् ॥७१॥**

अतिवर्त्येत्यादि—यथा येन प्रकारेण यतिस्थितिर्मुन्याचारपालको जनो रयाद्वेगाद-चिरेणैव कालेनेति यावत्ः संसृतितः चतुर्गतिरूपसंसारात् तमतीत्येति यावत्, शिवमपवर्गं लभते तथा नरपस्य जयकुमारस्य राज्ञः सेनया नदीवनादिकं विषमस्थलमतिवर्त्य समुल्लङ्घ्य आत्मीयं स्वकीयं पुरं हस्तिनागपुरपत्तनमवापि प्राप्तम् ॥७१॥

**समियाय स जाययादृतो नगरस्थापितमन्त्रिभिर्धनी ।**
**सहितः कुसुमश्रिया मधुः कुतुकोत्कैर्भ्रमरैरिवाध्वनि ॥७२॥**

समियायेत्यादि—जायया सुलोचनया सहितः स धनी जयकुमारोऽध्वनि मार्गे, नगरे स्थापिता ये मन्त्रिणस्तैरागत्यादृत आदरभावं नीतः सन् कुसुमश्रिया पुष्पसम्पदा सहितो मधुर्वसन्तः कुतुकोत्कैर्विनोदभरितैः पुष्पोत्कण्ठितैर्वा भ्रमरैः षट्पदैरादृत इव समियायाग्रे गमनं चकार । उपमालंकारः ॥७२॥

**नगरं प्रविवेश वैभवान्निजवृत्तं कियदेषु संवदन् ।**
**अथ कर्णपथं नयन्नयं स्वयमेभ्यो निजदेशवृत्तकम् ॥७३॥**

---

अर्थ—एक ओर स्थित स्त्रीसमूह हृदयमें स्थित कामाग्निको उत्तरीय वस्त्रके अंचलसे आवृत-सुगुप्त जानता हुआ इस समय अत्यधिक हवा कर रहा था । स्त्रियाँ भोलेपनसे यह नहीं समझ सकीं कि हवा करनेसे छिपी अग्नि प्रज्वलित ही होगी, न कि शान्त ॥७०॥

अर्थ—जिस प्रकार मुनियोंके आचारका पालन करने वाला मनुष्य शीघ्र ही संसारसे मोक्षको प्राप्तकर लेता है, उसी प्रकार राजाकी सेनाने नदी, वन आदि विषम मार्गको उल्लंघनकर अपना नगर प्राप्तकर लिया ॥७१॥

अर्थ—जिस प्रकार फूलोंमें उत्कण्ठित भ्रमरोंसे आदर भावको प्राप्त हुआ वसन्त पुष्पलक्ष्मीके साथ वनमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार नगरमें स्थापित मन्त्रियोंके द्वारा मार्गमें आदर भावको प्राप्त हुए राजा जयकुमारने सुलोचनाके साथ नगरमें प्रवेश किया ॥७२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**नगरमित्यादि**—अथायं नृप एषु मन्त्रिमुख्येषु निजवृत्तं प्रवासावसरे यदभूत्तत्कियदपि यत्किञ्चित् संवदन् संस्तथा निजदेशस्य वृत्तकं पृष्ठतो यत्किञ्चिदभूत् तदेभ्यः स्वयं कर्णपथं नयन् नगरं वैभवाद्यथा समारोहं प्रविवेश । अनुप्रासोऽलंकार ।।७३।।

**नरनाथमनन्यचेतसोभयतस्तावदुपस्थिता नराः ।**
**प्रणमन्ति तथा स्म ते किलानरपद्वारमुदारगोपुरात् ।।७४।।**

**नरनाथमित्यादि**—नरा दर्शकलोका उदारं च तद् गोपुरं नगरद्वारं तस्मादारभ्यानरपद्वारं राजद्वारपर्यन्तं नरनाथमुभयतोऽनन्यचेतसा तदेकचित्तीभूयोपस्थितास्ते तं पुनः प्रणमन्ति स्म । अनुप्रासोऽलंकारः ।।७४।।

**सरतो बलवारिधेः स्थितो द्वयतः पौरगणः क्रमागतः ।**
**समतिक्रमरोधमादरादनुचक्रे स हि तीरमन्तरा ।।७५।।**

**सरत इत्यादि**—सरतः प्रसारं गच्छतो बलं सैन्यमेव वारिधिस्तस्य द्वयतो द्वयोर्भागयोः क्रमश आगतः क्रमागतः पौरगणः पुरवासिनां समूहः स तीरमन्तरा तटमनुलग्नो भूत्वा स्थितः सन्नादराद्विनयभावेन समतिक्रमस्य रोधं सीमातिक्रमणनिवारणमनुचक्रे । हीति निश्चयेन । रूपकोऽलंकारः ।।७५।।

**वणिजो मणिजोषमादरादुपहारं ह्यनणौ वणिक्पथे ।**
**ददुरेव चिरादुपेयुषे सुयशःश्रीसहिताय सुप्रथे ।।७६।।**

**वणिज इत्यादि**—अनणौ विपुलविस्तारे वणिक्पथे हाटस्थाने, कीदृशे तस्मिन् ? सुप्रथे शोभना नीतिपूर्णा प्रथा यत्र तस्मिन्, यशश्च श्रीश्च यशःश्रियौ शोभने यशःश्रियौ ताभ्यां

---

**अर्थ**—अपने प्रवासका कुछ वृत्तान्त मन्त्रियोंसे कहते हुए और अपने देशका कुछ वृत्तान्त मन्त्रियोंसे सुनते हुए राजाने समारोहपूर्वक नगरमें प्रवेश किया ।।७३।।

**अर्थ**—विशाल गोपुरसे लेकर राजद्वार तक अनन्यचित्त हो दोनों ओर खड़े हुए मनुष्योंने राजाको प्रणाम किया ।।७४।।

**अर्थ**—आगे चलते हुए सेनारूपी समुद्रके दोनों ओर क्रमसे आकर खड़े हुए नगरवासियोंके समूहने तटके बिना ही आदरभावसे सीमातिक्रमणके निषेधका अनुकरण किया था ।

**भावार्थ**—सब लोग विनयभावसे यथास्थान खड़े थे अर्थात् सीमाका उल्लंघन नहीं हुआ था ।।७५।।

**अर्थ**—अच्छी प्रथासे युक्त सुविस्तृत बाजारमें व्यापारियोंने चिरकालबाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सहितायैवं चिरादुपेयुषे बहुकालादुपागताय तस्मै वणिजो नैगमा आदरात्प्रसन्नभावान्मणिजोषं रत्नानां समूहरूपमुपहारं ददुः ॥७६॥

**तदा वधूकान्तिसुधां निपातुमभ्यागतानां पुरसुन्दरीणाम् ।**
**मुखेन्दुसन्तानवशाद् बभूवुरन्वर्थसंज्ञाः खलु चन्द्रशालाः ॥७७॥**

तदेत्यादि—चन्द्रशाला नाम वलभ्यस्तास्तदा वध्वाः सुलोचनायाः कान्तिरेव सुधाऽमृतधारा तां निपातुमास्वादयितुमभ्यागतानां पुरस्य सुन्दरीणां ये मुखेन्दवस्तेषां सन्तानस्य वशादन्वर्थसंज्ञा यथार्थनामवत्यो बभूवुः खलु । रूपकोऽलंकारः ॥७७॥

**विलोक्य कान्तं सुरभिस्वरूपं प्रफुल्लिता गात्रलता लताङ्ग्याः ।**
**तदाननेन्दुं मधुरस्मितान्तं दृष्ट्वा समुद्रोमलतोऽयमिष्टः ॥७८॥**

विलोक्येत्यादि—तदा किलैकस्या लताङ्ग्याः स्त्रिया गात्रलता सुरभि सुन्दरतरं स्वरूपं भावो यस्य तं तथा सुरभिर्मधुऋतुस्तत्स्वरूपं कान्तं विलोक्य प्रफुल्लिता विकसिताभूत् । तथा सोऽयमिष्टपुरुषो मधुरो मनोहरः स्मितस्यान्तो यस्मिंस्तं तस्याः प्रियाया आननमेवेन्दुं तं दृष्ट्वा समुद्रोमलतो मुद्रोम्णां हर्षाङ्कुराणां लतापरम्परा तया सहितोऽभूत् । किं वाऽमलेन तोयेन मिष्टोऽसौ समुद्रो मुद्रायुक्तो वा वारिधिर्वाऽभूत् । मधुरैरमृतरूपै रश्मिभिस्तान्तं व्याप्तं वा मुखेन्दुम् । श्लेष एवालंकारोऽत्र ॥७८॥

**प्रियां समुद्दिश्य नरः स्वमास्यं समस्पृशच्छ्रान्ततयेव चास्य ।**
**विलोकनात् संघृणयेव वामाऽधरं परावृत्य तरां रराज ॥७९॥**

---

आये एवं सुयश और सुलक्ष्मीसे युक्त राजाके लिये आदरभावसे मणियोंका उपहार दिया ॥७६॥

**अर्थ**—उस समय सुलोचनाकी कान्तिरूपी सुधाका पान करनेके लिये आई हुई नगरवासिनी स्त्रियोंके मुखरूपी चन्द्रमाओंके समूहसे चन्द्रशालाएँ—अट्टालिकाएँ सार्थक नामवाली हो गई थी ॥७७॥

**अर्थ**—किसी स्त्रीकी शरीररूपी लता **सुरभिस्वरूप**—अत्यन्त मनोहर रूपवाले अथवा वसन्त ऋतुरूप **कान्त**—पतिको देखकर प्रफुल्लित—विकसित हो गई और यह इष्ट पति—पुरुष भी **मधुरस्मितान्त**—मनोहर किरणोंसे व्याप्त अथवा **मधुरस्मितान्त**—मनोहर मुसक्यानसे युक्त उसके मुखरूपी चन्द्रमाको देखकर **समुद्रोमलतः**—उठते हुए रोमाञ्चोंकी परम्परासे युक्त हो गया, अथवा **अमलतोयमिष्ट समुद्र**—स्वच्छ जलसे मिष्ट समुद्र हो गया, अथवा **अमलतोयमिष्ट**—निर्मल आभासे मनोहर **समुद्र**—मुद्रा सहित हो गया ॥७८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



प्रियामित्यादि—एको नरः प्रियां स्वेष्टां समुद्दिश्य लक्षीकृत्य श्रान्ततयेव समालस्यभावेनेव स्वमास्यमात्मीयमुखं तन्मुखचुम्बनरूपस्वाभिप्रायाभिव्यक्त्यर्थं समस्पृशत्। तदा सा वामा सुन्दरी चास्य विलोकनात् संघृणयेव निरादरभावेनेवाधरं स्वकीयमोष्ठं परावृत्य स्वकीयायाः सानुरागतायाः सन्ध्याया सूचनावती रराज ॥७९॥

**वनिताजनिता तरला गीतिः स तु तूर्यरवः समुदात्तः।**
**सुविकाशि नृपाङ्गणमासीद्धर्षमितः सकलश्च निशान्तः ॥८०॥**

वनितेत्यादि—तदानीं तत्र वनिताभिः स्त्रीभिर्जनिता संकलिता माधुर्ययुताऽवसरोचिता गीतिरासीत् तु पुनः समुदात्तः प्रस्पष्टरूपमुदा हर्षेण सहितः समुत्, समुच्चासावात्तः समारब्धस्तूर्यरवो भेरीनादोऽप्यासीत्। सकलोऽपि निशान्तोऽन्तःपुरप्रदेशः स हर्षमितः प्रसन्नभावं गत आसीत्। तथा नृपाङ्गणमपि सुविकाशि आसीत्। यत्र तत्र सर्वत्र प्रसन्नभावोऽभूदिति ॥८०॥

**विशद्भिर्जनैर्निःसरद्भिश्च शश्वन्नृपद्वारमाभून्नियोगिप्रसिद्धैः।**
**अतिव्याकुलं शब्दविस्तारयुक्तं तरङ्गैरिदानीमिवाम्भोधितीरम् ॥८१॥**

विशद्भिरित्यादि—इदानीं नियोगिषु कार्यार्थं नियुक्तेषु ये प्रसिद्धास्तैर्जनैः कैश्चिद्विशद्भिः कैश्चिच्च निःसरद्भिः शश्वत् पुनः पुनरित्यतिव्याकुलं संव्याप्तं तथा शब्दस्य कलकलस्य विस्तारेण युक्तमतस्तरङ्गैर्व्याप्तमम्भोधितीरमिवाभूत् सम्बभूवेत्युपमालंकारः ॥८१॥

---

**अर्थ**—किसी एक पुरुषने अपनी स्त्रीको लक्ष्यकर—उसे देखकर अलसाये भावसे अपने मुखका स्पर्श किया, अर्थात् चुम्बनका अभिप्राय प्रकट किया और स्त्रीने भी इसे देखा अनादरभाव अथवा समीचीन दयाभावसे अपने ओठको परावृत्त किया, अर्थात् लाल ओंठ दिखाकर उसने संध्या समयकी सूचना दी। ऐसा करती हुई वह स्त्री अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ॥७९॥

**अर्थ**—उस समय स्त्रीजनोंके द्वारा संकलित अवसरोचित मनोहर गान हो रहा था, हर्षसहित प्रारम्भ किया भेरीका जोरदार शब्द हो रहा था, राजाका आंगन विकसित—चहल पहलसे युक्त था और समस्त अन्तःपुर हर्षको प्राप्त हो रहा था, जहाँ तहाँ सभी जगह हर्ष छाया हुआ था ॥८०॥

**अर्थ**—इस समय निरन्तर प्रवेश करते और बाहर निकलते हुए अधिकारी पुरुषोंसे अत्यन्त व्याकुल तथा कलकल शब्दसे युक्त राजद्वार तरङ्गोंसे व्याप्त समुद्र तटके समान हो रहा था ॥८१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



हेमाङ्गदादिष्वधुना स्थितेषु बबन्ध पट्टं पटुरेण तस्याः ।
भाले विशाले दुरितान्तकाले भवन्ति भावा रमिणां रमासु ॥८२॥

हेमाङ्गदादिष्वित्यादि—एष पटुश्चतुरो जयकुमारः, स तस्याः सुलोचनाया विशाले भाले ललाटे हेमाङ्गदादिषु सर्वपरिजनेषु पुरजनेषु च स्थितेषु पट्टं बबन्ध तां पट्टमहिषीं कृतवानिति । हि सुलोचनायाः पुण्योदयो यतः किल रमः कामस्तद्वतामपि नराणामनुकूलभावास्ते रमासु स्त्रीषु दुरितस्य पापस्यान्तकाले हि भवन्ति किल । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥८२॥

अथ कम्पनाधिनाथो भवेद् भवानेव देव भूमितले ।
भवदपरः कश्च नरोऽकम्पनसुततां व्रजेद् बन्धो ! ॥८३॥

अथेत्यादि—अथात्र श्यालैर्हेमाङ्गदाभिः समं जयकुमारस्य परिहासगोष्ठी सा यथा-कोऽपि जयकुमारं जगाद हे देव ! अस्मिन् भूमितले भवानेव कम्पनस्य कम्प्रस्याधिनाथः संरक्षकस्तदुद्धृत्य कम्पनं नाम कम्पः स एवाधिस्तस्यभवानेव नाथो भवेन्न तु वयमिति । एतदुत्तरं जयकुमार आह—भो बन्धो ! सोऽत्र नरो भवदपरः कः स्याद्योऽकम्पनस्य महाराजस्य सुततां व्रजेदेतदेव परावृत्त्या कम्पनस्य यमस्य सुततां व्रजेदिति ॥८३॥

अन्यदर्शकतया जगौ परः श्रूयते भुवि भवानहो करी ।
प्रत्युवाच पुनरेष साहसी त्वं च वाञ्छसितरां करेऽणुताम् ॥८४॥

---

अर्थ—इस समय चतुर जयकुमारने हेमाङ्गद आदिके विद्यमान रहते हुए सुलोचनाके विशाल ललाटपर पट्टराज्ञी पदका पट्ट बांधा, सो ठीक ही किया, क्योंकि पाप कर्मका अन्त, अर्थात् पुण्य कर्मका उदय होनेपर स्त्रियोंके विषयमें पुरुषोंके अनुकूल-इष्टभाव होते ही है ॥८२॥

अर्थ—हेमाङ्गद आदि सालोंके साथ जयकुमारकी विनोदगोष्ठी चल रही है। किसीने जयकुमारसे कहा कि हे देव ! इस भूतल पर आप ही कम्पन-भीरुताके अधिनाथ स्वामी हैं, अथवा कम्पनरूप आधिमानसिक व्यथाके नाथ हैं। जयकुमारने कहा हे बन्धो ! आपके सिवाय दूसरा कौन मनुष्य अकम्पन सुतता-यमराजके पुत्रपनेको प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् मैं तो कम्पन का ही अधिनायक हूँ, पर आप तो अकम्पन-यमके पुत्र होकर उसके उत्तराधिकारी बन रहे हैं। परिहार पक्षमें आपके सिवाय अकम्पन-काशीनरेशकी पुत्रताको कौन प्राप्त हो सकता है ?॥८३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



अन्येत्यादि—पुनः परः कश्चिदन्यस्य दर्शकतया जगौ यदहो भुवि पृथिव्यां भवान् जयकुमारः करी पृथिव्याः करग्रहणकरस्ततोऽसौ करी हस्तीति। तदुत्तरं पुनरेष साहसी जयकुमारः प्रत्युवाच यत्किल त्वं च करेऽणुतां किञ्चित्करतां यद्वा हस्तिनीभावं वाञ्छसितरामिति ॥८४॥

**गोपतिर्जनतयासि भाषितोऽस्माकमाशु गुणवद्वृषस्त्वकम्।**
**आह सोऽथ वदतीतरे जयः किन्न गोत्रिगुण एव भो भवान् ॥८५॥**

गोपतिरित्यादि—अथ हे जयकुमारत्वकं जनतया गोपतिर्भूपोऽत एव बलीवर्द इति भाषितोऽसि तावदतोऽस्माकमप्याशु निस्संकोचं गुणवद्वृषो गुणयुक्तो धर्मयुक्तस्तथा रज्जूयुक्तो वृषभ एव इतीतरे (इत्थमितरस्मिन्) वदति सति स जयकुमार आह—भो भवानपि गोत्रिगुणः किं नास्ति, अपि त्वस्येव गोत्रिणां कुलवतां गुणो लाभकर इत्यस्य स्थाने गवां पशूनां त्रिगुणः ॥८५॥

**अस्मदत्र तु भवान्मृगनेत्रीं प्राप्य गच्छतु परम्परभावम्।**
**प्राह सोऽपि गदतीत्यपरस्मिन्नास्मि किन्तु भवतः सुहृदेव ॥८६॥**

अस्मदित्यादि—अत्र तु भवान् अस्मन्मृगनेत्रीमेणाक्षीमित्यस्य स्थाने हरिणानां नायिकां प्राप्य परम्परभावं पुत्रपौत्रादिकुलवृद्धिमस्य स्थाने किलैणरूपतां गच्छतु किलेत्यपरस्मिन् गदति सति स जयकुमारः प्राह यत्किल पुनरपि भवतः सुहृदेवास्मि ॥८६॥

---

अर्थ—दूसरों के दर्शक रहते हुए किसीने कहा कि पृथिवी पर आप करी–हाथी (पक्षमें कर वसूल करने वाले) सुने जाते हैं। साहसी जयकुमारने उत्तर दिया कि हाँ मैं करी हूँ और आप करेणुता–हस्तिनीके भावको प्राप्त होना चाहते हैं (पक्षमें कर वसूल करनेमें अणुता–अल्पताकी इच्छा करते हैं) ॥८४॥

अर्थ—किसीने कहा कि आप जनताके द्वारा **गोपति**–गायोंके पति (पक्षमें पृथिवीपति) कहे जाते हैं, इसलिये हम लोगोंके लिये भी आप शीघ्र ही **गुणवद्वृषः**–रस्सी सहित बैल हैं (पक्षमें गुणसहित धर्म हैं)। इस प्रकार किसी अन्यके कहने पर जयकुमारने कहा कि अरे! आप क्या **गोत्रिगुण**–बैलके तीन गुणोंसे सहित नहीं हैं, अर्थात् मैं तो एक ही गुणसे सहित हूँ, पर आप तीन गुणोंसे सहित हैं (पक्षमें गोत्री–कुलीन मनुष्योंके गुणोंसे सहित हैं।) ॥८५॥

अर्थ—यहाँ आप हमसे मृगनेत्री–मृगोंकी नायिका-हरिणी (पक्षमें मृगनयनी–सुलोचना) को प्राप्त कर परस्परभाव–पुत्रपौत्रादिकी वृद्धिको प्राप्त होओ। इस प्रकार किसी अन्यके कहने पर जयकुमारने कहा कि फिर भी मैं आपका सुहृद मित्र हूँ. अर्थात् आपने मृगनेत्री–मृगनयनी न देकर मृगनेत्री–हरिणी दी,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



इत्युक्तिभिर्वक्रतराभिराभिर्बभूव भव्या परिहासगोष्ठी ।
गूढार्थपूर्वार्धपरार्धभाग्भिः श्यालैः समं हस्तिपुराधिपस्य ॥८७॥

इतीत्यादि—इत्येवमादिभिर्वक्रतराभिरुक्तिभिरेकतो गूढार्थपूर्वार्द्धभाग्भिरन्यतश्च गूढार्थपरार्द्धं भाग्भिः श्यालैर्जायाभ्रातृभिः समं हस्तिपुराधिपस्य भव्या परिहासगोष्ठी बभूव ॥८७॥

वापीतटाकतटिनीतटनिष्कुटेषु
हेमाङ्गदप्रभृतिबन्धुसमाजराजम् ।
चिक्षेप सोऽथ रमयन् समयं नरेन्द्रः
केन्द्रेऽरिवृद्धिकनिदानभिदामधीशः ॥८८॥

वापीत्यादि—अथ सोऽरीणां वैरिणां वृद्धिकमुन्नतिकरं निदानं भिन्दन्ति दूरीकुर्वन्ति ये तेषामधीशः स्वामी नरेन्द्रो जयकुमारो वापी च तटाकश्च तटिनी चेत्येवमादीनां तटेषु ये निष्कुटाः समुद्यानानि तेषु हेमाङ्गदप्रभृतिबन्धूनां समाजराजं रमयन् केन्द्रे स्वराजधान्यां समयं चिक्षेप । अनुप्रासोऽलंकारः ॥८८॥

पुनरमून् बहुमानपुरस्सरं प्रतिविसर्जितवान् विहितादरः ।
विविधरत्नसुवर्णविभूषणैरतिथिसत्कृतिकृन्मतिमान्नरः ॥८९॥

पुनरित्यादि—अतिथीनां प्राघूर्णिकानां सत्कृतिमादरं करोति यः स मतिमान् नरो

---

इससे मुझे रोष नहीं है—शत्रुताका भाव नहीं है, किन्तु आप लोगोंके प्रति सुहृद् भाव ही है ॥८६॥

**अर्थ**—इस प्रकार इन [1]गूढार्थ पूर्वार्द्ध और गूढार्थ परार्द्धसे युक्त कुटिल (द्वचर्थक) उक्तियोंके द्वारा हस्तिनापुरके राजा जयकुमारकी हेमाङ्गद आदि सालोंके साथ परिहास-गोष्ठी हुई ॥८७॥

**अर्थ**—तदनन्तर शत्रुओंकी उन्नतिके कारणोंको खण्डित करने वालोंके स्वामी राजा जयकुमार हेमाङ्गद आदि इष्टजनोंके समूहको वापिका, तालाब, नदीतट और गृहोद्यानोंमें रमण कराते हुए राजधानीमें समय व्यतीत करने लगे ॥८८॥

**अर्थ**—तदनन्तर अतिथियोंका सत्कार करने वाले बुद्धिमान् जयकुमारने

---

१. जहाँ श्लोकके एक पादके अक्षर अन्य पदोंमें अन्तर्हित रहते हैं, उसे गूढपाद, जहाँ पूर्वार्धके अक्षर उत्तरार्धमें गूढ़ रहते हैं, उसे गूढार्थ पूर्वार्ध और जहाँ उत्तरार्धके अक्षर पूर्वार्धमें गूढ रहते हैं, उसे गुणार्ध परार्ध कहते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जयकुमारः स पुनर्विहितः कृत आदरो येन स भवन्नमून् हेमाङ्गदादीन् जनान् विविधै-रनेकप्रकारकै रत्नसुवर्णानां विभूषणैर्बहुमानपुरस्सरमादरपूर्वकं यथा स्यात्तथा प्रति-विसर्जितवान् ।।८९।।

आशास्य चारुवचसां चयैः स्वसारं नयैकचित्तास्ते ।
प्रीत्याभिवाद्य च जयं विनिर्ययुः पत्तनात्तस्मात् ।।९०।।

आशास्येति—नये नीतिपथे एकं प्रधानं चित्तं येषां ते नयैकचित्ता नीतिमार्गविदो हेमाङ्गदादयो जनास्ते चारुवचसां हृदयहारिवाक्यानां चयैः समूहैः स्वसारं मनुजामाशास्य समुचितरीत्या तां संदिश्य तथा च प्रीत्या साहजिकस्नेहेन जयं नाम गजपत्तनाधीशमभिवाद्य सम्प्रार्थ्य तस्मात् पत्तनान्नगराद्विनिर्ययुः ।।९०।।

गत्वान्तिकं तावदकम्पनस्य नत्वा तकं तयोर्विदित्वा ।
क्षेत्रं वदित्वा च मिथोऽनुरक्ति ते नीतवन्तोऽप्यमुकं प्रसत्ति ।।९१।।

गत्वेत्यादि—ते पुनर्हेमाङ्गदादयस्तावदकम्पनस्य स्वपितुरन्तिकं निकटं गत्वा तमेव तकं नत्वा नमस्कृत्य तत्र तयोः स्वसृस्वामिनोः क्षेमं गदित्वा मिथस्तयोरनुरक्ति च वदित्वा पट्टप्रदानादिरूपां कथयित्वाऽमुकं चाकम्पनमपि प्रसत्ति प्रसन्नभावं नीतवन्तः । अनुप्रासोऽ-लंकारः ।।९१।।

पुत्रीं तु सूत्रितसद्गुणां विदुषीं स काशीराडुडुप-
रम्याननां परिणाय्य सिद्धिविधिनाऽधुना निपुणात्मप्रजः ।
मानवशिरोमणिरात्मविन्निबबन्ध शर्मण्याशयं
यशसां पुनस्तरसां समागमपण्डितो जल्पन्नयम् ।।९२।।

पुत्रीमित्यादि—स यशसां कीर्तिवृत्तानां पुनस्तरसां तेजसां च समागमे सम्भाषणे

---

नाना प्रकारके रत्न और सुवर्णमय आभूषणोंसे आदर कर बहुत सम्मानपूर्वक इन सबको विदा किया ।।८९।।

**अर्थ**—तदनन्तर नीति मार्गके जानने वाले वे हेमाङ्गद आदि मनोहारी वचनोंके समूहसे छोटी बहिन सुलोचनाको आशीर्वाद या संदेश देकर तथा प्रीति-पूर्वक जयकुमारको नमस्कार कर उस नगरसे निकले ।।९०।।

**अर्थ**—हेमाङ्गद आदि ने अकम्पन महाराजके निकट जाकर उन्हें नमस्कार किया और सुलोचना तथा जयकुमारकी कुशल-क्षेम तथा परस्परका प्रेमभाव कहकर उन्हें प्रसन्नता प्राप्त कराई ।।९१।।

**अर्थ**—तदनन्तर यश और प्रतापके समागममें चतुर, मनुष्यशिरोमणि और



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



पण्डितश्चतुरस्तथा मानवानां प्रजाजनानामन्येषां च शिरोमणिरादरणीयस्तथा निपुणाः प्रौढतामवाप्ता आत्मजाः पुत्रा यस्य स काशीराड् अकम्पनस्स सूत्रिता सूच्येवात्मनि निःस्यूताः सद्गुणाः शीलसौभाग्यादयो यया तां तथोडुपश्चन्द्रमा इव रम्यं मनोहरमाननं मुखं यस्यास्तां पुत्रीं विदुषीं बुद्धिमतीं सुलोचनां समीचीनेनार्षोक्तेन विधिना परिणाय्य तु पुनरयं शुभावहविधिं जल्पन् मनसा वाचा चानुविन्दन् सन्नात्मविद्भुवन् शर्मणि स्वकल्याणेऽर्थाज्जिनदीक्षायामाशयं बबन्ध नियमेन सः। षडरचक्रबन्धं कृत्वेदं वृत्तं तस्यारान्त्यक्षरैः 'पुरमाप जय' इति सर्गविषयनिर्देशो भवति ॥९२॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।
द्वाविंशप्रथमो जयोदयमहाकाव्येऽतिनव्येऽसकौ
सर्गस्तेन महादयेन रचिते यत्काव्यमल्पं हि कौ ॥९३॥

श्रीमानित्यादि—द्वाविंशाद् द्वाविंशतितमात् प्रथमः पूर्ववर्ती, एकविंशतितम इत्यर्थः। शेषं सुगमम् ॥९३॥

---

निपुण पुत्रोंसे सहित आत्मज्ञ काशीराट्-अकम्पन महाराजने चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली समीचीन गुणोंको आत्मसात् करने वाली तथा विदुषी पुत्री सुलोचनाका आर्ष विधिसे विवाह कर शाश्वत सुख प्राप्त करनेमें मन लगाया, अर्थात् जिनदीक्षा धारण करनेका विचार किया ॥९२॥

इति श्रीवाणीभूषणब्रह्मचारिपण्डितभूरामलशास्त्रिविरचिते जयोदयापरनाम-सुलोचनास्वयंवरमहाकाव्ये एकविंशतितमः सर्गः समाप्तः॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# द्वाविंशः सर्गः

**अथ भो भव्या भवेन्मुदे वः सारसबन्धुरयं जयदेवः ।**
**सा रजनी रामा बहुमानं तमनुबभूव च धामनिधानम् ॥१॥**

**अथेत्यादि**—अथ प्रकरणारम्भे, भो भव्याः! सज्जनलोकाः! सारेणोत्तमभागेन सबन्धुहितैषी योऽयं जयदेवो वो युष्माकं प्रसन्नतार्थं भवेत् । यद्वा सारसस्य कमलस्य बन्धुः सूर्य इव भवेत्, भव्यानां कमलसदृशकोमलहृदयानां वो युष्माकम् । सारात्पवित्रभागाज्जनिरुत्पत्तिर्यस्यास्सा सारजनिः, सासौ रामा सुलोचना धामनिधानं तेजस्विनं जयकुमारं बहुमानं यथा स्यात्तथानुबभूव भुक्तवती । यद्वा सा रामा रजनीव बहुमानं सम्माननीयं धाम्नो निधानं सूर्यमिवानुबभूवानुजगाम । यथा रात्रिः सूर्यमनुसरति, तदनन्तरगामिनी भवति, तथा सुलोचना जयानुगामिनी जाता ॥१॥

**मधुरं वचो हममुत रङ्गं सातपमत्राखिलमप्यङ्गम् ।**
**शरदमुपेत्य निगरमबलायाः सर्वर्तुमयामोदमथायात् ॥२॥**
**घनोदयं कुचमत्युत्तुङ्गमृदुशशिशिरमितिभारमभङ्गम् ।**
**यया सुविधया सम्पदाश्रयं समयमन्वयं नयन्नपि जयः ॥३॥**

---

**अर्थ**—हे भव्य जनो ! जो **सार-सबन्धुः**-उत्कृष्ट भागसे सबका हितैषी है अथवा **सारस-बन्धुः**-कमलोंका बन्धु-सूर्य रूप है, ऐसा यह जयकुमारदेव तुम सबके आनन्दके लिये हो और **सारजनिः रामा**-सार-पवित्रभागसे जिसका जन्म है, अथवा सारभूत-श्रेष्ठतम जिसका जन्म है, ऐसी **रामा**-सुलोचनाने तेजके निधानभूत जयकुमारका उपभोग किया अथवा **रजनी सा रामा**-रात्रि रूप वह सुलोचना सूर्यके समान जयकुमारकी अनुगामिनी हुई अर्थात् जिस प्रकार रात्रि सूर्यका अनुगमन करती है, उसी प्रकार सुलोचना जयकुमारका अनुगमन करती थी, उनकी आज्ञानुसार आचरण करती थी । अथवा जयकुमार **सारसबन्धु**-सूर्य थे और सुलोचना **रजनी-रात्रि** थी । रात्रिने सूर्यका उपभोग किया यह विरुद्ध है, अतः परिहार पक्षमें ऊपर लिखे अनुसार **सार-सबन्धु**-का अर्थ है उत्तम भागसे बन्धुसदृश-हितैषी और **सारजनीका** अर्थ है **सारजनिः रामा**-सारभूत-जन्मवाली स्त्री । यहाँ रेफका लोप होनेपर पूर्व स्वरके दीर्घ हो जानेसे **सारजनी रामा**-रूप हो जाता है ॥१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**मधुरमित्यादि, घनोदयमित्यादि**—अबलायाः स्त्रियाः सुलोचनाया वचो वचनं मधुरं मिष्टमुत मधु वसन्तं राति ददातीति मधुरं भवति। तस्या अखिलमप्यङ्गं सातं सुकृतं सुखं वा पाति रक्षतीति सातपम् यद्वाऽऽतपेन सहितं सातपं ग्रीष्मर्तुरूपम्। अत्युत्तुङ्ग मतिशयेनोन्नतं कुचं स्तनप्रदेशं घनोऽतिशयरूप उदयो यस्य तं यद्वा घनानामुदयो यत्र तं वर्षाकालमिति। निगरं (निगलं) कण्ठं तं शरं ददातीति शरदं मुक्तावलीसहितं यद्वा शरदं नामर्तुम्। रङ्गं रूपं हैमं हेम्नो भवं सुवर्णसमानं यद्वा हिमात् तुषाराज्जातं हैमं शीतर्तुमिति यावत्। मृद्वी कोमला शशिनश्चन्द्रमसः शिरा यत्र तं भारं (भालं) चन्द्रार्द्ध-तुल्यं यद्वा मृदु कोमलं शं सुखं यत्र स चासौ शिशिरो हिमानन्तरभावी ऋतुस्तं तादृश-मुपेत्य यया सुविधया शोभनेन प्रकारेण सम्पदानामाश्रयो भवन् समयं सम्यगयनं गमनं यस्य स समयस्तमन्वयं सार्थभावं नयन् प्रापयन् सर्वर्तुमयश्चामोदः प्रमोदश्च तमयात् जगाम। अत्र श्लोकेऽथ शुभसम्भाषणे।

उक्तमेवार्थं पृथक् पृथग् वर्णयितुं प्रारभ्यते—

**कापि मधुरता जगत्प्रसिद्धान्वभूद् यया सहकारमियद्वा।**
**सोऽनुत्तरसुखवर्त्मसाक्षिकः विभवमयो रवसम्पदा पिकः ॥४॥**

**कापीत्यादि**—तस्यां सुलोचनायां कापि जगत्प्रसिद्धा मधुरता कोमलतासीत्, यया सुलोचनया सह इयद्वा कालमेतावन्मात्रं कालमनुत्तरं सर्वोत्कृष्टं च तत्सुखं च तस्य

---

**अर्थ**—यतश्च अबला-सुलोचनाका वचन **मधुर**-मिष्ठ अथवा **मधुर**-वसन्त रूप था, समस्त अङ्ग-शरीर **सातप**-पुण्य अथवा सुखकी रक्षा करने वाला था यद्वा **सातप**-ग्रीष्म ऋतु रूप था, **उन्नत कुच**-स्तनप्रदेश **घनोदय**-अतिशय रूप अथवा **घनोदय**-वर्षा ऋतु रूप था, कण्ठ **शरद**-हारको देने वाला था, अर्थात् मुक्तीवलीसे सहित था यद्वा **शरद**-ऋतु रूप था, रङ्ग वर्ण **हैम**-सुवर्ण रूप था, अथवा **हैम**-हेमन्तु ऋतु रूप था और संपूर्ण **भार** (भाल) **मृदुशशिशिर**-चन्द्रमाके समान कोमल शिराओंसे सहित था अथवा मृदुश-शिशिर कोमल सुखको देने वाली शिशिर ऋतु रूप था। इसलिये इन सब अङ्गोंको प्राप्त कर सम्पदाओंके आश्रयभूत **समय**-कालको सार्थकता (**समीचीन भागसे सहितपना**) प्राप्त कराते हुए जयकुमार उस सुलोचनाके साथ समस्त ऋतुओंके आनन्दको प्राप्त हुए थे ॥ २-३॥

**अर्थ**—यतश्च सुलोचनामें कोई अनिर्वचनीय जगत्प्रसिद्ध मधुरता-मनोहरता अथवा कोमलता थी, इसीलिये तो लोकोत्तर सुखके मार्गका साक्षात् करने वाले जयकुमारने उसके साथ इयत्कारं इयत्कालं-इतने समय तक सुखका उपभोग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वर्त्मनो मार्गस्य साक्षिकोऽनुभवकर्ता जयोऽन्वभूद् हि खलु रव(लव)सम्पदांशिकसम्पस्यापि को विभवमयः सम्पत्तिशाली न कोऽपीत्यर्थः। यद्वा मधुलता वसन्तयुक्तता यया सहकारं नामाम्रतरुमियद्वान्वभूत् रवसम्पदा शब्दश्रिया विभवमयः पक्षिजन्मवान् पिकः कोकिल इत्यादि ॥४॥

**अविकलिताम्बरमणिमयभूषालम्बितापि खलतापतनुः सा।**
**पायं पायमधररसमस्य तृषमुदपायदाशु जयस्य ॥५॥**

अविकलितेत्यादि—अम्बरं वस्त्रं च मणिमयभूषा चाम्बरमणिमयभूषे, अविकलिते सर्वाङ्गसुन्दरे अम्बरमणिमयभूषे ताभ्यामालम्बितालङ्कृता, खलता दुष्टमनुष्यता तस्या अपगता दूरवर्तिनी तनुः शरीरं यस्यास्सा सुलोचनाऽस्य जयस्य नाम स्वामिनोऽधररसमोष्ठरसं पायं पायं मुहुः पीत्वापि आशु शीघ्रमेव तृषमुदपादयद् वाञ्छाकर्त्री बभूव। तथा अविकलिताऽम्बरमणिमयी सूर्यरूपा या भूषा तयालम्बिता तथैव खरश्चासौ तापश्च खरतापः, स एव तनुर्यस्यास्सा खरतापतनुः, रलयोरभेदः। अधररसं पायं पायमपि तृषमुदपादयत् पिपासामुपाजनयदिति ग्रीष्मर्तुरिवेत्यर्थः ॥५॥

**विलसद्धारपयोधरभावात् सारसातिशायिपदा वा।**
**नवधान्यस्य मुदं सौभाग्यमाजुहाव सहजेन हि राज्ञः ॥६॥**

---

किया था सो ठीक ही है, क्योंकि रवसम्पदा—लवसम्पदा—आंशिक सम्पदासे कौन मनुष्य विभवमय—वैभवशाली होता है? अर्थात् कोई नहीं।

**अर्थान्तर**—यतश्च सुलोचना कोई जगत्प्रसिद्ध **मधुलता**—वासन्ती लता थी, इसीलिये तो उसने **सहकार**—आम्रवृक्षका अनुभव किया था और **वि-भवमय**—पक्षियोंमें जन्म लेनेवाला **पिक**—कोयल **रवसम्पदा**—मधुर शब्दश्री से युक्त हुई थी। तात्पर्य यह है कि सुलोचना वसन्त ऋतु रूप थी ॥४॥

**अर्थ**—जो सर्वाङ्गसुन्दर वस्त्र और मणिमय आभूषणोंसे सहित थी तथा जिसका शरीर खलता—दुष्टमनुष्यतासे दूर था, ऐसी सुलोचना इस जयकुमारके अधररसका बार-बार पानकर शीघ्र ही तृषाको उत्पन्न करती थी पुनः पुनः पान करनेकी इच्छा करती थी।

**अर्थान्तर**—सुलोचना अखण्ड सूर्यरूपी आभूषणोंसे सहित थी तथा खरताप—तीक्ष्ण तापरूप शरीरसे युक्त थी, अर्थात् ग्रीष्म ऋतु रूप थी, इसीलिये तो अधररसका बार-बार पान करनेपर भी जयकुमारकी तृषा—प्यासको शीघ्र-शीघ्र उत्पन्न करती थी। ग्रीष्म ऋतुमें बार-बार प्यास लगती ही है ॥५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**विलसद्धारेत्यादि**—सा सुलोचना विलसन् हारो यत्र स विलसद्धारः, विलसद्धारो च तौ पयोधरौ स्तनौ तयोर्भावात्, सारसं कमलं तदतिशेते यत्तत् सारसातिशायि तथाभूतं च तत् सम्यग् यत् पदं च तेन कमलोपमचरणेन वा कृत्वा न्यस्य संकल्प्य दर्शकस्य राज्ञो जयकुमारस्य च नवधा मनोवचःकायैः कृतकारितानुमननैश्च परस्परं कृत्वा मुदं प्रसत्तिं सौभाग्यं च सहजेन हि आजुहाव मन्त्रयति स्म। तथा विलसन्ती धारा यस्य तावृक् पयोधरो मेघस्तस्य भावात्, रसातिशायिन्या जलातिशायिन्या वा सम्पदा सम्पत्त्या कृत्वा नवधान्यस्य नूतनस्य वार्जरादेः मुदं सौभाग्यं वा सहजेन हि आजुहाव राज्ञः स्वामिन इत्यर्थः। सा सुलोचना वर्षर्तुरभूदिति यावत् ॥६॥

**शस्यवृत्तिमभिवीक्ष्य सदा वा चातक इव चकितस्तृष्णावान् ।**
**स च शरदमिवैनां भुवने तु सदपघनत्वममुष्या हेतुः ॥७॥**

**शस्यवृत्तिमित्यादि**—स च जयकुमारो राजा शस्या प्रशंसनीया वृत्तिश्चेष्टा यस्यास्तामेतां सुलोचनामभिवीक्ष्य सदा वा सर्वदैव तृष्णावानभिलाषवान् भुवनेऽस्मिल्लोकेऽभूत्तत्रामुष्यास्सन्तश्च तेऽपघना अवयवा यस्यास्तस्या भावस्तत्त्वं सुन्दरावयवत्वमेव हेतुः। यथा शस्यानां धान्यानां वृत्तिः प्रवृत्तिर्यत्र तामेनां शरदं वर्षानन्तरभाविनीं दृष्ट्वा

---

**अर्थ—विलसद्धारपयोधरभावात्**—हारसे सुशोभित स्तनोंके सद्भावसे तथा **सारसातिशायिसम्पदा**—कमलोंको पराजित करने वाले सुन्दर चरणोंके द्वारा संकल्पकर सुलोचनासे मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना रूप नौ कोटियोंसे सहज ही राजा जयकुमारके हर्ष और सौभाग्यको आमन्त्रित किया था अथवा प्रकट किया था।

**अर्थान्तर**—सुलोचनाने, जिससे धारा पड़ रही है, ऐसे पयोधर मेघका सद्भाव होने तथा जलकी अधिकता रूप सम्पदा–सम्पत्तिके द्वारा बाजरा आदि नवीन धान्यका हर्ष–सौभाग्य राजा जयकुमारके लिये सूचित किया था, अर्थात् वह वर्षा ऋतुके समान थी ॥६॥

**अर्थ—शस्यवृत्ति**—प्रशंसनीय चेष्टासे युक्त (पक्षमें धान्योंके सद्भावसे सहित) शरद् ऋतुके समान इस सुलोचनाको देखकर राजा जयकुमार लोकमें आश्चर्य चकित हो सदा चातककी तरह **तृष्णावान्**—पुनः पुनः देखनेकी इच्छासे सहित रहते थे। इस विषयमें सुलोचनाका **सदपघनत्व**—सुन्दर अवयवोंका होना ही कारण था, अर्थात् उसके सुन्दर अवयव या शरीरको देखकर कभी तृप्त नहीं होते थे।

**अर्थान्तर**—सुलोचना क्या थी एक शरद् ऋतु थी, क्योंकि जिस प्रकार शरद् ऋतु **शस्यवृत्ति**—धान्योंकी प्रवृत्तिसे सहित होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



चकित आश्चर्यान्वितश्चातको नाम पक्षी भुवने जलविषये तृष्णावान् पिपासासहितोऽभूत्तत्रामुष्याः शरदो घनानामभावोऽपघनत्वं सत् प्रशंसनीयं तदेव हेतुः ॥७॥

सुप्रसन्नभावेन हसन्ती सदुरोजातोष्मणा लसन्ती ।
पार्श्वे यस्य पवित्रा वारा सदा स्थितिस्तस्यापतुषारा ॥८॥

सुप्रसन्नेत्यादि—सदुरोजातयोः कुचयोरूष्मणा तेजसा लसन्ती शोभमाना, सुप्रसन्नभावेन प्रमोदेन हसन्ती स्मितयुतात एव पवित्रा वारा (बाला) नवयौवना यस्य पार्श्वे समीपे तस्य जयस्यापगतस्तुषारो हिमो यस्यास्सापतुषारा स्थितिः परिस्थितिः सदा। अथवा सता विद्यमानेन उरोजातेनाभ्यन्तःस्थेनोष्मणोष्णपरिणामेन लसन्ती या हसन्ती अङ्गारिका पवित्र आवारं आवरणं च यत्र सा पवित्रावारा यस्य पार्श्वे तस्यापतुषारा हिमरहिता स्थितिः सदैव ॥८॥

सापत्रपता यत्र तदैनां जगतां कल्पतरुश्च निरेनाः ।
नवप्रवालोपादानाय शिशिरश्रियमनुबभूव चायम् ॥९॥

सापत्रपतेत्यादि—निरेनाः पापहीनो जगतां कल्पतरुर्दानशीलत्वात् सोऽयं जयदेवो यत्र आपदस्त्रायत इति आपत्त्रा तत्र मुख्या पत्त्रपा तस्या भाव आपत्त्रपता, तामेनां सुलोचनां

---

शस्यवृत्ति—प्रशंसनीय चेष्टासे सहित थी। इस शरद् ऋतुको देखकर चातक पक्षी सदा चकित रहता हुआ भुवन—जलके विषयमें जो सदा तृष्णावान्—पिपासासे युक्त रहता है, इसमें कारण शरद् ऋतुका सदपघनत्व—समीचीन मेघोंका अभाव ही है, अर्थात् शरद् ऋतुमें वर्षा योग्य मेघोंका अभाव होनेसे चातक तृषातुर रहता है। तात्पर्य यह है कि सुलोचना शरद् ऋतु रूप थी ॥७॥

**अर्थ**—प्रमोद भावसे हँसती तथा समीचीन स्तनोंकी गर्मीसे सुशोभित पवित्र वारा (बाला) सुलोचना जिसके पास थी, ऐसे राजा जयकुमारकी स्थिति तुषार—शीतकी बाधासे रहित थी।

**अर्थान्तर**—सुप्रसन्नभाव—प्रज्वलित दशासे युक्त, भीतरकी विद्यमान गर्मीसे सुशोभित और पवित्र आवरणसे युक्त हसन्ती—अँगीठी जिसके पास रहती है, उसकी स्थिति सदा हिमकी बाधासे रहित होती है। भाव यह है कि सुलोचना हेमन्त—शीत ऋतु रूप थी। जिस प्रकार हेमन्त ऋतुमें लोग शीतसे बचनेके लिये भीतर स्थित गर्मीसे सुशोभित प्रज्ज्वलित हसन्ती—अँगीठीका उपयोग करते हैं, उसी प्रकार जयकुमार शीत निवारणके लिये सुलोचनाका उपयोग करते थे ॥८॥

**अर्थ**—पापरहित तथा दानशील होनेसे जगत्के जीवोंके लिये कल्पवृक्षस्वरूप राजा जयकुमारने नवीन सुन्दर बालक प्राप्त करनेके लिये उस समय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



नवश्चासौ प्रवालः सद्योजातशिशुस्तस्मै अनुबभूव। यथा शिशिरस्य श्रियं शिशिरर्तावपि अपत्रपता पत्ररहितता नवस्य प्रवालस्य किसलयस्योपादानाय भवति ॥९॥

पुनरपि षड्ऋतुत्वमेव कथयति क्रमेण—

**कौमारं खलु लङ्घितवत्या नखाच्छिखान्तं जयः सुदत्याः।**
**आलम्बितो हितोक्तसमाधावथ का कुसुमशरस्य च बाधा ॥१०॥**

**कौमारमित्यादि**—जयो नाम नृपो नखाच्छिखान्तं नखतः समारभ्य शिखापर्यन्तं कौमारं बालत्वं लङ्घितवत्या अतिक्रामन्त्याः, यद्वा कौ पृथिव्यां मारं स्मरं लङ्घितवत्याः सुदत्याः सुलोचनाया हितोक्तसमाधौ आलम्बितो विलग्नोऽभूत्। अथ पुनः कुसुमशरस्य कामस्य बाधा कास्ति खलु ? वक्रोक्तिः श्लेषश्च ॥१०॥

**समुद्रसद्रसनादरतायामस्तु सज्जनाभिनर्मदायाम्।**
**का निमज्ज्य हा निदाघभीतिर्या विलग्नके वलिप्रणीतिः ॥११॥**

**समुद्रेत्यादि**—या विलग्नके वलिप्रणीतिः विलग्नके मध्यदेशे वलीनां त्रिवलीनां प्रणीतिर्यस्याः सा, सज्जा शोभना नाभिरेव नर्मदा नाम यस्या स्तस्याम्, समुल्लसन्ती या रसना करधनी तस्या आदरता विनयभावो यस्यास्तस्यां निमज्ज्य निदाघस्य ग्रीष्मकालस्य भीतिर्भयपरिणतिः का ? न काचिदपि। यद्वा या विलग्नं च तत् कं जलं च तस्मिन् वलि-

---

उस लोचनाका उपभोग किया, जिसमें आपत्तिसे रक्षा करनेकी शक्ति विद्यमान थी और शिशिर ऋतुके समान जिसकी शोभा थी।

**अर्थान्तर**—सुलोचना मानों शिशिर ऋतु रूप थी, क्योंकि जिस प्रकार शिशिरऋतुमें नवप्रवालोपादानाय–नवीन किसलयोंकी प्राप्तिके लिये [1]अपत्रपता–पत्ररहितता होती है, अर्थात् पतझड़ आ जाती है, उसी प्रकार सुलोचनामें भी वह आपत्रपता–आपत्तिसे रक्षा करनेकी शक्ति विद्यमान थी ॥९॥

**अर्थ**—जबकि राजा जयकुमार नखसे लेकर शिखा पर्यन्त कुमारावस्थाका उल्लङ्घन करनेवाली सुलोचनाकी हित साधनामें संलग्न थे, तब कामकी बाधा क्या थी ? कुछ नहीं। पूर्ण यौवनसम्पन्न सुलोचनाको प्राप्त कर उनकी काम-विषयक समस्त आकाङ्क्षाएँ पूर्ण हुई थीं ॥१०॥

**अर्थ**—जिसके मध्यदेशमें त्रिवलि रूप त्रिवेणीकी रचना है, जिसकी सुन्दर नाभि ही नर्मदा नदी है और जो समुद्रके समीचीन आस्वादनमें आदरभावसे सहित है, अथ च जो हर्षसहित शब्द करती मेखलाके विनय भावसे सहित है, उस

---

१. पत्राणि दलानि पाति रक्षतीति पत्रपा, तस्या भावः पत्रपता, सा न भवतीति अपत्रपता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



प्रणीतिर्यस्यां तस्याम्, समुल्लसंश्चासौ रसस्य जलस्य नादो ध्वनिस्तस्मिन् रता, तस्यां निमज्ज्येत्यादि पूर्ववत्। किञ्च, या विलग्ननामकस्य केवलिनः प्रणीतिः, तस्यां सज्जनेभ्योऽभितः समन्तान्नर्म सुखं ददाति तस्यां सज्जनाभिनर्मदायां समुल्लसति रसो यत्र तस्मिन्नादे ध्वनी रता, तस्यां निमज्ज्य का पुनरघस्य भीतिहानिदास्तु न कापि। वक्रोक्तिः श्लेषालङ्कारश्च ॥११॥

**स जयो महोदयोऽप्यपश्रमं प्रावृषि नाभिदरीमरीरमत्।**
**मदनभुवो भववनेऽपि लब्ध्वा पृथुनितम्बभाजो नववध्वाः ॥१२॥**

**स जय इत्यादि**—महानुदयः सम्पद्भावो यस्य स जयो नववध्वाः सुलोचनायाः कीदृश्याः ? अस्मिन् भववने संसारकान्तारे मदनस्य कामस्य भुवः स्थानभूतायाः पृथुं विस्तृतं नितम्बं कटिपश्चाद्भागं तथा पर्वतं भजत इति तस्या नाभिमेव दरीं गुहां लब्ध्वा प्रावृषि वर्षायामपि अपश्रममनायासं यथा स्यात्तथारीरमत्। यथा वनस्थस्यापि पर्वतगुहामासाद्य वर्षाक्लेशो न भवति, तथा जयस्यापि सुलोचनाया नाभिस्थानं गच्छतः। श्लेषो रूपकं चालङ्कारः ॥१२॥

---

सुलोचनामें अवगाहन कर निदाघकाल—ग्रीष्मऋतुका क्या भय रह जाता है? अर्थात् कुछ नहीं। अथवा **विलग्नके वलिप्रणीति**—जिसके मध्य भाग रूपी जलमें वलियोंकी रचना है, तरङ्गें उठ रही हैं और जो **समुद्रसत्—समुल्लसत्, रसनावरता**—शोभायमान जलकी कलकल ध्वनिसे सहित है, उस सुलोचनामें अवगाहन कर ग्रीष्म ऋतुका कौन सा भय रह जाता है? अर्थात् कोई भी नहीं। अथवा जो **सज्जनाभिनर्मदायां**—सज्जनोंको सब ओरसे सुख देने वाली, विलग्न केवलीकी खिरती हुई दिव्य ध्वनिमें **रत**—लीन रहती है, ऐसी सुलोचनामें अवगाहन कर—उसका संपर्क प्राप्त कर हानि देने वाले भयका कौनसा भय रह जाता है? अर्थात् कोई भी नहीं ॥११॥

**अर्थ**—महान् अभ्युदयसे सहित राजा जयकुमार संसाररूपी वनमें कामके स्थानभूत विस्तृत नितम्ब वाली नववधू—सुलोचनाकी नाभिरूपी गुहाको प्राप्त कर वर्षा ऋतुके समय अनायास ही रमण करते थे।

**भावार्थ**—जिस प्रकार वनमें रहने वाला कोई पुरुष वर्षा ऋतुमें किसी पर्वतकी गुहाको पाकर क्लेशके बिना ही क्रीड़ा करता है, समय व्यतीत करता है, उसी प्रकार जयकुमार भी पर्वततुल्य नितम्ब वाली सुलोचनाकी नाभिरूप गुहाको पाकर किसी क्लेशके बिना ही समययापन करते थे ॥१२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**पद्मिनीं शरदि सोऽन्वभूद्वशी संकुचद्द्विगुणकुड्मलां निशि ।**
**सुप्रसन्नमुखवारिजां जयः सौरभावगतवृत्तिमव्ययम् ।।१३।।**

**पद्मिनीमित्यादि**—स जयो नाम नरपतिरयं प्रसङ्गप्राप्तः शरदि वर्षानन्तरकाले वशी स्वाधीनः सन् प्रसन्नं मुखमेव वारिजं कमलं यस्यास्तां निशि रात्रौ संकुचौ प्रशस्तस्तनावेव द्विगुणे द्विसंख्याके कुड्मले यस्यास्तथा संकुचती अत एव विगुणे अल्पगुणे कुड्मले यस्यास्तां पद्मिनीं गुणशालिनीं स्त्रियं वारिजलतामिव सुरभेर्भावोऽसौ सौरभं सौगन्ध्यं तेनावगता वृत्तिर्यस्यास्तामिति सरोजिनीपक्षे, स्त्रीपक्षे सुराणामसौ सौरः स चासौ भावस्तत्र गता वृत्तिर्यस्याः, स्वर्गीयचेष्टावतीमिति तामन्वभूत् भुक्तवान् ।।१३।।

**उच्चैस्तनमोदकायसिद्धा निःस्वेदया रुचा जगतीद्धा ।**
**हेमन्तश्रीरिवाभिरामा महीपतेः सा बभूव रामा ।।१४।।**

**उच्चैरित्यादि**—सा महीपतेर्जयकुमारस्य रामा सुलोचना, सा हेमन्तीश्रीरिव शीतकालशोभासदृशी अभिरामा रमणीया बभूव। या किल स्त्री सोच्चैरुत्तुङ्गयोश्चूचुकयोरेव मोदकयोर्लड्डुकयोरयेन शुभविधिना सिद्धा प्रसिद्धा, शीतर्तुपक्षे उच्चैस्तनानां मोदकानामायेन प्राप्त्या सिद्धा । निःस्वे धनरहिते जने दया यस्यास्तथा [1]रुचा कान्तिश्च

---

**अर्थ**—उस स्वाधीन राजा जयकुमारने शरद् ऋतुमें रात्रिके समय पद्मिनी—श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त ( पद्मिनी नामक नायिका-भेदसे सहित ) उस सुलोचनाका उपभोग किया था, जो संकुचद्द्विगुणकुड्मला—दो कुड्मलोंके समान प्रशस्त स्तनोंसे सहित थी, प्रसन्नमुखवारिजा—कमलके समान प्रसन्न मुख वाली थी तथा सौरभावगतवृत्ति—देवभावसे युक्त चेष्टा वाली थी।

**अर्थान्तर**—राजा जयकुमारने शरद् ऋतुमें उस पद्मिनी—कमललताका सेवन किया था, जिसमें रात्रिके समय निमीलित दशाको प्राप्त दो गुणहीन कुड्मल लगे हुए थे, जिसका कमल किसी नायिकाके मुखके समान खिला हुआ था और जिसका अस्तित्व सौरभ—सुगन्धसे माना जाता था ।।१३।।

**अर्थ**—वह सुलोचना राजा जयकुमारके लिये हेमन्त ऋतुकी शोभाके समान प्रिय थी, क्योंकि जिस प्रकार हेमन्त ऋतुकी शोभा **उच्चैस्तनमोदकाय सिद्धा**—उच्चकोटिके गरिष्ठ लड्डुओंकी प्राप्तिसे प्रसिद्ध है, उसी प्रकार सुलोचना भी **उच्चैस्तनामोदकाय सिद्धा**—लड्डुओंके समान उन्नत स्तनोंके अय-शुभावह विधिसे प्रसिद्ध थी। जिस प्रकार हेमन्त ऋतुकी शोभा **निस्वेदया रुचा जगति इद्धा**—

---

१. 'आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा' इत्युक्ते रुच्शब्दादाप्प्रत्ययः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जगतीद्धा सर्वोत्कृष्टा, शीतश्रीपक्षे पुनर्न वर्तते स्वेदो यत्र सा निस्वेदा तया रुचा शोभया जगतीद्धा। एवं हेमन्तश्रीरिव सा ॥१४॥

**उच्चैस्तनसानुनानुमातुं मरुतां विस्मयकरी प्रिया तु।**
**किमस्तु माघस्याप्यवसानं यदि तस्य विपत्रताभिमानम् ॥१५॥**

उचैस्तनसानुनेत्यादि—या प्रिया युवतिरुच्चैस्तनेन समुन्नतकुचरूपेण सानुना पर्वतेन, यद्वोच्चैस्तनेन तेन सानुना कृत्वानुमातुं ज्ञातुं मरुतां देवानामपि यद्वा वायूनां विस्मयकरी यस्य जयस्य तस्य विपत्रताया आपद्रहितताया: पत्रशून्यतायाश्चाभिमानं तदा तत्राघस्य पापस्यावसानं नाशोऽपि मास्तु किम्? किन्तु सोऽस्त्येव पुण्यवान् यद्वा तस्य माघस्यावसानमपि किमस्तु नैवास्तु तादृशस्य माघस्याभाव इति। वक्रोक्तिः श्लेषो रूपकं चालंकारोऽत्र ॥१५॥

**प्राप कौतुकातिशयधरं स चित्राख्यातभासि धृतशंसः।**
**अनुमदनविकासं विलसन्तं दारसारमवनौ च वसन्तम् ॥१६॥**

प्रापेत्यादि—चित्रो विचित्र इति ख्यातो यो भाः किरणस्तस्मिन् धृता शंसा प्रशंसा येन स चित्राख्यातभासि धृतशंसोऽतिशयशोभावानिति यावत्। यद्वा चित्रया ख्याते भासि चैत्रे धृताशंसा येनेति वा स। कौतुकस्य प्रमोदस्यातिशयं यद्वा कौतुकानां कुसुमानामतिशयं धरति

---

पसीनारहित कान्ति से जगत्में सुशोभित है, उसी प्रकार **निःस्वे दया रुचा जगति इद्धा**—निर्धन मनुष्य पर सुलोचनाकी दया और अपनी कान्ति जगत्में सुशोभित थी ॥१४॥

**अर्थ**—जिस जयकुमारकी प्रिया—सुलोचना **उच्चैस्तनसानुना**—उन्नत स्तनरूप पर्वतके द्वारा अनुमान करनेके लिये देवों अथवा वायुको विस्मय करनेवाली है, उस जयकुमारके उस **अघ**—पापका अवसान—अभाव क्या न हो? जिससे विपत्रता—आपत्तिरहितताका अभिमान होता है, अर्थात् अवश्य हो—वे पुण्यवान् ही रहें, अघवान् नहीं। अथवा उस **माघ**के महीनेका क्या अवसान अभाव हो, जिसे विपत्रता—पत्ररहितताका अभिमान है? अर्थात् नहीं, क्योंकि प्रकृतिके क्रमका कभी नाश नहीं होता ॥१५॥

**अर्थ**—चित्रविचित्ररूपसे प्रसिद्ध किरणोंके विषयमें प्रशंसाको धारण करने वाले, अर्थात् अतिशय शोभाशाली जयकुमारने उस **दाररत्न**—स्त्रीरत्नको प्राप्त किया, जो पृथिवीपर निवास करनेवाले वसन्तके समान था, क्योंकि जिस प्रकार वसन्त **कौतुकातिशयधर**—पुष्पोंके अतिशय—आधिक्यको धारण करनेवाला होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तम्, मदनस्य कामस्याम्रपादपस्य च विकासमनु समीपं विलसन्तमवनौ पृथिव्यां वसन्तं निवसन्तं वसन्तमृतुमिव दारसारं स्त्रीरत्नं प्राप ॥१६॥

**शर्वरीति मृदुचलना सालंचक्रे विस्तृतकरं नृपालम् ।**
**भास्वन्तं भुवि वेशश्चायं ज्येष्ठो जडतापकरणाय ॥१७॥**

**शर्वरीत्यादि—**[1]शर्वरी युवतिः, सुलोचनेति यावत् । सा मृदू कोमलौ चलनौ चरणौ यस्यास्सा तथा शर्वरी रात्रिः सा च मृदु स्वल्पं चलनं यस्यास्सा; नृपालं जयकुमारं भास्वन्तं शोभनीयं सूर्यं च, विस्तृतौ करौ हस्तौ यस्य तं पक्षे विस्तृताः कराः किरणा यस्य

है, उसी प्रकार स्त्रीरत्न भी **कौतुकातिशयधर**—प्रमोदके अतिशयको धारण करनेवाला था और जिस प्रकार वसन्त **अनुमदनविकास**—आम्रवृक्षके विकाससे सहित होता है, उसी प्रकार स्त्रीरत्न भी **अनुमदनविकास**—कामदेवके विकाससे सहित था ॥१६॥

**अर्थ**—इस प्रकार मृदुचलना—कोमल चरणोंवाली शर्वरी—सुलोचना युवतिने विस्तृतकर—दीर्घबाहु और भास्वन्तं दीप्तियुक्त राजा जयकुमारको विभूषित किया। पृथिवीपर यह प्रकार जडता—मूर्खताके अपकरण—दूर करनेके लिये ज्येष्ठ—श्रेष्ठ प्रकार माना जाता है, अर्थात् स्त्री पतिके अनुकूल रहे इससे जड़ता—धृष्टता नष्ट होती ही है।

**अर्थान्तर—मृदुचलना**—मन्द चालवाली, स्वल्प परिमाणवाली **शर्वरी**—रात्रिने **विस्तृत कर**—दीर्घ किरणों वाले **भास्वन्तं**—सूर्यको **अलंकृत**—विभूषित किया, यह प्रकार पृथिवीपर **जडतापकरणाय**—मूर्खता प्रकट करनेके लिये **ज्येष्ठ**—सबसे बड़ा प्रकार है, क्योंकि 'रात्रि सूर्यको अलंकृत करे' यह कहना अत्यन्त विरुद्ध है। अथवा ड और ल में अभेद होनेसे **जलतापकरणाय**—पानीको संतप्त करनेके लिये ज्येष्ठका महीना है, अथवा **जलता**—जलस्वभावको नष्ट करनेके लिये ज्येष्ठमास है, अथवा **जड—अत्यधिक ताप**—गर्मी उत्पन्न करनेके लिये ज्येष्ठका महीना है, अथवा शर्वरी—रात्रिने सूर्यको अलंकृत—समाप्त किया, ऐसा अर्थ करनेसे विरोधका परिहार हो जाता है।

**भावार्थ**—सुलोचना ग्रीष्म ऋतुके समान थी, क्योंकि जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतुमें रात्रि **मृदुचला**—स्वल्प परिमाण होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी **मृदु-चलना**—कोमल पैरवाली थी। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु **विस्तृतकर**—विस्तृत किरणों वाले **भास्वन्तं**—सूर्यको अलंकृत करती है, उसी प्रकार सुलोचना भी **विस्तृत-करं भास्वन्तं नृपालं**—दीर्घबाहु एवं देदीप्यमान राजाको अलंकृत करती थी और

१. 'शर्वरी तु त्रियामायां हरिद्रायोषितोरपि' इति विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तं चालंचक्रे भूषयामास । अयः वेशः प्रकारो भुवि जडताया मूर्खभावस्य यद्वा जलभावापकरणाय विनाशनाय यद्वा जडः प्रखरश्चासौ तापश्च जडतापस्तस्य करणाय ज्येष्ठो गुरुः ज्येष्ठमासश्चास्ति जडतापकरणायेति ॥१७॥

मनोमयूरमुदे साऽपापा सरसेङ्गितापहृतसन्तापा ।
चपलापाङ्गकृतचमत्कारा सज्जघनोदयमुपेत्य वारा ॥१८॥

मन इत्यादि—साऽपापा पापरहिता वारा (बाला) सतो जघनस्य कटिपुरोभागस्योदयस्तमुपेत्य रससहितेन शृङ्गारमयेन पक्षे जलमयेनेङ्गितेन चेष्टितेनापहृतः सन्तापो यस्यास्सा चपलेनापाङ्गेन कटाक्षेण पक्षे चपला विद्युत् तस्या अपाङ्गेन कटाक्षेण कृतश्चमत्कारो यया सा मन एव मयूरस्तस्य मुदे प्रसन्नतायै समभूत् । श्लेषोऽलंकारः ॥१८॥

विशदाम्बरा च मञ्जुलतारा कमलान्वयिभ्रमरविस्तारा ।
पातालंगतमृदूदराराच्छरदिवान्वमानि तेन वारा ॥१९॥

विशदाम्बरेत्यादि—विशदं निर्मलं स्पष्टं चाम्बरं वस्त्रं गगनं वा यत्र सा, मञ्जुला तरला तारा नयनेक्षणिका पक्षे नक्षत्राणि यत्र सा, कमलेन सन्तोषेणान्वयी

---

ग्रीष्म ऋतुमें जेठका महीना जिस प्रकार **जडतापकारण**—जलके गर्म होनेका कारण है, अथवा जलस्वभावको नष्ट करनेवाला है, उसी प्रकार सुलोचना भी **जडतापकरणाय**—मूर्खताको दूर करनेवाली थी ।

'ज्येष्ठो जडतापकारणाय' इसके स्थानमें 'ज्येष्ठोऽस्ति जडतापकारणाय' यह पाठ भी संगत है ॥१७॥

**अर्थ**—जो पापसे रहित है, अपनी सरस—शृंगारमय चेष्टाओंसे जिसने संताप दूर कर दिया है और चंचल कटाक्षोंसे जिसने चमत्कार उत्पन्न किया है, ऐसी वह वारा—बाला सुलोचना प्रशस्त जघनके उदयको प्राप्तकर राजा जयकुमारके मनरूपी मयूरकी प्रसन्नताके लिये हुई थी ।

**अर्थान्तर**—पापरहित वह सुलोचना, जिसने कि **सरस**—सजल चेष्टाओंसे सन्तापको दूर कर दिया था और बिजलीके कटाक्षसे—वार-वार कोंदनेसे जिसने चमत्कार उत्पन्न किया था, **सज्ज—सजल घन**—मेघके उदयको पाकर **वारा**—जलके द्वारा जयकुमारके मनरूपी मयूरके प्रमोदके लिये हुई थी । तात्पर्य यह है कि सुलोचना वर्षा ऋतुरूप थी ॥१८॥

**अर्थ**—राजा जयकुमारने उस बाला—सुलोचनाको शीघ्र ही शरद् ऋतुके समान माना था, क्योंकि जिस प्रकार शरद् ऋतु **विशदाम्बरा**—स्वच्छ आकाशसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



संयुक्तो [1]भ्रमरस्य वल्लभस्य विस्तारो यत्र सा पक्षे कमलानां वारिजानामन्वयी अनुयायी भ्रमराणां षट्पदानां विस्तारो यत्र सा, पातालं गतं नीचैर्मृदु कोमलमुदरं जठरं यस्यास्सा पक्षे पातालं गतं मृदूदकं जलं राति ददातीति सा, आराच्छीघ्रं तेन जयकुमारेण शरदिवान्वमानि अनुमानिता । 'कमलं जलजे तीरे क्लोम्नि तोषे च भेषजे' इति विश्वलोचनः । श्लेषोपमालंकारः ॥१९॥

**मकरकेतु संक्रमोदिता या शीतश्रीरिव साभूज्जाया ।**
**कमलस्याभावार्थमवश्यं सरसमानसस्यावनिपस्य ॥२०॥**

**मकरकेत्वित्यादि**—या जाया स्त्री मकरकेतोः कामस्य संक्रमेण प्रसारेणोदिता कीर्तिता, सरसं मानसं चित्तं यस्य तस्यावनिपस्य राज्ञः कस्यात्मनो मलं पापं तस्याभावार्थं त्रिवर्गसम्पाया पुण्यपूर्तयेऽवश्यमेवाभूत् । शीतश्रीरिव यथा शीतश्रीः मकरके मकरनामराशौ तु यः संक्रमो रविसमागमस्तेनोदिता, सरसस्य मानसनामसरोवरस्यापि कमलस्य जलजातस्याभावार्थं स्यात् । शीतर्तौ कमलविनाशवद्यस्याः सम्बन्धेन पापहानिर्नयस्य । उपमालंकारः ॥२०॥

---

सहित होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी **विशदाम्बरा**—उज्ज्वल वस्त्रोंसे सहित थी। जिस प्रकार शरद् ऋतु **मञ्जुलतारा**—मनोहर नक्षत्रोंसे मुक्त होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी **मञ्जुलतारा**—चञ्चल कनीनिकासे सहित थी। जिस प्रकार शरद् ऋतु **कमलान्वयिभ्रमरविस्तारा**—कमलोंपर मंडराने वाले भौंरोंके विस्तारसे सहित होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी **कमलान्वयिभ्रमरविस्तारा**—संतोषसे संयुक्त वल्लभके विस्तारसे सहित थी तथा शरद् ऋतु जिस प्रकार **पातालंगतमृदूदरा**—नीचे गये हुए कोमल जलको देने वाली होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी **पातालंगतमृदूदरा**—नीचे की ओर झुके हुए कृश उदरसे सहित थी ॥१९॥

**अर्थ**—जो जाया-सुलोचना **मकरकेतुसंक्रमोदिता**—कामदेवके प्रसारसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुई थी, वह **शीतश्री**—शीत ऋतुके समान **सरसमानसस्य**—सरस चित्त वाले राजा जयकुमारके **कमलस्य**—आत्मसम्बन्धी पापका **अभाव**—नाश करनेके लिये हुई थी, अर्थात् त्रिवर्गकी पूर्तिके द्वारा पुण्य वृद्धिका कारण हुई थी। भाव यह है कि जिस प्रकार **मकरके संक्रमोदिता**—मकर राशिमें सूर्यके संक्रमणसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुई शीतश्री **सरसमानसस्य**—मानसरोवरके भी **कमलस्या-**

---

1. 'भ्रमरः कामुके भृङ्गे' इति विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स्पर्शनेन रोमाञ्चनभावाच्छिशिरश्रीरिव कम्पनदा वा ।
विषमाशुगसाधितसीत्कारपुरस्सरं धृतरदच्छदारम् ॥२१॥

स्पर्शनेनेत्यादि—स्पर्शनेनालिङ्गनेन कृत्वा सात्त्विकभावेन रोमाञ्चनभावात् पुलकिताङ्गतया कम्पनं ददाति सा कम्पनदा, विषमाशुगेन पञ्चबाणेन कामेन साधितः सम्पादितो यः सीत्कारस्तत्पुरस्सरं धृतो रदच्छद ओष्ठो ययाऽरं शीघ्रमेव शिशिरश्रीरिव यथा शिशिरसम्पत्तिः स्पर्शनेन शीतसद्भावेन रोमाञ्चनभावात् कम्पनकर्त्री विषमेण वायुना सीत्कारपूर्वकं संधृतौष्ठवती भवति तथैव । उपमालंकारः ॥२१॥

ललितालकां मूर्धभुवमस्या मुक्ताश्रितामुरोजसमस्याम् ।
अमृतमयं वदनच्छदबिम्बं लब्ध्वा चाम्बरचुम्बि नितम्बम् ॥२२॥
रामां च द्यामिव च निगद्यासौ सर्वेष्वङ्गेष्वनवद्याम् ।
नाकिजनानामपि समृद्धिमुक्तिरियं न तु विस्मयकृद्धि ॥२३॥

---

भावार्थ—कमलका विनाश करनेके लिये होती है, उसी प्रकार सुलोचना भी सरस-मानस—सरस चित्त वाले राजा जयकुमारके कमलस्याभावार्थ—आत्ममलका नाश करनेके लिये नियमसे हुई थी। शीत ऋतुमें कमलोंका अभाव होता ही है ॥२०॥

अर्थ—जो स्पर्शन—आलिङ्गनके कारण समुत्पन्न रोमाञ्चसे सहित थी तथा कम्पनरूप सत्त्विक भावको दे रहीं थी, साथ ही कामसे संपादित सीत्कारसे सहित ओठको धारण कर रही थी, वह सुलोचना शीत ऋतुके समान जान पड़ती थी, क्योंकि जिस प्रकार शीत ऋतु शीतल स्पर्शसे रोमाञ्च उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार सुलोचना भी अपने स्पर्शसे वल्लभके शरीरमें रोमाञ्च उत्पन्न कर रही थी तथा स्वयं भी वल्लभके स्पर्शसे रोमाञ्चित हो रही थी। जिस प्रकार शीत ऋतु शीतलताके आधिक्यसे लोगोंके शरीरमें कम्पन उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार सुलोचना भी वल्लभके शरीरमें वेपथु नामक सात्त्विक भावसे कम्पन उत्पन्न कर रही थी तथा स्वयं भी वल्लभके स्पर्शसे कम्पनका अनुभव कर रही थी और जिस प्रकार शीत ऋतु विषम—आशुग तीक्ष्ण वायुके द्वारा लोगोंके अधरोष्ठमें सीत्कार उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार सुलोचना भी कामातिरेकके कारण नायकके द्वारा दष्ट होने पर सीत्कार करने वाले अधरोष्ठको धारण कर रही थी ॥ २१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



ललितालकामित्यादि—असौ जयकुमारो महाराजोऽस्याः सुलोचलनाया मूर्धभुवं मस्तकस्थलीं ललिताः सुन्दरा अलकाः केशा यस्यास्तां ललिता अलका नाम कुबेरपुरी यस्यां ताम् उरोजयोः स्तनयोः समस्यां मुक्ताभिर्हारमणिभिराश्रितां पक्षे मुक्तैः सिद्धपुरुषैराश्रिताम्, रदनच्छदमधरविम्बममृतमयं सुधास्वादु, नितम्बं कटिपृष्ठभागमम्बरं वस्त्रमाकाशं च चुम्बतीत्यम्बरचुम्बि, अत एव स्वयं रामां च द्यामिव स्वर्गस्थलीतुल्यां सर्वेष्वङ्गेषु अवयवेषु प्रदेशेषु चानवद्यां निर्दोषां निगद्य न विद्यतेऽकं दुःखं पापं वा येषां ते नाकिनश्च ते जनाश्च नाकिजनास्तेषां स्वर्गिणां पुण्यात्मनां वा समृद्धिमाप प्राप्तवान्। इतीयमुक्तिविवेचना विस्मयमाश्चर्यं करोतीति विस्मयकृन्न भवति, किन्तु युक्तियुक्तैवास्ति। हीति निश्चयेन। श्लेषश्चोपमा च ॥२२-२३॥

**नाकमवापानुष्ठानेन सुदृशमाप्य किमु चित्रमनेन।**
**निर्वाणिभवं शर्म तथापाद्वैततयालिङ्ग्य तामपापाम् ॥२४॥**

नाकमित्यादि—सुदृशं सुलोचनानामस्त्रियं यद्वा सम्यग्दृष्टि नाम मुक्तिहेतुगतामादिभूतामाप्य लब्ध्वा नाकमवाप दुःखं न प्राप्तवानुत नाकं स्वर्गमाप्तवान् अनुष्ठानेन अनु समीपे स्थानंनिवास स्तेनाविरहेणाथवानुष्ठानेन सदाचारेण च कृत्वा तदत्र किमु चित्रमाश्चर्यं न किञ्चिदपि, यतस्तामपापां निर्दोषामद्वैततया रहस्यभावेनाभेदरूपेण चालिङ्ग्य स्पृष्ट्वा वाण्या वर्जितो निवाणीभवो यस्य तदवागगोचरं शर्म सुखं तथैव निर्वाणिषु निर्वाण-

---

**अर्थ**—सुलोचनाकी मस्तकस्थली ललितालका—सुन्दर केशोंसे युक्त थी (पक्षमें अलका नामकी कुबेरपुरीसे सहित थी), स्तनोंकी समस्या **मुक्ताश्रिता**—मोतियोंसे सहित थी (पक्षमें सिद्ध पुरुषोंसे सहित थी), अधरोष्ठ **अमृतमय**—अमृतके समान मधुर था (पक्षमें देवोंके द्वारा भोग्य सुधारूप था और नितम्ब **अम्बरचुम्बि**—उत्तम वस्त्रसे सहित था (पक्षमें आकाशका स्पर्श करने वाला था)। इस प्रकार समस्त अवयवोंमें निर्दोष सुलोचना स्वर्गके समान जान पड़ती थी। उसे प्राप्त कर जयकुमारने देवोंकी ही सम्पत्ति—वैभव प्राप्त कर किया था, यदि ऐसा कहा जाय तो वह आश्चर्यकारी नहीं होगा ॥२२-२३॥

**अर्थ**—**सुदृशम्**—सुलोचनाको पाकर तथा **अनुष्ठान**—उसके साथ रहकर जयकुमारने **अकं न प्राप्तवान्**—दुःख नहीं प्राप्त किया, इसमें क्या आश्चर्य है ? कुछ भी नहीं। (अर्थान्तर—जयकुमारने **सुदृशं**—सम्यग्दृष्टिको प्राप्त कर **अनुष्ठान**—सदाचारके द्वारा **नाक**—स्वर्ग प्राप्त किया, इसमें क्या आश्चर्य है, क्योंकि सदाचार युक्त सम्यग्दृष्टि—सम्यग्दर्शनसे स्वर्ग प्राप्त होता ही है। **अपापां**—निर्दोष सुलोचनाका **अद्वैतभावसे**—एकान्तमें आलिङ्गन कर जयकुमारने **निर्वाणिभवं**—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



शालिषु मुक्तपुरुषेषु भवं संजातं शमपि प्राप्तवान् । आगमे ह्युक्तं यत्सम्यग्दर्शनं लब्ध्वा-नुष्ठानेन स्वर्गः प्राप्यते, तथा तदेव सम्यग्दर्शनमभेदभावेन शुक्लध्यानरूपेण कृत्वा पुनर्मुक्ति-सौख्यं लभ्यते, तथात्रापि सुदृशः सहवासेन निष्पापतां तां रहसि समालिङ्ग्य चावचन-गोचरं सुखमभूज्जयस्येति यावत् ॥२४॥

**सम्मिलदुच्चैस्तनकोकवतीमुषमिवाप जयस्त्विषां पतिः ।**
**सम्प्रति कवरीकृतान्धकारामुत्फुल्लाम्बुजमुखां च वाराम् ॥२५॥**

सम्मिलदित्यादि—त्विषां कान्तीनां किरणानां वा पतिर्जयो नाम राजा सूर्य इव वारां सुलोचनां तामुषमिव प्रातःप्रभामिवापानुभूतवान् यतः सम्मिलन्तौ संयुज्यमानौ ता-वुच्चैस्तनौ पीनरूपौ कुचौ तावेव कोकौ तद्वतीं सम्प्रत्यधुना कवरीकृतः कवरीभावं नीतो वेणीरूपतामवाप्तः पक्षे रलयोरभेदात्कवलीकृतो ग्रासीभूतोऽन्धकारो यया तां, उत्फुल्लं यदम्बुजं तद्वत् तदेव वा मुखं यस्यास्तामिति यावत् । 'उषा बाणसुतायां स्यात्प्रभातेऽपि विभावरौ' इति विश्वलोचने ॥२५॥

**सदसि यदपि भूभुजां च मान्यः सेवक इव खलु भुवो भवान्यः ।**
**आत्मानं पश्यतोऽपि तस्य नान्यः कोऽपि बभूत दृशि ज्ञस्य ॥२६॥**

सदसीत्यादि—यो भवान् जयकुमारो भुवः पृथिव्या चतुर्वर्णात्मकप्रजाधारायाः सेवकोऽनुचर इव खलु निश्चयेन भवन् यदपि भूभुजां राज्ञां सदसि सभायां मान्यः सम्मान-

---

वचनागोचर सुख प्राप्त किया ।

**अर्थान्तर**—**अपापां**-अतिचार अथवा हिंसादि पापोंसे रहित उस **सुदृशं**-सम्यग्दृष्टिको **अद्वैतरूप अभेददृष्टि**-द्वितीय शुक्ल पूर्वक प्राप्त कर **निर्वाणिभवं**-मुक्त जीवोंका सुख प्राप्त किया ।

**भावार्थ**—जिससे निर्वाण प्राप्त हो सकता है, उससे स्वर्ग प्राप्त कर लेना आश्चर्यकी बात नहीं है ॥२४॥

**अर्थ**—जो परस्पर मिलते हुए चकवा-चकवीके समान उन्नत स्तनोंसे युक्त थी, जिसकी वेणी अन्धकारके समान काली थी तथा जिसका मुख कमलके समान विकसित था, ऐसी सुलोचनाको कान्तिके अधिपति जयकुमारने उस प्रकार प्राप्त किया जिस प्रकार कि **कान्ति**-किरणोंका स्वामी सूर्य **उषा**-प्रभात वेलाको प्राप्त होता है। प्रभात वेलाके पक्षमें विशेषणोंकी योजना निम्न प्रकार है—प्रभात वेला अत्यन्त ऊँचे मिलते हुए कोकयुगलसे सहित होती है, अन्धकारको कवलीकृत-नष्ट करने वाली होती है और विकसित कमल ही उसका मुख होता है ॥२५॥

**अर्थ**—जो राजा जयकुमार निश्चयसे पृथिवीके सेवकके समान थे, अर्थात्



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



नीयोऽभूत्, आत्मानं पश्यतः स्वात्मानुभवं कुर्वतः सन्ध्यावन्दनसमये स्वात्मचिन्तन-तत्परस्यापि ज्ञस्य तस्य दृशि विचारे कोऽप्यन्यो न बभूव 'आत्मवत्सर्वभूतेषु य पश्यति स पण्डितः' इति सूक्तेः । काव्यलिङ्गमलंकारः ॥२६॥

**मदनधरा च धरा च जयस्य द्वे प्रिये श्रियेऽभूतां तस्य ।**
**भूभुजो भुजे इवानुवृत्ते तुल्ये सन्निदधत्यौ हृत्ते ॥२७॥**

मदनधरेत्यादि—तस्य भूभुजो जयस्य हृद् हृदयं सन्निदधत्यौ धृतवत्यौ मदनधरा कामजनिका सुलोचना च पुनर्धरा च वसुधा च द्वे प्रिये श्रिये वैभवाभूताम् । ते चानुवृत्ते अनुकूलाचरणकारिण्यौ 'यथा राजा तथा प्रजा' इत्यादिसूक्तेः, अनुवृत्ते वर्तुलाकारे भुजे इव तुल्ये भवतुः । यथा स पृथ्वीमनुबभूव तथैव सुलोचनां, यथा वा सुलोचनाप्रेमपरोऽभूत्तथैव पृथ्वीपालनपरायणश्च । उपमालंकारः ॥२७॥

**वेणूदितसम्पदोऽबलाया गुणमाप्त्वाभूच्चापलतायाः ।**
**सरलं तरलं मनोवरस्य यदानङ्गमदहानिकरस्य ॥२८॥**

वेणूदितेत्यादि—यदा यस्मिन्समयेऽनङ्गमदहानिकरस्य सौन्दर्येण जित्वा कामदेवतोऽपि श्रेष्ठस्य वरस्य प्रवरस्य तस्य जयकुमारस्य मनो यत्सरलं तदपि तरलं जातं तलं लक्ष्यवेधस्थानं लातीति तललमिति । यदा खलु वेणुना वंशेनोदिता उक्तास्सम्पदः समीचीनाः

---

सब लोगोंके सुख-दुःखमें सम्मिलित हो उनका दुःख दूर करते थे, वे राजाओंकी सभामें सम्माननीय थे और जब वे सन्ध्यावन्दनादिके समय आत्मावलोकन करते थे तब उस ज्ञानी राजाकी दृष्टिमें कोई दूसरा नहीं रहता था, सबको वे अपने समान ही देखते थे। प्रसिद्ध भी है जो सबको अपने समान देखता है वही पण्डित कहलाता है—ज्ञानी कहा जाता है ॥२६॥

**अर्थ**—मदनधरा-कामकी आधारभूत सुलोचना और पृथिवी ये दो प्रिया ही राजा जयकुमारके वैभवके लिये हुई थीं ! वे भुजाके समान अनुकूल आचरण करती थीं तथा सदा ही उनके हृदयको धारण करती थीं।

**भावार्थ**—राजा गार्हस्थ्य धर्मका पालन करते हुए प्रजाका पालन करते थे। वे जिस प्रकार अपने मनमें सुलोचनाका ध्यान रखते थे, उसी प्रकार पृथिवीका भी ध्यान रखते थे ॥२७॥

**अर्थ**—स्वकीय सौन्दर्यसे कामदेवके अहंकारको नष्ट करने वाले राजा जयकुमारका सरल मन मुरलीके समान मधुर स्वर वाली अथवा वंश परम्परासे प्राप्त सम्पदासे युक्त सुलोचनाके सौन्दर्यादि गुणरूप डोरीको प्राप्तकर जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



शब्दा इव शब्दा यस्यास्तस्या मुरलीतुल्यसुस्वराया यद्वा वेणोर्वंशादुदिता सम्पादिता सम्पत् सम्पदा यस्यास्तस्या अबलायाः सुलोचनाया गुणं सौन्दर्यादि पक्षे रज्जूमाप्त्वा लब्ध्वा या खलु चापलताऽश्चपलभाव चापलता धनुर्यष्टिरभूत् तदा। अर्थात् सुलोचना यदा हावभावादिपरायणाभूत्तदा जयकुमारस्य चित्तं लक्ष्यवेधस्थानतामाप खलु। श्लेषः ॥२८॥

**रोमाञ्चनमालिङ्गनेऽन्तरं योजनवदमानीत्यतः परम्।**
**दृशि निमिषः संवत्सरतुल्यो लब्ध्वा ताभ्यां प्रेमामूल्यम् ॥२९॥**

**रोमाञ्चनमित्यादि**—ताभ्यां स्त्रीपुरुषाभ्याममूल्यं बहुमूल्यं प्रेम लब्ध्वाङ्गिने परस्परपरिरम्भणे यद्रोमाञ्चनमभूत्तदन्तरं व्यवधानमपि योजनवदमानि योजनतुल्यं मतं यश्च दृशि दृष्टौ निमिषः पलकपातस्स च संवत्सरतुल्योऽब्दप्रमाणो यद्वा वर्षाकाल इवाशक्यनिर्वाहोऽमानि। तौ परस्परस्य वियोगसहनेऽसमर्थाविति ॥२९॥

**हारमिवाह हृदः पतिमेषा सगुणवृत्तकुवलं मृदुवेशा।**
**तस्य दृशस्तारेव सदेशा जगदानन्दसमुद्धृतये सा ॥३०॥**

**हारमित्यादि**—एषा सुलोचना मृदुवेशा कोमलवेशवती सती सगुणं यद्वृत्तं सदाचारस्तस्यकुर्भूमिस्तस्या बलं यस्य तं पतिं हृदो हृदयस्य हारमिव मौक्तिकदामेवाह निगदितवती। कथंभूतं हारमिति चेत्? सगुणानि सूत्रप्रोतानि वृत्तानि वर्तुलानि यानि कुवलानि मौक्तिकानि यस्य तं तादृशं। तस्य जयकुमारस्य सा अकारो वासुदेवस्तेन

---

चपलता–चञ्चलता रूप चापलता–धनुर्यष्टि निर्मित हुई थी, उसका तरल–लक्ष्यस्थान बन गया था।

**भावार्थ**—वंश–कुलरूपी बांससे धनुर्यष्टिका निर्माण हुआ था, उसमें सुलोचनाके गुणोंने गुण अर्थात् प्रत्यञ्चाका काम किया था और इसका निशाना जयकुमारका सरल मन हुआ था ॥२८॥

**अर्थ**—अमूल्य प्रेमभाव प्राप्तकर उन स्त्री-पुरुषोंने परस्परके आलिङ्गनमें जो रोमाञ्चन हुआ था, उसके अन्तरको योजनके समान माना था और दृष्टिमें जो पलकपात होता था उसके अन्तरको वर्षके समान अथवा वर्षा कालके समान अनिवार्य माना था। तात्पर्य यह है कि उन दोनोंमें अत्यधिक प्रेम था ॥२९॥

**अर्थ**—कोमल वेषवाली यह सुलोचना **सगुणवृत्तकुवलं**–गुणसहित सदाचारकी भूमि–सम्यग्दर्शनके बलसे सहित पतिको हृदयका हार कहती थी जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सहिता लक्ष्मीर्वा रतिर्वा सुलोचना दृशश्चक्षुषस्तारेव कनीनिकातुल्या जगतो य आनन्दः प्रमोदस्तस्य समुद्धृतयेऽभ्युद्धरणाय सदेशा समानदेशा सदा सर्वदा ईशा समर्था वाभूत् । यथा जगदालोकनेनानन्ददात्री नयनस्य तारैव, तया विनावलोकयितुमशक्यत्वात्तथा सुलोचना जयस्यानन्ददात्री । 'कुवलं तूत्पले मुक्ताफलेऽपि बदरीफले' इति विश्वलोचने ॥३०॥

**अजवपुषा गोपिता तथा या महिषो कामधेनुतां साऽयात् ।**
**अविकालहृदामुना यदापि अविनीता सा कुतः कदापि ॥३१॥**

**अजवपुषेत्यादि**—अजवं पुष्णातीत्यजवपुस्तेनाजवपुषा अथवाजस्य छागस्य वपुः शरीरं यस्य तेनाजवपुषा जयकुमारेण गोपिताङ्गीकृता या महिषी पट्टराज्ञी सुलोचना महिषी रक्ताक्षिकापि कामधेनुतामयात् वाञ्छितकर्त्री बभूव गोरूपतां चागात् । तथावेर्नाम मेषस्य काल इव हृद् यस्य तेनाविकालहृदा, अथ रलयोरभेदाविकारं विकारवर्जितं हृद् यस्य तेन शुद्धमनसेति यावत् । अमुना जयेन यदा पुनरापि प्राप्त सा पुनरविनीता विनयवर्जिता, अविना नीता प्राप्ता कुतः कदापि भवेत् खलु ? नैव भवेत् । वक्रोक्तिविरोधाभासः श्लेषश्च ॥३१॥

---

**सगुणवृत्तकुवलं**—सूतमें पिरोये हुए गोल-गोल मुक्ताफलोंसे सहित था और सुलोचना जयकुमारके लिये लक्ष्मी, रति, तथा जगत्का आनन्द देनेके लिये समान देश अथवा सदा समर्थ आँखको पुतलीके समान थी ॥३०॥

**अर्थ—अजवपुषा**—बकराके शरीरको धारण करने वाले जयकुमारके द्वारा सुरक्षित अथवा स्वीकृत वह महिषी—भैंस **कामधेनुता**—गोरूपताको प्राप्त हो गई यह विरोध है, परिहार इस प्रकार है—**अजवपुषा**—श्रीकृष्णके समान शरीर वाले जयकुमारके द्वारा स्वीकृत सुलोचना **कामधेनुताको** प्राप्त हो गई इच्छित फल देने वाली हो गई । तथा **अविकालहृदा**—जिसका हृदय मेष—मेड़ाके लिये कालरूप—यमके समान है, ऐसे जयकुमारने जिसे प्राप्त किया था वह **अविनीता**—मेषके द्वारा क्या कभी ले जायी जा सकती है ? अर्थात् जो मेषको नष्ट करने वाला है उसके पास **अविनीता**—मेषके द्वारा ले जायी गई सुलोचना कैसे पहुँच सकती है ? यह विरोध है, इसका परिहार इस प्रकार है—जो सुलोचना **अविकारहृदा**—विकाररहित हृदय वाले जयकुमारके द्वारा प्राप्त की गई थी वह **अविनीता**—विनयसे रहित कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ।

**भावार्थ**—राजा जयकुमारकी पट्टराज्ञी सुलोचना मनोरथको पूर्ण करने वाली तथा अत्यन्त विनम्र थी ॥३१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**अभ्यन्तररुचाऽभवत् स पुषः स्थानमिहा[1]स्मत्कवचनवपुषः ।**
**अङ्गमाप्य नान्तलक्षणं सा रेजे गुणगुम्फितप्रशंसा ॥३२॥**

**अभ्यन्तररुचेत्यादि**—स जयकुमार इहास्मिँल्लोकेऽस्मत्कं यद्वचनं तदेव वपुः शरीरं यस्य तस्य पुषः पोषणार्थकस्य धातोरभ्यन्तरस्य मनसो या रुक् रुचिस्तया कृत्वा स्थानमभवत् । यद्वाभ्यन्तरे मध्ये रुकारो यस्य पुष इति धातोः शब्दस्य तत्तादृक् स्थानमभूत् पुरुषः सोऽभूदित्यर्थस्तदा सा गुणैर्गुम्फिता प्रशंसा यस्यास्तादृशी सती न विद्यन्तेऽन्तो यस्यैतादृशं लक्षणं स्वरूपं यस्य तदङ्गं सर्वमनोहरमाप्य रेजे । यद्वा नाकारो विद्यतेऽन्ते यस्य तन्नान्तं लक्षणं यस्यैतादृशमङ्गमिति शब्दमाप्य साङ्गना नाम रेजे शुशुभे ॥३२॥

**क्षत्रपोऽभवन्नादिमतेन खररुचिरिपुरिति सम्प्रति तेन ।**
**परिवारिता सुमध्या वारा संकुचतः कुड्मलादुदारा ॥३३॥**

**क्षत्रप इत्यादि**—यो जयकुमारो ना पुरुषः स आदिमतेन श्रीपुरुदेवस्याभिप्रायेण कृत्वा क्षत्रपोऽभवत् क्षत्रियाणां शिरोमणिरभूत् । किं वा नकार आदौ प्रथममिति मतेन कृत्वा नक्षत्रपः शशी समभूत्, यतः खररुचिरिपुः खलस्य रुचिः प्रीतिः खररुचिस्तस्या

---

**अर्थ**—वह जयकुमार इस लोकमें अपनी हार्दिक रुचिसे पोषणार्थक पुष धातुका पञ्चम्यन्त स्थान अथवा जिसके बीच में 'रु' है ऐसा पुष अर्थात् पुरुष हुआ था और सुलोचना अनन्त लक्षणोंसे युक्त अङ्ग—शरीरको पाकर सुशोभित हो रही थी अथवा जिसके अन्तमें 'ना' है ऐसे अङ्गको प्राप्त कर अङ्गना—स्त्रीरूपमें सुशोभित हो रही थी ॥३२॥

**भावार्थ**—पोषण अर्थमें **पुष्**—धातु आती है उससे **क**—पञ्चमी विभक्तिका **ङस्**—प्रत्यय लाने पर एकवचनमें **पुषः** बनता है । इस पुषः के बीचमें यदि **'रु'** का संयोजन कर दिया जाय तो **पुरुष** शब्द बन जाता है और **अङ्ग** शब्दसे प्रशस्त अर्थमें मत्वर्थक **ना** प्रत्यय कर दिया जाय तो अङ्गना शब्द बन जाता है । इस तरह जयकुमार धातु-क्रिया रूप थे और सुलोचना शब्दरूप थी । क्रिया और शब्द जिस तरह परस्पर सापेक्ष रहते हैं, अर्थात् क्रियाके बिना शब्दका उपयोग नहीं होता और शब्दके बिना क्रियाका उपयोग नहीं होता, उसी तरह जयकुमार और सुलोचना दोनों सापेक्ष थे ।

**अर्थ**—जो **ना**—पुरुष जयकुमार आदिनाथ भगवानके द्वारा स्थापित वर्ण-व्यवस्थाके अनुसार **क्षत्रप**—क्षत्रियशिरोमणि थे, वे ही इस समय आदिमें 'न' लगा देनेसे **नक्षत्रप**—चन्द्रमा भी थे, क्योंकि वे **खलरुचिरिपु**—दुष्ट मनुष्योंकी

---

१. 'मिह स्म कवचनवपुषः' इति पाठो भवितुमर्हः 'स्म' पादपूर्त्यर्थः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



रिपुः पक्षे खरा तीक्ष्णा रुचिः कान्तिर्यस्य तस्य सूर्यस्य रिपुरस्ति सम्प्रति वर्तमानकाले तेन सता परिवारिताङ्गीकृता वारा सुलोचना सा सुष्ठु मध्यो यस्याः सा सुमध्याऽथ च शब्दापेक्षया सुकारो मध्ये यस्यास्सा सुमध्या वाराऽर्थात् वासुरा नाम रात्रिर्बभूव या संकुचतः सुस्तनेन कृत्वा कुड्मलादुदाराऽभूत्, पक्षे पुनः संकुचतः संकोचमनुभवतः कुड्मलादुदाराभूत् ॥३३॥

**मदनप्रेमसदनयोः साम्यात् संभोक्तुं त शशाक भिदां वा ।**
**सन्दधार साध्वी द्वयमेषा कुचयुगपदिहृदि सा परिशेषात् ॥३४॥**

**मदनेत्यादि**—एषा सुलोचना या मदनश्च प्रेमसदनं प्रियश्च तयोर्मदनप्रेमसदनयोः परस्परं साम्यात् समानभावात् भिदां संभोक्तुं न शशाक भेदं कर्तुमनर्हाभूत् । सा साध्वी परिशेषादर्थापत्त्या कुचयुगमेव पदं स्थानं यत्र तत् कुचयुगपदि कुचयुगपदि यद्हृदयं तस्मिन् द्वयं द्वितयमेव मदनं स्वप्रियं चेति युगलमपि सन्दधार ॥४३॥

**यद्यपि सासोन्महिषी शस्ता नावश्यककर्मणि परहस्ता ।**
**देवीत्युदितापि निजे हृदये स्वां राज्ञीं नान्वभूद् गुणमये ॥३५॥**

**यद्यपीत्यादि**—यद्यपि सा शस्ता प्रशंसनीया महिषी पट्टराज्ञी आसीत् संजाता

---

प्रीतिसे विरुद्ध थे (पक्षमें **खररुचिरिपु**—सूर्यके विरोधी थे) इस समय उन जयकुमारके द्वारा स्वीकृत **सुमध्यमा**—सुन्दर मध्यभागवाली **वारा**—सुलोचना मध्यमें सु लगा देनेसे [1]**वासुरा**—रात्रि हो गई थी और तब **संकुचतः**—अपने समीचीन स्तनोंकी अपेक्षा वह **कुड्मल**—कमलकी बोंड़ीसे उत्तम थी (रात्रि पक्षमें **संकुचतः**—निमीलित होते हुए कुड्मलसे उत्तम थी, अर्थात् रात्रिके कुड्मल संकुचित हो रहे थे, जब कि सुलोचनाके स्तनरूप कुड्मल संकुचित नहीं थे। भाव यह है कि यदि जयकुमार चन्द्रमा हुए थे तो सुलोचना रात्रि हुई थी ॥३३॥

**अर्थ**—यह सुलोचना काम और जयकुमारमें समानताके कारण भेद करनेमें समर्थ नहीं हो सकी थी, इसीलिये वह पतिव्रता स्तनयुगलके स्थानसे सहित हृदयमें अर्थापत्तिसे दोनोंको धारण करती थी ॥३४॥

**भावार्थ**—जयकुमार और कामदेव दोनों एक समान सुन्दर थे, इसलिये सुलोचना दोनोंमें यह भेद नहीं कर सकी कि इनमें काम कौन है और पति—जयकुमार कौन है? अतः वह एक समान रूपको धारण करने वाले स्तन युगलके स्थानभूत हृदय—वक्षःस्थलमें स्तनयुगलके व्याजसे दोनोंको धारण करती थी ॥३४॥

**अर्थ**—यद्यपि वह पट्टरानी थी, तथापि भगवत्पूजा आदि कार्योंमें पराधीन

---

१. वासुरा वासितायां स्यान्निशाभूम्योश्च वासुरा' इति विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथापि आवश्यककर्मणि भगवत्पूजादिकार्ये परहस्ता पराधीना नाभूत्, किन्तु तत्स्वहस्तेनैव चकार । तथा देवीत्युदिता कथितापि गुणमये निजहृदये स्वां राज्ञीं नान्वभूत्, किन्तु सर्वसाधारणस्त्रीजातिवद् मन्यमाना समवर्तत सा ॥३५॥

तस्मिन् साधुसपर्याधीने तमनुचकार पथीहाहीने ।
देवाराधनसमये वारा ददती तस्मै सोपस्कारान् ॥३६॥

तस्मिन्नित्यादि—साधूनां सपर्या पर्युपासना तदधीने तस्मिन् जयकुमारे भवति किलाहीने पवित्रे पथीह मार्गे वारातमनुचकार तथैव सपर्यां सापि कृतवती या बाला देवाराधनसमये तस्मै जयकुमारायोपस्कारान् तदुपकरणानि ददती दत्तवती साऽसीत् ॥३६॥

सेशमतिं सायंविधिमग्नामाप्याभूद् गृहकार्यनिमग्ना ।
स यदा प्रजाहितायनयात्री सापि तदोचितसम्मतिदात्री ॥३७॥

सेशमतिमित्यादि—सा सुलोचनापीशस्य स्वामिनो मतिं सायंविधौ मग्नामाप्य स्वयं गृहकार्ये रन्धनक्षोटनादौ निमग्नासीत् खलु । स जयकुमारो यदा प्रजाया हितस्यायनं वर्त्म तस्य यात्री प्रजाहितचिन्तकोऽभूत् तदा तस्मिन् काले सा सुलोचनापि उचितां सम्मतिं ददातीत्युचितसम्मतिदात्री समभूत् ॥३७॥

तेजस्विनः करेणापन्ना मृक्षणतनुरासीत् सा स्विन्ना ।
समुदियाय तस्या यदपाङ्गश्चित्रं सोऽभूत्कण्टकिताङ्गः ॥३८॥

तेजस्विन इत्यादि—तेजस्विनो वह्नेरिव जयकुमारस्य करेणापन्ना समाक्रान्ता सा म्रक्षणस्य नवनीतस्य तनुरिव तनुर्यस्यास्सा स्विन्ना स्वेदनशीलासीत्, युक्तैव तावन्मृक्षणस्य

---

नहीं थी, सब कार्य स्वयं करती थी तथा वह देवी कही जाती थी फिर भी सर्वसाधारण स्त्रीके समान अपने आपको मानती हुई रहती थी ॥३५॥

**अर्थ**—यदि जयकुमार साधुओंकी उपासनामें लीन होते थे तो यह सुलोचना भी उनका अनुकरण करती थी और जयकुमार यदि देवपूजा करते थे तो उस समय यह उन्हें उपकरणादि देती थी ॥३६॥

**अर्थ**—वह सुलोचना पतिकी बुद्धिको सन्ध्यावन्दनादि विधिमें निमग्न पाकर गृहकार्यमें निमग्न हो जाती थी और जब वे प्रजाके हितसम्बन्धी मार्गके यात्री होते थे तब उन्हें उचित सम्मति देने वाली होती थी ॥३७॥

**अर्थ**—मक्खनके समान कोमल शरीरवाली सुलोचनाका जब अग्निके समान तेजस्वी जयकुमार हाथसे स्पर्श करते थे, तब वह स्वेदसे युक्त हो जाती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वह्निना स्वेदनं किन्तु तस्याः सुलोचनाया यदपाङ्गः कटाक्षोऽङ्गहीनश्च समुदियायाभ्युदयं प्राप तदा स कण्टकितं रोमाञ्चयुक्तं कण्टकपूर्णं चाङ्गं यस्य स तादृशोऽभूत् तदत्र चित्रमाश्चर्यविषयोऽपाङ्गेन हेतुना कण्टकसम्पत्तेरभावात् ॥३८॥

**स विटपभावमवाप यदा तु लताभूयमालिलिङ्ग सा तु ।**
**मोदमन्दिरे तस्मिन् बाला दीपशिखेवाह्लादरसाला ॥३९॥**

स विटपभावमित्यादि—स जयकुमारो यदा तु पुनर्विटपभावं कामिशिरोमणितां यद्वा वृक्षशाखासमूहतामवाप तदा सा लताभूयं यथा स्यात्तथालिलिङ्ग लतावदालिङ्गनपरायणाभूत् । तस्मिन् जयकुमारे मोदस्य मन्दिरे शर्मनिवासस्थाने सा दीपशिखेवाह्लादने रसाला परिपूर्णा जाता ॥३९॥

**खगतामाप यदा सुलक्षणो सहसैवासीत् सापि पक्षिणी ।**
**तडिल्लतालङ्करणायेव सा यदि मुदिरोऽभूज्जयदेवः ॥४०॥**

खगतामित्यादि—यदा स सुलक्षणो शोभनलक्षणसंयुक्तः खगतामाकाशगामितामापाथवा तु खगतां पक्षिभावत्वं प्राप तदा सापि पक्षिणी तत्पक्षवती वा सहसैवासीत्, यदि च पुनर्जयदेवो मुदः स्थानं मेघो वाभूत्तदा सालङ्करणाय तडिल्लताभूदिति ॥४०॥

---

थी, इसमें आश्चर्य नहीं था, क्योंकि अग्निके सम्बन्धसे मक्खनका पिघल जाना उचित ही है, परन्तु जब सुलोचनाका अपाङ्ग—कटाक्ष (पक्षमें अङ्गहीन) उदित होता था तब कुमारका शरीर कण्टकित—रोमाञ्चित अथ च काँटोंसे युक्त हो जाता था, यह आश्चर्यकी बात थी। क्योंकि अङ्गहीन व्यक्तिके द्वारा कांटोंका विस्तार करना सम्भव नहीं है ॥३८॥

**अर्थ**—जब राजा जयकुमार विटपभाव—श्रेष्ठ कामीपनको अथवा वृक्षशाखासमूहपनको प्राप्त होते थे तब सुलोचना लताके समान उनका आलिङ्गन करती थी और जब वे हर्षमन्दिर बनते थे तब वह दीपशीखाके समान आनन्ददायिनी होती थी।

**भावार्थ**—यदि जयकुमार वृक्षकी शाखा थे तो सुलोचना लता थी और हर्षके मन्दिर थे तो यह उसे प्रकाशित करनेके लिये दीपशिखा थी ॥३९॥

**अर्थ**—जब उत्तम लक्षणोंसे युक्त जयकुमार **खगता**—आकाशगामिता अथवा पक्षिताको प्राप्त होते थे तो सुलोचना भी **पक्षिणी**—उनके पक्षसे सहित अथवा पक्षिणी हो जाती थी और यदि जयकुमार मेघ होते थे तो यह उसे अलंकृत करनेके लिये बिजली जैसी हो जाती थी ॥४०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जगदुद्योतनाय सति दीपे सा भाषा भाति समीपे ।
नरशिरोमणिर्भुवि निष्पापः सापि सदाचरणे गुणमाप ॥४१॥

जगदुद्योतनायेत्यादि—जगतो विश्वमात्रस्योद्योतनाय तस्मिन् दीपे सति सा समीपे तत्पार्श्वे भासा दीप्तिर्भाति स्म खलु । यदा भुवि निष्पापः पापरहितः स नराणां शिरोमणिर्बभूव तदा सापि सदाचरणे सतामाचरणेऽथवा सर्वदा चरणे पदस्थाने गुणं प्रशंसामाप ॥४१॥

अमरहृदो मृदुहारमणी या भवति स्म श्रमहा रमणीया ।
समय इवागाद्वारमणीयान् शरदोऽस्य सुधा वा रमणीया ॥४२॥

अमरहृद इत्यादि—या रमणीया मनोहरा सुलोचना मृदवः सुकोमला हारस्य मणयो यस्यास्सा मृदुहारमणी सती श्रमहा श्रमहर्त्री भवति स्मामरहृदो जयकुमारस्य, अमरं निर्मलं हृद् हृदयं यस्य यद्वामराणां हृदिव हृद्यस्य तस्य नरश्रेष्ठस्यास्य सुधा वा रमणीया रन्तुं योग्याः शरदो वर्षाणि वाणीयान् समय इवारमगाद् जगाम खलु ॥४२॥

परमा परागवतोऽपि जयन्तं समधिगम्य समदृशा जयं तं ।
कुसुमलवाससमाश्रयमेषा परिदधतीह स्मरसविशेषा ॥४३॥

परमेत्यादि—एषा सुलोचना परा मा लक्ष्मीर्यस्यास्सा परमा परागतः पुष्परजसो जयन्तं तं जयं यद्वा परस्य मा परमा तस्यामपरागो रागराहित्यं ततो जयन्तं तं जयं किं वा रागतोऽपि जयन्तं तं जयं समदृशा समानेक्षणेन समधिगम्य परं यथा स्यात्तथाप जगाम ।

---

अर्थ—मानवोत्तम जयकुमार यदि जगत्को प्रकाशित करनेके लिये दीपक थे तो यह उनके समीप रहने वाली प्रभा थी और पृथिवीमें यदि वे निष्पाप—निष्कलंक थे तो वह भी सदाचरण—समीचीन आचरण करने में प्रशंसाको प्राप्त थी ॥४१॥

अर्थ—जिसके हारके मणि अत्यन्त कोमल थे ऐसी वह मनोहर स्त्री सुलोचना निर्मल अथवा देवतुल्य हृदय वाले जयकुमारके श्रम—खेदको नष्ट करने वाली थी, तथा सुधा—अमृत के समान रमणीय—आनन्ददायिनी थी । इस प्रकार उन दोनोंके अनेक वर्ष अतिशय अल्प समयके समान निकल गये—व्यतीत हो गये ॥४२॥

अर्थ—परमा—उत्कृष्ट लक्ष्मीसे सहित इस सुलोचनाने तं जयं—उस जयकुमारको प्राप्त किया था जो परागतो जयन्तं—पराग—पुष्पमकरन्दसे श्रेष्ठ थे अथवा अपरागतो जयन्तं—विराग भावसे श्रेष्ठ थे अथवा रागतो जयन्तं—राग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कीदृशी सती सा, कुसुमलं वासो यत्र तं कुसुमलवाससमाश्रयं रक्तवस्त्रमयमाश्रयमित्यर्थः। यद्वा कुसुमं लातीति कुसुमलः स चासौ वासो निवासस्तत्समाश्रयं परिदधती सा स्मरः सविशेषो यस्यां स्मरसविशेषा कामोत्पत्तिकर्त्रीति ॥४३॥

**मध्यमवृत्तितया करमाप भुवनादधुनासकावपापः ।**
**कौतुकेन महता मुहुरध्याश्रिता सता समभूच्च विमध्या ॥४४॥**

मध्यमेत्यादि—असकौ जयकुमारोऽपापः पापवर्जितोऽधुना भुवनाद् लोकमध्यात्, यद्वा जलाद् मध्यमवृत्तितया करमाप नाधिकभावेन षष्ठांशं जग्राह। यद्वा मध्ये मकारो यस्य तं करं कमरं (कमल)मिति यावत्। तदा महता कौतुकेन मुहुरध्याश्रिता वारंवारमुपढौकिता सता सा विमध्या मध्यवर्जिता कृशावलग्नाऽथवा विकारो मध्ये यस्याः सा विमध्यार्थात् किल सवित्ताभूत् कमलेन सह सवितुः सम्बन्धात् तथा सव उत्सवस्तद्वत्ता सवितेति यावत् ॥४४॥

**मदनद्रुतत्वमभवच्च यतः सदापि कान्तामनुगम्य सतः ।**
**न कामधुरता बभावुदारात्र कामधुरतामवाप साऽरात् ॥४५॥**

मदनद्रुतत्वमित्यादि—सदापि सर्वदैव कान्तामनुगम्य यतो हेतुतः सतो जयकुमारस्य मदनद्रुतत्वं कामेन कृत्वा द्रुतत्वं द्रवीभूतत्वमभवत् तदा पुनरत्र सुलोचनायां का

---

भावसे इन्द्रपुत्र जयन्तके तुल्य थे। यह सुलोचना जब कुसुमानी रङ्गके रंगीन वस्त्रको धारण करती अथवा पुष्पावलीसे विभूषित आश्रय निकुञ्ज आदिको प्राप्त करती तब जयकुमारकी कामस्फूर्तिका विशेष कारण होती थी ॥४३॥

**अर्थ**—इस समय पापरहित जयकुमारने **भुवनतः**—लोगोंसे मध्यम वृत्तिका राजस्व ग्रहण किया था अथवा **भुवनतः**—जलसे जिसके बीच में '**म**' है ऐसा **कर** अर्थात् कमर, र और ल में अभेदके सिद्धान्तसे **कमल**—ग्रहण किया था। **सता**—सज्जन जयकुमारके द्वारा पुनः पुनः प्राप्तकी हुई **विमध्या**—पतली कमर वाली सुलोचना वि है मध्यमें जिसके ऐसी **सता** अर्थात् **सविता** हो गई थी, कमलके साथ सूर्यका मैत्रीभाव होनेसे कमल पुष्पको धारण करने वाली सुलोचना भी सविता कहलाने लगी थी अथवा (सब उत्सवो विद्यते यस्य स सवी सविनी वा, तस्य तस्या वा भावः सविता, स्त्रीपक्षे पुंवद्भावः) सविता—उत्सव रूप हुई थी ॥४४॥

**अर्थ**—यतश्च सदा ही **कान्ता**—सुलोचनाको प्राप्त कर **सतः**—जयकुमारमें मदनद्रुतत्व कामसे द्रवीभाव होता था, अतः सुलोचनामें **का मधुरता**—कौन सी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मधुरता माधुर्यं न बभौ यत उदारा सा कामधुरतां स्मरस्य प्रधानभावतामारादेवावाप । तथा च सदा तां पिकां कोकिलामनुगम्य सतो मदनद्रुतत्वं सहकारतरुभावोऽभवद् यतस्तस्मादत्र पुनः का नाम मधुरता वसन्तयुक्तता न बभौ या मधुरतोदारा सती कामधुरतामवापेत्येवम् । यद्वा कोऽग्निरन्ते समीपे यस्याः सा कान्ता तां सदाप्यनुगम्य सतो मदननामकपदार्थवद् द्रुतत्वं पिगलनमभवत् यतो भश्चन्द्रो न भवतीत्यभः सूर्यस्तस्य धुरता प्रधानभावत्वं सूर्यवच्चमत्कारित्वं कथमिति नाभूत् ॥४५॥

**स्वादितैव मनसोऽनुभवेन तस्य रतेः कान्ततात्र तेन ।**
**सुलोचनायामभूद्विचारः परं ममाथ सफलगुणकारः ॥४६॥**

स्वादितैवेत्यादि—सुलोचनायां स्त्रियां तेन जयकुमारेणात्र तस्य मनस इति शब्दस्यान्वनन्तरं भवेन, मनोभवेनेति यावत्, रतेः कान्तता स्वरूपता स्वादिता यथा रतये कामस्तथास्यै जयदेवोऽभूदिति । किं वाऽनुभवेन कृत्वा तस्य जयकुमारस्य विषये मनस इति शब्दस्य स्वादिता सुकारपूर्वकताभूत्तेनैव कारणेन पुना रतेः कान्तता ककारोऽन्ते यस्यास्सा कान्ता तस्या भावः कान्तता जाता । अर्थाद् जयकुमारस्य सुमनसः सुलोचना रतिका, रलयोरभेदाच्च लतिका बभूव । यतो मम परं केवलं सफलं गुणं करोतीति सफलगुणकारो विचारो मनस्कारोऽथ च वेः पक्षिणश्चारो विचारोऽभूत् ॥४६॥

**मोदसमुद्रसमृद्धयै तस्यामृतगुत्वं विदधत्यै न स्यात् ।**
**किमुदयाङ्कुरः परं पवित्रः कामधनवे तस्यै मित्र ! ॥४७॥**

मोदसमुद्रेत्यादि—मोदस्य हर्षस्य यः समुद्रो राशिस्तस्य समृद्धयै वृद्धिकरणार्थ-

---

उत्कृष्ट मधुरता सुशोभित नहीं हो रही थी ? अर्थात् सभी मधुरता सुशोभित हो रही थी। इस संदर्भमें वह सुलोचना शीघ्र ही कामधुरतां—कामकी प्रधानताको प्राप्त हुई थी (कविने श्लेषालंकारसे इस श्लोकके अनेक अर्थ प्रकट किये हैं, जो संस्कृत टीकासे जाने जा सकते हैं) ॥४५॥

**अर्थ**—जयकुमार रूप **मनोभव**—कामदेवने सुलोचनामें **रति**की स्वरूपताका अनुभव किया था और सुलोचनाके मनमें भी सफल—सार्थक गुणको करने वाला ऐसा विचार हुआ था कि ये जयकुमार जिसके आदिमें 'सु' है, ऐसे मनस् अर्थात् **सुमनस्**—फूल हैं और मैं 'क' है अन्तमें जिसके ऐसी **रति** अर्थात् **रतिका** हूँ तथा र और ल में अभेद होनेसे लतिका हूँ। भाव यह है कि वे फूल हैं तो मैं लता हूँ, दोनोंका संयोग ही फल उत्पन्न करता है और उस पर वि—पक्षियों का चार—संसार होता है ॥४६॥

**अर्थ**—जो मोदसमुद्रवृद्धयै हर्षरूपी समुद्रकी वृद्धिके लिये **अमृतगुत्व**—चन्द्र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



ममृतस्य गौ रश्मिर्यस्य तस्य भावम्। तथा चामृतवन्मधुरा गौर्वाणी यस्यास्तस्या भावं विदधत्यै धृतवत्यै। किं वामृतस्य दुग्धस्य गौर्भूमिर्यत्र तस्य भावं धृतवत्यै कामधेनवे सुलोचनायै तस्यै हे मित्र! परं पवित्रो दयाङ्कुरः करुणापरिणामः किमु न स्यात्! किञ्चोदयाङ्कुरो वृद्धिभावः किन्न स्यात्! तथा च किमिति कीदृगुदयः प्रादुर्भावो यस्यैतादृशोऽङ्कुरो हरितांशो न स्यादपि तु स्यादेव। किमु दयाङ्कुरः कुत्सितोदय-शाल्यङ्कुरो न स्यात् किन्तु प्रशस्तोऽङ्कुरः स्यात्। श्लेषो वक्रोक्तिश्चालंकारः ॥४७॥

**कोमलपल्लववती सतीतः सच्छायः स च जयः प्रतीतः।**
**अश्रुतपूर्वमुत्सवं व्रजतः स्म लता तरुणक्रान्ता स्मरतः ॥४८॥**

कोमलेत्यादि—इतः सती सुलोचना कोमलाः श्रवणप्रियाः पदां सुबन्तानां लवाः ककारादयस्तद्वती, किञ्च कोमलाश्च ते पल्लवाः पत्राणि तद्वतीति, स जयश्च नाम राजा सती छाया कान्तिर्धर्माभावो वा यस्य स प्रतीतः प्रतिज्ञात एवैवं स्मरत स्मृति-शक्तिवशाद्यद्वा कामदेवस्य प्रभावाद्वा लता तरुणा वृक्षेणाक्रान्तास्तीति तादृग् न श्रुतं पूर्वं खलु सोऽश्रुतपूर्वस्तमुत्सवं समारोहं व्रजतः स्म तौ लता तरुमाक्रामति लोके किन्तु लतां सुलोचनां जयो नाम पादप आक्रामति स्मेति यावत् ॥४८॥

**स महानसत्वमाप न यावत् साहारसम्पदमधात्तावत्।**
**वीजनं दधारैवमुदारं रसति तस्मिन्ननेकवारम् ॥४९॥**

स महानसत्वमित्यादि—स जयकुमारो यावन्महानसत्वं रसवतीस्थानत्वं नाप

---

रूपताको धारण करती है अथवा **मोदसमुद्भववृद्धयै**—हर्षसमूहकी वृद्धिके लिये **अमृतगुत्व**—मधुरवाणीको धारण करती है अथवा **मोदसमुद्रसवृद्धयै**—सुगन्धसे युक्त समीचीन उत्कट **रस**—गोरसकी वृद्धिके लिये **अमृतगुत्व**—गायपनेको धारण करती है, ऐसी अनेक मनोरथों को पूर्ण करनेके लिये कामधेनुरूप सुलोचनाके लिये क्या परम पवित्र **उदयाङ्कुर**—उदयका प्रादुर्भाव न हो? क्या **दयाका परिणाम** न हो और क्या हरित अङ्कुरोंका प्रादुर्भाव न हो? अवश्य हो ॥४७॥

**अर्थ**—इधर सती सुलोचना कोमल पल्लववती—कोमल अक्षरोंसे सहित, कोमल पत्तोंसे युक्त अथवा कोमल चरण प्रदेश ( पद्—लव ) से शोभित थी और जयकुमार सच्छाय उत्तम कान्ति अथवा अनातपसे सहित थे। तात्पर्य यह है कि सुलोचना लतारूप और जयकुमार वृक्षरूप थे। वे दोनों स्मरतः—स्मृतिवश अथवा कामाभिनिवेशसे 'लता वृक्षके द्वारा आक्रान्त हुई' इस अश्रुतपूर्व उत्सवको प्राप्त हुए थे ॥४८॥

**अर्थ**—वह जयकुमार जब तक रसोईघरमें नहीं पहुँच पाते थे कि उसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



न लब्धवान् तावत्तत्पूर्वमेव सा सती आहारस्य सम्पदं भोजनसामग्रीमधात् कृतवती। तु पुनस्तस्मिन् जयकुमारे रसति भोजनं भुञ्जाने सति सा वीजनं वायुसम्पत्करं तालवृन्त-मुदारमनेकवारं पुनर्दधार धृतवती। एवमेव स महान् महापुरुषो यावद् असत्त्वं सत्त्वा-भावं नाप तावत् सा सती हारस्य मुक्तावल्याः सम्पदमधात्। यावद् स श्रमं न प्राप तावत् सापि प्रसन्नमुखतयाऽवर्तत किन्तु तस्मिन् रसति सति सा तत्पूर्वमेवानेकवारं वीजनं स्खलनं रजःसद्भावं दधार ततोऽनन्तरं वनितातः पश्चात् पुरुषपरिस्खलनं सामुद्रिकसुलक्षणम् ॥४९॥

**कौतुकतोऽपि करं सन्दधता कण्टकितापि ततो नु मृदुलताम्।**
**तथाऽऽशयश्चेत् स्पृष्टुमर्दाशि स्मितकुसुमं विटपेनाऽर्वाषि ॥५०॥**

कौतुकतोऽपीत्यादि—कौतुकतोऽपि विनोदवशेनैव करं हस्तं सन्दधता स्पर्शकर्त्रा तेन जयेन सा सुलोचना कण्टकिता रोमाञ्चपूर्णाऽपि प्राप्ता यावत्स स्पृष्टवान् तत्पूर्व-मेव सा प्रसन्नतया रोमाञ्चिताभूदिति ततः कारणात् किन्तु मृदुलता कोमलत्वं अपि तु न सा मृदुलता मृदुवल्लरीति। किञ्च कौतुकतः कौतुकं कुसुमं ततस्तत्समीपेऽपि करं ददता जयेन कुसुमावचयसमये तेन कण्टकितैवापि न तु पुष्पाणि स्वयं रोमाञ्चितत्वात्। यद्वानु-मृदुलतामिति द्वितीयात्मकः पाठस्तदा मृदुलतामनु कोमलतां प्रति कोमलां लतां प्रतीति च व्याख्येयम्। किञ्च तथा कोमलाङ्ग्या स्पृष्टुमालिङ्गितुं कुसुमग्रहणार्थं वा शयो हस्तो-ऽर्दाशि यावदेव तया करो व्यापारितश्चेद्यदि तावदेव विटपेन कामिशिरोमणिना तेन वृक्ष-लम्बेन च स्मितमेव कुसुमं स्मितवत्कुसुमं वाऽर्वाषि परिपूरितं प्रसन्नभावेनेति ॥५०॥

**तमस्युद्धतरत्रेन खण्डितौ नखलेन कलेनेशितुर्हितौ।**
**दोषोज्झितौ कुचावापतुर्ह्रियेवावृति सुतनोरिह तौ ॥५१॥**

---

पहले ही वह आहार सामग्रीको तैयार कर लेती थी और जब वह आहार करते थे तब वह अनेक बार उत्तम पंखा झलती रहती थी ॥४९॥

**अर्थ**—यदि **कौतुकतोऽपि**—विनोदवश भी जयकुमारने सुलोचना पर हाथ रक्खा तो वह **कण्टकिता**—रोमाञ्चित हो गई। क्या इसका कारण उसकी **मृदुलता**—कोमलता थी? नहीं, वह स्वयं **मृदु-लता**—कोमल वल्लरी थी। यदि सुलोचनाने भी कौतुकवश जयकुमारका स्पर्श—आलिङ्गन करनेका अपना **आशय**—भाव दिखाया तो **विटप**—कामिशिरोमणि जयकुमारने कुसुमके समान **स्मित**—मन्द मुसकानको प्रकट किया, प्रसन्नता व्यक्त की। यदि सुलोचनाने पुष्पावचयके समय **कौतुक**—पुष्पके समीप अपना **शय**—हाथ बढ़ाया तो **विटप**—वृक्ष शाखाने भी स्मितके समान—मन्द मुसकानके समान पुष्पवर्षा कर दी ॥५०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**तमसीत्यादि**—ईशितुः स्वामिनो नखं लातीति नखलस्तेन यद्वा न खल इति नखलोऽदुर्जनस्तेन कलेन रलयोरभेदात्करेण हस्तेन तमसि शार्वरे सति यद्वा तमोनामके गुणे सति उद्धतत्वेन समुन्नतभावेन यद्वाभिमानितया खण्डितौ मर्दनमाप्तौ पराजितौ दोषोज्झितौ दोषेण रहितौ यद्वा दोषया रात्र्या रहितौ भूत्वा पुनरिह ह्रिया लज्जयेव खलु सुतनोः शोभनशरीरायास्तस्या हितौ ।हितरूपौ तौ कुचौ स्तनावावृतिमवापतुरिहास्मिन् जगद् जगति । अर्थात् प्रमत्तभावेनोद्धतो जनः केनापि यदा विजितो भवति तदा लज्जितः सन् मुखावृतिं करोति तथैव कुचावपीति ॥५१॥

**नावान्ता सा नदी जयेन सम्मानिता सुवर्षभयेन ।**
**सागरमेनमवापामध्यं सा तु वृत्तमिदमभूदवध्यम् ॥५२॥**

**नावान्तेत्यादि**—जयेन सा नावा जलयानेन कृत्वान्तः प्रान्तो यस्यास्सा नावान्ता यद्वा न विद्यतेऽवान्तो यस्यास्सा नावान्ता नदी सम्मानिता सा सुलोचना सुवर्षमयेन वर्षणमेव वर्षः शोभनो वर्षः सुवर्षस्तन्मयेन मुहुर्वर्षणशीलेनेति । किञ्च शोभनो वर्षोऽष्टादशसंख्याकः संवत्सरस्तन्मयेन नवयौवनसम्पन्नेन तेन सा नाकारो वान्ते प्रान्ते यस्यास्सा नावान्ता थर्न्नदीना ।दीनतारहिता सम्मानिता सा सुलोचना पुनरेनं जयकुमारं सागरमवाप मध्यमाक्षरं विना कृत्वा सारमित्यत्राप तेनैवानुरागिणी बभूव नदी च सागर मवापेति युक्तमेव तावत् ॥५२॥

---

**अर्थ**—सुन्दर शरीरवाली सुलोचनाके हितकारी स्तन उद्धतता--अभिमान अथवा ऊँचाईके कारण रात्रिसम्बन्धी अन्धकार अथवा तमोगुणके सद्भावमें नखल--नखयुक्त ( पक्षमें सज्जन ) जयकुमारके हाथके द्वारा खण्डित किये गये पश्चात् दोषा--रात्रि अथवा अभिमानरूप दोषसे रहित होनेपर लज्जासे ही मानों उन्होंने इस जगत्में आवरणको प्राप्त किया था—अपना मुँह छिपा लिया था ॥५१॥

**भावार्थ**—जिस प्रकार कोई अहंकारी पुरुष किसीसे पराजित हो लज्जावश अपने आपको छिपा लेता है, उसी प्रकार सुलोचनाके स्तनोंने भी जयकुमारके हाथोंसे पराजित हो अपने आपको लज्जावश छिपा लिया था ॥५१॥

**अर्थ**—नावके द्वारा जिसका (आ + अन्त = आन्त) सब ओरसे अन्त किया जाता है, ऐसी गहरी नदी स्वरूप वह सुलोचना **सुवर्षमय**–अच्छी वर्षा करने वाले मेघस्वरूप जयकुमारके द्वारा सन्मानित हुई थी, अर्थात् जलसे परिपूर्णकी गई थी, इसीलिये वह **अमध्य**–श्रेष्ठ सागरको प्राप्त हुई थी यह उचित ही है, क्योंकि नदी समुद्रको प्राप्त होती ही है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**सुधालसत्कृतिमान् जयदेवः भो सुमनसोऽस्ति किन्न मुदे वः ।**
**सौवर्णेन हरिद्रा वारा द्वयोपयोगेऽनुराग आरात् ॥५३॥**

सुधालसदित्यादि—जयदेवः सोमसूनुः, हे सुमनसो मनस्विनो जना ! देवा ! वा सुधारस्य सदाचारस्य सती समीचीना या कृतिस्तद्वान्, यद्वा सुधा 'कलई' इति देशभाषायां तद्वल्लसन्ती या कृतिः परमपुनीता क्रिया तद्वान्, देवानां पक्षे तु अमृतं सुधा । एतादृशो जयकुमारो वो युष्माकं मुदे प्रीत्यर्थं किं नास्ति ? किन्त्वस्त्येव । एवं पुनर्वारा (बाला) सुलोचना सा सुवर्णस्य हेम्नः शोभनवर्णस्य च भावः सौवर्णं तेन कृत्वा हरिद्रा हरितो दिशा रातीति हरिद्रा समन्ततः प्रख्यातिमती, अथ च 'हलदी' इति देशभाषायां तस्माद् द्वयोपयोगे सुलोचनाजयकुमारयोः परस्परं योगे सम्बन्धे आरात शीघ्रमेवानुरागो बभूव । यथा सुधाहरिद्रयोः संयोगेऽनु अनन्तरमेव रागो रक्तपरिणामो भवति । वक्रोक्तिः श्लेषश्च ॥५३॥

**नागदलक्षणमाप्त्वोदारं सुधावाक्तु सा स खदिरसारः ।**
**द्वयीत्यसौ समुदितप्रमाणा मुखमण्डनाथ सत्पुरुषाणाम् ॥५४॥**

नागदलक्षणमित्यादि— सा सुधावाग् मधुरभाषिणी सुलोचना, स जयकुमारश्च

---

**अर्थान्तर**—**नावान्ता**—जिसके अन्त प्रदेशमें 'ना' है, ऐसी नदी अर्थात् **नदीना**—दीनतासे रहित सुलोचना **सुवर्णमय**—उदार मनोवृत्ति वाले जयकुमारके द्वारा अच्छी तरह सन्मानको प्राप्त हुई थी। भाव यह है कि बिना मांगे ही जयकुमार उसे सब कुछ देकर संतुष्ट रखते थे, इसीलिये वह **अमध्य**—मध्याक्षरसे रहित **सागर**—अर्थात् **सार**—अतिशय श्रेष्ठ इन जयकुमारको प्राप्त हुई थी, यह उचित ही था ॥५२॥

**अर्थ**—हे सुमनस् ! हे विचारवान् मनुष्यों ! अथवा देवों ! यह जयदेव **सुधालसत्कृतिमान्**—**सुधार**—सदाचारके अच्छे कार्योंसे सहित है, अथवा **सुधा**—'कलई' के समान सुशोभित उज्ज्वल कार्योंसे सहित है अथवा देवरूप होनेसे **सुधा**—अमृतके उत्तम कार्योंसे सहित है, अतः किं वः मुदे न ? आप लोगोंके हर्षके लिये नहीं है अर्थात् अवश्य है। और यह **वारा (बाला)** सुलोचना **सौवर्ण**—स्वर्ण जैसे वर्णसे **हरिद्रा**—दिशाओंमें ख्यातिको प्राप्त है अथवा सुवर्ण जैसे पीले वर्णसे **हरिद्रा**—हलदी रूप है, अतः दोनोंका सम्बन्ध होनेपर शीघ्र ही अनुराग—स्नेह उत्पन्न हुआ इसमें आश्चर्य क्या है ? अथवा कलई और हलदीके मिलनेसे शीघ्र ही राग—लाल रङ्ग उत्पन्न हो जाता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥५३॥

**अर्थ**—सुलोचना सुधावाक्—अमृतके समान मधुर भाषिणी थी और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



खदिरस्य नाम वृक्षविशेषस्य सार इव सारो यस्मिन् स खदिरसारस्सुदृढावयवोत्यर्थः । द्वयोः समाहारो द्वयी सा गदरहितमगदं नैरोग्यमेव लक्षणं स्वरूपमुदारं महत् तदाप्त्वा समुदितप्रमाणा प्रस्फुटप्रशंसावती सती सत्पुरुषाणां मुखमण्डनायाभूत् । सन्तस्तयोः प्रशंसामेव चक्रुरिति न किमिति काक्वर्थसंप्रत्ययः । तथा सुधावाक् चूर्णस्थानीया 'कलई'ति नाम, स च खदिरसारः कत्थेति नाम तद्द्वयी योग्यप्रमाणोपेता नागदलं नागवल्लीपत्रं तस्योदारं क्षणमाप्त्वा ताम्बूलभावेन सत्पुरुषाणां मुखमण्डनाय भवत्येव ॥५४॥

**श्रीर्हरेरुरसि शर्मापश्यत् सार्द्धभाव उमयापि मृडस्य ।**
**सातमाप सरिदम्बुधितुल्यं तत्त्वमत्र खलु जीवनमूल्यम् ॥५५॥**

**श्रीरित्यादि**—श्रीर्लक्ष्मीः सा हरे कृष्णस्योरसि केवलं हृदय एव वासं कृत्वा शर्म सुखमपश्यत्, तथोमया पार्वत्या मृडस्य महादेवस्यार्द्धेन सहितः सार्द्धः स चासौ भावश्चापि प्राप्तः । सा तमर्द्धंणरिणामेनैवाङ्गीकृतवती न पुनः सर्वात्मना । किन्तु सा सुलोचना तं जयकुमारं तन्मयत्वेनातिशयस्नेहवती भूत्वाप भेजे । यथा सरित् नदी अम्बुधिमनन्यभावेनावाप्नोति । अत्र खलु जीवनं प्राणार्षणमेव मूल्यं नदीपक्षे जीवनं जलम् । परस्परमद्वितोयप्रेमभावस्तयोरिति ॥५५॥

---

जयकुमार खदिर वृक्षके सारभागके समान सुदृढ़ शरीर वाले थे । समुदित प्रमाण–स्पष्ट प्रशंसासे युक्त यह दोनों नोरोगता रूप उदार लक्षणको प्राप्तकर सत्पुरुषोंके मुखके आभूषण क्या नहीं हुए थे क्या सब लोग उनकी प्रशंसा नहीं करते थे ? अवश्य करते थे ।

**अर्थान्तर**—सुलोचना सुधा–कलई रूप थी और जयकुमार कत्था रूप थे, अतः दोनों ही उचित मात्रामें नागदलक्षण–ताम्बूलके उदार क्षणको पाकर क्या सत्पुरुषोंके मुखकी शोभा बढ़ाने वाले नहीं हुए थे ? अवश्य हुए थे । कत्था और चूनाके उचित संयोगसे निर्मित ताम्बूल–पान मुखकी शोभा बढ़ाता ही है ॥५४॥

**अर्थ**—लक्ष्मीने श्रीकृष्णके वक्षःस्थल पर निवासकर सुखका अनुभव किया था और पार्वतीने शङ्करके अर्द्धाङ्गभावको प्राप्त किया था । सुलोचनाने जयकुमारको उस तरह प्राप्त किया था जिस प्रकार कि नदी समुद्रको प्राप्त करती है । भाव यह है कि जिस प्रकार नदी अपने जीवन–जलको समुद्रमें तन्मयीभावसे अर्पित कर देती है, उसी प्रकार सुलोचनाने अपना जीवन उसके साथ एकरूप कर दिया था ॥५५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**सुरवरवंशमपूर्वख्याति वनमपि नवनन्दनं स्म भाति ।**
**पुण्यसदनमिव तयोः सदा वा दम्पत्योः सत्कृतैकभावात् ॥५६॥**

**सुरवरेत्यादि**—तयोर्दम्पत्योर्वरवध्वोः सदा सर्वदैव खलु वनमपि किं पुनरुद्यानं सुकृतैकभावात् एकान्ततः पुण्यचेष्टितत्वात् पुण्यसदनं स्वर्गः, किञ्च पुण्यं पुनीतं च तत्सदनं च पुण्यसदनं तद्वत् सुरवरवंशं स्वर्गपक्षे सुरवराणां देवश्रेष्ठानां वंशो ज्ञातिसमूहो यत्र सदनपक्षे शोभनो रवः सुरवस्तं राति स्वीकरोतीति सुरवरः स चासौ वंशो यत्र तत् नवनन्दनं नवं मनोहरं नन्दनं नाम वनं यत्रेति स्वर्गपक्षे, गृहपक्षे पुनर्नवो नूतनः सद्यो जातो नन्दनः पुत्रो यस्मिंस्तत्, एवं कृत्वापूर्वा ख्यातिः प्रशंसा यस्यैवंभूतं भाति स्म ॥५६॥

**मीनमञ्जुचक्षुषे सुवस्तु जीवनमेव सदा दधतस्तु ।**
**भूमिपतेः सा चासीन्नवला लोचनखञ्जनाय चन्द्रकला ॥५७॥**

**मीनेत्यादि**—मीनवन्मञ्जुमनोहरं चक्षुर्यस्यास्तस्यै सुलोचनायै एव खलु जीवनं प्राणं तं समादधतः सन्दधानस्य मीनस्य जीवनं जलमेव सर्वस्वं यतः भूमिपतेर्जयकुमारस्य लोचनमेव खञ्जनश्चकोरो यद्वा लोचनेन कृत्वा खञ्जनो भवति तस्मै सा नवला नवयौवना बाला किञ्च नूतनसंजाता चन्द्रस्य कला बभूव, खञ्जनस्य चन्द्रकलाप्रेमित्वात् ॥५७॥

---

**अर्थ**—उन दोनों वर-वधूके सदा पुण्यशाली होनेसे वन भी पुण्यसदन–स्वर्गके समान अथवा उत्तम भवनके समान जान पड़ता था, क्योंकि जिस प्रकार पुण्यसदन–स्वर्ग सुरवर वंश–श्रेष्ठ देवोंके समूहसे सहित होता है, उसी प्रकार उत्तम भवन भी सुरवरवंश-सु-र व-वंश–उत्तम शब्दसे युक्त मुरलियोंसे सहित होता है, जिस प्रकार स्वर्ग–अपूर्व ख्याति–अनुपम प्रसिद्धिसे सहित होता है उसी प्रकार भव्य भवन भी अपूर्व ख्याति–अभूतपूर्व प्रसिद्धिसे सहित होता है और जिस प्रकार स्वर्ग नवनन्दन–मनोहर नन्दन वनसे सहित होता है, उसी प्रकार भव्य भवन भी नव नन्दन–सद्योजात–नवीन पुत्रोंसे सहित होता है ।

**भावार्थ**—इष्टके संयोगमें वन भी सुखकारी मालूम होता है ॥५६॥

**अर्थ**—मीनके समान सुन्दर नेत्रों वाली सुलोचनाके लिये जयकुमार जीवन रूप सारभूत वस्तु थे, अर्थात् जिस प्रकार मीनके लिये जीवन–जल सार वस्तु है उसी प्रकार जयकुमारके लिये सुलोचना जीवन प्राण स्वरूप थी और वह सुलोचना जयकुमारके नेत्ररूपी चकोर पक्षीके लिये चन्द्रकला रूप थीं ।

**भावार्थ**—वर-वधू दोनों ही एक दूसरेके लिये प्राणतुल्य प्रिय थे ॥५७॥



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**न स्वप्नेऽपि हृदौज्झि कदाचिन्नतभ्रुवः कथमस्तु स वाचि ।**
**कर्मणा तु विनयैकभुजापि व्यत्ययेन यज इत्यथवापि ॥५८॥**

न स्वप्नेऽपीत्यादि—यो जयकुमारो नते नम्रे भ्रुवौ यस्यास्तस्या नतभ्रुवो लज्जाशीलायाः सुलोचनाया हृदा मनसा स्वप्नेऽपि शयनविकल्पेऽपि नौज्झि न त्रिस्मृतः, स एव तस्मा वाचि कथमस्तु, अर्थात् सा जयदेवं मनसि सर्वदैवाचिन्तयत् किन्तु वाचा तस्य नामोच्चारणं न कदाप्यकरोत्, विनयमादरं भुनक्ति स्वीकरोति तेन विनयभुजा कर्मणा कार्येण तु पुनः यज इति व्यत्ययेन विपर्ययेणाथवा कृत्वापि स जय इत्येतस्य विलोमतायां यज इत्येव भवति, तस्मात्सा यजने तत्पराभूदिति । वक्रोक्तिरलंकारोऽत्र ॥५८॥

**चलनमिहानुभूय गुणधामासनमाप सती राज्ञो वामा ।**
**अपि मुकुलितकलकमलललामा पद्मिनीव विनतयेऽभिरामा ॥५९॥**

चलनमित्यादि—सा गुणानां धाम स्थानं यत्र सा गुणधामा सती राज्ञो जयकुमारस्येह भूतले चलनमनुभूय पश्चाद्भूत्वाप तस्य पृष्ठतो गमनकर्त्री बभूव तदीयाभिलाषानुसारेण चरणकारिणीवासीत् । तत एव तस्या वामा स्त्री भूत्वासनं स्थानमाप । किञ्च वामभाग एवासनमाप, अपि पुनर्मुकुलिते करावेव कमले ताभ्यां ललामा मनोहरा सती विनतये प्रार्थनार्थमभिरामा शोभनीया पद्मिनीव कमलिनीसदृशा बभूव ॥५९॥

**विस्तृतचरितेऽम्बर इव तस्मिन् सद्गुणगणिनीव स्मितराशिः ।**
**जल इव तृडपहारिणीशे तु स्वादुतेव सासीद्रुचिहेतुः ॥६०॥**

---

अर्थ—लज्जाशील सुलोचनाने जयकुमारको स्वप्नमें भी नहीं छोड़ा था इसलिये वह उसके वचनोंमें कैसे आये ? अर्थात् वह हृदयमें जयकुमारका चिन्तन करती थी परन्तु वह उसके नामका उच्चारण कभी नहीं करती थी । लोकमें स्त्री पतिका नाम लेती भी नहीं है । परन्तु विनयशील सुलोचनाने यज इस क्रियाको विपरीत रूपसे जयके रूपमें ग्रहण किया था । यजका उलटा जय होता ही है ॥५८॥

अर्थ—वह सुलोचना इस जगत्में दया-दाक्षिण्य आदि गुणोंका स्थान होती हुई राजा जयकुमारकी पदानुगामिनी हुई थी, अर्थात् उनकी इच्छानुसार आचरण करती थी । इसीलिये उनकी अवामा—अनुकूल हो अथवा उनकी स्त्री हो अथवा वामभागस्थ हो आसनको प्राप्त हुई थी । यही नहीं किसी बातकी प्रार्थना करनेके लिये जब वह अपने दोनों हाथ कमलकी बोंडीके समान करती थी, तब कुड्मलोंसे सहित कमलिनीके समान मनोहर दिखती थी ॥५९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


विस्तृतेत्यादि—तस्मिन् जयदेवेऽम्बर इव वस्त्रवद् विस्तृतं सुपरिणाहं चरितं यस्य तस्मिन् भवति सति सा स्मितस्य मृदुहास्यस्य रश्मिर्यस्यास्सा स्मितरश्मिः सुलोचना सतां गुणानां धैर्यादीनां तन्तूनां गणिनी गणनाकर्त्री अधिकारिणी वासीत् । ईशे तु पुनर्जल इव पानीयवत् तृषोऽपहारी तस्मिन् पिपासापहारके समस्तप्रकाराभिलाषापरिपूरके भवति सा स्वादुतेव रुचिहेतुरासीत् ॥६०॥

**समालोचकत्वं दधतीवामुष्मिन्साभूद् रूपजीवा ।**
**मृदुवादित्रपरायणे सदाप्युच्चैस्तनढक्कासुसम्पदा ॥६१॥**

समालोचकत्वमित्यादि—तस्मिन् जयकुमारे समालोचकत्वं सम्यक्प्रकारेण दर्शकत्वं दधति अनुरागपूर्वकं पश्यति सति सा रूपमेवाजीवा जीविका यस्यास्सा रूपाजीवा विलासिन्यभूत् । तथैव तस्मिन् मृदु च तद् वादित्रं च मृदङ्गादिकं तत्र परायणस्तत्परो वादनार्थमुद्युक्तस्तस्मिन् सति अपि पुनस्सा चोच्चैरुन्नतशीलौ स्तनावेव ढक्का नक्कार इति नाम वाद्यं तस्याः शोभना या सम्पत्तया सदालंकृताभूत्तस्यानुकूला ॥६१॥

**भुवमनुमातुममुस्मिन् लम्बे साह हेमसूत्रं स्वनितम्बे ।**
**यदि गुणिनि स्वर्गेऽस्य विचारो निजमम्बरमियमहोद्दधार ॥६२॥**

भुवमित्यादि—अमुष्मिन् जयकुमारे भुवं धरामनुमातु लम्बे सति विचारतो विस्तृते सति सा सुलोचना स्वनितम्बे कटीप्रदेशे हेमसूत्रं काञ्चीगुणमाह नातोऽधिकविस्तृतं धरातलं यादृशं मूल्यं मम कक्षाया न तादृक् पृथिव्या भाव्यमिति । यदि चेदस्य जयकुमारस्य विचारो गुणिनि गुणशालिनि स्वर्गेऽभूत्तदेह प्रसङ्गे चेयं सुलोचना निजमम्बरं वस्त्र-

---

**अर्थ**—मन्दहास्यरूप किरणोंसे युक्त वह सुलोचना अम्बर—वस्त्रके समान विस्तृत चरितके धारक जयकुमारके सद्गुण—उत्तम गुणरूपी तन्तुओंकी गणना करने वाली थी और ईश—पति जयकुमारके विषयमें जलकी तरह तृषा—भोगाकांक्षा अथवा पिपासाको हरने वाली थी और स्वादुता—स्वादिष्ठताके समान उनकी रुचिका कारण थी ॥६०॥

**अर्थ**—जब जयकुमार उसे रागभावसे देखते थे तब वह रूपाजीवा—विलासिनी हो जाती थी, अर्थात् विलासिनीको तरह उनके रागभावको बढ़ाती थी और जब वे मृदङ्ग आदि कोमलवादित्र बजानेमें तत्पर होते थे तब वह ढक्का—नक्कार नामक वादित्रको सुन्दर शोभा बढ़ाती थी ॥६१॥

**अर्थ**—यदि कदाचित् जयकुमार पृथिवीका प्रमाण करनेके लिये विचार करते थे तो वह सुलोचना अपने नितम्बपर स्थित करधनीका उल्लेख कर देती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मुद्धारोद्धृतवनी ममास्मिन् दुकूले बहुला गुणास्तन्तवः सन्ति, किमतोऽप्यधिकगुणवत्स्वर्ग-मिति ॥६२॥

**बलिसद्मनि तस्य यदा ध्यानं बभारोदरे सा सन्मानम् ।**
**मुक्तालयमीक्षितुमुत्कस्यास्य मुदे स्तनमण्डलं तु तस्याः ॥६३॥**

**बलिसद्मनीत्यादि**—यदा तस्य जयकुमारस्य ध्यानं बले राज्ञः सद्मनि पाताले बभूव तदा साप्युदरे सन्मानं बभार यतस्तस्या उदरं वलीनां सद्म । तथा मुक्तानां निर्वृतानामालयमीक्षितुं दृष्टुमुत्कस्याभिलाषिणोऽस्य जयस्य मुदे प्रसन्नतायै तु पुनस्तस्याः स्तनमण्डलमभूद्यतस्तन्मुक्तानां हारगतानां मौक्तिकानामालयो बभूव खलु ॥६३॥

**स्वमयं विश्वमवदांदहोन्नेतुं विश्वप्रेमपरे नृवरे तु ।**
**सदाशावती सदा शर्मणि तस्य शर्मभाक् किल सधर्मणि ॥६४॥**

**स्वमयमित्यादि**—नृवरे मनुष्यशिरोमणौ तु पुनर्विश्वस्य प्रेम्णि परे परायणे विश्व-प्रेमपरे सति इह सा विश्वं समस्तमपि जगद् उन्नेतुमुन्नतं कर्तुं स्वमयमात्मरूपं निजगाद यतः सदा सर्वदैव शर्मणि हितकर्तव्ये समीचीना या आशाभिलाषा तद्वती सती, अत एव शर्मभाक् सुकृतभोक्त्री भूत्वा किल तस्य सधर्मिणी तुल्यविचारवती बभूव । अनुप्रासः ॥६४॥

---

थी कि इससे बड़ी पृथिवी नहीं है और कदाचित् गुणयुक्त स्वर्गके विषयमें विचार करते थे तो वह अपना अम्बर–वस्त्र उठाकर कह देती थी कि जितने गुण–तन्तु इसमें हैं उतने गुण–लाभ स्वर्गमें नहीं हैं ॥६२॥

**अर्थ**—जब जयकुमारका ध्यान बलिके स्थान–पातालमें जाता था तब सुलोचना अपने उदरमें सन्मानको प्राप्त होती थी, क्योंकि पाताल तो एक ही बलिका स्थान है पर मेरा उदर अनेक वलियों–त्वक्संकोचोंका स्थान है और जब जयकुमार मुक्तालय–सिद्धालयको देखनेके लिये उत्कण्ठित होते थे तब उनके हर्षके लिये सुलोचनाका स्तनमण्डल पर्याप्त होता था, क्योंकि जिस प्रकार सिद्धालय मुक्तों–सिद्धोंका आलय है उसी प्रकार स्तनमण्डल भी मुक्तालय–हारमें अनुगुम्फित मुक्ताफलोंका स्थान था ॥६३॥

**अर्थ**—जब नरशिरोमणि जयकुमार विश्वप्रेममें तत्पर होते थे तब वह सुलोचना विश्व–समस्त जगत्को समुन्नत करनेके लिये आत्मरूप–अपने समान कहती थी, अर्थात् समस्त जगत्को आत्मतुल्य मानती थी और सदा ही उसके सुखकी उत्तम आशा रखती हुई सुखी होती थी । इस प्रकार वह जयकुमारकी सधर्मिणी–सदृश आचरण करने वाली थी ॥६४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**उरीकृतापि भुवमलंचक्रे वक्रभूः किल विधाववक्रे।**
**सर्वाशाभासामीशेन साशातीतमधुरिमा तेन ॥६५॥**

**उरीकृतेत्यादि**—सा आशामत्येतीति आशातीतः पराकाष्ठां गतो मधुरिमा माधुर्यं यत्र साशातीतमधुरिमा सुलोचना सर्वाश्च ता आशा अभिलाषाः सद्वाञ्छा स्तासां भासो विकाशास्तेषामीशेन यद्वा सर्वासां भासामीशेनेति पाठमाश्रित्यात्यन्तदीप्तिमता तेन जयकुमारेणोरीकृता स्वीकृतापि भुवं पृथिवीमलंचक्रे भूषयामास। इत्यत्र तेनोरीकृतोरसिन्यस्तापि भुवमलंचक्र इति विरोधाभासः। सा चावक्रः सरलो यो विधिराचारस्तस्मिन् प्रशंसनीयाचारे वक्रे भ्रुवौ यस्यास्सा वक्रभूरिति विपरीतार्थः। तत्रावक्रः प्रशस्तश्चासौ विधिरदृष्टश्च तस्मिन् भाग्योदये सतीत्यर्थः। सा वक्त्रभूः शोभनभ्रकुटीमती किलेति निश्चयेन। अनुप्रासो विरोधाभासश्चालङ्कारः ॥६५॥

**जडलोकसुधारणे प्रचेता धनदो दीनजनाय विजेता।**
**दण्डधरोऽपराधिवर्गे तु तत्परोऽथ शतशः क्रतुमेतुम् ॥६६॥**

**जडलोकेत्यादि**—स विजेता जयनशीलो जयकुमारो जडाश्च ते लोका मूर्खजनाश्च तेषां सुधारणे मूर्खादमूर्खीकरणे प्रशंसनीयं चेतो यस्य सः, यद्वा जलस्य लोकः पानीयप्रदेशस्तस्य सुधारणे सुविधाकरणे च प्रचेता नाम पश्चिमदिक्पालो वरुणः, दीनजनाय निःस्वलोकायाभ्यागताय धनं ददातीति धनदो धनदो नाम कुबेरश्चोत्तरदिक्पालकः, अपराधिवर्गे

---

**अर्थ**—अत्यधिक मधुरतासे सहित वह सुलोचना समस्त अभिलाषाओंके विकासके स्वामी अथवा समस्त दीप्तियोंके स्वामी राजा जयकुमारके द्वारा **उरीकृता**–अपने वक्षःस्थल पर स्थापित होकर भी पृथिवीको अलंकृत करती थी, यह विरोध है, क्योंकि जो जहाँ रहता है उसीको अलंकृत कर सकता है अन्यको नहीं। परिहार पक्षमें **उरीकृता**–का अर्थ स्वीकृता करने पर कोई विरोध नहीं होता। इसी प्रकार **अवक्रविधि**–अनुकूल शुभ आचारके रहते हुए भी वह **वक्रभ्रू**–कुटिल भौंहों वाली बनती थी यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है—वह **अवक्रविधि**–भाग्यके सरल अनुकूल होने पर भी स्वभावतः कुटिल भौंहों वाली थी ॥६५॥

**अर्थ**—विजयशील जयकुमार **जडलोकसुधारणे**–मूर्ख जनोंका सुधार करनेमें **प्रचेता**–प्रशंसनीय चित्तका धारक था (पक्षमें **जललोक**–जलप्रदेशका सुधार करनेमें **प्रचेता**–वरुण नामक पश्चिम दिशाका दिक्पाल था), दीन–निर्धन जनोंको धनद–धन देने वाला था (पक्षमें धनद नामक उत्तर दिशाका दिक्पाल था)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



दुराचारिसमूहे तु पुनर्दण्डधरो दण्डनीतिपरायणो यथोचितदण्डं दत्त्वा सुविधाकरो दण्डधरश्च यमो नाम दक्षिणदिक्पालः, एवमेवाथ पुनः शतशोऽनेकधा क्रतुं यज्ञमेतुं कर्तुं तत्परो भगवदुपासनापरायणोऽसौ शतक्रतुर्नामेन्द्रः पूर्वदिक्पालश्च बभूव। समुद्देशः श्लेषश्च ॥६६॥

**वीणावती स्वरेण सतोरीकृता तथा सा स्मितेन गौरी।**
**हरिणीदृशेत्यादृताप्सरसां चयेनाधरीकृतामृतरसा ॥६७॥**

वीणावतीत्यादि—सा सुलोचना सता श्रीमता जयकुमारेणोरीकृता स्वीकृता या स्वरेण कण्ठरागेण कृत्वा वीणावती वीणातुल्यस्वरत्वात् वीणावती नामाप्सरा वा बभूव, तथा स्मितेन मन्दहास्यप्रसादेन कृत्वा गौरी गौरपरिणामा गौरीनामाप्सराश्च, दृशानन्यसदृशा दृक्परिणामेन कृत्वा च हरिणी मृगी हरिणीनामाप्सराश्चेति अप्सरसां चयेन समूहेनावृतादर्शतां नीता। अथ चाप्सरसां सजलसरोवराणां चयेनादृतापि अधरीकृतो निरादरतां नीतोऽमृतस्य रसो यया किञ्चाधरीकृत औष्ठभावं नीतोऽमृतरसो यया साधरीकृतामृतरसाभूत्। पूर्वोक्त एवालङ्कारः ॥६७॥

**सकलसन्निधिर्नृपो यदाऽराढप्सरोमयीङ्कितेन वारा।**
**सुधारान्वयेऽस्मिस्तु सुधाराधरे वाप्यभूत् प्रमोदसारा ॥६८॥**

सकलेत्यादि—यदा नृपो जयकुमारः सकलानां सतां सभ्यानां मध्ये निधिः शिरो-

---

अपराधियों–दुराचारियोंके समूह पर **दण्डधरा**–दण्डनीतिको प्रचलित करनेवाला था ( **पक्षमें दण्डधर–यम** नामका दक्षिण दिशाका दिक्पाल था) और शतशः क्रतुमेतुं सैकड़ों यज्ञ करनेके लिये तत्पर होनेसे **शतक्रतु**–कहलाता था (पक्षमें **शतक्रतु**–इन्द्र नामक पूर्वदिशाका दिक्पालक था। इस तरह वह अपने कार्यकलापसे चारों दिशाओंमें विजय प्राप्त करनेसे विजेता कहलाता था ॥६६॥

**अर्थ**—श्रीमान् जयकुमारने उस सुलोचनाको स्वीकृत किया था, जो स्वर–कण्ठ सम्बन्धी रागसे **वीणावती**–वीणाके समान स्वर वाली थी (पक्षमें वीणावती नामकी अप्सरा थी), मन्द–हास्यसे **गौरी**–गौरवर्ण थी (पक्षमें गौरी नामकी अप्सरा थी) और दृष्टिसे **हरिणी**–मृगी थी (पक्षमें हरिणी नामकी अप्सरा थी)। इस तरह अप्सराओंके समूहके द्वारा आदर्शताको प्राप्त हुई थी। अथवा **अप्सरसां चयेन**–सजल सरोवरोंके समूहसे आदृत होने पर भी उसने अमृतरस–सुधाके स्वादको **अधरीकृत**–निरादर भावसे युक्त किया था अथवा अमृत रसको उसने अधरौष्ठरूपमें परिणत किया था ॥६७॥

**अर्थ**—राजा जयकुमार जब समस्त सभ्य जनोंमें शिरोमणि रूप हुए थे, तब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मणिः किञ्च स केन जलेन कस्य वा लसन शोभनो निधिः समुद्र इवाभूत् तदा सा वारा स्वकीयेनेङ्गितेनाप्सरोमयी स्वर्गीयवेश्यासदृशापां सरोमयी चाराच्छीप्रमेवाभूत् । अस्मिन् राज्ञि सुधारस्यान्वयोऽविनाभावो यत्र तस्मिन् सुधारान्वये भवति तु पुनः प्रमोदो हर्ष एव तस्य सारो यस्यां सा प्रमोदसारा सुधां रातीति सुधारोऽधरो यस्यास्सा सुधाराधरा यद्वा प्रकृष्टा मा मानं यस्य तत्प्रमं प्रमं च तदुदकं च तस्य सारो यस्यामेवंभूतां सुधारां धरतीति सुधाराधरा नदीवाभूदिति ॥६८॥

**स तु निजपाणिपङ्कजाताभ्यां परिमातुमिव सुगभीरनाभ्याः ।**
**मीलनकेलौ लोचनोत्पले सन्दधार परिणामकोमले ॥६९॥**

स इत्यादि—मीलनकेलौ दृङ्मीलनक्रीडावसरे सुगभीरा नाभिर्यस्यास्तस्याः सुगभीर-नाभ्याः सुलोचनायाः परिणामेन स्वभावेनैव कोमले लोचने एवोत्पले परिमातुमिव किल स जयकुमारो निजस्य पाणी हस्तावेव पङ्कजाते कमले ताभ्यां सन्दधार संधृतवा-निति ॥६९॥

**सा तूत्तुङ्गकुचतयापि तयात्र निषिद्धा विद्धाथोत्थितया ।**
**भुजयोर्नवनवकण्टकिततया मुद्रयतु किमीशदृशौ च रयात् ॥७०॥**

सा त्वित्यादि—सा तु सुलोचना पुनस्तया सुप्रसिद्धया उत्तुङ्गौ च तौ कुचौ तयोर्भाव उत्तुङ्गकुचता तया कृत्वा निषिद्धाथ च भुजयोरुत्थितया प्रियस्यालिङ्गनेन कृत्वा

---

बाला—सुलोचना अपनी चेष्टाओंसे अप्सरोमयी—स्वर्गकी अप्सरा रूप हुई थी। अथवा जब राजा जयकुमार कलसन्निधि—जलके सुशोभित भाण्डार—समुद्र रूप हुए थे तब वह अप्सरोमयी—जलके सरोवर रूप हुई थी। जब वह राजा सुधार—सुन्दर व्यवस्था अथवा सदाचारके अनुगामी हुए तब प्रमोद—हर्षसे परिपूर्ण सुलोचना भी सुधाराधरा—सुधारको सब ओरसे धारण करने वाली अथवा सुधाराधरा—अमृतको देने वाला है अधर जिसका, ऐसी हुई थी। अथवा जब राजा सुधारान्वय—अच्छी धारा वाली नदियोंके संगमसे युक्त समुद्ररूप हुए थे तब वह प्रमोदसारा—अगाध जलसे परिपूर्ण सुधाराधरी—उत्तम धाराप्रवाहको धारण करने वाली—नदीके समान हुई थी ॥६८॥

अर्थ—आँखमिचौनीके खेलमें जयकुमार गहरी नाभिवाली सुलोचनाके स्वभावतः कोमल नयनोत्पलोंको अपने हस्तरूप कमलोंसे बन्द करते थे ॥६९॥

अर्थ—सुलोचना जब पतिकी आँखोंको बन्द करनेके लिये उद्यत हुई तब उसके स्तनोंकी प्रसिद्ध ऊँचाई तथा हाथोंमें उठी नई नई कण्टकिता—रोमा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सञ्जातया नवनवकण्टकिततया च निषिद्धा सती ईशस्य स्वामिनो दृशौ चक्षुषी किमिति रयाद् वेगेन मुद्रयतु, किन्तु नैव मुद्रयतु। वक्रोक्तिरलंकारः ॥७०॥

सारसकेलिरापि मिथुनेन नदीपुलिनदेशेषु च तेन।
यदङ्गभासु दिने सति कोकलोकः प्रापाप्यशोकमोकः ॥७१॥

सारसकेलिरित्यादि—तेन मिथुनेन सुलोचना-जयकुमारयोर्द्वयेन नदीनां पुलिनदेशेषु सारसयोः केलिरापि प्रसारिता यद्वा सा प्रसिद्धा रसस्य केलिरापि। दिने सति यदङ्गभासु यदीयशरीरकान्तिषु यद्वा यदङ्गभाभिः सुदिने सति कोकलोकश्चक्रवाकयुगलमपि अशोकं शोकवर्जितमोकः स्थानं प्राप किमु तावत् ॥७१॥

उच्चलदविरलकलकान्तिकले वनितायाः कोमले तनुतले।
पातितमिति जलमपि नाज्ञासीज्जलकेलौ निरतश्च विलासी ॥७२॥

उच्चलदित्यादि—उच्चलन् समुद्गच्छंश्चासावविरलो बहुलः कलो मनोहरः कान्तेः कलः प्रवाहो यत्र तस्मिन् वनितायाः भार्यायाः कोमले मृदुस्पर्शे तनुतले पातितं जलमपि जलकेलौ निरतो विलासी नाज्ञासीदिति, यतः कान्तिमति शरीरे जलस्य विवेकाभावोऽभूत् ॥७२॥

ह्रीनताननाया अतिपीनस्तनतया नापि करो दीनः।
अभिषेक्तुं तावदितः स्नात आनन्दाश्रुभिरीशो जातः ॥७३॥

ह्रीनतेत्यादि—ह्रिया नतमाननं यस्यास्तस्या अतिपीनस्तनतया यावद्दीनः करोऽ-

---

ञ्चनने उसे मना कर दिया, इस स्थितिमें वह क्या पतिकी आँखें बन्द कर सकी थी, अर्थात् नहीं ॥७०॥

**अर्थ**—सुलोचना और जयकुमारके युगलने नदी तटके प्रदेशोंमें सारसकेलि—सारस पक्षियोंकी क्रीड़ा प्राप्त की अथवा सा रसकेलि—वह प्रसिद्ध रसक्रीड़ा प्राप्त की, जिसमें कि उनके शरीरकी कान्तिसे उत्तम दिवसके रहते हुए चकवा-चकवियोंने शोकरहित स्थान प्राप्त किया था।

**भावार्थ**—उनके शरीरकी दीप्तिसे नदी तट पर दिन जैसा प्रकाश विद्यमान रहा, इसलिये चकवा-चकवी वियोगके भयसे दुःखी नहीं हुए ॥७१॥

**अर्थ**—जलक्रीड़ामें तल्लीन जयकुमार बढ़ती हुई कान्तिके सुन्दर प्रवाहसे युक्त सुलोचनाके शरीर तलपर उछाले हुए जलको नहीं जान सके थे।

**भावार्थ**—जलक्रीड़ाके समय सुलोचनाके शरीर पर उछाला हुआ जल शरीरकी कान्तिमें छिप जाता था, अतः पृथक्से उसका बोध नहीं होता था ॥७२॥

**अर्थ**—लज्जासे नम्रमुखी सुलोचनाने भी जयकुमारको नहलानेके लिये—उन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



भिषेक्तुं नाप तावदेवेत ईशः स्वामी प्राणप्रियः स आनन्दाश्रुभिः स्नातो जातोऽभवत्खलु ॥७३॥

**मध्यस्थोऽसिर्वा शय आसीत् सम्प्रति सत्कृतयशसां राशिः ।**
**भुवो भाविते सुगुणादर्शे हितमनुचिन्तयतो राजर्षेः ॥७४॥**

मध्यस्थ इत्यादि—भुवः पृथिव्या भाविते सन्मानिते सुगुणनामादर्शे दर्पणरूपे श्रीपरमेष्ठिनि हितमनुचिन्तयतो राजर्षेः श्रीजयकुमारस्य सम्प्रत्यधुना सत्कृते पुण्यकर्मणि यानि यशांसि तेषां राशिः शयो हस्तोऽसिरिव मध्यस्थः शत्रुसद्भावाभावात्, अधुना यथाऽसिरपि मध्यस्थस्तथा हस्तोऽपि मध्यस्थ एव, परमात्मचिन्तननिमग्नत्वात् ॥७४॥

**सुगुरुतरोरोजयोर्भरेण मा त्रुटचतु मध्यः स्विदनेन ।**
**सुगुरूरुकसन्धृतानुबन्धं सास्य कक्षया व्यधात् प्रबन्धम् ॥७५॥**

सुगुर्वित्यादि—अनेन सुगुरुतरयोरुरोजयोः स्तनयोर्भरेण कृत्वायं मध्यो यः स्वभावत एव कृशीयान् स मा त्रुटचतु स्विदित्यभिप्रायवतीव सा सुलोचना सुगुरुभ्यामूरुकाभ्यां सन्धृतोऽनुबन्धो यत्रैतादृशं प्रबन्धं कक्षया काञ्च्या कृत्वाऽस्य मध्यस्य व्यधात् कृतवती ॥७५॥

**रात्रौ राज्ञि तु कैरविणी या सस्मिता मधुरसा रमणीया ।**
**सालिजने किमु मुद्रणमगात् पद्मिनीति च दिनेऽहो सुभगा ॥७६॥**

---

पर पानी उछालनेके लिये अपना दोन-शक्तिहीन हाथ उठाया, परन्तु स्तनोंकी अत्यन्त स्थूलताके कारण वह उन तक नहीं पहुँच सका, फिर भी वे हर्षके आँसुओंसे स्वयं नहा लिये ॥७३॥

**अर्थ**—पृथिवीसे सन्मानित उत्तम गुणरूप दर्पणमें हितका चिन्तन करनेवाले राजर्षि जयकुमारका वह शय-हाथ, जो कि पुण्य कार्योंसे उत्पन्न यशकी राशिके समान जान पड़ता था, तलवारके समान मध्यस्थ हो गया था, अर्थात् शत्रुओंके न होनेसे जिस प्रकार तलवार मध्यस्थ हो गई थी, उसी प्रकार उनका हाथ भी मध्यस्थ हो गया था। यद्वा 'वाशय' का वा-आशय ऐसा पदच्छेद करनेपर यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि आत्महितका चिन्तन करनेवाले जयकुमारका आशय-अभिप्राय मध्यस्थ हो गया था ॥७४॥

**अर्थ**—इन अतिशय स्थूल स्तनोंके भारसे कहीं मध्यभाग टूट न जावे इसलिये सुलोचनाने मेखलाके द्वारा उसका अतिशय भारी जांघोंके साथ मजबूत बन्धन कर दिया था, अर्थात् मेखलारूप रस्सीके द्वारा मध्यभागको स्थूल जांघोंके साथ बद्ध कर दिया था ॥७५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



रात्रावित्यादि—या सुलोचना रात्रौ राज्ञि नृपतौ चन्द्रमसि च सति स्मितेन सहिता सस्मिता स्मेरमुखा या मधुरसा या च रमणीया, यद्वा मधुरसो रणमार्दवं तेन रमणीया सासौ दिने च शोभनं भगमैश्वर्यं यस्याः, यद्वा शोभनो भगः सूर्यो यस्यास्सा सुभगा, इत्यतः पद्मिनी नाम सुलक्षणा स्त्री कमलिनी च भूत्वा साऽऽलिजने सखीसमूहे, किञ्च भ्रमर-वृन्दे सति मुद्रणामौदासीन्यं मुकुलभावं चागात् प्राप्तवती किमु किन्तु सर्वदैव प्रसन्नासीत्। सा निशि कुमुदिनीवद् राज्ञि कैरानन्दैः कृत्वा रविणी मृदुभाषिणी रात्रिविकासिकमल-वल्ली च भवित्री दिने च सा कमलिनीति कृत्वा। अहो इत्याश्चर्यम्। वक्रोक्तिः श्लेषश्च ॥७६॥

**विप्ललववधूस्वरेण सासन्नाविप्रभावमाप यदा सः।**
**कर्णधारकत्वं साऽऽप परं स यदा चारित्राख्यानपरः ॥७७॥**

विप्लेवत्यादि—यदा स जयकुमारो ना पुरुषो विप्रभावं ब्राह्मणत्वमाप तदा सा सुलोचना स्वरेण निजीयेन रवेणापि कृत्वा विप्रवरस्य वधूः सधर्मिणीत्यासन्नानुकूला ब्राह्मणस्य ब्राह्मणी सेति यावत्, रलयोरभेदाद् बभूव। यदा च स चारित्रस्याख्याने पर-स्तत्परः सदाचारविवेचनपरायणोऽभूत् तदा सा कर्णौ धरतीति कर्णधरस्तस्य भावं कर्णधारत्वं दत्तावधानत्वं परमाप। किञ्च यदा स सन् सत्पुरुषो नावि नौकायां विषये

---

**अर्थ**—जो सुलोचना रात्रिमें राजा-जयकुमार (पक्षमें चन्द्रमा) के रहते हुए **कैरविणी**—हर्षसे मधुर शब्द करने वाली (पक्षमें कुमुदिनी) हुई थी, मन्द-मुस्कान (पक्षमें विकास) से सहित थी, मधुरस वाली एवं रमणीय थी, वह आलिजन-सखीसमूहके समीप (पक्षमें भ्रमरसमूहके समीप) क्या **मुद्रण**—निमी-लनको प्राप्त हुई थी ? अर्थात् नहीं। वह सुलोचना यदि रात्रिमें कुमुदिनी थी तो दिनमें पद्मिनी-उत्तम लक्षणोंसे युक्त **पद्मिनी**—नामक स्त्री थी (पक्षमें कमलिनी थी), क्योंकि जिस प्रकार **कमलिनी** सुभगा-उत्तम सूर्यसे सहित होती है उसी प्रकार सुलोचना भी **सुभगा**—अच्छे ऐश्वर्यसे सहित थी। आश्चर्यकी बात है कि एक ही सुलोचना रात्रिमें कुमुदिनी और दिनमें पद्मिनी-कमलिनी हो जाती थी ॥७६॥

**अर्थ**—जब वह राजा जयकुमार **विप्रभाव**—ब्राह्मणत्वको प्राप्त होते थे तब वह स्वरकी अपेक्षा **आसन्ना**—निकटवर्तिनी-अनुकूल आचरण करने वाली **विप्रलववधू**—ब्राह्मणी हो जाती थी और जबवह **चारित्राख्यानपरः**—चारित्रका व्याख्यान करनेमें तत्पर होते थे तब वह **कर्णधारकत्व**—कान लगाकर श्रवण करनेकी अवस्थाको प्राप्त होती थी। जब वह **सन्ना**—सत्पुरुष **नावि**—नौकाके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



प्रभावमाप तदा सा विशिष्टो यः प्लवस्तस्य वधूः स्वरेण सहजेनैवाभूत् । एवं च पुनर्यदा सोऽरित्रस्य नौनिर्वहणकाठस्याख्यानपरोऽभूत्तदा सापि कर्णधारकत्वं नौसञ्चालकत्वमेवोररीकृतवती ॥७७॥

**तरणिर्नवप्रभावत्वेन स सा भुवनमानिनी गुणेन ।**
**जडधीतिविधाकरः स सुमना अपि सा सुसज्जनौकास्तवना ॥७८॥**

तरणिरित्यादि—स जयदेवो नवो नवीनोऽद्भुतप्रभावस्तेजो यस्य तस्य भावेन तथैव नवा तरुणा पूर्णा या प्रभा तद्वत्त्वेन वा कृत्वा तरणिः सूर्य एवाभवत्तदा सा सुलोचना भुवनस्य विश्वमात्रस्य मानिनी सम्माननीया गुणेन शीलादिना कृत्वाभूत् । यदा स सुमनाः शोभनमानसो जडधीभ्यो मूर्खजनेभ्य ईतेर्विधां करोतीत्येवं शीलोऽभवत्खलु मूर्खलोकनिवारकोऽभूत्तदा सापि सुसज्जनानां साधुपुरुषाणामोकसः स्थानस्य स्तवनं यस्यास्सा प्रशस्तस्थानप्रशंसाकरी बभूव । किञ्च यदा स तरणिर्जलयानमभूत् तदा सा भुवनस्य जलस्य मानिनी मानवती भूत्वाथ यदा स जलधिरित्येवंविधाकरोऽभूत्समुद्रभावमाप तदा सा सुसज्जा प्रशस्ता नौका यस्यैवंभूतं स्तवनं यस्या ईदृशी जातेति ॥७८॥

**तामुच्चैस्तनकुम्भां च धरन् स चतुं वारिषु धीवरः ।**
**कलाधरे रुचिमाप सुवासाः कौमुदाश्रिताभूद्रुचिरा सा ॥७९॥**

---

विषयमें प्रभावको प्राप्त होते थे तब वह **विप्लववधू**–विप्लव–उपद्रवको दूर करने वाली विशिष्ट आपत्कालीन लघु नौकाकी परिणतिको प्राप्त होती थी, और जब वह **अरित्र**–पतवार संज्ञाको प्राप्त होते थे तो **कर्णधारकत्व**–दिशानिर्देशक यन्त्रकी परिणतिको प्राप्त होती थी। तात्पर्य यह है कि वह सदा पतिके अनुकूल रहती थी ॥७७॥

**अर्थ**—जब वह जयकुमार **नवप्रभावत्वेन**–नूतन प्रभावसे युक्त होने अथवा **नूतनप्रभासे** सहित होनेके कारण **तरणि**–सूर्य होते थे तब वह सुलोचना अपने शीलादि गुणोंके द्वारा **भुवनमानिनी**–समस्त संसारमें सम्मान प्राप्त करने वाली होती थी। जब जयकुमार मूर्खजनोंसे पृथक्करण करनेवाले **सुमन**–अच्छे विचारक विद्वान् होते थे तब वह **सुसज्जनौकस्तवना**–उत्तम सज्जन पुरुषोंके स्थानमें स्तवन–प्रशंसासे सहित होती थी। जब जयकुमार **तरणि**–जलयान–जहाज रूप होते थे तब वह **गुणेन**–शीलादि गुणरूपी गुण–रस्सीके द्वारा **भुवनमानिनी**–जलके प्रमाणको जानने वाली होती थी और जब वह **जडधि**– जलधि–समुद्रभावको प्राप्त होते थे तब वह **सुसज्जनौकास्तवना**–सुव्यवस्थित नौकाको कीर्तिको प्राप्त होती थी ॥७८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तामित्यादि—वाथ वारिषु वैरिषु संचतुं स्वैरतया विहतुं तां सुलोचनां मुच्चैस्तनौ कुचावेव कुम्भौ यस्यास्तां धरन् धीवरो मतिमानभूत्। यद्वा स तामुच्चैस्तनावत्युन्नतौ कुम्भौ यस्यास्तां धरन् अङ्गीकुर्वन् वारिषु जलप्रदेशेषु संचर्तुं धीवरो दाशपुत्र इवाभूत् कुम्भाभ्यां जले ततुं सुशकत्वात्। तथा सुवासाः शोभनवस्त्रवान् स कलाधरे बुद्धिमति पुरुषे रुचिमाप, यद्वा तु चन्द्रमसि प्रेमपरोऽभूत् तदा सा कौ पृथिव्यां मुदा मोदेनाश्रिता रुचिरा रुचिमती एवं कौमुदैः कुमुदसमूहैराश्रिता रुचिरा शोभनाभूत्, चन्द्रमसः कुमुदैः सह प्रबन्धत्वात् ॥७९॥

**तं खलु विशेषकायानुमतं केशरमाहुः सुमनस्सु हितम्।**
**नाभिभवां च मरुद्भिः शस्तां कस्तूरिकां विवेद जनस्ताम् ॥८०॥**

तमित्यादि—विशेषेण सामुद्रिकशुभलक्षणलक्षितेन कायेनानुमतमत एव सुमनस्सु मनस्विलोकेषु हितं कल्याणकारिणं यद्वा विशेषकाय तिलकाय नामानुमतं मानितं सुमनस्सु कुसुमेषु हितं प्रशस्तं तं जनाः केशरमित्याहुः खलु के मस्तके शरं दधिसारमित्याहुमङ्गल-करं केशरं कुङ्कुमं चाहुर्मनुष्या जयकुमारं तथा तां सुलोचनां च न विद्यते कथमप्यभिभवः पराभवः सौन्दर्यादिगुणेषु यस्यास्तामेवं मरुद्भिर्देवैरपि शस्तां प्रशंसनीयां जनः सर्व-

---

**अर्थ**—अथवा **अरिषु**—शत्रुओंके बीच अच्छी तरह विचरण करनेके लिये उन्नत स्तनरूप कलशसे युक्त सुलोचनाको स्वीकृत करने वाले जयकुमार **धीवर** थे—बुद्धिमान् थे अथवा **वारिषु**—जलमय प्रदेशोंमें अच्छी तरह गमन करनेके लिये बड़े बड़े कलशोंसे युक्त सुलोचनाको स्वीकृत करने वाले जयकुमार **धीवर**—ढीमर थे, क्योंकि ढीमर लोग नदी पार करनेके लिए बड़े कलशोंका उपयोग करते हैं। अथवा **सुवासाः**—उत्तम वस्त्रोंसे युक्त जयकुमार जब **कलाधर**—बुद्धिमान् मनुष्यमें रुचिको प्राप्त होते थे तब वह सुलोचना **कौमुदाश्रिता**—पृथिवीमें हर्षका आधार हो **रुचिरा**—उनकी रुचिको बढ़ाने वाली होती थी अथवा जब जयकुमार **कलाधर**—चन्द्रमामें रुचिको प्राप्त होते थे तब वह **कौमुदाश्रिता**—कुमुदसमूहसे आश्रित हो **रुचिरा**—कान्ति प्रदान करने वाली—चाँदनी हो जाती थी ॥७९॥

**अर्थ**—**विशेषकायानुमतं**—विशिष्ट शरीरसे सहित अत एव **सुमनस्सु हितं** मनस्वी लोगोंमें कल्याणकारी उस जयकुमारको लोग उस **केशर**—कुङ्कुमस्वरूप कहते हैं जो **विशेषकायानुमतं**—तिलकके लिये स्वीकृत है तथा **सुमनस्सु हितं**—समस्त पुष्पोंमें हित—श्रेष्ठ है। इसी प्रकार सब लोग **नाभिभवां**—पराभवसे रहित और **मरुद्भिः शस्तां**—देवोंके द्वारा प्रशंसित सुलोचनाको उस कस्तूरी रूप कहते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



साधारणोऽपि लोकः कस्तूरिकां विवेद नाभितो भव उत्पत्तिर्यस्यास्तां मरुद्भिर्वायुभिरेव च कृत्वा परिमलबहलतया शस्ताम् ॥८०॥

**जात्या वृत्तेनापि लसन्तौ सालंकारतया खलु सन्तौ ।**
**सार्द्धविरामावचच जम्पती श्रीछन्दसी गुणेन सम्प्रति ॥८१॥**

जात्येत्यादि—अत्रास्मिन् लोके सम्प्रति अधुना तौ जम्पती सुलोचनाजयकुमारौ सन्तौ शुभरूपौ गुणेन धैर्यादिना कृत्वा श्रीछन्दसी स्वतन्त्रौ यद्वा पूर्वोक्तरीत्या परस्परानुकूलस्वभावौ च भूत्वा छन्दसी वृत्ते इव यतस्तौ अलंकारैः सहितौ केयूरादिभिर्यमकादिकालंकारैर्यथा श्रीछन्दसी शोभेते तथा तौ जात्या जन्मना वृत्तेन स्वाचरणेन च लसन्तौ यथा छन्दसी जात्या वृत्तेनेति, मात्रिकछन्दो जातिर्वर्णिकछन्दश्च वृत्तमिति । तथा तौ सार्द्धं सममेव विरामो विश्रामो ययोस्तौ, छन्दसोऽपि सार्द्धभागे विरामवत्ता भवत्येवेति ॥८१॥

**जयः स्तम्भः सुवृत्तत्वाद् गार्हस्थ्यसद्मनोऽघृणी ।**
**अभ्यागतस्य विश्रान्त्यै सा छायेवोपकारिणी ॥८२॥**

जय इत्यादि—जयो नाम नृपो गार्हस्थ्यमेव सद्म गृहं तस्य गार्हस्थ्यसद्मनो घृणारहितोऽघृणी पवित्रोऽपवित्रे घृणासद्भावाद् अविकलो वा स्तम्भ इव सुवृत्तत्वात् शोभनं वृत्तमाचरणं यस्य तत्त्वात् तथा स्तम्भोऽपि सुवृत्तो वर्तुलाकारो भवति । सा सुलोचना च

---

हैं जो **नाभिभवा**—मृगकी नाभिसे उत्पन्न है तथा **मरुद्भिः**—वायुके द्वारा प्रशंसित है, अर्थात् जिसकी गन्धको वायु दूर-दूर तक प्रसारित करती है ॥८०॥

**अर्थ**—इस समय **जम्पती**—सुलोचना और जयकुमार गुणोंकी अपेक्षा श्रीछन्दरूप थे—स्वतन्त्र थे अथवा युगल छन्दके समान थे, जिस प्रकार छन्द **जाति**—मात्रिक छन्द और **वृत्त**—वर्णिक छन्दोंसे सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार वह जम्पती—दम्पती भी **जात्या**—जन्मसे तथा **वृत्तेन**—सदाचारसे सुशोभित थे । जिस प्रकार छन्दयुगल **सालंकारतया लसन्तौ**—उपमारूपकादि तथा यमकादि अलंकारोंसे सहित होते हैं, उसी प्रकार उक्त जम्पती भी कटककुण्डलादि अलंकारोंसे सहित थे और जिस प्रकार छन्द युगल **सार्द्धविराम**—अर्धभागमें **विराम**—विश्रामसे सहित होते हैं, उसी प्रकार जम्पती भी **सार्द्धविराम**—साथ-साथ होने वाले विश्रामसे सहित थे ॥८१॥

**अर्थ**—पवित्र जयकुमार गृहस्थ धर्मरूपी घरके सुदृढ़ स्तम्भ थे, क्योंकि जिस प्रकाश स्तम्भ **सुवृत्त**—गोल होता है, उसी प्रकार जयकुमार भी **सुवृत्त**—सदाचारसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तत्र च्छाया छदिवद् अभ्यागतस्य लोकस्य विश्रान्त्यै सदासनदानादिना सत्कारेण कृत्वा सन्तुष्टचै भूत्वोपकारिणी ॥८२॥

**माणिक्यनन्दितामाप स प्रमाणिपदेष्विति ।**
**सम्मानिता शुभार्याणां साप्रभाचन्द्रसंस्कृतिः ॥८३॥**

माणिक्येत्यादि—स जयकुमारः प्रमाणिनां सत्यवादिनां पदेषु स्थानेषु माणिक्यवद् नन्दितामानन्दनं बहुमूल्यत्वमापेति । किञ्च, प्रमाणं न्यायशास्त्रं तस्य पदानि प्रमाणिपदानि तेषु माणिक्यनन्दितामाप, माणिक्यनन्दी परीक्षामुखनामकन्यायशास्त्रप्रणेताचार्यवर्यः । सा सुलोचना चाशु शीघ्रमेव निःशङ्कतया भार्याणां गृहिणीनां मध्ये सम्मानिता यतः प्रभायुक्तस्य चन्द्रस्य संस्कृतिः संस्कारो यस्याः सा । यद्वा तथा सम्मानिताशु यथा भासु प्रभासु या आर्याः श्रेष्ठास्तासां मध्ये चन्द्रस्य संस्कृतिर्यस्या एवंभूता प्रभा चान्द्रमसीत्यर्थः । तथा च सा प्रभाचन्द्रस्य नामाचार्यस्य सती या कृतिः सा प्रभाचन्द्रसंस्कृतिः परीक्षामुखस्योपरि कृता प्रमेयकमलमार्तण्डाभिधाना सा चार्याणां सभ्यानां मध्ये शुभा प्रशस्तेत्येवंभूता सम्मानिताभूत् ॥८३॥

**स देवागमसंख्याता सा विद्यानन्दसत्कृतिः ।**
**अकलङ्कस्य यशसः प्रतिष्ठानाय यन्मतिः ॥८४॥**

स देवागमेत्यादि—स जयकुमारो देवस्य श्रीपुरोर्योऽसावागमो द्वादशाङ्गाभिधानस्तस्य संख्याता व्याख्यानकर्ता बभूव । सा च सुलोचना विद्याया य आनन्दस्तस्य सत्कृतिः समादरणं यस्यास्सा । यद्वा विद्ययानन्दस्य सत्कृतिर्यस्या इत्येवं यस्या मतिर्यन्मतिरकलङ्कस्य

---

युक्त थे और सुलोचना उस गृहस्थधर्मरूपी घर की छाया—छप्परके समान अभ्यागत—अतिथिके विश्रामके लिये उपकारिणी थी ॥८२॥

**अर्थ**—वह जयकुमार **प्रमाणिपदेषु**—सत्यवादियोंके स्थानमें माणिक्यके समान नन्दिता—समृद्धिताको प्राप्त हुए थे । यद्वा **प्रमाणिपदेषु**—न्यायशास्त्रके पदोंमें माणिक्यनन्दी नामक आचार्यकी रूपताको प्राप्त हुए थे और **प्रभाचन्द्रसंस्कृति**—प्रभायुक्त चन्द्रमाकी संस्कृति—संस्कारसे युक्त वह सुलोचना भी **भार्याणां**—स्त्रियोंके बीच शीघ्र ही **सम्मानिता**—प्रतिष्ठाको प्राप्त हुई थी अथवा **प्रभाचन्द्र संस्कृति**—प्रभाचन्द्राचार्यकी उस समीचीन कृति—प्रमेयकमलमार्तण्ड रूप हुई थी, जो **आर्य**—ज्ञानी जनोंमें शुभ तथा **सम्मानिता**—सन्मानको प्राप्त है ॥८३॥

**अर्थ**—वह जयकुमार श्री आदिनाथ भगवान्‌के द्वादशाङ्ग रूप आगमके व्याख्याता थे अथवा देवागमस्तोत्रके रचयिता समन्तभद्राचार्य थे और वह सुलोचना **विद्यानन्दसत्कृति**—विद्यासे प्राप्त होने वाले आनन्दका सन्मान करने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कलङ्करहितस्य यशसः प्रतिष्ठानाय स्थापनार्थं भवति। किञ्च, स देवागमस्य नाम स्तवनस्य संख्याता श्रीसमन्तभद्राचार्यः सा च विद्यानन्दस्य नामाचार्यस्य सत्कृतिरष्टसहस्री नामटीका किलाकलङ्कस्य नामाचार्यस्य यशसः प्रतिष्ठानाय भवति यतो देवागमस्योपरि कृताया अष्टशतीनामटीकायाः प्रस्फुटीकरणार्थत्वादष्टसहस्र्या इति ॥८४॥

**गद्यचिन्तामणिर्बाला धर्मशर्माधिराट् परम् ।**
**यशस्तिलकभावेनालङ्करोतु भुवस्तलम् ॥८५॥**

गद्येत्यादि—बाला सुलोचना सा गद्यस्य वचनीयस्य चिन्तामणिरभीष्टवचनत्वात् तथा च गद्यचिन्तामणिर्नाम वादीभसिंहकृतं काव्यशास्त्रम्। अधिराट् राजा जयकुमारश्च धर्मतो धर्मे वा शर्म सुखं यस्य स धर्मशर्माभूत् परं केवलं न त्वन्यत्र दुराचारादौ तस्य शर्मेति। किञ्च धर्मशर्मापि हरिचन्द्रकविप्रणीतं काव्यशास्त्रम्। तयोर्द्वयोर्यशः सुलोचनाजयकुमारयोः कीर्तिस्तिलकभावेन भुवस्तलमलङ्करोतु भूषयतु। यशस्तिलकं च चम्पूकाव्यं सोमदेवाचार्यकृतं वर्तते ॥८५॥

**कलापकं जयस्वान्तं रूपमालां सुलोचनाम् ।**
**संवदामि यतः शोभां जगतः संस्कृतस्य हि ॥८६॥**

कलापकमित्यादि—जयस्य नाम कुमारस्य स्वान्तं चित्तं तत् कस्य सहजानन्दस्यालापकमाह्वानकरं संवदामि सुलोचनां च रूपस्य सौन्दर्यस्य मालां परम्परां संवदामि

---

वाली थी अथवा विद्यानन्द आचार्यको समीचीन रचना अष्टसहस्रीरूप थी। वह अष्टसहस्री जिसका कि ज्ञान अकलङ्कस्य-निर्दोष यशकी प्रतिष्ठाके लिये होता है अथवा जिसका ज्ञान अकलङ्क नामक आचार्यके अष्टशती नामक ग्रन्थकी प्रतिष्ठा—स्पष्टीकरणके लिये आवश्यक है ॥८४॥

**अर्थ**—वह बाला सुलोचना **गद्यचिन्तामणि**—शब्दोंके लिये चिन्तामणिस्वरूप थी, अर्थात् अभीष्ट शब्दोंके उच्चारणमें निपुण थी अथवा **गद्यचिन्तामणि** नामक काव्यशास्त्र थी और राजा जयकुमार **धर्मशर्मा**—धर्मसे अथवा धर्ममें सुखका अनुभव करने वाले थे यद्वा **धर्मशर्माभ्युदय**—नामक काव्यशास्त्र थे। उन सुलोचना और जयकुमारका यश, तिलक रूपसे—श्रेष्ठ रूपसे पृथिवी तलको अलंकृत करता रहे यद्वा उनका युगल यशस्तिलकचम्पूके रूपमें पृथिवी तलको विभूषित करता रहे ॥८५॥

**अर्थ**—मैं जयकुमारके चित्तको **कलापक**—सहजानन्दका आह्वानकर्ता और सुलोचनाको **रूपमाला**—सौन्दर्यकी परम्परा कहता हूँ। और उनसे सुसज्जित संसारकी शोभा कहता हूँ। अथवा जयकुमारका चित्त **कलापक**—कलाप नामक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



यतः संस्कृतस्यालङ्कृतस्य जगतो विश्वस्य शोभां संवदामि। यद्वा जयस्वान्तं हि कलापकं नाम व्याकरणं जये विजयकरणे शास्त्रार्थविषये स्वान्तं चित्तं भवति येन तत्संवदामि! सुलोचनां च रूपमालां नाम तस्य प्रक्रियां शोभनं लोचनं निरीक्षणं पठनं पाठनं वा यस्यास्तां संवदामि यतो हि कृत्वा संस्कृतस्य जगतो देववाणी नाम संसारस्य शोभां संवदामि। दीपकः श्लेषश्चालंकारः ॥८६॥

**सुमनस्सु वसन्तं च पवित्रं प्रतिजानेऽत्र जयं गुणिमित्रम्।**
**सा रम्भाप्सरस्सु सदपघना सम्बभूव परमब्जलोचना ॥८७॥**

सुमनस्स्वित्यादि—अत्राहं गुणिनां गुणवतां मित्रं सुहृदमत एव पवित्रं निर्मलहृदयं जयं नाम नरनाथं सुमनस्सु पुनीतचित्तेषु जनेषु वसन्तं निवसन्तं यद्वा सुमनस्सु कुसुमेषु विषमे वसन्तं नामतु प्रतिजानेऽथवा सुमनस्सु देवेषु चेति। अप्सरस्सु स्वर्गवेश्यासु सा रम्भा नाम यद्वाप्सरस्सु जलपूर्णसरस्सु आरम्भेण सहिता सारम्भा, सन्तः समीचीना अपघना अवयवा यस्यास्सा, यद्वा घनवर्जिता मेघरहिता, अब्जवल्लोचने यस्याः, यद्वाब्जान्येव लोचनानि यस्या एवंभूता शरदिव बभूव। स वसन्तसमः सा च शरत्समेति यावत् ॥८७॥

**तत्पादपद्मात्रलगत्परागिणी सासीत्तु सन्ध्येव सहानुरागिणी।**
**विश्वैकभानोरुत सुप्तशायिनो पूर्वं प्रबुद्धेति किन्नानुयायिनी ॥८८॥**

---

व्याकरण है और सुलोचना उसकी **रूपमाला** नामक प्रक्रिया है तथा ये दोनों ग्रन्थ संस्कृत संसारकी शोभारूप हैं, अर्थात् संस्कृत साहित्यकी शोभा बढ़ाने वाले हैं। यतश्च **जयस्वान्तं**–शास्त्रार्थमें विजयी होनेके लिये जिसका मन होता है, वह कलाप व्याकरणको पढ़ता है तथा रूपमाला प्रक्रियाका सुलोचन–अच्छी तरह लोचन–पठन पाठन होता है, अतः दोनों ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माने जाते हैं ॥८६॥

**अर्थ**—गुणी जनोंके मित्र अत एव पवित्र जयकुमारको मैं **सुमनस्सु**–अच्छे हृदय वाले मनुष्यों अथवा देवोंमें **वसन्त**–निवास करने वाला मानता हूँ अथवा सुमनस्सु–पुष्पोंके विषयमें **वसन्तं**–वसन्त ऋतुरूप मानता हूँ और वह सुलोचना **अप्सरस्सु**–अप्सराओंमें रम्भा नामक अप्सरा थी अथवा जलपूर्ण सरोवरोंके आरम्भ–निर्माणसे सहित थी, **सदपघना**–समीचीन अवयवोंसे सहित थी और **अब्जलोचना**–कमलके समान नेत्रों वाली थी अथवा **अपघना**–मेघरहित और **अब्जलोचना**–कमलरूपी नेत्रोंसे सहित शरद् ऋतु रूप थी। ऐसा मैं जानता हूँ ॥८७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तत्पादेत्यादि—विश्वस्मिन्नेको भानुः सूर्य इव यस्तस्य विश्वैकभानोर्जयकुमारस्य सन्ध्येव सदानुरागिणी यथा सन्ध्या रागवती भवति तथा सा प्रीतिमती। तस्य जयस्य पादावेव पद्मे तयोरग्रे लगन् यः परागः स यस्या अस्तीति भूत्वा तस्मिन् सुप्ते सति शायिनी शयनकर्त्री तस्मात् पूर्वं पुनः प्रबुद्धा सती किल तस्यानुयायिनी अनुसरणकर्त्री बभूव किल ॥८८॥

जयः समुद्रः समुदायिभावादियं घटोघ्नी गुणसम्पदा वा।
मयान्वयाचारितया च वारिप्रचारिताप्यत्र रयादधारि ॥८९॥

जय इत्यादि—समुदायो यस्मास्तीति समुदायी तस्य भावाद् जयो मुद्रया सहितः समुद्रो यद्वा शोभनस्योदकस्यायो यस्यास्तीति तस्य भावात् समुद्रो वारिधिः। इयं सुलोचना घटवत्पृथुलाकारौ ऊधसौ स्तनौ यस्याः सा घटोघ्नी गुणानां शीलादीनां च सम्पदा च यस्याः सा, अत्रापि पुनर्मया कविना भूरामलेनान्वयाचारितयानुकूलाचरणकारितया कृत्वा वारिप्रचारिता तयोश्चरित्रसंघटनरूपप्रचारकारिताऽधारि स्वीकृता। अथवा समुद्रं घटसद्भावं गुणं चेति समवायिकारणमासाद्य वारिप्रचारिता वा स्वीकृता ॥८९॥

जयः कराशी राजितो वारोचितात्र सापि।
कविताश्रयदोहानयेऽघस्य श्रमो ममापि ॥९०॥

जय इत्यादि—जयो नाम चरितनायको राजा, स करस्य नाम पृथिव्याः षष्ठांशस्याशीर्यस्य स कराशी राजितः शोभितोऽभूत्। अत्र पुनः सापि सुलोचना नाम वारा नवयौवने-

---

**अर्थ**—जयकुमार समस्त संसारके अद्वितीय सूर्य रूप थे और सुलोचना सदानुरागिणी–सदा लालिमासे सहित ( पक्षमें सदा प्रेमसे सहित) सन्ध्या थी अथवा उनके चरण कमलोंके अग्रभागमें लगी पराग रूप थी। वह जयकुमारके सोनेके पश्चात् सोती थी और उठनेके पूर्व जागती थी, इस तरह वह सदा अनुगामिनी रहती थी ॥८८॥

**अर्थ—समुदायिभावात्**–समुदायसे युक्त होनेके कारण अथवा समीचीन उदक–जलकी आयरूप होनेसे जयकुमार समुद्र थे और घटके समान उन्नत स्तनोंको धारण करनेवाली सुलोचना शीलादि गुणोंकी सम्पदा थी, अतः अनुकूल आचरण करने वाले इन दोनोंका मैंने चरित्र चित्रण किया है। अथवा जयकुमार समुद्र थे और सुलोचना स्तनरूप घटों तथा शीलादि गुणरूपी गुण रज्जुसे सहित थी, अतः मैंने वारिप्रचारिता–पानीमें संचार करना स्वीकृत किया ॥८९॥

**अर्थ**—इस जगत्में जयकुमार कराशीः–टेक्सकी आशा रखते हुए सुशोभित थे और वह बाला सुलोचना भी उचित थी अथवा नवयौवनवती होनेसे



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


त्युचितैव वा रोचिता रुचिकर्त्री यद्वा जयः कस्य जलस्य राशिः सा च वारोचिता जलोचितेति सम्बध्यते। ममापि पुनः कस्य विः पक्षी तस्य भावो कविता तस्याश्रयदो मम श्रमोऽघस्य हानये। किञ्च, कविताया आश्रयो दोहा नामच्छन्दसो नयो नीतिस्तस्मिन् घस्य शब्दस्य श्रमो ममापि। श्लेषो मुद्रालङ्कारश्च ॥९०॥

**मिथुनमिति भवत्प्रणयमुत्सवस्थले घृतसितावदवगतहितम्।**
**प्रतिपद्य विभवममुकस्य पुनर्नयामि कथने प्रणवमुत च नः ॥९१॥**

मिथुनमित्यादि—मिथुनं स्त्रीपुरुषयोर्युगलमित्येवं पूर्वोक्तरीत्या भवति प्रणयो यस्य तदिति भवत्प्रणयं तदेतदुत्सवस्य स्थले घृतं च सिता च घृतसिते तद्वदवगतं हितं परस्परस्य सम्बन्धनं यत्र तत् प्रतिपद्य ज्ञात्वा पुनरमुकस्य मिथुनस्य विभवं सम्पद्भावमथ च नोऽस्माकं कथने कथामुखे प्रणवमोंकारमिव नयामि। एतद्वृत्तं षडरचक्रबन्धे लिखित्वा पुनः प्रत्यराग्राक्षरैर्मिथः प्रवतनमिति सम्भवति ॥९१॥

**श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं**
**वाणीभूषणमस्त्रियं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।**
**निर्याति द्वयधिकोऽपि विंशतितमः सर्गोऽत्र भो सज्जन!**
**श्रीवीरोदयसोदरे शुभतमः शर्मैकसंसाधनः ॥९२॥**

---

रोचिता–रुचिको उत्पन्न करने वाली थी। कविताश्रयदः–कविताके आश्रयको देने वाला मेरा श्रम–परिश्रम भी अघस्य हानये–पापकी हानिके लिये हो। अथवा जयकुमार कराशिः–जलकी राशि समुद्रके और वह सुलोचना वारोचिता–जलसमूहमें अभ्यस्त थी तथा मेरा श्रम भी कविताश्रयदः—जलपक्षीको आश्रय देने वाला है। अथवा कविताके आधारभूत दोहा छन्दको लानेमें मेरा भी शाब्दिक श्रम हुआ है ॥९०॥

**अर्थ**—इस प्रकार यह सुलोचना और जयकुमारका युगल परस्पर होने वाले प्रणय–स्नेहसे सहित था तथा उत्सव स्थल पर उसका मिलन घी और शक्करके मिलनके समान हितकारी था। यह ज्ञात कर अपने कथामुखमें उनके वैभवको मैं ओंकार पद प्राप्त कराता हूँ, अर्थात् उसके वैभवका वर्णन किया जाता है ॥९१॥

इति श्रीवाणीभूषणब्रह्मचारिभूरामलशास्त्रिविरचिते
जयोदयमहाकाव्ये द्वाविंशतितमः सर्गः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# त्रयोविंशतितमः सर्गः

**समर्प्य राज्यं विजयाय नाकुलोऽनुजाय चामुत्र हितान्वितान्तरः ।**
**प्रजाप्रियोपायपरः प्रियाश्रयानुतर्षहर्षेण सुखी व्यराजत ॥१॥**

समर्प्येत्यादि—स जयकुमारोऽमुत्र परलोकार्थं हितेनान्वितमन्तर्भवमान्तरमिङ्गितं यस्य स तथा प्रजायाः प्रियो हितकरो यः कोऽप्युपायस्तस्मिन् परः संलग्नो विजयाय नामानुजाय लघुभ्रात्रे राज्यं समर्प्य नाकुलो व्याकुलतारहितो भवन् केवलं प्रिया सुलोचनैवाश्रयो यस्यैतादृशोऽनुतर्षोऽभिलाषो यत्रेदृशेन हर्षेण व्यराजत सुखी ॥१॥

**भयापहारिण्यमुकस्य शासने बभावपीयं प्रभयान्विता प्रजा ।**
**अनारतं नीतिबलप्रचारकेऽप्यनीतिभावः प्रसृतोऽभवत्क्षितौ ॥२॥**

भयेत्यादि—अमुकस्य जयकुमारस्य शासने भयस्यापहारिणि नाशकेऽपि प्रजा प्रभयेन घोरातङ्केनान्विता युक्ता बभाविति विरोधस्तस्य परिहारः प्रभया शोभयान्विता बभाविति । तथानारतं निरन्तरं नीतिबलस्य प्रचारकेऽमुकस्य शासने क्षितौ भुवि किलानीतेरन्यायस्य भावः प्रसृतः प्रचलितोऽभवदिति विरोधस्तस्य परिहारोऽतिवृष्ट्यादिभावस्याभावोऽभूविति । विरोधाभासोऽलंकारः ॥२॥

---

**अर्थ**—तदनन्तर जिनका अन्तरङ्ग पारलौकिक हितसे सहित है, जो प्रजाके हितकारी उपायों–कार्योंमें संलग्न है तथा विजय नामक छोटे भाईके लिये राज्य सौंपकर निराकुल हुए हैं, ऐसे जयकुमार मात्र प्रिया–सुलोचना सम्बन्धी अभिलाषासे युक्त हर्षसे सुखी होते हुए सुशोभित हो रहे थे ॥१॥

**अर्थ**—राजा जयकुमारका शासन यद्यपि **भयापहारी**–भयको नष्ट करनेवाला था फिर भी उसमें प्रजा **प्रभयान्विता**–प्रकृष्ट बहुत भारीसे सहित थी यह विरोध है परिहार पक्षमें **प्रभयान्विता**–प्रकृष्ट–भा–कान्तिसे सहित थी । इसी प्रकार उनका शासन यद्यपि निरन्तर नीतिबलका प्रचारका था तथापि उसमें पृथिवीपर **अनीतिभाव**–फैला हुआ था । यह विरोध है परिहार पक्षमें **अनीतिभाव**–अतिवृष्टि आदि [1]ईतियोंका अभाव विद्यमान था ॥२॥

---

१. अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः ।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**अमित्रजिन्मित्रजिदौजसा भृशं विचारदृग् चारदृगप्ययवर्तत ।**
**न सन्निधौ मग्नमनाश्च सन्निधिप्रियश्च संवेगधरोऽपि वेगजित् ॥३॥**

अमित्रजिदित्यादि—स ओजसा स्वतेजसाऽमित्रजित् शत्रुपरिहारकोऽसावेव-मित्रजिद-पीति विरोधस्तस्य परिहारो मित्रं[1] सूर्यमपि जितवानिति । चारा गुप्तचरा एव दृग्दृष्टि-रवलोकनकर्त्री यस्य सोऽपि विचारदृक् चारदृशा विहीन इति विरोधस्तस्य परिहारो विचारः पूर्वापरपरामर्शोऽपि दृगयस्य सः । सन्निधौ समीचीनेऽपि निधौ कौस्तुभादौ न मग्नं मनो यस्य सोऽपि सन्निधिप्रियो निधिषु प्रीतिकर इति विरोधस्तस्य परिहारः सन् साधुपुरुष एव निधिः स एव प्रियो यस्येति । वेगान् मानसिकशारीरिकोपद्रवान् जयतीति वेगजिदपि संवेगधरः सुष्ठु वेगयुक्त इति विरोधस्तस्य परिहारः संवेगं धर्मानुरागं धरतीति सः । विरोधाभासोऽ-लंकारः ॥३॥

**गिरं विचारेण गिरा श्रियं श्रिया सुलोचनामात्मवशं नयन्नयम् ।**
**मिथः प्रतिष्ठाप्रदया दयाश्रयस्त्रिवर्गशक्त्या स रराज राजघः ॥४॥**

गिरमित्यादि—राज्ञ एव समर्थानिवानीतिवर्तिनो हन्तीति राजघः, स गिरं वाणीं विचारेणात्मवशं नयन् विचारपूर्वकं वदन्, गिरा वाचा श्रियं श्रिया शोभया च सुलोचना-मात्मवशं नयन्नयं दयाया आश्रयो भवन् मिथः परस्परं प्रतिष्ठाप्रदया अन्योन्यान् वीक्षा-

---

**अर्थ**—राजा जयकुमार अपने तेजसे **मित्रजित्**—सूर्यको जीतने वाले होकर भी **अमित्रजित्**—सूर्यको जीतनेवाले नहीं थे (परिहार पक्षमें **अमित्रजित्**—शत्रुओं-को जीतने वाले थे)। **चारदृक्**-गुप्तचर रूप दृष्टिसे सहित होकर भी **विचारदृक्**—चाररूप दृष्टिसे रहित थे (परिहार पक्षमें **विचारदृक्**—पूर्वापर विचाररूप दृष्टिसे सहित थे) **सन्निधौ न मग्नमनाः**—समीचीन निधियोंमें यद्यपि मग्नहृदय नहीं थे तथापि **सन्निधिप्रिय**—समीचीन निधियोंसे प्रीति करनेवाले थे। (परिहार पक्षमें **सन्निधिप्रियः**—सज्जनरूप निधिसे प्रीति करनेवाले थे) और **वेगजित्**—शारीरिक एवं मानसिक उपद्रवोंको जीतनेवाले होकर भी **संवेगधर**—अच्छी तरह वेगको धारण करने वाले थे (परिहार पक्षमें **संवेग**—धर्मानुरागको धारण करने वाले थे) ॥३॥

**अर्थ**—राजघ—अनीतिकारक शक्तिसंपन्न राजाओंको नष्ट करनेवाले (अथवा राजाधिराज) तथा दयाके आधारभूत जयकुमार विचारसे वाणीको,

---

१. 'मित्रं सख्यौ रवौ पुमान्' इति विश्वलोचनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कारिण्या त्रिवर्गशक्त्या धर्मार्थकामविभूत्या रराजेत्यनुप्रासोऽलंकार। अथवा राजघ इत्यस्य स्थाने राजराडिति पाठः, राजाधिराज इति तदर्थः ॥४॥

**मुखारविन्दे शुचिहासकेशरेऽलिवत् स मुग्धो मधुरे मृगीदृशः ।**
**प्रसन्नयोः पादसरोजयोर्दृशं निधाय पद्मापि जयस्य सम्बभौ ॥५॥**

मुखारविन्द इत्यादि—स जयकुमारो मृगीदृशः सुलोचनायाः शुचिहास एव केशरो यत्र तस्मिन् मधुरे सुन्दरे मधुयुक्ते च मुखारविन्दे वक्त्रपद्मेऽलिवद् भ्रमर इव मुग्धः संलीनः सम्बभौ। पद्मा सुलोचनापि जयस्य स्व-स्वामिनः पादसरोजयोः प्रसन्नयोर्दृशं स्वां दृष्टिं निधाय बभौ रराज ॥५॥

**साकल्यभाजा हविषा नतभ्रुवो रतीशयज्ञे सुरतीर्थनायकः ।**
**निजानि पञ्चायतनानि तर्पयन्नवाप पापं न मनागनाकुलः ॥६॥**

साकल्येत्यादि—सुरतीर्थस्य हस्ति पुरस्य नायको जयकुमारः स नतभ्रुवः सुलोचनायाः सकलस्य कलापूर्णस्य भावः साकल्यं तद्भजतीसि साकल्यभाक् तेन साकल्यभाजा हविषा सौन्दर्येण साकल्यं च हव्यवस्तु तद्भाजा हविषा घृतेन संपन्ने रतीशयज्ञे काममखे निजानि पञ्चायतनानि देवापरनामानीन्द्रियाणि तर्पयन्नपि किलानाकुलो व्यग्रताविहीनः सन् मनागपि पापं नावापेति। अत्र छन्दसः प्रथमचरणे किलादौ दीर्घस्वरता ज्ञात्वैव कृता श्लेषनिर्वाहार्थम् ॥६॥

---

वाणीसे लक्ष्मीको और श्री-शोभासे सुलोचनाको अपने वश करते हुए परस्पर सापेक्ष त्रिवर्ग शक्तिसे सुशोभित हो रहे थे ॥४॥

**अर्थ**—वह जयकुमार मृगनयनी सुलोचनाके उज्ज्वल हासरूपी केशरसे युक्त सुन्दर मुखकमल पर भ्रमरके समान मुग्ध-अनुरागी होते हुए सुशोभित हो रहे थे और सुलोचना उनके प्रसन्न चरण कमलोंमें अपनी दृष्टि लगा कर शोभायमान हो रही थी ॥५॥

**अर्थ**—हस्तिनागपुरके राजा जयकुमार सुलोचनाके साकल्यभाजा हविषा-पूर्णताको प्राप्त सौन्दर्यके द्वारा (अथवा हव्य सामग्रीसे युक्त घीके द्वारा) सम्पन्न काम यज्ञमें अपनी पाँच इन्द्रिय रूप देवोंको संतृप्त करते हुए अनाकुलः-अनासक्तिके कारण कुछ भी पापको प्राप्त नहीं हुए थे ॥६॥

---

१. 'नतभ्रुवः' इत्यपि पाठः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**सुलोचना कान्तिसुधासरोवरी रसैरमुष्याःपरिणामकोमलैः ।**
**वहन् बभावङ्कुरितां वपुर्लतां सदैव मुक्ताफलतान्वितां जयः ॥७॥**

सुलोचनेत्यादि—या किल सुलोचना सा कान्तिरूपसुधायाः सरोवरीत्यमुष्याः परिणामकोमलैः सहजतरलैः रसैः सौन्दर्यादिभिर्हेतुभूतैरङ्कुरितां रोमाञ्चितां पक्षे प्रभवयुक्तां तथा मुक्ता त्यक्ताऽफलता निष्फलता तयान्विता युक्ताऽथवा सात्त्विकप्रस्वेदैर्मुक्ताफलतयापि मौक्तिकभावेनाप्यन्वितां वपुर्लतां शरीरवल्लीं वहन् सदैव बभौ रराज जयो नाम नृपः ॥७॥

**वधूमुखेन्दोः स्मितचन्द्रिकाचयैर्जयस्य नक्तं च दिवा च भूपतेः ।**
**स्वयं प्रजायाः कुशलानुचिन्तनैर्बभूव तावत् समयः समन्वयः ॥८॥**

वधूमुखेत्यादि—जयस्य भूपतेः समयस्तावद् वध्वाः सुलोचनाया मुखमेवेन्दुस्तस्य स्मितानि हसितान्येव चन्द्रिकाचयास्तैस्तथा नक्तं च दिवा च स्वयं प्रजायाः कुशलस्यानुचिन्तनैः समन्वयः सार्थक एव बभूव ॥८॥

**महामनाः सौधशिरोऽधिरोहितो हितोऽभितो यौवतसेवितः स्वतः ।**
**प्रजाजनानां स जयो दयोज्ज्वलः सुखेन तत्राथ रराज राजघः ॥९॥**

महामना इत्यादि—अथ राजघो राजसु श्रेष्ठो महामना विचारशीलो दमया प्राणिमात्रस्योपरि करुणयोज्ज्वलः प्रजाजनानां हितः सुखसम्पादकः स सौधशिरोधिरोहितः प्रासा-

---

**अर्थ**—सुलोचना कान्तिरूपी अमृतकी सरोवरी थी। उसके सहज कोमल रससे अङ्कुरित–पुलकित अथवा स्वेदबिन्दुओंसे सहित होनेके कारण मुक्ताफलोंसे सहितके समान दिखनेवाली शरीरलताको धारण करते हुए जयकुमार सुशोभित हो रहे थे।

**भावार्थ**—सुलोचनाका सौन्दर्य देखकर जयकुमारके शरीरमें सात्त्विक भावके कारण रोमाञ्च अथवा स्वेद बिन्दुएँ झलकने लगती थीं। उनसे वह ऐसा जान पड़ता था कि उसने असफलता–निष्फलताको छोड़कर सार्थकता प्राप्त की है अथवा मुक्ताफल–मोती ही धारण किये हैं ॥७॥

**अर्थ**—राजा जयकुमारका समय सुलोचनाके मुखरूपी चन्द्रमाकी मुसकानरूपी चाँदनीके समूहसे तथा रात-दिन स्वयं प्रजा का हित चिन्तन करनेसे सार्थक हुआ था ॥८॥

**अर्थ**—तदनन्तर किसी समय महामनस्वी, प्रजाजनोंके हितमें संलग्न, दया-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



दस्योपरि सम्प्रापितस्तत्र स्वत एव यौवतेन युवतीनां समूहेन सेवितोऽभितः परिवारितस्सन् सुखेन रराज जयो नाम जयकुमारः ॥९॥

**नभःसदां तं विचरन्तमुज्ज्वलं विहायसा व्योमरथं विलोकयन् ।**
**प्रभावतीत्युक्तवचा विचक्षणो मुमूर्च्छ जातिस्मरणं जयो व्रजन् ॥१०॥**

नभःसदामित्यादि—जयस्तत्र विहायसा गमनमार्गेण विचरन्तं नभःसदां खेचराणां व्योमरथं विमानं विलोकयन् स विचक्षणो विचारशीलः प्रभावतीत्युक्तं वचो वचनं येन स जातिस्मरणं पूर्वजन्मनः स्मरणं व्रजन् सन् मुमूर्च्छ मूर्च्छामवाप ॥१०॥

**जयोऽथ जातिस्मृतिमेव तां प्रियामलब्धपूर्वामिव सुन्दरीं श्रिया ।**
**उपेत्य रन्तुं परदाभिदां ह्रिया बभार मूर्च्छामपि चावृतिक्रियाम् ॥११॥**

जय इत्यादि—अथ जयस्स राजाऽलब्धपूर्वां प्राक्कदाप्यनुपलब्धां श्रिया चालौकिकानन्दरूपया सुन्दरीं मनोहरामत एवं प्रियां तां जातिस्मृतिमेवोपेत्य सम्प्राप्य रन्तुमिव च रमणेच्छुरिव किल ह्रिया त्रपया परदाभिदां यवनिकारूपां मूर्च्छां नामावृतिक्रियामपि बभार स्वीचकारेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥११॥

**सुदृक्सदृक्षीं युवतिं ह्युपेयुषः क्व मादृशी वृद्धतरेत्यहो रुषः ।**
**स्थलं न वा स्यादिति वासनावशस्त्वनन्यचेता भुवमालिलिङ्ग सः ॥१२॥**

सुदृगित्यादि—स जयकुमारः सुदृशः सुलोचनायाः सदृक्षीं तुल्यां युवतिमुपेयुषो लब्धवतो नृपस्य मादृशी वृद्धतरा विशालभावं प्राप्ता सैव स्थविरता मिता क्व गणनाया-

---

से उज्ज्वल और स्त्रीसमूहसे घिरे हुए श्रेष्ठ राजा जयकुमार महलकी छत पर बैठे हुए सुखसे शोभायमान हो रहे थे ॥९॥

अर्थ—विचारशील जयकुमार वहाँ आकाश मार्गसे जाते हुए विद्याधरोंके विमानको देखकर जातिस्मरणको प्राप्त हुए तथा 'प्रभावती' यह वचन कह कर मूर्च्छित हो गये ॥१०॥

अर्थ—जयकुमारने जाति-स्मृतिको क्या प्राप्त किया था, मानों अलब्धपूर्व सुन्दरी ही प्राप्त की थी। उसे पाकर रमण करनेके लिये मानो लज्जावश परदा रूप मूर्च्छाको स्वीकृत किया था।

भावार्थ—यहाँ कविने जाति-स्मृतिमें सुन्दरीकी तथा मूर्च्छामें पर्दाकी उत्प्रेक्षाकी है ॥११॥

अर्थ—जयकुमार मूर्च्छित होकर पृथिवी पर जा पड़े, इस संदर्भमें कविने उत्प्रेक्षाकी है कि जयकुमारने विचार किया कि मेरी दो स्त्रियाँ हैं—एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मित्यहो रुषःस्थलं दोषाधारो न स्याद्भूवेदिति वासनाया वश एव तु किलानन्यचेतास्तदेक-मनस्को भवन् भुवमालिलिङ्गेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥१२॥

**स्रवद्द्रवेण स्थपुटेन चोरसः कृतेन लोकैर्मलयोद्भवैधसः ।**
**नृपस्य सन्तापमिवासहिष्णुना विभिन्नमाराच्छतशोऽमुनाधुना ॥१३॥**

स्रवद्द्रवेणेत्यादि—तत्र लोकैः परिचारकैर्मलयोद्भवैधसश्चन्दनकाष्ठस्य स्रवता प्रसरता द्रवेण स्थपुटेन सघननेन नृपस्योरसो हृदयस्य मध्ये कृतेनामुनाधुना तत्रत्यसंताप-मसहिष्णुनेव किलाराच्छीघ्रमेव शतशो विभिन्नं विच्छिन्नत्वमङ्गीकृतमभूदित्युत्प्रेक्षा-लंकारः ॥१३॥

**किमेतदेतत्प्रतिबोधनत्वरा सुयष्टिवत्सम्पततोऽस्य सन्धरा ।**
**बभूव चित्तस्य गरुत्मतो जवे जनेषु सैवोद्गमनैकहेतवे ॥१४॥**

किमेतदित्यादि—तत्र जनेषु परिचारकलोकेषु किलैतत्किं जातमेतत्किं जातमिति यास्य प्रतिबोधनाय त्वरा शीघ्रता सास्य सम्पततो निपातं गच्छतः सुयष्टिवत् सन्धराऽव-धारणकारिणी बभूव। सैवास्य चित्तस्य गरुत्मतः पक्षिणो जवे वेगे गमनैकहेतवे प्रत्युत शीघ्रगमनकारणाय बभूव ॥१४॥

---

सुलोचना और दूसरी पृथिवी। मैं सदा सुलोचनाके साथ रहता हूँ, अतः पृथिवीके मनमें क्रोध उत्पन्न हो गया कि सुलोचना जैसी युवतीको पाकर मुझ जैसी वृद्धा—विशाल (पक्षमें वृद्धावस्थाको प्राप्त) को भूल ही गये हैं, उसके सामने मेरी क्या गिनती है? इस तरह सान्त्वना देनेके लिये उन्होंने कुपित पृथिवी रूप स्त्रीका अनन्य मन होकर मानों आलिङ्गन किया था ॥१२॥

**अर्थ**—वहाँ परिचारक लोगोंके द्वारा राजाके हृदय स्थल पर चन्दनकी लकड़ीका पतला एवं गाढ़ा-गाढ़ा जो लेप लगाया था वह उनके संतापको मानों सहन नहीं कर सकता था, इसलिये उसने शीघ्र ही उस समय संतापको शतशः छिन्न भिन्न कर दिया था ॥१३॥

**अर्थ**—परिचारक लोगोंमें 'यह क्या है? यह क्या है?' इस तरह जाननेकी जो त्वरा-शीघ्रता थी वह पड़ते हुए राजाको अवलम्बन देने वाली लाठीके समान थी, अर्थात् परिचारक लोगोंकी तत्परताने राजाको नीचे नहीं पड़ने दिया परन्तु परिचारक लोगोंको त्वरारूप लाठीसे इस राजाके चित्तरूपी पक्षीको वेगसे उड़ानेमें कारण हो गई, अर्थात् राजाको नीचे पड़नेसे तो रोका जा सका पर उनके चित्तकी चेतनाको नहीं रोका जा सका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



शरीरमेतत्तमसो दरी पुनरगाच्च गां व्युत्थितवर्तिवेश्मनः ।
तदस्य धूमा इव कुन्तलाश्चला विरेजुरेतस्य विभोर्मरुद्बलात् ॥१५॥

शरीरमित्यादि—तदा किलैतस्य विभोर्जयकुमारस्यैतच्छरीरं पुनस्तमसोऽन्धकारस्य दरी गुहा भूत्वा व्युत्थितानन्दिता वर्तिर्दशा यत्र तस्य वेश्मनो गां वाचमगाज्जगाम । पुनरेतस्य मरुद्बलाद्वायुवेगाद्धेतोश्चलाः चञ्चलाः कुन्तलाः केशास्ते ततो वर्तिनन्दनाद्युत्था प्रादुर्भूतिर्येषां ते च ते धूमाश्च विरेजुः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥१५॥

करं क्व यासीति तु कोऽप्यधादरं स्वरौ व्रजत्प्राणरुरुत्सया परः ।
किमागसा रुष्टमियत्पदौ पुनरिति स्म सम्मर्दयतीतरो जनः ॥१६॥

करमित्यादि—तत्र तेषु परिचारकेषु जनेषु कोऽप्येकस्त्वं क्व यासीति किलारं शीघ्रं तस्य जयस्य करं हस्तमधाद्दधार । परः पुनरस्य व्रजतो निर्गच्छतः प्राणान् रोद्धुमिच्छा रुरुत्सा तया स्वरौ नासाविवरद्वयमधात् । पुनरितरो जनः किमागसा केनापराधेनेयत्किलैतादृग् रुष्टं रोषः कृतः, इतीव तस्य नृपस्य पदौ चरणौ सम्मर्दयति स्म चरणसंवाहनं चकारेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥१६॥

मदेकनाम्नोऽपि विधो रुचांनिधेर्दशा सुशोच्येयमहो वशाद्विधेः ।
द्रवीभवंस्तत्परिचेतुमागतः किलाब्दसारः परिवारितावृतः ॥१७॥

मदेकेत्यादि—अब्दसारः कर्पूरः स किल मदेकनाम्ने मम तुल्यसंज्ञस्य विधोश्चन्द्रमसस्तस्य रुचां कान्तीनां निधेरस्य भूपस्याहो विधेर्वशादियं सुशोच्या दशाऽभूदिति विचार्यैव

---

भावार्थ—गिरते हुए मनुष्यको लाठी गिरने नहीं देती, परन्तु पक्षी उसे देखकर भयसे शीघ्र उड़ जाते हैं ॥१४॥

अर्थ—उस समय राजा जयकुमारका शरीर अन्धकार की गुफा होकर बुझते हुए दीपककी अवस्थाको प्राप्त हो रहा था और वायुके जोरसे इनके जो केश चञ्चल हो रहे थे वे मानों उस दीपकके धूम ही थे ॥१५॥

अर्थ—उन परिचारक जनोंमें किसीने 'कहाँ जाते हैं ?' यह कहकर शीघ्र ही राजाका हाथ पकड़ा, किसीने जाते हुए प्राणोंको रोकनेकी इच्छासे नासिकाके दोनों स्वरोंको—नासाविवरोंको पकड़ा और किसीने किस अपराधसे इतना रोष कर रहे हैं यह कह कर पादमर्दन किया ॥१६॥

अर्थ—मेरे समान नाम वाले चन्द्रमा और कान्तिके निधिभूत इस राजाकी भी भाग्यके वशसे यह शोचनीय अवस्था हुई है, इस प्रकार करुणासे द्रवीभूत होता हुआ अब्दसार—कर्पूर अपने चन्दन आदि परिवारसे युक्त हो परिचय प्राप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



द्रवीभवन् सन् आर्द्रतां गच्छन् अपि च दयालुतामूरीकुर्वन्नपि च परिवारितया चन्दनादि-कुटुम्बवत्तया वृतो युक्तोभवन् परिचेतुमागतस्तस्य शरीरे लग्नो बभूवेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥१७॥

**इहैव जातिस्मृतिमाश्रिता मतिपरावृर्तिं प्राप सुलोचना सती ।**
**विलोक्य पारावतजम्पती रतीत्युपांशु लात्वा वरनाम सम्प्रति ॥१८॥**

इहैवेत्यादि—इहैवावसरे सती सुलोचनापि पारावतजम्पती कपोतयोर्मिथुनं विलोक्य रतीत्येवनुपांशु विशेषणं यस्य तद्वरनाम लात्वा जातिस्मृतिं पूर्वजन्मनः स्मरणमाश्रिता । सती मतिपरावृर्तिं प्राप सम्मूर्च्छिता बभूव सम्प्रति तत्कालम् ॥१८॥

**अभूत् सभाया मनसोऽतिकम्पकृत्तदत्र कष्टेऽप्यतिकष्टमिष्टहृत् ।**
**यथैव कुष्ठे खलु पामयाऽजनि अहो दुरन्ता भवसंभवावनिः ॥१९॥**

अभूदित्यादि—तदेतद् वृत्तं यदिष्टहृत् किलाभीष्टस्य विनाशकृदत्र कष्टेऽप्यतिकष्ट-मत एव सभायास्तत्रस्थप्रजाया मनसोऽतिकम्पकृदत्यन्तविच्छेदकारि अभूद्यथा खलु कुष्ठे रोगे पामयाऽजनि जातम् । अहो भवसम्भवाऽसाववनिर्दुरन्ता दुःखेनावाप्तुं योग्यास्ति । अर्थान्तरन्यासः ॥१९॥

**अभूत् सतामेवमधीरता ह्रिया विचार्यतामेव पुनः प्रतिक्रिया ।**
**कुतो विपत्तेस्तरणं भवेद्धियाऽत्र तन्नियुक्ता जनताऽगदश्रियाम् ॥२०॥**

अभूदित्यादि—ह्रिया विवशताजन्ययाऽथ पुनः प्रतिक्रिया विचार्यतामेव कुत उपा-

---

करनेके लिये आया था।

**भावार्थ**—मूर्च्छा दूर करनेके लिये कर्पूरमिश्रित चन्दनका लेप लगाया गया था ॥१७॥

**अर्थ**—इसी अवसर पर सती सुलोचना भी कबूतर-कबूतरीका युगल देख कर 'हा रतिवर' ! यह शब्द कह जातिस्मरणको प्राप्त हो मूर्च्छित हो गई ॥१८॥

**अर्थ**—अभीष्टका हरण करने वाला यह प्रकरण प्रजाजनके मनको कम्पित करता हुआ कष्टमें भारी कष्टके समान हुआ। ऐसा लगा जैसे कोढ़में खाज हो गई हो। वास्तवमें जन्मसे सहित यह पृथिवी दुरन्त है-दुःखरूप परिणामसे सहित है, अर्थात् जिसका जन्म होता है उसका वियोग भी होता है ॥१९॥

**अर्थ**—इस तरह वहाँ विद्यमान मनुष्योंमें लज्जाके कारण यद्यपि अधीरता-अव्यवस्थित चित्तता हो रही थी, फिर भी इस विपत्तिसे संतरण किस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



यादेतस्या विपत्तेस्तरणं भवेदित्येवं सतां तत्र विद्यमानानां मध्येऽधीरताऽव्यवस्थितचित्तताऽऽसीत्, ततस्तस्मादत्र भिया भयपूर्वकमगदश्रियां भेषजशोभायां जनता नियुक्ता ॥२०॥

**अभूत् त्वरा संवरितस्वरायाः प्राणानिवोद्‌गच्छत उज्ज्वरायाः।**
**तदावचेतुं परितः प्रवृत्तिः सखीषु सख्यं व्यसनेऽनुवृत्तिः ॥२१॥**

अभूत् त्वरेत्यादि—तदोज्ज्वरायाः (उज्ज्वलायाः) निर्मलचारित्राया उद्‌गतज्वररोगायाश्च तस्याः सुलोचनायाः संवरितौ स्वरौ नासाविवरभागौ यस्यास्तस्या अवरुद्धनिःश्वासाया उद्‌गच्छतो विनिर्गच्छतः प्राणानवचेतुं संगृहीतुमिव परितः प्रवृत्तिश्चेष्टा यत्र सा त्वरा शीघ्रता सखीषु अभूत्किल, यतो व्यसने निपत्तौ सत्यां तस्यामनुवृत्तिः सहभाव एव सख्यं गीयते । अर्थान्तरन्यासः ॥२१॥

**अथात्र तस्यै व्यजनं विनीतं कयाश्वसूनर्पयितुं प्रणीतम् ।**
**सन्तापमेका त्वपनेतुमाराद् ददाविदानीं हिमसारधाराम् ॥२२॥**

अथेत्यादि—अथात्रेदानीं तस्यै सुलोचनायायसून् प्राणानर्पयितुं विनीतं नम्रतायुतं यथा स्यात्तथा व्यजनं तालवृन्तं प्रणीतं समादत्तमाशु शीघ्रमेव, तथा त्वेकान्या सखी तस्याः सन्तापमपनेतुं दूरीकर्तुमारादेव हिमसारस्य कर्पूरद्रवस्य धारां ददौ । 'व्यजनं तालवृन्तं स्यात्' इत्यमरकोषे ॥२२॥

**कयैकिका राजरमेतितन्तुमनोऽनयाऽकारि समन्तु गन्तुम् ।**
**रेभे पुनः प्राणकणानिवान्याऽवचेतुमस्याश्च कचान् वदान्या ॥२३॥**

कयैकिकेत्यादि—इयं राजरमा नृपस्य महिषी गच्छति किलैकिका तदयुक्तमिति

---

उपायसे हो सकता है, इसका क्या प्रतिकार है? ऐसा विचार करना ही चाहिये। यही विचार कर डरते-डरते औषधोपचारमें जनसमूहको नियुक्त किया गया था ॥२०॥

**अर्थ**—उस समय उज्ज्वरा-उज्ज्वल अथवा ज्वरसे युक्त सुलोचनाकी परिचर्याके लिये सखियोंमें शीघ्रता प्रकट हुई थी। किसीने उसके नासिकाके छिद्रोंको रोक लिया था मानों वह निकलते हुए प्राणोंको पकड़ना ही चाहती थी। ठीक है विपत्तिमें साथ रहना ही मित्रता कहलाती है ॥२१॥

**अर्थ**—तदनन्तर यहाँ उस सुलोचनाको प्राण-वायु देनेके लिये किसी सखीने विनम्र भावसे शीघ्र ही पंखा उठाया और किसीने संताप दूर करनेके लिये कर्पूर रसकी धारा दी ॥२२॥

**अर्थ**—यह राजलक्ष्मी-पट्टरानी अकेली जा रही है जो अच्छा नहीं है, ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तन्तुर्विचारप्रकारो यस्य तत् तादृग् मनश्चित्तं कयान्ययाऽनया सुलोचनया समं साद्धं गन्तुमकारि कृतम्, पुनरन्या वदान्या विचारशीला सखी सास्याः प्राणकणान् विकीर्णान् प्राणानिव कचान् केशानवचेतुं संकलयितुं रेभे । अनुप्रासोऽलंकारः ॥२३॥

**त्वया स्मृतः सोऽयमिह प्रशस्तौ येनार्पितौ कुड्मलतोऽत्र हस्तौ ।**
**उरोजयोर्न्यस्तपयोजयोगः स्वचेष्टया निर्वचनोपयोगः ॥२४॥**

त्वयेत्यादि—तस्या उरोजयोः स्तनयोर्न्यस्तानामर्पितानां पयोजानां पद्मानां योगः समागमः स स्वचेष्टया संकोचात्मिकया निर्वचनेऽभिप्रायस्पष्टीकरणे किलोपयोगो यस्य स आसीत् तद्यत्किल हे भद्रे ! त्वया योऽधुना स्मृतः सोऽयं जय एव न कश्चिदन्य इह येनार्पितौ रागरीत्या दत्तौ प्रशस्तौ शोभनौ हस्तौ कुड्मलतो मुकुलतां गच्छत इति ॥२४॥

**पयोरुहाली परिपूरिताऽऽली कुलैस्तमालीभवदङ्कपाली ।**
**म्लानं तदीयास्य कुशेशयं सा मुमूर्च्छ मत्वेव समानवंशा ॥२५॥**

पयोरुहालीत्यादि—तत्र सुलोचनायाः स्तनयोर्मुखे वाऽऽलीनां सखीनां कुलैः परिपूरिता समर्पिता या पयोरुहाणां पद्मानामाली पङ्क्तिः सा तमालीभवति तमाल इवा चरति म्लानतां याति अङ्कपाली रेखापरम्परा यस्यास्सा तदीयं सुलोचनासम्बन्धि यदास्यं मुखमेव कुशेशयं कमलं म्लानं मत्वा दृष्ट्वेव किल समानवंशा तुल्यकुला यतस्ततः सा मुमूर्च्छ शीघ्रमेव शुष्कतामवापेत्युत्प्रेक्षालंकारोऽनुप्रासश्च ॥२५॥

**स्फुटेऽपि तत्त्वे तु विमुह्यते मतिर्न दुर्विधानां किमितीष्टसम्मतिः ।**
**मयाऽऽप्यतेऽत्रैव पुनः प्रसञ्जनमहोज्वरी क्षीरमियाद्विषं जनः ॥२६॥**

---

विचारकर किसी सखीने इसके साथ जानेके लिये मन किया और किसी विचारशील सखीने बिखरे हुए प्राणकणोंके समान इसके केशोंको संकलित करना प्रारम्भ किया ॥२३॥

**अर्थ**—किसी सखीने सुलोचनाके स्तनोंपर विकसित कमल रखे, पर वे सिकुड़ते हुए अपनी चेष्टासे चुपचाप यह कहने लगे कि हे भद्रे ! तुमने जिसका स्मरण किया है यह वही जयकुमार है । इन स्तनोंपर रखे हुए जिसके प्रशस्त हाथ कुड्मलके समान आचरण कर रहे हैं ॥२४॥

**अर्थ**—सखियोंने सुलोचनाके स्तनों और मुखपर जो कमलोंकी पङ्क्ति रखी थी उसका मध्य भाग मुरझाकर तमाल पुष्पके समान काला पड़ गया । उससे ऐसा जान पड़ता था मानों वह कमलपङ्क्ति सुलोचनाके मुखको म्लान देख तुल्यजातीय होनेसे स्वयं भी मूर्च्छित हो गई थी ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स्फुटेऽपीत्यादि—दुर्विधानां दुरभिमानिनां दुर्भाग्यानां वा मतिः स्फुटे प्रस्पष्टे तत्त्वे विषयेऽपि किमिति न विमुह्यतेऽपि तु यात्येव मोहम् । यथा ज्वरी ज्वरयुक्तो जनः क्षीरं दुग्धमपि विषं कटुकमितीयाद् गच्छेदेवाहो किलाश्चर्यंकारीदं वृत्तम् । तदत्रैव मयापि च प्रसज्जनं प्रसङ्ग आप्यते तादृगेवेति ॥२६॥

**तदन्यनारीनिकरः करोत्यसौ सहाथ पत्या विनिपातकैतवम् ।**
**परस्पर प्रेमपरावृतीहया हृयायमानेति मनस्यतर्कयत् ॥२७॥**

तदन्येत्यादि—तस्याः सुलोचनाया अन्या या नार्यस्तासां निकरः समूह सपत्नीगणः स किलासौ सुलोचना हृयायमाना विपुलकामवासनावती परस्परं पतिपत्न्योः यत्प्रेम तस्य परावृतिः पुनरावर्तनं तस्येहया वाञ्छया प्रेमभङ्गो न स्यादिति विचारेण पत्या सह विनिपातस्य मूर्च्छणरूपस्य कैतवं छद्म करोतीति मनसि स्वचेतस्यतर्कयद् विचारयामास । अनुप्रासोऽत्रापि ॥२७॥

**बाल्ये लौल्यवशाच्च यत्सहकृतं केनापि संवेशिना**
**तन्नामस्खलनैकधाम दुरितं संगाढसंदेशिना ।**
**तस्यैषा छदिरेवमापदिगतिर्धौर्त्येन क्लृप्ता रयात्**
**सद्मच्छद्मन एव यौवतमिदं संघोषयन्त्यानया ॥२८॥**

बाल्य इत्यादि—किंवा केनापि संगाढसंदेशिना सुदृढसंदेशकारिणा संवेशिना सुन्दराकारधारिणा सह बाल्ये कौमारे लौल्यं चापल्यं तस्य वशाद्यत्कृतमनया चेष्टितं तस्य नामस्खलनमनिच्छया नामनिरुक्तिस्तदेकं धाम यस्य तद्दुरितं दुराचरणं यत्तस्यैव-

---

**अर्थ**—दुरभिमानी अथवा जिनको भवितव्यता अच्छी नहीं है ऐसे मनुष्योंकी बुद्धि स्पष्ट तत्त्वके विषयमें भी क्या विमोहको प्राप्त नहीं होती ? जिस प्रकार पित्तज्वर वाला मनुष्य दूधको भी विषके समान कटुक मानता है उसी प्रकार इष्ट जनोंकी समीचीन बुद्धि भी सुभाग्यसे विपरीत अर्थको ग्रहण करती है । आश्चर्य है कि मैं भी इसी विमोहमें आसक्तिको प्राप्त हो रहा हूँ ॥२६॥

**अर्थ**—सुलोचनाके अतिरिक्त जो अन्य स्त्रियों ( सपत्नियों ) का समूह था उसने मनमें ऐसा विचार किया कि यह सुलोचना तीव्र काम वासनासे सहित है, अतः पारस्परिक प्रेम परिवर्तनकी इच्छासे पतिके साथ मूर्च्छित होनेका छल कर रही है ॥२७॥

**अर्थ**—सपत्नियोंका समूह मनमें विचार करता है कि इस सुलोचनाने कुमारावस्थामें चपलतावश सुदृढ सन्देश देने वाले किसी सुन्दर पड़ौसीके साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मेषा छदिः सञ्छादनवृत्तिः, आपदि विपत्तौ सत्यां गतिरुपायो धौर्त्येन धूर्तभावेन रयाच्छो-प्रमेव क्लृप्ता संरचिता। यौवतं युवतिवृत्तमिदं छद्मन एव सद्मस्थानमितीदं संघोषयन्त्या सुलोचनयेति ॥२८॥

बभूब तस्या मनसो रसो धवं प्रतीह यावत्सुभगं पुराभवम्।
विनिर्ययौ चित्तदनन्यसेविकापि वा तमन्वेष्टुमिवाधिदेविका ॥२९॥

बभूवेत्यादि—एवं तस्याः सुलोचनाया मनसो रसो विचार इह पुराभवं पूर्वजन्मसम्बन्धिनं सुभगं सर्वाङ्गसुन्दरं धवं स्वामिनं प्रति बभूव यावत्तावदेव तस्या अनन्यसेविका चिद् बुद्धिः साधिदेविकाधिकारिणीव भूत्वा तं स्वामिनमन्वेष्टुं विनिर्ययौ। वापीति पादपूरणार्थम् ॥२९॥

चिदुभयोः शुभयोगवशान्नृणां समुदियाय निमज्ज्य समुत्तृणा।
निभृतमेवमयोनिपयोनिधावथ च कौतुकि कौ तु कियद्विधा ॥३०॥

चिदित्यादि—अथ च निभृतं यथेष्टसमयपर्यन्तमुभयोः पतिपत्न्योः जयसुलोचनयोश्चिच्चेतनैवमयोनिरभावखानिस्तस्याः पयोनिधौ समुद्रे निमज्ज्य ब्रुडित्वा नृणां प्रजाजनानां शुभयोगवशाद् भाग्योदयात् तु पुनः कौतुकिनां विनोदवतां कौ भूम्यां कियद्विधा कतिपयप्रकारा मुदो हर्षस्य तृणेनांशेन सहिता सती सा समुदियाय चेतनतां जग्मतुर्जम्पती किलेति भावः। अनुप्रासोऽलंकारः ॥३०॥

---

जो दुराचार किया था और संस्कारवश विना इच्छाके ही उसका जिसमें नामोच्चारण हो जाता था, उसी दुराचरणको छिपानेके लिये विपत्ति कालमें इसने धूर्ततावश यह मूर्च्छा रूप उपाय रचा है सो ठीक ही है, क्योंकि युवतियों की यह चेष्टा मायाचारका घर है, इस बातको आज इसने घोषित किया है ॥२८॥

अर्थ—इस तरह सुलोचनाके मनका विचार जब तक पूर्वभव सम्बन्धी सर्वाङ्ग सुन्दर पतिके प्रति हुआ, तबतक उसकी अनन्यसेविका बुद्धि अधिकारिणी जैसी होकर उसे खोजनेके लिये मानों निकल पड़ी ॥२९॥

अर्थ—जयकुमार और सुलोचनाकी चेतना इस तरह यथेष्ट समय पर्यन्त अभावरूप समुद्रमें डूबकर प्रजाजनोंके पुण्योदयसे हर्षरूप तृणोंको लेकर ऊपर आ गई। विनोदी जीवोंकी भूमिमें वह चेतना कितने ही प्रकारकी थी, अर्थात् सब लोग विविध प्रकारसे हर्षका अनुभव कर रहे थे ॥३०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



निजां तनुं स्रागभितः सभामनु स तां तमेषा च गुणोल्लसज्जनुः ।
दृशेति तौ साचि गतौ निरीक्षणं न वाचि साचिव्यमवापतुः क्षणम् ॥३१॥

निजामित्यादि—प्रथमं तु तावभितः समन्ततो निजां तनुमनु ततः सभामनु ततः स जयस्तामनु एषा सुलोचना च तमनु गुणेनायुर्बलेनोल्लसति प्रभवति जन्म यत्र तद्यथा स्यात्तथा दृशा चक्षुषा साचिनिरीक्षणं तिर्यगवलोकनं गतौ पुनरपि क्षणं वाचि वचनोच्चारणे साचिव्यं कौशलं नावापतुः ॥३१॥

तदाप वित्त्वं स तदात्मशुद्धितः श्रुतं च दृष्टं क्व कटाक्षबुद्धितः ।
तथा न शास्त्रेष्वपि लभ्यते मनागहो महो भातु सदा सदात्मनाम् ॥३२॥

तदापेत्यादि—तदा स जयकुमारस्तत्सुप्रसिद्धं वित्त्वं बुद्धिमरवमाप, कस्मात्कारणादापेति चेत् ? आत्मनो मनसः शुद्धित एवाप यद्वित्त्वमक्षबुद्धित इन्द्रियज्ञानेन क्वापि कदापि वा न तु दृष्टं न श्रुतं तथा शास्त्रेष्वपि मनागपि न लभ्यते, तदपूर्वं महः सदात्मनां सम्यङ्मनोवतां सदा भातु अहो स विस्मयः कौ ॥३२॥

स्वभूतजन्मोत्थकथा यथा वरा बभूव चित्रोल्लिखितेव गोचरा ।
यतो बभौ स स्विदगर्भसंभवं भवान्तरं प्राप्त इवाधुना नवम् ॥३३॥

स्वभूतेत्यादि—यतो वित्त्वतस्तस्य स्वभूतजन्मोत्थकथा निजीयपूर्वजन्मवार्ता सा चित्रोल्लिखितेव गोचरा स्पष्टा बभूव सविस्तरा शुभा च । स्विदथवा यतः सोऽधुनाऽगर्भसम्भवं नवं नवीनं भवान्तरमन्यज्जन्म प्राप्त इव बभौ रराज ॥३३॥

---

अर्थ—पहले तो उन्होंने शीघ्र ही अपने-अपने शरीरको देखा, पश्चात् सभा-उपस्थित जनसमूहको देखा, फिर गुणोंसे शोभायमान जन्म वाले जयकुमारने सुलोचनाको देखा और सुलोचनाने जयकुमारको देखा । इस तरह वे दोनों दृष्टिके द्वारा तो एक दूसरेको तिरछी चितवनसे देखते रहे, परन्तु क्षणभर-कुछ समय तक बोलनेकी कुशलताको प्राप्त नहीं हो सके ॥३१॥

अर्थ—उस समय जयकुमारने मनकी विशुद्धतासे वह ज्ञान प्राप्त किया था जो इन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञानसे न कभी कहीं सुना गया और न देखा गया तथा शास्त्रोंमें भी वह ज्ञान कुछ नहीं प्राप्त होता है । आत्मज्ञ मनुष्योंका वह आश्चर्यकारी आत्मतेज सदा प्रकाशमान रहे ॥३२॥

अर्थ—जिस ज्ञानसे उन्हें अपने पूर्वजन्म सम्बन्धी कथा चित्रलिखितके समान स्पष्ट हो गयी अथवा वे इस समय गर्भवासके बिना ही मानो नवीन जन्मको प्राप्त हो गये ॥३३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



क्व सा प्रियाऽथादृतमञ्जुसत्क्रियापुनर्मनोऽस्येत्यनुभावितं ह्रिया ।
महात्मनामप्यनुशिष्यते धृतिरहो न यावद् विनिरेति संसृतिः ॥३४॥

क्वेत्यादि—अथास्य जयकुमारस्य मनः पुनरपि आदृताऽऽदरभावं नीता मञ्जुर्मनोहरा सत्क्रिया यया सा प्रिया प्रभावतीत्येवंरूपया ह्रियाऽनुभावितमभूत् । तदेतद्युक्तमेव, यतो महात्मनामपि धृतिर्यावत् संसृतिर्न विनिरेति निवर्तते तावदनुशिष्यतेऽनुशासनमूरीकरोति । अहो समाश्चर्यवृत्तौ ॥३४॥

तदेकसन्देशमुपाहरत् परमुपेत्य बोधोऽवधिनामकश्चरः ।
अहो जगत्यां सुकृतैकसन्ततेरभीष्टसिद्धिः स्वयमेव जायते ॥३५॥

तदेकेत्यादि—स चासावेकः सन्देशो ज्ञातव्यलेशस्तमवधिनामको बोध एव चरो दूतः परं केवलमुपेत्योपाहरत् पूरयामास । अहो किलास्यां जगत्यां भूमौ सुकृतस्य पुण्यस्यैका सन्ततिः सम्भूतिर्यस्य तस्याभीष्टसिद्धिर्वाञ्छितस्य निष्पत्तिः स्वयमेवानायासेनैव जायत इति किलार्थान्तरन्यासः ॥३५॥

अतानि तेनावधिना स संक्रमस्त्वनन्य एवाथ यतोऽव्रजद्भ्रमः ।
यथाङ्कुरोत्पादनकृद् घनागमः फलत्यहो किन्तु शरत्समागमः ॥३६॥

अतानीत्यादि—तेनावधिना तु पुनरनन्योऽपूर्व एव स सम्माननीयः संक्रमः समीचीनशक्तिरूपोऽतानि विस्तारितो यतोऽथ भ्रमोऽव्रजद् निर्जगाम । यथा घनागमो वर्षर्तुः सोऽङ्कुराणामुत्पादनकृद्भवति किन्तु फलति शरद ऋतोः समागमस्तथा । अहो विचारविशेषे । 'क्रमः शक्तौ परीपाट्याम्' इति विश्वलोचने ॥३६॥

---

अर्थ—अब जयकुमारका मन लज्जापूर्वक यह जाननेके लिये उत्सुक हुआ कि मनोहर शुभ क्रियाओंको आदर देने वाली प्रिया-प्रभावती कहाँ है ? आश्चर्य है कि जबतक संसार निवृत्त नहीं होता है, तबतक महापुरुषोंकी भी आकांक्षा अवशिष्ट रहती है ॥३४॥

अर्थ—राजा जयकुमार ऐसा विचार कर ही रहे थे कि अवधि-ज्ञान रूपी दूतने आकर उनको आकांक्षाको अच्छी तरह पूर्ण कर दिया सो ठीक ही है, क्योंकि पृथिवी पर पुण्यकी अद्वितीय परम्परासे वाञ्छित अर्थकी सिद्धि स्वयमेव हो जाती है ॥३५॥

अर्थ—उस अवधि-ज्ञानने वह शक्ति विस्तृतकी-प्रकट की कि जिससे सब भ्रम दूर हो गया । जैसे वर्षा ऋतु अंकुर उत्पन्न करती है, परन्तु फल देता है शरद् ऋतुका आगमन ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वपुषास्तु च भिन्नता सदा न हृदा किन्तु कदापि सम्पदा ।
निरुवाच समं समुद्भवन्नवधिस्तेन सुचक्षुषो नवः ॥३७॥

वपुषेत्यादि—जयसुलोचनयोश्च वपुषा शरीरेण सदा भिन्नतास्तु पृथक्ता भवेत् किन्तु हृदा मनसा सम्पदा गुणोत्कर्षेण च कदापि भिन्नता नास्त्विति किल तेन जयकुमारेण समं सार्द्धमेव सुचक्षुषः सुलोचनाया अपि समुद्भवन्नवधिर्यत्र किल नवस्तत्कालजातः स निरुवाच कथितवान् । 'स्त्रियां सम्पद्गुणोत्कर्षः' इति विश्वलोचने ॥३८॥

यदसिञ्चदहो भवस्मृतिः सुदृशस्तत्र सदाशिकावति ।
हृदि सम्पदिवाथ दीपकः समभात् सोऽवधिरप्यहीनकः ॥३८॥

यदित्यादि—सुदृशः सुलोचनायास्तत सदाशिकावति समीचीनाभिलाषयुक्ते हृदि मनसि यत्किञ्चिदहो चिन्तनं भवस्मृतिर्जातिस्मरणवृत्तिरसिञ्चदुत्पादयामासाथ तत्र सम्पदिव गुणकारक इवाहीनकः समुत्कृष्टः सोऽवधिरपि दीपकः समुद्योतनकरः समभात् ॥३८॥

ममापि मे मण्डनकस्य शस्यते मनोऽन्यजन्मादि यतः समस्यते ।
अहो रहोऽदस्तु महोत्सवाय नस्तयोरभूदित्यनुशासनं मनः ॥३९॥

ममापीत्यादि—अहो ममापि मे मण्डनकस्य स्वामिनोऽपि मनो हृदयं शस्यते नैर्मल्यमधिगच्छति यतः किलान्यजन्मादि समस्यते ज्ञायतेऽद इदं रहो रहस्यं नोऽस्माकं महोत्सवाय प्रसादायास्ति किलेत्यनुशासनं विचारयुक्तं तयोर्मनोऽभूत् ॥३९॥

---

**भावार्थ**—जातिस्मृतिने पूर्वभवका स्मरण कराया, परन्तु समस्त भ्रमोंका निवारण अवधिज्ञानने किया ॥३६॥

**अर्थ**—जयकुमार और सुलोचनामें शरीरसे भिन्नता भले ही हो पर हृदय और गुणोंकी अधिकतासे भिन्नता नहीं थी। यही कारण था कि सुलोचनाको भी जयकुमारके साथ ही नवीन अवधिज्ञान उत्पन्न होता हुआ सब वृत्तान्त कहने लगा ॥३७॥

**अर्थ**—समीचीन अभिप्रायसे सहित सुलोचनाके जिस हृदयमें जातिस्मरण उत्पन्न हुआ था उसीमें उत्कृष्ट अवधिज्ञान दीपकके समान सुशोभित होने लगा ॥३८॥

**अर्थ**—आश्चर्य है कि मेरा और मेरे स्वामीका भी मन निर्मलताको प्राप्त हो रहा है जिससे अन्य जन्म सम्बन्धी यह रहस्य स्पष्ट ज्ञात हो रहा है। हमारे लिये यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है, इस प्रकारका विचार दोनोंके मनमें



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सुदृग्घृदन्तः प्रतिवेदको भवन् सुधीः सुधीरो वसुधावधूधवः ।
निजीयजन्मान्तरवृत्तपूरणे प्रियां स्म संपूरतीष्टभूरणे ॥४०॥

सुदृगित्यादि—इष्टेऽभिलषिते भुवो रणे कोणे तस्मिन् स्थले सुधीरः सुष्ठु धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयति स सुधीर्बुद्धिमान् वसुधा भूरेव वधूः स्त्री तस्या धवः स्वामी जयः स सुदृशः सुलोचनाया हृदन्तर्मनोमध्यं तस्य वेदकोऽनुज्ञाता भवन् संस्तां प्रियां निजीयजन्मान्तरस्य यत्किञ्चिद्वृत्तं विवरणं तस्य पूर्णने परिवर्णने विषये सम्प्रेरयति स्म समुत्साहयुक्तां चकार । अनुप्रासोऽलंकारः । 'रणः कोणे क्वणे युद्धे' इति विश्वलोचने । अथवा सुदृग्घृदोऽन्तोऽङ्गीकारो यत्र तत्प्रतिवेदको भवन्निति ॥४०॥

वचोऽपि तस्या गुणभद्रभाषितं सितं तु सापत्न्यमनोगतं द्रुतम् ।
चकर्ष मालिन्यमलिन्यपेक्षितं तदाह्ययस्कान्त इवायसोंऽशकम् ॥४१॥

वचोऽपीत्यादि—तदा तस्मिन् समये तस्याः सुलोचनाया वचो वचनं यदस्मात्पूर्वं गुणभद्राचार्येण भाषितं यथा कथितं तथैव गुणेन मधुरत्वेन भद्रं मङ्गलं भाषितं तत एव सितं निर्मलं यत्तत् सपत्नीनामिदं सापत्न्यं यन्मनस्तत्र गतं स्थितं मालिन्यं मलिनत्वं यदलिनि भ्रमरे वा वृश्चिके वाऽपेक्षितं तद्द्रुतं शीघ्रमेव चकर्ष कर्षति स्म, अयस्कान्तः अयसोंऽशकं तथेति दिक् । तदेव नीचैः कथ्यते ॥४१॥

अहो सज्जनसमायोगो हि जगतामापदुद्धर्ता ।
इतः शुश्रूषवः सभ्याः प्रश्नकर्ता स्वयं भर्ता ॥४२॥ (स्थायी)

अहो इत्यादि—जगतां सर्वेषां जीवानामापदो विपत्तेरुद्धर्ता निवारकः सज्जनानां

---

आया ॥३९॥

**अर्थ**—उस इष्ट भूमिके कोणमें उत्तम बुद्धिको प्रेरित करने वाले बुद्धिमान् राजा जयकुमारने सुलोचनाके अन्तर्हृदयकी बात जानते हुए उसे अपने जन्मान्तरका वृत्तान्त कहनेके लिये प्रेरित किया—उत्साहयुक्त किया ॥४०॥

**अर्थ**—उस समय गुणभद्रभाषित—गुणभद्राचार्यके कथनानुसार माधुर्य गुणसे सहित एवं मङ्गलरूप सुलोचनाके निर्मल वचनने सपत्नियोंके मनमें स्थित भ्रमरके समान मलिन अथवा विच्छूके समान क्रूरतापूर्ण मलिनताको उस प्रकार खींच लिया, जिस प्रकार चुम्बक लोहेके टुकड़ेको खींच लेता है ।

**भावार्थ**—सुलोचनाके निम्नलिखित कथनसे उसकी मूर्च्छाके संदर्भको लेकर सपत्नियोंके मनमें कलुषित विचार उत्पन्न हुए थे, वे दूर हो गये ॥४१॥

**अर्थ**—आश्चर्य है कि सत्पुरुषोंका समागम समस्त जीवोंकी आपत्तिको दूर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



समायोगः सम्प्रयोग एव हि भवति सोऽत्रास्तीतः शुश्रुषवः श्रोतुमिच्छावन्तस्तेऽमी सभ्याः सभायोग्याः सन्ति, प्रश्नकर्ता च स्वयं भर्ता स्वामीति प्रसन्नताविषयः ॥४२॥

विदेहे पुण्डरीकिण्यामिहैव वृषानुरागिण्याम् ।
एनसः संविरागिण्यां बभूव विभो शुभा वार्ता ॥४३॥

विदेह इत्यादि—इहैव जम्बूद्वीपे विदेहक्षेत्रे या पुण्डरीकिणी नाम नगरी तस्यां कीदृश्याम् ? एनसः पापात् संविरागिणी सम्यग्विरक्ता तस्यामेषा शुभा वार्ता विभो ! बभूव ॥४३॥

कुबेरस्य प्रियो नाम्ना धनी यतिदत्तिकृद् धाम्नाम् ।
पतिः प्रतिसम्मतिः साम्नां सदारो धर्मसंधर्ता ॥४४॥

कुबेरस्येत्यादि—तत्र कुबेरप्रियो नाम धनी यो यति दत्तिकृत् पात्रदानकर्ता धाम्नां गृहाणां पतिर्गृहस्थः साम्नां गृहस्थोचितकार्याणां प्रति सम्मतिः समर्थनकरो धर्मस्य च संधर्ता धारकोऽभूत् ॥४४॥

रतिवरः किंच रतिषेणा कपोतवरद्वयीमेनाम् ।
ररक्ष सुरक्षणोऽनेनास्तदापच्छापपरिहर्ता ॥४५॥

रतिवरेत्यादि—रतिवरः कपोतो रतिषेणा च कपोतीति कपोतद्वयीमेतन्नामवतीं ररक्ष पालितवान् । यः सुरक्षणः सुष्ठुतया रक्षाकरः सुन्दरलक्षणधरश्चात एवानेनाः पापपरिवर्जकस्तयोरापदां संभवस्य शापस्य दुराशिषः परिहर्ता च ॥४५॥

---

करने वाला होता है। इधर समस्त सभासद् श्रोता थे और स्वामी–जयकुमार स्वयं प्रश्न करने वाले थे ॥४२॥

**अर्थ**—हे स्वामिन् ! इसी जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र सम्बन्धी, धर्मानुरागसे सहित एवं पापसे विरक्त पुण्डरीकिणी नगरीमें यह शुभ बात हुई थी, अर्थात् कथाका प्रारम्भ पुण्डरीकिणी नगरीसे शुरू होता है ॥४३॥

**अर्थ**—पुण्डरीकिणी नगरीमें एक कुबेरप्रिय नामका धनी गृहस्थ रहता था जो मुनियोंकी आहार आदि दान देता था, गृहस्थ धर्मका समर्थक था और गृहस्थोचित धर्मको धारण करता था ॥४४॥

**अर्थ**—रतिवर कबूतर और रतिषेणा नामक कबूतरी इन दोनोंकी वह रक्षा करता था। वह कुबेरप्रिय सुरक्षण–अच्छी तरह रक्षा करने वाला र और ल में अभेद होनेसे सुलक्षण–अच्छे लक्षणों वाला था, पाप रहित था और उन दोनोंकी आपत्तिरूप शापका परिहार करने वाला था ॥४५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



एकदा भ्रामरीं दृष्ट्वात्रागतौ तावृषी हृष्ट्वा ।
भवस्मृतिमित्यतः सृष्ट्वा तयोः समयो दुरितहर्ता ॥४६॥

एकदेत्यादि—एकदात्र भ्रामरीं चर्यामागतावृषी द्वौ मुनी दृष्ट्वाऽतो हृष्ट्वा चेत्यतो भवस्मृतिं जातिस्मरणदशां सृष्ट्वा लब्ध्वा पुनस्तयोश्शेषसमयः कालक्षेपो दुरितहर्ता पापवर्जितोऽभूत् ॥४६॥

पुरा जनुरागता प्रीतिः प्रबुद्धतया पुनः स्फीतिः ।
प्रसन्नतया तथाधीतिर्गणोऽयं सर्वशुभभर्ता ॥४७॥

पुरेत्यादि—तयोर्द्वयोः पुराजनुरागता जन्मान्तरादायाता प्रीतिरासीत् पुनरधुना प्रबुद्धतया जातिस्मरणभावेन कर्तव्याकर्तव्यज्ञानेन च स्फीतिर्मनसः स्फूर्तिस्तथा प्रसन्नतया निराकुलभावेनाधीतिः समध्ययनमित्ययं गणः सर्वप्रकारेण शुभस्य परिपाकस्य भर्ता बभूव ॥४७॥

ब्रह्मचर्यं समालब्धमितो भवतो भयं लब्धम् ।
नृभवयोग्यो विधिर्दृब्धः समन्ताच्छान्तिपरिकर्ता ॥४८॥

ब्रह्मचर्यमित्यादि—तस्मात्ताभ्यां द्वाभ्यामित आरभ्य ब्रह्मचर्यं कामचेष्टावर्जनं समारब्धं स्वीकृतं, भवतो जन्ममरणात्मकादस्मात् भयं लब्धमेवं समन्तादभितः शान्तेः परिकर्ता समुत्पादको नृभवयोग्यो विधिर्नरजन्मनि यत्कर्तुं पार्यते स प्रक्रमो दृब्धः समारब्धस्ताभ्यामिति ॥४८॥

धर्मः खलु शर्महेतुरोष्यते जनानाम् ।
किरिरेव समस्तु हरिर्यस्य संविधानात् ॥४९॥ (स्थायीदं)

---

अर्थ—एक समय कुबेरप्रियके घर चर्याके लिये दो मुनिराज आये, उन्हें देखकर कबूतर-कबूतरी हर्षको प्राप्त हो जातिस्मरणको प्राप्त हो गये, जिससे उनका शेष समय पापसे रहित हो गया। अर्थात् दोनों ब्रह्मचर्यसे रहने लगे ॥४६॥

अर्थ—उन दोनोंकी प्रीति पूर्व जन्मसे चली आ रही थी पर अब जातिस्मरण होनेसे और भी अधिक विस्तृत हो गई तथा प्रसन्नता—निराकुलतापूर्वक अध्ययन होने लगा। यह सब कार्य उनके पुण्यके पूरक हो गये ॥४७॥

अर्थ—अब यहाँसे उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया, संसारसे भय प्राप्त किया और सब ओरसे शान्ति प्राप्त कराने वाली मनुष्य पर्यायके योग्य विधि प्राप्त कर ली—मनुष्योंके योग्य आचरण करने लगे ॥४८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


धर्मं इत्यादि—धर्मं एव खलु जनानां शर्महेतुः कल्याणकर ईष्यते, यस्य संविधानात्करणात् किरिरेव ग्रामसूकरोऽपि हरिरिन्द्रः समस्तु ॥४९॥

प्राप्तोऽथ हिरण्यवर्म नाम रतिवरः सशर्म ।
प्रभावती सा च धर्मकर्मसंविधानात् ॥५०॥

प्राप्त इत्यादि—अथ सशर्म शान्तिसहितं धर्मकर्मणो धर्मानुष्ठानस्य संविधानात् स रतिवरः कपोतो नरजन्म लब्ध्वा हिरण्यवर्मनाम प्राप्तः। सा रतिषेणा कपोती च नारीजन्म लब्ध्वा प्रभावती नाम बभूव ॥५०॥

तद्गतखगसानुमति ह्यादित्यगतिर्नृपतिः ।
शशिभा युवतिश्च सती तयोस्तुक् स वा ना ॥५१॥

तद्गतेत्यादि—स रतिवरस्तद्देशगतखगसानुमति विद्याधरपर्वते विजयार्द्धे नाम्ना आदित्यगतिनरपतिस्तस्य युवतिः स्त्री सती शशिप्रभा तयोर्द्वयोः स तुक् पुत्रो बभूव, यस्य हिरण्यवर्माऽभूदिति ज्ञेयम् ॥५१॥

अपरोऽत्र नृपः समभाद्वायुरथः स्वयंप्रभा ।
राज्ञी चैतयोः प्रभावती जायमाना ॥५२॥

अपर इत्यादि—अत्रैव पर्वतेऽपरो वायुरथो नाम नृपः, स्वयंप्रभा नाम राज्ञी च। तयोर्द्वयोस्सा रतिषेणाऽऽगत्य जायमाना सती प्रभावती समभात् ॥५२॥

---

अर्थ—यथार्थमें धर्म ही मनुष्योंके सुखका हेतु माना जाता है, क्योंकि उसके करनेसे ग्राम सूकर भी इन्द्र हो सकता है ॥४९॥

अर्थ—धर्मानुष्ठानके करनेसे रतिवर कबूतर सुखसहित हिरण्यवर्म नामको प्राप्त हुआ और रतिषेणा कबूतरी प्रभावती नामको प्राप्त हुई।

भावार्थ—धर्मके प्रभावसे दोनोंने मनुष्य जन्म प्राप्त किया। वहाँ रतिवरका जीव **हिरण्यवर्मा** और रतिषेणाका जीव **प्रभावती** हुआ ॥५०॥

अर्थ—उसी देशके विजयार्ध पर्वत पर आदित्यगति राजा रहता था, उसकी स्त्रीका नाम शशिप्रभा था। उस दोनोंके रतिवर-कबूतरका जीव हिरण्यवर्मा नामका पुत्र हुआ ॥५१॥

अर्थ—इसी पर्वतपर वायुरथ नामका दूसरा राजा रहता था, उसकी रानीका नाम स्वयंप्रभा था। उन दोनोंके यहाँ रतिषेणाका जीव प्रभावती नामकी पुत्री हुई ॥५२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सम्भुक्तमनुष्यभवे याविह तौ सुभटरवे ! ।
पितरावितरौ तु नवे तीक्ष्यते स्वमानात् ॥५३॥

सम्भुक्तेत्यादि—हे सुभटरवे ! सुभटानां रवे ! मार्गदर्शक ! सम्भुक्ते मनुष्यभवे रतिवरभवादपि पूर्वभवे सुकान्तभवे यौ तव पितरौ तावेवेह हिरण्यवर्मजन्मनि जातावितरौ तु न वेति स्वमानात् संज्ञानादीक्ष्यते ॥५३॥

दाम्पत्यमुपेत्यतरां विभवाधिगतिं प्रवराम् ।
लब्धा गुणततिः परा शान्तिसंविताना ॥५४॥

दाम्पत्यमिति—दाम्पत्यं गृहस्थभावं तथा प्रवरां महतीं विभवस्याधिगतिं सम्पदुपलब्धिं चोपेत्यतरामतः पुनस्त्वया परा महती शान्तेः संवितानं यत्र सा शान्तिदायिनी गुणततिर्लब्धा वैराग्यपरिणतिरुपलब्धा ॥५४॥

एतावन्तकदेशिताविव गतौ सम्पादितुं सम्बलं
जम्बूनामपुरे परेद्युरिह तौ व्यापाद्यमानावलम् ।
प्राग्जन्मप्रतिवैरिणा मृतिमितौ तत्रागतेनौतुना
प्रारब्धं ह्युपलभ्यते ननु जनैर्भो भो जवेनाधुना ॥५५॥

एतावित्यादि—एतौ कपोतजम्पती किलान्तकेन यमेन देशितौ संकेतिताविव सम्बलं भोजनं सम्पादितुं गतौ परेद्युरिह जम्बूनामपुरे तत्रागतेन प्राग्जन्मप्रतिवैरिणौतुना बिडालेनालं पर्याप्तं यथा स्यात्तथा व्यापाद्यमानौ मृतिं मरणमितौ सम्प्राप्तौ । भो भो प्रभो ! जनैरधुना प्रारब्धं स्वोपार्जितं हि किलोपलभ्यते जवेनानायासेनेति विचारणीयं ननु ॥५५॥

---

अर्थ—हे सुभटसूर्य ! सुभटोंके मार्गदर्शक ! अतीत मनुष्यभव अर्थात् रतिवरसे पूर्व सुकान्तके भवमें जो तुम्हारे माता-पिता थे, वे ही हिरण्यवर्माके जन्ममें हुए हैं दूसरे नहीं, ऐसा हम अपने ज्ञानसे जानते हैं ॥५३॥

अर्थ—गृहस्थभाव तथा बहुत भारी सम्पत्तिको अच्छी तरह प्राप्त कर आपने शान्तिके विस्तारसे सहित गुणोंकी सन्तति-वैराग्य परिणतिको प्राप्त किया ॥५४॥

अर्थ—एक दिन कबूतर और कबूतरी भोजन प्राप्त करनेके लिये जम्बूपुर गये। वहाँ उनके पूर्वभवके बैरी बिलावने आकर उन्हें अत्यधिक घायल कर दिया जिससे मृत्युको प्राप्त हो गये। ठीक ही है मनुष्योंका जो पूर्वोपार्जित कर्म है वह इस भवमें वेगसे-अनायास ही प्राप्त होता है ॥५५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तव मम तव मम लपननियुक्त्याऽखिलमायुर्विगतम् ।
हे मन आत्महितं न कृतं हा हे मन आत्महितं न कृतम् ।।५६।। स्वायी

तव ममेत्यादि—स्पष्टम् ।

नवमासा वासाय वसाभिर्मातृशकृति सहितम् ।
शैशवमपि शबलं किल खेलैः कृतोचितानुचितम् ।।५७।।

नवमासा इत्यादि—नवमासा यावत्तु मातृशकृति जनन्या वर्चसि वसाभिर्मज्जादिभिः सहितं तव विगतं ततः पुनः शैशवमपि किल खेलैः क्रीडनैः शबलं मिश्रितमिति कृतमुचितं वानुचितं वा यत्र तत्तथा विगतम् ।।५७।।

तारुण्ये कारुण्येन विनौद्धत्यमिहाचरितम् ।
मदमत्तस्य तवाहर्निशमपि चित्तं युवतिरतम् ।।५८।।

तारुण्य इत्यादि—तारुण्ये सति यौवनकाले कारुण्येन विना निर्दयतयेहौद्धत्यमुच्छृङ्खलत्वमाचरितं त्वया तथा मदेन यौवनोन्मादेन मत्तस्य तवाहर्निशमपि सदैव चित्तं युवतिरतमासीदिति ।।५८।।

प्रौढिं गतस्य परिजनपुष्ट्यै शश्वत् कर्ममितम् ।
एकैकया कपर्दिकया खलु वित्तं बहु निचितम् ।।५९।।

प्रौढिमित्यादि—प्रौढिं प्रौढतां गतस्य विगतयौवनस्य तव परिजनस्य पुष्ट्यै सम्पोषणाय शश्वदेवानारतं कर्म शिल्पादि यत्कुलपरम्परया गतं मितं कृतं तत एकैकया कपर्दिकया काकिण्या बहुवित्तं निचितं खलु ।।५९।।

---

अर्थ—तेरा मेरा तेरा मेरा कहते-कहते समस्त आयु बीत गई । हे मन ! तूने अपना हित नहीं किया दुःखकी बात है ।।५६।।

अर्थ—नौ मास तक माताके मलमें चर्बी आदि धातुओंके साथ निवास किया, पश्चात् उसमें उचित अनुचित करनेका विचार नहीं ऐसा बाल्यकाल खेलोंसे मिश्रित कर व्यतीत किया ।।५७।।

अर्थ—हे मन ! यौवन अवस्थामें तूने करुणाभावके बिना अत्यन्त उद्दण्ड चेष्टा की और मदसे मत्त रहनेवाला तेरा चित्त रातदिन स्त्रियोंमें रत रहा—लीन रहा ।।५८।।

अर्थ—हे मन ! जब तूं प्रौढताको प्राप्त हुआ तब तूने परिवारका पोषण करनेके लिये निरन्तर शिल्पादि कार्य किये और एक-एक कौड़ीको एकत्रित कर बहुत भारी धनका संचय किया ।।५९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स्मृतमपि किं जिननाम कदाचिद् वार्द्धक्येऽपि गतम् ।
विकलतया सम्प्रति हे मूढ ! स्मरात्मनोऽनुकृतम् ॥६०॥

स्मृतमपीत्यादि—हे मूढ ! मोहाच्छन्न ! सम्प्रति वार्द्धक्येऽपि गते वृद्धत्वेऽपि सम्प्राप्ते किं कदाचिदपि जिननाम स्मृतमपि तु नैवातो विकलतया विच्छिन्नेन्द्रियमनस्तया केवलं कृतमन्वात्मनः स्मर यथा कृतं तथा स्वयं चिन्तय ॥६०॥

रट झटिति मनो जिननाम गतमायुर्नु दुर्गुणधाम ।
आशापाशविलासतो द्रुतमधिकर्तुं धनधाम ॥
निद्रापि क्षुद्राऽभवद् भुवि नक्तंदिवमविराम ॥६१॥ स्थायी

रटेत्यादि—हे दुर्गुणधाम ! दुर्गुणानां ग्राम स्थान ! हे मनः ! आशा तृष्णैव पाशो बन्धनरज्जुस्तस्य विलासतः प्रभावाद् धनं च धाम चानयोः समाहारस्तद्द्रुतं शीघ्रमधिकर्तुमात्मायत्तं कर्तुमायुर्जीवितं गतं व्यतीतं न्विति वितर्केऽतो झटिति शीघ्रं जिननाम रट पुनःपुनरुच्चारणं कुरु तस्य । नक्तंदिवमहर्निशमविराम ! विश्रान्तिशून्य हे मनः ! भुवि पृथिव्यां तव निद्रापि क्षुद्रा नष्टाभवत् । जिननामस्मरणमन्तरेण नास्ति तव श्रेय इति यावत् ॥६१॥

पुत्रमित्रपरिकरकृते बहु परिणमतोऽतिललाम !
रामाणामारामरसतो हसतो वाश्रितकाम ! गतमायुः ॥६२॥

पुत्रेत्यादि—हे आश्रितकाम ! कामवासनातुर ! पुत्रमित्राणां तत्सम्बन्धिनां परिकरः समूहस्तस्य कृते प्रसन्नताकार्येऽतिललाम सुन्दरतरं बहु वारं वारं परिणमतः कुर्वतस्तथा रामाणां स्त्रीणां य आरामो हावभावविलासादिपरिणामस्तस्य रसतः समास्वादनतो वा हसतस्तव गतमायुः सर्वमपि व्यतीतं जन्म ॥६२॥

---

अर्थ—हे मूर्ख ! बुढ़ापा आनेपर भी क्या तूने जिनदेवके नामका स्मरण किया है ? अर्थात् नहीं किया । अब विकलताके कारण—इन्द्रिय और मनकी शक्ति क्षीण हो जानेसे केवल अपने कार्यकलापका विचारकर ॥६०॥

अर्थ—हे दुर्गुणोंके स्थान मन ! आशारूपी पाशके प्रभावसे शीघ्र ही धन-धामको अधिकृत करनेके लिये आयु व्यतीत कर दी, रातदिन तूने विश्राम नहीं लिया । अब शीघ्र ही जिनराजके नामका पुनः-पुनः उच्चारण कर । इसके बिना तेरा कल्याण नहीं होगा ॥६१॥

अर्थ—हे कामवासनासे आतुर मन ! पुत्रमित्रादि समूहके प्रति बार-बार तूने अत्यन्त सुन्दर परिणमन किया है और स्त्री नामक आराम—स्त्रियोंके हावभाव आदि चेष्टाओंके रसास्वादनसे तूने हर्षका अनुभव किया है । यह सब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



परहरणे भरणे स्वयं पुनरनुभवता दुर्नाम ।
अयशः परिहरणाय दत्तं त्वया तु नैकविदाम ॥गतमायुः० ॥६३॥

परहरण इत्यादि—परेषां जीवानां हरणे संहारकरणे स्वयं भरणे स्वस्य सम्पोषणे पुनर्वारं वारं दुर्नामापयशोऽनुभवता समर्जयता त्वयाऽपयशः परिहरणायात्र तु नैकविदामपि दत्तम् ॥६३॥

बहु वलितं गलितं वयो रे सम्प्रति पलितं नाम ।
अलमालस्येनास्तु शठ ! ते स्वीकुरु शान्तिसुधाम ॥गतमायुः०॥६४॥

बहु वलितमित्यादि—रे शठ ! सम्प्रति बहु वलितं शरीरं वलिभिर्व्याप्तमभूत् तथा वय आयुरपि गलितं निर्गतं प्रायः पलितं नाम शिरसि श्वेतकेशत्वमभूत् तदत्र ते किलालस्येनालमस्तु, तावदधुना तु शान्तेः सुधाम निराकुलतैकान्तं स्वीकुरु ॥६४॥

माया महतीयं मोहिनी जनतायां भो ! माया (स्थायी)
भूरामाधामादिधरायामिह सातङ्कजरायाम् ।
काशा परमर्मच्छिदिरायां करपत्रप्रसरायाम् ॥ इह जनतायां० ॥६५॥

मायेत्यादि—भो पाठकजन ! शृणु जनतायामियं मोहिनी माया मोहसम्बन्धिनी परिणतिः सा महती दुर्निवारास्ति यस्यां भूरामाधामादिधरायां भूः पृथिवी रामा स्त्री धाम गृहमित्येवमादिधरायां तत्प्रपञ्चयुक्तायां तथातङ्केन सहिता जरा यस्यां तस्यां सातङ्कजरायां तथा परेषां मर्मणां छिदिं छेदनं राति स्वीकरोति तस्याः करपत्रस्य प्रसरो यस्यास्तस्यामिह मायायां का किलाशा समाश्वासनावस्था, किन्तु न कियत्यपि ॥६५॥

---

करते हुए तेरी समस्त आयु व्यतीत हो गई है ॥६२॥

अर्थ—दूसरे जीवोंका संहार करने और अपने आपके संपोषण करनेमें भारी अपकीर्तिका अनुभव करते हुए तूने अनेक प्रकार दान भी दिया है ॥६३॥

अर्थ—रे मूर्ख ! इस समय तेरा शरीर झुरियोंसे व्याप्त हो गया है, आयु प्रायः बीत चुकी है और शिर पर सफेदी आ गई है, अतः आलस्यसे विरत हो और शान्तिका सुन्दर स्थान प्राप्त कर ॥६४॥

अर्थ—हे पाठक जन ! सुनो, जनता-जन समूहमें जो मोहिनी माया है वह अत्यन्त दुर्निवार है, यह पृथिवी स्त्री तथा मकान आदिकी आकुलतासे सहित है, आतङ्क युक्त वृद्धावस्थासे युक्त है, दूसरेके मर्मको छेदने वाली है और करपत्र-करोंतके प्रसारसे सहित है, इसमें तुझे क्या आशा है, अर्थात् सुख-सन्तोष प्राप्त करनेकी क्या संभावनी है ? कुछ भी नहीं ॥६५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**विषयरसाय दशा सकषाया शोच्या स्याद् विवशा या ।**
**गजस्येव कपटाभ्रमुकायां मनसो बहुलापाया ॥इह०॥६६॥**

विषयरसायेत्यादि—इहास्यां मायायां मनसो दशा विषयाणां रसायास्वादनाय सकषायाऽभिलाषवती ततश्च विवशा विषयाधीनाऽतश्च शोच्या चिन्ताया विषयोऽपि स्यात् किल या मनसो दशा कपटेन कृता याऽभ्रमुका हस्तिनी तस्यां गजस्येव गजवत् सा बहुलापाया दुःखपूर्णा स्यात् ॥६६॥

**मित्रकलत्रपुत्रविसरायां चित्तं परम्परायाम् ।**
**जरद्गवः कर्दमितधरायामिव सीदति विधुरायाम् ॥इह०॥६७॥**

मित्रेत्यादि—इदं चित्तं विधुरायां भयदायिन्यां मित्रं च कलत्रं स्त्री च पुत्रं चैतेषां विसरो विस्तारो यत्र तस्यां परम्परायां कर्दमितधरायां जरद्गवो वृद्धबलीवर्द इव किल सीदति कष्टमनुभवति ॥६७॥

**रताद् विरक्ताप्यनुरतिमायात्यरते जगतश्छाया ।**
**ततो विरज्य नरोऽस्मात्कायात्किमिव न शान्तिमथायात् ॥इह०॥६८॥**

रतादित्यादि—यत्र जगतः शरीरधारिणः प्राणिनश्छाया प्रतिमूर्तिस्सापि रतावनुरक्तात्तदनुग्राहकाद्विरक्ता विरुद्धगामिनी भूत्वाथाऽरते तदनपेक्षिणि जनेऽनुरतिं सानुकूलवृत्तिमायाति किलेति दृश्यते ततः पुनर्नरोऽस्मात्कायाच्छरीराद्विरज्य समुदासीनो भूत्वा किमिव शान्तिं निर्द्वन्द्वतामयाद् गच्छेदिति चिन्त्यमस्ति ॥६८॥

---

अर्थ—इस मायामें मनकी दशा विषयोंकी अभिलाषा रखती हुई विवश और शोचनीय हो जाती है। जिस प्रकार कपटसे निर्मित कृत्रिम हस्तिनीमें आसक्त हस्तीकी दशा अनेक कष्टोंसे युक्त होती है, उसी प्रकार आपात-रमणीय विषयोंमें आसक्त रहने वाले मनुष्यकी दशा अनेक कष्टोंसे सहित होती है ॥६६॥

अर्थ—मित्र, स्त्री तथा पुत्रके विस्तारसे सहित इस दुःखदायिनी परम्परामें यह मानव उस प्रकार दुःखका अनुभव करता है, जिस प्रकार कि कर्दमयुक्त भूमिमें बूढ़ा बैल ॥६७॥

अर्थ—संसारकी प्रणाली है-प्रवृत्ति है कि वह रत-चिरपरिचितसे विरक्त होकर अरत-अपरिचित-नई वस्तुमें प्रीतिको प्राप्त होती है, फिर यह मनुष्य चिरपरिचित शरीरसे विरक्त हो अद्यावधि अप्राप्त शान्तिको क्यों नहीं प्राप्त होता ? ॥६८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**सौभाग्यशाली सुतरां यशस्वी वर्माथ शर्मार्थमभूत्तपस्वी ।**
**एवं जगत्तत्त्वमहो विचार्याप्यासीत् प्रभावत्यधुनाऽमलार्या ॥६९॥**

सौभाग्यशालीत्यादि—एवं जगतस्तत्त्वमहो किलाश्चर्यकारि विचार्याथ सुतरां यशस्वी सहजकीर्तिमान् सौभाग्यशाली स हिरण्यवर्मा शर्मार्थं शान्तिलाभार्थं तपस्वी तपः-कर्ता साधुरभूदधुना प्रभावती चामला निष्पापाऽऽर्याभूत् ॥६९॥

**एतौ तपन्तौ समवाप्य विद्युच्चौरो रुषा प्लोषितवान् परेद्युः ।**
**भवान्तरारिः स्वरितौ च किन्तु महो जनाः सत्तपसा व्रजन्तु ॥७०॥**

एतावित्यादि—विद्युच्चरो नाम चौरो यो भवान्तरारिः पूर्वभवत एवानुबद्धवैरवान् स परेद्युः कस्मिंश्चिद्दिनेऽप्येतौ तपन्तौ समवाप्य रुषा प्रकोपेण प्लोषितवान् भस्मी-चकार, किन्तु समतां गतौ तौ दग्धावपि स्वरितौ स्वर्गं गतौ । यतः किल जनाः सत्तपसा महः प्रभावं व्रजन्तु सत्यमेवेति अर्थान्तरन्यासः ॥७०॥

**अथान्यदा स्वैरितया चरन्तौ संजग्मतुः सर्पसरोवरं तौ ।**
**प्रबुद्धय यत्रात्महिते विभूतिमेतं तमेताविह शर्मसूतिम् ॥७१॥**

अथेत्यादि—अथान्यदा कदापि स्वैरितया स्वेच्छया चरन्तौ पर्यटन्तौ तौ सर्पसरोवरं नाम कासारं संजग्मतुर्यत्रात्महिते प्रबुद्धय लगित्वा विभूतिं भवाभावात्मिकां श्रियमेतं तं शर्मणः कल्याणस्य सूतिरुत्पत्तिर्यस्य तं केवलिनमेतौ प्राप्तौ ॥७१॥

---

**अर्थ**—इसप्रकार जगत्‌के आश्चर्यकारी स्वरूपका विचार कर सौभाग्य-शाली एवं यशस्वी हिरण्यवर्मा शान्ति-सुख प्राप्त करनेके लिये तपस्वी हो गये—दीक्षा लेकर मुनि हो गये । इसी समय प्रभावती भी निर्मल आचारका पालन करने वाली आर्यिका हो गई ॥६९॥

**अर्थ**—किसी दिन पूर्वभवके वैरी विद्युच्चर चौरने तप करते हुए इन मुनि और आर्यिकाको पाकर क्रोधसे जला दिया, परन्तु वे समताभावसे शरीरका त्यागकर स्वर्ग गये सो ठीक ही है, समीचीन तपसे मनुष्य उत्तम प्रभावको प्राप्त होते ही हैं ॥७०॥

**अर्थ**—तदनन्तर स्वेच्छासे घूमते हुए वे दोनों किसी समय सर्पसरोवर पर गये । वहाँ आत्महितमें संलग्न हो सुखदायक केवलज्ञानरूप विभूतिको प्राप्त हुए केवली उन्हें मिले ॥७१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**भूत्या जगच्चित्रमथाश्रयन्तं विभूतितः केवलमाह्वयन्तम् ।**
**मुदं गतौ वीक्ष्य ततस्तपन्तं स्वमूर्तितः शान्तिमुदाहरन्तम् ॥७२॥**

भूत्येत्यादि—अथ भूत्या स्वपरिणत्या जगदिदं विश्वं तच्चित्रं विलक्षणमाश्रयन्तं जानन्तं विभूतितः स्वचेष्टया केवलं ज्ञानमाह्वयन्तं निरूपयन्तं स्वमूर्तितः शरीरेण शान्तिं समतामुदाहरन्तं ततस्तपन्तं तपोमुक्तं तं वीक्ष्य तौ मुदं गतौ देवजम्पती ॥७२॥

**दुरिङ्गिताम्नैव समस्ति भीतिस्तदन्यतः सैव मलं तु नीतिः ।**
**पराक्रमो यस्य तपस्य सीमस्त्रिरुच्चरन्तं स्वमतोऽत्र भीमम् ॥७३॥**

दुरिङ्गितादित्यादि—यस्य महात्मनो दुरिङ्गिताद्भीतिरेव मा शोभा यस्य सः, अथवा तदन्यतः सदाचारात्सा भीतिरेव मं मलं यस्य सः, तथा तपसि यस्यासीमः पराक्रमः स भीम इत्यतोऽत्रिप्रकारमपि स्वमात्मानं भीममित्युच्चरन्तं भीमनाम केवलिनं वीक्ष्य तौ द्वौ देवजम्पती मुदं गतौ किलेति पूर्ववृत्तोक्तक्रिययान्वयः कार्य इति युग्मम् ॥७३॥

**त्वत्ता च मत्ता पुनरत्र ताभ्यामागत्य हे देव सुदेवताभ्याम् ।**
**स्वर्गान्निसर्गात् सुकृतैकवर्गादवाप्यते किन्न पुनीतसर्गा ॥७४॥**

त्वत्तेत्यादि—हे देव ! ताभ्यामेव सुदेवताभ्यां निसर्गात्सहजभावादेव सुकृतस्य पुण्यस्यैको वर्गः समूहो यत्र तस्मात् स्वर्गात् पुनरत्रागत्य पुनीतः पावनः सर्गो रचना वा स्वभावो यस्यास्सा त्वत्ता त्वद्रूपता मत्ता वा मद्रूपता वा किन्नाप्यते ? । स्वर्गस्थितो जीवो न कैवल्यं लभते न च पुनर्देवत्वमित्यत्र किं कारणमिति जिज्ञासा प्रदर्शिता ताभ्याम् ॥७४॥

---

**भावार्थ**—जो स्वात्मपरिणतिसे इस विलक्षण संसारको जान रहे थे, अष्टप्रातिहार्यरूप विभूतिसे केवलज्ञानको प्रकट कर रहे थे तथा अपने शरीरसे शान्तिका उपदेश दे रहे थे, ऐसे स्वात्मनिष्ठ केवलीको देखकर वे देवदम्पती हर्षको प्राप्त हुए ॥७२॥

**अर्थ**—दुराचारसे भी-भयका होना ही जिनकी मा-शोभा थी, अथवा सदाचारसे होनेवाले भयको जो म-पाप समझते थे, अथवा तपश्चरणमें जिनका असीम पराक्रम था, इस प्रकार त्रिविध निरुक्तिसे जो भीम कहलाते थे, उन भीम केवलीको पाकर वे देवदम्पती हर्षको प्राप्त हुए ॥७३॥

**अर्थ**—उस देवदम्पतीने जिज्ञासा प्रकट की कि हे देव ! जहाँ स्वभावसे ही एक पुण्यका समूह है, उस स्वर्गसे पुनीत कार्यकी रचनासे सहित त्वत्ता-आपके समान कैवल्य और मत्ता-मेरे समान पुनः देवत्व क्यों नहीं प्राप्त होता है ? ॥७४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सौकान्ते भवदेव एव च पुनः कापोतकेऽप्योतुकः
हारिण्ये च भवे तवेश समभूद्विद्युच्चरः कौतुकः ।
स्वर्गीये त्वयि भीमनाम मुनिराड् योऽसौ भवोच्छेदकः
सत्त्वानामिह संसृतौ परिणतेर्वैचित्र्यसंदेशकः ॥७५॥

सौकान्त इत्यादि—हे ईश ! स्वामिन् ! तव सौकान्ते सुकान्तस्य जन्मनि यो भवदेवः समभूत्, कापोतके कपोतजन्मनि य ओतुको विडालः समभूत्, तव हारिण्ये हिरण्यवर्मनामविद्याधरजन्मनि तु कौ पृथिव्या यो यम इव विद्युच्चरश्चौरः समभूत्, त्वयि स्वर्गीये देवे सति स एव भीमनामा मुनिराडभूत्, यो भवोच्छेदको जन्ममरणनाशकः केवली समभूत्, यः किलेह संसृतौ संसारपद्धतौ सत्त्वानां जीवानां परिणतेः कस्य कदा कीदृक् परिणमनं स्यादित्यनिश्चितत्वस्य वैचित्र्यस्य सन्देशकः समभूत् । तुकार इहेवार्थकः ॥७५॥

सदा हे साधो ! प्रभवति असुमति कर्म (स्थायी)
कः खलु हर्ता को भुवि भर्ता कस्य विना निजकर्म । सदा हे०
उप्तमिवोक्तमस्य फलतीह तु यो विलसत्यपशर्म । सदा हे०
दुरिताद् दुर्गतिमेति जनोऽसौ शुभतो विलसति नर्म ।
भूरामल यदि नैव रोचते संवरमुपसर वर्म ॥ सदा हे० ॥७६॥

सदेत्यादि—हे साधो ! शृणु असुमति शरीरधारिणि कर्म तस्य चेष्टितमेव प्रभवति शुभाशुभफलदायकं भवति । अस्यां निजकर्म विनाऽन्यः कः कस्य हर्ता विनाशकः कश्च भर्ता रक्षकः स्यान्न कश्चिदपि । इह तु पुनरुप्तं भूमौ प्रक्षिप्तमिवोक्तमुपरि निर्दिष्टं

---

अर्थ—हे स्वामिन् ! आपके सुकान्त भवमें जो भवदेव था, कबूतरके भवमें बिलाव हुआ था, हिरण्यवर्मा नामक विद्याधरके भवमें पृथिवी पर जो यमके समान विद्युच्चर चौर था और आपके स्वर्ग सम्बन्धी देव होने पर जो जन्म-मरणका नाश करनेवाला भीम नामका केवली हुआ, इसप्रकार संसारमें जीवोंकी परिणतिसे किसका कब कैसा परिणमन होता है, इस विचित्रताका सन्देश देनेवाले वह केवली थे ॥७५॥

अर्थ—हे साधो ! इस जगत्में प्राणीपर कर्म ही अपना प्रभाव दिखाता है । पृथिवी पर स्वकृत कर्मके बिना कौन हर्ता है और कौन भर्ता है ? इसने जैसा बोया है उसीके अनुसार फल देता है भले ही दुःख हो यह जीव पापसे दुर्गतिको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



यत्तत्स्वकृतमेवास्य संसारिणः फलति यः संसारो जनोऽपशर्मं विलसति किलोच्छृङ्खलं यथा स्यात्तथा परिणमते तस्य । यतोऽसंसारी दुरितात् स्वस्य दुष्कृताद् दुर्गतिमेति गच्छति किन्तु शुभतः सुकृतान्नर्म संसारसुखं विलसति यदि हे आत्मन् ! यदीयं भूर्जन्ममरण-हेतुर्नैव रोचते तदा पुनः संवरं पुण्यात्पापाच्चौदासीन्यं तदेव वर्म कवचमुपसर स्वीकुरु ॥७६॥

**दैवज्ञान्यजनीषु च तासु सन्देहोऽभ्युदियाय यदाशु ।**
**भर्तुरिष्टमुपलभ्य ससारं भावस्पष्टिमिति प्रचकार ॥७७॥**

दैवज्ञेत्यादि—यदा तासु प्रसिद्धासु चान्यजनीषु सपत्नीषु सन्देहोऽभ्युदियाय समुद्बभूव तदाशु शीघ्रमेव सा दैवज्ञा स्वस्य परस्य च दैवं भूतं भविष्यच्च जानाति सा सुलोचना भर्तुः स्वामिनः ससारं सारभूतमिष्टं प्रश्नमुपलभ्येति पूर्वोक्तप्रकारं भावस्पष्टिं प्रचकार ॥७७॥

**मिथोऽभिवर्द्धमानतः स्नेहादेवमुदारमुदाऽरमनेहाः ।**
**चन्द्रकलार्णवयोरिव याति तावदिहास्ति वचोऽप्यनुपाति ॥७८॥**

मिथ इत्यादि—एवं रीतित उदारमुदा परमप्रसन्नतया चन्द्रकला चार्णवश्च समुद्रश्च तयोरिव जयसुलोचनयोर्दम्पत्योर्मिथः परस्परमभिवर्द्धमानतः स्नेहान्नित्यं नवीनादनुरागादनेहाः कालोऽरं यावद्याति शीघ्रं निर्गच्छति तावदिहैवं वचोऽनुपाति प्रसङ्गप्राप्तमस्ति तदपि कथ्यते । अनुप्रासोऽलंकारः ॥७८॥

**स्वीयनभोगजनुष्वनुनीता विद्या अद्यागत्य विनीताः ।**
**सुकृतवशाः कृतिनो प्रणिपत्य दास्यमेतयोः स्वीकृतवत्यः ॥७९॥**

---

प्राप्त होता है और शुभ–पुण्यसे सुखका अनुभव करता है । हे आत्मन् ! यदि तुझे यह जन्म-मरणका हेतु अच्छा नहीं लगता है तो दोनोंके त्यागरूप संवरको स्वीकृत कर । वह संवर कवचरूप है ॥७६॥

**अर्थ**—इस प्रकार जब उन सपत्नीजनोंमें सन्देह उत्पन्न हुआ था तब शीघ्र ही भूत भविष्यत्की बातको जानने वाली सुलोचनाने भर्ताके सारभूत प्रश्नको पाकर पूर्वोक्त प्रकारसे भावको स्पष्ट किया ॥७७॥

**अर्थ**—इस प्रकार चन्द्रकला और समुद्रके समान जयकुमार तथा सुलोचनाका काल जब परस्पर बढ़ते हुए स्नेहसे बड़ी प्रसन्नताके साथ शीघ्र व्यतीत हो रहा था, तब प्रसङ्गोपात्त जो बात हुई वह कही जाती है ॥७८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स्वीयेत्यादि—एतयोर्जम्पत्योः स्वीयेन भोगभुवि खगेन्द्रजीवनेऽनुनीताः साधिता या विद्यास्ता एवानयोः सुकृतस्य शुभोदयस्य वशा अधीनाः सत्यो विनीता विनयभावमाप्ता अद्याधुनाऽऽगत्य कृतिनौ कृत्याकृत्यवेदिनावेतौ प्रणिपत्यैतयोर्दास्यमाज्ञाकारित्वं स्वीकृतवत्यः । अनुप्रासोऽलंकारः ॥७९॥

वियोगदूना दयिता इवोररीकृता नृता तीर्थभृता महीभृता ।
सनाथतां प्राप्य गताः कृतार्थताममुष्य वश्या अपि कामसिद्धये ॥८०॥

वियोगदूना इत्यादि—नृता मानवतैव तीर्थं तद् बिभर्ति यस्तेन महीभृता जयकुमारेण वियोगेनाद्य यावद्विरहेण दूना दुःखिता दयिता वल्लभा इवोररीकृताः स्वीकृताः सनाथतां प्राप्य कृतार्थतां सफलजीवनतां गता याः किलामुष्य वश्या वशंगता अप्यमुष्य कामसिद्धये वाञ्छितसम्पत्तये बभूवुस्ताः । उपमानुप्रासालंकारः ॥८०॥

सत्कार्यसाधिकाश्चापि पथभ्रष्टा इवालिकाः ।
सुदृशा सुदृशादृत्य ता विद्याः सफलीकृताः ॥८१॥

सत्कार्येत्यादि—सुदृशा सुलोचनयापि सत्कार्यस्य साधिका वाञ्छितस्य कर्त्र्यस्ता विद्या आलिका वयस्या इवाद्यावधि पथभ्रष्टास्ताः सुदृशा समीचीनया दृष्ट्याङ्गीकृत्य सफलीकृताः । इहाप्युपमालंकारः ॥८१॥

हृदि प्रसेदुरासाद्य विस्मृताविव तावुभौ ।
ललाटलतिकाचूडामणी ताः सुतरां शुभौ ॥८२॥

---

अर्थ—अपने विद्याधर जन्ममें इन्होंने जिन विद्याओंको सिद्ध किया था, वे विद्यायें इस समय इनके वशीभूत हो तथा विनीत भावसे आकर कृत्य-अकृत्यके जानने वाले इन दोनोंकी दास्यवृत्तिको प्राप्त हुईं ॥७९॥

अर्थ—मानवतारूप तीर्थको धारण करने वाले राजा जयकुमारके द्वारा स्वीकृत वे विद्याएँ, जो कि आज तक विरहसे पीड़ित वल्लभाके समान दुःखी थीं, सनाथताको प्राप्त कर कृतकृत्य होती हुई उनके अभिलषितकी सिद्धिके लिये संलग्न हो गईं ॥८०॥

अर्थ—सुलोचनाने भी समीचीन कार्यको सिद्ध करने वाली उन विद्याओंको पथभ्रष्ट–मार्ग भूली हुई सखियोंके समान समीचीन दृष्टिसे आदृत कर सफल किया ॥८१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



हृदीत्यादि—ता विद्या अपि सुतरां शुभौ निसर्गपावनौ तावुभौ विस्मृतौ ललाट-लतिका च स्त्रिया भाले ध्रियमाणालङ्कृतिविशेषश्च चूडामणिश्च पुरुषेण शिरसि ध्रियमाणो मणिविशेषश्च ताविवासाद्य हृदि स्वान्तरङ्गे प्रसेदुः प्रसन्नतामनुबभूवुः। उपमालंकारः ॥८२॥

यदीयविद्या मुकुरायतेतरां परा पुराजन्मचरित्रवेदने।
निवेद्य चोद्यं चतुरा तु राज्ञिका मनोविनोदं नयति स्म भूभुजः ॥८३॥

यदीयविद्येत्यादि—यदीया सुलोचनाया बुद्धिः परा संप्रशंसायोग्या या पुराजन्मचरितस्य वेदनेऽपि विषये मुकुरायतेतरां दर्पण इवाचरति सा चतुरा राज्ञिका सुलोचना भूभुजो जयकुमारस्य चोद्यं प्रश्नं निवेद्य सम्यग् व्यावर्ण्य भूभुजो मनोविनोदं प्रसन्नतां नयति स्म। अनुप्रासालंकारः ॥८३॥

एतादृगिद्धविभवेऽपि भवेऽध्रुवत्व
मत्वाऽऽपतुर्न च मनाङ् मनसा ममत्वम्।
धर्मे दृढावुत सुतत्त्वमवाप्य सत्त्वं
स्थाने मनःप्रणयनं हि भवेन्महत्त्वम् ॥८४॥

एतादृगित्यादि—एतादृगुपर्युक्तप्रकार इद्धः 'प्रसिद्धो विभवोऽनुभावो यस्य तस्मिन्नपि नरनाथभवेऽपि किलाध्रुवत्वमनित्यत्वं मत्वा मनसा तौ जम्पती मनाङ् जातुचिदपि ममत्वं नापतुरुत सुतत्त्वं वास्तविकत्वमेवं सत्त्वं सम्यग्दृष्टित्वं चावाप्य धर्मे दृढौ बभूवतुर्यतोऽत्र स्थाने समुचिते देशे मनसः प्रणयनं प्रापणमेव महत्त्वं भवेत्। अर्थान्तरन्यासः ॥८४॥

---

अर्थ—वे विद्याएँ भी विस्मृत ललाटलतिका और चूडामणिके समान अत्यन्त शुभ जयकुमार और सुलोचनाको प्राप्त कर हृदयमें अत्यन्त प्रसन्न हुईं ॥८२॥

अर्थ—जिसकी प्रशंसनीय विद्या पूर्वजन्म सम्बन्धी चरित्रके जाननेमें दर्पणके समान आचरण करती थी, उस चतुर रानी सुलोचनाने प्रश्नका वर्णन कर राजा जयकुमारके मनको प्रसन्नता प्राप्त करायी ॥८३॥

अर्थ—इस प्रकार प्रसिद्ध वैभवशाली भव-राजपर्यायमें भी अनित्यता मान कर वे दोनों कुछ भी ममत्वभावको प्राप्त नहीं हुए, किन्तु वास्तविक तत्त्व-सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर धर्ममें दृढ हो गये। यह ठीक ही है, क्योंकि समुचित स्थानमें मनका जाना ही महत्त्वपूर्ण होता है ॥८४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**हे नर ! निजशुद्धिमेव विद्धि सिद्धिहेतुं**
**परथा जलसंविलोडनास्तु सर्पिषे तु ।। स्थायी ।।८५।।**

हे नरेत्यादि—हे नर ! सिद्धेः सफलताया हेतुं कारणं निजस्य शुद्धिं मनःसम्यग्भावनामेव विद्धि जानीहि । परथा किलैतस्मादन्यथाकरणंतु सर्पिषे घृताय जलस्य संविलोडना निर्मंथनवृत्तिरस्तु व्यर्थंकष्टाय भवेदिति ।।८५।।

**सात्यकिरतपत्तुतरां दैवी सम्पच्च परा ।**
**लब्धा खलु मुग्धतरा चित्तदागमे तु ।। हे नर० ।।८६।।**

सात्यकिरित्यादि—सात्यकिर्नाम रुद्रस्तु यद्यप्यतपत्तरां बहु तपश्चकार तेन पुनर्दैवी विद्यद्धिप्राया सम्पच्च परा समुल्लेखनीया लब्धा, किन्तु तदागमे सति तस्याश्चिद् बुद्धिः प्रत्युत पूर्वापेक्षयापि खलु मुग्धतराभूत् ।।८६।।

**मसकपूरणोऽपि यतिः समभूच्च तथाङ्गमतिः ।**
**उद्धतामथापगतिं भगवदागमे तु ।। हे नर० ।।८७।।**

मसकेत्यादि—मसकपूरणो यतिरपि तपस्यायाः प्रभावात्तथाङ्गमतिरेकादशाङ्गवेत्ता समभूदथ च पुनर्भगवदागमे जिनशासने तु लिखितमस्ति यत्किल स उद्धतामविनीतां गतिमवस्थानमापेति ।।८७।।

**तुषमाषवदङ्गविदोः शिवघोमुषनिः सभिदोः ।**
**न किमाप रहस्यमहो भवसमुद्रसेतुम् ।। हे नर० ।।८८।।**

तुषमाषवदित्यादि—शिवघोषनाम मुनिरङ्गं शरीरं विच्च बुद्धिस्तयोस्तुषमाषवत् सभिदोर्भेदसहितयोर्यद्रहस्यं गूढतत्त्वमदस्तद्भवसमुद्रसेतुं संसारसागरात्तरणोपायमत्यल्पज्ञानवानपि किन्नाप ? अपि तु प्राप्तवानेवेति वक्रोक्तिः ।।८८।।

---

अर्थ—हे मानव ! तूं स्वकीय शुद्धि–अपने मनकी पवित्रताको ही सिद्धिका कारण जान, अन्य प्रवृत्ति करना तो घीके लिये जलका विलोलना ही है ।।८५।।

अर्थ—सात्यकि नामक रुद्रने अत्यधिक तप किया और उसके फलस्वरूप देवोपनीत सम्पत्–विद्या ऋद्धि भी प्राप्त की, परन्तु उसके प्राप्त होने पर भी उसकी बुद्धि पूर्वकी अपेक्षा अत्यन्त मूढ़ हो गयी ।।८६।।

अर्थ—मसकपूरण यति भी तपस्याके प्रभावसे ग्यारह अङ्गका वेत्ता हुआ था, परन्तु जिनागममें तो लिखा है कि वह अविनीत–अशोभन गतिको प्राप्त हुआ है ।।८७।।

अर्थ—शिवघोष मुनि तुषमाषके समान भेदसे सहित शरीर और आत्माके उस रहस्य–गूढ तत्त्वको क्या प्राप्त नहीं हुए जो संसार सागरसे पार होनेके



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



भरतो जगदीशसुतोऽखिलभूराडेष गतोः ।
निजतत्त्वपथे निरतोऽन्ते शिवं क्षणे तु ।।हे नर० ।।८९।।

भरत इत्यादि—जगदीशस्यादीश्वरस्य सुतो भरतश्चक्रवर्ती सोऽन्त्ये क्षणे निजतत्त्वपथे निरतस्सन् शिवमाप शेषं स्पष्टम् । भूरेति कवेर्नाम पूर्वार्द्धे ।।८९।।

दम्भातीतं कृत्वा मनो विशदभावि पथि
वै पद्मा सोमसुतौ सत्यारम्भम् ।
तिष्ठतः स्म सद्धर्मभावनासद्भावावाराद्
दर्पापकृति ताविमौ भव्यौ वा ।।९०।।
(षडरचक्रबन्धः)

दम्भातीतमित्यादि—पद्मा सुलोचना च सोमसुतो जयश्च ताविमौ भव्यावतः स्वमनो दम्भातीतं छलरहितं दर्पस्य मदस्यापकृतिरभावो यत्र तन्निर्मदं सत्यारम्भं समीचीनारम्भवत् तथा निष्पापो विचारो यत्र तत्तथाकृत्वा सद्धर्मभावनायाः सद्भावो ययोस्तौ सन्तौ पथि नीतिमार्गे तिष्ठतः स्मेति षडरचक्रबन्धात्मकमिदं वृत्तं यतो दम्पतिविभवा इति सर्गनिर्देशः ।।९०।।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
विंशत्यग्निसमर्थनो जनमनोहारिण्यसौ निर्गतो
दिव्यज्ञानविभूतिभर्तरि समुत्सर्गो निरुक्ते ततः ।।९१।।

श्रीमानित्यादि—विंशत्यग्निसमर्थनस्त्रयोविंशतितमः, दिव्यज्ञानविभूतिभर्तरि—अवधिज्ञानसम्पदा सहिते । शेषं स्पष्टम् ।।

---

लिये सेतु-पुलके समान है ? ।।८८।।

अर्थ—आदि जिनेन्द्रके पुत्र भरत चक्रवर्ती अन्तिम समय आत्मतत्त्वमें लीन हो मोक्षको प्राप्त हुए ।।८९।।

अर्थ—ये समीचीन धर्मकी भावनासे सहित भव्य जयकुमार और सुलोचना अपने मनको छलरहित, निर्मल भावसे सहित, सत्य आरम्भसे युक्त एवं मदसे रहित कर नीतिमार्गमें स्थित रहे ।।९०।।

अर्थ—पूर्ववत् ।।९१।।

इति श्रीवाणीभूषणब्रह्मचारिपं०भूरामलशास्त्रिविरचिते जयोदयापरनाम सुलोचनास्वयंवरे दम्पतिवैभववर्णनोनाम त्रयोविंशः सर्गः समाप्तः ।।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# चतुर्विंशः सर्गः

**अथात्र विद्या विशदा नियोगिनीः क्रियां प्रशस्तां सुरतोपयोगिनीम् ।**
**प्रभावितुं भावितमानसोऽभवन्नवा इवासाद्य स वा भुवां धवः ॥१॥**

**अथात्रेत्यादि**—अथात्र स वा भुवां धवः श्रीजयकुमारो नियोगिनीस्तेन सह नियोगो यासां ताः, विशदा निर्दोषचरित्रा विद्या नवा इवासाद्य समुपलभ्य सुरताया देवभावस्याकाशे गमनादेरुपयोगो यस्यां तां तथा सुरतस्य रतिक्रीडाया उपयोगो यस्यां तां प्रशस्तां कामिभिर्विद्याधरैश्च श्लाघ्यां क्रियां प्रभावितुं समुद्योतयितुं यद्वा प्रवेदितुमिति पाठस्तपेक्षयानुभवितुं भावितं परिणतं मानसं यस्य सोऽभवत् । समासोक्तिरलंकारः ॥१॥

**अमूः समासाद्य चमूपतिः किलाधरप्रदेशे रमते स्म नित्यशः ।**
**सलीलमुच्चैस्तनपर्वतेष्वसौ यदृच्छया सज्जघनस्थलीष्वपि ॥२॥**

**अमूरित्यादि**—चमूपतिर्दिग्विजयकाले भरतचक्रिणः सेनापतिर्जयकुमारोऽमूर्तियोगिनीर्विद्याः समासाद्याङ्गीकृत्य नित्यशः प्रतिदिनमसौ सलीलं लीलासहितं यथा स्यात्तथाऽधरप्रदेशे गगनेऽथवौष्ठस्थाने तथोच्चस्तनेषु परमोच्चरूपेषु पर्वतेषु यद्वोच्चैरूपेषु स्तनेषु कुचेष्वेव पर्वतेषु तथा सज्जो निर्दोषो घनो विस्तारो यासां तास्ताः स्थल्यस्तासु यद्वा समीचीनाश्च ता जघनस्थल्यः श्रोणयस्तास्वपि रमते स्म सुखमनुबभूवेति समासोक्तिरलंकारः । 'घनो मेघेऽथ विस्तारे' इति विश्वलोचनः ॥२॥

---

**अर्थ**—तदनन्तर इस जगत्में भूपति–राजा जयकुमार अपनेसे सम्बन्ध रखने वाली निर्मल (पक्षमें निर्दोष आचरण वाली) विद्याओंको (पक्षमें स्त्रियोंको) नवीनकी तरह प्राप्त कर प्रशस्त एवं सुरतोपयोगिनी–देवत्वके योग्य (पक्षमें सुरत–रतिक्रीड़ाके योग्य) उपयोगसे सहित क्रियाको समुद्योतित करनेके लिये उत्कण्ठित चित्त हुए ।

**भावार्थ**—विद्याओंको प्राप्त कर गगनविहार करनेकी इच्छासे सहित हुए ॥१॥

**अर्थ**—**सेनापति**–दिग्विजय कालमें भरत चक्रवर्तीके सेनापतिके पद पर अधिष्ठित जयकुमार उन विद्याओंको प्राप्त कर **अधरप्रदेश**–आकाशमें (पक्षमें अधरोष्ठमें) **उच्चैस्तनपर्वत**–अत्यन्त ऊँचे पर्वतों पर (पक्षमें उन्नत स्तनरूप पर्वतों पर) और **सज्जघनस्थली**–निर्दोष विस्तारसे युक्त वनभूमियोंमें (पक्षमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**जयोऽर्द्धयुक्ते कृतवान् गमं समं समन्तरीपद्वितये तयेहितः ।**
**हितस्य वेत्ता प्रियया नयानतिर्नतिं स तीर्थेषु निजां समर्जयन् ॥३॥**

जय इत्यादि—जयो नाम नृपः स हितस्य वेत्ता स्वशुभसंवेदकस्तथा नयस्य नीतेरानतिः स्वीकृतिर्यस्य स नीतिमान् तया प्रियया सुलोचनयेहितो वाञ्छितोऽतस्तया समं सार्द्धमेवार्द्धयुक्ते समन्तरीपद्वितये द्वीपद्वये तीर्थेषु समादरणीयस्थानेषु निजां नतिं समर्जयन्नमस्कारं कुर्वन् गमं पर्यटनं कृतवान् । सिंहावलोकनो नामानुप्रासोऽलंकारः ॥३॥

**विहायसाऽसौ विहरन् महाशयः शयद्वयं संकलयँश्च साबलः ।**
**बलप्रभुश्चैत्यनिकेतनं प्रति प्रतिस्थितो मेरुगिरिं विभाविहा ॥४॥**

विहायसेत्यादि—विभाविनोऽरीन् हन्ति स विभाविहा, अबलया स्त्रिया सहितस्साबलो बलप्रभुः सेनापतिर्जयकुमारो महाशयो विहायसा गमनेन विहरन् विहारं कुर्वंश्चैत्यानामर्हद्बिम्बानां निकेतनं स्थानं प्रतिशययोर्हस्तयोर्द्वयं संकलयन् मुकुलीकुर्वन् मेरुगिरिं देवाचलं प्रति प्रतिष्ठितस्तमुद्दिश्य प्रचचाल । पूर्वोक्त एवानुप्रासोऽलंकारः ॥४॥

**परीतपीताम्बरलुप्तदेहरुक् करद्वयीप्रापितचक्रकम्बुकः ।**
**विराजते विष्णुरिवाजतेजसा गिरौ रवीन्दू द्वयतः स उद्वहन् ॥५॥**

परीतेत्यादि—स गिरिर्न जायते समुत्पद्यत इत्यज इति स्वकीयेन तेजसा द्वयत इतश्च ततश्च रविश्चेन्दुश्च तौ स उद्वहन् संधारयन् सन् परीतं परि समन्तादितं वेष्टितं यत् पीताम्बरं ततो लुप्ता संगुप्ता देहस्य रुक् कान्तिर्यस्य स तथा च करद्वय्या प्रापितौ चक्र-

---

समीचीन जघनस्थली-नितम्बादि प्रदेशोंमें) इच्छानुसार लीलापूर्वक रमण करते थे-सुखानुभव करते थे ॥२॥

**अर्थ**—जो सुलोचनाके द्वारा वाञ्छित थे, अर्थात् जिन्हें सुलोचना चाहती थी, जो हितके वेत्ता थे, जिन्होंने नय-नीतिको स्वीकृत किया था तथा जो तीर्थस्थानों में नमस्कार करते थे, ऐसे जयकुमारने सुलोचनाके साथ अढ़ाई द्वीपमें भ्रमण किया था ॥३॥

**अर्थ**—विभाविहा-शत्रुओंको नष्ट करने वाले, स्त्री सहित, आकाश मार्गसे विहार करने वाले, सेनापति जयकुमार महानुभाव चैत्यालयोंके प्रति दोनों हाथ जोड़ते हुए मेरुपर्वतकी ओर प्रस्थित हुए ॥४॥

**अर्थ**—जो स्वकीय स्वाभाविक तेजसे दोनों ओर सूर्य तथा चन्द्रमाको धारण कर रहा था, ऐसा वह मेरुपर्वत उन विष्णु-कृष्ण नारायणके समान सुशोभित हो रहा था, जिनके शरीरकी कान्ति धारण किये हुए पीताम्बरसे लुप्त-तिरोहित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कम्बुकौ येन स गृहीतसुदर्शनपाञ्चजन्य इति विष्णुरिव विराजते कृष्णनारायणवद् दृश्यते । उपमालंकारः ॥५॥

**पयोधराभोगसुयोगमञ्जुलां तटीं समन्ताद्धरिचन्दनाञ्चिताम् ।**
**गिरीश्वरः सेवत एव सत्तमां निजार्द्धदेहानुमितां तु पार्वतीम् ॥६॥**

**पयोधरेत्यादि**—अयं गिरीश्वरः पर्वतमुख्यो महादेवश्च यतः पयोधराणां मेघानां पक्षे पयोधरयोः स्तनयोराभोगस्य सद्भावस्य सुयोगेन समागमनेन मञ्जुलां समन्ताद्धरिचन्दनेनाञ्चितां तन्नामवृक्षेण तद्द्रवेण वा समलंकृतां निजस्यार्द्धेन देहेनानुमितामङ्गीकृतां पार्वतीं पर्वतसम्बन्धिनीं तटीं तामेव वा पार्वतीं नाम वामां सत्तमां मनोहारिणीं सेवत एवेति किलोपमा श्लेषश्च ॥६॥

**अथास्ति जम्बूपपदेऽन्तरीपके स एव सम्यक् खलु कर्णिकायते ।**
**विदेहदेवोत्तरदेशपत्रकैः पयोधिमध्ये श्रिय आसनायते ॥७॥**

**अथास्तीत्यादि**—अथापि पुनः स एव सुमेरुरस्मिन् जम्बूपदेऽन्तरीपके द्वीपे सम्यक्-कर्णिका कमलमध्यावयव इवाचरतीति कर्णिकायते । यद्वा यो द्वीपः पूर्वापरविदेहदेशदेव-कुरूत्तरकुरुदेशरूपैः पत्रकैः सुमेरुरूपकर्णिकासहितः पयोधेर्लवणसमुद्रस्य मध्ये श्रियो लक्ष्म्या आसनं कमलमिवाचरतीत्यासनायते । रूपकोऽलंकारः ॥७॥

---

हो गयी और जो दो हाथोंसे सुदर्शन चक्र तथा पाञ्चजन्य शङ्खको धारण कर रहे थे ॥५॥

**अर्थ**—**गिरीश्वर**—पर्वतोंमें मुख्य सुमेरु पर्वत (पक्षमें महादेव) **पयोधराभोग-सुयोगमञ्जुलां**—मेघोंके सद्भावरूप सुयोगसे मनोहर (पक्षमें स्तनोंके विस्तार सम्बन्धी सुयोगसे मनोहर) सब ओर **हरिचन्दनाञ्चितां**—हरिचन्दनके वृक्षोंसे सुशोभित (पक्षमें लालचन्दनके द्रवसे सुन्दर) सत्तमां—अत्यन्त श्रेष्ठ, **निजार्द्ध-देहानुमितां**—अपने अर्ध देहके द्वारा स्वीकृत (पक्षमें अर्द्धाङ्गिनी रूपसे परिणत) **पार्वतीं तटीं**—पर्वत सम्बन्धी तटी (पक्षमें पार्वती नामक स्त्री) का सेवन नियमसे करता है ॥६॥

**भावार्थ**—तटीके स्त्रीलिङ्ग होनेसे उसमें स्त्रीका श्लेष किया गया है। पार्वतीकी व्युत्पत्ति मेरुपक्षमें पर्वतस्येयं पार्वती होगी और महादेव पक्षमें पर्वत-स्यापत्यं स्त्री पार्वती होगी ॥६॥

**अर्थ**—फिर वही सुमेरु पर्वत जम्बूद्वीपमें निश्चयसे कर्णिका—मध्यम अवयवके समान आचरण करता है अथवा वह जम्बूद्वीप भी पूर्वापर विदेह तथा देवकुरु उत्तरकुरुरूप पत्रों और मेरुपर्वतरूपी कर्णिकासे सहित होकर लवण—समुद्रके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**चतुर्गुणीकृत्य जिनालयानसौ सदातनान् दिक्षु महाजनाञ्चितान् ।**
**जिनश्रियः षोडशकारणानि वै बिभर्ति भव्यानि च तानि सर्वदा ॥८॥**

चतुर्गुणीकृत्येत्यादि—असौ गिरिश्चतसृषु दिक्षु महाजनैः पूज्यपुरुषैरप्यञ्चितान् पूजितान् जिनालयान् चतुर्गुणीकृत्य सदातनान् शश्वद्वर्तमानाँस्तान् वै निश्चयेन सर्वदा तानि सिद्धान्ते प्रसिद्धानि भव्यानि मङ्गलकराणि जिनस्य तीर्थंकरस्य श्रियः शोभायाः षोडशकारणानि दर्शनविशुद्धयादीनि बिभर्ति स्वीकरोतीत्यपह्नुतिरलंकारः ॥८॥

**यदन्तिके द्वौ द्विरदौ विमुञ्चतो जलोरुधारामपि नीलनैषधौ ।**
**रवीन्दुबिम्बे द्रुयतोऽब्जदर्पणे वहन्नसौ संलभते रमाकृतिम् ॥९॥**

यदन्तिक इत्यादि—निषध एव नैषधो नीलश्च नैषधश्च नीलनैषधौ द्वौ गजदन्तसहितौ तावेव द्विरदौ हस्तिनौ जलस्योरुधारां सरिदाख्यया विमुञ्चतो यदन्तिके यस्य पार्श्वे त्यजतः । तथा द्रुयत इतस्ततो रवीन्दुबिम्बे सूर्यबिम्बं चन्द्रबिम्बं च ते अब्जदर्पणे अब्जं कमलं दर्पणमादर्शस्ते वहन् असौ सुमेरू रमाया लक्ष्म्या आकृतिं संलभते ॥९॥

**तथैव सव्येतरनीलनैषधः सटायमानोडुपरम्परः परम् ।**
**गिरिः सनीलाम्बरपीतवाससो विरञ्चिपुत्रस्य बिभर्ति सच्छविम् ॥१०॥**

तथैवेत्यादि—सव्यो वामश्च तदितरो दक्षिणश्च सव्येतरौ नीलश्च नैषधश्च तौ, सव्येतरौ नीलनैषधौ यस्य सोऽयं गिरिस्तथा सटायमाना सटा जटा इव दृश्यमानोडूनां नक्षत्राणां परम्परा यस्य सः, नीलाम्बरो बलभद्रः पीतवासाः श्रीकृष्णस्ताभ्यां सहितस्य विरञ्चिपुत्रस्य नारदस्य सच्छविं बिभर्ति स्वीकरोतीत्युपमालंकारः ॥१०॥

---

बीच लक्ष्मीके आसन—कमलके समान आचरण करता है—जान पड़ता है ॥७॥

**अर्थ**—वह मेरुपर्वत चारों दिशाओंमें पूज्य पुरुषोंसे भी पूजित सोलह शाश्वतिक जिनालयोंको क्या धारण करता है, तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धकी कारणभूत प्रसिद्ध एवं मङ्गलकारी सोलह भावनाओंको ही निश्चयसे सदा धारण करता है ॥८॥

**अर्थ**—नील और निषध पर्वतरूपी दो हाथी जिसके समीप नदियोंके बहाने जलकी मोटी धारा छोड़ रहे हैं तथा जो दोनों ओर सूर्य और चन्द्र बिम्बरूपी कमल एवं दर्पणको धारण कर रहा है, ऐसा वह सुमेरु लक्ष्मीकी आकृतिको प्राप्त हो रहा था ॥९॥

**अर्थ**—जिसके वाम और दक्षिण भागकी ओर नील तथा निषध पर्वत विद्यमान हैं एवं सटा—जटाओंके समान जिसके समीप नक्षत्रोंकी परम्परा बिखर रही है, ऐसा वह सुमेरु पर्वत नीलाम्बर—नीलवस्त्रधारी बलभद्र और पीताम्बर—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**भियेव भव्यो भवभावितच्छलात् स्वयं महोद्यानचतुष्टयच्छलात् ।**
**सुवृत्त एताः परिवर्तिताकृतीर्बिभर्ति धर्मार्थनिकामनिर्वृतीः ॥११॥**

भियेवेत्यादि—एष गिरिः सुवृत्तो वर्तुलाकृतिरतः सुचरित्रोऽत एव भव्यो दर्शनीयो भद्रश्च स भवः संसार एव भवः संहारकारको रुद्रस्तेन भावितं समुत्पादितं यच्छलं प्रपञ्चस्तस्माद्भिया भयेनेव हेतुना परिवर्तिता रूपान्तरं नीता आकृतयो यासां ता धर्मश्चार्थश्च निकामश्च निर्वृतिर्मुक्तिश्च ता एता महोद्यानानां सान्द्राणां चतुष्टयस्यच्छलाद्बिभर्तीत्युपह्नुत्यलंकारः ॥११॥

**सुकीर्तिगङ्गाजननाधिकारिणोऽथ वर्षभाधीननिजस्थितीनपि ।**
**कुलस्य कल्पानिव तान् कुलानवाप निष्पापतया कुलाग्रणीः ॥१२॥**

सुकीर्तीत्यादि—अपि कुलाग्रणीः कुलीनशिरोमणिः स जयकुमारः निष्पापतया पुनीतपरिणामेन शोभना कीर्तिर्यस्यास्सा गङ्गाथवा सुकीर्तिरेव गङ्गानदी तस्या जनने जन्मदानेऽधिकारिणोऽथ च वर्षस्य क्षेत्रस्य भा नाम स्थितिस्तस्या अधीना निजस्थितिर्येषां पक्षे तु ऋषभस्य नाभेयस्याधीना निजस्थितिर्येषां तान् कुलाचलान् नाम वर्षधरपर्वतांस्तान् कुलस्य कल्पान् विधीनिवावाप । 'दीप्तौ च स्थानमात्रे भा' इति विश्वलोचने ॥१२॥

**स्म राजते राजतपर्वतान् यजन् सुरासुराराध्यपदाननापदी ।**
**स्वनामवृत्त्यर्द्धतयातिवल्लभान् धरावधूहासविलासभासुरान् ॥१३॥**

---

पीत वस्त्रधारी श्रीकृष्णसे सहित विरञ्चिपुत्र–नारदजीकी उत्तम शोभाको धारण कर रहा था ॥१०॥

अर्थ—सुवृत्त–गोल (पक्षमें सदाचारसे युक्त) अत एव भव्य–दर्शनीय (पक्षमें रत्नत्रयका पात्र) यह पर्वत भव–संसाररूपी भव–संहारकारक रुद्रके द्वारा समुत्पादित छलसे भयभीत होनेके कारण ही मानों जिन्होंने अपना रूप परिवर्तित कर लिया है ऐसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चार पुरुषार्थोंको चार महान् उद्यानोंके छलसे धारण करता है ॥११॥

अर्थ—निष्पाप–पापरहित होनेके कारण कुलीन मनुष्योंमे शिरोमणि स्वरूप जयकुमार उन कुलाचलोंको भी प्राप्त हुए जो उत्तम कीर्तिसे युक्त गङ्गा नदीको अथवा सुकीर्ति रूप गङ्गाको जन्म देनेके अधिकारी हैं अथ च वर्ष–क्षेत्रोंकी भा–स्थितिके अधीन जिनकी स्थिति है, अर्थात् जो क्षेत्रोंका विभाग करने वाले हैं (पक्षमें भगवान् ऋषभदेवके अधीन जिनकी स्थिति है, अर्थात् इनके पूर्व जिनकी उत्पत्ति हुई है) और जो कुलकरोंके समान जान पड़ते हैं ॥१२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स्म राजत इत्यादि—अनापदी किलापत्तिविर्वाजतः स जयकुमारः स राजत-पर्वतान् रजताचलान् यजन् पूजयन् राजते स्म । कीदृशाँस्तानिति चेत् ? सुरा देवा असुरास्तदन्ये नरादयस्तैः सर्वैराराध्यं पदं स्थानं येषाँस्तान्, स्वस्य नाम्नो या वृत्तिः प्रवर्तनं तदर्द्धतया विजयार्द्धापरनामतयाऽतिवल्लभान्, धरैव वधूस्तस्या हासस्य विलासा इव विलासास्तैर्भासुरान् परमशुक्लवर्णामिति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥१३॥

**द्विदन्तदन्तान् स्म स वन्दते मुदामुदारवक्षारगिरीनुताश्रयः ।**
**श्रयन्निषूर्वीधरणान् दयापरः परत्र तीर्थेऽपि च सन्दधद्विदम् ॥१४॥**

द्विदन्तेत्यादि—स दयापरोऽहिंसाधर्मरतो जयकुमारो द्विदन्तदन्तान् गजदन्त-पर्वतान् वन्दते स्म, पुनर्मुदामाश्रयो हर्षसंयुतस्सन् उदारान् वक्षारगिरीन् श्रमन् वन्दनाश्रयान् कुर्वन् पुनरिषूर्वीधरणानिष्वाकारपर्वतानपि श्रयन् सन् परत्रापि तीर्थे विदं स्वबुद्धि सन्दधत् वन्दते स्म । एवं सार्द्धद्वयद्वीपमध्ये सर्वानपि तीर्थाननुजग्राहेति तात्पर्यार्थः । सिंहावलोकनानुप्रासः ॥१४॥

**धराधवोऽवन्दत मानुषोत्तरं जगत्प्रसिद्धाखिलमानुषोत्तरः ।**
**महीभृतं सत्कटकानुकारिणं सधर्मभावादिव वल्लभं विदन् ॥१५॥**

धराधव इत्यादि—जगत्प्रसिद्धेष्वखिलेषु मानुषेषूत्तरः श्रेष्ठः स धराया धवः स्वामी जयकुमारो मानुषोत्तरं नाम महीभृतं पर्वतं समीचीनस्य कटकस्य नाम कङ्कणस्योत सैन्यबलस्यानुकारिणमाकारधारिणं पक्षेऽनुग्रहकारिणं नायकं तावदेवंरीत्या सधर्मभावात्तुल्यत्वादिव वल्लभं विदन् जानन् तया श्रयन्निति वा पाठः सोऽवन्दत तम् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥१५॥

---

**अर्थ**—अनापदी–आपदाओंसे रहित जयकुमार उन रजताचलोंकी पूजा करते हुए सुशोभित हो रहे थे जिनके कि स्थान सुर–असुरोंके द्वारा पूजनीय हैं, जो विजयार्द्ध नामसे लोकप्रिय हैं तथा पृथिवीरूपी स्त्रीके हासके समान अत्यन्त शुक्ल वर्ण हैं ॥१३॥

**अर्थ**—हर्षके आधारभूत दयालु जयकुमारने गजदन्त पर्वतों, विशाल वक्षारगिरियों, इष्वाकार पर्वतों तथा अढ़ाई द्वीपमें विद्यमान अन्य जिन-चैत्यालयोंकी वन्दना की ॥१४॥

**अर्थ**—जगत्प्रसिद्ध समस्त मनुष्योंमें श्रेष्ठ राजा जयकुमारने उस मानुषोत्तर पर्वतको वन्दना की जो सत्कटकानुकारी–उत्तम सैन्य दलका अनुकरण करने वाला था (पक्षमें समीचीन शिखरोंको स्वीकृत करने वाला था) । जयकुमार उस पर्वतको अपनी तुल्यताके कारण मानों प्रिय जानते थे ॥१५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**विहृत्य चान्या अपि तीर्थभूमिकाः सुसंकुचद्दुष्कृतकर्मकूर्मिकाः ।**
**मनः पुनस्तस्य बभूव भूपतेर्महामतेः श्रीपुरुपर्वतार्चने ॥१६॥**

विहृत्येत्यादि—सुसंकुचन्ति अतिशयसंकोचमञ्चन्ति दुष्कृतानि यानि कर्माणि तान्येव कूर्माः कमठा यत्र ता अन्या अपि च तीर्थभूमिका विहृत्य गत्वा पुनस्तस्य महीपतेर्भूपतेर्मनः श्रीपुरुपर्वतस्य कैलासनामगिरेरर्चने समाराधने बभूव ॥१६॥

**प्रतिच्छविं हन्ति तिरो निजाङ्गजां गजाधिपोऽद्रेः प्रतिदन्तिवित्तया ।**
**तया रिरंसुः सुशिलासु संवशाद्वशाशयाभुग्नरदः स सम्प्रति ॥१७॥**

प्रतिच्छविमित्यादि—गजाधिपोऽस्याद्रेः पर्वतस्य सुशिलासु स्वच्छासु शिलासु तिरःपतितां प्रतिच्छविं स्वप्रतिबिम्बमेव प्रतिदन्तिवित्तया गजबुद्धया हन्ति, स एव पुनर्भुग्नरदस्त्रुटितदन्तो भूत्वा संवशात् स्वेच्छावशाद् वशाशयासौ वशा हस्तिनीति बुद्धयाभिलाषया वा सम्प्रति तया सह रिरंसुः किल रन्तुमिच्छुः स्यादिति । स एव सिंहावलोकनरूपोऽनुप्रासोऽलंकारः ॥१७॥

**भ्रमन्ति ये यं परितो मदोत्कटाः कटाः श्रयन्ते ननु चेतनात्मनाम् ।**
**मनांसि सेवार्थममुष्य पर्वतावतार उर्वीध्रपतेरिति भ्रमम् ॥१८॥**

भ्रमन्तीत्यादि—यं कैलाशपर्वतं परितो ये मदोत्कटा मदप्रचुरा हस्तिनो भ्रमन्ति । कीदृशास्ते ? कटाद्भुताः कटाशब्दोऽव्ययोऽद्भुतवाचकः, 'अद्भुतेऽपि कटाव्ययम्' इति विश्वलोचने । ननु सोऽयममुष्योर्वीध्रपतेर्गिरीश्वरस्य सेवार्थं पर्वतावतारः पर्वतानामवतारः समागम एवेति भ्रमं चेतनात्मनां विचारभृतां मनांसि चित्तानि श्रयन्ते गच्छन्ति । पूर्वोक्त एव शब्दालंकारो भ्रान्तिमदलंकारश्च ॥१८॥

---

**अर्थ**—जिनमें पाप कर्मरूपी कछुए अत्यन्त संकोचको प्राप्त हो जाते हैं, ऐसी अन्य तीर्थभूमियोंमें भी गमन करनेके बाद महा बुद्धिमान् राजा जयकुमारका मन कैलास पर्वतकी पूजा करनेमें तत्पर हुआ ॥१६॥

**अर्थ**—एक गजराज इस पर्वतकी स्वच्छ शिलाओं से प्रतिबिम्बित अपने प्रतिबिम्बको विरोधी हाथी जानकर उस पर प्रहार करता है । प्रहार करनेसे उसका दाँत टूट गया, पश्चात् वही गजराज उस प्रतिबिम्बको हस्तिनी समझ उसके साथ रमण करने की इच्छा करता है ॥१७॥

**अर्थ**—जिस कैलास पर्वतके चारों ओर जो मदोन्मत्त एवं आश्चर्यकारी हाथी घूमते हैं, वे इस पर्वतराजकी सेवाके लिये क्या पर्वतके अवतार ही हैं ? विचारवान् मनुष्योंके मन इस प्रकारके भ्रमको प्राप्त होते हैं ? ॥१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



निवारिता तापतया घनाघना घना वनान्ते सुरतश्रमोद्भिदः ।
भिदस्तु किं वा निशि संगतात्मनां मनागपि प्रेमवतामुताह्नि वा ॥१९॥

निवारितेत्यादि—यस्य गिरेर्वनान्ते काननप्रान्ते घना निबिडा ये घनाघना मेघास्ते निवारितो दूरीकृत आतपः सूर्यस्य प्रभावो यैस्तत्तया सुरतोश्रमोद्भिदः सुरतश्रमस्य रतिक्रीडाजन्यपरिश्रमस्योच्छेदका भवन्ति । ततः संगतात्मनां संश्लिष्टानां प्रेमवतां मिथुनानां यत्र निशि वाप्युताह्नि दिनसे वा मनागपि किं भिदस्तु भेदो भवेत्किन्तु नैव भवेदिति काकूक्तिरलंकारः ॥१९॥

समस्ति शिल्पं यदयं स्वयंभुवो भुवोऽर्द्धमर्द्धं नभसोऽपि संचयात् ।
चयाश्रयो भूरिदरीमयोऽसकौ स कौ पुनः कोऽस्य गिरेस्तु यः समः ॥ २० ॥

समस्तीत्यादि—यद्यस्मात्कारणादयं गिरिरर्द्धं भुव पृथिव्या अर्द्धं च नभसो गगनस्य संचयात्समाश्रयात् स्वयंभुवः प्रकृतेरेव शिल्पं समस्ति, यतोऽसकौ चयस्य समुच्चयस्याश्रयः सन्नपि भूरिदरीमयो नानागुहात्मकोऽप्यस्ति । कौ भूम्यां स पुनः को योऽस्य गिरः समस्तुल्योऽस्तु, नास्ति कश्चिदपि । स एवानुप्रासोऽलंकारः ॥२०॥

निजीयनानामणिमण्डलांशुभिर्दिवौकसामीशधनुःश्रियं प्रियाम् ।
समातनोति प्रभुरेष भूभृतां स्वयंसमापन्नपयोदमण्डले ॥२१॥

निजीयेत्यादि—एष भूभृतां प्रभुर्निजीयाः स्वस्मिन् संजाता ये नानामणयस्तेषां मण्डलस्यांशुभिः किरणैः स्वयमेव समापन्नानामाप्राप्तानां पयोदानां मेघानां मण्डले दिवौकसामीशस्येन्द्रस्य यद्धनुस्तस्य श्रियं शोभां कीदृशीं तां प्रियां मनोहरां समातनोति ॥२१॥

---

**अर्थ**—जिस पर्वतके वन प्रान्तमें सघन मेघ सूर्यके प्रभावको दूर करनेके कारण रतिक्रीडा सम्बन्धी श्रमको नष्ट करते रहते हैं, अतः परस्पर मिलित प्रेमी जनोंके लिये रात और दिनमें क्या थोड़ा भी भेद है ? अर्थात् नहीं है ?

**भावार्थ**—सघन मेघोंके विद्यमान रहनेसे जहाँ दिनकी गर्मी प्रेमी मनुष्योंके उपभोगमें बाधक नहीं है ॥१९॥

**अर्थ**—यतश्च यह पर्वत अर्धभाग पृथिवीका और अर्धभाग आकाशका लेकर निर्मित है, अतः स्वयंभू-प्रकृतिकी कलारूप है । संचयका आश्रय लेनेके कारण यह बहुत भारी गुहाओंसे तन्मय है । पृथिवी पर वह कौन पर्वत है, जो इस पर्वतके समान हो सके ? अर्थात् कोई नहीं है ॥२०॥

**अर्थ**—यह पर्वतोंका प्रभु-कैलाश पर्वत अपने विविध मणिसमूहकी किरणों-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


क्वचिन्महानीलमणिप्रभाभरे जलाकुलाम्भोदसमूहशङ्कया ।
अकाण्ड एवाथ शिखण्डिमण्डलस्तनोति नृत्यं मृदुमोदमेदुरः ॥२२॥

क्वचिदित्यादि—अकाण्ड एवावसराभावेऽपि मोदमेदुरः पुलकितः । शेषं स्पष्टम् ॥२२॥

स्फुरन्ति नित्यं सुमणीमरीचयोऽमरीचयोऽपत्रपतां श्रयत्यतः ।
निजप्रसङ्गेऽपि निजासुपर्वणां सुपर्वणां यस्य गुहासु निष्ठितः ॥२३॥

स्फुरन्तीत्यादि—यत्र नित्यं सुमणीनां रत्नानां मरीचयः किरणाः स्फुरन्ति, अतस्तत्र यस्य गुहासु सहजमणिमयप्रकाशयुक्तासु गुहासु निष्ठितः स्थितोऽमरीणां देवीनां चयः समूहो निजासुपर्वणां निजेभ्योऽसुभ्यः प्राणेभ्यः पर्व महोत्सवो यैस्तेषां सुपर्वणां देवानां निजप्रसङ्गे समुचितसंसर्गेऽपि किलापत्रपतां लज्जालुभावं श्रयन्ति । यमकालंकारः ॥२३॥

इतस्ततः सच्चमरीचयच्छलात् सुचारुनीहारविहारभासुरम् ।
परिभ्रमन्मूर्तिमदुत्तमं यशो बिभर्ति नित्यं धरणीधरेश्वरः ॥२४॥

इतस्तत इत्यादि—इतस्ततः सतीनां चमरीणां वनगवां चयस्य संग्रहस्य च्छलात् नीहारस्य तुषारस्य विहारः प्रसरणं तदिव भासुरं रमणीयं सुचारु मनोहरं परिभ्रमत् सर्वतो गच्छत् सन्मूर्तिमदुत्तमं निर्दोषं यशो नित्यं बिभर्ति धरणीधरेश्वरोऽयमिति । अपह्नुत्यलंकारः ॥२४॥

---

के द्वारा स्वयं समागत मेघमण्डलमें इन्द्रधनुष की मनोहर शोभाको विस्तृत करता रहता है ॥२१॥

**अर्थ**—कहीं महानील मणियोंकी प्रभाके समूहमें सजल मेघसमूहकी शङ्कासे मयूरोंका समूह आनन्दसे पुलकित होता हुआ असमयमें ही कोमल नृत्य करता है ॥२२॥

**अर्थ**—जिस कैलास पर्वतकी गुफाओंमें निरन्तर उत्तम रत्नोंकी किरणें देदीप्यमान रहती हैं, अतः उनमें स्थित देवियोंका समूह स्वकीय प्राणोंसे प्रिय देवोंके स्वसमागममें भी लज्जाका अनुभव करता है ॥२३॥

**अर्थ**—जो श्रेष्ठ पर्वत इधर-उधर विद्यमान सुरा गायोंके छलसे सुन्दर बर्फके प्रसारके समान शोभासे युक्त चलते-फिरते मूर्तिमान् यशको निरन्तर धारण करता है ॥२४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**सुनिर्मलेऽमुष्य तटे क्वचित् क्वचिन्निपत्य गुञ्जा भृशमुत्पतन्ति याः ।**
**विभान्ति भव्यस्य किलान्तरात्मनि समुद्गता रागरुषोरिवांशकाः ।।२५।।**

सुनिर्मल इत्यादि—अमुष्य धरणीधरस्य सुनिर्मले तटे क्वचिद् क्वचिद् या गुञ्जा निपत्योत्पतन्ति भृशं मुहुर्मुहुस्ताः पुनर्भव्यस्य भगवद्भक्तस्यान्तरात्मनि चित्ते समुद्गता उच्चलिता रागश्च रुट् च तयो रागरुषोः प्रणयविद्वेषयोरंशका इव विभान्ति किलेत्युपमालंकारः ।।२५।।

**परिस्फुरच्छ्यामलताभिरन्वितः सुवर्णवर्णोऽपि च पाटलाञ्चितः ।**
**सुलोहितः सद्धवलोऽपि पर्वतः परिस्थितिर्मेचकितास्य सर्वतः ।।२६।।**

परिस्फुरदित्यादि—एष पर्वतः परिस्फुरन्त्यो याः श्यामा हरिद्वर्णा लता वल्लर्यस्ताभिरथ च परिस्फुरन्तीभिः श्यामलताभिः कृष्णलताभिरञ्चितो युक्तस्तथा सुवर्णस्यागुरुवृक्षस्य वर्णः शोभा यस्याथवा सुवर्णस्य हेम्नो वर्ण इव वर्णो यस्य सोऽपि च पाटलया नामौषध्याऽथवा पाटलेन श्वेतमिश्रितरक्तवर्णेनाञ्चितोऽनुभावितः सुन्दरो लोहितवृक्षो यत्राथवा रक्तवर्णः सद्धवलः समीचीनधववृक्षयुक्तस्तथा श्वेत इत्येवमस्य पर्वतस्य परिस्थितिरवस्था सा मेचकिता बहुवर्णा सर्वतः । 'सुवर्णस्तु सुवर्णालौ कृष्णागुरुमखान्तरे' इति विश्वलोचने ।।२६।।

---

**अर्थ**—इस पर्वतके अत्यन्त निर्मल तटपर कहीं-कहीं जो गुमचियाँ बार-बार उछलती हैं, वे भव्यजीवकी अन्तरात्मासे उछटे हुए रागद्वेषके अंशोंके समान सुशोभित होती हैं।

**भावार्थ**—गुमची लाल रङ्गकी होती है और उसका मुख काला होता है। यहाँ कविने उसके लाल भागमें रागका और कृष्ण मुखमें द्वेषका आरोप किया है। निर्मल तटमें भव्य जनके अन्तरात्माका आरोप हुआ है ।।२५।।

**अर्थ**—यह पर्वत कहीं **श्याम-लता**—हरी हरी दूर्वाकी लताओंसे अथवा **श्यामलता**—कृष्णतासे सहित है, कहीं **सुवर्णवर्ण**—अगुरु वृक्षकी शोभासे सहित है अथवा **सुवर्णके** समान पीला है, कहीं **पाटल** नामक औषधिसे सहित है अथवा गुलाबी वर्णका है, कहीं **सुलोहित**—सुन्दर लोहित वृक्षोंसे सहित है अथवा कहीं **लालरङ्ग का** है और कहीं **धव-ल**—धवनामक वृक्षोंको ग्रहण करनेवाला है अथवा **धवल**—सफेद रङ्गका है, इस प्रकार इस पर्वतकी अवस्था मेचकित—अनेक रङ्गों वाली है ।।२६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

**दिनात्यये प्रावृषि वारि वर्षति सति स्वसानावनुपातिभव्रजम् ।**
**व्रजन्ति विद्याधरकन्यकाः पुनः पुनश्च यस्मिन् करकेति नन्दिना ॥२७॥**

दिनात्यय इत्यादि—यस्मिन् पर्वते प्रावृषि वर्षतौ दिवात्यये समये सायंकाले वारिवर्षति सति स्वसानौ निजाङ्किते शृङ्गेऽनुपातिनां भानां नक्षत्राणां व्रजं समूहं करकेति नन्दिनाऽमी घनोपला एवेति किलानन्देन तं लातुं व्रजन्ति विद्याधरकन्यकाः 'नन्दिः शिवप्रतीहारे द्यूतभाण्डभिदोर्मुदि' इति विश्वलोचनेसंदेहालंकारः ॥२७॥

**रुषाङ्कितह्लादिनिकोऽपि सोऽप्यसौ शिरस्स्वमुष्यामृतपूरमर्पयन् ।**
**पुनः सदभ्रोत्तमतूलकल्पनो बिभर्ति कारुण्यकमेव देवराट् ॥२८॥**

रुषेत्यादि—देवराट् शक्रोऽर्थान्मेघः स प्रथमं तु रुषा रोषेणामुष्य गिरेः शिरःसु अङ्किता ह्लादिनिका विद्युदेवाशनिर्येन सोऽपि पुनरनन्तरमथामृतस्य जलस्यौषधेर्वा पूरमर्पयन् सन् सदभ्रमेव तूलः पिचुस्तस्य कल्पना निर्माणं यस्य स सम्भवन् कारुण्यकं करुणाभावं बिभर्ति ॥२८॥

**स्मरद्विडद्रिः खलु जेतुमुत्तटस्तटान्तसंलग्नबलाहकावलिः ।**
**बलिद्विषः पत्तनमात्तपक्षतिः क्षतिं निजां तेन कृतामनुस्मरन् ॥२९॥**

स्मरद्विडद्रिरित्यादि—अयं स्मरद्विडद्रिः कैलासगिरिः स तटान्ते स्वप्रान्ते संलग्ना बलाहकानां निर्जलमेघानामावलिः पङ्क्तिर्यस्य सः, उन्नत उच्चैर्गतस्तटो यस्य स उत्तटः

---

**अर्थ**—जिस पर्वत पर वर्षा ऋतुमें सायंकालके समय पानी बरसने पर अपने द्वारा अधिष्ठित शिखर पर क्रमसे उदित होनेवाले नक्षत्रोंके समूहको ओले समझ कर विद्याधर कन्याएँ हर्षपूर्वक बार-बार लेनेके लिये जाती हैं ॥२७॥

**अर्थ**—मेघ प्रथम तो इस पर्वतके शिखरों पर बिजली रूपी वज्र गिराता है फिर अमृत-जल अथवा औषध अर्पित करता है और उसके बाद सफेद मेघ रूप रुईकी पल्ली उड़ाता है। इस तरह वह करुणा भावको धारण करता हुआ सा जान पड़ता है।

**भावार्थ**—वर्षा होनेके पहले बिजली कोंदती है फिर जलवृष्टि होती है पश्चात् जलरहित सफेद सफेद मेघ शिखरों पर छा जाते हैं। इसी प्राकृतिक दृश्यका यहाँ आलंकारिक भाषामें वर्णन है ॥२८॥

**अर्थ**—जिसके तटके समीप मेघमाला लग रही है, ऐसा ऊँचे तटोंका धारक यह कैलास पर्वत ऐसा जान पड़ता है कि इन्द्रके द्वारा की हुई पक्षाघात रूपी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स बलिद्विषः शक्रस्य पत्तनं स्वर्गं तेन कृतां निजां क्षतिं हानिं तामनुस्मरन् खलु तज्जेतुमात्तपक्षतिः समुपलब्धपिच्छोऽस्ति तावदित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥२९॥

**सुरापगापूरमदूरवर्ति यत् समन्ततः कुण्डलवत् प्रमण्डनम् ।**
**गिरिं निरीक्ष्यापि सुधाकरोपमं रसोदयाकाङ्क्षि मनो मनस्विनाम् ।३०।**

सुरापगेत्यादि—यस्य समन्ततः सर्वतोऽदूरवर्ति सन्निकृष्टमेव कुण्डलवत् कर्णभूषणवत् चन्द्रस्य परिवेषवद्वा प्रमण्डनं यस्य तत् सुरापगाया गङ्गायाः पूरमस्ति, तं गिरिं सुधाकरोपमं चन्द्रतुल्यं निरीक्ष्यापि पुनर्मनस्विनां विचारवतां मनो रसोदयं शृङ्गारपरिणाममाकाङ्क्षति तद्रसोदयाकाङ्क्षि भवति ॥३०॥

**तमप्यधिष्ठानमहीधरं पुरोः पुरोगतं योऽथ यशोऽङ्कमस्पृशत् ।**
**स्पृशत्सुरावासममन्दभन्ददं ददर्श पद्मापतिरुत्तमोत्तमम् ॥३१॥**

तमपीत्यादि—अथ यो गिरिर्यशोऽङ्कं यशसोऽङ्कं लक्षणं स्वच्छत्वमस्पृशत् स्वीचकार तमपि पुरोः श्रीनाभेयस्याधिष्ठानमहीधरं परिनिर्वाणस्थलं स्पृशति समालिङ्गति उच्चैस्त्वात्सुराणामावासं स्वर्गं यस्तं तथाऽमन्दं भन्दं सुखं ददातीति तं किलोत्तमेष्वप्युत्तमं ददर्श दृष्टवान् पद्मापतिः स जयकुमारः पुरोगतं सम्मुखमायातम् ॥३१॥

---

अपनी हानिका स्मरण करता हुआ उसके नगर—स्वर्गको जीतनेके लिये मानों पङ्ख ही धारण कर रहा है।

**भावार्थ**—लोकमें प्रसिद्ध है कि इन्द्रने पर्वतोंके पङ्ख काट दिये थे। उसका बदला लेनेके लिये ही मानों कैलास पर्वत मेघरूपी पङ्ख लगाकर वलारि—इन्द्रकी पुरो—स्वर्गको जीतनेके लिये तैयार हो रहा हो ॥२९॥

**अर्थ**—जिसके चारों ओर निकटवर्ती तथा कुण्डल—कर्णभूषण अथवा चन्द्रपरिवेषके समान आभूषण रूप गङ्गाका प्रवाह है, चन्द्रतुल्य उस कैलास पर्वतको देखकर भी विचारवान् मनुष्कोंका मन रसोदय—शृङ्गार रसरूप परिणामकी आकांक्षा करता है।

**भावार्थ**—जिस प्रकार परिवेषयुक्त चन्द्रमण्डलको देख कर रागी मनुष्योंका मन शृङ्गार भावको प्राप्त होता है, उसी प्रकार गङ्गाप्रवाहसे वेष्टित श्वेतवर्ण कैलास पर्वतको देखकर भी विचारवान् मनुष्योंका मन शृङ्गार भावकी इच्छा करने लगता है ॥३०॥

**अर्थ**—जो यशके लक्षण स्वरूप—स्वच्छताको स्वीकृत कर रहा है, भगवान् वृषभदेवका निर्वाण स्थान है, अत्यन्त ऊँचाईके कारण मानों स्वर्गका स्पर्श कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**निभाल्य शीतांशुमिवेममुज्ज्वलं बलप्रभोराविरभूद् गिरा तदा।**
**तदाननात् संव्रजतोऽधिकां मुदमुदन्वतः श्रीमत ऊर्मिसन्निभा ॥३२॥**

निभाल्येत्यादि—इमं गिरिं शीतांशुं चन्द्रमसमिवोज्ज्वलं निर्मलं निभाल्य दृष्ट्वा तदा काले बलप्रभोर्जयकुमारस्याधिकां मुदं प्रसन्नतां संव्रजतोऽनुभवतस्तस्मात् प्रसिद्धाद्दाननात्तदाननात् श्रीमत उदन्वतः समुद्रादूर्मि सन्निभातरङ्गतुल्या गिरा वाणी किलाविरभूदुद्गात् । उपमालंकारोऽनुप्रासश्च ॥३२॥

**बिभर्ति रीतिं महतीं मृगेक्षणे क्षणे नियुक्तो बहुलोहगोचरः।**
**चरन्नितोऽष्टापदसम्पदं धरो धरोदये राजतभालसंविभः ॥३३॥**

विभर्तीत्यादि—हे मृगेक्षणे हरिणाक्षि ! गिरिरयं क्षणे नियुक्त उत्सवस्य विषयो यतोऽसौ महतीं रीतिं प्रवृत्तिं पित्तलधातुं वा बिभर्ति तथा बहुलस्योहस्य वितर्कस्य गोचरोऽथवा बहुलोहस्यानल्पस्यायसो गोचरो विषयोऽसौ धरः पर्वत इतश्चाष्टापद इति सम्पदं समीचीनं नामाथवाऽष्टापदस्य स्वर्णस्य सम्पदं विभूतिं चरन्ननुभवन् धरोदये राजतभालसंविभो रजतस्येदं राजतं भालं तेजोऽथवा राजतं स्वच्छं भालं ललाटं तस्य संविभा शोभा यस्य स समस्ति ॥३३॥

**असौ हिमारातिविवस्वतो गतिं हिमालयो वारयितुं समुद्धरन्।**
**उपर्युपर्यम्बुमुचो दृषद्रुचः समुन्नतोऽभ्युन्नमतीति सुन्दरि ॥३४॥**

असावित्यादि—हे सुन्दरि ! असौ हिमालयो हिमस्यालयः स्थानमस्येति

---

रहा है, बहुत भारी सुखको देने वाला है और उत्तमोंमें भी उत्तम है, ऐसे सामने आये हुए कैलास पर्वतके जयकुमारने दर्शन किये ॥३१॥

**अर्थ**—चन्द्रमाके समान उज्ज्वल इस पर्वतको देखकर अत्यधिक प्रसन्नताको प्राप्त हुए जयकुमारके प्रसिद्ध मुखसे उस प्रकार वाणी प्रकट हुई, जिस प्रकार कि श्रीमान्–शोभासम्पन्न समुद्रसे लहरें उत्पन्न होती हैं ॥३२॥

**अर्थ**—हे मृगनयने प्रिये ! उत्सवमें नियुक्त उत्सव–आनन्दको करने वाला यह पर्वत महती रीति–बहुत भारी प्रवृत्तिको धारण करता है ( पक्षमें पीतलको धारण करता है ), बहुलोहगोचर–नाना प्रकारके वितर्कोंका विषय है ( पक्षमें बहुत भारी लोहका विषय है ), इस ओर अष्टापदसम्पदं–अष्टापद इस द्वितीय नामको (पक्षमें स्वर्णरूप सम्पदाको) प्राप्त हुआ पृथिवीके अभ्युदयमें राजतमालसंविभः–चाँदीके तेजके समान ( पक्षमें स्वच्छ ललाटके समान ) है ॥३३॥

**अर्थ**—हे सुन्दरि ! बर्फका घरस्वरूप यह पर्वत बर्फके शत्रु सूर्यकी गतिको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


निरुक्तितो हिमारातेर्हिमनाशकस्य विवस्वतः सूर्यस्य गतिं वारयितुमुन्नतः सन्नपि दृषदां पाषाणानां रुच इव रुचो येषां तानम्बुमुचो मेघानुपर्युपरि समुद्धरन् सन्नभ्युन्नमति मुहुरप्युन्नतो भवति । उत्प्रेक्षालंकारः ॥३४॥

**परिस्फुरच्छ्रीमणिमेखलाञ्चिता बिभर्ति या सम्प्रति सालकाननम् ।**
**असौ महाभोगनियोगिनी गिरेस्तटी तुलां ते प्रकटीकरोति भोः ॥३५॥**

परिस्फुरदित्यादि—भोः सुन्दरि ! असौ महत आभोगस्य परिपूर्णत्वस्य विस्तारस्य पक्षे महतो भोगस्य रतिसुखस्य नियोगोऽभिसम्बन्धो यस्याः सा, तथा परिस्फुरन्ति प्रभवन्ति श्रीयुक्ता मणयो यस्यां तया मेखलया समुत्तुङ्गनितम्बमालया काञ्च्या चाञ्चिता युक्ता 'काञ्च्यां शैलनितम्बे च, खड्गबन्धे च मेखला' इति विश्वलोचने । या सम्प्रति सालानां नाम वृक्षाणां काननं वनं पक्षेऽलकैः केशैः सहितमाननं मुखं बिभर्ति सेयं तटी ते तुलां समानतां प्रकटीकरोति त्वत्तुल्या प्रतिभासते । उपमालंकारः श्लेषेण ॥३५॥

**हिमच्छलात्प्रापितमूर्तिना प्रिये ! निषेव्यतेऽसौ यशसा हि नित्यशः ।**
**महत्त्वमासाद्य महीभृतां चये विराजतेऽन्तः सुतरामधीश्वरः ॥३६॥**

हिमच्छलादित्यादि—हे प्रिये ! असौ गिरिः हिमच्छलात् तुषारव्याजात् प्रापिता

---

रोकनेके लिये ही मानों पाषाणके समान कान्तिवाले मेघोंके ऊपर-ऊपर समुन्नत होता हुआ ऊँचा हो रहा है ।

**भावार्थ**—कैलास पर्वत बर्फका स्थान है, अतः बर्फका नाशक सूर्य यहाँ पर न आ पावे इस भावनासे ही मानों यह पर्वत उठते हुए मेघोंके कारण दिन प्रति दिन ऊँचाई पकड़ रहा है ॥३४॥

**अर्थ**—भो सुन्दरि ! पर्वतकी यह तटी तुम्हारी समानताको प्रकट कर रही है, क्योंकि जिस प्रकार पर्वतकी तटी **परिस्फुरच्छ्रीमणिमेखलाञ्चिता**—देदीप्यमान सुशोभित मणियोंसे युक्त मेखला—नितम्ब मध्यभागसे सहित है, उसी प्रकार तुम भी **परिस्फुरच्छ्रीमणिमेखलाञ्चिता**—देदीप्यमान मणिमयी मेखला—करधनीसे सुशोभित हो । जिस प्रकार पर्वतकी तटी **महाभोगनियोगिनी**—बहुत भारी विस्तारके सम्बन्धसे सहित है उसी प्रकार तुम भी **महाभोगनियोगिनी**—बहुत भारी रतिसुखके सम्बन्धसे सहित हो और जिस प्रकार पर्वतकी तटी इस समय **सालकानन**-वृक्षोंके वनको धारण करती है उसी प्रकार तुम भी **सालकानन**—अलक—केशोंसे सहित आनन—मुखको धारण कर रही हो ॥३५॥

**अर्थ**—यह पर्वत तुषारके छलसे मूर्तिमान् अवस्थाको प्राप्त यशके द्वारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूर्तिः शरीरं यस्य येन वा यशसा कीर्त्या नित्यशो निरन्तरं निषेव्यते, अतोऽसौ महीभृतां पर्वतानां चये समूहे अन्तर्मध्ये महत्त्वं प्रभुत्वमासाद्य प्राप्य अधीश्वरो गिरिराजः सन् सुतरां विराजतेऽत्यन्तं शोभते ॥३६॥

**अपामपायाद्धवला बलाहकावलिः सुखात्संवृतिका विलोक्यते ।**
**सुरैरमुष्मिन् विवृतेऽपि पर्वते स्वयं सयोषैः सुरताभिसन्धिभिः ॥३७॥**

अपामित्यादि—अस्मिन् विवृतेऽपि निराच्छादनेऽपि पर्वते स्वयं योषाभिर्निजनियोगिनीभिः सहितैः सयोषैः सुरताभिसन्धिभिः संगमाभिलाषिभिः सुरैरपां जलानामपायादभावाद्धवला श्वेतवर्णा या बलाहकानां मेघानामावलिः पङ्क्तिरवशिष्यते । सा सुखादनायासात् संवृतिका यवनिका विलोक्यतेऽनुभूयते ॥३७॥

**मणीनिहान्तः सहसा निगोपयन् शिलातलानि प्रकृतानि दर्शयन् ।**
**दरीभृदभ्यागतनुःपुरस्सरं सुकेशि ! कूटस्थतया विराजते ॥३८॥**

मणीनित्यादि—हे सुकेशि ! असौ दरीभृत् पर्वतोऽभ्यागतस्य नुर्नरस्य पुरस्सारं संमुखे सहसा स्वभावेनैव मणीन् हीरकादीनिहान्तश्छन्नान् निगोपयन् सन् शिलातलानि तान्येव प्रकृतानि दर्शयन् पुनरेष कूटैः शिखरैरेवं च मायाचारैः सह तिष्ठतीति कूटस्थस्तत्तया विराजते नित्यमवलोक्यते ॥३८॥

**झरैरविच्छिन्ननिपातशालिभिर्महीभृतामीशतयाऽयमिष्यते ।**
**परिस्फुरद्भिर्विशदैर्ध्वजांशुकैरिवातिमात्रोन्नतिमन्नितम्बिनि ! ॥३९॥**

झरैरित्यादि—हे अतिमात्रोन्नतिमन्नितम्बिनि ! परिस्फुरद्भिः प्रकाशमानैर्विशदैः

---

निरन्तर सेवित रहता है, अतः पर्वतोंके समूहके बीच महत्त्व प्राप्त कर अधिपातके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा है ॥३६॥

**अर्थ**—पर्वत यद्यपि विवृत है–खुला है आच्छादनसे रहित है, फिर भी यहाँ जलके अभावसे जो श्वेतवर्ण मेघोंकी पंक्ति दिखायी देती है वही स्त्री सहित संभोगके इच्छुक देवोंके द्वारा स्वयं संवृत्तिका–परदा मान ली जाती है–उसे वे परदा रूप से देखते हैं ॥३७॥

**अर्थ**—हे सुकेशि ! यह पर्वत यहाँ हीरा आदि मणियोंको तो स्वभावसे भीतर छिपा कर रखता है और बाह्य शिलातलों–प्रस्तरखण्डोंको दिखताला है, अतः अभ्यागत मनुष्यके संमुख कूटस्थता–मायाचारका व्यवहार करता है (पक्षमें कूटों–शिखरोंसे नित्य ही अवस्थित रहता है ॥३८॥

**अर्थ**—हे अत्यन्त विशाल नितम्बोंसे सुशोभित प्रिये ! जो सब ओर फह-


Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स्वच्छैर्ध्वजांशुकैः केतनचीवरैरिवाविच्छिन्नं निरन्तरं निपातशालिभिः संपतद्भिर्झरै-र्नीरस्रोतोभिरयं महीभृतां पर्वतानामुत राज्ञामीशतयेष्यते किलेत्युपमा ॥३९॥

**समाप शस्त्रेण सता शतक्रतोरयं च मुग्धे महतीं क्षतिं पुरा ।**
**व्रणानि नानोपहतानि जन्तुभिर्विभान्ति भो गह्वरनामतोऽधुना ॥४०॥**

समापेत्यादि—भो मुग्धे ! अयं च पुरा पूर्वकाले शतक्रतोरिन्द्रस्य सता शस्त्रेण वज्राख्येन महतीं क्षतिं समापेति श्रूयते । तत एवास्य व्रणानि यानि जातानि तानि नाना-जन्तुभिरुपहतानि व्याप्तानि अधुना गह्वरनामतो विभान्ति । अपह्नुतिः ॥४०॥

**पविच्छविं देवपतौ प्रदर्शयत्ययं पुनः स्विन्नतनुर्भयाढ्यताम् ।**
**सगैरिकाम्भोभरदम्भतो गुहामुखाद्विनिर्यद्रसनो व्यनक्ति भोः ॥४१॥**

पविच्छविमित्यादि—देवपताविन्द्रेऽर्थान्मेघे पविच्छविं वज्रस्याकारमर्थाद्विद्युद्दलं प्रदर्शयति सति पुनरयं गिरिः स्विन्ना प्रस्वेदैर्व्याप्ता तनुर्यस्य स स्विन्नतनुरर्थात् सजलो भवन् गैरिकया रक्तमृत्तिकया सहितः सगैरिकश्चासावम्भोभरश्च तस्य दम्भतो मिषाद् गुहा कन्दरैव मुखं तस्माद् विनिर्यद्रसनो निर्गलज्जिह्वः सन् भयाढ्यतां भीततां व्यनक्ति प्रकटयति भो प्रिये ! 'देवो राज्ञि सुरे मेघे' इति विश्वलोचने । अपह्नुतिरलंकार ॥४१॥

**सुकेशि ! उन्मुद्रय मुद्रणां गिरां सुधाकरात् वद्वदनात्दनाविलाम् ।**
**इहेक्षुदीक्षागुरुगौरवास्पदां नियच्छ पिच्छां मम तृप्तिकारणम् ॥४२॥**

---

राती हुई ध्वजाओंके वस्त्रोंके समान जान पड़ते हैं, ऐसे अखण्ड प्रपातसे शोभायमान निर्झरोंसे यह पर्वत महीभृतों—पर्वतों अथवा राजाओंका ईश—स्वामी माना जाता है ॥३९॥

अर्थ—हे सुन्दरि ! इस पर्वतने पूर्वकालमें इन्द्रके शक्तिशाली शस्त्रसे बहुत भारी क्षति प्राप्तकी थी । उस समय जो घाव हो गये थे वे ही इस समय नाना जन्तुओंसे युक्त गुफाओंके रूपमें विद्यमान हैं ।

भावार्थ—ये गुफाएँ नहीं है, किन्तु घाव हैं और पुराने होनेके कारण उनमें कीड़े पड़ गये हैं ॥४०॥

अर्थ—देवपति-इन्द्र अर्थात् मेघ ज्योंही पवि-वज्र (बिजली) दिखाता है त्योंही सजल प्रदेश होनेके कारण इसके शरीरसे पसीना छूटने लगता है और गुफाओंसे झरने वाले गेरूमिश्रित लाल जलके बहाने जीभ निकल आती है, इस प्रकार यह अपनी भयभीत दशाको प्रकट करता है ॥४१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सुकेशि ! इत्यादि—हे सुकेशि ! मुद्रणां मौनवृत्तिमुन्मुद्रय त्यज । इहास्मिन् पर्वतस्य विषये त्वद्वदनादेव सुधाकरादमृतसमुद्रादनाविलां निर्दोषां तथेक्षोः पौण्ड्रस्य या दीक्षाऽऽत्मलाभस्तस्य गुरुर्जन्मदाता तस्य गौरवस्यास्पदं स्थानं यत्र तामिक्षोरप्यधिकमधुरां गिरां पिच्छां वाचां पंक्तिं मम तृप्तेः कारणं नियच्छ संवितर 'पिच्छा पंक्तौ च पूगे च' इति विश्वलोचने ॥४२॥

**प्रसारयामास समात्तसम्भ्रमा प्रिये ह्रिये दत्तसुविश्रमा क्रमात् ।**
**सती सतीर्थां मधुनोऽथ भारतीं रतीतिहेतुं श्रियमेव बिभ्रती ॥४३॥**

प्रसारयामासेत्यादि—रतेः कामदेवाङ्गनाया अपीतिहेतुं तिरस्कर्त्रीं श्रियं सुन्दरतां बिभ्रती स्वीकुर्वती सती सुलोचना प्रिये जयकुमारे समात्तः संधृतः सम्भ्रम आदरो यया सा, ह्रियै लज्जायै दत्तः सुविश्रमो विरामो यया सा सुलोचना नाम सती सा क्रमान्मधुनः सतीर्थां तत्तुल्यमधुरां भारतीं प्रसारयामास ॥४३॥

**गिरीश्वरः सोमसमृद्धभालभृत्त्वमसि सेयं गिरिजापि जायते ।**
**शिलोच्चयोपात्तकठोरतान्वयापि भाग्यतोऽहो मम गीस्तव प्रिया ॥४४॥**

गिरीश्वर इत्यादि—सोमश्चन्द्र इव समृद्धः कान्तिसम्पन्नो यो भालो ललाटस्तं बिभर्तीति तथा पक्षे सोमेन समृद्धं चन्द्रेण संपन्नं भालं ललाटं बिभर्तीति तथा, एवंभूतस्त्वं स्वयं गिरां वाचामीश्वरोऽधिपः प्रशस्तवाणीश्वरोऽसि पक्षे गिरीश्वरः शिवोऽथ च गिरीणामीश्वरः कैलासः । इयं सा तव वाणी गिरिजा गिरिमाश्रित्य जातेति पक्षे पार्वतीरूपास्ति । मम सुलोचनायास्तु गीर्वाणी शिलानां प्रस्तराणामुच्चयः समूहस्तस्मादुपात्तो

---

**अर्थ**—हे सुकेशि ! मौनमुद्रा छोड़ो और अपने मुखरूपी अमृतके समुद्रसे निकलनेके कारण निर्दोष तथा इक्षुसे भी अधिक मधुर एवं मेरी तृप्तिके कारणभूत वचनोंकी पंक्ति प्रदान करो ॥४२॥

**अर्थ**—जो प्रिय—जयकुमारमें आदर भावको धारण कर रही है, जिसने लज्जाके लिये विराम दे दिया है तथा जो रतिका भी तिरस्कार करने वाली शोभाको धारण कर रही है, ऐसी सती सुलोचनाने क्रमशः मधुतुल्य वाणीको प्रसारित किया ॥४३॥

**अर्थ**—**सोमसमृद्धभालभृत्**—चन्द्रमाके समान समृद्ध ललाटको धारण करने वाले **गिरीश्वर**—वचनोंके स्वामी हैं (पक्षमें चन्द्रमासे समृद्ध-संपन्न ललाटको धारण करने वाले) आप **गिरीश्वर**—**गिरीश**—शंकर रूप हैं और गिरिजा—पर्वतके आश्रयसे उत्पन्न हुई आपकी यह वाणी **गिरिजा**—पार्वतीरूप है। मेरी वाणी यद्यपि शिलोच्चयोपात्तकठोरतान्वया—पाषाण खण्डोंके समूहसे कठोरताके सम्बन्धको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



गृहीतः कठोरताया अन्वयो यया तथाभूतापि सती भाग्यतो मत्सुकृतोदयात् तव प्रिया प्रीतिकर्यस्तीत्यहो आश्चर्यम् ॥४४॥

**किमु प्रजादुष्कृतभस्मसंचयः किमादिसूनोः सुकृतोच्चयोदयः ।**
**भवद्यशःस्तोमसमन्वयो ह्ययं घनायितः किन्नु विधोः सुधोदयः ॥४५॥**

किमु इत्यादि—हे स्वामिन् ! प्रजाया दुष्कृतस्य पापाचारस्य भस्मसंचय एवायं किमु, तथादिसूनोर्भरतमहाराजस्य सुकृतस्य पुण्यकर्मण उच्चयोदय एव किमु, तथा भवतां श्रीमतां यशसः स्तोमः समूहस्तेन सार्द्धं समन्वयः समभावो यस्य सोऽयं, तथा घनायितो निबिडभावायितो विधोश्चन्द्रस्य सुधाया उदय एव किन्नु । इति सतर्कोऽलंकारः ॥४५॥

**अनर्गलौद्धत्यवतेऽयि वल्लभ ! स्वतः कुजातीन् शतशः पलाशिनः ।**
**स्वपल्लवैः सत्पथसंविरोधिनोऽधिकुर्वतेऽस्मै भवतो न किं भयम् ॥४६॥**

अनर्गलौद्धत्यवत इत्यादि—अयि वल्लभ ! प्रियवर ! अनर्गलमव्यवच्छेदमौद्धत्यमुच्छृङ्खलत्वं यस्य तस्मै तथा शतशः पलाशिनः पत्रवतश्च मांसभक्षकांस्तथा स्वपल्लवैः स्वैः पत्रैः पादक्षेपैश्च सत्पथस्याकाशस्य सन्मार्गस्य संविरोधिनोऽवरोधकान् कुजातीन् कोः पृथिव्या जातिरुत्पत्तिर्येषां तान् वृक्षान् कुजातीन् नीचकुलान् वाऽधिकुर्वते विदधतेऽस्मै किं भवतस्त्वत्तो भयं नास्ति ? ॥४६॥

---

ग्रहण करने वाली है-अत्यन्त कर्कश है, फिर भी मेरे भाग्यसे वह आपको प्रिय है, यह आश्चर्यकी बात है ॥४४॥

**अर्थ**—यह क्या प्रजाके दुराचारकी भस्मका समूह है या आदिसूनु भरत चक्रवर्तीकी पुण्यराशिका उदय है या आपके यशका समूह है या निबिडता-घनीभावको प्राप्त हुआ चन्द्रमाकी सुधा-अमृतका समूह है ॥४५॥

**अर्थ**—हे प्रियवर ! जो रोक-टोक रहित स्वच्छन्दतासे सहित हैं, स्वयं सैकड़ों बार पलाशिनः-मांस खानेवाले एवं स्वपल्लवैः-अपने पादविक्षेपोंसे सत्पथ-समीचीन मार्गका विरोध करने वाले कुजातियों-नीचकुली लोगोंको धारण करता है, ऐसे इस पर्वतको आपसे क्या डर नहीं लगता ?

**अर्थान्तर**—जो विच्छेदरहित औद्धत्य-ऊँचाईसे सहित है तथा **पलाशिनः**-पत्रोंसे सहित एवं अपनी नई-नई कपोलोंसे **सत्पथ**-आकाशको रोकने वाले सैकड़ों **कुजातियों**-पृथिवीके उत्पन्न होने वाले वृक्षोंको धारण करता है, ऐसे इस पर्वतके लिये आपसे क्या भय है ? अर्थात् नहीं है ॥४६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**अधस्तनारम्भनिरुद्धभूतलः प्रयाति कूटैः पुरुहूतपत्तनम् ।**
**कुतः सरन्ध्रोऽवनिभृत्सु मानितोऽथवा पुरोः पादसमन्वयो ह्ययम् ॥४७॥**

अधस्तनेत्यादि—अयं गिरिरधस्तनारम्भेण नीचैर्भवेन प्रसारेण निरुद्धमभिव्याप्तं भूतलं येन स तथा रन्ध्रैर्गह्वरैः सहितोऽपि किलावनिभृत्सु शैलेषु मानितोऽस्तीति कुतो यतो नीचकार्यकरः कपटधरश्च जनो नोपैति स्वर्गं दुर्गुणधरश्च भूपैर्मान्यो न भवतीति विरोधोऽथवा ह्ययं पुरोः श्रीनाभेयस्य पादयोश्चरणयोः समन्वयः सम्पर्को यस्य सोऽयमस्ति तत एवाभूतपूर्वप्रभाववानिति परिहारः । विरोधाभासोऽलंकारः ॥४७॥

**बृहन्नितम्बा तिलकाङ्कभृच्छिरा निरन्तरोदार पयोधरा तराम् ।**
**सविभ्रमाऽपाङ्गतयान्विता श्रिया विभाति भित्तिः सुभगास्य भूभृतः ।४८।**

बृहन्नितम्बेति —अस्य भूभृतः पर्वतस्य भित्तिः सा सुभगा सौभाग्यशालिनी विभाति यतोऽसौ बृहन्नितम्बा समुच्चशिखरा पक्षे तून्नतकटिपृष्ठभागा, तथा तिलकस्य नाम वृक्षस्य पक्षे ललाटभूषणस्याङ्कभृच्चिह्नयुक्तं शिरः शृङ्गपक्षे मस्तकं यस्याः सा, निरन्तरं

---

**अर्थ**—यह पर्वत अपने अधस्तन–नीच कार्योंसे पृथिवी तलको व्याप्तकर रहा है (पक्षमें नीचेके विस्तारसे पृथिवी तलको घेर रहा है), कूट–कपटमय कार्योंसे (पक्षमें शिखरोंसे) स्वर्गको जा रहा है–स्वर्गका स्पर्श कर रहा है और सरन्ध्र–छिद्रोंसे सहित है (पक्षमें गुफाओंसे सहित है)। इतने दुर्गुणोंसे युक्त होकर भी यह अवनिभृत्–पर्वतों अथवा राजाओंमें सन्मानित क्यों है ? क्योंकि जो नीच कार्य करता है तथा अनेक दुर्गुणोंसे युक्त होता है वह स्वर्ग नहीं जाता। इस विरोधका परिहार यह है कि इसका आदि जिनेन्द्रके चरणोंके साथ सम्पर्क हुआ है, यहाँसे उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया है, उन्हींके चरण सम्पर्कका यह प्रभाव है। पूज्य पुरुषोंके चरणोंको सेवासे दुर्गुणी मनुष्य भी सद्गतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥४७॥

**अर्थ**—हे प्रियवर ! रसभूभृत्–पर्वत (पक्षमें राजा) की **भित्ति**–दीवाल (पक्षमें स्त्री) शोभासे अत्यधिक सुशोभित हो रही है। यहाँ भित्ति शब्दके स्त्रीलिङ्ग होनेसे उसमें स्त्रीका आरोप किया गया है। दोनों पक्षोंमें विशेषणोंकी योजना इस प्रकार है—**भित्तिपक्षमें बृहन्नितम्बा**–विशाल मध्य भागसे सहित है, **स्त्रीपक्षमें बृहन्नितम्बा**–विस्तृत नितम्बोंसे सहित है। **भित्तिपक्षमें तिलकाङ्कभृच्छिराः**–तिलक वृक्षसे युक्त शिखरसे सहित है, **स्त्रीपक्षमें–तिलकाङ्कभृच्छिराः**–कुङ्कुमके तिलकरूप चिह्नको धारण करने वाले मस्तकसे सहित है। **भित्ति-**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सदाकाले किलोदारा विपुला पयोधरा मेघा यस्यां सा पक्षे निरन्तरौ व्यवधानवर्जिता-वुदारावुन्नतौ पयोधरौ स्तनौ यस्याः सा, सविभ्रमा विहगभ्रमणसहिताऽपां जलानां मध्ये गतया श्रिया पक्षे विभ्रमसहितोऽपाङ्गो नेत्रान्तप्रदेशो यस्यास्तत्तया श्रिया शोभयेति समासोक्तिः । तरामित्युत्कर्षे ॥४८॥

**निशास्वसौ संज्वलदोषधिव्रजैर्ज्वलन्तमात्मानमनल्पकल्पकृत् ।**
**शलोपलेभ्यो विगलज्जलप्लवैरनल्पशस्तावदिहाभिषिञ्चति ॥४९॥**

निशास्वित्यादि—अनल्पो विस्तृतो यः कल्पो विधिरनुष्ठानविशेषस्तं करोतीत्यनल्पकल्पकृत् असौ पर्वतो निशासु रजनीषु संज्वलद्भिर्देदीप्यमानैरोषधिव्रजैरौषधसमूहैर्ज्वलन्तं दह्यमानमात्मानं स्वं शलोपलेभ्यश्चन्द्रकान्तमणिभ्यो विगलतां क्षरतां जलानां प्लवैः पूरैरिह स्थानेऽनल्पशः भूयोभूयोऽभिषिञ्चति अभिषिक्तं करोति । अत्र रात्रावोषधयः प्रज्वलन्ति चन्द्रकान्तोपलेभ्यश्च जलं निश्च्योततीति भावः ॥४९॥

**गवाक्षपूर्णो धृतमत्तवारणः समर्जुनिश्रेणिरुपात्ततोरणः ।**
**समुद्धनिर्यूहधरो महीधरः प्रिय ! प्रतीतोऽस्तु यथा मदालयः ॥५०॥**

गवाक्षेत्यादि—हे प्रिय ! अयं महीधरः पर्वतो यथाऽस्मदालयो निवासस्तथा प्रतीतोऽनुभवगम्योऽस्तु, यतो गवाक्षैर्जालकैर्वानरैश्च पूर्णः संव्याप्तः । धृतमत्तवारणो

---

पक्षमें **निरन्तरोदारपयोधरा**—व्यवधान रहित अथवा सदा विशाल मेघोंसे सहित है, **स्त्रीपक्षमें निरन्तरोदारपयोधरा**—अन्तर रहित स्थूल स्तनोंसे सहित है । **भित्तिपक्षमें सविभ्रमापाङ्गतया श्रियान्विता**—पक्षियोंके संचारसे युक्त जलके मध्य प्राप्त शोभासे सहित है, **स्त्रीपक्षमें सविभ्रमापाङ्गतया श्रियान्विता**—हाव-भाव सहित कटाक्ष सम्बन्धी शोभासे सहित है । **भित्तिपक्षमें सुभगा**—सुन्दर है, स्त्री पक्षमें **सुभगा**—सौभाग्यशालिनी है ॥४८॥

**अर्थ**—बहुत भारी अनुष्ठानविशेषको करने वाला यह पर्वत रात्रियोंमें देदीप्यमान औषधियोंके समूहसे जलते हुए अपने आपको चन्द्रकान्त मणियोंसे झरने वाले जलके प्रवाहसे बार-बार सींचता रहता है ॥४९॥

**अर्थ**—हे प्रिय ! यह पर्वत हमारे घर जैसा अनुभवमें आता है, क्योंकि जिस प्रकार हमारा घर **गवाक्षपूर्ण**—झरोखोंसे पूर्ण है, उसी प्रकार यह पर्वत भी **गवाक्ष-**

---

१. 'कल्पो ब्रह्मदिने न्याये प्रलये विधिशान्तयोः' इति विश्व० ।
२. 'शलं तु शल्लकीलोम्नि शलो भृङ्गिगणे विधौ' इति विश्व० ।
३. 'गवाक्षी त्विन्द्रवारुण्यां पुंसि जालककीशयोः' इति विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मत्तहस्तिनिर्युक्तः पक्षे वन्दनवारैर्युक्तः। समर्जुः सरला निश्रेणिः खर्जूरवृक्षः सोपानपङ्क्तिर्वा यस्य सः। उपात्तः स्वीकृतस्तोरणो नाम वृक्षो द्वारमुखं वा येन सः। समुद्ध उन्नतो निर्यूहः शृङ्गो द्वारप्रदेशश्च तद्धरो धारक इति किलोपमा 'निर्यूहो द्वारि। निर्यासे शिखरे नागदन्तके' इति विश्वलोचने ॥५०॥

**विपल्लवानामिह सम्भवोऽपि न विपल्लवानामुत शाखिनामपि।**
**सदारमन्तेऽस्य विहाय नन्दनं सदा रमन्ते रुचितस्ततः सुराः ॥५१॥**

विपल्लवानामित्यादि—इह पर्वते विपद आपत्तेर्लवानां लेशानामपि सम्भवो नास्ति। उत पुनः विपल्लवानां पत्ररहितानां शाखिनां वृक्षाणामपि सम्भवो नैवास्ति। तत एव सुरा देवा दारेभ्यः सहितं सदारं यथा स्यात्तथा रमन्ते सुखं लभन्तेऽस्यान्ते प्रान्ते सदैव नित्यं प्रति नन्दनं स्वर्गवनमपि विहाय रुचितः प्रीतिभावात्। यमकालंकारः ॥५१॥

**गुणाकरां गूढपयोधरां नराधिराड् गिरां नव्यवधूमिवादरात्।**
**ह्रियेव संक्षिप्तपदां स्वयं तदानुभूय भूयः प्रतिभूरभून्मुदाम् ॥५२॥**

गुणाकरामित्यादि—नराधिराट् स जयकुमारस्तदा गुणानामाकरः संचयो यत्र तां

---

पूर्ण—वानरोंसे व्याप्त है। जिस प्रकार हमारा घर धृतमत्तवारण—वन्दनवारोंको धारण करने वाला है, उसी प्रकार यह पर्वत भी धृतमत्तवारण—मदोन्मत्त हाथियोंको धारण करने वाला है। जिस प्रकार हमारा घर समर्जुनिःश्रेणि—एक बराबर एवं सीधी सीढ़ियोंसे सहित है, उसी प्रकार यह पर्वत भी समर्जुनिश्रेणि—एक सदृश एवं सीधे खर्जूरके वृक्षोंसे सहित है। जिस प्रकार हमारा घर उपात्ततोरणः—द्वारके अग्र भागसे सहित है उसी प्रकार यह पर्वत भी उपात्ततोरण—तोरण नामक वृक्षोंको ग्रहण करने वाला है और जिस प्रकार हमारा घर उद्धनिर्यूहधरः—ऊँचे द्वारप्रदेशको धारण करने वाला है, उसी प्रकार यह पर्वत भी उद्धनिर्यूहधरः—ऊँचे शिखरको धारण करने वाला है ॥५०॥

अर्थ—इस पर्वतपर विपल्लवानां—विपत्तिके अंशोंका और विपल्लवानां शाखिनां—किसलयरहित वृक्षोंका सद्भाव सम्भव नहीं है, इसीलिये देव नन्दनवन को छोड़कर इसके प्रान्त भागमें स्त्रियों सहित सदा रुचिपूर्वक क्रीड़ा करते हैं ॥५१॥

अर्थ—राजा जयकुमार उस समय सुलोचनाकी उस वाणीका अनुभव कर

---

१. 'स्यान्मत्तवारणः पुंसि मदुर्दान्तवारणे।
क्लीबं प्रासादवीथीनां वरण्डे चाप्यपाश्रये ॥' इति विश्व०।

२. 'निःश्रेणिरधिरोहिण्यां खर्जूरी पादपे स्त्रियाम्' इति विश्व०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



गूढं पयो रसं धरतीति तां तथा गूढावप्रकटौ पयोधरौ स्तनौ यस्यास्तां ह्रियेव लज्जयेव किल संक्षिप्तपदामल्पशब्दां लघुमन्दचरणक्षेपां वा गिरां तथोक्तां सुलोचनाया वाणीं नव्यवधूमिवानुभूय भूयो वारं वारं मुदां हर्षाणां प्रतिभूः स्वामी सोऽभूद् बभूव । श्लेषोपमानुप्रासश्चालंकारः ॥५२॥

**शिलोच्चयं साम्प्रतमप्रमत्तवान् रुरोह सच्छुक्लमिवात्मचिन्तनम् ।**
**यती विशुद्धयेव महागुणाश्रयः समन्वितः सोऽथ नतभ्रुवा जयः ॥५३॥**

शिलोच्चयमित्यादि—अथ साम्प्रतमप्रमादवान् कर्तव्यविस्मृतिः प्रमादस्तद्रहितो जयो हस्तिनागपुराधिपः स नतभ्रुवा नते भ्रुवौ यस्यास्तया सुलोचनया समन्वितः महागुणानां चाष्टमादिगुणस्थानामाश्रयः सच्छुक्लमत्यन्तनिर्मलमात्मचिन्तनं ध्यानमिव शिलोच्चयं पर्वतमारुरोह चटितवानित्युपमालंकारः ॥५३॥

**ददर्श देवाश्रममुत्तमं तदा तदाचरन् सत्वरमुद्भवन्महाः ।**
**महामना मूर्तिमदेव सत्कृतं कृतं परैः श्रीधरभूप्रमोददः ॥५४॥**

ददर्शेत्यादि—तदा कैलासारोहणकाले उद्भवति प्रस्फुरति मह उत्सवो यस्य सः महामना विचारशीलः श्रीधरभूः सुलोचना तस्यै प्रमोदं ददातीति यः सः, आचरन्नितस्ततः परितो गच्छन् सन् सत्वरं शीघ्रमेवोत्तमं तद्देवस्यार्हत आश्रमं स्थानं यत्परैर्महापुरुषैः कृतं निर्मितं मूर्तिमत् सत्कृतं पुण्यमेव किल ददर्शेत्युत्प्रेक्षा ॥५४॥

---

बार-बार हर्षके स्वामी हुए, जोकि नवीन वधू—नवोढाके समान थी, क्योंकि जिस प्रकार वह वाणी **गुणाकर**—श्लेष-प्रसाद-माधुर्य आदि गुणोंकी खान थी उसी प्रकार नवीन वधू भी **गुणाकर**—सौन्दर्य आदि गुणोंकी खान होती है। जिस प्रकार वह वाणी **गूढपयोधरा**—गूढरसको धारण करने वाली थी उसी प्रकार नवीनवधू भी **गूढपयोधरा**—अप्रकट स्तनोंको धारण करने वाली होती है और जिस प्रकार वह वाणी लज्जासे ही मानों **संक्षिप्तपदा**—संक्षिप्तपद विन्यास वाली थी उसी प्रकार नवीन वधू भी लज्जावश **संक्षिप्तपदा**—थोड़ी बोलती है, अथवा अल्पपद संचार करती है—थोड़ा चलती हैं ॥५२॥

**अर्थ**—जिस प्रकार महान् गुणोंके आश्रयभूत प्रमादरहित मुनिराज विशुद्धिके द्वारा अत्यन्त निर्मल आत्मचिन्तनपर आरूढ होते हैं, उसी प्रकार सावधान एवं शूरवीरता आदि गुणोंके आधारभूत कुमार सुलोचनाके साथ शुक्लवर्ण कैलास पर्वतपर आरूढ हुए ॥५३॥

**अर्थ**—कैलास पर्वतपर चढ़ते समय शीघ्र ही जिनका आत्मतेज उभर रहा है, जो विचारशील हैं, सुलोचनाको आनन्द देनेवाले हैं तथा सब ओर विचरणकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कलं वनेऽसावविलम्बनेन तद् गिरेर्बलं देवलमाप पापहृत् ।
धृतावधानः सुनिधानवद् बुधः सदायकं वाञ्छितदायकं तदा ॥५५॥

कलमित्यादि—तदासौ बुधो बुद्धिमान् जयकुमारो धृतावधानः प्रयत्नवान् सन् निधानवद् देवलं तत्स्थानं वनेऽविलम्बनेनानन्यव्यासङ्गेनाप प्राप्तवान् । कीदृशं तद् देवलम् ? गिरेर्बलं सारभूतं पापहृद् दुरितनाशकं सदायकं समीचीनकर्मण आयकरमुत्पादकं तत एव वाञ्छितदायकं समभीष्टसिद्धिकरमित्युपमा चानुप्रासश्चालंकारः । कलं मनोहरं तद्देवलमिति ॥५५॥

जयः प्रचक्राम जिनेश्वरालयं नयप्रधानः सुदृशा समन्वितः ।
महाप्रभावच्छविमुन्नतावधिं यथा सुमेरुं प्रभयान्वितो रविः ॥५६॥

जय इत्यादि—नयो नीतिरेव प्रधानं यस्य स जयकुमारः सुदृशा सुलोचनया समन्वितस्तं जिनेश्वरालयं प्रचक्राम प्रदक्षिणीकृतवान् । कीदृशं तं ? महाप्रभावती छविर्यस्य तं तथोन्नतोऽवधिर्मर्यादा यस्य तं सुमेरुं यथा प्रभयान्वितो रविः पर्येति तथेत्युपमालंकारः । यद्वा महाप्रभावच्छविरेष जयस्य विशेषणम् ॥५६॥

अथेममभ्यङ्गरुचिः पुनः शुचिः पयोधरोदारघटा बभाज सा ।
विधूपमानार्हमुखा सुखाशिका समाप्लवश्रीर्वरवर्णशासिका ॥५७॥

अथेममित्यादि—अथेमं पुनर्जयकुमारं समाप्लवश्रीः स्नानलक्ष्मीर्बभाज स्वीचकार । कीदृशी सेति चेत् ? शुचिर्निसर्गनिर्मला, वरवर्णशासिका वरस्य वल्लभस्य वर्णं स्तुतिं वा

---

रहे हैं, ऐसे जयकुमारने पूर्व पुरुषोंके द्वारा निर्मित उस उत्तम देवाश्रम-अर्हन्त देवके स्थानको क्या देखा मानों मूर्तिमान्-शरीरधारी पुण्यको ही देखा ॥५४॥

**अर्थ**—उस समय बुद्धिमान् एवं प्रयत्नवान् जयकुमारने वनमें विलम्ब किये बिना शीघ्र ही उस देवस्थानको प्राप्त कर लिया, जो कल-मनोहर था, पर्वतका बल-सारभूर था, पापहृत्-पापको नष्ट करनेवाला था, निधानके समान था, सदायक-शुभ कर्मको देनेवाला था तथा अभीष्टदायक था ॥५५॥

**अर्थ**—जिस प्रकार प्रभासे सहित सूर्य बहुत भारी प्रभायुक्त छविवाले उत्तुङ्ग सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा करता है, उसी प्रकार नीतिप्रधान एवं सुलोचना-से सहित जयकुमारने कान्तिशाली उस जिनमन्दिरकी प्रदक्षिणा-परिक्रमा-की ॥५६॥

**अर्थ**—तदनन्तर उस स्नानलक्ष्मीने जयकुमारकी सेवा की, जो अभ्यङ्गरुचि-उबटन अथवा तैलमर्दनमें रुचि रखती थी, शुचि-स्वभावसे उज्ज्वल थी,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



शोभां वा वरं श्रेष्ठं वर्णं रूपं वा शास्तीति वरवर्णशासिका वरवर्णिनी वातोऽभ्यङ्गरुचिः अभ्यङ्गस्योद्वर्तनस्य तैलमर्दनस्य वा रुचिः शोभा यस्यास्तथाङ्गमभि अभ्यङ्गं रुचिः कान्तिर्भवति यया साऽभ्यङ्गरुचिस्तथा पयोधरोदारघटा पयोधरो जलभरितश्चोदारश्च घटो भवति यत्र तथा पयोधरौ स्तनावेवोदारौ घटौ कुम्भौ यस्यास्सा, तथा विधुः कर्पूरः स उपमानं मुखं यस्यास्सा, सुखस्याशिका यत्र कृतायां वृतायां वा सुखं भवति सा किलेति समासोक्तिः ॥५७॥

**तदास्यसंशोधनसाधनाब्भरे छविच्छलेनावतरन्त्यदः करे ।**
**पचेलिमा द्यौर्निजगाद सत्कृतिममुष्य हूतापि परैरनागतिः ॥५८॥**

तदास्येत्यादि—तदा तस्मिन्नवसरे किलास्यं मुखं तस्य संशोधनं प्रक्षालनं तस्य साधनं कारणमपां भरो यत्र तस्मिन् जलपूर्णेऽदः करे जयकुमारस्य हस्तेऽवतरन्ती प्रतिबिम्बं दधती पचेलिमा परिपाकं प्राप्ता द्यौः समुच्चगतिः स्वर्गलक्ष्मीर्वा सामुष्य सत्कृतिं जगाद समस्ययोवाच या परैर्हूताप्यनागतिर्नागच्छति ॥५८॥

**असौ समङ्क्ष्वथ काशिभूपभू-परीपरीरम्भपरोऽधिराट् चिरात् ।**
**यतः किलाप्तः परिरम्भितोऽभितः समार्द्रया भालमुखेषु मृत्स्नया ॥५९॥**

---

**पयोधरोदारघटा**—जलको धारण करनेवाले बड़े-बड़े कलशोंसे सहित थी, **विधुपमानार्हमुखा**—कपूरकी उपमाके योग्य प्रारम्भसे सहित थी, **सुखाशिका**—सुख प्रदान करनेवाली थी और **वरवर्णशासिका**—उत्तम रूपको प्रदान करने वाली थी।

**भावार्थ**—समाप्लवश्री स्त्रीलिङ्ग शब्द है, अतः विशेषणोंकी सदृशतासे उसमें स्त्रीका आरोप किया है, अर्थात् स्नानलक्ष्मी रूपी स्त्रीने जयकुमारको स्वीकार किया। इस पक्षमें विशेषणोंकी अर्थ योजना इस प्रकार है। **अभ्यङ्गरुचि**—पतिके अङ्ग—शरीरमें जिसकी रुचि है, **शुचि**—स्वभावसे जो उज्ज्वल रूपको धारण करनेवाली है। **पयोधरोदारघटा**—घटके समान जिसके बड़े-बड़े स्तन है, **विधूपमानार्हमुखा**—जिसका मुख चन्द्रमाकी उपमाके योग्य है, **सुखाशिका**—जो सुखकी आशा रखती है और **वरवर्णशासिका**—पतिके रूप अथवा यशका वर्णन करने वाली है ॥५७॥

**अर्थ**—स्नानके समय मुखप्रक्षालनके साधनभूत जलके समूहसे सहित जयकुमारके हाथमें प्रतिबिम्बके छलसे अवतीर्ण हुई परिपाकको प्राप्त स्वर्गलक्ष्मी अथवा उच्च गति इनके पुण्य कार्यको सूचित कर रही थी। वह स्वर्गलक्ष्मी अथवा उच्च गति जो कि दूसरोंके द्वारा बुलाने पर भी नहीं आती है ॥५८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



असावित्यादि—अथासौ राजाधिराट् काशिभूपभूः सुलोचना सैव परी सर्वोत्तम-सुन्दरी तस्याः परीरम्भे समालिङ्गने परः संलग्नोऽधुना किल चिरादाप्तः संलब्ध इति किल समार्द्रया स्नेहयुक्तयाप्यशुष्कया मृत्स्नया मृत्तिकया भालमुखेषु प्रसिद्धेष्ववयवेषु परिरम्भितः समालिङ्गितोऽभूत् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥५९॥

**अथामले वारिविलासिपल्वले विचारयँस्तद्व्यपदेशसंहतिम् ।**
**निरञ्जनैः स्नातकमन्त्रसंस्कृतैस्तनुं स्म तोयैः स्नपयत्यसौ स्वाम् ॥६०॥**

अथामल इत्यादि—अथामलेऽपि वारिविलासिपल्वले निर्मलजलतटाकेऽपि तस्य कर्दममीनादेः प्रसङ्गस्तस्य संहतिं समायोगं विचारयन् किल स्नातकमन्त्रेण संस्कृतैस्तोयै रसौ जयः स्वां तनुं स्नपयति स्म ॥६०॥

**अनेकधा तानितसंगुणोक्तिभृत् पवित्रितान्तःकरणप्रसक्तिमत् ।**
**विशालमालम्बितवान् दुकूलकं सुनिर्मलं जैनवचोऽनुकूलकम् ॥६१॥**

अनेकधेत्यादि—स उक्तप्रसङ्गो जयकुमारः स्नानानन्तरं विशालमसंकीर्णं दुकूलकं वस्त्रमालम्बितवान् जग्राह । कीदृक् तत् ? जैनवचोऽनुकरोति यत्तत् जैनवचोऽनुकूलकं सुनिर्मलं स्वच्छं पवित्रितस्यान्तःकरणस्य हृदयस्य प्रसक्तिमत् प्रसन्नताद्योतकं तथाऽनेकधा-तानितानां संगुणानां समीचीनानां तन्तूना मुक्तिभृत् ॥६१॥

---

**अर्थ**—मुखप्रक्षालनके बाद जयकुमारने मस्तक आदि अङ्गोंमें उत्तम मिट्टी लगायी, उससे ऐसा जान पड़ता था कि अब तक जयकुमार सुलोचनाके आलिङ्गनमें ही तत्पर रहे हैं, मुझे अवसर ही नहीं मिल सका। अब अवसर देख पृथिवीरूप स्त्री स्नेहसे आर्द्र हो उनके मस्तक आदि अङ्गोंका आलिङ्गन कर रही हो ॥५९॥

**अर्थ**—निर्मल जलसे सुशोभित सरोवरमें कर्दम तथा मछली आदिके संयोगका विचार करते हुए जयकुमारने स्नातक मन्त्रसे सुसंस्कृत अत एव पवित्र जलसे ही अपने शरीरको नहलाया था ॥६०॥

**अर्थ**—स्नानके बाद जयकुमारने उस विशाल मात्राके अनुरूप वस्त्रको धारण किया जो जिनेन्द्र भगवान्‌के वचनोंका अनुकरण करने वाला था, क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌के वचन अनेकधातानितसंगुणोक्तिभृत्–अनेक प्रकारसे विस्तृत समीचीन गुणोंके कथनको धारण करनेवाला है, उसी प्रकार वह वस्त्र भी अनेकधातानिकसंगुणोक्तिभृत्–अनेक प्रकारसे विस्तारित समीचीन सूत्रों–तन्तुओंके कथनको धारण करने वाला था। जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌के वचन पवित्रितान्तःकरणप्रसक्तिमत्–पवित्र हृदयके सम्बन्धसे सहित हैं, उसी प्रकार वह वस्त्र भी पवित्र हृदयके अनुकूल था। जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌के वचन विशाल द्वादशांगमें विस्तृत हैं, उसी प्रकार वह वस्त्र भी विशाल–समुचित रीति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

**चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरितं बहिर्न भूतेषु भवेत्प्रसङ्गितम् ।**
**निजीयमेवं किल भावशुद्धिमान् हृदुत्तरीयेण बबन्ध बुद्धिमान् ॥६२॥**

चिरन्तनेत्यादि—स बुद्धिमान् चिरन्तनस्य पूर्वंजातस्याभ्यासस्य निबन्धनेन कारणेनेरितं प्रेरितं हृच्चित्तं तद् बहिर्भूतेषु दृश्यमानेषु वस्तुषु प्रसङ्गितं न भवेदित्येव किल भावशुद्धिमान् विशुद्धविचारवान् सन्नुत्तरीयेण वस्त्रेण तदपि बबन्धेत्युप्रेक्षालंकारः ॥६२॥

**महामना मन्दपदप्रचारभृत् समुल्ललङ्घार्हतगेहपद्धतिम् ।**
**विलोकयन् विच्युतरत्नवद्भुवमनन्यवृत्त्या प्रकृतं विचारयन् ॥६३॥**

महामना इत्यादि—महामना जयकुमारः स मन्दयोर्मधुरयोः पदयोः प्रचारं संक्षेपणं बिभर्तीति स विच्युतं पतितं रत्नं यस्य तद्वद् भुवं पृथ्वीं विलोकयन् सन् किलानन्यवृत्त्या सावधानचित्तेन प्रकृतं भगवद्भक्तिविषयमेव विचारयन् अर्हंत इदमार्हतं च तद्गेहं च तस्य पद्धतिं मार्गवीथिकामुल्ललङ्घातीतवान् ॥६३॥

**पुनश्च विघ्नप्रतिरोधिनिःसहीति मन्त्रसूत्रं रुचितः समुच्चरन् ।**
**निधानधाम्नो हि जिनालयस्य स कवाटमुद्घाटयति स्म धीरराट् ॥६४॥**

पुनश्चेत्यादि—निधानस्य धनकोशस्य यद् धाम स्थानं तस्य हीव जिनालयस्य कवाटं द्वाररोधिवस्तु तदुद्घाटयति स्म धीरराट् विघ्नस्यान्तरायस्य प्रतिरोधि निवारकं यन्निःसहीति मन्त्रसूत्रं तद्रुचितः समुच्चरन् ॥६४॥

---

से पहिननेके योग्य था और जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌के वचन सुनिर्मल—पूर्वापरविरोधसे रहित होनेके कारण निर्मल होते हैं, उसी प्रकार वह वस्त्र भी मैलसे रहित होनेके कारण निर्मल—स्वच्छ था ॥६१॥

**अर्थ**—बुद्धिमान् जयकुमारने अधोवस्त्र धारण करनेके बाद ऊपरसे उत्तरच्छद—दुपट्टा भी धारण किया था। वह इसलिये कि पूर्वकालीन संस्काररूप कारणसे प्रेरित होता हुआ हमारा हृदय बाह्य विषयोंमें संलग्न न हो जावे इस प्रकारकी भावशुद्धिसे युक्त होकर ही मानों उन्होंने अपने हृदयको—वक्षःस्थलको उत्तर वस्त्रसे बांध दिया था—ढक दिया था ॥६२॥

**अर्थ**—महामना जयकुमारने धीरे-धीरे पैर रखते तथा जिसका रत्न गिर गया है, उसके समान पृथ्वीको देखते और अनन्य भावसे प्रकृत—भगवद्भक्ति विषयका चिन्तन करते हुए जिनमन्दिरके मार्गको व्यतीत किया ॥६३॥

**अर्थ**—फिर धीरशिरोमणि राजा जयकुमारने 'निःसहि' इस विघ्ननिवारक मन्त्रको पढ़ते हुए कोश—खजानेके स्थानभूत जिनालयके किवाड़ खोले ॥६४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


निपूतपादाभिगमाभिलाषुको निपूतपादः स्वयमप्यथासकौ ।
जयेति वाचा कथितः श्रिया युतं जयेति वाचा गृहमाविशत्तराम् ।।६५।।

निपूतपादेत्यादि—अथासौ जयेति वाचा कथितो नरो निपूतौ नितरां पवित्रौ पादौ यस्य तस्य भगवतोऽभिगमः सम्पर्कस्तस्याभिलाषुको लोलुपोऽसावेवासकावतः स्वयमपि निपूतपादः प्रक्षालितचरणो भूत्वा जयेति वाचा जय जयेति त्रिरुच्चरन् श्रिया युतं गृहं श्रीसदनं तदाविशत्तरां प्राप्तवानिति ।।६५।।

समुन्ननामातिलघु प्रभोः पुरो द्वयं मिलित्वा शययोश्च साम्प्रतम् ।
शिरः स्वयं भक्तितुलाधिरोपितं गुरुत्वतश्चावननाम भूपतेः ।।६६।।

समुन्ननामेत्यादि—प्रभोरर्हतः पुरोऽग्रे भूपतेर्जयकुमारस्य भक्तितुलायामधिरोपितं शययोः करयोर्द्वयमपि मिलित्वाऽतिलघु च ततः साम्प्रतमुन्ननामोपर्युत्थितम्, किन्तु शिरस्स्वयं गुरुत्वतो महत्त्वभावतोऽवननाम नम्रमभूत् ।।६७।।

लुठन् भुवीह प्रणनाम दण्डवज्जिनं यथासौ शरणागतः स्मरः ।
तदङ्घ्रियुग्मे कुसुमानि साम्प्रतं निजीयशस्त्राणि समर्प्य सादरः ।।६७।।

लुठन्नित्यादि—असौ जयकुमार इह साम्प्रतमधुना सादर आदरयुक्तो भवन् तस्य जिनदेवस्याङ्घ्रियुग्मे चरणद्वये कुसुमानि पुष्पाणि समर्प्य निजीयशस्त्राणि, शरणागतः स्मरः कामो यथा तथा जिनं भगवन्तं दण्डवद् भुवि लुठन् प्रणनाम ।।६७।।

---

**अर्थ**—जिन्हें भगवान् जिनेन्द्रके संपर्ककी अभिलाषा है तथा जिन्होंने चरण धोये हैं, ऐसे जयकुमारने जय जय शब्दका उच्चारण करते हुए श्रीगृहमें प्रवेश किया ।।६५।।

**अर्थ**—इस समय भक्तिकी तराजू पर चढ़े हुए राजा जयकुमारके दोनों हाथ परस्पर मिल कर प्रभुके आगे शीघ्र ही ऊपर उठ गये, परन्तु भक्ति रूप तराजू पर चढ़ा हुआ राजाका शिर गुरुता—महत्ताके कारण स्वयं नीचेकी ओर झुक गया। तात्पर्य यह है कि राजाने हाथ जोड़ कर तथा शिर झुका कर प्रभु को नमस्कार किया ।।६६।।

**अर्थ**—उस समय जयकुमारने भगवान्के चरणयुगलमें पुष्प चढ़ाकर पृथिवी पर लोटते हुए दण्डवत् प्रणाम किया। पुष्प चढ़ाकर प्रणाम करते हुए जयकुमार ऐसे जान पड़ते थे, मानो अपने शस्त्र (पुष्प) समर्पित कर कामदेव ही आदरपूर्वक शरणमें आया हो ।।६७।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**निजोत्तमाङ्गत्वमुवाच तच्छिरोऽधुनोन्नतं प्राप्य पदद्वयं गुरोः ।**
**तनुस्तु भूमेरुपगम्य संगमं समाप सख्यादिव कण्टकोद्गमम् ।।६८।।**

निजोत्तमाङ्गत्वमित्यादि—तच्छिरो जयकुमारस्य मस्तकं तदधुना गुरोरर्हत उन्नतं पदद्वयं प्राप्य लब्ध्वा निजस्योत्तमाङ्गत्वं श्रेष्ठत्वमुवाच। तस्य तनुस्तु भूमेः संगमं सम्पर्कमुपगम्य लब्ध्वा सख्यादिव तनुरिव भूमिरपि जयस्य सम्बन्धिनीति समानधर्मतयेव कण्टकोद्गमं रोमाञ्चभावं समापेत्युत्प्रेक्षालंकारः ।।६८।।

**त्रिधा परिक्रम्य जयः क्रमादयं महामनास्तस्य जगत्पतेः पुरः ।**
**तदागतानागतवर्तमानकान् परिभ्रमान् सूचयति स्म चात्मनः ।।६९।।**

त्रिधेत्यादि—तदायं महामना जयस्तस्य जगत्पतेः पुरस्त्रिधा परिक्रम्यागतानागतवर्तमानकानात्मनः स्वस्य परिभ्रमान् सूचयति स्म ।।६९।।

**समाप तापत्रयभिच्छवेर्भवे जिनेन्द्रचन्द्रस्य मुदं सुदर्शने ।**
**निधेरिवाराज्जनुषाप्यकिञ्चनः स किञ्च नर्मप्रतिकर्मवित्तदा ।।७०।।**

समापेत्यादि—किञ्चास्मिन् भवे जन्मनि स नर्मणो विनोदस्य प्रतिकर्मवित् कारणज्ञस्तापत्रयभिदो जन्मजरामृत्युरूपसन्तापत्रितयोच्छेदकस्य जिनेन्द्र एव चन्द्र आह्लादकत्वात्तस्य सुदर्शनेऽवलोकने तदा जनुषा जन्मनाप्यकिञ्चनो दरिद्रः स निधेर्वाञ्छितदायकस्याराात् तत्कालं दर्शन इव मुदं हर्षं समवापेत्युपमालंकारः ।।७०।।

---

**अर्थ**—इस समय राजा जयकुमारके शिरने प्रभुके उन्नत चरणयुगलको प्राप्त कर अपना उत्तमाङ्गपन प्रकट किया, अर्थात् मैं सब अङ्गोंमें उत्तमाङ्ग—उत्कृष्ट अङ्ग हूँ, इसीलिये तो मुझे भगवान्के चरणयुगलका संपर्क प्राप्त हुआ। परन्तु शरीर पृथिवीका संगम पाकर समान भावसे ही मानों कण्टकोद्गमको प्राप्त हुआ, अर्थात् जिस प्रकार पृथिवीमें कण्टक उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उनके शरीरमें भी कण्ठक—रोमाञ्च उत्पन्न हो गये ।।६८।।

**अर्थ**—उस समय महामना जयकुमारने क्रमसे तीन प्रदक्षिणाएं देकर जगत्पति जिनेन्द्रदेवके आगे यह सूचित किया था कि हे प्रभो ! मैंने इसी प्रकार भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालमें परिभ्रमण किया है ।।६९।।

**अर्थ**—एक बात यह भी है कि इस जन्ममें विनोदके कारणोंको जानने वाले जयकुमारने जन्म-जरा-मृत्युरूप त्रिविध तापको नष्ट करने वाली छविसे युक्त जिनेन्द्रचन्द्रका दर्शन होनेपर वह आनन्द प्राप्त किया, जो जन्मसे दरिद्र मनुष्यको निधिके दर्शनसे होता है ।।७०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



क्रमोच्चनैवेद्यसुराजिराजितैः पुमानमत्रैः पुरतः प्रसारितैः ।
बबन्ध तां स्वर्गमनाथपद्धतिमिवेशसेवासमितात्मसम्मतिः ॥७१॥

क्रमोच्चनैवेद्येत्यादि—ईशस्य भगवतः सेवायां समिता संयोजिताऽऽत्मसम्मतिर्येन स पुमान् जयकुमारः उच्चा या नैवेद्यस्य सुराजिः पंक्तिस्तया राजितैः सुशोभितैरमत्रैः पात्रैः पुरतोऽग्रे प्रसारितैस्तां स्वर्गमनाय पद्धतिं सोपानपंक्तिमिव बबन्धेत्युत्प्रेक्षा-लंकारः ॥७१॥

गुरोरिहाग्रे खलु लज्जितेव भूर्बभूव गुप्तावयवा समग्रजैः ।
धवं समालोक्य निरन्तरागतसमर्चनावर्तनवर्तनव्रजैः ॥७२॥

गुरोरित्यादि—समग्रे जातैः समग्रजैः समर्चनस्य पूजनस्यावर्तनं प्रवर्तनं यैस्तेषां वर्तनानां पात्राणां कलशकरकस्थाल्यादीनां व्रजैः समूहैः कीदृशैस्तैर्निरन्तरागतैरन्तर-वर्जितैस्तैः कृत्वा भूः पृथ्वी गुरोः श्रीमतोऽग्रे धवं स्वामिनं सोमपुत्रं समालोक्य लज्जितेव खलु गुप्तावयवा संवृताङ्गोपाङ्गा बभूवेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥७२॥

जलाञ्जलिः स्वस्य किलाघकर्मणे समर्पितः श्रीपतिपादतर्पणे ।
मनस्विनासौ सलिलार्पणच्छलाद्यतः समन्तात् कलिलावनं बलात् ॥७३॥

जलाञ्जलिरित्यादि—तत्र प्रथमं तेन मनस्विना श्रीपतिपादयोस्तर्पणे पूजने सलिलार्पणस्य जलोत्सर्गस्य च्छलात् किल यतो बलात् प्रभावात् कलेः कलहस्य लावन-मुच्छेदनं स्यात् स जलाञ्जलिरेव स्वस्याघकर्मणे पापाय समर्पितः । यद्वा यतोऽघकर्मणो

---

अर्थ—जिनेन्द्रकी सेवामें अपनी सद्बुद्धिको संयोजित करनेवाले पुरुषरत्न-जयकुमारने क्रमसे सजाई हुई नैवेद्यकी उच्च पंक्तियोसे सुशोभित पात्रोंसे स्वर्ग जानेके लिये मानों मार्ग ही बांध रक्खा था ॥७१॥

अर्थ—आगे रखे हुए पूजामें काम आने वाले व्यवधानरहित बर्तनोंके समूहसे पृथिवी ढक गयी थी, उससे वह ऐसी जान पड़ती थी कि गुरु-भगवान्के आगे अपने पति जयकुमारको देख लज्जित होकर उसने मानों अपने अवयवोंको संवृत ही कर लिया हा-छिपा लिया हो। गुरुजनोंके सामने पतिको देख स्त्रियाँ लज्जित होती ही हैं ॥७२॥

अर्थ—विचारशील जयकुमारने जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी पूजामें जल अर्पित करनेके छलसे मानों अपने पापकर्मके लिये ही जलाञ्जलि दी, क्योंकि उसके प्रभावसे बलपूर्वक कलिलावन-कलहका उच्छेद होता है। अथवा जिस पाप-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बलात् कलिलस्य पापभातस्यावनं संरक्षणं भवति, तस्मायघकर्मणे जलाञ्जलिर्दत्त इत्युत्प्रेक्षालङ्कृतिः ॥७३॥

**समर्पितो वारिजरागभाजने जनेन सम्यग्घरिचन्दनद्रवः ।**
**जिनेशमादर्शमवेत्य सङ्गतः किलासकौ भास्वति चन्द्रमण्डलः ॥७४॥**

समर्पित इत्यादि—तत्र जनेन तेन भगवत्पूजा वसरे वारिज रागस्य पद्मरागस्य मणेर्भाजने समर्पितो यो सम्यक् समीचीनो हरिचन्दनस्य द्रवोऽसकौ जिनेशं प्रभुमादर्शमादरणीय मवेत्य भास्वति सूर्यविम्बे चन्द्रमण्डलः सङ्गतः किलेत्युत्प्रेक्षा ॥७४॥

**समर्पणां प्राप्य मनस्विना परां सदक्षताः श्रीशपदाग्रतो धराम् ।**
**विभूषयन्तोऽनुभवन्ति ते तरां शुभस्य च स्माङ्कुरतां महत्तराम् ॥७५॥**

समर्पणामित्यादि—मनस्विना जयेन परां निःस्वार्थरूपां समर्पणां प्राप्य सदक्षताः श्रीशस्य पदाग्रतो धरां भुवं विभूषयन्तस्ते शुभस्य पुण्यकर्मणो महत्तरामङ्कुरतामनुभवन्ति स्म ॥७५॥

**समर्पितं तेन सुमं सुमञ्जुलं जिनेशपादाम्बुजयोरभात्तराम् ।**
**मनस्तदीयं परिचेतुमागतं किलात्मसज्जातिकयोः प्रसन्नयोः ॥७६॥**

समर्पितमित्यादि—तेन जयेन जिनेशस्य पादाम्बुजयोश्चरणाब्जयोः प्रसन्नयोरग्रे

---

कर्मसे कलिल-अवन-पापका संरक्षण होता था, उस पापकर्मके लिये जलाञ्जलि दी थी ॥७३॥

**अर्थ**—जयकुमारने पद्मरागमणिके वर्तनमें जो उत्तम हरिचन्दनका द्रव चढ़ाया था, वह ऐसा जान पड़ता था मानों जिनेन्द्रको आदर्श—आदरणीय जान कर सूर्यबिम्बमें चन्द्रमण्डल आ मिला हो।

**भावार्थ**—जो कभी मिलते नहीं, ऐसे परस्पर विरोधी सूर्य और चन्द्रमा भी भगवान्को आदर्श मानकर परस्पर मिल गये थे ॥७४॥

**अर्थ**—मनस्वी-बुद्धिमान् जयकुमारके द्वारा निःस्वार्थ समर्पणाको पाकर अर्थात् चढ़ाये हुए उत्तम अक्षत श्री जिनेन्द्रदेवके चरणोंके आगेकी भूमिको अलंकृत करते हुए पुण्यकर्म की बहुत भारी अङ्कुरताका अनुभव कर रहे थे।

**भावार्थ**—भगवान्के चरणाग्रमें चढ़ाये गये सफेद सफेद चावल ऐसे जान पड़ते थे मानों पुण्य कर्मके बड़े बड़े अंकुर ही हों ॥७५॥

**हिन्दी**—जयकुमारके द्वारा जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोंमें चढ़ाया गया अत्यन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


समर्पितं सुमञ्जुलमतिमनोहरं सुमं पुष्पं किल तदीयं जयकुमारसम्बन्धि मन एवात्मनः सज्जातिकयोस्तन्मनसोऽपि किलाम्बुजोपमत्वात् परिचेतुं ताभ्यां सह परिचयं कर्तुमागतमित्युत्प्रेक्षा ॥७६॥

**जिनेश्वराग्रे जवलेविकामसौ न तावदावर्तवतीं जयाह्वयः ।**
**समुत्ससर्जाशु विनेयताश्रितोऽथ संसृतिं किन्तु मुमोच तच्छलात् ॥७७॥**

जिनेश्वराग्र इत्यादि—अथासौ जयाह्वयस्तावन्नैवेद्यपूजावसरे जिनेश्वरस्याग्रे संमुखत आवर्तवतीं नाम जवलेविकां न समुत्ससर्ज, किन्तु विनेयताया विनीतभावस्याश्रयः स तस्याश्छलादाशु शीघ्रं संसृतिमेव मुमोचेत्यपह्नुतिः ॥७७॥

**व्यमुञ्चदेकार्थतयैकतां गतौ स रागरोषाविह दीपदम्भतः ।**
**निजक्रियासम्भ्रमिदर्शिनौ पुनर्जवाज्जयः स्वस्वकवर्णलक्षणौ ॥७८॥**

व्यमुञ्चदित्यादि—पुनर्जयो जवादनन्तरं शीघ्रमेव दीपदम्भतो दीपकस्य छलत इह जिनपूजावसरे किलैकोऽर्थः प्रयोजनं संसारसम्बन्धरूपं तत्तया तावेकतां गतौ स्वस्वकवर्णावेव भासुरताकज्जलतारूपौ लक्षणे ययोस्तौ निजक्रिया या सम्भ्रमिस्तस्या दर्शिनौ तौ व्यमुञ्चदिय मप्युह्नुतिरलंकारः ॥७८॥

---

मनोहर पुष्प ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों अपने समानजातीय एवं प्रसन्न भगवान्‌के चरणकमलोंसे परिचय करनेके लिये उनका हृदय ही आया हो ॥७६॥

**अर्थ**—विनीत भावके आश्रयभूत जयकुमारने जिनेन्द्र भगवान्‌के आगे घुमावदार जलेबी नहीं चढ़ायी थी, किन्तु उसके छलसे शीघ्र ही अपना संसार छोड़ दिया था ।

**भावार्थ**—जिस प्रकार संसृति-संसार चतुर्गतिके परिभ्रमण रूप है, उसी प्रकार जलेबी भी परिभ्रमण रूप-घुमावदार थी, अतः उसमें जलेबीका अपह्नव किया गया है ॥७७॥

**अर्थ**—तदनन्तर जयकुमारने शीघ्र ही दीपकके छलसे एक प्रयोजनताको प्राप्त रागद्वेषको छोड़ दिया था, क्योंकि रागद्वेष और दीपक-दोनों ही अपनी अपनी संभ्रमण रूप क्रियाको दिखा रहे थे तथा दोनों ही अपने वर्णरूप लक्षणको धारण करने वाले थे। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दीपक, प्रकाश और कज्जल रूप होते हैं, वायुके वेगसे सम्भ्रमिरूप-हलन चलन रूप होते हैं, उसी प्रकार रागद्वेष भी शुभ-अशुभ रूप होते हैं और संसार परिभ्रमणके कारण कहलाते हैं ॥७८॥



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

**तथार्हतोऽग्रे बहुशस्यवृत्तिनाऽथ तेन कृष्णागुरुणा महात्मना ।**
**प्रमोदिना सम्प्रति कृष्णवर्त्मनि जवेन नीलाम्बरता प्रकाशिता ॥७९॥**

तथेत्यादि—तथा पुनरर्हतोऽग्रे सम्प्रति बहुशस्या प्रशंसायोग्या वृत्तिश्चेष्टा यस्याथवा बहुशस्या वृत्तिर्बहुव्रीहिसमासो यस्य तेन बहुशस्यवृत्तिना कृष्णोऽगुरुरर्थाल्लघुभ्राता यस्य तेन कृष्णागुरुणा महात्मना गन्धापेक्षया विपुलरूपेणाथवा महापुरुषेण प्रमोदिना सुगन्धयुक्तेन कृष्णवर्त्मनि वह्नौ नीलाम्बरता धूमेन कृतं नीलमम्बरमाकाशं येन तत्ता तथा कृष्णस्य नारायणस्य वर्त्मनि पद्धतौ सहर्वाततया नीलाम्बरता नीलमम्बरं वस्त्रं यस्य तत्ता बलदेवता प्रकाशितेति समस्तीह समासोक्तिरलंकारः ॥७९॥

**सुनालिकेरं निजमस्तकाकृति समीरयामास पुनः समी रयात् ।**
**स्वयंभुवः सन्दयितः स्वयंभुवः पदेषु सन्देशपदेषु च श्रियः ॥८०॥**

सुनालिकेरमित्यादि—पुनः स समी समताभावी भुवः पृथिव्याः सन्दयितः प्रियतमो जयः श्रियो लक्ष्म्याः सन्देशपदेषु स्थानेषु स्वयंभुवोऽर्हतः-पदेषु, पूज्यत्वाद् बहुवचनमत्र, निजमस्तकस्याकृतिरिवाकृतिर्यस्य तन्नालिकेरं नाम फलं स्वयं समीरयामास समर्पयामासेत्यत्र यमकालंकारः ॥८०॥

---

**अर्थ**—अत्यन्त प्रशंसनीय वृत्तिसे सहित उदारहृदय तथा प्रमोदसे युक्त जयकुमारने अर्हंत भगवान्के आगे अत्यन्त सुगन्धित कृष्णागुरु चन्दनकी धूप अग्निमें निक्षिप्त कर उसके धूमसे आकाशको नीला-नीला कर दिया ।

**अर्थान्तर**—उस धूपने **नीलाम्बरता** बलभद्रता प्रकाशितकी थी, क्योंकि जिस प्रकार बलभद्र **बहुशस्यवृत्ति**—बहुत धान्यका संग्रह करने वाले थे उसी प्रकार धूप भी **बहुशस्यवृत्ति**—अत्यन्त प्रशंसनीय चेष्टावाली थी, जिस प्रकार बलभद्र **कृष्णागुरु** थे—कृष्ण नामक लघु भाईसे सहित थे उसी प्रकार धूप भी **कृष्णागुरु**—अगुरु चन्दनसे निर्मित थी, जिस प्रकार बलभद्र **महात्मा**—उत्कृष्ट आत्मा वाले थे उसी प्रकार धूप भी **महात्मा**—सुगन्धकी अपेक्षा उत्कृष्ट रूप थी, जिस प्रकार बलभद्र **प्रमोदी**—हर्ष सम्पन्न थे उसी प्रकार धूप भी प्रमोदी—दूर तक फैलने वाली प्रकृष्ट गन्धसे सहित थी, जिस प्रकार बलभद्र **कृष्णवर्त्म**—श्रीकृष्णके मार्गानुयायी थे उसी प्रकार धूप भी **कृष्णवर्त्म**—अग्निकी अनुयायी थी अर्थात् अग्निमें प्रक्षिप्त की जाती थी और जिस प्रकार बलभद्र **नीलाम्बर**—नील वस्त्र धारण करने वाले थे उसी प्रकार धूप भी **नीलाम्बर**—आकाशको नीला करने वाली थी ॥७९॥

**अर्थ**—तदनन्तर समताभावी एवं पृथिवीके प्रियतम जयकुमारने लक्ष्मीके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**पदारविन्देषु पदारविन्दको मनोहराष्टाङ्गमयीं प्रभोर्जयः ।**
**तनुं स्वकीयामिव चातनूत्तमां समर्पयामास समग्रतो बलिम् ॥८१॥**

पदारविन्देष्वित्यादि—एवं जयो नाम राजा स पदारस्य चरणरजसो विन्दकोऽनुज्ञावेदनकरो भवन् प्रभोः पदारविन्देषु चरणकमलेषु मनोहराणि अष्टावङ्गानि पूर्वकथितानि तन्मयीं बलिं पूजां स्वकीयां तनुमिव चातनूत्तमां बलिवक्षेऽत्यन्तोत्तमां तनुपक्षे चातनोः कामदेवस्य यथोत्तमा तथोत्तमां समग्रतः पूर्णरूपेण समर्पणमासेत्युपमालंकारः ॥८१॥

**सुदेवमन्त्रा जपतः सुरीतितः शये समापुर्गुणिनोऽवतारणम् ।**
**सितोपलाक्षावलिदम्भसम्भवा विशुद्ध बीजस्फुटशुद्धवर्णकाः ॥८२॥**

सुदेवमन्त्रा इत्यादि—सुरीतितो यथागमोक्तरीति तो जपतो जपं कुर्वतोऽस्य गुणिनो जयकुमारस्य शये हस्ते सुदेवमन्त्राः परमेष्ठिवाचका मन्त्रा अवतारणमवतारस्यावतरणस्य णं ज्ञानं तदवतारणं समापुः । कथं समापुरिति चेत् ? सितोपलाक्षाणां शुद्धस्फटिकनिर्मितमणीनामावलिः पङ्क्तिस्तस्या दम्भादेव सम्भवो येषां ते विशुद्धेभ्यो बीजेभ्यः स्फुटः प्रकटीभूतः शुद्धः स्वच्छो वर्ण एव वर्णको येषां ते तथेति किलोपह्नुत्यलंकारः ॥८२॥

**तदागसां संहरणाभिलाषिणः पयोजलक्ष्मी मुषि पाणिपल्लवे ।**
**षडङ्घ्रिमाला ह्यनुषङ्गिजन्मिनां रराज रुद्राक्षपरम्परा तराम् ॥८३॥**

---

सन्देश स्थान स्वरूप अर्हन्त भगवान्के चरणोंमें स्वयं अपने मस्तकके समान आकृति वाले नारियलको शीघ्र ही समर्पित किया ॥८०॥

**अर्थ**—इस प्रकार चरणरजको प्राप्त करने वाले जयकुमारने प्रभुके चरण कमलोंमें पूर्वोक्त जल-चन्दनादि आठ अङ्गोंसे सहित उस अर्घरूप पूजाको संपूर्ण रूपसे समर्पित किया, जो अपने शरीरके समान थी, अर्थात् जिस प्रकार अपना शरीर हस्तपादादि आठ अङ्गोंसे सहित है, उसी प्रकार वह अर्घरूप पूजा भी जल-चन्दनादि आठ अङ्गोंसे सहित थी और जिस प्रकार अपना शरीर अतनूत्तम—अनङ्ग—कामदेवसे सुन्दर था, उसी प्रकार वह अर्घरूप पूजा भी अतनूत्तमा—अत्यन्त उत्तम थी ॥८१॥

**अर्थ**—आगमोक्त रीतिसे जाप करने वाले गुणवान् जयकुमारके हाथमें परमेष्ठिवाचक उन मन्त्रोंने अवतरण किया, जो शुद्ध स्फटिककी मालाके बहाने बीजाक्षर रूप शुद्ध वर्णरूप अक्षरोंसे सहित थे ।

**भावार्थ**—जयकुमारने हाथमें स्फटिककी माला लेकर परमेष्ठि वाचक मन्त्रका जाप किया ॥८२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तदागसामित्यादि—तदा जपावसरेऽनुषङ्गजन्मिनां प्रसङ्गतः प्राप्तानामागसामपराधानां संहरणं परिहारमभिलषतीति तस्य पयोजलक्ष्मीमुषि कमलशोभापहारके पाणिपल्लवे जयकुमारस्य हस्ते रुद्राक्षाणां परम्परा पङ्क्तिः षडङ्घ्रिमाला भ्रमरततिर्हीव रराजतरामित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥८३॥

**बभाज भाजन्मभुवं तु बन्धुरं स्वरिन्दिराकृष्टिकृतः करं वरम् ।**
**सुशिक्षितुं लोहितिमानमुच्चकैः प्रवालवालावलिरेनसां रिपोः ॥८४॥**

बभाजेत्यादि—एनसां पापानां रिपोः सहजशत्रोः स्वरिन्दिरायाः स्वर्गलक्ष्म्या आकृष्टिं समाकर्षणं करोति यस्तस्य जयकुमारस्य भायाः शोभाया जन्मन उत्पत्तेर्भुवं स्थानं तत एव वरं बन्धुरं मनोहरं करं प्रवालस्य विद्रुमस्य बालाः संबालका अंशास्तेषामावलिः सा किलोच्चकैर्लोहितिमानं निर्दोषरक्तिमानं सुशिक्षितुं समुपालब्धुं बभाजाङ्गीचकारेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥८४॥

**प्रपञ्चशाखौ ग्रहणौ जयस्य तौ गुणेन बद्धौ तु विभोर्बभूवतुः ।**
**भयाकुलेवेत्यपि भारती तदा तदात्मिका सा निरगात् स्वसद्मतः ॥८५॥**

प्रपञ्चशाखावित्यादि—जयस्य ग्रहणौ हस्तौ यौ प्रकृष्टाः पञ्च पञ्च शाखा अङ्गुलयो ययोस्तौ प्रपञ्चशाखौ प्रतारणात्मकाविति तौ विभोरर्हतो गुणेन क्षमासत्यादिरूपेण रज्ज्वा वा बद्धौ बभूवतुरितीवापि तदात्मिका प्रपञ्चात्मिका या विचारशीला जयस्य भारती सापि तदा भयाकुलेव भयभीता भवतीव स्वसद्मतो मुखान्निरगादित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥८५॥

---

**अर्थ**—जपके समय आनुषङ्गिक अपराधोंके परिहारकी इच्छा करनेवाले जयकुमारके कमलतुल्य पाणिपल्लवमें रुद्राक्षकी माला ऐसी सुशोभित हो रही थी, मानों भ्रमरोंकी पङ्क्ति ही आ लगी हो ॥८३॥

**अर्थ**—पापोंके सहज शत्रु एवं स्वर्गलक्ष्मीको आकृष्ट करनेवाले जयकुमारके शोभाकी जन्मभूमि रूप अत एव उत्तम और मनोहर हाथको विद्रुम खण्डोंकी मालाने मानों उच्चतम लालिमाको सीखनेके लिये ही स्वीकृत किया था ॥८४॥

**अर्थ**—प्रपञ्चशाख-पाँच-पाँच अङ्गुलियोंसे सहित (पक्षमें प्रपञ्च–प्रतारणाको विस्तृत करनेवाले) जयकुमारके हाथ भगवान्के क्षमा-सत्य-संयमादि गुणोंसे (पक्षमें रस्सीसे) बद्ध हो गये–बांध दिये गये, यह देख प्रपञ्च–प्रतारणा (पक्षमें विस्तार) करने वाली उनकी वाणी भी भयभीत होकर मुखरूप घरसे धीरे-धीरे निकल रही थी ।

**भावार्थ**—जयकुमारने जापके बाद दोनों हाथ जोड़कर मन्द स्वरसे कुछ पाठ पढ़ा, इसीका कविने उत्प्रेक्षालंकारसे वर्णन किया है ॥८५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तत्याज शक्रः शकनाभिमानं पुनीत यावत्तव कीर्तिगानम् ।
स्वल्पेन बोधेन तथापि नामिन् वातायनेनेव निरूपयामि ॥८६॥

तत्याजेति—हे पुनीत ! पवित्रात्मन् ! यावत्तव कीर्तिगानं तावत्तु कर्तुं शकनस्याभिमानं शक्रोऽपि शकनार्थनामधरोऽपि तत्याज त्यक्तवान्, तथापि वातायनेव गवाक्षेणेव स्वल्पेन यत्किञ्चनात्मकेनापि बोधेन हे नामिन् ! स्वामिन्नहं तव कीर्तिगानं निरूपयामि करोमि, गवाक्षो यथा शक्यं वातं निरूपयति तथाहपीति दृष्टान्तालंकारः । अथवा यथा स्वल्पच्छिद्रयुक्तो गवाक्षो महान्तं गजादिकं दर्शयति, तथाहमपि स्वल्पेन बोधेन महान्तं भगवद्गुणौघं दर्शयामि ॥८६॥

तवावतारो हृदिमे प्रशस्य क्षुद्रेऽपि वादर्श इव द्विपस्य ।
गुणांस्तु सूक्ष्मानपि सालसज्ञा सूचो न गृह्णाति कुतो रसज्ञा ॥८७॥

तवावतार इत्यादि—हे प्रशस्य भगवन् ! मे मम क्षुद्रे संकीर्णेऽपि हृदि चित्ते महात्मनस्तवादर्शे दर्पणे द्विपस्य हस्तिन इवावतारः समागमोऽभूदपि 'वोल्लेखनीय एष प्रसङ्ग इति सूचीव या मे रसज्ञाऽऽलस्यमेव प्राप्ता यद्यपि सूची सा सूक्ष्मं गुणं सूत्र सुखेन गृह्णाति, किन्तु नासौ मे रसज्ञा सूचो तत्र गुणान् सूक्ष्मान् गृह्णातोत्यालस्यमेव । विरोधाभासोऽयम् ॥८७॥

---

अर्थ—हे पवित्रात्मन् ! जितना आपका कीर्तिगान है, उतना करनेके लिये यद्यपि शक्तिशाली इन्द्रने अपनी शक्तिका अभिमान छोड़ दिया, परन्तु मैं झरोखेके समान अपने स्वल्पज्ञानसे हे स्वामिन् ! आपका कीर्ति गानकर रहा हूँ ॥८६॥

अर्थ—हे प्रशस्य ! हे स्तुत्य ! मेरे संकीर्ण हृदयमें आपका अवतीर्ण होना ऐसा है जैसे दर्पणमें हाथीका अवतार होता है । यह एक उल्लेखनीय प्रसङ्ग है परन्तु सुईके समान जो मेरी रसज्ञा जिह्वा है वह अलसज्ञा—रसज्ञा न रहकर अलसज्ञा हो गई है, अर्थात् आलस्यको प्राप्त हो गई। यद्यपि सुई सूक्ष्म गुण—महीन सूतको ग्रहण कर लेती है परन्तु मेरी जिह्वारूपी सुई आपके सूक्ष्म गुणोंको ग्रहण नहीं कर पाती इसलिये वह अलसज्ञा हो गई है। तात्पर्य यह है कि आपकी महिमा हमारे हृदयमें तो अवतीर्ण हुई है, परन्तु जिह्वामें उसे कहनेकी सामर्थ्य नहीं है ॥८७॥

---

१. तत्याज शक्रः शकनाभिमानं नाहं त्यजामि स्तवनानुबन्धम् ।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं वातायनेनेव निरूपयामि ॥ 'विषापहारे धनंजयस्य'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



शुद्धात्मसंवित्तिरिहाभिरामा तवाथ मे रागरुषोः सदाऽमा ।
नामासकौ सम्प्रति वाक्प्रवृत्तिरेकस्य लब्धिर्न युगस्य दत्तिः ॥८८॥

शुद्धात्मेत्यादि—हे प्रभोरिह तव शुद्धात्मनः केवलस्य रागद्वेषादिरहितस्याभिरामा कल्याणाधारा संवित्तिरस्ति । अथ पुनर्मे मम रागश्च रुट् च तयो रागरुषोरमाऽन्धकार-पूर्णाऽमावस्येव सदा सततमिति नाम वाक्प्रवृत्तिर्लोकोक्तिरेकस्य लब्धिर्न युगस्य दत्तिः सा चरितार्था । नकारस्य मध्यदीपकत्वादुभयतः प्रवृत्तेरिति दीपकोऽलंकारः ॥८८॥

कुदेवतानामधुनाऽऽधिदत्त्वाद् अक्षार्थभूताधिचिकित्सकत्वात् ।
इन्द्रादिभिः स्तुत्यतया त्रिधा त्वां देवाधिदेवं मनुजा मनन्ति ॥८९॥

कुदेवतानामित्यादि—हे नाथ ! त्वां मनुजा महापुरुषा देवाधिदेवमिति मनन्ति स्तुवन्ति तदधुना त्रिधा त्रिप्रकारं ये वास्तवेन देवा न भवन्ति किन्तु संसारिणः स्वार्थ-वशेन यान् देवा इति कथयन्ति तेषामाधेर्दायकत्वान्निषेधकत्वादित्येकः प्रकारः । अक्षाणामिन्द्रियाणां देवशब्दवाच्यानां येऽर्था विषयास्तेभ्यो भूतस्य संजातस्याधेश्चिकित्स-कत्वाविति द्वितीयः प्रकारः । इन्द्राविभिर्देवैश्च त्वं स्तुत्य इत्यतो देवानामधिदेव इति तृतीयः प्रकारः ॥८९॥

मोहस्य मोहस्त्वयि वीतरागे रागश्च सागस्त्वमगाज्जिनेन्द्र ।
कामो निकामोऽथ वयं वदामस्त्वयानुविद्धा कमलामलाऽभूत् ॥९०॥

---

अर्थ—हे प्रभो ! आपके तो कल्याणकी आधारभूत एक शुद्धात्माकी ही अनुभूति है, परन्तु मेरे रागद्वेषकी अन्धकारपूर्ण अमावास्था है । न मुझे एक शुद्धात्माकी अनुभूति हो सकती है और न रागद्वेषका देना हो सकता है, इसीलिये लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि 'लेना एक न देना दो' ॥८८॥

अर्थ—हे नाथ ! उत्तम पुरुष आपको देवाधिदेव मानते हैं अर्थात् देवाधिदेव कहकर आपकी स्तुति करते हैं । यह देवाधिदेवत्व तीन प्रकारसे सिद्ध होता है—(१) आप कुदेवताओंको आधि[1]—मानसिक व्याधिके देने वाले हैं इसलिये देवाधि-देव कहलाते हैं । (२) आप इन्द्रियवाचक देवों[2]के विषयोंसे प्राणिमात्रके चिकित्सक हैं, अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंसे प्राणियोंको सुरक्षित करते हैं, इसलिये आपको देवाधिदेव कहते हैं । (३) और आप इन्द्रादि देवोंके द्वारा स्तुत्य हैं, अतः उन सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण देवाधिदेव कहलाते हैं ॥८९॥

---

१. 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः ।
२. 'देवो राज्ञि सुरे मेघे देवं स्यादिन्द्रिये मतम्' इति विश्वलोचनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मोहस्येत्यादि—हे जिनेन्द्र ! त्वयि वीतरागे सति मोहः परस्मिन्नात्मभावः स तु मोहं ऊहेनाधुनाहं किं करोमीति वितर्कमाप्तः। रागः स्वार्थस्य साधकतया प्रेम स सागस्त्वं सापराधत्वमगात् किल नैव तिष्ठति। कामश्च मैथुनभावः स निकामो निष्क्रियो निरोहो वा। त्वयानुविद्धा प्रभाविता सा कमलाप्यात्मनि एव मलं यस्याः किलामलाऽभूदिति वयं वदामः। बहुप्रभावोऽयमलंकार ॥९०॥

**निजं जिन त्वां प्रवदामि भक्त्या स्वार्थी परः सम्भवितास्ति शक्त्या।**
**विलोमतास्मिन्नखरप्रयुक्त्या त्वदादरी योऽनुगतः स भुक्त्या ॥९१॥**

निजमित्यादि—हे जिनाहं त्वां जिनमेव निजमिति प्रवदामि भक्त्या गुणानुरागवशेन शब्दविभागवशेन वा, परो यः कोऽपि नरः स तु स्वार्थी सम्भवितास्ति शक्त्या यथाशक्ति स्वार्थमेव पूरयति। यदि जिन एव निज इति तदा विलोमतात्र कुतो जातेति चेन्नखरप्रयुक्त्याऽत्र सा यथा खरं तीक्ष्णमेव कराग्रं जना नखरं वदन्ति तथा त्वामपि यत-स्त्वदादरी यो जनः स भुक्त्या भोगसामग्र्याऽखिलप्रकारया सम्पत्त्या वाऽनुगतो युक्तो भवति ॥९१॥

**नमत्तिरीटोचितरत्नरोचिः पदाग्ररुच्या तव चेद्धशोचिः।**
**समागमे स्वस्तिकमेव वस्तु समस्तु पुंसां सुकृतश्रियस्तु ॥९२॥**

---

**अर्थ**—हे जिनेन्द्र ! आपके वीतराग होनेपर मोहको मोह हो गया, अर्थात् वह (मा + ऊह) मैं क्या करूं इस वितर्क-विचारसे रहित हो गया। रागसागस्त्व अपराध सहित अवस्थाको प्राप्त हो गया (आगसाऽपराधेन सहितः सागा स्तस्य भावः सागस्त्वम्)। और आपसे अनुविद्ध-प्रभावित कमला-लक्ष्मी स्वयं ही कमला (के-आत्मनि मलं यस्याः सा कमला, आत्माके विषयमें मल-मलिनताको प्राप्त हो गई।

**भावार्थ**—हे भगवन् ! आप मोह-रहित हैं, रागरहित हैं और भौतिक लक्ष्मीसे रहित हैं ॥९०॥

**अर्थ**—हे जिन ! मैं भक्तिसे आपको निज कहता हूँ। अन्य लोग तो स्वार्थी होते हैं, वे शक्तिके अनुसार स्वार्थं ही सिद्ध करते है। जिनका निज कैसे हो गया अर्थात् शब्दोंमें विलोमता विपरीतता कैसे हो गई, तो नखर शब्दके समान हो गई। भाव यह है कि मनुष्यके कराग्र-हाथके अग्रभागको जो कि खर-तीक्ष्ण होता है, उसे लोकमें नखर-तीक्ष्ण नहीं (पक्षमें नाखून) कहा जाता है। इसी प्रकार जो निज थे वे जिन कहलाने लगे। तथा जो मनुष्य त्वदादरी-आपमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



नमत्तिरीटोचितेत्यादि—हे जिन ! पुंसां भक्तजनानां नमन्तो ये तिरीटा मौलयस्तेषूचितानि यानि रत्नानि तेषां रोचिः कान्तिप्रसरणं तत् तव पदाग्राणां नखानां रुच्या किलेद्धं समृद्धं शोचिः प्रकाशो यस्य तदेतत्तु सुकृतश्रियः पुण्यसम्पत्त्याः समागमे स्वस्तिकं नाम मङ्गलकरं वस्तु समस्तु ॥९२॥

**भास्वन् प्ररोहन्त्यपि मानसाब्धावनेकशो ये कमलप्रबन्धाः ।**
**त्वद्दर्शनेनाशु पुनः स्फुटन्ति आमोदवादाः स्वयमुद्भवन्ति ॥९३॥**

भास्वन्नित्यादि—हे भास्वन् प्रभामय सूर्य ! अस्माकं मानसाब्धौ चित्तसागरेऽनेकशो बहुप्रकारा ये कमलप्रबन्धा मनोरथरूपाः प्ररोहन्ति जन्म लभन्ते तेऽपि त्वद्दर्शने तवावलोकने पुनः शीघ्रं प्रस्फुटन्ति, यतः स्वयमेवामोदस्य सुगन्धस्य प्रसन्नभावस्य वादाः समाचारा उद्भवन्ति ॥९३॥

**निरीहमाराध्य सुसिद्धसाध्यस्त्वामस्तु भक्तो विगुणं विराध्य ।**
**चिन्तामणिं प्राप्य नरः कृतार्थः किमेष न स्याद्विदिताखिलार्थ ॥९४॥**

निरीहमित्यादि—हे विदिताखिलार्थ ! हे सर्वज्ञ ! भक्तो जनो विगुणं गुणहीनमन्यं विराध्य त्यक्त्वा त्वां निरीहमिच्छारहितमाराध्य निषेव्य सम्यक्प्रकारेण सिद्धः सम्पन्नतामाप्तः साध्यः कर्तव्यो यस्य सोऽस्तु । एष नरश्चिन्तामणिं प्राप्य किं न कृतार्थः सफलकार्यः स्तात्, किन्तु स्तादेवेति वक्रोक्तिः ॥९४॥

---

आदरसे सहित है, वह भुक्ति-भोगसामग्री अथवा विविध सम्पत्तिसे अनुगत-सहित होता है ॥९१॥

**अर्थ**—हे भगवन् ! भक्त जनोंके नम्र होनेवाले मुकुटोंमें संलग्न रत्नोंकी जो कान्ति आपके नखोंकी कान्तिसे समृद्ध-अत्यन्त देदीप्यमान हो रही है, वह पुण्य रूप लक्ष्मीके समागममें स्वस्तिक मङ्गलकारी वस्तु हो ॥९२॥

**अर्थ**—हे देदीप्यमान सूर्य ! हमारे हृदयरूपी सागरमें जो अनेक प्रकारके कमलरूप मनोरथ अङ्कुरित हो रहे हैं, वे आपका दर्शन होनेपर शीघ्र ही विकसित हो जाते हैं और उनकी सुगन्ध अथवा प्रसन्नताके समाचार स्वयं ही उद्भूत हो जाते हैं ॥९३॥

**अर्थ**—हे समस्त पदार्थोंके ज्ञाता जिनेन्द्र ! भक्त जन अन्य गुणहीन देवोंको छोड़कर इच्छारहित आपको आराधना कर अपना साध्य-मनोरथ सिद्ध कर लेते हैं सो ठीक ही है, क्योंकि चिन्तामणि-रत्नको प्राप्त कर क्या मनुष्य कृतार्थ-कृतकृत्य नहीं होता ? अर्थात् अवश्य होता है ॥९४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



त्वदीयपादाम्बुजराजभाजां भुवां भवन्तीह महःसमाजाः ।
सुमानि सम्प्राप्य सुगन्धिमन्ति सौगन्ध्यमारान्नृशयं नयन्ति ॥९५॥

त्वदीयेत्यादि—हे सर्वज्ञ ! त्वदीयपादावेवाम्बुजराजौ भजन्ति सेवन्ते यास्तासां भुवां त्वच्चरणसम्पर्कितभूमीनामपि किलेह महसामुत्सवानां समाजाः समूहा भवन्ति यथा किल सुगन्धिमन्ति सुमानि पुष्पाणि तानि सम्प्राप्य गत्वा नुर्मनुष्यस्य शयं हस्तमारादेव सौगन्ध्यं नयन्तीति दृष्टान्तः ॥९५॥

नरोत्तमः प्रार्थयितेति नाथमनाकुलोऽभूदनवद्यगाथः ।
स्वर्गश्रियोऽपाङ्गशरौघलक्षः संसिद्धिसन्देशपुनीतपक्षः ॥९६॥

नरोत्तम इत्यादि—अनाकुलो व्याकुलतारहितोऽनवद्या निर्दोषा भगवत्स्तुतिमया गाथा वाचो यस्य स जयकुमार इत्युक्तप्रकारेण नाथं त्रिलोकपतिमर्हन्तं प्रार्थयिता सा स्वर्गश्रियोऽपाङ्गानां कटाक्षाणामेव शराणां बाणानामोघाः समूहास्तेषां लक्ष्योऽभूत् तथ संसिद्धेर्मुक्तेः संदेहस्य रहस्यनिवेदनस्य पुनीतः पवित्रः पक्षश्चाभूदिति ॥९६॥

जिनेशरूपं सुतरामदुष्टमापीय पीयूषमिवाभिपुष्टः ।
पुनश्च निर्गन्तुमशक्नुवानस्ततो बभूवोचितसंविधानः ॥९७॥

जिनेशरूपमित्यादि—श्रीजयो जिनेशस्य रूपं सुतरामेव यददुष्टं निर्दोषं तदेव पीयूषममृतमापीय यथेष्टं पीत्वाऽभिपुष्टः स्थूलतामवाप्त इव पुनस्ततो निर्गन्तुं प्रतिनिर्वर्तितुमशक्नुवानोऽसमर्थ इत्युचितसंविधानः किं कार्यं कथमतो गन्तव्यमिति विचारवान् बभूवेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥९७॥

---

अर्थ—हे भगवन् ! आपके चरणरूपी श्रेष्ठ कमलोंकी सेवा करने वाली पृथिवीके इस लोकमें बहुत भारी उत्सवोंके समूह उद्भूत होते हैं यह ठीक है, क्योंकि सुगन्धियुक्त पुष्प अपने संपर्कसे मनुष्यके हाथको सुगन्धि प्राप्त करा ही देते हैं ॥९५॥

अर्थ—आकुलतारहित तथा निर्दोष वचनोंसे सहित राजा जयकुमार इस तरह भगवान् जिनेन्द्रकी स्तुति कर स्वर्गलक्ष्मीके कटाक्षरूप बाणसमूहके लक्ष्य हुए तथा मुक्तिसंदेशके भी पात्र हुए ॥९६॥

अर्थ—श्री जयकुमार श्रीजिनेन्द्र देवके अमृतके समान निर्दोष रूपको अत्यधिक मात्रामें पीकर मानों इतने स्थूल हो गये कि जिनालयसे निकलनेके लिये असमर्थ हो गये। भाव यह है कि जिनेन्द्र देवकी प्रशान्त मुद्राके दर्शन करते हुए वे इतने भावविभार हो गये कि वहाँसे बाहर जानेका विचार ही भूल गये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सूक्ष्मत्वतो लुप्तमवेत्य चेतः श्रीपादयोर्निर्व्रजताथवेतः ।
अवापि तत्रत्यरजस्तु तेन संशोधनाधीनगुणस्तुतेन ॥९८॥

सूक्ष्मत्वत इत्यादि—अथवा तेन जयेनेतः श्रीसदनान्निर्व्रजता चेतः स्वीयं मनः सूक्ष्मत्वतः कारणाच्छ्रीपादयोर्लुप्तं विलीनमवेत्य संशोधनस्य समन्वेषणस्याधीनो यो गुणस्तेन स्तुतेन समर्थितेन तेन तत्रत्यं रजः श्रीचरणधूरिवापि संगृहीतमित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥९८॥

अनुष्ठितं यद्यदधीश्वरेण तत्तत्कृतं श्रीसुदृशाऽऽदरेण ।
येनाध्वना गच्छति चित्रभानुस्तेनैव तारांततिरेति साऽनु ॥९९॥

अनुष्ठितमित्यादि—अधीश्वरेण जयकुमारेण तत्र यद्यदप्यनुष्ठितं समाचरितं श्रीसुदृशा सुलोचनयापि तत्तदादरेण विनयपूर्वकं कृतमेतद्युक्तमेव, यतः किल चित्रभानुः सूर्यः स येनाध्वनाकाशमार्गेण गच्छति तेनैवाध्वना सा ताराणां ततिः पंक्तिरपि तमनु एति संगच्छतीति दृष्टान्तोऽलंकारः ॥९९॥

वेला बभूव व्यवधानहेतुः सुलोचनातद्धवयोर्द्वये तु ।
सन्ध्या निशावासरयोरिवाथानुगच्छतोर्निम्ननिबद्धगाथा ॥१००॥

वेलेत्यादि—अथानुगच्छतोः सार्द्धं व्रजतोः सुलोचना च तद्धवो जयकुमारश्च तयोर्द्वये व्यवधानहेतुर्निम्ननिबद्धा गाथा परिचयरीतिर्यस्याः सा वेला निशावासरयोर्मध्ये सन्ध्येव बभूव । तु पादपूर्तौ ॥१००॥

---

पश्चात् क्या करना चाहिये इस प्रकारका विचार करने लगे ॥९७॥

**अर्थ**—जयकुमारने देखा कि सूक्ष्मताके कारण हमारा चित्त जिनेन्द्रदेवके चरणोंमें लुप्त हो गया है, अतः उसे प्राप्त करनेके योग्य गुणसे सहित जयकुमारने जिनालयसे निकलते हुए वहाँकी धूलि प्राप्त कर ली। धूलिको उन्होंने मानों इस भावनासे प्राप्त किया था कि इस तान्त्रिक प्रयोगसे हमारा लुप्त चित्त हमें प्राप्त हो जायगा।

**भावार्थ**—जिनेन्द्रदेवकी चरणरज मस्तक पर लगा कर वे मन्दिरसे बाहर निकले ॥९८॥

**अर्थ**—जयकुमारने वहाँ जो जो कार्य किया उस उस कार्यको सुलोचनाने भी आदर भावसे किया सो ठीक ही है, क्योंकि सूर्य जिस आकाश मार्गसे जाता है ताराओंकी पंक्ति भी उसी मार्गसे उसके पीछे-पीछे जाती है ॥९९॥

**अर्थ**—जिस प्रकार आगे-पीछे चलते हुए रात्रि और दिनके बीच सन्ध्या व्यवधानका कारण होती है, उसी प्रकार सुलोचना और जयकुमार इन दोनोंके बीचमें निम्नाङ्कित परिचयसे युक्त वेला व्यवधानका कारण हुई थी ॥ ००॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सौधर्मसंसदि निशम्य तयोः प्रशंसां
शीले परीक्षितुमुपात्तमानः स्विदेव ।
भार्यां निजस्य चतुरामिह काञ्चनाख्यां
स्माज्ञापयत्यपि रविप्रभनामदेवः ॥१०१॥

सौधर्मेत्यादि--स्पष्टमिदम् ॥१०१॥

सदम्भाऽऽगत्य सा रम्भा जयभूजानिसन्निधौ ।
उवाच वाचमित्येवं सविलासदयोदयाम् ॥१०२॥

सदम्भेत्यादि--दम्भेन च्छलेन सहिता सदम्भा मायाविनी सा रम्भा स्वर्वेश्या भूः पृथ्वीयं जायेव यस्य स भूजानिर्जय एव भूजानिस्तस्य सन्निधौ निकटदेश आगत्य विलासेन सहिताया दयाया उदयो यया भवेदित्येतादृशीमित्येवं निम्नाङ्कितां वाचमुवाच ॥१०२॥

मम वृत्तकुसुममालाऽऽमोदमयी भाग्यशालिना त्वकया ।
हृदयेऽवधारणीया नररत्नक ! यत्नतो लभ्या ॥१०३॥

ममेत्यादि--हे नरेषु सामर्थ्यशालिषु रत्नक ! श्रेष्ठतम ! त्वयैव त्वकया भाग्यशालिना मम वृत्तान्यतीतानि चरितानि तान्येव कुसुमानि तेषां माला याऽऽमोदमयी प्रसन्नतादात्रीति सुगन्धसहिताऽतो यत्नतोऽपि प्रयत्नं कृत्वापि समर्जनीया स्वहृदयेऽवधारणीयास्ति ॥१०३॥

विजयार्द्धोत्तरभागे रत्नपुरेन्द्रो मनोहरे विषये ।
पिङ्गलगान्धाराख्यः सुलक्षणा सुप्रभा महिषी ॥१०४॥

विजयार्द्धेत्यादि--विजयार्द्धपर्वतस्योत्तरश्रेण्यां मनोहरे देशे रत्नपुरस्येन्द्रो राजा

---

अर्थ--सौधर्मेन्द्रकी सभामें प्रशंसा सुनकर जयकुमार और सुलोचनाके शील की परीक्षा करनेके लिये उत्सुक रविप्रभ नामक देवने अपनी काञ्चना नामक चतुर देवीको आज्ञा दी ॥१०१॥

अर्थ--उस मायाविनी देवीने राजा जयकुमारके पास आकर विलास सहित दयाको प्रकट करने वाले निम्नांकित वचन कहे ॥१०२॥

अर्थ--हे नररत्न ! मेरे चरितरूप फूलोंकी माला, जो कि आनन्दको देने वाली है (पक्षमें सुगन्धमयी है) और प्रयत्नसे प्राप्त करने योग्य है, आप भाग्यशालीके द्वारा हृदयमें धारण करने योग्य है ॥१०३॥

अर्थ--विजयार्द्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणी सम्बन्धी मनोहर देशमें पिङ्गल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


पिङ्गलगान्धाराख्यस्तस्य सुप्रभा नाम सुलक्षणा प्रशंसनीयगुणा महिषी चास्ति ॥१०४॥

विद्युत्प्रभा सुपुत्री ह्यन्वितनामानयोर्नमेर्भार्या ।
त्वामेकदा सुमेरोर्विहरन्तं नन्दने वनेऽपश्यत् ॥१०५॥

विद्युत्प्रभेत्यादि—अनयोर्द्वयोर्विद्युत्प्रभा नाम पुत्री या यथार्थनामा नमेर्विद्याधरस्य भार्या सैकदा सुमेरोर्नन्दने वने विहरन्तं त्वामपश्यत् ॥१०५॥

वनं मनोज्ञं बहुकल्पवृक्षं हरिप्रियानीत इहास्ति शक्रः ।
प्रसन्न ऐरावत एष किं वा कुबेरको नन्दनवत्ततो यत् ॥१०६॥

वनमित्यादि—यद् वनं मनोज्ञं नन्दनं नाम ततो नन्दनं स्वर्गीयवनमिव यतो कल्पवृक्षं बहुकल्पैरनेकप्रकारैर्वृक्षैर्युक्तं तद् बहुभिः कल्पवृक्षैर्युक्तं यत इह हरिप्रिया नामौषधिस्तया नीतः स्वीकृतः शक्रः कुब्जो वाऽर्जुनः वृक्षो वा पक्षे हरिप्रिया शची तया नीत इन्द्रः। प्रसन्न ऐरावतो नारङ्गनाम वृक्षः, पक्षे ऐरावतो हस्ती कुबेर एव कुबेरको नन्दीवृक्षः पक्षे धनद इति ॥१०६॥

लतानिकुञ्जेषु घनप्रसूनपदेन पुष्पायुधलुब्धकेन ।
प्रसारिता सम्प्रति संग्रहीतुं पाशा हि पान्थेक्षणपक्षिमालाम् ॥१०७॥

---

गान्धार नामका रत्नपुरका राजा है और प्रशंसनीय गुणोंसे सहित सुप्रभा नामक उसकी रानी है ॥१०४॥

**अर्थ**—उन दोनोंकी सार्थक नाम वाली विद्युत्प्रभा पुत्री है, जो नमिकी स्त्री है। उसने एक समय सुमेरुके नन्दन वनमें विहार करते हुए तुम्हें देखा ॥१०५॥

**अर्थ**—सुमेरु पर्वतका वह नन्दनवन स्वर्गके नन्दनवनके समान मनोज्ञ—मनोहर था, क्योंकि जिस प्रकार स्वर्गका नन्दनवन **बहुकल्पवृक्ष**—अनेक कल्पवृक्षोंसे सहित है उसी प्रकार वह नन्दन वन भी **बहुकल्पवृक्ष**—बहुत प्रकारके वृक्षोंसे सहित था, जिस प्रकार स्वर्गके नन्दनवनमें **हरिप्रियानीतः शक्रोऽस्ति**—इन्द्राणीके द्वारा लाया हुआ इन्द्र रहता है उसी प्रकार उस नन्दन वनमें **हरिप्रियानीतः शक्रः**—हरिप्रिया नामक ओषधिसे सहित कुब्जक अथवा अर्जुन (कोहा) नामक वृक्ष था, जिस प्रकार स्वर्गके नन्दनवनमें **प्रसन्न ऐरावतः**—प्रसन्न ऐरावत हाथी होता है उसी प्रकार उस नन्दनवनमें भी **प्रसन्न**—उत्तम **ऐरावत**—नारङ्गीके वृक्ष थे और जिस प्रकार स्वर्गको नन्दनवनमें **कुबेर**—उत्तर दिशाका दिक्पाल धनद रहता है उसी प्रकार उस नन्दन वनमें **कुबेर**—नन्दी वृक्ष था ॥१०६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लतेत्यादि—यत्र लतानां निकुञ्जेषु गृहेषु घनानां विपुलानां प्रसूनानां पदेन व्याजेन पुष्पायुधः कामः स एव लुब्धको व्याधस्तेन पान्थानां पथिकानामीक्षणान्येव पक्षिणस्तेषां मालां संग्रहीतुं प्रसारिताः पाशा हि सम्प्रति भान्ति ॥१०७॥

**परिभ्रमत्षट्पदराजिकायामन्तर्गतो मौक्तिकपुष्पपुञ्जः ।**
**मौर्व्यामनङ्गस्य नियुक्तबाणाग्रारोपितः पुङ्ख इवावभाति ॥१०८॥**

परिभ्रमदित्यादि—परिभ्रमतां पर्यटतां षट्पदानां भ्रमराणां या राजिका पंक्तिस्तस्यामन्तर्गतो मध्यवर्ती मौक्तिकपुष्पपुञ्जो मुक्ताकृतिपुष्पसमूहः सोऽनङ्गस्य कामदेवस्य मौर्व्यां ज्यायां नियुक्तस्समारोपितो यो बाणस्तस्याग्रे भाग आरोपितः पुङ्ख इवावभाति ॥१०८॥

**समुत्सुकानामथवा शुकानां पंक्तिः पतन्ती परमप्रसन्ना ।**
**मनो हरत्येव हरिन्मणीनां विनिर्मिता तोरणसन्ततिर्वा ॥१०९॥**

शुकात्मनामित्यादि—समुत्सुकानां मुत्कण्ठायुक्तानां शुकानकीराणां परमप्रसन्ना पंक्तिस्तत्रापतन्ती सती हरिन्मणीनां निर्मिता तोरणसन्ततिर्वा दर्शकानां मनो हरत्येवोत्प्रेक्षालंकारः ॥१०९॥

**पुरा पुरारेरुपरि प्रकोपान्मुक्तेषु कामस्य हि मार्गणेषु ।**
**प्रेमिन् परागोपचयापदेशात् तदङ्गभस्मैव समस्ति लग्नम् ॥११०॥**

पुरेत्यादि—हे प्रेमिन् ! यत्र पुरा पूर्वकाले पुरारेर्महादेवस्योपरि प्रकोपान्मुक्तेषु

---

अर्थ—जिस नन्दनवनके लतागृहोंमें अत्यधिक पुष्पोंके छलसे कामदेवरूपी शिकारीने पथिकजनोंके नेत्ररूपी पक्षियोंकी पंक्तिको पकड़नेके लिये इस समय मानों जाल ही फैला रक्खे हैं ॥१०७॥

अर्थ—परिभ्रमण करनेवाले भ्रमरोंकी पंक्तिके मध्यमें स्थित मोतीके आकार वाले पुष्पोंका समूह कामदेवकी प्रत्यञ्चा पर चढ़ाये गये बाणकी मूठके समान सुशोभित होता है ॥१०८॥

अर्थ—अथवा उस वनमें उत्कण्ठित तोताओंकी पड़ती हुई परम प्रसन्न पङ्क्ति हरे मणियोंकी बनी तोरणसन्ततिके समान दर्शकोंका मन हर लेती है ॥१०९॥

अर्थ—हे प्रेमिन् ! पूर्वकालमें कामदेवने तीव्र क्रोधसे महादेव जीके ऊपर जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


कामस्य मार्गणेषु शरेषु पुष्पेषु परागस्यापचयः संग्रहस्तस्यापदेशाद् रजोंऽशच्छलात् तस्य देवस्याङ्गे यद् भस्म तदेव लग्नं समस्तीत्यपह्नुतिः ॥११०॥

**मुहुर्मरुद्भङ्गिभिरङ्ग यत्र भ्रश्यद्रजाः श्रीस्थलपद्म आस्ते ।**
**समुद्वमन् सन् हुतभुक्कणान् स शाणोपलः स्मारशिलीमुखानाम् ॥१११॥**

मुहुरित्यादि—हे अङ्ग ! यत्र मरुतो वायोर्भङ्गिभिः झम्पनाभिर्मुहुर्भ्रश्यद्रजा निरन्तरं निपतत्द्रेणुपरागः स श्रीस्थलपद्मः स हुतभुजो वह्नेः कणान् समुद्वमन् सन् स्मारशिलीमुखानां स्मरसम्बन्धिबाणानां शाणोपल उत्तेजकपाषाण आस्ते । अपह्नुतिरलंकारः ॥१११॥

**चाम्पेयपुष्पं परमप्रसन्नमन्तर्निलीनालिकुलं विभाति ।**
**आरोपितं साशुगसंचयं च तूणीरमेतद्रतिनायकस्य ॥११२॥**

चाम्पेयपुष्पमित्यादि—यत्र यच्चाम्पेयं चम्पासम्बन्धि पुष्पं परमप्रसन्नं विकासमाप्तं यच्चान्तर्निलीनालिकुलमङ्कस्थितभ्रमरसमूहं तत्किलैतद्रतिनायकस्य कामस्यारोपितमङ्गीकृतं साशुगसंचयमाशुगानां बाणानां संचयेन सहितं तूणीरमिव विभाति शोभते । उपमालंकार ॥११२॥

**सुसज्जगुञ्जा परितो भ्रमन्ती रजस्तटे षट्पदधोरिणीति ।**
**अयोमयीयं खलु शृङ्खला स्यादिध्माधिपस्याध्वगबन्धनाय ॥११३॥**

सुसज्जगुञ्जेत्यादि—सुसज्जा स्पष्टरूपा गुञ्जा गुञ्जनं ध्वनिर्यस्याः सा षट्पदानां भ्रमराणां धोरिणी पंक्तिस्सा रजसः पुष्पेभ्यो निपतितस्य तटे प्रान्ते परित इतस्ततो

---

अपने पुष्परूपी बाण छोड़े थे, उनमें पराग संग्रहके छलसे उनके शरीरकी भस्म ही संलग्न है ।

**भावार्थ**—फूलोंमें जो पुष्परजके अंश दिखायी देते हैं, वे पुष्परजके अंश नहीं हैं किन्तु महादेवके शरीरकी भस्म हैं ॥११०॥

**अर्थ**—वायुकी झम्पनाओं—झोखोंके कारण जिससे बार-बार पराग गिर रही है, ऐसा शोभायमान गुलाब वहाँ अग्नि-कणोंको उगलने वाला कामदेवके बाणोंको तीक्ष्ण करनेका शाणोपल—मसांण ही है ॥१११॥

**अर्थ**—जिसके भीतर भ्रमरोंका समूह छिपा हुआ है, ऐसा यह खिला हुआ गुलाब बाणसमूहसे सहित कामदेवके तरकशके समान जान पड़ता है ॥११२॥

**अर्थ**—परागके समीप गुञ्जन ध्वनिके साथ चारों ओर भ्रमण करती हुई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भ्रमन्ती सतीक्ष्यते सेयं । खलु अध्वगानां पान्थानां बन्धनाय स्तम्भनायेध्माधिपस्य कामराजस्यायोमयी लोहघटिता शृङ्खला निगडततिः स्याद्भवेदित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥११३॥

**प्रान्तभ्रमद्भृङ्गनिनाददम्भादतिप्रसन्ना खलु पाटला तु ।**
**जगज्जिगीषोर्मदनामरस्य निरन्तरं कूजति काहलेव ॥११४॥**

प्रान्तेत्यादि --तु पुनरतिप्रसन्ना पाटला सा खलु प्रान्ते भ्रमन्तो ये भृङ्गा भ्रमरास्तेषां निनादस्य गुञ्जनस्य दम्भान्निरन्तरं जगज्जिगीषोर्विश्वं जेतुमिच्छतो मदनामरस्य कामदेवस्य काहला ढक्का कूजतीवेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥११४॥

**दृष्टा मुहुर्या कुसुमप्रदेशे भृङ्गैः सदङ्गैरथ पल्लवानाम् ।**
**कुलैरिदानीमुपलालितापि विभाति सद्यो गणिका प्रसन्ना ॥११५॥**

दृष्टेत्यादि---अथेदानीमत्र सद्यः प्रसन्ना गणिका[1] यूथिका वेश्या च विभाति । कीदृशीति चेत् ? पल्लवानां पत्राणां पक्षे विटपानां यद्वा भृङ्गाराणां कुलैः समूहैरुपलालितापि सदङ्गैर्हृष्टैः सुन्दरैश्च भृङ्गैरलिभिः कामिभिश्च कुसुमप्रदेशे पुष्पस्थाने मुहुर्वारं वारं दृष्टावलोकितार्थादुपभुक्ता या सा । 'पल्लवो विस्तरे खङ्गे भृङ्गारेऽलक्तकरागयोः । चलेऽप्यस्त्री तु किसले विटपेऽपि च पल्लवः । इति विश्वलोचनकारः । समासोक्तिरलंकारः ॥११५॥

**गतो भवान् दृक्पथमात्रमित्थं मनोभवाराम इवाभिरामे ।**
**त्वत्सन्निधौ विक्रिययान्तरङ्ग-पक्षी समापाशु गुणीश तस्याः ॥११६॥**

---

भ्रमरोंको पंक्ति ऐसी जान पड़ती थो, मानों पथिकोंको बांधनेके लिये कामदेवकी लोहनिर्मित जंजीर ही हो ॥११३॥

**अर्थ**---अत्यन्त खिली हुई गुलाबकी झाड़ी समीपमें भ्रमण करते भ्रमरोंके शब्दके छलसे ऐसी जान पड़ती है, मानों जगत्को जीतनेके इच्छुक कामदेवका नगाड़ा ही निरन्तर बज रहा हो ॥११४॥

**अर्थ**---जिस नन्दनवनमें शीघ्र ही प्रसन्ना-खिली हुई (पक्षमें प्रसन्नचित्त) वह गणिका-जुही (पक्षमें वेश्या) सुशोभित होती है, जो कि पुष्पोंके स्थान पर सुन्दर शरीर वाले भ्रमरों (पक्षमें विटों) से देखी गई है तथा पल्लवानां कुलैः-किसलयोंके समूह (पक्षमें कामीजनों समूहसे) उपलालित-सेवित अथवा उपभुक्त है ॥११५॥

---

१. 'गणिका यूथिका वेश्या' इति विश्वलोचनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गत इत्यादि—हे गुणीश ! इत्थं प्रकारेण मनोभवस्य कामदेवस्याराम इवाभिरामे मनोहरे तस्मिन्नारामे भवान् दृक्पथमात्रं गतस्तदा तस्या अन्तरङ्गपक्षी विक्रियया विकारभावेन पक्षिचेष्टया वाऽऽशु शीघ्रमेव त्वत्सन्निधौ सन्निकटे समाप प्राप्तवान् ॥११६॥

**यतः प्रभृत्येव भवानवश्यं सुदर्शनीयोऽपि बभावदृश्यः ।**
**नितम्बिनीनां मणिकाभिजाताऽहो साम्प्रतं सा कणिकेव जाता ॥११७॥**

यत इत्यादि—अवश्यं सुदर्शनीयोऽपि भवान् यतः प्रभृति अदृश्य एव प्रच्छन्नो बभौ तत आरभ्य या नितम्बिनीनां मणिकाभिजाता सर्वदादरणीयमणिरूपापि साम्प्रतं सा कणिकेव जाता भवद्वियोगवशेन कृशप्राया बभूव । अहो आश्चर्ये ॥११७॥

**यावन्नदीनं दिनमुत्ततार कथं कथं साऽप्यबलाप्युदार ।**
**भयंकरा प्रत्युत सा विशेषाद्वनी पुनः सा रजनिश्च केषाम् ॥११८॥**

यावदित्यादि—हे उदार विशालहृदय ! सापि किलाबलापि स्वभावतो या सा कथं कथमपि कृत्वा यावन्नदीनं दिनं समुद्रवद् दीर्घं दिवसमुत्ततार व्यतीतवती पुनः सा रजनिश्च केषां सौभाग्यशालिनां या सारस्य जनिर्जन्मदात्री सैव प्रत्युत तस्यै विशेषाद्भयंकरा वनी जातेति यावत् । श्लेषोऽलंकारः ॥११८॥

**मनोऽम्बुजस्थोऽप्यखिलप्रदेशव्यपेक्षणीयः खलु विष्णुवेषः ।**
**अर्द्धावशिष्टा भवता महेशाहो त्वां त्रिमूर्तिं निजगाद चैषा ॥११९॥**

मनोऽम्बुजस्थ इत्यादि—हे महेश ! महांश्चासावीशश्चेति महेशस्तत्सम्बुद्धौ

---

अर्थ—हे गुणीश ! इस प्रकार कामदेवके उपवनके समान सुन्दर उस नन्दन वनमें आप उस विद्युत्प्रभाके दृष्टिगोचर ही हुए थे कि शीघ्र ही उसका मनरूपी पक्षी विक्रियया-विकार भावसे अथवा पक्षि सम्बन्धी चेष्टासे आपके निकट आ पहुँचा ॥१६॥

अर्थ—सुदर्शनीय होने पर भी आप जिस कारण उस समयसे अदृश्य रहे, उस कारण वह विद्युत्प्रभा स्त्रियोंमें मणिकाके समान श्रेष्ठ होने पर भी इस समय कणिकाके समान कृश हो गई है, यह आश्चर्यकी बात है ॥११७॥

अर्थ—हे विशालहृदय ! स्वभावसे अबला होने पर भी उसने किसी तरह नदीन-समुद्रके समान विस्तृत दिनको तो व्यतीत कर लिया, सा रजनि-वह रात्रि जो कि किन्हीं सौभाग्यशाली पुरुषोंके लिये सारजनि-सार्थक जन्म वाली होती है, उसके लिये विशेषकर भयंकर अटवीके समान हो गई है ॥११८॥

अर्थ—हे महेश ! महान् राजन् ! (पक्षमें हे महादेव !) आपने उसे अर्द्धा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पक्षे हे शिव ! सैषा त्वया अर्द्धावशिष्टा कृता महादेवेन गौरीत्वं नीता पक्षे दौर्बल्येनार्धमवशिष्टं यस्याः सा, यतस्त्वं तस्या मन एवाम्बुजं कमलं तत्र तिष्ठति स मनोऽम्बुजस्थो ब्रह्मात्मकत्वेनाधीतः सन् पुनरखिलेषु प्रदेशेषु व्यपेक्षणीयः सर्वत्र सर्वास्ववस्थासु त्वमेवावलोकनीयोऽभूदिति कृत्वा च त्वमेव विष्णुवेष इत्थं त्वामेवैषा त्रिमूर्ति निजगाद ॥११९॥

**वित्ताश्रितं चित्तमभूच्च तस्याभवत्समीपेऽथ पुनः कुतः स्यात् ।**
**अर्थक्रियाकारिशरीरमेतदकारणं कार्यमिवार्द्रचेतः ॥१२०॥**

वित्ताश्रितमित्यादि—हे आर्द्रचेतः ! करुणाशील ! तस्याश्चित्तं यद्वित्तया विचारकृत्तयाऽऽश्रितं तच्च भवत्समीपेऽभूत्त्वदधीनं बभूवाथ पुनस्तस्या एतच्छरीरमकारणं कारणेन विना कार्यमिव कुतः स्यादिति सा निश्चेष्टा बभूवेति । अन्यथानुपपत्तिरलंकारः ॥१२०॥

**आह्वानने तां भवतः प्रवृत्तां त्यक्त्वा क्षुधाद्या अपि ता निवृत्ताः ।**
**सख्यस्तदीया न पुनस्त्वदीया दृक् तद्धृदाजीवनदायिनी याः ॥१२१॥**

आह्वानन इत्यादि—तां भवतः श्रीमत आह्वानने सन्निमन्त्रणे प्रवृत्तां त्यक्त्वा चैकाकिनीं कृत्वा ताः प्रसिद्धाः सर्वदापि सहचारिण्यस्ताः क्षुधाद्या अपि सख्यो निवृत्ता दूरंगताः पुनरपि तस्या हृदो मनस आजीवनदायिनी प्राणप्रदा या त्वदीया दृक् सा नाभूदिति ॥१२१॥

---

वशिष्ट कर दिया है–अर्धाङ्गिनी बनाकर गौरी रूप प्राप्त कर दिया है (पक्षमें वह सूख कर आधी रह गई है) फिर आप उसके मनरूपी कमलमें स्थित हैं, इसलिये पद्मनिवासी ब्रह्मा है (पक्षमें सदा अपने मनमें आपका ध्यान करती है) तथा संकल्पके कारण सब जगह दिखायी [1]देते हैं, अतः विष्णु हैं । इस प्रकार वह आपको त्रिमूर्ति कहती है ॥११९॥

**अर्थ**—हे करुणाशोल ! उसका जो चित्त वित्ताश्रित–विचारकतासे सहित था वह तो आपके समीप पहुँच गया–आपके अधीन हो गया। इसलिये जिस प्रकार कारणके बिना कार्य नहीं होता इसी प्रकार चित्तके बिना उसका शरीर अर्थक्रियाकारि कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। भाव यह है कि वह निश्चेष्ट हो गई है ॥१२०॥

**अर्थ**—आपके बुलानेमें प्रवृत्त उस विद्युत्प्रभाको छोड़कर उसकी क्षुधा आदि सखियाँ भी चली गई हैं, फिर भी उसके हृदयको जीवन देने वाली आपकी दृष्टि उसे प्राप्त नहीं हो रही है ॥१२१॥

१. 'विरहे स्यात्तन्मयं भुवनम्' इति प्रसिद्धेः ।



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


स्वमिन्दुकान्तत्वमहो जगाद मुखं मृगाक्ष्याः प्रकृतप्रसाद ! ।
विधूदये सुस्रवदस्रुकायः स्वतोऽमुतो येन पयोनिकायः ॥१२२॥

स्वमित्यादि—हे प्रकृतप्रसाद ! कृपाशील ! तस्या मृगाक्ष्या मुखं स्वमात्मसम्बन्धि तदिन्दुकान्तत्वं चन्द्रसदृशसुन्दरत्वमुत चन्द्रकान्तमणित्वं जगाद येन किल कारणेन विधोश्चन्द्रस्योदये सति तावदेवामुतस्तस्या मुखात् सुस्रवन्ति निर्व्रजन्ति अश्रूणि तान्येव कायो यस्य स पयोनिकायोऽम्बुप्रवाहः स्वत एवेति अहो समद्भुतमेतत् । अन्यथानुपपत्तिः ॥१२२॥

निशो निवृत्तौ स्विदुषो गतं वा रुषो विधिं पूर्वदिशोऽविलम्बात् ।
तत्राथ च त्रासमवाप शापवशंगता ते सुतरामपाप ॥१२३॥

निशो निवृत्तावित्यादि—हे अपाप ! पापाचारवर्जित ! निशो रात्रेर्निवृत्तौ समाप्तावपि स्विदुषः प्रातरभूत् तदविलम्बात् तत्कालमेव पूर्वदिशः प्राच्या रुषो विधिं गतं पूर्वं दिशापि सपत्नी तस्याः प्रकोपोऽभूत् । ततोऽथ च तत्रापि ते शापवशं गता सा विरहाधीना सुतरां त्रासमवाप । अनुप्रासोऽलंकारः ॥१२३॥

इत्येवमेषा ललना विशेषात्प्रवर्तते त्वत्स्मरणावशेषा ।
स्माहारमप्युज्झति नैव हारं गता बतारान्मदनाधिकारम् ॥१२४॥

इत्येवमित्यादि—इत्येवमारात् पूर्णतया मदनस्य कामस्याधिकारं गता तदधीना सत्येषा ललना हारं कण्ठभूषणमित्युपलक्षणं तेन सर्वंभृङ्गारमेव न किन्तु आहारमपि उज्झति त्यजति स्मेति बत सखेदमुच्यते । विशेषात्केवलं त्वत्स्मरणावशेषा भवता सह समागमस्याशामात्रतया प्रवर्तते भो प्रभो ! अनुप्रासोऽलंकारः ॥१२४॥

---

अर्थ—हे कृपाशील ! उस मृगनयनीका मुख अपने आपकी चन्द्रमाके समान सुन्दरता अथवा चन्द्रकान्तमणित्वको स्वयं कहता है, क्योंकि चन्द्रोदय होने पर उससे झरते हुए अश्रुसमूहरूप जल-प्रवाह स्वयं प्रवाहित होने लगता है। यह अद्‌भुत बात है ॥१२२॥

अर्थ—हे अपाप ! पापाचाररहित ! रात्रिकी समाप्ति होने पर उषाकाल आता है पर वह शीघ्र ही पूर्व दिशाके क्रोधको प्राप्त हो जाता है, अतः आपके क्रोधकी वशीभूत वह उस समय भी अत्यधिक त्रास—दुःखको प्राप्त होती है ॥१२३॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्णरूपसे कामकी अधीनताको प्राप्त इस स्त्रीने न केवल हार (उपलक्षणसे सर्वंशृङ्गार) को छोड़ा है, किन्तु आहार भी छोड़ दिया है। केवल आपका स्मरण ही उसके शेष रहा है, यह बड़े दुःखकी बात है ॥१२४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**स्मरोहितः पीत इतः स यावन्नैकान्तकस्तिष्ठति शुद्धवर्णः ।**
**श्यामापि सा रक्ततया लसन्ती चित्रानुरूपा धवला बभूव ॥१२५॥**

स्मरोहित इत्यादि—स शुद्धवर्णः पवित्रजातीयः श्वेतरूपो वा पीतः पिशङ्गो रोहितो रक्तश्च सन् यावन्नैकान्तकोऽनेकरूपो भूत्वा तिष्ठति स्म तथा स्मर इति रूपेणो-हितस्तर्कविषयीकृतः सम्यगवलोकितोऽपि चैकान्तक एकान्तको भूत्वा यावन्न तिष्ठति तावत् सा श्यामापि नवयौवनस्वरूपा चित्रानुरूपा चित्रा नाम स्वर्गवेश्या तदनुरूपा रक्ततयाऽनुरागवत्तया लसन्ती धवला प्रियस्याभिलाषावती तथा श्यामा कृष्णवर्णाऽरुण-वर्णात्मिका धवला श्वेतरूपा चेति चित्रानुरूपा नानावर्णा बभूवेति श्लेषोऽलंकारः ॥१२५॥

**पुनः सखीनामनुशासनेन चिरेण चाशासहिता सती सा ।**
**विराजिता धामनि धाममूर्तेर्मूर्तिं तु चित्ते बत चिन्तयन्ती ॥१२६॥**

पुनरिति—पुनरपि सखीनां सहचरीणामनुशासनेनाश्वासनदानेन चिरेण चाशा-सहिताभिलाषवती सा सती धाममूर्तेस्तेजस्विनस्ते मूर्तिमाकारं तु चित्ते चिन्तयन्ती बत सकष्टं धामनि स्वस्थाने विराजिताऽभूत् ॥१२६॥

**भाग्यानुयोगात् सहसाभ्युपात्तस्तया स चिन्तामणिरित्युदात्तः ।**
**समर्थयत्वर्थमथानवद्या प्रवर्तते चेदिह भावविद्या ॥१२७॥**

---

**अर्थ—शुद्धवर्ण**—पवित्र जातीय अथवा श्वेतरूप, **पीत**—पीतवर्ण और **रोहित**—लालवर्ण वाले जयकुमार जब तक नैकान्तक—अनेकरूप होकर स्थित रहे (पक्षमें **स्मरोहित**—यह स्मर—कामदेव है इस तर्कणाके विषयभूत और **पीत**—अच्छी तरह अवलोकित होकर भी **एकान्तात्मक**—होकर स्थित न हो सके तब तक वह स्वर्गवेश्या भी **श्यामा**—नवयौवनवती, **चित्रानुरूपा**—चित्रा नामके अनुरूप **रक्ततया**—अनुरागसे युक्त होनेके कारण शोभायमान और **धवला**—धवं पुरुषं लाति गृह्णातीति धवला) प्रियविषयक अभिलाषासे युक्त होती हुई, **श्यामा-कृष्णवर्ण**, **रोहिता**—अरुणवर्ण और **धवला**—श्वेतवर्ण रूप इस प्रकार चित्रानुरूपा—नाना रूप वाली हो गई ।

**भावार्थ**—उस चित्रा नामक देवीने अपने नामके अनुकूल विविध रूप दिखलाये ॥१२५॥

**अर्थ**—फिर भी सखियोंके आश्वासनसे चिरकालीन आशा लगाये हुई वह अपने चित्तमें आप तेजस्वीकी मूर्ति—आकृतिका चिन्तन करती हुई अपने स्थानमें स्थित है ॥१२६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**भाग्यानुयोगादित्यादि**—अथ स उदात्त उत्तमश्चिन्तामणिरिति तया भाग्यानुयोगात् शुभोदयवशात् सहसाद्याभ्युपात्तः समुपालब्धः। स एष पुनरिह चेद्यदि भावविद्या पदार्थज्ञानरूपाऽनवद्या निर्दोषा प्रवर्तते तदार्थं समर्थयितुं वाञ्छितप्रदानं करोतु। अनुप्रास एवालंकारः ॥१२७॥

**अथायमास्ते समयः सहायः येनाभ्युपात्तः समरूपकायः।**
**मया शरोपाधिकया स्मरस्य त्वं निर्जरप्राय इह प्रशस्य ! ॥१२८॥**

**अथायमित्यादि**—हे प्रशस्य ! अद्यायं समयः सहाय आस्ते येन तया मया रूपं च कायः शरीरं च तौ समौ रूपकायौ यस्य स त्वं निर्जरप्रायो जरारहितो युवा रलयोरभेदान्निर्जलप्रायः स तया मया स्मरस्य कामस्य शरेण बाणेन तथा जलेन कृत उपाधिर्यस्यास्तयाऽभ्युपत्तः। श्लेषोऽलंकारः ॥१२८॥

**निका गुणेनास्मि भवानिदानीमेकायते तावदथात्ममानिन्।**
**समाश्रयात् साधुदशत्वमस्तु नो चेत्पुनः शून्यतयास्म्यवस्तु ॥१२९॥**

**निकेत्यादि**—हे आत्ममानिन् स्वोपयोगशालिन् ! अहं गुणेन सह निका गुणनिका गुणग्राहिका शून्यरूपा च भवामि, किन्तु भवानिदानीमेकायत एक इवाचरत्येकाकी च भवति प्रसिद्धा वा तावदथ द्वयोरपि समाश्रयात्संयोगात् साधुदशत्वं सुन्दरावस्थत्वं सुष्ठु

---

**अर्थ**—आज शुभोदयसे उसने उत्तम चिन्तामणि स्वरूप आपको प्राप्त किया है-आप यहाँ विद्यमान है यह ज्ञात किया है। यदि पदार्थ ज्ञानरूप निर्दोष भावविद्या आपके पास है-आप उसके अभिप्रायको समझ सके हैं तो वाञ्छित-मनोरथको प्रदान करें-पूर्ण करें ॥१२७॥

**अर्थ**—हे प्रशंसनीय ! यह अनुकूल समय है जिससे कि कामबाणसे पीड़ित मैंने निर्जर प्राय-तरुणावस्थासे युक्त आपको प्राप्त किया है। **अर्थान्तर**—**शरोपाधि**-जलके उपद्रवसे पीड़ित मैंने **निर्जलप्राय**-जलके उपद्रवसे रहित आपको प्राप्त किया है ॥१२८॥

**अर्थ**—हे आत्ममानिन् ! स्वोपयोगशालिन् ! मैं गुणसहित निका अर्थात् गुणनिका गुणग्राहिणी हूँ अथवा शून्यरूप हूँ और आप इस समय एकके समान आचरण करते हैं अथवा एकाको-द्वितीयरहित हैं, अतः दोनोंके संयोगसे साधुदशत्व-सुन्दरावस्था हो अथवा अच्छी तरह दश संख्या हो-दोनोंकी पाँच-पाँच इन्द्रियोंके मिलनेसे दश संख्या हो। यदि ऐसा नहीं होता है तो शून्यताके कारण मैं अवस्तु रूप होती हूँ, अर्थात् मरणको प्राप्त होती हूँ ॥१२९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



दशसंख्यात्वं चास्तु, नो चेदन्यथा पुनः शून्यतयाऽवस्तु अस्मि मरणं गच्छामीति ॥१२९॥

**समभूर्मम भूतिरात्मनः प्रभवेन्नेति भुवस्तले पुनः ।**
**भवतां भवतादसौ रुचिः स्विदहिंसावशवर्तिनां शुचिः ॥१३०॥**

समभूरित्यादि—अस्मिन् भुवस्तले पुनर्ममात्मनो भूतिर्भस्मभावो न प्रभवेदिति भवतामहिंसावशवर्तिनां शुचिः पवित्ररूपा रुचिरसौ समभूः सर्वत्र समदर्शिका सा स्विदवश्यमेव भवतात् समस्तु । अनुप्रासोऽलंकारः ॥१३०॥

**निजः परो वेति न वेत्ति सत्तम उदेत्युतस्वित्कतमेषु हृत्तमः ।**
**स्वमेव विश्वं वदतेऽधुना नमः समस्तु तस्मै समदर्शिने मम ॥१३१॥**

निज इत्यादि—सत्तमः सज्जनोत्तमो भवादृशः सोऽयं निजोऽयं वा पर इति न वेत्ति विकल्पयति । उतस्वित् किन्तु एतत्तु हृदश्चित्तस्य तमोऽन्धकारः कतमेषु क्षुद्रेषु जनेषूदेति सम्भवति । मम तु स्वं विश्वं विश्वं वा स्वं वदते तस्मै समदर्शिनेऽधुना नमः समस्तु । अत्राप्यनुप्रासः ॥१३१॥

**तनुरेषा परिशेषात् सदावदाता न धीमतां किमु चित् ।**
**तारुण्ये कारुण्यं विधेहि सुविधे ! निधेहि तत्र रुचिम् ॥१३२॥**

तनुरेषेत्यादि—हे सुविधे ! पुण्यात्मन् ! एषा तनुरपि परिशेषान्न्यायात् परोपकारकरणादेव सदावदाता निर्दोषा भवतीति धीमतां विचारकारिणामपि चिद् विचारधारा किमु नास्ति ? किन्त्वस्त्येवेति तारुण्ये यौवने कारुण्यं करुणाबुद्धि विधेहि, यौवनं व्यर्थं मा कुरु रुचिं निधेहि तत्रेति । वक्रोक्तिरलंकारः ॥१३२॥

---

**अर्थ**—इस पृथिवी तलपर मेरी भस्म न हो अर्थात् मेरी मृत्यु न हो, अतः अहिंसा धर्मके वशवर्ती आपकी समदर्शिका पवित्र रुचि हो—मेरी प्रार्थना पर आपकी रुचि—अभिलाषा प्रकट हो ॥१३०॥

**अर्थ**—आप जैसे सज्जनोत्तम यह मेरा है यह दूसरा है ऐसा विकल्प नहीं करते किन्तु हृदयका यह अन्धकार कितने ही क्षुद्र पुरुषोंमें होता है । आप तो अपनेको विश्व और विश्वको अपना कहते हैं, अतः समदर्शी हैं आपके लिये मेरा नमस्कार हो ॥१३१॥

**अर्थ**—हे पुण्यात्मन् ! परिशेष न्यायसे यह शरीर भी परोपकार करनेसे ही सदा निर्दोष होता है, क्या यह विचारवान् मनुष्योंकी विचारधारा नहीं है ? अर्थात् अवश्य है, अतः यौवन पर दया करो, उसे व्यर्थ मत जाने दो, उस पर रुचि करो ॥१३२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



इत्यादिवेदवाक्यैरमुकमनोऽमरवरप्रसादाय ।
काममखं सा विदधे निजशक्त्याङ्गानुयोगमयम् ॥१३३॥

इत्यादीत्यादि—'सा देवता तत्र गतो भवान्' इत्यादिभिर्वेदवाक्यैः कामोत्पादक-वचनैरमुकस्य जयकुमारस्य मन एवामरवरो देवाधिपस्तस्य प्रसादाय प्रसत्तये निज-शक्त्या यथात्मशक्ति अङ्गस्य स्वशरीरस्यानुयोगः प्रेरणं तन्मयं यद्वाङ्गस्यानन्दस्यानुयोगमयं काममखं स्मरयज्ञं विदधे कृतवती । 'अङ्ग संबोधनेऽसख्यं पुनरर्थप्रमोदयोः' इति विश्व-लोचने । रूपकोऽलंकारः ॥१३३॥

प्रखरैः शरैरिवामुं भिन्दन्ती सुन्दरी दृगन्तैः सा ।
स्मरशासनवत् सघनं जघनं समदर्शयत्तावत् ॥१३४॥

प्रखरैरित्यादि—प्रखरैस्तीक्ष्णैः शरैर्बाणैरिव दृगन्तैः कटाक्षैरमुं जयं भिन्दन्ती सा सुन्दरी देवी स्मरशासनवत् कामदेवाज्ञापत्रमिव सघनं स्थूलं जघनं जघनस्थलं तावत् समदर्शयत् प्रकटयामास ॥१३४॥

सैषाभ्यञ्चति निम्नगा प्रथमतः फेनायमानं स्मितं
पश्चान्निर्मलनीरनिर्झरनिभेऽस्याः स्रंसमानेंऽशुके ।
सद्योऽप्यभ्युदियाय कामिरमणद्वीपप्रतीपः स्तनो
व्यक्तोऽतो वलिबद्धनाभिकुहरः कल्लोलितावर्तवत् ॥१३५॥

सैषेत्यादि—एषा निम्नगा निम्नाचारवतीत्यतो निम्नगा नदीवातः प्रथमतस्तावत् फेन इवाचरतीति फेनायमानं स्मितमीषद्धसितं तदभ्यञ्चति स्म प्रसारयामास । तत्पश्चा-दस्या निर्मलनीरस्य निर्झरः प्रवाहस्तस्य निभा प्रभेव निभा यस्य तस्मिन्नंशुके वस्त्रे

---

अर्थ—'उस देवताने' इत्यादि वेद वाक्योंके द्वारा जयकुमारके मनरूपी श्रेष्ठ देवको प्रसन्न करनेके लिये अपनी शक्तिके अनुसार स्वशरीरकी प्रेरणारूप कामयज्ञ किया ॥१३३॥

अर्थ—तीक्ष्ण बाणोंके समान कटाक्षोंसे जयकुमारको भेदती हुई उस सुन्दरी-देवीने कामदेवके आज्ञा पत्रके समान स्थूल जघनभाग दिखलाया—प्रकट किया ॥१३४॥

अर्थ—वह देवी निम्न आचार वाली होनेसे निम्नगा—नदीके समान थी। सबसे पहले उसने फेनके समान आचरण करने वाली मन्द मुसक्यान प्रकट की, पश्चात् स्वच्छ जलके झरनेके समान इसका वस्त्र खिसकने पर शीघ्र ही कामी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स्रंसमाने प्रस्खलिते सति कामिने रमणोऽतिप्रियो यो द्वीपस्तस्य प्रतीपः प्रतिस्पर्द्धी स्तन उरोजभागः सद्योऽप्यभ्युदियाय। अतः पुनर्वलिभिस्त्रिभङ्गीभिर्बद्धोऽनुनिबद्धो योऽसौ नाभिकुहरस्तुण्डिकाप्रदेशः स कल्लोलितावर्तवत् सतरङ्गभ्रमणवद् व्यक्तोऽभूत्। उपमालंकारः ॥१३५॥

नाङ्कं टङ्कमिवाशनिप्रतिकृतौ लेभे वचस्तद्धृदि
हावादीहमनाङ्न तत्परिणतिं प्रापोषरे बीजवत्।
तस्याः किञ्च मनोरथोन्नतगिरिं भेत्तुं वचोवज्रराट्
श्रीस्तम्बेरमपत्तनेश्वरमुखादेवं पुनर्निर्ययौ ॥१३६॥

नाङ्कमित्यादि—उपर्युक्तं देवताया वचस्तस्य जयकुमारस्य हृदि अशनेर्वज्रस्य प्रतिकृतौ टङ्कमिव ग्रावदारणास्त्रवन्नाङ्कं स्थानं लेभे समाप। तथा तस्या हावादि चेह जयकुमारस्य हृदि ऊषरे क्षेत्रे बीजवत्तत्परिणतिं परिणमनं न प्राप किञ्चिदपि कर्तुं न शशाक। किंच प्रत्युत तस्या देवताया मनोरथ एवोन्नतो गिरिः शिखरी तं भेत्तुं श्रीस्तम्बेरमपत्तनस्य हस्तिनागपुरस्य य ईश्वरः सोमसुतस्तस्य मुखाद् वच एव वज्रराट् स एवं पुनर्निर्ययौ। उपमामुख्योऽलंकारः ॥१३६॥

रसहितं नवनीतमगान्मनो वचनचक्रमभूत् कटुतक्रवत्।
किलकिलाटवदङ्गगतं नु ते किमु न पश्यसि गोरससारिके! ॥१३७॥

रसहितमित्यादि—हे गोरससारिके! वाच आनन्दवेदिके! गोपिके च वा त्वं किमु न पश्यसि ते रस एव शृङ्गार एव हितं यस्य तदथवा रकारेण वह्निना सहितं मनो नवनीतं

---

मनुष्यके क्रीड़ाद्वीपके समान स्तन प्रकट हुआ और इसके पश्चात् लहरोंसे युक्त भँवरके समान त्रिवलियोंसे युक्त नाभिरूप गर्त प्रकट हुआ ॥१३५॥

अर्थ—जिस प्रकार वज्रकी प्रतिमा पर पत्थर तोड़ने वाली टाँकी स्थान नहीं पाती है उसी प्रकार देवताके वचन जयकुमारके हृदयमें स्थानको नहीं प्राप्त कर सके और जिस प्रकार ऊषर भूमिमें बीज अंकुरादिरूप परिणतिको प्राप्त नहीं होते उसी प्रकार उसके हावभाव आदि भी जयकुमारके हृदयमें कुछ भी परिणमन नहीं कर सके। पश्चात् उसके मनोरथरूपी उन्नत पर्वतको भेदनेके लिये हस्तिनानपुरके स्वामी जयकुमारके मुखसे इस प्रकारका वचनरूपी श्रेष्ठ वज्र प्रकट हुआ ॥१३६॥

अर्थ—हे गोरससारिके! वचनसम्बन्धी आनन्दका अनुभव करने वाली! अथवा हे गोपिके! रसहित-शृङ्गारसहित तुम्हारा मनरूपी नवनीत तो र-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तदगात् द्रुतमेव वचनचक्रं च ते तक्रवत् कटु अभूज्जातं तथा तेऽङ्गगतम् तु पुनः किल-किलाटवन्निःसारमेव ॥१३७॥

**अहो धुरि कुलस्त्रीणां प्राप्तयापि पराप्तया ।**
**अनङ्गरूपमङ्गादस्त्वयाऽभाषि सुभाषिणि ॥१३८॥**

अहो इत्यादि—अङ्ग हे भद्रे ! कुलस्त्रीणां धुरि प्राप्तयापि कुलीनासु प्रथमयापि पुनः परेण पुरुषेणाप्तया स्वीकृतयापि त्वयाद एतदनङ्गरूपं कामवासनापूर्णमतोऽनुचितात्मकमभाषि कथितमस्ति । हे सुभाषिणि ! एतत्सम्बोधनं पूर्वकालापेक्षया ॥१३८॥

**शुचेस्तव मुखाम्भोजान्निरेति किमिदं वचः ।**
**दूरे तिष्ठति हे देवि रेफगर्भादतः सुधीः ॥१३९॥**

शुचेरित्यादि—हे देवि ! तव शुचेः परमपुनीतान्मुखाम्भोजाद् वदन कमलादपोदमेतादृग्वनं किमिति कथं निरेतीत्यहं न जाने रेफगर्भाद् रेफो निन्दितो गर्भोऽन्तर्भागो यस्य तस्मादतो वचनात् सुधीर्दूरे तिष्ठति । 'रेफो रवर्णे पुंस्येव कुत्सिते त्वभिधेयवत्' इति विश्वलोचने ॥१३९॥

**विरम विरमतः सुरमेऽमुकतः सुकतत्वमत्र न हि जातु ।**
**हा तुच्छविषयसुखतः क्रोणास्युरु दुर्गतेर्दुःखम् ॥१४०॥**

विरमेत्यादि—हे सुरमे ! सुष्ठमहिले ! अमुकतो विरमतोऽसुन्दराद्वचनाद्विरम दूरीभव, यतोऽत्र जातुचिदपि सुकतत्वमाह्लादकारित्वं नास्ति हि संस्मरेति किल तुच्छान्निःसाराद्विषयसुखतो दुर्गतेर्नारकाभिधाया उरु दुःखं सागरान्तभावि कष्टं क्रोणासि । अनुप्रासोऽलंकारः ॥१४०॥

---

सहित—अग्निसे सहित हो चला गया—पिघलकर बह गया, वचनचक्र—वचनसमूह तक्र—छाछके समान कटुक हो गया और शरीरगत जो चेष्टा है वह किलकिलाट—छोकके समान निःसार है, यह क्या तुम देख नहीं रही हो ।

भावार्थ—तुम्हारे मानसिक, वाचनिक और शारीरिक विकार मुझे विचलित करनेमें अकार्यकारी हैं ॥१३७॥

अर्थ—हे सुभाषिणि ! कुलीन स्त्रियोंमें अग्रणी होकर भी तुमने परपुरुषको प्राप्त हो यह कामवासनापूर्ण अनुचित वचन कहा है ॥१३८॥

अर्थ—हे देवि ! तुम्हारे पवित्र मुखकमलसे यह वचन कैसे निकला ? जिसका मध्यभाग निन्दनीय है, ऐसे वचनसे सुधीजन—ज्ञानीजन दूर रहते हैं ॥१३९॥

अर्थ—हे भद्रमहिले ! इस अशुभ वचनसे दूर रहो, क्योंकि इसमें सुख देने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



रेफमञ्जुलयोः साम्यभृतामाज्ञापरत्वतः ।
नररामां सदा देवि पररामामुपैमि भोः ॥१४१॥

रेफेत्यादि—भो देवि ! रेफं नन्दितं च मञ्जुलं मनोहरं तयोर्द्वयोः साम्यभृतां समबुद्धीनां सतामाज्ञापरत्वतोऽहं परेण गृहीतां रामां पररामां तां सदा नररामां रलयोरभेदाल्ललामां सुन्दरीं नोपैमीत्यनुप्रासः ॥१४१॥

औदासीनवचोऽवचाय कुणपीप्राया भवन्तीति साऽऽ-
दायामुं परिगत्वरी तु सहसा सचचक्षुषा भर्त्सिता ।
त्यक्त्वाऽगात्तमहो सुशीलमहिमाऽसौ येन संजायते
सर्पो हारतयाऽनलो जलतयाऽसिः पुष्पमाला तया ॥१४२॥

औदासीन्यवच इत्यादि—सा देवी जयस्य पूर्वोक्तमुदासीनतायुक्तं वचोऽवचाय श्रुत्वा पुनः कुणपीप्राया दुर्गन्धदुराकारवती भवन्तीत्यमुं जयकुमारमादाय तु पश्चात्परिगत्वरी धावनशीला सा सहसा सचचक्षुषा सुलोचनया भर्त्सिता संतर्जितातः पुनस्तं जयकुमारं त्यक्त्वाऽगाज्जगाम । अहो सुशीलस्यासौ महिमा येन सर्पो हारतया भूषणरूपेणानलोऽग्निर्जलतयाऽसिश्च पुष्पमाला तया संजायते परिणमनमेति ॥१४२॥

निष्कामितामिति समीक्ष्य सुपर्वणाथ
हर्षप्रफुल्लवदनेन सजानिनाऽऽरात् ।
आगत्य तेन समपूजि सजानिरेष
यो ब्रह्मणापि महितः स न मह्यते कैः ॥१४३॥

निष्कामितामित्यादि—इत्येवं निष्कामितां शीलवत्तां समीक्ष्याराच्छीघ्रमेव हर्ष-

---

वाली कहीं कोई बात नहीं है । खेद है कि तुम तुच्छ विषयसुखसे नरक नामक दुर्गतिके भारी दुःखको खरीद रही हो ॥१४०॥

अर्थ—हे देवि ! भद्र और अभद्रमें समताभाव धारण करने वाले सत्पुरुषोंको आज्ञामें तत्पर होनेके कारण मैं दूसरेके द्वारा गृहीत सुन्दर स्त्रीको भी स्वीकृत नहीं करता हूँ ॥१४१॥

अर्थ—वह देवी जयकुमारके पूर्वोक्त उदासीनतापूर्ण वचन सुनकर राक्षसी जैसी दुर्गन्धित तथा विरूप आकार वाली होती हुई जयकुमारको लेकर भागने लगी । तब सुलोचनाने उसे डांटा, जिससे जयकुमारको छोड़कर चली गई । कवि कहते हैं कि सुशीलकी महिमा आश्चर्यकारी है, क्योंकि उससे सर्प हाररूप, अग्नि-जलरूप और तलवार पुष्पमालारूप परिणत हो जाती है ॥१४२॥

अर्थ—इस प्रकार शीलवत्ताकी परीक्षा कर प्रसन्न मुख वाले देवने देवी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



प्रफुल्लवदनेन प्रसन्नमुखेन सजानिना प्रियासहितेन तेन सुपर्वणा देवेनागत्य सजानिः प्रियासहित एष जयकुमारः समपूजि पूजितोऽभूदिति । योऽत्र ब्रह्मणा शीलेन महितोऽर्चितः स कैर्नं मह्यतेऽपि तु सर्वैर्मह्यते । अर्थान्तरन्यासः ।।१४३।।

गच्छन् वै सह तीर्थदेशमनयाऽसौ हंसगत्याखिलं
जन्मानर्घमथ व्रजन्नमलहृत्प्रालब्धबोधोऽवनेः ।
पुण्यात् प्रापितविद्य एवमनिशं प्राणप्रियः पूजितुं
तुष्टया प्रागमयज्जयः सुपुरुषो रंहोऽपनेतुं स तु ।।१४४।।

गच्छन्नित्यादि—पुण्यात् प्रापितविद्यः प्रालब्धबोधोऽवनेः प्राणप्रियः प्रजाया वल्लभो जयो नाम सुपुरुषोऽमलहृन्निर्मलान्तःकरणस्तुष्टया प्रसन्नभावेनासौ चरितनामकोऽनया हंसगत्या सुलोचनया सहाखिलं तीर्थदेशं पूजितुं गच्छन् वै नियमेन रंहो गृहस्थाश्रमजनितमानुषङ्गिकमपराधमपनेतुमनिशं सर्वमपि दिनं प्रागमयत् संव्यतीतवान् । एतस्य चक्रबन्धस्य प्रत्यग्राक्षरैः षष्ठाक्षरैश्च गजपुरनेतुस्तीर्थविहरणमिति सर्गविषयनिर्देशः ।।१४४।।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
काव्ये तद्‌गदिते निरेति च चतुर्विंशः पुनीताशयः
श्रीवीरोदयसोदरेऽतिललिते सर्गोऽरिदुर्गेऽप्ययम् ।।१४५।।

श्रीमानित्यादि—श्रीवीरोदयकाव्यं ग्रन्थकर्त्रा रचितं सहोदरो यस्य तस्मिन्, अरिदुर्गेऽरयः प्रतिस्पर्द्धिनो बुधास्तेषां दुःखेन गन्तुं शक्यं तस्मिन् । शेषं पूर्ववत् ।।१४५।।

---

सहित आकर सुलोचना सहित जयकुमारकी पूजा की, सो ठीक ही है। जो ब्रह्मचर्य-शीलव्रतसे पूजित है, वह किनके द्वारा पूजित नहीं होता ? अर्थात् सभीके द्वारा पूजित होता है ॥१४३॥

अर्थ—तदनन्तर जो अनर्घ-अमूल्य जन्मको प्राप्त थे, जिनका हृदय निर्मल था, जिन्हें अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था और पुण्यसे जिन्हें पूर्वभवकी विद्याएँ प्राप्त हुई थीं, ऐसे पृथ्वीपति जयकुमार सत्पुरुषने हंसके समान गतिवाली सुलोचनाके साथ पूजा करनेके लिये तीर्थप्रदेशोंकी यात्रा की तथा गृहस्थाश्रम के पापको दूर करनेके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हुए संतोषपूर्वक समय व्यतीत किया ॥१४४॥

इति श्रीवाणीभूषणब्रह्मचारिभूरामलशास्त्रिविरचिते जयोदय-
महाकाव्ये चतुर्विंशः सर्गः समाप्तः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# पञ्चविंशतितमः सर्गः

बहु सुमत्यवरोधिविधेः क्षयप्रशमतः शमतः स्विदयं जयः ।
झगिति निर्विविदेऽथ भवच्छिदे क्वचिदचित्तरुचिर्निजसंविदे ॥१॥

बहु सुमतीत्यादि—सुमत्यवरोधिविधेः सुमतिज्ञानावरणस्य कर्मणो बहु अत्यन्तं क्षयप्रशमतः क्षयसहितः प्रशमः क्षयोपशमनामा ततः कारणात् स्विदथवा शमतः शमभाववशादयं जयकुमारः क्वचिदपि दृश्यपरिकरे नास्ति चित्तस्य रुचिः प्रतीतिर्यस्य स निजस्यात्मनः संविदे संवेदनायाथ च भवच्छिदे संसारविनाशाय च झगिति शीघ्रमेव निर्विविदे निर्वेदमवाप ॥१॥

अनुभवानिलजालसमीरिते हृदयसारगभीरसरस्वति ।
जनिमवाप भवापदुदीरिणः स्फुटविचारतरङ्गततिः सती ॥२॥

अनुभवेत्यादि—अनुभवः स्वोद्धारस्य विचारस्स एवानिलो वायुस्तस्य जालेन प्रचारेण समीरिते प्रेरिते भवस्य संसारस्य सम्बन्धिनी याऽऽपत् तामुदीरयति यस्तस्य हृदयसार एव गभीरः सरस्वान् सागरस्तस्मिन् स्फुटा विचाराणामेव तरङ्गाणां ततिः परम्पराः हितकर्त्रीत्यतः सती जनिमवाप जन्म लेभे । रूपकोऽत्रालंकारः ॥२॥

क्षणरुचिः कमला प्रतिदिङ्मुखं सुरधनुश्चलमैन्द्रियिकं सुखम् ।
विभव एव च सुप्तविकल्पवद्बहह दृश्यमबोऽखिलमध्रुवम् ॥३॥

क्षणरुचिरित्यादि—कमला धनसम्पत्तिः सा दिशां वशानां मुखानि तानि प्रतिदिङ्मुखं क्षणेऽतोऽनन्तरक्षणे तत इति क्षणरुचिः शम्पेव भाति । तयेन्द्रियाणामिवमैन्द्रियिकं

---

अर्थ—तदनन्तर किसी भी दृश्यमान पदार्थमें जिनके मनकी रुचि नहीं लग रही थी ऐसे जयकुमार सुमति-ज्ञानावरण कर्मके अत्यन्त क्षयोपशम अथवा प्रशमभावसे संसारका उच्छेद करने तथा स्वकीय शुद्ध आत्माकी अनुभूतिके लिये शीघ्र ही विरक्त हो गये ॥१॥

अर्थ—संसारसम्बन्धी आपत्तिका उन्मूलन करने वाले जयकुमारके अनुभव रूपी वायुसमूहसे प्रेरित श्रेष्ठ हृदयरूपी गहरे समुद्रमें स्फुट विचार रूपी तरङ्गोंकी उत्तम परम्पराने जन्म पाया ॥२॥

अर्थ—धनसम्पत्ति प्रत्येक दिशाओंमें चमकने वाली बिजलीके समान है, इन्द्रियजन्य सुख चञ्चल है और पुत्रपौत्रादि रूप यह वैभव स्वप्नके समान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सुखं तच्च सुरधनुराकाशे प्रस्फुटमिन्द्रधनुरिव चलं भाति । तथा चैष विभवः पुत्रपौत्रादिसमागमः सुप्तस्य विकल्पवत् स्वप्नतुल्यमस्तीति, अदोऽखिलमपि दृश्यमध्रुवं क्षणिकमेव । अहहेति महदद्भुतमेतत् । उपमालंकारः ॥३॥

**युवतयो मृगमञ्जुललोचनाः कृतरवा द्विरदा मदरोचनाः ।**
**लहरिवत्तरलास्तुरगा दले क्षणत एव न किन्तु चलाचले ॥४॥**

युवतय इत्यादि—दले सैन्ये मृगस्येव मञ्जुले मनोहरे लोचने यासां ता युवतयो लसन्ति, कृतरवा गर्जनाकारिणस्तथा मदेन दानेन रोचना रुचिर्येषां ते द्विरदा हस्तिनस्तथा तुरगा हया अपि लहरिवज्जलकल्लोलसदृशास्तरलाः शीघ्रगामिनः सन्ति, किन्तु सर्वमेतत्क्षणत एव चलाचलेऽस्मिन् दृश्यते । उपमैवात्र ॥४॥

**लवणिमाब्जदलस्थजलस्थितिस्तरुणिमायमुषोऽरुणिमान्वितिः ।**
**लसति जीवनमञ्जलिजीवनमिह दधात्ववधिं न सुधीजनः ॥५॥**

लवणिमेत्यादि—लवणिमा सौन्दर्यप्रसरः सोऽब्जदलस्थस्य कमलपत्रगतस्य जलस्य स्थितिरिव स्थितिर्यस्य सोऽस्ति । तरुणिमा यौवनभावश्चोषसः सन्ध्यासमयस्य योऽरुणिमा लालिमा तदन्वितिर्यस्य सोऽस्ति । जीवनमायुष्यं च जनस्याञ्जलौ यज्जीवनं जलं तदिव लसति । सुधीजन इह कमप्यवधिं कालमर्यादां न दधातु । उपमैवालंकारः ॥५॥

**न भविनो दिवसा इव शाश्वता मितिरहर्निशयोरिह सम्मता ।**
**स्फुटमनाथ इतो नरनाथतां प्रमुदितो रुचितं पुनरीक्ष्यताम् ॥६॥**

---

है । खेद है कि दिखायी देने वाला सब कुछ अनित्य है, स्थिर रहने वाला नहीं है ॥३॥

**अर्थ**—सेना में मृगके नेत्रोंके समान मनोहर नेत्रों वाली युवतियाँ हैं, गर्जना करने वाले मदस्रावी हाथी हैं और तरङ्गके समान चञ्चल घोड़े हैं, किन्तु इस अत्यन्त चञ्चल-भङ्गुर संसारमें यह सब क्षणभर भी नहीं दिखायी देने वाले हैं, अर्थात् क्षणभरमें नष्ट हो जाने वाले हैं ॥४॥

**अर्थ**—लावण्य कमलदल पर स्थित जलके समान है, यौवन प्रातःकालकी लालिमाका अनुसरण करने वाला है और मनुष्यका जोवन अञ्जलिमें स्थित जलके समान क्षीयमाण है । इसलिये ज्ञानीजन इनके विषयमें समयकी अवधि न करें, अर्थात् ऐसा विचार न करें कि यह वस्तु इतने समय तक हमारे पास रहेगी ॥५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



न भविन इत्यादि—पुनश्च भविनो जन्मधारिणो यावज्जन्मापि दिवसास्ते शाश्वताः सदैकरूपा न भवन्ति, किन्त्विहापि किलाहर्निशयोर्दिनरात्र्योरिव मितिः सम्मतास्ति। यतोऽत्रानाथ एव नरनाथतामितो भाति, प्रमुदितः प्रसन्नतया स्थितो जनश्च रुदित इति पुनरीक्ष्यताम् । अनुप्रासोऽलंकारः ॥३॥

**तमपहाय जवादहमिन्द्रतां पणपणत्वमुरीक्रियतेऽर्वता ।**
**व्रजति किञ्चिदवाप्य मदं पुनस्तदपि पर्ययबुद्धिरयं जनः ॥७॥**

तमपहायेत्यादि—अर्वता निन्दितेन संसारिणा जवादतिशीघ्रमेवाहमिन्द्रतामपहाय त्यक्त्वा पणः कपर्द एव पणो मूल्यं यस्य तत्त्वमुरीक्रियते तदपि पुनरयं बुद्धिरवस्थामात्रानुवेदको जनः किञ्चिदप्यवाप्य मदं व्रजति किलाहमहमैश्वर्यशालीति वदति ॥७॥

**भृतिकवत् खलु षष्ठसतोंऽशतः समनुपालयता जनतां ततः ।**
**नृपतिरित्युररीक्रियते जिन ! धिगपि धिग् जडतामिति देहिनः ॥८॥**

भृतिकवदित्यादि—हे जिन ! भगवन् ! खलु षष्ठसतोंऽशतस्ततो जनताया आजीवनात् षष्ठांशं गृहीत्वा भृतिकवद् दासवत्ततस्तां समनुपालयता जनेनाहं नृपतिरित्युररीक्रियते । तामित्येतादृशीं देहिनो जडतां धिक् पुनरपि धिक् कीदृशीयं विडम्बनेति ॥८॥

**विभववानहमित्यतिसाहसिन् सुभग किं तनुषे ननु शेमुषीम् ।**
**कुटकुटीघटमेहि नु यो भृतः स वशिको वशिकोऽथ भृशं भृतः ॥९॥**

विभववानित्यादि—हे सुभग ! हेऽतिसाहसिन् ! नन्वहं विभववानस्मीति शेमुषीं

---

अर्थ—जन्मधारी-संसारी प्राणीके दिन भी सदा एक रूप नहीं हैं, उनकी स्थिति रात और दिनके समान मानी गई है। स्पष्ट देखा जाता है कि जो अनाथ है वह नरनाथता-राज्यावस्थाको प्राप्त हो जाता है और जो प्रमुदित है-हर्षका अनुभव कर रहा है, वह रुदनको प्राप्त हो जाता है ॥६॥

अर्थ—निन्दित संसारी जीव अहमिन्द्रताको छोड़कर शीघ्र ही कौड़ी मूल्य वाले नरजन्मको प्राप्त करता है। फिर भी यह पर्याय बुद्धिजन कुछ थोड़ा विभव पाकर गर्वको प्राप्त होता है ॥७॥

अर्थ—जनताकी आयका छठवां भाग लेकर सेवककी तरह जो उसका पालन करता है, फिर भी वह अपने आपको राजा स्वीकार करता है। हे भगवन् ! प्राणीकी इस मूर्खताको बार-बार धिक्कार है ॥८॥

अर्थ—हे अत्यधिक साहस करनेवाले भले आदमी ! मैं विभवान् हूँ-ऐश्वर्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


बुद्धिं किं तनुषे ? कुटकुटी जलानयनदासी तस्या घटमेहि सम्यगवलोकय यो भृतः स तु वशिको रिक्तो भवति वशिकोऽथ यः स भृतो भवतीति भृशं निरन्तरमनुवृत्तिर्जायते। ननु वितर्के। अनुप्रासः ॥९॥

**किमु भवेद्विपदामपि सम्पदां भुवि शुचापि रुचापि जगत्सदाम्।**
**करतलाहतकन्दुकवत् पुनः पतनमुत्पतनं च समस्तु नः ॥१०॥**

किमु भवेदित्यादि—जगत्सदां जगन्निवासिनां भुवि पृथिव्यां विपदामपि समागमे शुचा शोकेन किं सम्पदामपि समागमे रुचा रुच्या किं प्रयोजनम् ? न किमपीत्यर्थः। यतो नोऽस्माकं करतलेनाहतं ताडितं यत्कन्दुकं गेन्दुकं तद्वद् उत्पततमुन्नमनं पुनः पतनमवनमनं च समस्तु भवेदेव ॥१०॥

**ननु जनो भुवि सम्पदुपार्जने प्रयततां विपदामुत वर्जने।**
**मिलति लाङ्गलिकाफलवारिवद् व्रजति यद्गजभुक्तकपित्थवत् ॥११॥**

ननु जन इत्यादि—भुवि पृथिव्यां ननु निश्चयेन जनः सम्पदामुपार्जने संचयकरणे उताथवा विपदां वर्जने निराकरणे च प्रयततां स्वेच्छं प्रयत्नं करोतु परन्तु प्रयत्नेन न तत्साध्यम्। यद्यस्मात् कारणाद् लाङ्गलिकाफलवारिवद् नालिकेरस्यान्तःस्थितजलवत् सम्पत् शुभोदये स्वयं मिलति प्राप्यतेऽशुभोदये च गजेन भुक्तं यत्कपित्थं दधिफलं तद्वद् व्रजति गच्छति, नश्यतीति यावत् ॥११॥

**तृणवदुत्पणमेव पुरः पुरः समुपदर्श्य च मावृगयं नरः।**
**छगलवद्विपदे कविकृष्णया सपदि दूरमनायि च तृष्णया ॥१२॥**

---

शाली हूँ ऐसी बुद्धि क्यों करता है, तू रेंहटके घटको अच्छी तरह देख, जो भरा है वह खाली हो जाता है और जो खाली है वह भर जाता है। तात्पर्य यह है कि जो आज वैभववान् है, वह दूसरे दिन दरिद्र हो जाता है और जो दरिद्र है वह वैभववान् हो जाता है ॥९॥

**अर्थ**—जगद् निवासी जीवोंको पृथिवीपर विपत्तियोंका समागम होनेपर शोक और सम्पत्तियोंका समागम होनेपर रुचि-हर्षसे क्या होता है ? अर्थात् कुछ नहीं, क्योंकि मनुष्योंका उत्थान और पतन हस्ततलसे ताडित गेंदके समान होता ही रहता है ॥१०॥

**अर्थ**—पृथिवीपर मनुष्य सम्पत्तियोंका संचय करने और विपत्तियोंका निराकरण करनेमें प्रयत्न भले हो करे, परन्तु शुभोदय होनेपर नारियलके भीतर स्थित पानीके समान संपत्ति स्वयं मिलती है और पापका उदय होनेपर हाथीके द्वारा खाये हुए कैथाके सारके समान स्वयं चली जाती है ॥११॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तृणवदित्यादि—सपदि साम्प्रतं समये कवये कृष्णा [1]द्राक्षेव या तया तृष्णया मादृगयं संसारिजनः स छागलोऽजापुत्रस्तद्वत् स उत्पणं प्राप्तव्यं धनं तृणवत् पुरःपुरः समुपदर्श्य विपदे बाधायै चैव दूरमनायि नीतोऽस्मि । दृष्टान्तोऽलंकारः ॥१२॥

**तरुरुचा (त्वचा) वसनं शयनं तथाऽवनितले खलु याचनयाशनम् ।**
**परिकरं तनुमात्रमितोऽप्यहो भवितुमिच्छति चक्रपतिर्जनः ॥१३॥**

तररुचेत्यादि—यस्य तरुरुचा वल्कलेन वस्त्रं, पृथ्वीतले शयनं, भिक्षया भोजनं शरीरमात्रं च परिकरं परिग्रहो विद्यते सोऽपि जनश्चक्रपतिर्भवितुमिच्छतीत्यहो महदाश्चर्यम् ॥१३॥

**जडजनो विमनाः कितवासवे नरमते रमते द्रविणोत्सवे ।**
**कनकनाम समेत्य समं द्वयोर्न कियदन्तरमेति बुधोऽनयोः ॥१४॥**

जडजन इति—कितवो धत्तूरस्तस्यासवे विक्षिप्तताकारिद्रवे विकृतं मनो यस्य स जडजनोऽज्ञानसहितजनः नरमते मनुष्यावृते द्रविणोत्सवे धनोत्सवे रमते हर्षमनुभवति कनकनाम समेत्य प्राप्य, धत्तूरोऽपि कनकं स्वर्णमपि कनकं इति समं सदृशं नामाभिधानं समेत्य बुधो ज्ञानी अनयोर्द्वयोः कियदन्तरं वैशिष्ट्यं नैति न जानाति, न प्राप्नोति वा ॥१४॥

---

**अर्थ**—जिस प्रकार आगे आगे घास दिखाकर कोई बकराको मारनेके लिये दूर ले जाता है उसी प्रकार मुझ जैसा अज्ञानी प्राणी कविके लिये द्राक्षास्वरूप तृष्णाके द्वारा आगे आगे प्राप्तव्य धन दिखला कर विपत्तिके लिये दूर ले जाया गया है ॥१२॥

**अर्थ**—जिसका वस्त्र वृक्षकी छाल है, जो पृथिवी तल पर सोता है, भिक्षासे भोजन करता है और शरीरमात्र ही जिसके साथी सगा है, वह मनुष्य भी चक्रवर्ती बननेकी इच्छा करता है। बड़ा आश्चर्य है ॥१३॥

**अर्थ**—धतूराके आसवसे उन्मत्त हुआ अज्ञानी मानव निरमते–मनुष्यके लिये इष्ट धनके संचयमें आनन्द मानता है। धतूरा और सुवर्ण दोनोंका नाम 'कनक' है, अतः नामकी समानता पाकर अज्ञानी दोनोंमें कितना अन्तर है यह नहीं जानता ॥१४॥

---

१. 'कृष्णा तु द्रौपदी नीली हारहूरा सु पिप्पली' इति विश्वलोचनः। हारहूरा द्राक्षा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मन इयान् प्रतिहारक एतकप्रतिहृतेर्नटताद्वशगः स कः ।
भुवि जनाभ्यनुरञ्जनतत्परः भवति वानर इत्यथवा नरः ॥१५॥

मन इत्यादि—मन इदमियान् प्रतिहारकः क्रीडनकारकोऽस्ति यत्किलैतकस्य प्रतिहृतेः प्रपञ्चवृत्तेर्वशगः सन् भुवि धरायां जनानामभ्युरञ्जने नटतात् नृत्यं करोतु या स एव सको वानरः कपिरित्यथ वा नरो वा भवतीति विचारशीलानां विषयः ॥१५॥

वदसि शाकलवैरपि पूर्यते तदुदरं दुरितं ननु दुर्मते ! ।
किमु वदान्यधिकाधिकलालसमहह हृद् भरितं च सहस्रशः ॥१६॥

वदसीत्यादि—हे दुर्मते ! नन्वहं पृच्छामि यदुदरं शाकस्य लवैः कतिपयैर्ग्रासैरपि पूर्यंत पूरितं भवति तदेव यदि दुरितं दुर्गतं वदसि तदा पुनः सहस्रशो भरितं हृद् हृदयं च पुनरधिकाधिकलालसं भवति उत्तरोत्तरात्यधिकतृष्णामुरीकरोति। तत्किमु वदानीति वक्रोक्तिः ॥१६॥

अपि तु तृप्तिमियाच्छुचिरिन्धनैरथ शतैः सरितामपि सागरः ।
न पुनरेष पुमान् विषयाशयैरिति समञ्चति मोहमहागरः ॥१७॥

अपीत्यादि—शुचिरत्र वह्नेर्नामास्ति, यथोक्त ममरकोषे—शुचिरप्पित्तमित्यादिः। अत्र जगति शुचिरग्निरिन्धनैः काष्ठशतैः, अथ च सागरः समुद्रः सरितां स्रवन्तीनां शतैः तृप्ति संतोषमियादपि प्राप्नुयादपि, किन्तु पुनरेष पुमान् पुरुषो विषयाशयैः पञ्चेन्द्रियविषयवाञ्छाभिस्तृप्तिं नेयादितीत्थं मोह एव महागरो महाविषं समञ्चति शक्तिशाली वर्तते ॥१७॥

---

अर्थ—मन इतना क्रीडा कराने वाला है कि इसके प्रपञ्चके वशमें हुआ मनुष्य पृथिवी पर सदा दूसरोंको आनन्दित करनेमें तत्पर रहता है, ऐसा मनुष्य वानर है या नर, कौन जाने ?

भावार्थ—जिस प्रकार मदारीके द्वारा बचाया जानें वाला वानर दूसरोंका मनोरंजन करता है, उसी प्रकार मनरूपी मदारीके द्वारा प्रेरित हुआ मनुष्य स्त्री-पुत्र आदि दूसरोंको प्रसन्न करनेमें तत्पर रहता है ॥१५॥

अर्थ—हे दुर्बुद्धे ! जो पेट शाकके टुकड़ोंसे भी भर जाता है उसे तो तूँ दुरित-दुष्ट या पापी कहता है, पर जो हृदय-मन हजारों बार भरे जाने पर भी उत्तरोत्तर अधिक लालसा युक्त रहता है, उसे क्या कहूँ ? ॥१६॥

अर्थ—अग्नि ईन्धनसे और समुद्र सैकड़ों नदियोंसे भले ही संतोषको प्राप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**जगदिदं सकलं हरिणाङ्गनाखुरमितेन हि तेन हि चर्मणा।**
**सपदि वञ्चितमस्ति विगर्हिणा नहि परं तु निमित्तमिहाङ्गिनाम् ॥१८॥**

जगदित्यादि—इदमेतत्सकलं जगद् हरिणाङ्गनाखुरमितेन मृगीखुरपरिमितेन प्रसिद्धेन विगर्हिणा साधुजनजुगुप्सितेन सपदि शीघ्रं वञ्चितं प्रतारितमस्ति, तु किन्तु परमन्यद्वस्तु इह जगति अङ्गिनां प्राणिनां निमित्तं नहि भवतीति यावत् ।।१८।।

**पिशितशोणितसान्द्रमिह स्त्रिया वपुरहो लुलितं सुखसात्क्रिया।**
**भवति नस्तददन्ति निशम्यतां पशव एवमिहास्ति न रम्यता ॥१९॥**
**अपि तु पूतिपरं वनिताव्रणं यदसृगामिषकीकशयन्त्रणम्।**
**कृमिषु तत्र लगत्सु किमन्तरं ननु वदन्तु विदामधिपा अरम् ॥२०॥**
**मधुरसा करटस्य हि निम्बिका धनमहो दुरितस्य कपर्दिका।**
**विडशनं हि किरे रसनन्दनं विषयतो हि तथा हृदि रञ्जनम् ॥२१॥**

पिशितेत्यादि—पिशितं मांसं शोणितं रुधिरं ताभ्यां सान्द्रं निबिडत्वेन पूर्णं स्त्रिया वपुश्शरीरमिह जगति लुलितं सेवितं सद् नोऽस्माकं सुखसात्क्रिया सुखसाधनं भवति, किन्तु निशम्यतां दृश्यतां नष्टं तत् पशवः शृगालादय एवादन्ति खादन्ति तत इह रम्यता मनोहरता नास्ति। अपि तु किञ्च वनिता स्त्री पूतिपरं दुर्गन्धयुक्तं व्रणमस्ति यच्च असृग् रुधिरमामिषं मांसं कीकशमस्थि एषां यन्त्रणास्ति यस्मिंस्तत्। तत्र वनितायां व्रणे च कृमिषु कीटेषु लगत्सु सत्सु तयोर्वनिताव्रणयोः किमन्तरं को भेद इति विदामधिपा विद्वांसोऽरं शीघ्रं वदन्तु कथयन्तु। करटस्य काकस्य निम्बिका निम्बफलं

---

हो जावे, परन्तु यह पुरुष विषयवाञ्छाओंसे संतोषको प्राप्त नहीं होता, ऐसा यह मोहरूपी विष शक्तिशाली है ॥१७॥

**अर्थ**—यह समस्त संसार मृगीके खुर के बराबर निन्दनीय चर्मसे शीघ्र ही ठगाया गया है, किन्तु पर पदार्थ प्राणियोंके सुखोपभोगमें निमित्त नहीं होता ॥१८॥

**अर्थ**—मांस और खूनसे भरा हुआ स्त्रीका शरीर सेवित होने पर हमारे सुखका साधन होता है, परन्तु नष्ट होने पर देखो उसे शृगाल आदि पशु ही खाते हैं, उसमें सुन्दरता नहीं है। स्त्री दुर्गन्धसे युक्त एक व्रण-घाव है जो कि रुधिर, मांस और हड्डियोंकी यन्त्रणासे सहित है। दोनोंमें कीड़े लगते हैं तब श्रेष्ठ ज्ञानी जन शीघ्र बतावें कि दोनोंमें अन्तर क्या है? भेद क्या हैं? कौएके



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


('निवोरी' ति प्रसिद्धा) मधुरसाऽऽनन्ददायिनी भवति, दुरितस्य दरिद्रस्य कपर्दिका धनं भवतीत्यहो आश्चर्यम्, यथा किरेर्ग्राम्यशूकरस्य विडशनं पुरीषभक्षणं रसनन्दनं संतोषकारणं भवति तथा विषयतः पञ्चेन्द्रियविषयात् कामितां हृदि मनसि रञ्जनं हर्षानुभवो भवति ॥१९-२१॥

**विषयमप्रकृतात्मरसो मतेर्नरमणी रमणीयमुपाश्नुते ।**
**मधुरमेव हि सर्पिरपश्यते भवति तैलमपीति निदृश्यते ॥२२॥**

विषयमित्यादि—मतेर्बुद्धेरप्रकृतः सुदूर आत्मरसः स्वशुद्धसंवेदनबोधो यस्य स नरेषु मणिरपि सन् विषयं रमणीयमित्युपाश्नुते तथा सर्पिरपश्यते घृतादर्शकजनाय तैलमपि मधुरमेव हीति निदृश्यते । दृष्टान्तोऽनुप्रासश्चालंकारः ॥२२॥

**विषयमस्तमतिः प्रति मुह्यति नहि विपन्न इतोऽपि विमुञ्चति ।**
**मुहुरहो स्वदिते ज्वलिताधरः स्विदभिलाषपरो मरिचीं नरः ॥२३॥**

विषयमस्तमतिरित्यादि—अस्ता नष्टा मतिर्विवेकबुद्धिर्यस्यैवंभूतो नरो विषयं प्रति मुह्यति मोहं करोति । इतो विषयाद् विपन्नोऽपि विपदं प्राप्तोऽपि सन् तं नहि विमुञ्चति । यथा तिक्तरसाभिलाषी नरो ज्वलितोऽधरो यस्य तथाभूतोऽपि सन् मुहुर्भूयोभूयो मरिचीं स्वदते खादतीत्यहो ॥२३॥

**गणयतीतिचणो विपदां भरं न विषयी विषयैषितया नरः ।**
**असुहतिष्वपि दीपशिखास्वरं शलभ आनिपतत्यपसम्भ्रमम् ॥२४॥**

---

लिये निवोरी मीठी लगती है और दरिद्र व्यक्तिके लिये कौड़ी ही धन होता है। जिस प्रकार ग्रामके शूकरको विष्ठाका भक्षण आनन्दकारी होता है, उसी प्रकार विषयसामग्रीसे रागी मनुष्यके हृदयमें आनन्द होता है ॥१९-२१॥

अर्थ—जिसकी बुद्धिसे आत्मरस दूर है, ऐसा मनुष्य नरमणिरपि सन्—मनुष्योंमें शिरोमणि होता हुआ भी रमणीय है—सुन्दर है ऐसा मानकर विषयका सेवन करता है। जैसे मिष्ट—स्वादिष्ट घीको नहीं देखने वाले मनुष्यके लिये तेल भी अच्छा लगता है ॥२२॥

अर्थ—निर्बुद्धि मनुष्य विषयसे विपत्तिमें पड़ता हुआ भी उसके प्रति मोह करता है—उसे छोड़ता नहीं है। जैसे चिरपरा खानेका अभिलाषी मनुष्य ओठके जलते रहने पर भी बार बार मिर्चका स्वाद लेता है ॥२३॥

---

१. तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि ।
अविदितपरमानन्दो वदति विषयमेव रमणीयम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



गणयतीत्यादि—विषयी नरो विषयमिच्छतीति विषयैषी तस्य भावस्तया विषयस्याभिलाषित्वेन हेतुना पुनरीतिचणो विपत्तिसहनसमर्थो भवन् विपदां भरं समूहमपि न गणयति-तस्याप्युपेक्षां करोति । यथा शलभः पतङ्गोऽसूनां प्राणानां हृतिर्विनाशो यत्र तासु दीपशिखास्वप्यरं शीघ्रमपसम्बरं निरर्गलं यथा स्यात्तथाऽऽनिपतति । दृष्टान्तोऽलंकारः ॥२४॥

**बकुलमप्यतिमौक्तिकमाक्षिपन् तिलकमप्यधुना मधुलोलुपः ।**
**कमलमेत्य पुनः शशिना धृतो मधुकरोऽतिविरौति विलक्षितः ॥२५॥**

बकुलमित्यादि—मधुलोलुपो मधुकरो भ्रमरो यो बकुलमतिमुक्तकमपि तिलकमप्याक्षिपदनुभुक्तवान् पुनरपि न विश्राम्यति, किन्त्वधुनातिलोभेन कमलमेत्य गत्वा पुनस्तत्र शशिना निशाकरेण धृतो विलक्षितो विकलतां गतः सन्नतिविरौति क्लिशा विषयिणां दशा ॥२५॥

**अयमहो मलिनो बलिभुग्जनः शमलमूत्रमये सुदृशः पुनः ।**
**अनुपतन्नियतः खलु घर्षणे मुदमियात् सघृणे जघनव्रणे ॥२६॥**

अयमित्यादि—अहो अयं बलिभुग्विषयलम्पटो जनो मलिनो घृणितविचारवान् स खलु घर्षणे मैथुने नियतो भवन् स सुदृशः सुलोचनायाः स्त्रियः शमलं च मूत्रं च तन्मये विण्मूत्रमयेऽत एव घृणासहिते सघृणे जघनस्य व्रणे पुनर्वारं वारमनुपतन् मुदं हर्षमियाद् गच्छेदित्यहो । 'घर्षणं गर्जिते रते' इति विश्वलोचने । 'शमलं च मलं शकृत्' इत्यमरकोषे । अनुप्रासोऽलंकारः ॥२६॥

---

**अर्थ**—विषयी मनुष्य विषयाभिलाषी होनेके कारण विपत्तिके सहन करनेमें समर्थ होता हुआ विपदाओंके समूहको कुछ नहीं गिनता—उसकी उपेक्षा कर देता है। जैसे पतंग प्राणघात करने वाली दीप-शिखाओं पर बिना किसी प्रतिबन्धके शीघ्र ही आ पड़ता है ॥२४॥

**अर्थ**—मधुका लोभी भ्रमर बकुल, अतिमुक्तक और तिलक पुष्पका उपभोग करता हुआ कमल पुष्पको प्राप्त हो चन्द्रमाके द्वारा उसमें बन्द कर दिया गया, अतः व्याकुल होता हुआ रोता है।

**भावार्थ**—भ्रमरके समान विषयी मनुष्य एक को छोड़ दूसरे विषयको ग्रहण करता है और उसी तृष्णामें मृत्युको प्राप्त हो जाता है ॥२५॥

**अर्थ**—आश्चर्यकी बात है कि यह घृणित विचारवाला विषयलम्पट मनुष्य मैथुनसे तत्पर होता हुआ स्त्रीके मलमूत्रमय एवं घृणोत्पादक जघन छिद्रमें बार-बार संसर्ग करता हुआ हर्षको प्राप्त होता है ॥२६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



ननु परिग्रह एष बलादककृदथ दारजनः खलुदारकः ।
स परितः परिवारिगणोऽभवद् गृहमिदं स्फुटबन्धनगेहवत् ॥२७॥

नन्वित्यादि—परितो ग्रह इव परिग्रहो धनादिसमस्तपरिकर एष बलात् स्वशक्त्याऽककृत् कष्टदायकोऽस्ति । ननु नियमेनाथ पुनर्दाराणां स्त्रीणां जनः समूहः स दारकोऽर्थादेव विदारणकरः खलु । स परिवारिणो गणश्च यत्परितोऽभवदिदं गृहं स्फुटबन्धनगेहवत् कारागारतुल्यमेव ।२७॥

यदपि दस्युतया हितमात्मने तदपहर्तुमहो भवकानने ।
परिजने परिगच्छति मुह्यतां विमतिरेव गतिस्तु कुतः सताम् ॥२८॥

यदपीत्यादि—अहो अस्मिन् भवकानने यदपि किञ्चिद्वस्तु आत्मने हितं भाति साधुसङ्गमादि तदपहर्तुं दस्युतया चोररूपेण परिगच्छति प्रयत्नं कुर्वति परिजनेऽस्मिन् कुटुम्बवर्गे विमतिर्विचारहीन एव विमुह्यताम् सतां तु पुनरत्र कुतः कारणाद् गतिः प्रवृत्तिः स्यान्न कुतोऽपीति काकूक्तिः ॥२८॥

परिजनाः कुलपादपके क्षणमधिवसन्ति च यान्ति च पक्षिणः ।
फलमवाप्य किमप्यथ ते रयाज्जगति यान्ति महीन्द्र ! यदृच्छया ॥२९॥

परिजना इत्यादि—अथ जगतीदं कुलमेव पादपः स एव पादपकस्तस्मिन्नमी परिजनाः पुत्रादयस्ते क्षणमधिवसन्ति किञ्चित्कालं तिष्ठन्ति पक्षिणः पक्षकारिणश्च सन्ति, किन्तु हे महीन्द्र ! भूपते ! तेऽपि किञ्चित्फलं स्वचेष्टानुसारमवाप्य रयादेव स्वेच्छया यान्ति गच्छन्ति ॥२९॥

---

अर्थ—निश्चयसे यह परिग्रह स्वशक्तिसे दुःखको करने वाला है । दारजन—स्त्रीसमूह अपने नामसे ही विदारण करनेवाला है। यह परिवार—कुटुम्बिजनों का समूह परिवार—चारों ओरसे घेरा डालने वाला है और घर स्पष्ट ही कारागारके समान है ॥२७॥

अर्थ—इस भव रूपी वनमें आत्माके हितकारी साधुसमागम आदिको चोर रूपसे अपहरण करनेके लिये प्रयत्नशील कुटुम्बीजनमें बुद्धिहीन मनुष्य भले ही मोहको प्राप्त हो, परन्तु सत्पुरुषोंकी इसमें प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ॥२८॥

अर्थ—इस संसारमें कुलरूप वृक्षपर परिजनरूपी पक्षी (पक्षमें पक्ष करने वाले) कुछ ही क्षणतक बसते हैं, ठहरते हैं और फिर हे राजन् ! अपनी चेष्टाके अनुरूप फल प्राप्तकर शीघ्र ही इच्छानुसार चले जाते हैं ॥२९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**अयि सुवंशज ! वंशमहीरुहि स्वगतवातवशेन मिथोद्रुहि ।**
**अपरमत्र न किञ्चिदये फलं कलहवह्निमुपैमि तु केवलम् ॥३०॥**

अयीत्यादि—अयि सुवंशज ! स्वगतो यो वातः सन्ततिपालनबुद्धिर्वा वायुस्तद्वशेन मिथः परस्परं द्रुहि विद्रोहकरे वंशमहीरुहि कुलपादपे वेणुवृक्षे वा केवलमहं कलहवह्नि विसंवादरूपमग्निमेवोपैमि, अपरं किञ्चिदपि फलमहं नोपैमि, 'वा वाततातयोर्ग्रन्थौ' इति विश्वलोचने ॥३०॥

**अभिमतस्य मुदो यदि सङ्गमे दरद एवमनुष्य विनिर्गमे ।**
**इति विनिर्वृतये खलु सम्मुखा विगतसङ्गसुखाः पुरुराण्मुखाः ॥३१॥**

अभिमतस्येत्यादि—अभिमतस्य संगमे यदि मुदो हर्षबुद्धयो भवन्ति तदा पुनरेवममुष्याभीष्टस्य विनिर्गमे विनाशे दरदो भीतयोऽपि भवन्ति खलु, इत्येव विचार्य पुरुराट् श्रीनाभेयो मुखं येषां ते विगतमनपेक्षितं सङ्गस्य गृहवासस्य सुखं यैस्ते तथा भवन्तो निर्वृतये मुक्त्यै सम्मुखा जाताः ॥३१॥

**सुखमतीतमतीतमथान्वयः किमिति भाविनि तत्र किलेत्ययम् ।**
**हतमतिः क्षणसौख्यविमोहितः श्रममुपैति वृथैव तरामितः ॥३२॥**

सुखमित्यादि—अथान्यदपि विचारणीयं यत्सुखमतीतं पूर्वकालीनं तत्तु अतीतं गतं विनष्टमेव, भाविनि तत्र सुखे पुनरन्वयः सम्बन्धोऽस्ति किम् ? किन्तु नैवास्ति, एवं क्षण-

---

**अर्थ**—हे सुवंशज ! श्रेष्ठवंशमें उत्पन्न आत्मन् ! मैं स्वकीय सन्तानके परिपालनकी बुद्धिरूप वायुसे परस्पर द्रोह करने वाले वंशमहीरुह–कुलरूपी वृक्ष अथवा बाँसके वृक्षपर मात्र कलहरूप अग्निको प्राप्त करता हूँ, इसके सिवाय अन्य कुछ भी फल नहीं प्राप्त करता ।

**भावार्थ**—जिस प्रकार बाँसके वृक्षमें कुछ भी फल नहीं लगता, वे परस्परके संघर्षसे अग्नि ही उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार वंश–कुटुम्बरूपी वृक्षमें परस्परके विसंवादसे कलहरूप अग्नि ही उत्पन्न होती है, उसमें आत्माका हित करनेवाला कोई फल प्राप्त नहीं होता ॥३०॥

**अर्थ**—यदि इष्टवस्तुके समागममें हर्ष होता है तो उसके वियोगमें दुःखकारक भय होता है, यह विचारकर ही श्रीवृषभदेव आदि प्रमुख पुरुष गृहवाससम्बन्धी सुखकी उपेक्षाकर मुक्तिके लिये उद्यत हुए थे ॥३१॥

**अर्थ**—अतीत कालका सुख तो अतीत ही हो चुका–नष्ट हो चुका और आगामी सुखका सम्बन्ध क्या है ? प्राप्त होगा ही यह भरोसा है क्या ? नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सौख्येन तत्कालमात्रास्वादनेन विमोहितोऽयं हतमतिर्विनष्टविचार इतो विषयेषु वृथैव श्रममुपैति किल ॥३२॥

**यदनुलोमतया पठितं बताक्षरयुगं विषयेषु मुदेऽर्वताम् ।**
**मम तु मर्मभिदेव पुनर्मतामिह विलोमतया परिपश्यतः ॥३३॥**

यदनुलोमतयेत्यादि—यदक्षरयुगं 'राग' इति रूपमनुलोमतया पठितमर्वतां जघन्यानां विषयेषु मदे प्रसक्तये भवति बतेति खेदस्तदेव तु पुनरिह विलोमतया वैपरीत्येन पश्यतो मम मर्मभिदेव 'गरा' इति मतम् ॥३३॥

**जगति दिव्यतनुश्च सुधान्धसां गलति सा स्वयमेव सुधान्धसाम् ।**
**क्षणत एव तु मृत्युमुखे स्थिता किमुत मर्त्यगणस्य निरुच्यताम् ॥३४॥**

जगतीत्यादि—जगति पुनः सा सुधैवान्धोऽन्नं येषां तेषां दिवौकसां दिव्या चासौ तनुर्निष्कीकशादिरूपा सा च स्वयमेव क्षणत एवात्र गलति विनश्यति तदा पुनर्मर्त्यगणस्य मृत्युमुख एव स्थिता या सा किमुतेति निरुच्यताम् ॥३४॥

**भजति हा विषयानसुमांस्तकं न लभते च पुरःस्थितमन्तकम् ।**
**शिरसि सन्निहितांश्छगलो बलावपि धृतोत्ति मुदा यवतण्डुलान् ॥३५॥**

भजतीत्यादि—असुमान् प्राणी विषयान् भजति सेवते च, किन्तु पुरःस्थितमग्र एव स्थितमन्तकं कालं न लभते तमेव तकं सर्वभक्षकं हाव्ययः खेदार्थः। बलावपि धृतः संकल्पितश्छागोऽजापुत्रः स शिरसि सन्निहितान् यवतण्डुलान् मुदात्ति खादति प्रसन्नतयेति ॥३५॥

---

है, अतः वर्तमानके क्षणिक सुखमें लुभाया यह निर्बुद्धि मनुष्य इन विषयोंमें व्यर्थ ही क्यों अत्यन्त श्रमको प्राप्त होता है ? ॥३२॥

**अर्थ**—अनुलोमता-पूर्वानुपूर्वीरूपसे पढ़े गये 'राग' रूप दो अक्षर जघन्य मनुष्योंके विषय-सम्बन्धी प्रसन्नताके लिये हैं। पश्चादानुपूर्वीरूपसे जब मैं उन्हें देखता हूँ तब वे 'गरा' विषरूप होकर मेरा मर्मभेदन करनेवाले हो जाते हैं॥३३॥

**अर्थ**—इस जगत्में जब अमृतभोजी देवोंका दिव्य शरीर भी क्षणभरमें नष्ट हो जाता है, तब मनुष्यसमूहका जो शरीर मृत्युके मुखमें ही स्थित है उसके विषयमें क्या कहा जावे ? वह तो अवश्य ही नष्ट होनेवाला है ॥३४॥

**अर्थ**—यह प्राणी विषयोंका सेवन करता है परन्तु सामने स्थित मृत्युको नहीं देखता है जैसे कि बलिके लिये संकल्पित बकरा शिरपर रखे हुए जौ और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



नर ! नवाध्वयुते ननु ते किल स्थितिमुपैति सुगो विहगोऽनिलः ।
तदिदमेवमहो भुवि पञ्जरे किमुत चित्रमितो यदि निस्सरेत् ।।३६।।

नरेत्यादि—ननु हे नर ! योऽनिलो निःश्वासरूपो विहगः पक्षी सोऽस्मिन् नवाध्वयुते नवसंख्यकैरध्वभिर्युते पञ्जरे शरीररूपे सुखेन गन्तुं समर्हः सुगोऽपि किल स्थितिमुपैति तदिदमेव मह उत्सवयोग्यमितो यदि स निस्सरेत्तदा किमु चित्रमद्भुतमिति । रूपकालंकारः ।।३६।।

शशिहरो भविता सविता पिता तदुदयेन हसिष्यति पङ्कजम् ।
अलिनि चिन्तयतीति बिसस्थिते द्रुतमिहोद्भजतेऽम्बुजिनीं गजः ।।३७।।

शशिहर इत्यादि—रक्षकत्वाद्विकासदायकत्वाद्वा पिता पितृतुल्यः सविता सूर्यः शशिहरो कमलवैरिचन्द्रहरः सन् भविता उदेष्यति, सूर्यो वा चन्द्रापहारको भविष्यति, तस्य सूर्यस्योदयेन पङ्कजं कमलं हसिष्यति विकासमेष्यति, इत्येवं बिसस्थिते कमलदलान्तःस्थितेऽलिनि भ्रमरे चिन्तयति विचारयति सति गजः करीह जगति द्रुतं शीघ्रमम्बुजिनीं कमलिनीं भजते सेवते त्रोटयित्वा भक्षयतीति यावत् । अनुप्रासोऽलंकारः ।।३७।।

गतगदोऽशनिनैष कटाक्ष्यते तदहतो भुजगाग्निविषादिभिः ।
इति कृतान्तसमाजमये भवे स्थितिरिहास्य कियच्चिरमस्तभीः ।।३८।।

---

चावलोंको प्रसन्नतासे खाता है पर मृत्युकी ओर नहीं देखता । यह दुःखकी बात है ।।३५।।

**अर्थ**—हे नर ! यदि नौ द्वारोंसे युक्त पिंजरेमें अच्छी तरह उड़नेकी योग्यता वाला श्वासोच्छ्वासरूपी पक्षी स्थित रहता है तो यही बड़े उत्सवकी बात है, यदि निकल जावे तो इसमें क्या अश्चर्य है ? कुछ भी नहीं ।।३६।।

**अर्थ**—कमलके भीतर बन्द भ्रमर विचार करता है कि पितातुल्य सूर्य चन्द्रमाको नष्ट करने वाला होगा, उसके उदयसे कमल खिलेगा, अभी रात्रिभर सुगन्धका सेवन कर लेना चाहिये । परन्तु उधर भ्रमर उपर्युक्त विचार करता ही रहा, इधर हाथीने शीघ्र आकर कमलिनीको खा लिया ।

**भावार्थ**—जगत्के प्राणी विषयोंका संकल्प करते-करते बीचमें नष्ट हो जाते हैं[1] ।।३७।।

---

१. होगी निशा विगत और प्रभात होगा
होगा उदित रवि पंकज भी खिलेंगे ।
ऐसा सरोजगत भृङ्ग रहा विचार
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


गतगद इत्यादि—प्रथमं तु गदेन रोगेण बाधामेति जनो गतगदोऽपि चेदेषोऽशनिना वज्रेण कटाक्ष्यते ततोऽप्यहतो भुजगाग्निविषादिभिः कटाक्ष्यत इति कृतान्तस्य मरणस्यैव समाजमयेऽस्मिन् भवेऽस्य जन्तोरस्तभीर्भयवर्जिता स्थितिः कियच्चिरमिह स्यात् ॥३८॥

**गृहमिदं वृषवास्तु न वास्तु किं विशति निर्व्रजतीति यदृच्छया ।**
**हसति रौति च मत्त इवात्र तु निजधियं प्रतिपद्य जनोऽन्वयात् ॥३९॥**

गृहमित्यादि—इदं गृहमपि वृषवास्तु धर्मस्थानमिव न वास्तु किम् ? किन्तु तदेवास्ति यतोऽत्र प्राणी यदृच्छया विशति निर्गच्छति च, तस्मिन् विशति निर्व्रजति च सति जनः सर्वसाधारणोऽन्वयान्ममत्वं निजधियं स्वोऽयं ममेति कृत्वा मत्तो विक्षिप्त इवात्र हसति च रौति च । उपमालंकारः ॥३९॥

**शमनमेष शिरःस्थितमीक्षतां नहि पुनः कवलेऽपि रुचिस्तता ।**
**प्रतिभवेत् किमुतापरसम्पदि पतति किन्तु न सन्मतिसंसदि ॥४०॥**

शमनमित्यादि—एष संसारी यदि स्वशिरसि स्थितं शमलमन्तकमीक्षतां तदा पुनः कवलेऽन्नग्रासेऽपि रुचिस्तता संगता नहि प्रतिभवेत्, किमुतापरसम्पदि पुत्र-कलत्रादौ स्यात् ? अपि तु नैवेति । किन्त्वेष सन्मतेः श्रीमहावीरस्य सन्मतीनां विचार-शीलानां वा संसदि सभायां पतत्येव नहि ॥४०॥

---

अर्थ—यदि कदाचित् यह जीव रोगरहित होता है तो वज्रके द्वारा कटाक्षित होता है, अर्थात् वज्रपातसे मृत्युको प्राप्त होता है। उससे भी यदि नहीं मरता है तो साँप, अग्नि और विष आदिके द्वारा कटाक्षित होता है। इस प्रकार यमराजकी समाज-साथी सगे रोग, वज्र, सर्प, अग्नि और विष आदिसे परिपूर्ण इस संसारमें जीवकी निर्भय स्थिति कितनी देर तक हो सकती है ? ॥३८॥

अर्थ—क्या यह घर धर्मशालाके समान नहीं है ? क्योंकि जीव इसमें अपनी इच्छानुसार प्रवेश करता है और निकल जाता है। जब यह प्रवेश करता है अथवा निकलता है, तब पागलकी तरह हँसता है और रोता है। इस घरको अपना मानकर ही जीव इस अवस्थाको प्राप्त होता है ॥३९॥

अर्थ—यदि यह जीव शिरपर स्थित यमराजको देख सके तो अन्नके ग्रासमें भी इसकी विस्तृत रुचि न रहे, स्त्री-पुत्रादि अन्य सम्पत्तिकी तो बात ही क्या है ? परन्तु यह सन्मति-भगवान् महावीर अथवा अन्य विचारशील मनुष्योंकी सभामें नहीं जाता-उसके सम्पर्कसे दूर रहता है ॥४०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



ननु मनोरथपूर्तिपरायणः सपुलकः कदलीदलजालवत् ।
विकलयन् कलनानि भवस्य वा परिभवं परमेति किलाङ्गभृत् ॥४१॥

नन्वित्यादि—मनोरथस्य स्ववाञ्छितस्य पूर्तौ समुपलब्धौ परायणस्तल्लीनः सन् सपुलकः पुलकितगात्रः किलायमङ्गभृत् कदल्या रम्भाया दलानां पत्राणां जालवद् भवस्य स्वजन्मनः कलनानि बन्धनानि विकलयन समनुभुञ्जानः परं परिभवं प्रतारणमेति प्राप्नोति ॥४१॥

चतुरशीतिगुणाङ्कितलक्षणेऽत्र तु चतुष्पथके विचरन् क्षणे ।
जनिमुतैति मृतिं दुरिताक्षतः न पुनरेति परं पदमुद्धतः ॥४२॥

चतुरशीतीत्यादि—चतुरशीतिसंख्याकैर्गुणैरङ्कितं लक्षणं यस्य तस्मिन्नत्र चतुष्पथके चत्वारः पन्थानो यस्य नरकगत्यादयो भवन्ति तस्मिन् क्षणे काले समुत्सवे वा सर्वस्मिन्नेव विचरन् पर्यटन् दुरितानि दुश्चेष्टितानि यान्यक्षाणि पञ्चापीन्द्रियाणि तेभ्यस्ततस्तथा दुरिता येऽक्षाः पाशकास्तेभ्यस्तत उद्धतः सन् जनिं जन्म मृतिं मरणमुपैति प्राप्नोति, किन्तु परं मुक्तिस्थानं केन्द्रं वा पुनर्नैति सारिवदिति । समासोक्तिरलंकारः ॥४२॥

भ्रमणमेतु जनः खलु माययाङ्कितगुण स्तरुणोऽपि च तृष्णया ।
अपि तु जातु च यातु मरीचिकाविवरणे हरिणः किमु वीचिकाम् ॥४३॥

भ्रमणमेत्वित्यादि—अयं संसारी जनः खलु मायया मोहश्रियाऽङ्कितगुणः समाच्छा-

---

अर्थ—मनोरथोंकी पूर्तिमें तत्पर रहनेवाला यह प्राणी पुलकित शरीर हो कदलीपत्रके जालके समान स्वकीय जन्मके बन्धनोंको सुदृढ़ करता हुआ अत्यधिक पराभवको प्राप्त होता है ॥४१॥

अर्थ—चौरासी लाख योनिरूप चौराहेमें भ्रमण करता हुआ यह जीव दुष्ट इन्द्रियोंका वशीभूत हो क्षणभरमें जन्मको प्राप्त होता है और क्षण भरमें मृत्युको प्राप्त होता है, परन्तु आगे बढ़कर परमपद-मुक्तिको प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—जिस प्रकार चौपड़की चारों पट्टियोंमें भ्रमण करता हुआ गोट-पासा ठीक न पड़नेसे क्षणभरमें जीतका अनुभव करता है और क्षणभरमें मारा जाता है, परन्तु ऊँचा उठकर केन्द्र स्थानको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार यह जीव नरकादि चारों गतियोंमें इन्द्रिय विषयोंके कारण परिभ्रमण करता हुआ जन्म-मृत्युको प्राप्त होता रहता है, पर चक्रसे निकलकर मुक्ति पदको प्राप्त नहीं हो पाता ॥४२॥

अर्थ—मोहसे आच्छादित बुद्धिवाला संसारी प्राणी तृष्णासे तरुण होता हुआ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


दितस्वशक्तिरपि च तृष्णया विषयाभिलाषया तरुणोऽर्वितो भ्रमणमेतु जन्ममरणाधीनो भवतु न तु सुखमवाप्नोतु । अपि तु यथा हरिणो मृगः स मरीचिकाया मृगतृष्णाया विवरणे जातु च किञ्चिदपि वीचिकां जलस्य किलांशमपि किमु यातु किन्तु नैवेति । दृष्टान्तोऽलंकारः ॥४३॥

**पिहितदृष्टिरसौ परतन्त्रितः सपदि मर्मणि दण्डनियन्त्रितः ।**
**बहुभरं भ्रमतीत्थमथोद्धरन् जगति तैलिकगौरिव हा नरः ॥४४॥**

पिहितदृष्टिरित्यादि—अथासौ नर इत्युपलक्षणात्संसारी तैलिकस्य गौरिवास्ति यतोऽसौ पिहितदृष्टिर्विचारशक्तिरहितः पक्षे छादितनेत्रः परतन्त्रितः परेण स्वार्जितकर्मणा तैलिकेन वा तन्त्रितो वशीकृतस्तत एव बहुभारं परिग्रहात्मकं वा पाषाणाख्यं वोद्धरन् सपदि साम्प्रतं मर्मणि दण्डेन पापाचारेण लगुडेन वा नियन्त्रितः प्रपीडितो जगतीत्थं भ्रमति । हा कष्टानुभवने । उपमालंकारः ॥४४॥

**ननु सहस्व गुणिन् सहसा स्वयं किमु विलक्षतया व्रजताज्जयम् ।**
**ननु पुराकृतमेतदुदीरितं नहि परन्तु कदापि लभे हितम् ॥४५॥**

नन्वित्यादि—अत्र स्वकृतकर्मफलसहने कातरं लक्ष्यीकृत्योच्यते—हे गुणिन् ! विलक्षतया कातरभावेन किमु जयं व्रजतात् ? किन्तु नैव । अतः सहसा साहसेन स्वयं सहस्वैतत्तवैव पुराकृतमुदीरितमुदयागतमस्ति । ततस्त्वया सोढव्यमस्ति नेहाहं कमपि परं हितं सहायं कदापि लभे । हीति निश्चये, ननु वितर्के ॥४५॥

---

भले ही भ्रमण करता रहे, परन्तु कभी सुखको प्राप्त नहीं होता । ठीक ही है, मृगमरीचिकाके विवरणमें क्या मृग कभी जलकी एक तरंगको भी–अंशको भी प्राप्त करता है ? अर्थात् नहीं ॥४३॥

**अर्थ**—जिसकी आँखें पट्टीसे ढक दी गई हैं, जो तेलीके पराधीन है, रुक जानेपर जिसके मर्म स्थानमें डण्डासे चोट पहुँचाई जाती है और जो पत्थर आदिका बहुत भारी भार लादे हुए है, ऐसा तेलीका बैल जिस प्रकार निरन्तर घूमता रहता है, चक्कर लगाता रहता है, उसी प्रकार जिसकी विचारशक्ति आच्छादित है, जो स्वोपार्जित कर्मके अधीन है, पापाचाररूपी दण्डसे मर्म स्थानमें आघातको प्राप्त हो रहा है और परिग्रहरूप बहुत भारी भारको धारण कर रहा है, ऐसा मनुष्य खेद है कि संसारमें परिभ्रमण करता रहता है ॥४४॥

**अर्थ**—हे गुणिन् ! विचारशील प्राणिन् ! तू स्वकृत कर्मका फल साहस पूर्वक सहनकर, व्याकुल होनेसे इसपर क्या तू विजयको प्राप्त कर सकेगा ? नहीं । तूंने पहले जो किया था वही तो उदयमें आया है । इस विषयमें मैं किसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**भृतिमितीच्छति वत्स ! परिच्छदः शशिमुखी शुचिभूषणसम्पदः ।**
**तनय एष परं परिपोषणं स्वयमथास्तु पुमान् विधिचर्बणम् ॥४६॥**

भृतिमित्यादि—हे वत्स ! परिच्छदः कर्मकरादीनां समूहः स केवलं भृतिं निजां वृत्तिमित्येवेच्छति । शशिमुखी या स्त्री सा शुचीनां सुन्दराणां भूषणानां सम्पदः शोभा इच्छति । एष आत्मजनामधेयस्तनयः स परं केवलं परिपोषणमेवेच्छति । विधेः कर्मण-श्चर्वणं तु पुमान् स्वयमस्तु । अथेति पूर्णरूपेण ॥४६॥

**अपि परेतरथान्तमथाङ्गना पितृवनान्तममी परिवारिणः ।**
**पुरुष एष हि दुर्गतिगह्वरे स्वकृतदुष्कृतमेष्यति निर्घृणः ॥४७॥**

अपीत्यादि—अपि चान्यच्चिन्तनीयं यदियमङ्गना स्त्री सा परेतरथान्तं शवशिबिका-रचनापर्यन्तमेवाथ पुनरमी परिवारिणो जनाः पितृवनान्तं श्मशानपर्यन्तं गच्छन्ति । स्वकृतं निजार्जितं दुष्कृतं पापकर्म तत्तु निर्घृणो लज्जारहित एष पुरुषो हि दुर्गतिगह्वरे गत्वा स्वयमेष्यति, अथावश्यमिति ॥४७॥

**निजनिजोचितचेष्टितवागुराऽवकलिताकलितानविपद्धुरा ।**
**सुविधुरा हि नरास्तु नराधिप ! किमिव तत्र कदर्थनमाक्षिप ॥४८॥**

निजनिजेत्यादि—हे नराधिपेति स्वात्मन एव सम्बोधनम् । निजनिजोचितं स्व-स्वकृतं यच्चेष्टितं तदेव वागुरा बन्धनरज्जू तयावकलिता बद्धाः सर्वेऽपि नराः प्राणिनः कलेः पापस्य यस्तानः प्रसारस्ततो या विपद् बाधा तस्या या धूरग्रभागस्तया हेतुभूतया

---

अन्य सहायकको नहीं पाता हूँ ॥४५॥

**अर्थ**—हे वत्स ! इस जगत्में परिच्छद-नौकर-चाकर आदि का समूह अपना वेतन चाहता है, स्त्री सुन्दर आभूषणोंकी शोभा चाहती है और पुत्र अत्यधिक पोषण चाहता है, परन्तु कर्मका चर्बण (चबैना) स्वयं पुरुषको बनना पड़ता है।

**भावार्थ**—स्त्री-पुत्रादिको प्रसन्न करनेके लिये जो अनैतिक कार्य करता है, उसका फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है ॥४६॥

**अर्थ**—स्त्री शवशिबिका-अरथी बनानेके स्थान तक और ये परिवारके लोग श्मशान तक जाते हैं, परन्तु स्वकृत पाप कर्मको लेकर यह निर्लज्ज आत्मा ही दुर्गति में जाता है ॥४७॥

**अर्थ**—हे राजन् । अपनी-अपनी चेष्टाओं-स्वकृत कर्मकलापोंसे बद्ध सभी मनुष्य-सभी प्राणी पापके प्रसारसे होनेवाली बाधाके अग्रभागसे अत्यन्त दुःखी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



ुविधुरा विकलाः सन्ति । तत्र कदर्थनमन्यथात्वं किमिवाक्षिप त्वं कुरु ? न किमपीति किल । वक्रोक्तिरलंकारः ॥४८॥

**तनयवत्त्वनयोऽरमनुव्रजत्यपि बुधेश विधिश्च यदात्मजः ।**
**परिनिमन्त्रितभूतवदेतकं प्रतिचरत्यपि नो भुवने स कः ॥४९॥**

तनयेत्यादि—अयि बुधेश ! विधिस्तु यद्यप्यनयोऽस्त्यविशेषज्ञश्च पुनस्तथापि तनयवच्छिशुरिव यदात्मजो भवति तमेवारमनुव्रजति । अपि पुनः परिनिमन्त्रितस्समाहूतश्चासौ भूतः परेतस्तद्वत् फिलैतकमेनमतिचरति सोऽपि भुवनेऽस्मिन् संसारे कोऽस्ति भोः ? न कोऽपीति । उपमालंकारः ॥४९॥

**तनुरनन्यतयाऽनुगतादरिन्नपि न चेत् परलोकमुपेतरि ।**
**समितिमेति कुतोऽथ परिच्छदे समुपपत्तिमहो विबुधो वदेत् ॥५०॥**

तनुरित्यादि—हे आदरिन् विनयशील ! परलोकमुपेतरि जने याऽनन्यतया भेदाभावरूपेणाऽनुगतापरिच्छिन्ना सा तनुरपि चेद्यदि समितिं सह गमनं नैति तदाथ पुनर्यो विबुधो विचारशीलोऽस्ति स परिच्छदे पुत्रपौत्रादौ समुपपत्तिमहं सहगमनोत्सवं कुतो वदेदपि तु न कथमपि ॥५०॥

**पृथगिवाञ्चति कोशत आयुधममुक्तः खलु विग्रहतो बुधः ।**
**अनवबुध्य परस्परसंविशः स्खलतु केवलमेव तु बालिशः ॥५१॥**

पृथगित्यादि—बुधो विचारवान्नरः सोऽमुकतः खलु विग्रहतः शरीरात्कोशादायुध-

---

हैं, इसमें अन्यथा करनेकी क्या बात है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥४८॥

**अर्थ**—हे बुधेश ! हे श्रेष्ठज्ञानी जन । यद्यपि विधि—दैव-कर्मोदय अनय है—विशेष ज्ञानसे रहित हैं अर्थात् विपरीत प्रवृत्ति करने वाला है, फिर भी वह शिशु-के समान पीछे लगा रहता है, न चाहनेपर भी वह साथ छोड़ता नहीं है, क्योंकि आत्मज-पुत्र निमन्त्रित भूतके समान साथ लगा रहता है जगत्में जो उसका प्रतिकार करे वह कौन है ? अर्थात् कोई नहीं है । तात्पर्य यह है कि स्वकृत कर्म इस जीवके पीछे लगा ही रहता है ॥४९॥

**अर्थ**—अभिन्न रूपसे सदा साथ रहने वाला शरीर भी जब परलोकको प्राप्त होनेपर साथ नहीं जाता है—यही छूट जाता है, तब अन्य पुत्रपौत्रादि परिकरकें विषयमें कौन विद्वान् कह सकता है कि साथ रहेंगे ? अर्थात् कोई नहीं ॥५०॥

**अर्थ**—जिस प्रकार विचारवान् मनुष्य म्यानसे शस्त्रको पृथक् जानता है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मिव पृथगञ्चति प्रभवति तु पुनः केवलं बालिशो मन्दबुद्धिरेव सोऽनयोरात्मशरीरयोः परस्परसंविशोऽन्योन्यानुप्रवेशभावाननवबुध्य स्खलतु द्वयोरैक्यं स एव वदतु। 'विट् पुंसि वैश्ये मनुजे प्रवेशे तु पुनः स्त्रियाम्' इति विश्वलोचने ।।५१।।

**वसु रजोगुणको रजसोऽञ्चति पय इवाथ जलाद्वरटापतिः ।**
**विभजते जडतः खलु चेतनमिति विवेकबलादसकौ जनः ।।५२।।**

वस्वित्यादि—रजोगुणको रजसः संशोधकों जनः स रजसो वसु धनं सुवर्णादिकम्, वरटापतिर्हंसः स जलात् पयो दुग्धमिवाञ्चति पृथग् लभते। तथैवासावेवासकौ जनः खलु जडतः शरीराच्चेतनमात्मानं विवेकबलाद्विभजते पृथग् जानातीति किलोपमालंकारः ।।५२।।

**न खलु कञ्चुकमुञ्चनतः क्षतिरह्विवरस्य भवत्यपि सन्मतिः ।**
**स च सुखेशमखण्डसुखो वहेत्तदिव विग्रहभारविनिग्रहे ।।५३।।**

न खल्वित्यादि—यथा कञ्चुकस्य मुञ्चनतस्त्यागादहिवरस्य सर्पराजस्य क्वापि क्षतिर्हानिर्न भवति, तदिव तथैव योऽपि सन्मतिः सुबुद्धिः स च विग्रहभारस्य विनिग्रहे शरीरस्य विनाशे सति च न खण्डयते सुखं यस्य सोऽखण्डसुखस्सन् सुखेशमात्मानं वहेत् स्वीकुर्यादिति दृष्टान्तोऽलंकारः ।।५३।।

**यदपि भूमितले तुषकण्डनं तदपि सम्प्रति तण्डुलमण्डनम् ।**
**तदिव वा जडपिण्डविवेचनं सुखवतस्तदखण्डनिवेदनम् ।।५४।।**

---

उसी प्रकार शरीरसे आत्माको पृथक् जानता है। शरीर और आत्माके परस्पर प्रवेशको न जानकर केवल अज्ञानी जीव ही स्खलित होता है—दोनोंको एक कहता है ।।५१।।

**अर्थ**—जिस प्रकार रजधोवा रजसे स्वर्णादि धनको और हंस जलसे दूधको पृथक् जानता है, उसी प्रकार यह ज्ञानी जीव जड-शरीरसे चेतन-आत्माको पृथक् जानता है ।।५२।।

**अर्थ**—जिस प्रकार कांचलीके छोड़नेसे सर्पराजकी कोई हानि नहीं होती, उसी प्रकार जो सद्बुद्धि-विचारवान् मनुष्य है वह शरीरका विनाश होनेपर अखण्ड-सुखका धारक रहता हुआ आत्माको स्वीकृत करता है।

**भावार्थ**—जिस प्रकार कांचलीके छोड़नेपर सांप दुःखका अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार ज्ञानी जीव शरीरके छूटनेपर दुःखका अनुभव नहीं करता, क्योंकि वह सुखसे तन्मय आत्माको शरीरसे पृथक् अनुभव करता है ।।५३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



यदपीत्यादि—अस्मिन् भूमितले यदपि तुषस्य कण्डनं दूरीकरणं तदपि सम्प्रति सर्वथा तण्डुलस्य मण्डनमेव भवति, तदिव जडस्य चेतनत्वशून्यस्य पिण्डस्य शरीरस्य विवेचनं पृथक्करणमस्ति । तत्सुखवत आत्मनोऽखण्डनिवेदनमेव प्रत्युत सदुपयोगायैवेति स एव दृष्टान्तोऽलंकारः ॥५४॥

**यदपि चेतनको गहनं श्रयत्यहह विग्रहसंग्रहतो ह्ययम् ।**
**घनविघातमुपैति तनूनपात् विकमयसाभिगमस्य न चेत्कृपा ॥५५॥**

यदपीत्यादि—अयं चेतनको ज्ञानवानात्मा यदपि गहनं दुःखं श्रयति संलभते तत्सर्वं विग्रहस्याङ्गस्य संग्रहतो हि न चान्यथा । तनूनपादग्निर्नाम स चेद्यदि पुनरयसा लोहेन सहाभिगमस्य सभागमस्य कृपा न भवेत्, तदा घनस्य विघातमुपैति किम् ? किन्तु नोपैति । तथेति दृष्टान्तोऽलंकारः ॥५५॥

**वसति यावदयं खलु चेतनस्तनुरियं घृणितापि हरेन्मनः ।**
**मृगमदाभिपदा किल कूपिकाऽन्तसमये तु समस्तु दशा हि का ॥५६॥**

वसतीत्यादि—यावदयं खलु चेतनोऽत्र तनौ वसति तिष्ठति तावदियं मांसमज्जादिरूपा घृणितापि सती मनश्चित्तं हरेत् । यथा किल मृगमदस्य कस्तूरिकाया अभिपदं संस्थानं यस्यां सा कूपिका चर्मरूपापि तु पुनरन्तसमये चेतनस्यात्मनोऽभावे काऽस्या दशात्र स्याद्धीति चिन्त्यताम् स । एव दृष्टान्तोऽलंकारः ॥५६॥

---

**अर्थ**—इस भूमिपर तुषका दूर करना जिस प्रकार चांवलको विभूषित करने वाला है, उसी प्रकार जड़-चेतनतारहित शरीरका पृथक् होना सुखसम्पन्न आत्माकी अखण्डताको सूचित करने वाला है ॥५४॥

**अर्थ**—यह ज्ञानवान् आत्मा जो दुःख उठाता है वह शरीरके ग्रहणसे ही उठाता है, जैसे अग्नि जो घनोंके प्रहारको प्राप्त होती है वह यदि उसका लोहके साथ समागमकी कृपा न होती तो क्या प्राप्त होती ? अर्थात् नहीं ।

**भावार्थ**—जिस प्रकार लोहकी संगतिसे अग्नि घनोंके प्रहार सहन करती है, इसी प्रकार यह जीव भी विग्रह-शरीरकी संगतिसे अनेक दुःख सहन करता है ॥५५॥

**अर्थ**—जब तक यह चेतन-आत्मा शरीरमें निवास करता है, तभी तक यह शरीर घृणित होनेपर भी मनको हरण करता है। कस्तूरिकासे सुशोभित इस शरीरकी अन्त समयमें क्या दशा होती है ? अर्थात् आत्माके बिना शरीरकी समस्त प्रभुता नष्ट हो जाती है ॥५६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



निजमतिं वपुषीति जडात्मके परिकरे च सहायधियं न के ।
विषयसन्निचये सुखशेमुषीं समुपगम्य हता वद संवशिन् ॥५७॥

निजमतिमित्यादि—हे संवशिन् ! मनोऽक्षनिग्रहकर ! अस्मिन् जडात्मके वपुषि निजमतिमात्मबुद्धिमिति तथा परिकरे स्त्रीपुत्रधनादौ सहायधियं सुखसाधनबुद्धिं च पुनर्विषयाणां पञ्चेन्द्रियैरुपभोगयोग्यानां निचये संग्रहे सुखस्य शेमुषीं मतिं समुपगम्य के जना न हता नष्टा जाता इति वदापि तु सर्वेऽपि विनष्टाः ॥५७॥

इत इदं तु कलेवरमुद्धतमितरतः सकलं समलं कृतम् ।
तदपि याति जनः समलङ्कृतं न पुनरीक्षणमेवमलंकृतम् ॥५८॥

इत इत्यादि—हे संवशिन् ! शृणु इत एकतस्तु कलेवरं शरीरमुद्धतमितरतस्ततः पुनः समलं मलसहितं सर्ववस्तु कृतं पुनरपि कलेवरं कलेवरमेव, किन्तु अयं जनस्तदपि कलेवरं समलंकृतं समीचीनरीत्यालङ्कारैः सज्जितं याति स्वीकरोति न पुनरेव विचारयुक्तमीक्षणं चक्षुरत्नं यथेष्टं कदापि कृतमिति यमकालंकारः ॥५८॥

परिचरत्यपि रासकदासवन्निजनिवेदमृते धरणीधवः ।
अयमतो निवसन् वलयेऽवनेः प्रतियतेत मतेरथ शोधने ॥५९॥

परिचरतीत्यादि—अयमात्मा धरणीधवो महाराजोऽपि सर्वशिरोमणिरपि निजनिवेदमृते स्वरूपसंवेदनं विनाऽस्मिन्नवनेर्वलये भूतले रासको रासकरो गोपक्रीडाकारको यो दासस्तद्वत् परिचरति सर्वेषां सेवक इव भूत्वावतिष्ठतेऽतोऽस्य मतेः स्वबुद्धेः शोधने प्रतियतेत प्रयत्नं कुर्यादिति ॥५९॥

---

अर्थ—हे जितेन्द्रिय ! जड़ शरीरमें आत्मबुद्धि, स्त्रीपुत्रादि परिकरमें सहायबुद्धि और पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषय समूहमें सुखबुद्धि प्राप्त कर कौन नष्ट नहीं हुए हैं, कहो ॥५७॥

अर्थ—हे जितेन्द्रिय ! इधर एक ओर इस शरीरको रखो और दूसरी ओर मलसहित समस्त वस्तुओंको रखो, फिर भी यह जीव समलंकृतं—मलसहित अथ च समीचीन अलंकारोंसे सुसज्जित किये हुए शरीरको प्राप्त होता है, विचारयुक्त ईक्षण—चक्षुको अच्छी तरह प्राप्त नहीं होता ॥५८॥

अर्थ—यह आत्मा राजा—महाराजा होता हुआ भी आत्मज्ञान बिना रासक्रीडाकारी—त्ररेदी (गोचारक गोप) के समान सबका परिचारक बन पृथिवी तल पर निवास करता है, अतः बुद्धिके शोधनेका प्रयत्न करो। तात्पर्य यह है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सपदि मन्थ इतः प्रतिमन्थिनि भ्रमति तद्वदयं जगदध्वनि ।
अरुणतो गुणतः स्वयमात्मनः विरम भो विरमेति मनः कुतः ।।६०।।

सपदीत्यादि—मन्थो दधिविलोडनदण्डः स इतो मन्थिनीं दधिपातिनीं प्रति प्रतिमन्थिनि अरुणतो गुणतो व्याकुलेन गुणेन सपदि सपदि साम्प्रतं भ्रमति, तद्वदेवायं संसारिंजनोऽपि जगदध्वनि संसारस्य वर्त्मनि स्वयमात्मन एवारुणतो गुणतो रागभावत एव भ्रमति ततः पुनरधुना भो मनो विरमाशु विरम तूष्णींभव । 'नीरवारक्त कपिल व्याकुलेष्वरुणोऽन्यवदिति विश्वलोचने ।।६०।।

सुखमवैति तु नात्मगुणं जडो बहु परेषु परं प्रतिपद्यते ।
अविदितात्मगतोत्तमसौरभो मृगवरः परितोऽपि विपद्यते ।।६१।।

सुखमित्यादि—जडो मन्दबुद्धिर्जनः सुखमात्मगुणं स्वभावं तु नावैति जानाति परेषु विषयेषु स्पर्शरसादिषु परं केवलं तत् प्रतिपद्यते मनुते, यथाऽविदितो न परिज्ञात आत्मनि शरीरे गतः समुत्पन्नो य उत्तमः सौरभो गन्धो येन स मृगवरः परित इतस्ततः सर्वतोऽपि विपद्यते कष्टमनुभवति । दृष्टान्तोऽलंकारः ।।६१।।

बहिरमीष्वसमेषु विकारतः परिचयं रचयन्नविचारतः ।
न परमात्मपथे रतिमेत्ययं रस इयान् रसितः किमपि स्वयम् ।।६२।।

बहिरित्यादि—किमपि स्वयमेवेयान् रसोऽनिर्वचनीयो रसित आस्वादितोऽस्ति येनायं संसारी विकारतः कारणादविचारत उचितानुचितस्य विचारमकृत्वा बहिरमीषु

---

कि आत्मबोधके बिना राजाधिराज पदका प्राप्त होना भी कार्यकारी नहीं है ।।५९।।

अर्थ—जिस प्रकार मन्थनदण्ड उसमें लगी रस्सीसे प्रेरित हो मन्थन करनेवाली स्त्रीकी ओर भ्रमण करता है उसी प्रकार यह जीव अपनी रागरूपी रस्सीसे प्रेरित होता हुआ संसारके मार्गमें स्वयं भ्रमण करता है । हे मन ! तू उस ओरसे शीघ्र ही विरत हो ।।६०।।

अर्थ—यह मन्दबुद्धि जीव सुखको आत्माका स्वभाव नहीं जानता किन्तु स्पर्श-रस आदि पर-पदार्थोंमें सुख है ऐसा मानता है । जिस प्रकार अपने शरीरमें विद्यमान उत्तम सुगन्धको न जानकर कस्तूरीमृग इधर उधर कष्टका अनुभव करता है, उसी प्रकार यह जीव अपनी आत्मामें विद्यमान सुखको न जानकर पर-पदार्थोंमें सुखको खोजता हुआ दुःखी होता है ।।६१।।

अर्थ—इस जीवने इतना रसका आस्वादन किया है कि तज्जनित विकारसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



दृश्यमानेषु असमेषु विलक्षणेषु स्वतः परिचयं रचयन्ननुरागं कुर्वन् परमात्मपथे परमे हितकारके आत्मनः पथि रतिं नैति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥६२॥

**सपदि मन्थगुणेन गवीश्वरो यदिव दध्न उपैति नवोद्धृतम् ।**
**परमपास्य गुणी सहसात्मनो रसिति रूपमवैति नवोद्धृतम् ॥६३॥**

सपदीत्यादि—यदिव यथा सपदि साम्प्रतं दृश्यते गवीश्वरो गोपालकः स मन्थस्य गुणेन प्रयोगेण दध्नो नवोद्धृतं नवनीतमुपैति तथैव गुणी विवेकवान् जनः सहसा स्वसाहसेन रसिति शीघ्रमेव परं जडरूपमपास्य पुनरात्मनः स्वस्य रूपं नवोद्धृतमभूतपूर्वमुपैति तावदिति दृष्टान्तोऽलंकारः ॥६३॥

**नहि विषादमियादशुभोदये नहि शुभे सुभगो मुदमानयेत् ।**
**जगति सम्प्रति सव्यतदन्ययोः कियदिवान्तरमस्ति च जन्ययोः ॥६४॥**

नहीत्यादि—सुभगो जनोऽशुभस्य पापस्योदये विषादं खेदं नहीयाद् गच्छेत् तथा शुभे पुण्यकर्मण उदये मुदं प्रसन्नतामपि नहि आनयेत् स्वीकुर्यात् । सम्प्रति सव्यं वामं तदन्यच्च दक्षिणं तयोर्जन्ययोर्ज्ञातव्ययोरङ्ग्योरिव यथा जगति लोके कियदन्तरमस्ति न कियदपीति दृष्टान्तोऽलंकारः ॥६४॥

**वृषलपालित आसवमश्नुते द्विजमितस्त्यजतीत्युपसंश्रुतेः ।**
**दृशि तु दासिसुतौ सुदृशामुभौ निगदितौ च तथैव शुभाशुभौ ॥६५॥**

---

यह उचित और अनुचितका विचार भूल गया है । फलस्वरूप इन बाह्य विलक्षण विषयोंमें स्वयं परिचय करता हुआ रागको करता है और परमात्मपथमें—आत्म-हितकारी मार्गमें राग–प्रीति नहीं करता ॥६२॥

**अर्थ**—जिस प्रकार गायोंका स्वामी—गोपालक मन्थनके प्रयोग द्वारा दहीसे नवनीतको प्राप्त होता है, उसी प्रकार विवेकवान् मनुष्य अपने साहससे शीघ्र ही पर–जड़रूप पदार्थको छोड़कर आत्माके नवोद्धृत—अभूतपूर्वरूपको प्राप्त करता है ॥६३॥

**अर्थ**—उत्तम मनुष्य पापकर्मके उदयमें विषादको तथा पुण्यकर्मके उदयमें हर्षको प्राप्त नहीं होता । जगत्में जैसे बायें और दाहिने भागसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंमें कितना अन्तर होता है ? अर्थात् कुछ नहीं ।

**भावार्थ**—शुभ और अशुभ—दोनों कर्मोंका उदय, बन्धका कारण होनेसे मोक्ष प्राप्तिमें बाधक है । ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप शुभाचरण करता हुआ श्रद्धामें उसे मोक्षका साक्षात् कारण नहीं मानता ॥६४॥



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वृषलपालित इत्यादि—दासस्य सुतयोर्मध्ये किलैकस्तु स्वयं वृषलेन दासेन पालितः पोषितः स आसवं मद्यं प्रसन्नतयाऽश्नुते पिबति, किन्त्वन्यो द्विजमितो विप्रस्य समीपं गतः स आसवं त्यजति ततो दूरं व्रजतीत्येवोपसंश्रुतः सद्भावात्। किन्तु सुदृशां दृशि दृष्टौ तु तावुभौ दाससुतावेवेति तथैव शुभाशुभौ योगावपि निगदितौ स्तः ॥६५॥

**रजक एष गुणी स्वगुणाम्बरं समरसेन रसेन सता वरम्।**
**झगिति धावति नावति कश्मलं ननु विवेकमुपेत्य सुफेनिलम् ॥६६॥**

रजक इत्यादि—एष गुणी जीवो रजको वस्त्रसंक्षालकः स समरसेन किलेष्टानिष्टयोस्तुल्यभावेनैव सता पवित्रेण रसेन जलेन वरं श्रेष्ठं स्वगुणाम्बरं स्वाधीनगुणरूपं वस्त्रं झगिति शीघ्रमेव धावति प्रक्षालयति कश्मलं नाम मलं नावति न द्रष्टुमीहते विवेकं नामोचितानुचितयोर्यज्ज्ञानं तदेव सुफेनिलं सम्यक्तया मलापहरणं द्रव्यं तदिदमुपेत्य समुपलभ्येति रूपकोऽलंकारः ॥६६॥

**अयि विवेकितयैव वसेर्मन इह च किं वसतोऽपि विपत्पुनः।**
**किमुत गारुडिनो विलसन्मतेर्भुजगभुक्तमपीति विषायते ॥६७॥**

अयीत्यादि—अयि मनस्त्वं विवेकितयैव निर्मलभावेनैव वसेर्निवासं गच्छेः। पुनरिहापि

---

अर्थ—किसी शूद्रा दासीके दो पुत्र हुए, उनमें एकका पालन उसीके घर हुआ और दूसरा ब्राह्मणके घर पाला गया। दासीके घर जिसका पालन हुआ था वह मदिराका सेवन करता है और जिसका पालन ब्राह्मणके घर हुआ था वह मदिराको छोड़कर उससे दूर रहता है। दो पुत्रोंका आचरण दो प्रकारका अवश्य है परन्तु सम्यग्दृष्टियोंकी दृष्टिमें दासीके पुत्र होनेसे शूद्र दोनों हैं। इसी प्रकार शुभ और अशुभ दोनों मोहजन्य होनेसे आस्रवके ही कारण माने गये हैं। यही भाव आचार्य अमृतचन्द्रने टिप्पणगत [1]श्लोकमें प्रकट किया है ॥६५॥

अर्थ—यह गुणी मनुष्य एक धोबी है, जो समताभावरूपी पवित्र जलसे अपने गुणरूपी वस्त्रको शीघ्र ही धोता है। वह मैलकी रक्षा नहीं करता और विवेकरूपी उत्तम साबुनको लेकर गुणरूपी वस्त्र धोता है ॥६६॥

अर्थ—हे मन! तू निर्मल भावसे ही निवास कर, इस निर्मल भावमें निवास

---

१. एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादथ च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥१०१॥
—नाटके समयसारेऽमृतचन्द्रस्य सूरेः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वसतस्ते किन्नाम विपदास्ति, नैवास्ति। विलसन्मतेः प्रस्फुटबुद्धेर्गारुडिनो भुजगभुक्तं सर्पदष्टमपीति किमुत विषायते विषविकाराय भवति ? नैव भवतीति काकुपूर्वो दृष्टान्तः ।।९७।।

**भुवि वृथा सुकृतं च कृतं भवेद्भुविजनस्य तरामविवेकतः।**
**अनयनस्य वटोवलनं पुनः कवलितं च शकृत्करिणा ततः ।।६८।।**

भुवीत्यादि—भुवि किलास्यां धरायां भविजनस्य जन्मवतोऽविवेकतो निर्विचारभावेन कृतं सुकृतं पुण्यं कर्मापि कृतं वृथा निष्फलं भवेत्तरां यथाऽनयनस्यान्धस्य वटोवलनं रज्जूसम्पादनमपि ततोऽन्यतः पुनः शकृत्करिणा वत्सेन कवलितं ग्रासीकृतं भवतीति। 'शकृत्करिस्तु वत्सः स्यात्' इत्यमरकोषे। दृष्टान्तालंकारः ।।६८।।

**स्नवदिहो न तथा न दशान्तरमपि तु मोहतमोहरणादरः।**
**लसति बोधनदीप इयान् यतः विधिपतङ्गगणः पतति स्वतः ।।६९।।**

स्नवदिह इत्यादि—कस्यापि विवेकिनः क्वचित्कदापिदपि स्नवदिहः स्नेहो न भवति स्नेहस्तु रागस्तैलं च वा नास्ति तथा दशान्तरमपि द्वेषोऽपि यद्वा वर्तिप्रकारोऽपि नास्ति, तथापि तु पुनर्मोह एव तमोऽन्धकारस्तस्य हरणेऽपाकरण आदरो विद्यते सदैवेयानीदृशो बोधनं ज्ञानमेव दीपः सम्भवति यतः। स्वत एव विधीनां दुरितानामेव पतङ्गानां गणः पतति विनश्यति। रूपकोऽलंकारः ।।६९।।

---

करते हुए तुझे क्या विपत्ति हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। स्पष्ट बुद्धिवाले विषवैद्यको सर्पका दंश क्या विष रूप होता है ? अर्थात् नहीं ।।६७।।

**अर्थ**—पृथिवी पर मनुष्यका विवेकके बिना किया हुआ पुण्यकर्म निष्फल होता है, जैसे अन्धा मनुष्य एक ओरसे रस्सीको बटता जाता है और दूसरी ओर से बछड़ा उसे खाता जाता है। 'अन्धा बटे बछड़ा खाय'।

**अर्थ**—विवेकी मनुष्यको किसी पदार्थमें न स्नेह-राग होता है और न दशान्तर-रागके विपरीत द्वेष होता है, उसको तो मोहरूप अन्धकारको दूर करनेका ही आदर होता है। ज्ञानरूप दीपक हो ऐसा है कि जिस पर कर्मरूप पतंगे स्वयं पड़ते हैं-नष्ट होते हैं।

**अर्थान्तर**—किसी मनुष्यको न मोक्ष मार्गमें स्नेह-रागरूप तैल है और न संसार मार्गमें दशान्तर-द्वेष अथवा बत्ती है, फिर भी वह मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेमें आदर रखता है उसका यह कार्य इस लोकोक्तिके अनुसार है कि 'न तैल है न बाती, उजियालामें रहेंगे'। अतः ज्ञानरूपी दीपकको प्रज्वलित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**अपि तु बाह्यकवस्तुनिबन्धनेऽभ्यनुरतस्तनुमान् ननु धन्धने ।**
**अनयनो नितरां निजगन्धने व्रजति हा विपदामनुबन्धने ॥७०॥**

अपि त्वित्यादि—अयं तनुमान् ननु नियमेन बाह्यकानि वस्तूनि स्त्रीपुत्रादीनि तान्येव निबन्धनानि कारणानि यस्य तस्मिन् धन्धने कार्यव्यापारेऽभ्यनुरतो विलग्नोऽपि तु सततमेव, किन्तु निजस्य गन्धने सम्बन्धे नितरामनयनो जात्यन्ध एव हा खेदप्रदर्शनार्थम् तत एव विपदां विपत्तीनामनुबन्धने प्रत्यनुवर्तने व्रजति सम्पतितोऽस्ति । 'गन्धो गन्धके सम्बन्धे' इति विश्वलोचने, 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशसम्बन्धगर्वयोः' इति चान्यत्र । अनुप्रासोऽलंकारः ॥७०॥

**हसति रौति च मूर्च्छति वेपते तनुभृदेष किलापगतो धृतेः ।**
**भ्रमति सर्वत एव भिया स कौ भवति भूतनिवास इवासकौ ॥७१॥**

हसतीत्यादि—एष तनुभृद् देहधरो धृतेरपगतो धैर्यहीनो भूत्वा कदाचिदिष्टसमागमे हसति तदपगमे च रौति पुनरनिष्टसमागमे वेपते कम्पमेति वा मूर्च्छति वा पुनः स भिया भयवशेन कौ पृथिव्यां सर्वत एव भ्रमति एवमसावेवासकौ भूतनिवासः प्रेतगृहीत इव भवति न कश्चिद्विशेषः किलात्र ॥७१॥

**हितमवैति न कश्चन वै जनस्तदितरस्य तु संशयितं मनः ।**
**परमये विपरीतरुचा धृतं जगदिदं सकलं तमसाऽऽवृतम् ॥७२॥**

हितमित्यादि—कश्चनैकस्तु जनो हितं मङ्गलकरं वृत्तमवैत्येव वै न, शृणोत्येव न,

---

करना चाहिये, अर्थात् विवेकपूर्वक धर्माचरण करना चाहिये। उसीसे कर्मनिर्जराका योग प्राप्त होता है ॥६९॥

**अर्थ**—यह प्राणी नियमसे बाह्य वस्तु-स्त्रीपुत्रादि रूप कारणोंसे युक्त धन्धन-सांसारिक व्यापारमें संलग्न है, किन्तु निजसे सम्बद्ध कार्यके विषयमें अनयन-जन्मान्ध है। खेद है कि यह जीव विपत्तिके कारणोंमें ही पड़ा है ॥७०॥

**अर्थ**—यह प्राणी धैर्यहीन हो कभी इष्टका समागम होने पर हँसने लगता है, कभी इष्टका वियोग होने पर रोने लगता है, कभी अनिष्ट समागमकी आशङ्कासे काँप उठता है और भयसे सर्वत्र भ्रमण करता है-रक्षाकी दृष्टिसे इधर उधर भागता है। इस प्रकार यह भूतगृहीत-पिशाचाक्रान्त जैसा हो रहा है ॥७१॥

**अर्थ**—कोई एक मनुष्य हितको जानता ही नहीं है-उसे सुनता ही नहीं है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तदितरस्य तु कस्यचिन्मनो हितं श्रुत्वापि तत्र संशयितं भवति दोलायत एव किं करोमि किं न करोमीति ? ततः परं पुनर्विपरीतया रुचाऽभिलाषया धृतमये पश्यामि, एवमिदं सकलं जगत्तमसाऽज्ञानेनाऽऽवृतं तिष्ठति ।।७२।।

**वयनकीटवदात्मनि वेष्टितैर्विपदमेति जनो निजचेष्टितैः ।**
**प्रभवतीह हितैरिमकैर्जितैर्जगति मत्कुणवन्म्रियते न तैः ।।७३।।**

वयनकीटवदित्यादि—आत्मनि वेष्टितैर्वयनकीटवद् ऊर्णनाभ इवायं जनोऽपि निजचेष्टितैरेव विपदमेति जगतीह इमकैर्जितैः व्यतीतैः पुनर्हितैः प्रभवति हितप्राप्त्या समर्थो भवति, किन्तु तैर्मत्कुणवन्न म्रियते ।।७३।।

**सदपि मल्लमहावपि युद्धचतोर्भवति दीपकजीवसमन्वितः ।**
**लगति तस्य तनौ हि रजः कुजं तदितरो विलसत्यपि केवलः ।।७४।।**

सपदीत्यादि—सपदि साम्प्रतं मल्लमहौ व्यायामभूमौ महिशब्दो ह्रस्वेकारान्तोऽपि कविभिः सम्मतोऽस्ति, धरणिशब्दवत् । युद्धचतोर्युद्धं कुर्वतोर्यः कोऽपि दीपकजीवेन स्नेहेन समन्वितो भवति तस्यैव तनौ शरीरे हि कुजं रजो भूमिगतपांसुर्लगति तदितरो यः स्नेहेन वर्जितः स केवल एवापि विलसति ।।७४।।

**विषयजातिशयाश्रयिहृद्वता जनुरिदं ननु नीतमपार्थताम् ।**
**गतधियापि मया समयः श्रियां पणयितो मुकुरेण मणी रयात् ।।७५।।**

---

किसीका मन संशयसे युक्त है—वह निर्णय नहीं कर पाता कि क्या करूँ क्या न करूँ और कोई अन्य मनुष्य विपरीत बुद्धिसे आक्रान्त है । इस प्रकार यह समस्त जगत् अज्ञानसे आवृत हो रहा है ।।७२।।

**अर्थ**—जिस प्रकार मकड़ी अपने ही वेष्टनसे वेष्टित हो विपत्तिको प्राप्त होती है, उसी प्रकार यह जीव अपनी ही चेष्टाओंसे विपत्तिको प्राप्त होता है । कोई जीव अपनी भूतकालीन हितकारी चेष्टाओंसे प्रभुत्वयुक्त होता है, उनसे खटमल-के समान मृत्युको प्राप्त नहीं होता ।।७३।।

**अर्थ**—एक साथ दो मल्ल अखाड़ेमें युद्ध कर रहे हैं—कुश्ती खेल रहे हैं । उनमेंसे एक मल्ल तैलसे सहित है—शरीरमें तैल लगाये हुए है और दूसरा तैलसे रहित है । जिसके शरीरमें तैल लग रहा है उसके शरीरमें पृथिवीकी धूलि—अखाड़ेकी मिट्टी लग जाती है, पर जो तैलसे रहित होता है वह अकेला ही सुशोभित होता है । तात्पर्य यह है कि रागभाव ही बन्धका कारण है और विरागभाव निर्जराका कारण है ।।७४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


विषयजेत्यादि—मयापि गतधिया बुद्धिहीनेन विषयेभ्यो जायते योऽतिशयो विशेषः स एवाश्रयो विश्रामस्थानं यस्यैतादृग्धृद्वता सतेदं जनुर्मानवजन्मापार्थतां व्यर्थभावन्तां नीतं ननु निश्चयेन व्ययीकृतमास्ते। यतः श्रियां लक्ष्मीणां समय आधारभूतो मणिः स मुकुरेण पणयितो विक्रीतो स्यात् किमपि विचारमकृत्वा। अनुप्रासोऽलंकारः ॥७५॥

**श्रुतमधीत्य यथाविधि बुद्धिमान् समधिगम्य च साधुसमागमम्।**
**जगदुदीक्ष्य च भङ्गुरमुह्यतां मदपरः क इवेह विमुह्यताम् ॥७६॥**

श्रुतमित्यादि—मत्तोऽपरो मदपरः क इव बुद्धिमान् यो यथाविधि श्रुतं शास्त्रमधीत्य साधुसमागमं साधूनां सज्जनानां सम्पर्कं यद्वा साधुश्चासौ समागमश्च तं समुचितसम्प्रयोगं समधिगम्य चेदं जगच्च भङ्गुरं नश्वरमुदीक्ष्य दृष्ट्वा पुनरपीह विमुह्यतां मोहं गच्छेदित्यूह्यतां विचार्यतां तावत् ॥७६॥

**अनवयन्दहनं शलभोऽतति बडिशमांसमितश्च झषोऽमतिः।**
**न विषयान् गहनाँश्च सुचिन्निधिस्त्यजति मादृगहो निबिडो विधिः ॥७७॥**

अनवयन्नित्यादि—यः शलभः पतङ्गः स तु दहनं दग्धकरमनवयन्नजानन् एवातति संगच्छति। झषो मीनोऽपि यो बडिशस्य मांसं लोहकण्टकेन सह लग्नं पलमितः सम्प्राप्तः स चामतिर्बुद्धिरहित एव, किन्तु सुचिन्निधिः सम्यग्बुद्धिधरोऽपि सन् विषयान् गहनान् कष्टकराँश्च जानन् पुनरपि मादृङ्नरस्तान् न त्यजति तावदिति विधिः पुराकृतप्रणिधिः सन्निबिड एवाहो ॥७७॥

---

**अर्थ**—विषयजन्य विशेष सुखका आश्रय करने वाले हृदयसे युक्त मुझ जयकुमारने भी निर्बुद्धि हो इस मानव जन्मको व्यर्थ खो दिया है। मैंने लक्ष्मीके आधारभूत मणिको कुछ विचार किये बिना ही मुकुर (काच) में बेंच दिया है ॥७५॥

**अर्थ**—मुझसे भिन्न दूसरा कौन बुद्धिमान् होगा जो विधिपूर्वक शास्त्र पढ़ कर, साधु समागम–साधुओंका समागम अथवा समुचित सम्प्रयोग प्राप्त कर और जगत्को नश्वर देखकर भी विमोहको प्राप्त होगा? विचार किया जावे ॥७६॥

**अर्थ**—पतङ्ग अग्निके पास जाता है, पर वह उसे दहन–जलाने वाली न जानकर जाता है। इसी प्रकार मछली वंशीमें लगे हुए मांसको प्राप्त होती है, पर वह अमति–बुद्धिसे रहित है। परन्तु ज्ञानदर्शनरूप चेतनाका भाण्डार होकर भी मेरा जैसा मनुष्य इन गहन विषयोंको नहीं छोड़ रहा है, इससे आश्चर्य है कि मेरा कर्म बहुत सान्द्र–मजबूत है ॥७७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**स दिवसः समयः स मयाञ्चितः सपदि सोऽहमपीतिकथाश्रितः ।**
**उपहतः पुनरुक्तपरिश्रमैररवत् प्रभवामि वृथाक्रमैः ।।७८।।**

स दिवस इत्यादि—स एव तु दिवसः स एव समयः प्रातःकालादिरूपो यो मया पूर्वमञ्चितः समुपभुक्तस्तथा सपदीतिकथया बाधाकारकवार्तयाश्रितोऽहमपि स एव तथापि वृथाक्रमोऽनुवर्तनं येषां तैः पुनरुक्तपरिश्रमैरुपहतोऽपि अररवत् कपाटवत् प्रभवामि । अनुप्रासश्चोपमालंकारः ।।७८।।

**नहि कृतं मदनारिक माजनुः स्मृतमहो न जिनेन्द्रपदं ननु ।**
**युवतिमार्दवकर्दमकेऽर्दितं किमु कथेयमथो भसदोऽग्रतः ।।७९।।**

नहीत्यादि—अहो मयाऽऽजनुर्जन्मन आरभ्याद्यावधि मदनारिकं कामवासना-विरोधि किमपि न हि कृतम्, जिनेन्द्रस्य पदं चरणद्वन्द्वं ननु नियमेन न स्मृतं तस्य सामीप्यमपि न स्मृतम्, केवलं युवतीनां मार्दवं कोमलत्वमेव कर्दमः स एव कर्दमकं तस्मिन्नेवार्दितं प्रार्थितं ततो भसदः कालस्य यमराजस्याग्रतोऽथो किमु वदेयमिति काकूक्तिः । 'कथ' इति भौवादिको धातुर्यस्य लुङि ण्यन्ते 'अचीकथत्' इति रूपं जैनकाव्येषु प्रचलितम्, 'अचीकथच्च मन्त्रिभ्यो' इति वादीभसिंहेन क्षत्रचूडामणौ प्रयुक्तम् ।।७९।।

**स्मरशरासरसाशयितान्विता नियमिता वमिता भ्रमिता मिता ।**
**जडतयापि तथापि तु चिन्तया किमधुना समये च शिवं स्यात् ।।८०।।**

---

**अर्थ**—वही दिन है, मेरे द्वारा उपयुक्त वही समय है और कथाओंका आश्रयभूत मैं भी वही हूँ, फिर भी व्यर्थ क्रमसे युक्त पुनरुक्त परिश्रमों–विषयोंकी प्रवृत्तिसे उपहत होता हुआ किवाड़के समान बन रहा हूँ, अर्थात् सद्विचारोंके प्रवेशके लिये बाधक हो रहा हूँ ।

**भावार्थ**—आकर्षणके लिये उपभोग्य और उपभोक्तामें नूतनता आवश्यक होती है, पर यहाँ नूतनता कुछ भी नहीं है । फिर भी विषयोंमें मेरा आकर्षण कम नहीं हो रहा है, यह आश्चर्यकी बात है ।।७८।।

**अर्थ**—आश्चर्य है कि मैंने जन्मसे लेकर आजतक कामवासनाका विरोधी कुछ भी कार्य नहीं किया, न जिनेन्द्रदेवके चरण युगलका स्मरण किया, मात्र स्त्रियोंकी कोमलतारूपी कीचड़की चाह–करता रहा अथवा उसमें फँसकर पीड़ित होता रहा, अब मैं यमराजके आगे क्या कहूँगा ?

**विशेष**—यमराजकी कल्पना लौकिक है, जिनागममें ऐसे यमराजका कोई उल्लेख नहीं है । वहाँ मरणको ही यमराज कहा गया है ।।७९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

 CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri 

स्मरेत्यादि—अद्यावधि मया स्मरस्य शरासं धनुस्तस्य रसा भूःस्थानमाशयो मनस्तद्वत्ता कामवासनायुक्ततैवान्विता स्वीकृताऽतो नियमिता परिमितगामिता वमिता परित्यक्ता, भ्रमिता किलेतस्ततो भ्रमणशीलतैव मिताङ्गीकृता जडतया निर्विचार-वृत्या, किन्तु तथापि चिन्तयाऽधुना किं साध्यम् ? गतसर्पस्य घृष्टिचिन्तनरूपयाऽधुनापि पुना रयाच्छिवं कल्याणं समये गच्छामीति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥८०॥

**अधम ! यौवनमाप लयाश्रितिं बहुमयौ वन एव मता स्थितिः ।**
**क्षण इतो मृदुहारमणोभृतः स खलु हा रमणीसदसोऽप्यतः ॥८१॥**

अधमेत्यादि—हे अधम ! अधुना यौवनं तारुण्यमपि लयाश्रितिमाप विनाशं जगामातः खलु मृदुहारभृतः सुललितमणिमयकण्ठिकायुक्तस्य रमणीनां युवतीनां सदसः समाजस्य क्षणोऽपि समयोऽपीतो व्यतीतः, हेति खेद एवैतद् । अतोऽधुना तु पुनर्बहवो मयवो मृगा यस्मिंस्तस्मिन् वने कानन एव स्थितिर्निवासो मता वृद्धैरनुमतास्ति । 'मयुर्मृगे किन्नरे स्यात्' इति विश्वलोचने । यमकालंकारः ॥८१॥

**अखिलमेव तु वस्तु पुरःस्फुरन्निजनिजोचितधर्मधुरन्धरम् ।**
**अहह धर्ममृतेऽति पुमानतिविकलितः खलु जीवितुमिच्छति ॥८२॥**

अखिलमित्यादि—तु पुनरखिलमेव वस्तु पदार्थसमूहः पुरः स्फुरन् प्रत्यक्षं दृश्यमानो यो निजनिजस्योचितो योग्यो धर्मः स्वभावस्तस्य धुरन्धरं धारकं शोभते किन्त्वति-विकलितो व्याकुलत्वं प्राप्तः पुरुषो धर्ममृतेऽपि स्वस्वभावमन्तरेणापि खलु निश्चयेन जीवितुमिच्छत्यभिलषति । अहहेति खेदे ॥८२॥

---

अर्थ—मैंने मनको कामवासनाका आश्रय बनाया, परिमितता—भोगोपभोगकी सीमाका परित्याग किया और जडता—अज्ञानके कारण भ्रमिता—भ्रमणशीलताको स्वीकृत किया, परन्तु अब चिन्तासे क्या साध्य है ? क्या चिन्तासे मैं शीघ्र ही कल्याणको प्राप्त हो सकता हूँ ? अर्थात् नहीं ॥८०॥

अर्थ—हे अधम ! यौवन विनाशको प्राप्त हो गया और मणिमय कोमल कण्ठिकाओंसे युक्त स्त्रीसमूहका भी समय निकल चुका है, अतः अब अनेक मृगोंसे युक्त वनमें निवास करना ही वृद्ध जनोंने स्वीकृत किया है ॥८१॥

अर्थ—संसारके समस्त पदार्थ आगे देदीप्यमान—अनुभवमें आने वाले अपने अपने योग्य धर्मको धारण करते हुए शोभायमान हैं, परन्तु अत्यन्त विकलता—विह्वलताको प्राप्त हुआ पुरुष खेद है कि धर्मके बिना ही जीवित रहनेकी इच्छा करता है ॥८२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



न वृषमेत्यनुषङ्गजमप्यथ सततमेनसि संविलसत्कथः ।
अहह मूढमना मनुजोऽमृतं समपहाय विषं पिबति स्वतः ॥८३॥

न वृषमित्यादि—अहह महदाश्चर्यस्थानमेतद् यदयं मूढमना विचारविहीनहृदयो मनुजो वृषं धर्मं प्रयत्नेन न करोतीति तु तावदास्तां किन्त्वनुषङ्गजमपि प्रसङ्गवशादनायासतयाऽऽप्राप्तमपि नैति नानुतिष्ठति, सततं निरन्तरमेनसि पापाचारे संविलसति समुत्साहमेति कथा वार्ता यस्य सोऽथ सम्भवति सोऽयममृतं समपहाय परित्यज्य स्वत एव विषं प्राणहरं पिबति । मोहमुग्धस्य स्वभावोक्तिरलंकारोऽयम् । अथात्र प्रश्ने वर्तते ॥८३॥

यदि हृषीकसुखान्यपि हे जिन किल फलानि वृषस्य हि शाखिनः ।
न किममी सहिताश्च सुखाशया वृषमुषन्ति नु सन्ति मलाशयाः ॥८४॥

यदीत्यादि—हे जिन ! भगवन् ! यदि किल हृषीकसुखानीन्द्रियजन्यान्यपि सुखानि वृषस्य हि शाखिनो धर्मवृक्षस्यैव फलानि सन्ति, तदा पुनरमी सुखस्याशयाभिलाषया सहिताश्च सन्तो वृषं धर्मं किन्नोषन्ति सेवन्ते, मलः पापयुक्तः कृपणो वाऽऽशयोऽभिप्रायो येषां ते भवन्तीति । नु वितर्के ॥८४॥

स सुतत्त्वमहत्त्वदायिनीं वृषचिन्तामणिसंविधायिनीम् ।
भवभोगवपुष्षु निःस्पृहो हृदि चिन्तामणिमित्यगादहो ॥८५॥

स इत्यादि—स जयकुमारः सुतत्त्वस्यात्मनो महत्त्वं ददातीति तां सुतत्त्वमहत्त्वदायिनीं वृषो धर्मः स एव चिन्तामणिर्वाञ्छितपूर्तिकर इति संविधानं करोतीति तां वृषचिन्तामणिसंविधायिनीमिति पूर्वोक्तरूपां चिन्तानुचित्तवृत्तिः सैव मणिस्तामगाज्ज-

---

अर्थ—आश्चर्य है कि यह मूढहृदय मनुष्य धर्मको प्रयत्नपूर्वक नहीं करता है यह दूर रहे, किन्तु अनायास प्राप्त धर्मको भी नहीं करता है, इसके विपरीत पापाचारविषयक कथाओंमें ही संलग्न रहता है । ऐसा जान पड़ता है कि यह अमृतको छोड़कर स्वयं विषको पीता है ॥८३॥

अर्थ—हे जिन ! हे भगवन् ! यदि इन्द्रियजन्य सुख भी धर्मरूपी वृक्षके फल हैं, तो सुखकी अभिलाषासे सहित ये प्राणी धर्मकी सेवा क्यों नहीं करते ? मलिन अभिप्राय वाले क्यों है ? ॥८४॥

अर्थ—इस प्रकार संसार, भोग और शरीरमें निःस्पृह भावको धारण करने वाले जयकुमार आत्मतत्त्वकी महिमाको देने वाली तथा धर्म चिन्तामणिको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



गाम हृदि स्वचेतसि भवो जन्मभोगः स्त्रीसंपर्कादिर्वपुः शरीरं तेष्वेतेषु निःस्पृहो वाञ्छारहितो यतस्ततोऽहो विचारविमर्शो। यमकोऽलंकारः ॥८५॥

य उपश्रुति निर्वृतिश्रिया कृतसंकेत इवाथ भूर्धियाम्।
विजनं हि जनैकनायकः सहसैवाभिललाष चायकः ॥८६॥

य उपश्रुतीत्यादि—योऽथ धियां विचारशक्तीनां भूः स्थानं तथा जनानामेकः प्रसिद्धो नायकोऽभिनेता जयकुमारश्चास्य चन्द्रमस इवाय एवायकः शुभावहो विधिर्यस्य सः चन्द्र इवाह्लादकः स श्रुतेः कर्णस्य समीपमुपश्रुति निर्वृतिश्रिया मुक्तिलक्ष्म्याऽऽगत्य कृतः संकेतः समस्यालेशो यस्मै स इव सहसाऽकस्मादेव हि विजनं निर्जनं वनमभिललाष वाञ्छितवानित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥८६॥

जन्मातङ्कजरादितः स भयभृच्चिन्तामथागाच्छुभां
यत्नोद्वाह्यमिमं तु राज्यभरकं स्थाने समाने ध्रुवम्।
सद्भूयामहमत्र कुत्र भवतो निक्षिप्य निर्यन्मना
नानिष्टां जनताऽऽयतिं प्रसरताद् भातूत्सवश्चात्मनाम् ॥८७॥

जन्मेत्यादि—अथ जन्म चातङ्कश्च जरा चादौ येषां दुःखानां तेभ्यस्ततो भयभृत् सतर्कः स जयकुमारः शुभामेतां चिन्तामगात् कृतवान् यत्किलेदं राज्यस्य भर एव भरकस्तं कीदृशं तं यत्नेनोद्वाह्यं प्रयत्नपूर्वकमेव वहनयोग्यं तमहमत्र कुत्र समाने मम तुल्य एव स्थाने ध्रुवं सदाकालं यावन्निक्षिप्य भवतोऽस्मात् संसारान्निर्यन्मना विनिर्वृत्तचित्तस्सम्भूयां

---

प्रकट करने वाली उत्तम सद्विचार मालाको हृदयमें प्राप्त हुए।

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे उन्होंने अपने हृदयमें चिन्तन कर संसार, शरीर और भोगोंसे उदासीनता प्राप्त की ॥८५॥

अर्थ—तदनन्तर जो विचारशक्तियोंके स्थान थे, जनसमूहके अद्वितीय नायक थे तथा च-चन्द्रमाके समान आयक-शुभ भाग्यको धारण करनेवाले थे, ऐसे जयकुमारने अकस्मात् ही निर्जन वनमें जानेकी अभिलाषा की। इससे ऐसा जान पड़ता था मानों मुक्तिरूपी लक्ष्मीने कानके पास आकर मिलनेका संकेत ही कर दिया हो ॥८६॥

अर्थ—तदनन्तर जन्म, रोग तथा जरा आदिसे भयको धारण करनेवाले जयकुमारने यह शुभ विचार किया कि मैं प्रयत्नपूर्वक धारण करने योग्य इस राज्यभारको अपने तुल्य किस स्थान पर-किस व्यक्तिको सौंपकर संसारसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जनता चानिष्टामार्यांत भविष्यन्तं कालं न प्रसरताच्च तथात्मनां कुटुम्बिजनानामुत्सवो भातु इति । एतस्य चक्रबन्धस्य प्रत्यराग्राक्षरैर्जयसंभावना (सद्भावना) इति सर्गविषय-निर्देशः कृतो भवति ॥८७॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
[1]ज्ञानानन्दपदानुयायिनि गतः सर्गो निसर्गोज्ज्वल-
स्तत्प्रोक्तेऽत्र जयोदये सुललितो [2]बाणाक्षिभृत्सम्बलः ॥८८॥

---

विरक्तहृदय हो सकूं, जनता भी भविष्यमें अनिष्टको प्राप्त न हो और हमारे कुटुम्बी जनोंमें उत्सवकी वृद्धि होती रहे ॥८७॥

इति वाणीभूषणब्रह्मचारिपं० भूरामलशास्त्रिविरचिते सुलोचना-
स्वयंवरापरनामजयोदये महाकाव्ये जयकुमारवैराग्य-
भावनाप्ररूपकः पञ्चविंशतितमः सर्गः समाप्तः ॥

●

---

१. ज्ञानानन्दयोः पदमनुयाति, वर्णयति तस्मिन् । जयोदयस्य विशेषणम् ॥

२. पञ्चविंशतितमः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# षड्विंशः सर्गः

समभूत् समभूतरक्षणः स्वसमुत्सर्गविसर्गलक्षणः ।
शिवमानवमानवक्षणः नृपतेरुत्सवदुत्सवक्षणः ॥१॥

समभूदित्यादि—समानां सर्वेषां भूतानां प्राणिनां रक्षणं यत्र स तथा स्वस्य धनादेः समुत्सर्गस्तस्य विसर्गोऽन्तिमावस्था लक्षणं यस्य स परिपूर्णत्यागात्मकस्तथा शिवं शर्म तस्य मा शोभा वा लक्ष्मीर्वा तस्या नवो मानः सन्मानस्तस्य वक्षणः सम्पत्तिकरो व इति पूर्णकुम्भस्तस्य क्षण इव क्षणो यस्येत्यर्थात् । एतादृशो नृपतेर्जयकुमारस्योत्सवक्षण उत्सवद् यत्रागत्य जलं तिष्ठति तत्स्थानमुत्सः कथ्यते तद्वत्समभूत् । अनुप्रासोऽलंकारः ॥१॥

अनुनामगुणैकभूरभूदथ शैवंकरिरेतदङ्गभूः ।
नहि शत्रुभिरन्ततामितः स्विदनन्तोत्तरवीर्यसंज्ञितः ॥२॥

अनुनामेत्यादि—अथात्रैतस्य जयकुमारस्याङ्गभूः पुत्रः शैवंकरिः शिवंकराया नाम राज्याः संजातोऽनन्तात्पदादुत्तरं यद्वीर्यंपदं तेन संज्ञितोऽनन्तवीर्यनामाऽनुनामगुणैकभूर्नामानुसारगुणधारको यतोऽत्र स न शत्रुभिरन्ततां पराभवमितः कदापीत्येतादृगभूत् ॥२॥

स बभूव कुलानुमानतः सवभूश्च प्रतिपत्तिमानतः ।
नृपतीर्थपतिर्न्ययोजयन्नृपतीनां सन्नयो जयः ॥३॥

**अर्थ**—राजा जयकुमारका वह उत्सव क्षण—जिसमें कि समस्त जीवोंका संरक्षण था, जिसमें धन आदिका पूर्ण परित्याग था तथा जो शिवमा—मोक्षलक्ष्मी अथवा सुखलक्ष्मीके नवीन मान—आदरके लिये वक्षण—मङ्गल कलश रूप था, उत्स—जलके एकत्रित होनेके स्थानके समान हुआ था ॥१॥

**अर्थ**—तदनन्तर राजा जयकुमारका एक अनन्तवीर्य नामका पुत्र था जो शिवंकरा रानीसे उत्पन्न हुआ था, नामके अनुसार गुणोंको धारण करनेवाला था और शत्रुओंके द्वारा जो कभी भी अन्त—पराभवको प्राप्त नहीं हुआ था ॥२॥

**अर्थ**—यतश्च अनन्तवीर्य कुलपरम्पराके अनुसार प्रतिपत्ति-विश्वासके योग्य था, अतः वही राज्याभिषेका पात्र हुआ । राजतीर्थके नायक नीतिवेत्ता जयकुमारने उसे ही राजाओंके आगे नियुक्त किया ॥३॥

---

१. 'सदृक् सर्वमान्येषु च समं त्रिषु' इति विश्वलोचने ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स बभूवेत्यादि—कुलानुमानतः कुलपरम्परानुसारतः स एव प्रतिपत्तिमान् विश्वासयोग्योऽतः स एव सवभूः राज्याभिषेकस्य स्थानं बभूव। सन्नयः समीचीननीतिवेत्ता जयो नाम नृपतीर्थस्य पतिः स तमेव नृपतीनां भूपानां धुरि सर्वेषामुपरि न्ययोजयत् सन्नियुक्तं कृतवान्। यमकोऽलंकारः ॥३॥

**क्षरदक्षरसौधसत्त्वरा परितश्चत्वरपूरणत्वरा।**
**सुदृशां नखरेषु सोमता प्रजयाऽक्षिप्रजयादसौ मता ॥४॥**

क्षरदक्षरेत्यादि—तथासौ निर्दिश्यमाना सोमता चन्द्रमस्ता सुन्दरता चाक्षिप्रजयाऽक्षिप्रो विलम्बस्तस्य जयात्परिहाराच्छीघ्रमिति यावत् प्रजया जनसाधारणेनापि सुदृशां मृगनयनानां स्त्रियां नखरेषु कराग्रेषु मतानुमानिता यतस्तत्र सुधायाः प्रस्तरचूर्णविकारस्येदं सौधं सत्त्वं अक्षरं बहुकालस्थायि च तत्सौधसत्त्वं क्षरन्निर्व्रजच्च तदक्षरसौधसत्त्वं राति स्वीकरोति सा परितः सर्वतश्चत्वरस्य मङ्गलमण्डलस्य पूरणे त्वरा शीघ्रता यस्यास्सा। अनुप्रासोऽलंकारः ॥४॥

**त्वकयि त्वकजिच्च नस्ततां लभतां स्नेहगुणोऽप्यनन्तताम्।**
**अभिषेकनिषेकसम्पदः स्फुरदभ्यङ्गकृता व्यभाव्यदः ॥५॥**

त्वकयीति—अभिषेकस्य स्नानस्य यो निषेकस्समारम्भस्तस्य या सम्पत्तस्याः स्फुरत् स्पष्टरूपमभ्यङ्गं तैलमर्दनं करोति यस्तेन जनेन हे प्रभो! त्वयि एव त्वकयि तु पुनर्नोऽ-

---

**अर्थ**—स्त्रियोंने अपने हाथोंसे शीघ्र ही चौक पूरकर उत्सवमें सोमता—भव्यता (पक्षमें चन्द्रता) ला दी। प्रजाने उस सोमताको स्त्रियोंके अग्रभाग सम्बन्धी अनुमानित की थी, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रता **क्षरदक्षरसौधसत्त्वरा**—झरते हुए अविनाशी अमृत समूहके सद्भावको देने वाली होती है, उसी प्रकार वह सोमता—भव्यता भी **क्षरदक्षरसौधसत्त्वरा**—झरते हुए कलईके सद्भावको देने वाली थी, अर्थात् सफेद-सफेद कलईसे स्थानको स्वच्छकर उसमें चौक पूर रही थीं तथा **परितश्चत्वरपूरणत्वरा**—जिस प्रकार **सोमता**—चन्द्रता चारों ओर **चत्वरता**—मण्डलता—गोलाकृतिको धारण करने वाली होती है, उसी प्रकार वह **सोमता**—भद्रता भी **परितश्चत्वरपूरणत्वरा**—सब ओर मण्डल—रंगावली द्वारा मण्डलके पूरनेमें शीघ्रतासे सहित थी ॥४॥

**अर्थ**—स्नानके पूर्व अनन्तवीर्यके शरीरमें अभ्यङ्ग—तैलका मर्दन किया था जो ऐसा जान पड़ता था मानों कह रहा हो हे भावी राजन्! शरीर पर जो स्नेह—तैल लगाया जा रहा है वह हम प्रजा जनोंके **अकजित्**—दुःख अथवा पापको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स्माकं प्रजाजनानामकजित् पापापहारो दुःखापहारी वा योऽसौ स्नेहगुणस्तैलानुयोगेनानुराग एव ततां विस्तृतामनन्ततामविनश्वरतां लभतामिति संव्रजेदित्यद इदं व्यभावि स्पष्टीकृतम् । इत्युत्प्रेक्षा ॥५॥

लसताल्लसता त्वदाश्रिते विषता संविशता तथा जिते ।
यदुपेत्यतरामवातरन्न किमुद्वर्तनमित्युदाहरत् ॥६॥

लसतादित्यादि—यदुद्वर्तनं. नृपस्य भाविनो राज्ञः शरीरमुपेत्यतरामवातरत्तत्पुनर्हे प्रभो ! त्वदाश्रिते जने लसता सुभगता लसतात् सम्भवेत् तथा त्वया जिते पराजिते पुंसि विषतानुपयोगिता संविशतोपपद्येतेति किन्नोदाहरदपि तु जगादैवेति वक्रोक्तिरनुप्रासश्च ॥६॥

सहते सह तेजसा स्थितः कुत एतन्मलिनत्वमित्यतः ।
कचसन्निचयस्तमस्तुतः समभादुत्तमभावितः स्तुतः ॥७॥

सहत इत्यादि—अयं तेजसा सह स्थितोऽपि किलास्माकमेतत्सहजप्रसिद्धं मलिनत्वं कृष्णवर्णत्वमुत मलयुक्तत्वं कुतः सहते, किन्तु नैवमित्यत एव किल कचानां केशानां सन्निचयः समूहो यस्तमस्तुतस्तम इवान्धकार इव स्तुतः श्यामवर्णः सोऽप्युत्तमभावतस्तदा फेनिलनामकेनोत्तमेन स्वच्छेन भावेन स्तुत समभादित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥७॥

---

जीतने वाला आपका स्नेह–अनुराग अत्यन्त विस्तृत अनन्तता–अविनश्वरताको प्राप्त हो, अर्थात् हम लोगोंके परिपालनमें सदा आपका स्नेह–अनुराग–प्रीतिभाव निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होता रहे ॥५॥

**अर्थ**—उस समय भावी राजाके शरीरमें जो अच्छी तरह उद्वर्तन–उपटन लगाया गया था, वह क्या यह नहीं कह रहा था कि हे राजन् ! जो मनुष्य आपके आश्रित लसता–सुन्दरता सुशोभित हो और आपके द्वारा जो पराजित है, उसमें विषता–अनुपयोगिता अर्थात् विषरूपता समुपपन्न हो ॥६॥

**अर्थ**—भावी राजाके मस्तक सम्बन्धी केशोंका समूह फेनिल–रीठासे धोया गया था । उससे वह ऐसा जान पड़ता था मानों उसने विचार किया हो कि यह राजा तो सहज स्वाभाविक तेजसे सहित है, पर इसके आश्रित रहने वाले मुझे अन्धकारतुल्य केशसमूहमें मलिनता–श्यामलता अथवा मलिनता क्यों है ? यह विचार कर ही मानों वह उत्तमभाव मलिनताको नष्ट करने वाले पदार्थसे अच्छी तरह उज्ज्वल किया गया था ॥७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



ललिता दलिताखिलैनसश्चलिता संकलिताप्यनेकशः ।
परितोषयितुं प्रजा अभाद् वदनेन्दोरमृतस्रुतिः शुभा ॥८॥

ललितेत्यादि—तदा दलितं नष्टमखिलं सम्पूर्णमेनो दुराचरणं यस्य तस्य वदनं मुखमेवेन्दुश्चन्द्रस्तस्मात्किलानेकशो वारं वारं संकलितापि ललिता दर्शने मनोहरा शुभा मङ्गलरूपाऽमृतस्य स्रुतिर्धारा सा प्रजाः परितोषयितुं सुखयितुमेव चलिता विनिर्गताभूदिति । अनुप्रासोऽलंकार उत्प्रेक्षा च ॥८॥

अपकर्षणसन्निकर्षपा हरिपीठे परिपीतसर्षपाः ।
पुलकाङ्कुलका इवोत्थिताः परिवर्धिष्णुतया बभुः सिताः ॥९॥

अपकर्षणेत्यादि—अपकर्षणस्य दुरीहतया कर्षणस्य योऽसौ सम्यङ्निकर्षः परिहारस्तं पान्ति स्वीकुर्वन्ति ते पीतसर्षपाः सिद्धार्था हरिपीठे मङ्गलसिंहासने निक्षिप्ता ये सिताः श्वेतवर्णास्ते परिवर्धिष्णुतया वर्द्धनशीलतया पुलकानां रोमाञ्चानामङ्कुल (र) का अंशा इवोत्थिता बभुर्विरेजुरित्युत्प्रेक्षालंकारोऽनुप्रासश्च ॥९॥

सममाश्रममादिशन् गुरुप्रकृताज्ञानृकृताशिषोरुरु ।
शिरसीष्टरसी पुरोहितस्तिलकं स्रागलिखत्तरामितः ॥१०॥

सममित्यादि—पुरोहितः पुरुषः पुरोधाः स तस्य भविष्यतो राज्ञः शिरसि गुरुणा पित्रा प्रकृता याऽऽज्ञा तथा नृभिरन्यलोकैः कृता दत्ताशीस्तयोर्द्वयोस्सममेव सहैवाश्रमं स्थानमादिशन्निव किलेष्टौ पूजायां रसोऽनुरागो यस्य स पुरोहितः स्राक् तदानीं शीघ्रमेवेतस्तस्य शिरसि स उरु विशालं तिलकं विशेषकमलिखत्तरां कृतवानित्युत्प्रेक्षालंकारोऽनुप्रासश्च ॥१०॥

---

अर्थ—फेनिल–रीठाका जो सफेद पानी शिरसे बह रहा था, वह ऐसा जान पड़ता था मानों समस्त एनस्–पाप या दुराचरणको नष्ट करनेवाले मुखरूपी चन्द्रमासे अमृतका शुभ एवं मनोहर झरना अनेक बार संकलित होनेपर भी प्रजाको संतुष्ट अथवा सुखी करनेके लिये बह चला हो ॥८॥

अर्थ—उस समय दृष्टि-दोष सम्बन्धी हानिके सम्पर्कसे रक्षा करनेवाले–बचानेवाले जो पीतसर्षप–पीले सरसों सिंहासनपर बिखेरे गये थे, वे वृद्धि स्वभावके कारण उठे हुए सफेद रोमाञ्चों अथवा माङ्गलिक–प्रवाङ्कुरोंके समान जान पड़ते थे ॥९॥

अर्थ—पूजामें अनुराग रखने वाले पुरोहितने होनहार राजाके मस्तकपर शीघ्र ही जो विशाल तिलक किया था, वह ऐसा जान पड़ता था मानों पिताकी आज्ञा और प्रजाजनोंके माङ्गलिक आशीर्वादोंका सम्मिलित स्थान हो ॥१०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



उपकुङ्कुममुप्तवान् बलादिह बीजानि सुतण्डुलच्छलात् ।
फलतूत्तलतुष्टिवल्लरीति तदा भालभुवीष्टिकृद्धरिः ॥११॥

उपकुङ्कुममित्यादि—इष्टिकृद्धरिः पुरोहितः स उत्तरा श्रेष्ठा या तुष्टिरेव वल्लरी सा फलतु सफला भवतु किलेतीह भालभुवि ललाटक्षेत्रे बलात्प्रयत्नपूर्वकं तदा काले सुतण्डुकानां छलाद् बीजानि कुङ्कुममुप युज्योपकुङ्कुममुप्तवान् समारोपयामासेत्यनुप्रासश्चापह्नुतिश्च ॥११॥

धरणीभरणीतिसत्क्रियां प्रततां साम्प्रतभिन्धिकां प्रियाम् ।
धृतवान् धृतवानमुद्धनी मृदुमौलिच्छलतोऽस्य मूर्धनि ॥१२॥

धरणीत्यादि—धृतं ललाटे निक्षिप्तं वानं सौरभं तिलकात्मकं यतो या मुत् प्रसन्नता तस्या धनी स्वामी जयकुमारः स साम्प्रतमधुनाऽस्य मूर्धनि अनन्तवीर्यस्य शिरसि मृदुमौलिच्छलतः समधुरमुकुटव्याजेन धरण्या भूमेर्यो भरो गुरुतरो भारस्तस्य नीतिः समुद्धरणं तस्याः सत्क्रिया यस्यां तां प्रततां विस्तृतां प्रियामुचितामिन्धिकां भाराधारप्रक्रियां धृतवान्, यतः स गुरुतरमपि भूभारं सुखेनोद्वहेदित्यपह्नुतिश्चानुप्रासश्चालंकारः ॥१२॥

हरिपीठगतः स राजतामनुकुर्वन् विशदांशुकस्तताम् ।
उदयाचलचुम्बिचन्द्रवत् कुमुदालम्बनलम्भनोऽभवत् ॥१३॥

हरिपीठगत इत्यादि—हरिपीठगतः सिंहासनस्थः सोऽनन्तवीर्यो विशदान्यंशुकानि वस्त्राणि यस्य सः, पक्षे विशदा निर्मला अंशवः किरणा यस्य सः, ततां विस्तृतां राजतां भूपालतां पक्षे चन्द्रतामनुकुर्वन् स्वीकुर्वाण उदयाचलचुम्बिचन्द्रवत् पूर्वपर्वतस्थेन्दुरिव

---

अर्थ—प्रधान पुरोहितने अनन्तवीर्यके ललाटरूपी खेतमें कुङ्कुमका तिलक लगानेके बाद प्रयत्नपूर्वक चांवल लगाये थे, मानों इस भावनासे कि यहाँ उत्कृष्ट संतोषरूपी लता फलीभूत हो ॥११॥

अर्थ—ललाटपर लगाये गये सुगन्धित तिलकसे प्रसन्नताका अनुभव करने वाले जयकुमारने अनन्तवीर्यके मस्तकपर मनोहर मुकुटके छलसे इस समय पृथिवीका भार धारण करनेकी नीतिको प्रकट करने वाली विस्तृत एवं समुचित भारारोपण रूप क्रियाको संपन्न किया था ॥१२॥

अर्थ—सिंहासनपर स्थित **विशदांशुक**-श्वेतवस्त्रधारी (पक्षमें धवल किरणोंसे युक्त) तथा विस्तृत **राजता**-भूपालता (पक्षमें चन्द्रता) को स्वीकृत करते हुए अनन्तवीर्य उदयाचलपर स्थित चन्द्रमाके समान **कुमुदालम्बनलम्भनः**-पृथिवी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कोः पृथिव्या अर्थात् प्रजाया या मुत्तस्या आलम्बनं पक्षे कुमुदानां रात्रिविकासिकसलानामालम्बनं तस्य लम्भनः समाधारोऽभवत् सम्बभूवेत्युपमालंकारः ॥१३॥

**सुतरामुत राज्यसम्पदः समितायाः स मुदश्रुसंविदः ।**
**जरतीकरतीर्थलम्भितान् भरति स्म द्रुतमक्षतान् हितान् ॥१४॥**

**सुतरामित्यादि**—उताथवा सुतरां स्वत एव समितायाः समागताया राज्यसम्पदो मुदो हर्षस्याश्रूणि नयनजलानि तेषां संविदो बुद्धयो यत्र तान् जरतीनां वृद्धानां करावेव तीर्थं तेन लम्भितान्अत एव हितान्मङ्गलकरानक्षतान् द्रुतमेव भरति स्माङ्गीचकारेत्युत्प्रेक्षा ॥१४॥

**सम्भान्मृदुकेशलक्षणं प्रति राहुं हसदाप्रदक्षिणम् ।**
**शशिबिम्बमिवातपत्रकं भवतः प्राभवतः किलानकम् ॥१५॥**

**समभादित्यादि**—मृदुकेशनिवेशं नाम राहुं प्रति आप्रदक्षिणं घूर्णमानतया हसत् तदातपत्रं छत्रं भवतस्तस्य प्रभोर्भावः प्राभवं प्रभुत्वं ततः किलानकं निरुपद्रवं शशिनो बिम्बमिव समभात् सम्बभौ किलेत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥१५॥

**सुरसिन्धुरसिञ्चदेव तं नृपतोनामवतोर्यं दैवतम् ।**
**प्रतिपन्नवतीवसम्मदाद्विलसच्चामलसम्पदः पदात् ॥१६॥**

---

तत्स्थ प्रजाके हर्षके आधार (पक्षमें रात्रिविकासी कमलोंके विकासके आधार) हुए थे ॥१३॥

**अर्थ**—जो स्वयं प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मीके हर्षाश्रुओंके समान जान पड़ते थे, ऐसे वृद्धा स्त्रियोंके हस्तरूपी तीर्थसे प्राप्त हितकारी अक्षतोंको राजा अनन्तवीर्यने अच्छी तरह स्वीकृत किया।

**भावार्थ**—वृद्धा स्त्रियोंने अपने हाथोंसे उनपर आशीर्वादात्मक अक्षतवर्षाये ॥१४॥

**अर्थ**—जो प्रत्येक प्रदक्षिणामें कोमलकेश नामक राहुकी मानों हँसी कर रहा था तथा उत्पन्न होने वाले प्रभुत्वसे जो निरुपद्रव था, ऐसा उनका छत्र चन्द्रबिम्बके समान जान पड़ता था।

**भावार्थ**—राजा अनन्तवीर्यके मस्तकपर जो श्वेत छत्र लगाया गया था, वह उस चन्द्रबिम्बके समान जान पड़ता था जो अपने प्रतिद्वन्द्वी राहुको मानों हँसी ही उड़ा रहा है। यहां काले केशोंमें राहुका आरोप किया गया है ॥१५॥



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुरसिन्धुरित्यादि—सुरसिन्धुराकाशगङ्गा सा तमनन्तवीर्यं नृपतीनां दैवतमधिनायकं प्रतिपन्नवतीव जानतीव सम्मदाद्धर्षवशाद्विलसतां चलतां चामला(रा)नां या सम्पच्छोभा तस्याः पदाच्छलादवतीर्यं समागत्य सैवाभिसिञ्चदित्यपह्नुतिः ॥१६॥

स्वजनोपहृताऽतिविस्तृताऽमलमुक्ताफलभाजनैस्तता ।
धवमाप्य नवं नु शम्फली सहसाभूत्सहसा तदा स्थली ॥१७॥

स्वजनोपहृतेत्यादि—स्थलीयमवनिः सैव शम्फली वा सम्भली वा विलासिनी तदा काले स्वजनैः प्रजाजनैरुपहृतानि उपहारमानीतान्यतिविस्तृतानि, अतस्ततो धृतानि अमलानां निर्दोषाणां मुक्ताफलानां मौक्तिकानां भाजनानि तैः सहसाऽकस्मादेव तता व्याप्ता सती नवं नवीनं धवं स्वामिनमाप्य लब्ध्वा सहसा हसेन हास्येन सहिताऽभूत् । नु वितर्के । उत्प्रेक्षालंकारः ॥१७॥

जयवारयवारसम्पदा परिषत् सा परिसंचरन्मदा ।
मृदुलोमदलोमयाञ्चिता नवराजः सवराजसान्मिता ॥१८॥

जयवारेत्यादि—तदा सा परिषत् सभा नवश्चासौ राट् चेति नवराट् तस्य नवीनभूपस्य सवराजो राज्याभिषेकस्ततसात्तस्य सम्बन्धान्मिताऽनुगृहीतातः परिसंचरति विस्तारमेति मदो हर्षो यस्यां सा सती जयवारा जयस्य संसूचका ये यवारा मङ्गलाङ्कुरास्तेषां सम्पदा शोभया मृदूनां लोम्नां दलस्य समूहस्योमा शोभा तयाञ्चिताऽभूत् । उत्प्रेक्षानुप्रासश्चालंकारः ॥१८॥

सुभगा शुभगान्धिकार्पितपिचुका संक्रमतो द्विषाञ्जितः ।
विरदस्फुरदङ्कुरास्पदाऽभवदेवं भवतः सभा तदा ॥१९॥

---

अर्थ—आकाशगङ्गाने अनन्तवीर्यको मानों राजाओंका अधिनायक स्वीकृत किया था, इसलिये निर्मल चामरोंकी शोभाके छलसे उसीसे हर्षपूर्वक उनका अभिषेक किया था ॥१६॥

अर्थ—उस समय प्रजाजनोंके द्वारा उपहारमें लाये हुए मुक्ताफलोंके निर्मल पात्रोंसे व्याप्त विस्तृत भूमि रूपी विलासिनी स्त्री नूतन पतिको प्राप्त कर अकस्मात् ही क्या हँसने लगी थी ॥१७॥

अर्थ—जिसमें सब ओर हर्ष छाया हुआ था, ऐसी नवीन राजाके अभिषेकसम्बन्धी वह सभा विजयसूचक मङ्गलाङ्कुरोंकी शोभासे ऐसी प्रतिभासित हो रही थी, मानों कोमल रोमाञ्चसमूहकी शोभासे ही सहित हो रही हो ॥१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सुभगेत्यादि—द्विषाञ्जितः शत्रुनाशकस्य भवतोऽनन्तवीर्यस्य सभा तदा संक्रमतोऽनुक्रमरूपेण शुभेन सरलचित्तेन गान्धिकेन गन्धदायकेनार्पिताः पिचुका गन्धप्रदतूलांशा यस्यां सा त्रिरदस्य यशसः स्फुरन्तो येऽङ्कुरास्तेषामास्पदं स्थानं यत्र सा किलैवं सुभगा भाग्यवत्यभवद् बभूवेत्युत्प्रेक्षानुप्रासश्चालङ्कारः ॥१९॥

अथ दृक्पथ एव संकथः खलु नः पल्लवितो मनोरथः ।
प्रभवे नृभवे च सम्मदादिति ताम्बूलदलानि कोऽप्यदात् ॥२०॥

अथेत्यादि—अथ कोऽपि जनोऽस्मिन् नृभवे मनुष्यजन्मनि नोऽस्माकं समीचीना कथा यस्य स संकथे मनोरथोऽन्तरङ्गाभिप्रायोऽस्मै प्रभवे नवीनाय भूपाय नोऽस्माकं दृक्पथ एव सम्मुखत एव पल्लवितो जात इत्येव सूचयन्नेव खलु ताम्बूलस्य दलानि अदात् दत्तवान् । अत्राप्युत्प्रेक्षानुप्रासश्चालंकारः ॥२०॥

अवतारयति स्म हृत्तु न शशिनो बिम्बवदुन्नयन् पुनः ।
अमुकाननशाननन्दनं शुचि नीराजनभाजनं जनः ॥२१॥

अवतारयतीत्यादि—जनः कोऽपि मनुष्यः पुनरिदानीं शशिनश्चन्द्रस्य बिम्बवच्छुचि निर्मलं यन्नोऽस्माकं हृच्चित्तं तु किलेति नीराजनभाजनमारार्तिकं यदमुकस्य राज्ञोऽनन्तवीर्यस्य यदाननं तस्य शानं रुचिदलं तस्य नन्दनं समृद्धिकरं तदिव वा नन्दनमानन्ददायकं तदुदयन्नवतारयति स्मेत्युपमानुप्रासश्च ॥२१॥

प्रमितं शमितन्मना नवमगदं सग्नगदर्शनोत्सवम् ।
वचनं स च नर्महेतवे समयच्छत्तुज आजवं जवे ॥२२॥

---

अर्थ—उस समय शत्रुविजयी माननीय राजा अनन्तवीर्यकी वह भाग्यशालिनी सभा जिसमें कि शुभ गन्धदायक लोगोंके द्वारा अनुक्रमसे इत्रकी फुइयां वितरणकी जा रही थीं, ऐसी जान पड़ती थी मानों यशके शोभायमान अङ्कुरोंका स्थान ही बन गई हो ॥१९॥

अर्थ—तदनन्तर किसो मनुष्यने इस मनुष्य भवमें नवीन राजाके लिये समीचीन कथासे युक्त जो हमारा मनोरथ था, वह सम्मुख ही पल्लवित—विकसित हो गया, यह सूचित करते हुए मानो हर्षसे सबको पान दिये ॥२०॥

अर्थ—हमारा हृदय चन्द्रबिम्बके समान उज्ज्वल है, यह प्रकट करते हुए किसी मनुष्यने राजा अनन्तवीर्यके मुखकी कान्तिको बढ़ाने वाला उज्ज्वल आरतीका पात्र उठाकर आरती उतारी ॥२१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


प्रमितमित्यादि—शमिषु शमधारकेषु यतिषु तन्मनाः संयमधारणेच्छावानर्थाज्जयकुमारः स तुजे पुत्राय तस्मायनन्तवीर्यायाजवंजवेऽस्मिन् संसारे नर्महेतवे कल्याणकारणायागदं चौषधमिव नव प्रशंसायोग्यं नूतनं समीचीनस्य नगस्य रत्नस्य दर्शनेनोत्सव इवोत्सवो येन तत्प्रमितमनधिकं वचनं समयच्छद्ददौ। अनुप्रासोऽलंकारः ॥२२॥

**अपि केन न वीक्ष्यते रविः शशिनीत्थं वशिनिन्दितो भवी।**
**जनतावनतानसन्दिशो वयमेतद्द्वयमेचकाः शिशो! ॥२३॥**

अपि केनेत्यादि—हे शिशो! वत्स! शृणु रविर्यं एकान्तप्रचण्डः स केनापि न वीक्ष्यते तस्य दिशि कोऽपि द्रष्टुं नाभिवाञ्छति तथा शशिनि सदा शान्तावस्थे सति भवी शरीरधारी जनः स वशिभिः संयमधारिभिर्निन्दितो घृणिताचरणो भवति। वयं तु जनताया अवनस्य संरक्षणस्यानन्दस्य च योऽसौ तानो विस्तारस्तस्य सन्दिशः सन्देशदायका भवामस्तस्मादेतयोः सूर्याचन्द्रमसोर्द्वयेन सम्मिश्रणेन मेचकाः कदाचिदुग्रप्रकृतिषु सूर्यवत्प्रचण्डरूपाः पुनर्विनीतेषु जनेषु चाह्लादनाकारा भवामः। अनुप्रासोऽलंकारः ॥२३॥

**जनतां च नतां समाश्वसेः स्वमनस्यम! नैव विश्वसेः।**
**नटवत् तटवर्तिदृक्तया रहितो हर्षविमर्षसृक्तया ॥२४॥**

जनतामित्यादि—हे अम! निष्पाप! शृणु, क्वचिदपि हर्षः प्रसन्नभावो विमर्षश्च

---

अर्थ—जिनका मन मुनियोंमें लग रहा था, ऐसे जयकुमारने पुत्र अनन्तवीर्यके लिये संसारमें कल्याण प्राप्तिके उद्देश्यसे समीचीन रत्नके दर्शनके समान आनन्द देनेवाले नवीन औषधके समान हितकारी सीमित वचन प्रदान किये—संक्षिप्त उपदेश दिया ॥२२॥

अर्थ—हे वत्स! सूर्य किसीके द्वारा नहीं देखा जाता, अर्थात् तेजस्विताके कारण उसकी ओर कोई नहीं देखता तथा सदा शान्तावस्थामें रहने वाले चन्द्रमाके विषयमें मनुष्य घृणित आचरण वाला हो जाता है, अतः जनताकी रक्षाका सन्देश देनेवाले हमलोग चन्द्रमा और सूर्यके सम्मिश्रण भावको प्राप्त हैं।

भावार्थ—जो राजा सूर्यके समान एकान्तसे तेजस्वी रहता है, प्रजा उससे भयभीत रहनेके कारण लाभ नहीं उठा पाती और जो राजा चन्द्रमाके समान सदा शान्त रहता है, उसकी ओर से प्रजा निर्भय हो स्वच्छन्द हो जाती है। यतश्च हमलोग प्रजाकी रक्षाका सन्देश देनेवाले हैं, अतः न तो सर्वथा उग्र नीतिको अपनाते हैं और न अत्यन्त शान्त नीतिको स्वीकृत करते हैं ॥२३॥

अर्थ—हे निष्पाप! हर्ष और विषादकी रचने वाली दृष्टिसे रहित हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तद्विपरीतस्तौ सृजतीति सृक् तत्तया रहितः सन् नटवन्नृत्यकारकमर्त्यवत्तटवर्तिदृक्तया मध्यस्थवृत्त्या निवसन् नतां सदाचारधारिणीं विनीतां जनतां समाश्वसेः आश्वासनेन सम्भावयेः, किन्तु विश्वसेस्तु स्वमनस्यपि नैवापरस्य तु पुनः का वार्ता ? न जाने कदा कीदृशी दशा स्यादिति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥२४॥

**स्वयमन्तरितांस्तु शल्यवज्जय युक्त्यैव मदादिकान् ध्रुवम् ।**
**अरिमग्निमिवोपतापकं जलवत् तूद्दलनाश्रयः स्वकम् ॥२५॥**

**स्वयमित्यादि**--हे अय ! त्वमन्तरितानन्तरङ्गतः संगतान् मदादिकानरीन् स्वयं शल्यवत् कण्टकवद्युक्त्यैव ध्रुवमवश्यमेव जय निवारय, किन्त्वग्निमिवोपतापकं बहिरुपद्रवकरतया प्रजासु विप्लवभूततया वा सन्तापकरमरिं स्वकं तु पुनर्जलवदुद्दलनाश्रय उद्रिक्त बलयुक्तः सम्भवन् संस्तथा जय निराकुरूपेक्षां मा कुरु । उपमालंकारः । कामक्रोधमदमात्सर्यालस्यादयोऽन्तरिताः शत्रवः ॥२५॥

**प्रकृतीरनुरन् जयजयन् द्विषतो भद्र ! सतो मुदं नयन् ।**
**प्ररुजोऽङ्गज ! राजयक्ष्मणः पृथिवीं रक्ष विपक्षलक्ष्मणः ॥२६॥**

**प्रकृतीरित्यादि**—हे भद्र ! त्वं प्रकृतीरमात्यादीन् राजवर्गीयान् जनाननुरञ्जयन्

---

तटस्थ वृत्तिसे विनीत जनताको आश्वसित करना चाहिये—सदा उत्साहित करना चाहिये, परन्तु विश्वास करते समय अपने हृदयका भी विश्वास नहीं करना चाहिये, फिर अन्य मनुष्यकी तो बात ही क्या है। विश्वासके विषयमें नटके समान चेष्टा होना चाहिये ।

**भावार्थ**—जिस प्रकार नृत्य करनेवाला सबकी ओर देखता है, जिससे दर्शक समझता है कि यह हमारी ओर देख रहा है, पर वास्तवमें वह किसी एककी ओर नहीं देखता। इसी प्रकार राजाको ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि जिससे लोग समझें यह मुझसे प्रसन्न हैं, परन्तु वास्तवमें उसकी प्रसन्नता किसा एककी ओर नहीं रहती ॥२४॥

**अर्थ**--शल्यकी तरह अन्तर्गत मदादि शत्रुओंको तुम निश्चित ही युक्ति द्वारा स्वयं जीतो—उनपर विजय प्राप्त करो और अग्निके समान बाह्यमें संताप करनेवाले शत्रुको तुम प्रचण्ड शक्तिसे युक्त होते हुए जलको तरह स्वयं नष्ट करो ॥

**भावार्थ**—जिस प्रकार जल अग्निको समूल नष्ट कर देता है, उसी प्रकार तुम विप्लवकारी शत्रुको बलपूर्वक स्वयं नष्ट कर दो, उपेक्षा न करो ॥२५॥

**अर्थ**—हे भद्र पुत्र ! मन्त्री आदि राजकीय वर्गको प्रसन्न करते हुए,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


यथाशक्ति समनुकूलान् कुर्वन्, किन्तु द्विषतो वैरिणो विरुद्धं व्रजतो वा जयन् निवारयं-स्तथा सतो नीतिमार्गानुगामिनो जनान् मुदं नयन् प्रसन्नान्कुर्वन्नेवंरीत्या हे अङ्गज ! विपक्षः सशत्रुसमुत्पाद एव लक्षणं यस्य ततो राजयक्ष्मणो नाम प्रसिद्धात्तस्मान्नाश-कारकात्प्ररुजो रोगात् पृथिवीं रक्ष सम्भालयेत्यनुप्रासोऽलंकारः ॥२६॥

श्रुतमाश्रुतमात्रकं सकः प्रवहन्नञ्जलिनाऽलिनाशकः ।
निजमूर्ध्नि जवेन तीर्थतः स्वमतः पूततमं त्वमन्यत ॥२७॥

श्रुतमित्यादि—सकोऽनन्तवीर्यो योऽलि(रि) नाशकः शत्रुसंहारकारकः स श्रुत-मिदं गुरुसूक्तमाश्रुतमात्रकमेव तत्कालमेव मुखान्निर्गतसमय एव जवेन वेगेनाञ्जलिना करसंपुटेन निजमूर्ध्नि स्वकीये मस्तके प्रवहन् सन्नतस्तीर्थतस्तु पुनः स्वमात्मानं पूत-तममत्यन्तपवित्रममन्यतेत्यनुप्रासोऽलंकारः ॥२७॥

परिपीय हितोपदेशितं सहसा स्वस्थतया स्थितेऽन्वितम् ।
इह वन्दिजनस्य चाऽभवज्जय नन्देति वचोऽपि पथ्यवत् ॥२८॥

परिपीयेत्यादि – अन्वितमनुकूलतया समागतमिदमुपर्युक्तं हितेन गुरुणोपदेशितं सहसौषधवत् परिपीय यथेष्टं पीत्वा सहसा स्वस्थतया निराकुलभावेन स्थिते सति तस्मिन्ननन्तवीर्ये नवीनभूपे तदेह वन्दिजनस्य मागधवर्गस्य जय नन्देत्येवमादिवचोऽपि पथ्यवदभवत् । उपमालंकारः ॥२८॥

---

शत्रुओंको जातते हुए और नीतिमार्गानुगामी सज्जनोंको हर्ष प्राप्त कराते हुए तुम शत्रु नामक राजयक्ष्मा–टी० बी रोगसे प्रजाकी रक्षा करो ॥२६॥

**अर्थ**—शत्रुओंका नाश करने वाले राजा अनन्तवीर्यने पिता–जयकुमारके द्वारा उपदिष्ट श्रुतको सुननेके साथ ही शीघ्र अञ्जलि द्वारा अपने मस्तक पर धारण किया और तीर्थस्वरूप उस श्रुत–उपदेशसे अपने आपको अत्यन्त पवित्र माना ।

**भावार्थ**—पिताके उपदेशको अनन्तवीर्यने हाथ जोड़ मस्तकसे लगाकर स्वीकृत किया और अपने आपको कृतकृत्य माना ॥२७॥

**अर्थ**—इसप्रकार हितकारी जयकुमारके द्वारा उपदिष्ट अनुकूल उपदेशको औषधके समान शीघ्र पीकर जब राजा अनन्तवीर्य स्वस्थताका अनुभव करने लगे, तब यहाँ वन्दिजनोंके 'ज़य, नन्द, वर्धस्व' आदि वचन पथ्यके समान प्रकट हुए ॥२८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


भयविस्मयसंरसाद् रसाऽऽपतिता प्रेतपतेरिवाऽत्र सा।
कथिताऽसिलता तपोभृताऽभ्युपगम्यास्य करेऽर्पिता सता ॥२९॥

भयेत्यादि—अत्र सता तपोभृता तपोऽङ्गीकर्तुमिच्छता जयकुमारेणाभ्युपगम्य समादायास्यानन्तवीर्यस्य करेऽर्पिता दत्ता सा भयं च विस्मयश्च तयोः संरसादधिकारादापतिता प्रेतपतेर्यमराजस्य रसा जिह्वेव कथिताऽसिलता खड्गवृत्तिरित्युत्प्रेक्षालंकारः ॥२९॥

प्रतियच्छत भो यथोचितामिह सन्मातृपदे नियोजिताः।
सचिवाः शुचिवाचमास्पदे रुचिमानेष यतोऽस्तु नापदे ॥३०॥

प्रतियच्छतेत्यादि—भो सचिवा इह यूयं सन्मातृपदे पालनपोषणकरी मातेत्यर्थरूपे समीचीने नियोजितास्ततो यथोचितामवसरयोग्यां शुचिवाचमस्मै प्रतियच्छत संवदत यत एव आस्पदे स्थान एव रुचिमानस्तु तथा चापदेऽनुचिते स्थाने कदापि रुचिमान्नास्तु भवतु। अनुप्रासोऽलंकारः ॥३०॥

प्रभवेन्नृभवेऽयमुत्थितः स्ववृषे शुद्धिदृशेऽथवा चितः।
न यतोऽस्तु किलाघचर्वणं प्रचराथर्वण तद्धि कार्मणम् ॥३१॥

प्रभवेदित्यादि—हे अथर्वण ! पुरोहित ! त्वमपि तद्धि कार्मणं क्रियानुष्ठानं प्रचर यतोऽयमघस्य पापस्य चर्वणं मास्तु नृभवेऽस्मिन्नसुलभे मनुष्यजन्मनि स्ववृषे स्वोचिते धर्मे कर्तव्ये किलोत्थितः कटिबद्धस्सन् चितो बुद्धेः शुद्धिदृशे शुद्धेर्निर्दोषताया दृशे गवेषणायै प्रभवेत् समर्थो भूयादिति। अनुप्रासोऽलंकारः ॥३१॥

---

अर्थ—तपको धारण करने वाले सज्जन जयकुमारके द्वारा स्वयं लेकर राजा अनन्तवीर्यके हाथमें सौंपी गई तलवार ऐसी जान पड़ती थी, मानों भय और विस्मयके अधिकारसे यमराजकी जिह्वा ही यहाँ आ पड़ी हो ॥२९॥

अर्थ—जयकुमारने मन्त्रियोंको संबोधित करते हुए कहा कि हे मन्त्रियों ! आप समीचीन मातृपद—माताके स्थानपर नियुक्त किये गये हैं, अतः उज्ज्वल वचन इसके लिये देवें जिससे यह योग्य स्थानमें रुचिमान् हो, अपद—अनुचित स्थानमें रुचिमान् न हो ॥३०॥

अर्थ—निवर्तमान राजा जयकुमारने संबोधित करते हुए कहा कि पुरोहित जी ! पापको नष्ट करनेवाला वह अनुष्ठान आप करें, जिससे यह दुर्लभ मनुष्य भवमें अदा आत्मधर्ममें कटिबद्ध रहे अथवा आत्मशुद्धिकी खोजके लिये समर्थ रहे ॥३१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**सुभटाः शुभतारतम्यतः प्रकृतं पश्यत साम्प्रतं यतः ।**
**प्रभवत्सु भवत्सु सम्भवेत् सुदृढं स्तम्भगसौधवद् भवे ॥३२॥**

सुभटा इत्यादि—भो सुभटाः ! यूयं साम्प्रतं शुभस्य तारतम्यतः प्रकृतं राज्यं पश्यत यतो भवत्सु प्रभवत्सु समर्थेषु भवेऽस्मिन् संसारे स्तम्भगसौधवत् प्रकृतं राज्यं सुदृढं सम्भवेत् । अनुप्रासोऽलंकारः ॥३२॥

**इति वः प्रतिवर्मयुक्तये परिगन्तास्म्यहमत्र मुक्तये ।**
**विनतोऽस्मि पुरापयुक्तये ह्यनुमन्यध्वमबन्धयुक्तये ॥३३॥**

इति व इत्यादि—इत्येवंरूपतो वो युष्माकं वर्म वर्म प्रतिवर्म स्वस्वकर्तव्यानुकूलं युक्तये स्वयं चात्र मुक्तयेऽहं परिगन्तास्मि विनिवेदयिता भवामि । तत एव पुनः पुरा पूर्वकाले या काचिदपयुक्तिर्जाता मत्तोऽनुचिता वार्ताऽभूत् तस्यै विनतोऽस्मि क्षमाप्रार्थी भवामि यूयमतोऽत्राबन्धस्य युक्तये बन्धविच्छित्तयेऽनुमन्यध्वमनुमतिप्रदानं कुरुध्वं हीति निश्चयेन ॥३३॥

**इति तन्मितितत्त्ववद्वचः परिपीयाऽरिपिपत्रवन्न च ।**
**किमु तत्र सभाजने पुनः स्थितिरन्यैव बभूव वस्तुनः ॥३४॥**

इतीत्यादि—इति पूर्वोक्तरूपेण तस्य जयकुमारस्य मितितत्त्ववद् गार्हस्थ्यजीवनसमाप्तिरूपं वचोऽरिपिपत्रवत् निरक्षरसमाचारवत् परिपीयानुभूय तत्र सभाजने पुनर्वस्तुनः स्थितिश्चान्यैवाऽवाक्परिणमनरूपा किमु न बभूवापि त्वभूदिति काकूक्तिरर्थात् किंचित्कालं सर्वेऽपि तूष्णीं जाताः । अनुप्रासश्चालंकारः ॥३४॥

---

अर्थ—सैनिकोंको संबोधित करते हुए कहा कि हे सुभटों ! अब आप लोग इस राज्यको अपने शुभ भावोंके तारतम्यसे इस प्रकार देखें कि जिससे आप लोगोंके समर्थ रहते हुए यह राज्य उत्तम स्तम्भों पर स्थित प्रासाद–महलके समान सुदृढ़ रह सके ॥३२॥

अर्थ—निवर्तमान राजा जयकुमारने कहा कि आप लोग अपने अपने कर्तव्य पालनकी योजनाके लिये तत्पर रहें। मैं यहाँ मुक्ति प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील हूँ। पूर्वावस्था–राज्य संचालनके समय यदि मुझसे कुछ अनुचित बात हुई तो मैं उसके लिये विनम्र हूँ, क्षमा प्रार्थी हूँ। आप मुझे अबन्धयुक्ति–बन्धरहित अवस्था प्राप्त करनेके लिये अनुमति प्रदान करें ॥३३॥

अर्थ—इस प्रकार जयकुमारके गार्हस्थ्यनिर्वृत्तिपरक वचनको मूक समाचारके समान पीकर–सुनकर सभाजनोंमें क्या वस्तुकी स्थिति अन्य रूप नहीं हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



क्व समिष्टविशिष्टपारणा क्व च तन्निष्ठघनिष्ठधारणा ।
द्वितयेऽपि चयेऽर्पिता श्रिया खलु दोलायितमङ्गिनां धिया ॥३५॥

क्वेत्यादि—क्व तु समिति पूर्णरूपेणेष्टोऽनन्तवीर्यनामराजा तेन विशिष्टा पारणा किलोपवासानन्तरं भुक्तिरिव सन्तृप्तिरूपा, क्व च पुनस्तन्निष्ठा जयकुमारहृदयस्था घनिष्ठा कष्टसाध्या किन्त्वनिवार्यरूपा धारणा बुद्धिरुपवासात् पूर्वं तन्निर्धारणरूपा स्थितिर्वा तयोर्द्वितयेऽपि चये समुपस्थितेऽर्पिता प्ररूपिता श्रीः शोभा यया, तयाऽङ्गिनां धिया बुद्ध्या खलु दोलायितम् ॥३५॥

जगतस्तु सबाधकार्यतां नितरां स्वैरितरां तथार्यताम् ।
अवधार्य च कार्यकोविदाः समिताः किन्तु रहस्यसंभिदा ॥३६॥

जगत इत्यादि—किन्तु ये कार्ये कर्तव्ये कोविदा विद्वांसस्ते जगतोऽस्य संसारस्य बाधासहितमेव भवति कार्यं यस्य तत्तां सबाधकार्यतां तथार्यतां महापुरुषतां पुनर्नितरा-मत्यन्तमेव स्वैरितरां स्वस्यैवाधीनां कैरप्यन्यैरन्यथा कर्तुमशक्यामित्यवधार्य विनिश्चित्य रहस्यस्य गोप्यस्यान्तस्तत्त्वस्य संभिदा भेदनेन यद्वा संविदा समीचीनज्ञानेन समिता-स्तटस्थतां गताः । अनुप्रासोऽलंकारः ॥३६॥

पदयोः सदयोपयोगिनः परिपेतुर्निखिला नियोगिनः ।
वचसा न च साक्षिणोऽप्यमी जयतादेव भवादृशो यमी ॥३७॥

---

गई थी ? अवश्य हो गई थी । तात्पर्य यह है कि उनके गृहत्याग रूप वचनको सुनकर सभामें सन्नाटा छा गया—सब लोग चुप हो गये ॥३४॥

अर्थ—कहाँ अत्यन्त इष्ट अनन्तवीर्यकी पारणा—उपवासके पश्चात् होने वाली भुक्तिसम्बन्धी तृप्ति और कहाँ जयकुमारके हृदयमें स्थित उपवासकी धारणा, इन दोनोंके बीचमें स्थित लोगोंकी बुद्धि दोलाके समान आचरण कर रही थी ।

भावार्थ—एक ओर अनन्तवीर्यके राज्यप्राप्तिका हर्ष और दूसरी ओर जयकुमारके वियोगका दुःख, दोनोंके बीच मनुष्योंकी बुद्धि चञ्चल हो रही थी । हर्ष मनाया जावे या विषाद, इसका निर्णय लोग नहीं कर पा रहे थे ॥३५॥

अर्थ—किन्तु कार्य करनेमें निष्णात मनुष्य 'जगत्‌के सब कार्य बाधासे सहित हैं, तथा महापुरुषोंकी पूज्यता अत्यन्त स्वाधीन है—किसीके द्वारा अन्यथा नहीं की जा सकती, ऐसा निश्चय कर आत्मतत्त्वके प्रकट अथवा ज्ञात होनेसे तटस्थताको प्राप्त हो गये ॥३६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


पदयोरित्यादि—निखिला अपि नियोगिनोऽमात्यादयस्ते वचसा न च साक्षिणोऽपि न किमप्युक्तवन्तोऽपि भवादृशो यमी संयमधरो जयतादेव सफलतां यातु किलेति सूचयन्तोऽमी सदयो दयया सहित उपयोगो मनोविचारस्तद्वतः पदयोश्चरणोः परिपेतुः निपतन्ति स्मेत्यनुप्रासोऽलंकारः ॥३७॥

**तनयाभिषवोत्सवक्रिया नृपतेर्निर्गमसम्भवद्ध्रिया ।**
**गरलोत्तरलड्डुभुक्तिवदभवत् सभ्यजनाय पक्तिभृत् ॥३८॥**

तनयेत्यादि—नृपतेर्जयकुमारस्य निर्गमो गृहात्यागस्ततः सम्भवन्ती या ह्रीस्त्रपाऽनिच्छारूपा तया सहिता या तनयस्यानन्तवीर्यस्याभिषेवोत्सवक्रिया राज्याभिषेकवृत्तिः सा सभ्यजनाय सभास्थितवर्गाय पक्तिभृत् परिणामवती गरलं विषमुत्तरं यस्याः साऽसौ लड्डुभुक्तिर्मोदकभक्षणक्रिया तद्वदभवत् सहर्षविषादवती बभूव । उपमालंकारः ॥३८॥

**अदयं हृदयं च योगिनां परिगीयेत गुणानुयोगिनाम् ।**
**परिदेविनि दूयते न वा निजबन्धौ ममता महोजयत् ॥३९॥**

अदयमित्यादि—अहो गुणेषु क्षमाधैर्यादिषु अनुयोगस्तल्लीनता तद्वतां योगिनां महात्मनां चापि हृदयं मनोऽदयं दयारहितमेव परिगीयेत किलोच्येत यत् किलममतां मोहपरिणतिं जयद् विनाशयत् सत् परिदेवनमेव परिदेवस्तद्वति परिदेविनि विलापवति निजबन्धौ कुटुम्बिनि न दूयते द्रवीभवति । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । अनुप्रासोऽलंकारः ॥३९॥

---

अर्थ—मन्त्री आदि समस्त नियोगी पुरुष वचनसे कुछ नहीं कहते हुए भी यह सूचित कर रहे थे कि आप जैसे संयमी पुरुष जयवन्त होते ही हैं-कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करते ही हैं। चुपचाप यह सूचित करते हुए वे दयालु हृदय वाले जयकुमारके चरणोंमें पड़ गये ॥३७॥

अर्थ—राजा जयकुमारके गृहत्यागसे होने वाली लज्जाके कारण पुत्र-अनन्तवीर्यके राज्याभिषेक सम्बन्धी उत्सवकी क्रिया सभ्य जनोंके लिये उस मोदकभुक्ति-लड्डू-भुक्तिके समान हुई, जिसमें खानेके बाद विषरूप परिपाक होता है। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य राज्याभिषेककी सभामें उपस्थित थे, उन्होंने पहले हर्षका अनुभव किया पश्चात् विषाद का ॥३८॥

अर्थ—आश्चर्य है कि क्षमा, धैर्य आदि गुणोंमें तल्लीनता रखने वाले योगियों-साधुओं अथवा महात्माओंका हृदय निर्दय कहा जा सकता है, क्योंकि ममताको जीतने वाला उनका हृदय निज कुटुम्बीजनोंके विलाप करने पर भी द्रवीभूत नहीं होता ॥३९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जनलोचनशुक्तिसन्ततौ विदिते स्वातिहिते महीपतौ ।
श्रुतयाऽश्रुतया किलाभवविह मुक्ताफलतास्रवो नवः ॥४०॥

जनलोचनेत्यादि—महीपतौ जयकुमारे स्वस्यैवातिहितमन्यानुपेक्ष्यात्मसाधनं यस्य तस्मिंस्तादृशि विदिते सति स्वातिनामनक्षत्रवर्द्धिते सति जनानां लोचनान्येव शुक्तयो मुक्तामातरस्तासां सन्ततौ परम्परायामिह श्रुता विख्याताऽथवा स्रुता समुद्भूता याश्रूणां नयनजलानां समूहोऽश्रुता तया नवो नवीनो मुक्ताफलताया मौक्तिकौघस्य यद्वा जन्मसफलताया आश्रवः प्रतिज्ञालेशोऽभवत् । अनुप्रासो रूपकश्चालंकारः ॥४०॥

गजवत् सजवं विबन्धनः स्फुरिताशो दुरितानिबन्धनः ।
अपरायपरायणस्तथा वनमानन्दनमभ्यगात् पथा ॥४१॥

गजवदित्यादि—स उपर्युक्तो महीपतिरपरो योऽसावायः स्वाधीनवृत्तिभावस्तस्मिन् परायणो निरतस्तथा दुरितस्य दुश्चेष्टितस्य निबन्धनं हेतुत्वं नास्ति यस्य स दुरितानिबन्धनस्तथा स्फुरिता विकासमिताऽऽशा स्वाभिलाषा यस्य सः, विबन्धनः बन्धनेन गार्हस्थ्यरूपेण निगडरूपेण च रहितो गजवत् करी भवति यथा तथाऽसौ पथा मार्गेण सजवमविलम्बं यथा स्यात्तथाऽऽनन्दनं प्रसन्नतादायकं वनमभ्यगाज्जगामेत्युपमा चानुप्रासश्चालंकारः ॥४१॥

---

**अर्थ**—राजा जयकुमार जब स्वातिहित–आत्मसाधना रूप हित (पक्षमें स्वाति नक्षत्र) रूपसे प्रसिद्ध हुए तब जनसमूहके लोचनरूपी सीपोंके समूहसे जो अश्रुसमूह निकल रहा था, उससे मोतियोंका नवीन निःसरण हो रहा था ।

**भावार्थ**—राजा जयकुमारके गृहत्यागके लिये उद्यत होने पर लोगोंके नेत्रोंसे जो आँसू टपक रहे थे, वे ऐसे जान पड़ते थे मानों सीपोंसे मोती ही निकल रहे हों, क्योंकि स्वाति नक्षत्रमें पानीकी जो बूंद सीपमें पड़ती है वह मोती रूपमें परिणत हो जाती है । राजा जयकुमार स्वयं स्वातिहित–अपना ही अत्यधिक हित चाहने वाले (पक्षमें स्वाति नक्षत्ररूप) थे, मनुष्योंके नेत्र सीप थे और उनसे निकलने वाली आँसुओंकी बूंदें मोती थे ॥४०॥

**अर्थ**—स्फुरिताशः–जिनकी दीक्षाधारण रूप अभिलाषा पूर्ण रूपसे विकसित हो चुकी है, जिनकी प्रवृत्ति पापचेष्टाओंका कारण नहीं हैं, जो स्वाधीन वृत्तिकी प्राप्तिमें तत्पर हैं और जिनका गृहस्थी सम्बन्धी बन्धन टूट चुका है ऐसे जयकुमार बन्धनरहित हाथीके समान शीघ्र ही योग्य मार्गसे आनन्ददायक वनकी ओर चल पड़े ॥४१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कुरुराट्पुरुराडुपाश्रयं परमार्थी परमाप्तवानयम् ।
निधिवद् विधिबन्धुरोदयी समभूत्तेन तदा मुदन्वयी ॥४२॥

कुरुराडित्यादि—परमोऽर्थोऽपवर्गलक्षणो यस्य स परमार्थी कुरुराडयं प्रकरणगतो जयकुमारः परमुत्कृष्टं पुरुराजो नाभेयस्योपाश्रयं समवसरणनामानं निधिवन्निधानमिव वाञ्छितकारकमाप्तवान् यतो विधेर्दैवस्य बन्धुरो रमणीय उदयो यस्य स विधिबन्धुरोदयी ततः स तेन तदा समवसरणलोकनेन मुदन्वयी प्रसन्नः समभूत् । उपमानुप्रासश्चालंकारः ॥४२॥

सहजा सह जातिवैरिभिर्हृदि मैत्री यदिमैर्धृताङ्गिभिः ।
यदिवाऽयदिवाकरो जिनः क्व तदा शात्रवसाद्रवोऽपि नः ॥४३॥

सहजेत्यादि—यत्राहंदाश्रमेऽङ्गिभिरिमैर्विडालमूषकादिभिर्जातिवैरिभिरपि सह यद्यस्मात् कारणादर्हतः प्रभावाद् हृदि सहजा निसर्गजा मैत्री स्नेहवृत्तिर्धृताङ्गीकृताऽऽसीत् । यदि वा यत्रायः शुभावहो विधिः स एव दिवा दिवसस्तत्करोति यः सोऽयदिवाकरो जिनो भगवान् वर्तते तदा पुनस्तत्र शात्रवसाच्छत्रुतासम्बन्धी रवः शब्दोऽपि नोऽस्माकं मध्ये क्व सम्भवेन्नैव सम्भवेदिति काकूक्तिः ॥४२॥

अमरैरमरैकवेदिभिः क्रियते कर्मसुमर्मभित् ।
मुहुरेव जयेति शार्मणं परमुच्चाटनमेव कार्मणम् ॥४४॥

अमरैरित्यादि—यत्रामरस्येति रलयोरभेदादमलस्यैवैकस्यार्हतो भगवत एव वेदिभिः पण्डितैरनुज्ञानधरैरमरैर्देवैः कर्मणोऽदृष्टस्य सुमर्मवेदि मर्मस्थलं भिनत्तीति तत् तथा शर्मसम्बन्धी णो ज्ञानं येन तच्छार्मणं शर्मदायकं मुहुरेव वारं वारं जय जयेति

---

अर्थ—मोक्षरूप परमार्थकी इच्छा रखने वाले कुरुराज-जयकुमार निधिके समान मनोरथको पूर्ण करने वाले भगवान् वृषभदेवके समवसरणको प्राप्त हुए। कर्मोदयकी अनुकूलतासे युक्त जयकुमार समवसरणके अवलोकन मात्रसे प्रसन्न हो गये ॥४२॥

अर्थ—अरहन्त देवके जिस समवसरणमें जन्मविरोधी इन जीवोंने परस्पर नैसर्गिक प्रीति हृदयमें धारण की है, अथवा भाग्यदिवाकर अर्हन्तदेव जहाँ विराजमान हैं, वहाँ हमलोगोंके बीच शत्रुता सम्बन्धी शब्दका होना भी क्या सम्भव है ? अर्थात् नहीं ॥४३॥

अर्थ—जिस समवसरणमें **अमरैकवेदी**-अर्हंत् स्वरूपके ज्ञाता देवोंके द्वारा बार बार वह जयजयकार किया जाता है, जो **कर्म**-अदृष्टके मर्मका भेदन करने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



शब्दोच्चारणरूपं परं सर्वोत्कृष्टमुच्चाटनं कार्मणमेव क्रियते। 'वेदिरङ्गुलिमुद्रायां बुधैः संस्कृतभूतले', 'णकारो निर्णये ज्ञाने' इति च विश्वलोचने ॥४४॥

जिनतोऽभिमतः पराजयः स्वयमस्मान्नयमञ्जुलो लयः ।
कुसुमानि सुमायुधस्य तत्करतश्चाम्बरतः पतन्त्यतः ॥४५॥

जिनत इत्यादि—जिनतो जिनेन श्रीमता सुमायुधस्य कामदेवस्य पराजयः स्वयमेव जात इत्यभिमतः सर्वसम्मतोऽस्ति । अस्मात्कारणात्पुनस्तस्य लयः प्रच्छन्नीभावोऽपि नयमञ्जुलो नीतिसुन्दरः समुचित एवास्ति । अतः पुनर्लयार्थं प्रव्रजतः कुसुमायुधस्य कुसुमानि तस्य करतो हस्तात्पतन्ति यत्राम्बरतः पतन्ति यानीत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥४५॥

परिधौतमिवाम्बरं शुचि हरितां तीर्थसवोद्भवा रुचिः ।
धरणीतलमब्दनिर्मलं जगतां सम्मदसृष्टये बलम् ।४६॥

परिधौतमिवेत्यादि—यत्राम्बरमाकाशं तद् धौतं वस्त्रमिव शुचि भवति । हरितां दिशानां रुचिराभा तीर्थसवादृतुस्नानादुद्भवो यस्याः सेव भवति। धरणीतलं चाब्दवद्दर्पणतुल्यं निर्मलं भवति । जगतां प्राणिनामपि सर्वेषां सम्मदस्य हर्षस्य सृष्टये समुद्भूतये बलं भवतीत्यत्रोपमालंकारः । 'हरितः ककुभि स्त्रियाम्' इति विश्वलोचने ॥४६॥

---

वाला है, शार्मण–सुखदायक है और कर्मरूप शत्रुओंका उच्चाटन करने वाला है ॥४४॥

**अर्थ**—समवसरणमें आकाशसे पुष्पवृष्टि हो रही थी, जिससे ऐसा जान पड़ता था कि कामदेव जिनराजसे पराजित होकर अदृश्य हो गया–छिप गया । अब मानों उसके हाथसे उसके शस्त्ररूप पुष्पोंकी वर्षा हो रही है ।

**भावार्थ**—समवसरणमें पुष्पवर्षा हो रही थी पर बरसाने वाला दिखायी नहीं देता था। इस सन्दर्भमें कविने कल्पना की है कि कामदेव जिनराजसे पराजित हो गया यह बात सर्व सम्मत है । पराजित होनेके कारण लज्जासे वह छिप गया और छिपकर आकाशसे अपने शस्त्र-पुष्पोंको जिनेन्द्रके आगे छोड़ रहा है। पराजित शत्रु विजेताके आगे अपने शस्त्र डाल देता है, यह प्रसिद्ध है ॥४५॥

**अर्थ**—जिस समवसरणमें आकाश धुले हुए वस्त्रके समान उज्ज्वल है, दिशाओंकी आभा ऋतुस्नानसे उत्पन्न हुएके समान है, पृथिवी तल दर्पणके समान निर्मल है और जहाँकी शक्ति प्राणियोंके हर्षोत्पत्तिके लिये है ॥४६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**कमनः शमनन्दिनामुनाऽपहतास्त्रस्त्वनुकम्पयाऽधुना ।**
**समिताश्च मिताः सुमश्रियामृतवस्तद्धितवस्तुदित्सया ॥४७॥**

कमन इत्यादि—कमनः कामदेवोऽमुना समवसरणस्थेन शमे नन्दिरानन्दपरिणामो यस्य तेन भगवताऽपहतास्त्रो निरस्तशस्त्रोऽधुना तु पुनरनुकम्पयाऽनुग्रहकरणबुद्ध्या सर्वेऽपि ऋतवस्तस्य कामस्य हितमुपयोगि यद्वस्तु तद्दित्सा दातुमिच्छा तया सुमश्रियां पुष्पशोभायां मिताः पर्याप्ताः सन्तस्ते समिताः सममेकीभावेन प्राप्ता इत्युत्प्रेक्षालंकारः । 'कमनः कामुके चाभिरूपे चाशोककामयोः' इति विश्वलोचने ॥४७॥

**मणिसंकणिसंविभालतस्त्ववधूतो नवधूलिशालतः ।**
**नयनारिरगादभावतां न निशावासरयोर्भिदोऽत्र ताः ॥४८॥**

मणिसंकणीत्यादि—मणीनां नानाविधानां रत्नानां याः समीचीनाः कणयः कणिकास्तासां संविभां समीचीनां प्रभां लाति दधातीति ततो नवान्नूतनाद् धूलिशालतो रत्नरेणुनिर्मितवप्रतोऽवधूतो दूरीकृतो नयनारिरन्धकारः सोऽत्राभावतां गतो नैव विद्यतेऽतोऽत्र निशावासरयो रात्रिदिवसयोरपि ताः सुप्रसिद्धा भिदो न भवन्ति, सदा प्रकाश एव भवतीत्यनुप्रासोऽलंकारः ॥४८॥

**समचिन्मम चित्तवृत्तितः सुगभीराऽऽशुगभोधराऽभितः ।**
**विशदा हि सदा तथाकृतेः परिखा संवरखा विराजते ॥४९॥**

समचिदित्यादि—यत्र पुनः परिखा खातिका विराजते सा मम चित्तवृत्तितः समचित् समा समाना चिद् विवेचना यस्यास्सा विराजते यतः सा सुगभीराऽतलस्पर्शवत्यभि-

---

अर्थ—वहाँ सभी ऋतुएँ एक साथ प्रकट हुई थीं, उससे ऐसा जान पड़ता है कि शान्तिमें आनन्दकी अनुभूति करने वाले अर्हन्त भगवान्ने कामदेवको शस्त्ररहित कर दिया था, अब करुणाबुद्धिसे उसकी हितकारी वस्तु—देनेकी इच्छासे पुष्पोंकी शोभामें पूर्णताको प्राप्त छहों ऋतुएँ मानों एक साथ आई हैं ॥४७॥

अर्थ—यतश्च समवसरणमें विविध रत्नों सम्बन्धी समीचीन कणिकाओंकी प्रभाको धारण करने वाले नूतन धूलि सालसे अन्धकार नष्ट हो गया था, अतः वहाँ रात-दिन का भेद नहीं था। सदा प्रकाश ही विद्यमान रहता था ॥४८॥

अर्थ—उस समवसरणमें जो परिवार सुशोभित है, वह मेरी चित्तवृत्तिके समान है, क्योंकि जिस प्रकार मेरी चित्तवृत्ति **सुगभीरा**—अत्यन्त गम्भीर—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



ऽपि तथाऽऽशुगाद्वायोः पक्षे कामाद् भीधरा तथाकृतेः सदा विशदा सुनिर्मला संवरं जलं तद्वत् खमाकाशं यस्याः सा पक्षे संवरो जिनभगवानेव तद्वत् खं बुद्धिर्यस्याः सा । 'खमाकाशे दिवि सुखे, बुद्धौ संवेदने पुरे' 'संवरं सलिले मेघे संवरोऽथ जिनान्तरे' इति च विश्वलोचने ॥४९॥

**किमु नाकरमाश्रमाम्भसः किमु सिद्धेर्मदभृद्दृशोरसः ।**
**नभसो रभसोदयी पतत्यपि गन्धोदकवृत्तिरूपतः ॥५०॥**

किमु नाकेत्यादि—अपि च गन्धोदकविन्दुरूपतो यत्र रभसाद्वेगादुदयो यस्य स रभसोदयी रसः पतति स किमु नाकरमायाः स्वर्गलक्ष्म्याः श्रमाम्भसः प्रस्वेदस्य रसोऽथवा किमु सिद्धेः स्वयंमुक्तेरेव मदभृत् प्रसन्नताहेतुको दृशोश्चक्षुषो रस इति वितर्कोऽलंकारः ॥५०॥

**विचलद्दलवल्लतावनं मरुता चालिरुताप्तकीर्तनम् ।**
**धृतलास्यमिवास्य पश्यतां दृशि याति प्रभुभक्तिशस्यताम् ॥५१॥**

विचलद्दलवदित्यादि—खातिकातोऽग्रेऽभ्यन्तरस्यार्हदुपाश्रयस्य लतावनमस्ति, तच्च मरुता वायुना विचलन्ति दलानि यस्य तत्तथालीनां भ्रमराणां रुतं गुञ्जनं तेनाप्तं कीर्तनं येन तदेव चाप्तं कीर्तनं येन तत् पश्यतां लोकानां दृशि दृष्टौ धृतं समारब्धं लास्यं नृत्यं येन तदिव तथा प्रभोरर्हतो भक्त्या शस्यतां श्लाघ्यतां याति लभत इत्युत्प्रेक्षालंकारः ॥५१॥

---

धैर्यशालिनी है, उसी प्रकार परिखा भी सुगभीरा–अत्यन्त गहरी है। जिस प्रकार मेरी चित्तवृत्ति आशुग-भीधरा–कामसे भय धारण करती है, उसी प्रकार परिखा भी आशुगभीधरा–वायुसे भय धारण करती है—अर्थात् लहरोंके छलसे कम्पित रहती है, जिस प्रकार मेरी चित्तवृत्ति–मनोवृत्ति कृतेः–कार्यसे विशद–उज्ज्वल है, उसी प्रकार परिखा भी आकृतेः–आकारसे उज्ज्वल है और जिस प्रकार मेरी चित्तवृत्ति संवरखा–जिनेन्द्र भगवान्‌में संलग्न बुद्धिसे सहित है उसी प्रकार परिखा भी संवरखा–पानीके समान आकाशसे सहित है अथवा आकाशके समान निर्मल जलसे सहित है ॥४९॥

**अर्थ**—समवसरणसे आकाशमें गन्धोदक वृष्टिके रूपमें जो शीघ्र शीघ्र रसकी वृष्टि हो रही थी, वह रस क्या स्वर्गलक्ष्मीका पसीना था? या मुक्तिरूपी लक्ष्मीके नेत्रसम्बन्धी हर्षाश्रुओंका समूह था? ॥५०॥

**अर्थ**—समवसरणमें परिखाके आगे वह लतावन था, जिसके पत्ते हवासे हिल रहे थे, जिस पर बैठे भ्रमर मानों कीर्तन कर रहे थे, जो देखने वालोंकी दृष्टिमें नृत्य करता हुआ सा जान पड़ता था तथा प्रभु भक्तिसे प्रशंसनीयताको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


वरणत्रयमत्र यन्मतं जिनरत्नत्रयवत् समुन्नतम् ।
परिनिर्वृतिसाधनत्वतस्त्रिजगन्मोदकरं महत्त्वतः ॥५२॥

वरणत्रयमित्यादि—पुनरत्रोपाश्रये यद्वरणत्रयं प्राकारत्रितयं तद् रत्नत्रयवन्मतं यतः समुन्नतमुच्चैराकाशे गतं रत्नत्रयं चोन्नतिदायकं परिनिर्वृतेर्मुक्तेः साधनत्वतो निमित्तकारणत्वतः पक्षे तूपादानकारणत्वतोऽतश्च महत्त्वतस्त्रिजगतां मोदकरं प्रसन्नता-दायकमित्युपमालंकारः ॥५२॥

गरवद् वरवस्तुयोगतः प्रकृतं तीर्थकृतः प्रयोगतः ।
अपवृत्य हि कर्मकाष्टकं भवतीदं भुवि मङ्गलाष्टकम् ॥५३॥

गरवदित्यादि—वरस्य श्रेष्ठस्य वस्तुनो रसायनस्य योगतः प्रसङ्गतो गरं विषं यथा तथा तीर्थकृत आदिपुरुषस्य प्रयोगतः समागमतः कर्माणि च तानि ज्ञानावरणादीनि एव कर्माणि तत्र समूहार्थे कं तदेव हि किलापवृत्य परिवर्तमुपेत्य भुवीह भूतले मङ्गलानां शर्मदायकवस्तूनां कलश-भृङ्गार-ध्वजा-दर्पण-छत्र-चमर-तालवृन्त-स्वस्तिकाभिधानाना-मष्टकं तदिदं भवति यद् द्वारं द्वारं प्रति वर्तते प्रकृतं प्रस्तुतमिति दृष्टान्तपूर्वकोऽपह्नु-वोऽलंकारः ॥५३॥

सुचिरं शुचिरद्य कुम्भनी स्थितिरस्यां न मयावलम्बिनी ।
इतिधूपघटास्य धूमकच्छलतश्चोच्चलदेव मस्त्यकम् ॥५४॥

---

प्राप्त हो रहा था ॥५१॥

अर्थ—समवसरणमें जो तीन कोट थे, वे जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रतिपादित रत्नत्रयके समान समुन्नत—उत्कृष्ट (पक्षमें ऊँचे) थे, परिनिर्वृति—निर्वाण (पक्षमें संतोष) के साधन होनेसे और महत्त्वतः—श्रेष्ठता (पक्षमें ऊँचाई) के कारण तीनों जगत्के जीवोंको आनन्द देने वाले थे ॥५२॥

अर्थ—जिस प्रकार रसायन आदि उत्कृष्ट वस्तुके संयोगसे विष औषध रूपमें परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार तीर्थंकरके संयोगसे ज्ञानावरणादि आठ कर्म भी परिवर्तित होकर समवसरण भूमिमें आठ मङ्गल द्रव्य रूप हो गये थे। तात्पर्य यह है कि समवसरणमें १ कलश, २ भृङ्गार, ३ ध्वजा, ४ दर्पण, ५ छत्र, ६ चमर, ७ व्यजन और ८ स्वस्तिक ये आठ मङ्गल द्रव्य विद्यमान थे, जो आठ मङ्गल द्रव्य न होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके परिवर्तित रूप थे ॥५३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सुचिरमित्यादि—अद्यासौ कुम्भिनी पृथ्वी शुचिः पवित्राऽत एवास्यां मम स्थितिः सुचिरमधिककालमवलम्बिनी स्थायिनी नेति किलाकं पापं धूपस्य घटाः कुम्भास्तेषामास्यानि मुखानि तेभ्यो निर्गतो यो धूमस्तस्य च्छलत एवं निरन्तरमुच्चलन्निर्गच्छदस्ति । अपह्नुतिरलंकारः ॥५४॥

**प्रतिलासनिवासमाश्रवाम्बुधिमानन्दधियायमत्र वा ।**
**करचारतयारमुत्तरत्यनुतारं नटदप्सरोभरः ॥५५॥**

प्रतिलासनिवासमित्यादि—अत्र वार्हंदुपाश्रये लासनिवासो नृत्यशाला लासनिवासं लासनिवासं प्रतिलासनिवासं नटन्तीनामप्सरसां यो भरो नृत्यकारिणीसमूहः स आनन्दधिया प्रसन्नबुद्ध्याऽनुतारं रलयोरभेदात्तालानुसारं वादित्रलयानुकूलं करयोर्हस्तयोश्चारः प्रचारस्तत्तयाऽऽश्रवाम्बुधिं संसारसागरमेवारं शीघ्रमुत्तरत्ययम् ॥५५॥

**सुमनोभिरुपासिता हिता मनुजेभ्यश्च फलोदयान्विताः ।**
**परितापहरा महीरुहाः परितः श्रीशगुणोपमावहाः ॥५६॥**

सुमनोभिरित्यादि—अत्र पुनः परितस्तत्रोपाश्रये महीरुहा वृक्षा भवन्ति ते श्रीशस्य श्रीमतोऽर्हतो यो गुणस्तस्योपमावहाः सन्ति, यतस्ते सुमनोभिः पुष्पैः पक्षे देवैरुपासिताः समाराधितास्तथा मनुजेभ्यः सर्वेभ्यो हिताः कल्याणकरा यतः फलोदयेनाम्रादि-

---

**अर्थ**—अब पृथिवी पवित्र हो गई है, अतः इसमें हमारी स्थिति अधिक काल तक नहीं हो सकेगी, यह विचार कर ही धूपघटोंके मुखसे निकलने वाले धूमके छलसे पाप निकल कर ऊपरकी ओर भाग रहे थे ॥५४॥

**अर्थ**—उस समवसरणकी प्रत्येक नाट्य-शालाओंमें तालके अनुसार नृत्य करती हुई अप्सराओंका समूह हाथोंके संचालनसे ऐसा जान पड़ता था मानों बड़ी प्रसन्नतासे शीघ्र ही संसार-सागरको पार कर रहा हो ॥५५॥

**अर्थ**—समवसरणमें जो चारों ओर वृक्ष थे, वे श्रीजिनेन्द्रदेवके गुणोंकी उपमाको धारण करते थे, क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके गुण **सुमनस्**—देवोंके द्वारा **उपासित**—समाराधित होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी **सुमनस्**—पुष्पोंसे सेवित—सहित थे, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके गुण मनुष्योंके लिये **हित**—कल्याणकारक हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी **हित**—कल्याणकारी थे, जिस प्रकार जिनेन्द्र देवके गुण स्वर्गादि फलकी प्राप्तिसे सहित हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी आम्र आदि फलों उत्पत्तिसे सहित थे और जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके गुण **परिताप**-



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सद्भावेनान्विताः पक्षे स्वर्गगमनकारकत्वेनोचिताः परितापहराश्चेति किलोपमालंकारः ॥५६॥

क्रमशः श्रमशर्मतोऽर्हतां दशधर्मैरवकृत्य सन्धृताः ।
त्वच एव च सन्त्यमी ध्वजा दुरितानामुत्कम्पितं रुचा ॥५७॥

क्रमश इत्यादि—अर्हदुपाश्रये द्वितीयतृतीय वप्रयोर्मध्ये हंसादिचिह्नवत्यो दशप्रकारा ध्वजा भवन्ति तासामिहोल्लेखः । श्रमः प्रयत्नकरणं तत्र शर्म शान्तिरनुद्रेकभावस्ततो हेतुतोऽर्हतां श्रीमतां दशधर्मैः क्षमादिभिः क्रमशः क्रोधादीनां तत्प्रत्यनीकानां दशानां दुरितानां त्वचोऽवकृत्य सन्धृतास्ता एव ध्वजा इति नामतः प्रसिद्धा उतात एव तत्र रुजा पीडया कम्पितमित्यपह्नुतिरलंकारः ॥५७॥

अविवादधराश्च राशयस्त्वनुगृह्णाति यकान् महाशयः ।
युगपच्च युगादिभास्करः स गतान्द्वादशतां सतां वरः ॥५८॥

अविवादधरा इत्यादि—तृतीयकोटतोऽप्यभ्यन्तर्द्वादश सभा भवन्ति ता उद्दिश्य कथनमिदम् । अतः पुनरविवादधरा विसंवादरहितास्तथाविमेषस्तस्य वादं धरन्ति ततः समारब्धा भवन्ति ते राशयः समूहा ज्योतिशास्त्रसम्मता वा यानेव यकान् द्वादशतां गतान् स सतां सज्जनानामुत नक्षत्राणां वरः श्रेष्ठो महाशयोऽसंकोर्णविचारो युगादिभास्कर आदीश्वरसूर्यो युगपदेव सोऽनुगृह्णाति । तुर्विशेषे प्रसिद्धः सूर्यः क्रमशो गृह्णातीति किलातिरेकोऽलंकारः ॥५८॥

---

हर–संसार भ्रमणजन्य संतापको हरने वाले हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी अपनी छायाके द्वारा घर्मजन्य संतापको हरने वाले थे ।

**भावार्थ**—समवसरणमें प्राकारोंके बीच आम तथा कल्पवृक्ष आदिके वन थे ॥५६॥

**अर्थ**—समवसरणके द्वितीय और तृतीय कोटके बीच हंस आदिके चिह्नोंसे सहित जो दस प्रकारकी ध्वजाएँ थीं वे ध्वजाएँ नहीं थीं किन्तु जिनेन्द्रदेवके क्षमा आदि दश धर्मोंने अपने विरोधी क्रोध आदि पापों की जो चमड़ी प्रयत्नपूर्वक खींच ली थी वह थी, तथा वे चमड़ियाँ पीड़ासे कम्पित हो रही थीं ॥५७॥

**अर्थ**—जो अविवादधरा–मेष आदि नामको धारण करनेवाली बारह राशियाँ हैं, उन्हें सत्–नक्षत्रोंका स्वामी सूर्य क्रमसे अनुगृहीत करता है परन्तु महाशय–उदार अभिप्रायसे सहित तथा सज्जनोंमें श्रेष्ठ आदीश्वर भगवान् उन बारह सभारूपी राशियोंको एक साथ अनुगृहीत कर रहे थे ॥५८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जिनसाज्जगतां तु दुर्जयी स हि मोहो महिमोहविस्मयी ।
नहि दुन्दुभिकः समस्ति तद्धृदयोद्भेदरवस्तु वस्तुतः ॥५९॥

जिनसावित्यादि—जगतां तु अन्येषां प्राणिनां यो दुर्जयी जेतुमशक्यः स हि मोहो जगज्जेता जिनसाज्जिनस्याग्रे महिम्नि विषये य ऊहो विचारस्तेन विस्मयी किलाश्चर्यचकित एवं तु पुनर्यो दुन्दुभिको नाम नादः स वस्तुतो न दुन्दुभिकः, किन्तु तस्य मोहस्य यद् हृदयं वक्षस्तस्योद्भेद आश्चर्येण द्वैधीभावस्तस्यैव रवः शब्द इत्यपह्नवोऽलंकारः ॥५९॥

नितरामितरायिता यतेरथ मासौ कथमासनायते ।
अधरायत ईशिताऽऽदृता क्व रहोनीतिरहो निरीहता ॥६०॥

नितरामित्यादि—अथ मा किल लक्ष्मीर्या किल नितरामत्यन्तमितरायिता एकं त्यक्त्वाऽन्यं पुनस्तमपि त्यक्त्वा परमिति नवं नवमङ्गीकरोतीतरायिताऽथवोद्दण्डतां गता साऽसौ यतेरस्य वशिन आसनमिवाचरतीत्यासनायते समाधारो भवतीति कथं किन्तु न भवत्येव, यतः किलायमीशिता स्वामीहाधरायते गन्धकुटीगतसिंहासनात् तत्रत्यकमलाच्चाधर एव तिष्ठति । अहो क्व रहोनीतिर्नाम रहस्यवृत्तिर्निरीहताऽऽदृता स्वीकृतास्ति ॥६०॥

मनसा वचसा च कर्मणाऽर्चनमिन्दुः परिपूर्य शर्मणा ।
त्रिगुणं वपुराप्य घूर्णते क्षयजिच्छत्रतया जगत्पतेः ॥६१॥

---

**अर्थ**—जो मोह जगत्के अन्य जीवोंके लिये दुर्जेय है, वह जिनेन्द्रदेवके आगे उनको महिमाविषयक विचारसे विस्मयमें पड़ गया । (उसे लगने लगा कि मैंने सबको जीता, अब इन्हें किस प्रकार जीतूँ ?) समवसरणमें जो दुन्दुभिका शब्द हो रहा था वह दुन्दुभिका शब्द नहीं था, किन्तु वास्तवमें उसी मोहके हृदयके फटनेका शब्द था ॥५९॥

**अर्थ**—जो लक्ष्मो अत्यन्त **इतरायिता**—एक-एकको छोड़ अन्य-अन्यको प्राप्त होती रहती है अथवा अत्यन्त उद्दण्ड है, वह **यति**—जिनेन्द्रका **आसन**—आधार कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती । यही कारण है कि जिनेन्द्र समवसरणमें **अधर**—अन्तरीक्षमें विद्यमान रहते हैं, गन्धकुटीके सिंहासन अथवा कमलसे ऊपर रहते हैं, उस लक्ष्मीका स्पर्श भी नहीं होने देते । आश्चर्य है कि जिनेन्द्रके द्वारा **आदृत**—स्वीकृत यह **रहोनीति**—रहस्यवादकी वृत्ति कहाँ और निरीहता—निःस्पृहता कहाँ ? ॥६०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


मनसेत्यादि—इन्दुश्चन्द्रः स जगत्पतेर्नाभेयस्यार्चनमाराधनं मनसा वचसा कर्मणा चेति पूर्णरूपेण परिपूर्य कृत्वा शर्मणा सौभाग्येनाधुना क्षयजिद्राजयक्ष्मरोगतोऽपि मुक्तो भवन् त्रिगुणं शरीरमाप्य समुपलभ्य जगत्पतेश्छत्रतया घूर्णते। अपह्नव एवालंकारः ॥६१॥

शमशोऽयमशोकपादपः ह्वयतीतो जयति प्रमाणपः।
भविनां कविनामिनां चलन्निजशाखाशयचालनैर्दलम् ॥६२॥

शमश इत्यादि—अयमशोकपादपो योऽसौ प्रभोः पृष्ठलग्नः स शम एव शो धर्मो यस्य स चलन्त्यो या निजशाखास्ता एव शयचालनानि करविक्षेपणानि तैः कविनामिनां कविसदृशानां भविनां शरीरधारिणां दलं समूहमितो ह्वयति प्रमाणपो भवन् जयति। उत्प्रेक्षालंकारः ॥६२॥

अनिला इव मागधाः सुराः परमामोदविधालसद्धुराम्।
सुमनःसुरभिश्रियं तरां विनयन्ति त्रिपुरारिराड्गिराम् ॥६३॥

अनिला इत्यादि—त्रिपुराणां जन्मजरामरणाख्यानामरिराजो नाभेयस्य गिरां वाचः सुमनसः पुष्पस्य सुरभिश्रियं सुगन्धशोभामिव परमस्यामोदस्य प्रसन्नभावस्य या विधा प्रकारस्तया लसति धुरा मुखभागो यस्यास्तां किलानिला वायव इव मागधाः सुरा विनयन्तितरामित्युपमालंकारः ॥६३॥

जिनशासनमेव मूर्तिमद् वृषचक्राह्वयतस्तरां लसत्।
निवहन्ति सुरा दुरासदमितरेभ्योऽमितरेत इत्यदः ॥६४॥

---

अर्थ—समवसरणमें जिनेन्द्र भगवान्‌के मस्तकके ऊपर जो छत्रत्रय घूम रहा था वह छत्रत्रय नहीं था, किन्तु मन-वचन-कायसे पूजाको पूर्ण कर उसके फलस्वरूप क्षयरोगसे मुक्त हो तीन शरीर पाकर चन्द्रमा हो सुखसे झूम रहा था ॥६१॥

अर्थ—शमशः-सुखरूप धर्मसहित अर्थात् दूसरे जीवोंको सुख उत्पन्न करने वाला प्रमाणपः-अत्यन्त ऊँचा अशोक वृक्ष अपनी हिलती हुई शाखारूप हाथोंके संचालनसे ऐसा जान पड़ता था, मानों कविनामधारी प्राणियोंको इस ओर बुला ही रहा हो ॥६२॥

अर्थ—जिस प्रकार वायु उत्कृष्ट सुगन्धसे युक्त अग्र भागवाली पुष्पोंकी शोभाको विस्तृत करती है, उसी प्रकार मागध जातिके देव उत्कृष्ट आनन्दको प्रदान करने वाली भगवान्‌की वाणीको विस्तृत कर रहे थे ॥६३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जिनशासनमित्यादि—सुरा यक्षेन्द्रा इतरेभ्यो दुरासदं धर्तुमशक्यमित्यहो वृषचक्रमित्याह्वयतो नामतो लसत् प्रख्यातं तन्मूर्तिमज्जिनशासनमेव यदमितरेतोऽत्यधिकतेजोधारकं तन्निवहन्तितरामित्यपह्नवोऽलंकारः ॥६४॥

जिनचरणवराणामर्चनातत्पराणां
किमिति नहि सुराणां सत्कृतस्याङ्कुराणाम् ।
उदय इह ततानां मूर्तभावं गतानां
चमरमिषमितानां घूर्णते स्फूर्जितानाम् ॥६५॥

जिनचरणेत्यादि—इहार्हदुपाश्रये चरणेषु वराः श्रेष्ठाश्चरणवरा जिनानामर्हतां ये चरणावरास्तेषामर्चनायामुपासनायां तत्पराणां तल्लीनानां सुराणां सत्कृतस्य पुण्यकर्मणो येऽङ्कुरास्तेषाम्, कीदृशानां तेषामिति चेत् ? स्फूर्जितानां स्फूर्ति प्रादुर्भूतिं गतानामेवं मूर्तभावं गतानां मूर्तमाकारमवाप्तानां ततानां प्रसृतानां तथा चमराणां मिषं व्याजमितानामुपगतानामुदयः समुद्भवः किमिति नहि, किन्तु भवत्येवेति काकुपूर्वोऽपह्नवालंकारः ॥६५॥

भवान्तरोद्बोधनमङ्गिनामतः प्रभोः परावृत्तसतः प्रभावतः ।
महोऽस्त्यहो कोटिगुणं गतोऽनया रविः सवित्तापकतापकृत्तया ॥६६॥

भवान्तरोद्बोधनमित्यादि—प्रभोः स्वामिनः प्रभावृत्तं भामण्डलमेव सद्वस्तु तस्य प्रभावृत्तस्य सतोऽतः प्रभावतः शक्तितोऽङ्गिनां भव्यानां प्राणिनां भवान्तरस्य प्राग् जन्मनोऽप्युद्बोधनं ज्ञानमस्ति जायते, तदेतत्प्रभावृत्तं नाम सविद् रविरेवास्ति यस्तापकतायाः संतापवृत्तेरपकृत्ता निरसनता तयाऽनया स्पष्टदृश्यया कोटिगुणं महः पूर्वापेक्ष-

---

अर्थ—यक्षेन्द्र अन्य देवोंके द्वारा दुरासद एवं अपरिमित तेजसे युक्त जिस शोभायमान धर्मचक्रको धारण कर रहे थे, वह धर्मचक्र नहीं था किन्तु मूर्तिमान् जिनशासन ही था ॥६४॥

अर्थ—समवसरणमें जो चमरोंका समूह चञ्चल हो रहा था, वह क्या जिनेन्द्रदेवके श्रेष्ठ चरणोंकी पूजामें तल्लीन देवोंके सुविस्तृत तथा चमरोंके बहाने मूर्तरूपको प्राप्त शक्तिसम्पन्न पुण्याङ्कुरोंका उदय नहीं था ? अवश्य था। तात्पर्य यह है कि समवसरणमें देवों द्वारा डुलाये जा रहे चमर उनके पुण्याङ्कुरोंके समान जान पड़ते थे ॥६५॥

अर्थ—प्रभुकी जिस वस्तुके प्रभावसे प्राणियोंको भवान्तरों—अतीत—अनागत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

याप्यधिकं तेजो गतः सम्प्राप्तोऽस्ति । भामण्डलं भामण्डलं न नाम, किन्तु स्वस्य सन्ताप-कतां परिवर्त्य पूर्वापेक्षयाप्यधिकप्रकाशभृद्रविमण्डलमेवेदमिति भावोऽपह्नवश्चालंकारः अहो वितर्कणे ॥६६॥

**ध्वनिरयं निरयन् द्रुतमर्हतां रसमयं समयं तनुते सताम् ।**
**गतिरयं निरयँस्तु पयोमुचः पृथगतोऽथ गतोऽनुजनं रुचः ॥६७॥**

ध्वनिरित्यादि—अर्हतां तीर्थकृतां दिव्यो नाम ध्वनिर्निरयन्निर्वाच्छन् सन् पयोमुचो मेघस्य गतिरयमवस्थाविशेषं तिरयन्ननुकुर्वन् यथा वारि सर्वत्र सर्वेभ्यः समानतया वर्षति तथा ध्वनिरपीति यावत् । अतोऽथानुजनं प्राणिनं प्राणिनं प्रति पृथगेव रुचोऽभिरुचीर्गतः स सतां सज्जनानां रसमयं वर्षणतुल्यं समयं तनुते करोति । यथा वृष्टं वारि निम्बेक्षु-काण्डादिषु पृथक् परिणमते, तथार्हद्ध्वनिरपि ॥६७॥

**समवसरणमेवं वीक्षमाणोऽथ देवं**
**गुणमणिमनुलेभे हर्षमेतेन रेभे ।**
**पुलककुलकशंसा अन्तरेणोदुरंशाः**
**सपदि बहिरुदीर्णा पुण्यपाकेऽवतीर्णात् ॥६८॥**

समवसरणमित्यादि—अथैवमुक्तरीत्या समवसरणं नाम सभास्थानं वीक्षमाणः सम्पश्यन् स जयकुमारस्तत्र गुणाः समतादयो मणयो यस्य तं देवं भगवन्तमप्यनुलेभे प्राप्त-

---

भवोंका बोध होता है, वह भामण्डल नहीं था किन्तु अपनी संतापक वृत्तिको छोड़कर पूर्वकी अपेक्षा कोटिगुणित तेजको प्राप्त हुआ ज्ञानी सूर्य ही था ॥६६॥

**अर्थ**—अरहन्त परमेष्ठियोंकी निकलती हुई-प्रकट होती हुई दिव्य ध्वनि मेघकी अवस्थाविशेषका अनुकरण करती है और सत्पुरुषोंके समीप उनकी रुचिके अनुसार परिणमन करती हुई वृष्टितुल्य अवस्थाको विस्तृत करती है।

**भावार्थ**—जिस प्रकार मेघका जल एक सदृश बरसता है, परन्तु नीम तथा गन्ना आदिमें विविध रूपोंमें परिणत हो जाता है, उसी प्रकार अर्हन्तकी दिव्य ध्वनि एक समान प्रकट होती है, परन्तु श्रोताओंके कर्णकुहरोंमें उनकी भाषाके रूपमें परिणम जाती है तथा उनके मनोगत प्रश्नोंका समाधान करती है ॥६७॥

**अर्थ**—इस प्रकार समवसरणको अच्छी तरह देखते हुए जयकुमार गुणरूपी मणियोंसे सहित भगवान् आदीश्वरको प्राप्त हुए, अर्थात् उनके समीप पहुँचे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वानेतेन हेतुना स हर्षं च रेभे समारब्धवान् । एवं पुण्यपाके परमशुभोदयेऽवतीर्णात्तत: सपदि तदानीं पुलकानां रोमाञ्चानां कुलकमेव शंसाऽभिधा येषां तेऽन्तरेनोदुरंशा अन्तर्गता: पापस्य लेशास्ते बहिरुदीर्णा उपर्यागता बभूवुरित्युत्प्रेक्षाऽलंकारः ॥६८॥

संसारसागरसुतीरवदादिवीर-
श्रीपादपादपपदं समवाप धीरः ।
तत्राऽऽनमँस्तु झरदुत्तरलाक्षिमरवा-
न्मुक्ताफलानि ललितानि समाप सत्त्वात् ॥६९॥

संसारेत्यादि—धीरो जयकुमारः स संसार एवातलस्पर्शत्वात् सागरोऽब्धिस्तस्य सुतीरवत्तटवदादिवीरो भगवान् वृषभस्तस्य श्रीपादौ चरणावेव पादपो वृक्षः समाश्वासनदायकत्वात्तस्य पदं स्थानं समवाप लेभे । तत्र पुनरानमन्नमस्कारं कुर्वंस्तु स सत्त्वात् सात्त्विकभावस्य सद्भावात् झरती झरमनुकुर्वतीं उत्तरले सुचपले ये अक्षणी लोचने तद्वत्त्वाल्ललितानि मनोहराणि मुदश्रुरूपाणि मुक्ताफलानि समवापेति रूपकालंकारः ॥६९॥

प्रसन्नाक्षरपुष्पाणां मालाथालापशालिना ।
गुणैरावर्तिताऽऽदेर्नु महतामनुयायिना ॥७०॥

प्रसन्नेत्यादि—अथाऽऽलापशालिनानेन वाक्चतुरेण महतामनुयायिना महान्तो यथानुतिष्ठन्ति तथानुतिष्ठता तेन जयकुमारेणादेर्नुः श्रीनाभेयस्य गुणैः क्षमादिभिरेव

---

इस हेतु उन्होंने बहुत भारी हर्ष प्राप्त किया और उस हर्षसे उनके शरीरमें रोमाञ्च निकल आये। वे रोमाञ्च ऐसे जान पड़ते थे मानों शुभोदय-पुण्योदयमें अवतीर्ण होनेसे उनके भीतर जो पापके कुत्सित अंश थे, वे रोमाञ्च-समूहके छलसे बाहर निकल आये हों ॥६८॥

**अर्थ**—धीरवीर जयकुमारने संसाररूपी सागरके उत्तम तटस्वरूप भगवान् वृषभदेवके चरणरूप वृक्षके स्थानको प्राप्त किया। वहाँ नमस्कार करते हुए उन्होंने सात्त्विक भावके कारण झरती हुई चञ्चल आँखोंसे युक्त हो मनोहर मोती प्राप्त किये।

**भावार्थ**—भगवान् वृषभदेवके चरणोंका सान्निध्य पाकर उनके नेत्रोंसे हर्षके आँसू निकलने लगे। वे अश्रुकण मोतियोंके समान जान पड़ते थे ॥६९॥

**अर्थ**—तदनन्तर बात करनेमें चतुर तथा महापुरुषोंका अनुकरण करने-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दौरकैः प्रसन्नानि च तानि अक्षराणि ककारादीनि तानि पुष्पाणि तेषां मालाऽऽवर्तिता कृता स्तुतिः समारब्धेति ।।७०।।

**जयत्यहो आदिमतीर्थनाथ ! शक्रादिभिस्त्वं परिणीतगाथः ।**
**हितस्य वर्त्म त्वकया पवित्रं न्यदेशि तत्त्वं भुवनस्य मित्रम् ।।७१।।**

जयतीत्यादि—अहो आदिमतीर्थंनाथ ! त्वं शक्रादिभिरपि परिणीता कृता गाथा स्तुतिकथा यस्य स जयसि सम्भवसिः, यतस्त्वयैव त्वकया पवित्रं निर्दूषणं हितस्य सुखस्य वर्त्मायनं यद्भुवनस्याखिलप्राणिवर्गस्य मित्रं सुहृत् तत्त्वं यथार्थवस्तुस्वरूपं न्यदेशि कथितमस्ति ।।७१।।

**हे देव दोषावरणप्रहीण ! त्वामाश्रयेद् भक्तिवशः प्रवीणः ।**
**नमामि तत्त्वाधिगमार्थमारान्न मामितः पश्यतु मारधारा ।।७२।।**

हे देवेत्यादि—हे देव ! दोषावरणप्रहीण ! दोषा रागादय आवरणं ज्ञानदर्शना-भावरूपं ततः प्रहीण ! पूर्णरूपेण रहित ! भक्तिवशः प्रवीणो बुद्धिमान् नरस्त्वामेवा-श्रयेत् । हे देव ! अहं त्वां तत्त्वस्य वस्तुत्वस्याधिगमार्थं परिज्ञानार्थमाराच्छीघ्रमेव नमामि नमस्करोमि, यतो मामितः आरभ्य मारस्य कामदेवस्य धारा शस्त्रास्त्रभागो न पश्यतु मा स्पृशतु ।।७२।।

**भवन्ति भो रागरुषामधीना दीना जना ये विषयेषु लीनाः ।**
**त्वां वीतरागं च वृथा लपन्ति चौरा यथा चन्द्रमसं शपन्ति ।।७३।।**

---

वाले जयकुमारने आदिपुरुष भगवान् वृषभदेवके क्षमादिगुणरूपी सूतसे स्पष्ट अक्षररूपी पुष्पोंकी माला बनाई, अर्थात् स्तुति करना प्रारम्भ किया ।।७०।।

अर्थ—हे आद्यतीर्थंकर ! आपकी स्तुति इन्द्रादि देवोंके द्वारा की गई है, अतः आप जयवन्त प्रवर्तते हैं। आपने ही जगत्के जीवोंके लिये वह तत्त्व-यथार्थ वस्तुका स्वरूप कहा है, जो हितका पवित्र मार्ग तथा समस्त प्राणिसमूहका मित्र है ।।७१।।

अर्थ—हे रागादि दोष तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंसे रहित देव ! भक्तिके वशीभूत चतुर मनुष्य आपका ही आश्रय लेते हैं, अतः तत्त्वज्ञानके लिये मैं शीघ्र ही आपको नमस्कार करता हूँ और चाहता हूँ कि अब कामदेवके अस्त्र-शस्त्रोंकी धारा मुझे न देखे ।।७२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



भवन्तीत्यादि—भो प्रभो ! ये विषयेषु लीना भोगाभिलाषिणो दीना बहुशोऽपि रागाश्च रुषश्च तासामधीना वशगा जना भवन्ति, ते त्वां वीतरागं पक्षपातविहीनमपि च वृथा लपन्ति जिनाद्देवात् कस्य कोऽर्थः सिद्ध्यतीति कथयन्ति, यथा चौराश्चन्द्रमसं शपन्तीति दृष्टान्तोऽलंकारः ॥७३॥

**राज्ञामिवाज्ञा भवतां जगन्ति गताऽविसंवादतया लसन्ती ।**
**शिशोरिवान्यस्य वचोऽस्त्वपार्थं मोहाय सम्मोहवतां धृतार्थम् ॥७४॥**

राज्ञामित्यादि—अविसंवादतया विच्छेदाभावतया लसन्ती भवतां श्रीमतामाज्ञा राज्ञां भूपानामिव सा जगन्ति गता सर्वथैवाऽखण्डतया वर्तते । अन्यस्य पुनरनर्हतस्तु वचः शिशोर्बालकस्येवापार्थमकल्याणकरं भवत्केवलं सम्मोहवतां संसारिणां मोहाय विभ्रमोत्पादनायैव धृतोऽर्थो हेतुभावो येन तदस्तु, न तु हितकरमिति । 'अर्थः प्रयोजने वित्ते हेत्वभिप्रायवस्तुषु' इति विश्वलोचने ॥७४॥

**विरागमेकान्ततया प्रतीमः सिद्धौ रतः किन्तु भवान् सुषीम ! ।**
**विश्वस्य संजीवनमात्मनीनं स्याद्वादमुज्झेत् किमहो अहीन ! ॥७५॥**

विरागमित्यादि—हे सुषीम ! सुशोभन ! वयं त्वद्भक्तास्त्वामेकान्ततया सर्वथा विरागं कुत्राप्यनुरागो नास्ति यस्येदृशं प्रतीमः प्रतीतिं कुर्मः, किन्तु भवांस्तु सिद्धौ नाम निर्वृतौ रतोऽनुलग्नोऽस्ति । अहो अहीन ! सर्वाङ्गसम्पन्न ! तदिदं सत्यमपि यतो भवत

---

अर्थ—हे प्रभो ! जो राग-द्वेषके अधीन तथा विषयोंमें लीन दीन मनुष्य हैं, वे आप वीतरागको भी व्यर्थ कहते हैं, अर्थात् वीतराग देवसे किसीका कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, ऐसा कहते हैं। जैसे चोर चन्द्रमाकी निन्दा करते हैं, वैसे ही विषयाधीन मनुष्य वीतराग देवकी निन्दा करते हैं ॥७३॥

अर्थ—अविरोध रूपसे शोभायमान आपकी आज्ञा राजाओंकी आज्ञाके समान समस्त जगतमें व्याप्त है, जबकि अन्य पुरुषोंकी आज्ञा बच्चोंके निरर्थक वचनके समान मोही जीवोंके मोहके लिये ही हेतुभूत है ॥७४॥

अर्थ—हे अतिशय शोभायमान ! जिनेन्द्र ! हम आपके भक्त आपको यद्यपि सर्वथा विराग–रागरहित जानते हैं, पर आप सिद्धि–मुक्तिवधूमें लीन हैं–उसे प्राप्त करना चाहते हैं, अतः सर्वथा विराग–रागरहित किस प्रकार हुए ? हे अहीन ! हे सर्वगुणसंपन्न भगवन् ! आप क्या समस्त जगत्के हितकारी अपने स्याद्वाद सिद्धान्तको छोड़ सकते हैं ? अर्थात् नहीं छोड़ सकते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मनीनं स्वायत्तीकृतं विश्वस्य च वस्तुमात्रस्य च संजीवनं जीवनाधारभूतं स्याद्वादं कथंचिदिति सिद्धान्तं भवान् किमुज्झेत् कथंकारं त्यजेदिति वक्रोक्तिरलंकारः ॥७५॥

**अहो यदेवास्ति तदेव नास्ति तवाद्भुतेयं प्रतिभाति शास्तिः ।**
**यद्वा स्मरामोऽत्र तमी नरेभ्यो निशापि सा नास्ति निशाचरेभ्यः ॥७६॥**

अहो इत्यादि—अहो भगवन् ! यदेवास्ति तदेव नास्ति चेयं तवेयं शास्तिस्त्वनुशासनवृत्तिरद्भुताऽभूतपूर्वा प्रतिभाति नानुभव मुपयाति । यद्वा स्मरामः स्मृतिं गच्छामो वयमत्र निशा रात्रिर्नरेभ्योऽस्मादृशेभ्यस्तमी महान्धकारपूर्णास्ति सापि निशाचरेभ्यो विडालादिभ्यस्तमी नेति भद्रमेतत् ॥७६॥

**तुलान्तवत्तद् द्वयमस्तु वस्तु प्रतिष्ठितं विज्ञहृदीह वस्तुम् ।**
**न पश्चिमांशेन विना बिभर्ति समग्रमंशं खलु यास्ति भित्तिः ॥७७॥**

तुलान्तवदित्यादि—तुलाया अन्तौ प्रान्तौ द्वौ तुलाप्रतिबद्धौ तथास्ति च नास्ति चेत्येतद् द्वयमपि विज्ञस्य हृदि चित्ते वस्तुं प्रतिभातुमिह वस्तु प्रतिष्ठितमेवास्ति खलु या भवति भित्तिः सा समग्रमंशं पुरोभागं पश्चिमांशेन तदपरभागेन विना न बिभर्तीति ॥७७॥

---

**भावार्थ**—आप सांसारिक पदार्थोंका राग छोड़ देनेसे विराग हैं और सिद्धि—स्वात्मोपलब्धिमें रत—लीन होनेसे सराग जान पड़ते हैं। इसलिये स्याद्वाद सिद्धान्तकी अपेक्षा आप विराग भी है तथा सराग भी हैं ॥७५॥

**अर्थ**—हे भगवन् ! जो है वही नहीं है, यह आपका उपदेश अद्भुत—आश्चर्यकारी जान पड़ता है । अथवा हम जानते हैं कि रात्रि मनुष्योंके लिये तमी—अन्धकार पूर्ण है, वही बिलाव आदि निशाचर जीवोंको अन्धकारपूर्ण नहीं है।

**भावार्थ**—स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप हैं और परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी अपेक्षा नास्तिरूप है ॥७६॥

**अर्थ**—जिस प्रकार तराजूके दोनों प्रान्त परस्पर बद्ध होते हैं, अर्थात् एक प्रान्तसे तराजू नहीं बनती है। उसी प्रकार वस्तु भी अस्ति नास्ति—दोनों रूप होकर ही ज्ञानी मनुष्योंके हृदयमें प्रतिभासित होनेके लिये प्रतिष्ठित है। अथवा जिस प्रकार जो दीवाल है वह अपने पिछले भागके बिना पूर्णताको धारण नहीं करती, उसी प्रकार कोई भी वस्तु अपनेसे विरुद्ध धर्मके बिना पूर्णताको प्राप्त नहीं होती। जो अस्ति रूप है वह नास्ति रूप भी है, जो नित्य है वह अनित्य भी है, जो एक है वह अनेक भी है जो तद् है वह अतद् भी है इत्यादि ॥७७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



अभेदभेदात्मकमर्थमर्हंस्तवोदितं संकलयन् समर्हम् ।
शक्नोमि पत्नीसुतवन्न वक्तुं किलेह खड्गेन नभो विभक्तुम् ॥७८॥

अभेदेत्यादि—हे अर्हन् ! भगवन् ! अभेदश्च भेदश्चैक्यमनैक्यंच तौ द्वावात्मा स्वरूपं यस्य तमर्थंतत्त्वंसमर्हं पूर्णतयोचितं संकलयन्ननुभवन्नपि किलेह वक्तुं न शक्नोमि पत्नीसुतवद् यथा पत्न्या एव सुतः स मातरं वा ब्रूयात् पत्नीं वा तामिति तथैवात्रापि भिन्नं वा वदेद्वस्तु अभिन्नं वा यतस्तद्द्वयात्मकमतः कथमपि वक्तुं न योग्यम् । यथा खड्गेन नभो विभक्तुं न योग्यं तथा शब्देन वस्तुस्वरूपमपि पूर्णतया न वाच्यम् ॥७८॥

द्वयात्मनोऽप्यस्ति जनो यदर्थी धीवस्तुनः सम्प्रति तत्समर्थी ।
वमेर्विधौ यद्यपि वक्त्रमूह्यं विरेचने किन्तु तथैव गुह्यम् ॥७९॥

द्वयात्मन इत्यादि—द्वयात्मनोऽपि वस्तुनो जनो यदा यदर्थी भवति तदा तत्समर्थी तस्यैव धर्मस्य समर्थको भवति । यथा वमेर्विधौ वमनसमये वक्त्रं मुखमूह्यमुत्स्फाल्यमस्ति यद्यपि, किन्तु तथैव विरेचने मलोत्सर्गसमये गुह्यमङ्गमेव विस्फाल्यमिति सम्प्रति दृश्यते ॥७९॥

तत्त्वं त्वदुक्तं सदसत्स्वरूपं तथापि धत्ते परमेव रूपम् ।
युक्ताप्यहो जम्भरसेन हि द्रागुपैति सा कुङ्कुमतां हरिद्रा ॥८०॥

---

हे अर्हन् ! आपके द्वारा कथित भेदाभेदात्मक पदार्थको जब मैं पूर्णरूपसे ग्रहण करता हुआ कहना चाहता हूँ, तब पत्नीके पुत्रके समान कह नहीं सकता हूँ। तात्पर्य यह है कि पुरुषकी पत्नीको उसका पुत्र माता कहता है और पति पत्नी कहता है। उसे सर्वथा न मातारूप कहा जा सकता है और न पत्नीरूप, क्योंकि उसमें माता और पत्नीका व्यवहार पुत्र और पतिकी अपेक्षासे है, इसी तरह किसी वस्तुको भेद और अभेद दोनों रूप कहा जाता है। प्रदेशभेद न होनेके कारण वस्तु अपने गुणोंसे अभेदरूप है और संज्ञा, लक्षण आदिकी अपेक्षा भेद रूप है। दो रूप वस्तुको एकान्त रूपसे एक रूप कहना तलवारसे आकाशको खण्डित करनेके समान अशक्य है ॥७८॥

**अर्थ**—कोई पुरुष जब द्वयात्मक वस्तुको ग्रहण कर रहा है, तब वह जिसका इच्छुक होता है उस समय उसीका समर्थक होता है। जैसे वमन करते समय मुखको विस्तृत किया जाता है और मलविसर्जन करते समय गुह्य स्थानको विस्तृत किया जाता है ॥७९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तत्त्वमित्यादि—हे देव ! त्वदुक्तं तत्त्वं यद्यपि सदसत्स्वरूपं कथंचित् स्वचतुष्टयेन सद्रूपं परचतुष्टयेन चासद्रूपमिति, तथापि परमेव रूपं धत्तेऽनुकरोति। यथा हरिद्रा जम्भरसेन युक्ता सती हि द्राक् शीघ्रमेव सा कुङ्कुमतामुपैति स्वीकरोति, न तु हरिद्रारूपेण तिष्ठति न च जम्भरसात्मतामेति ॥८०॥

**अङ्गाङ्गिनोर्नैक्यमिती हरीतिर्न भोः प्रभो भाति यथाप्रतीति ।**
**सत्या त्वदुक्तिः शतपत्रनीतिर्गुणेषु नष्टेषु परेऽपि हीतिः ॥८१॥**

अङ्गाङ्गिनोरित्यादि—भो प्रभो ! अङ्गं चाङ्गी चाङ्गाङ्गिनौ तयोर्द्वयोर्नैक्यमेव पृथक्त्वमेवेहास्तीति रीतिः शब्दप्रयुक्तिर्यथाप्रतीति न भाति समुचिता न प्रतीयते, किन्तु त्वदुक्तिः पत्राणां शतं तदेवैकीभूय शतपत्रं कमलमिति कथनरूपा सत्या सम्भवति, यतो गुणेषु नष्टेषु सत्सु परेऽपि गुणिन्यपीतिर्हि नियमेन भवतीति ॥८१॥

**येषां मतेनाथ गुणः स्वधाम्ना सम्बध्यते वै समवायनाम्ना ।**
**तेषां तदैक्यात्किल संकृतिर्वाऽनवस्थितिः पक्षपरिच्युतिर्वा ॥८२॥**

येषामित्यादि—अथ येषां मतेनं गुणो ज्ञानादिः स स्वधाम्ना गुणिनाऽऽत्मना सार्द्धं समवायनाम्ना सम्बन्धेन सम्बध्यते वै निश्चयेन, तेषां तस्य सम्बन्धस्यैक्यादेवत्वात्किल

---

अर्थ—हे देव ! आपके द्वारा कहा हुआ तत्त्व यद्यपि सदसत्स्वरूप है–स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सद्रूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा असद्रूप है, तथापि वह एक तृतीय रूपको ही प्राप्त होता है। जैसे हलदी नीबूके रससे युक्त होती हुई शीघ्र ही केशररूप–लालरूप हो जाती है, न हलदीरूप रहती है और न नीबूके रसरूप ॥८०॥

अर्थ—हे प्रभो ! अङ्ग और अङ्गी–अवयव और अवयवीमें ऐक्य–अभेद नहीं है, पृथक्ता ही है, ऐसा कहना ठीक नहीं जान पड़ता, परन्तु आपका अभेद कथन शतपत्रके समान सत्य है, जैसे कि सौ पत्रों–कलिकाओंका समूह शतपत्र–कमल कहलाता है। यहाँ सौ पत्रों और कमलमें भेद नहीं है–अभेद है, क्योंकि एक-एक पत्रके पृथक् करने पर शतपत्र–कमल ही नष्ट हो जाता है। यही बात गुण और गुणीमें भी है। प्रदेशभेद न होनेसे गुण-गुणीमें अभेद है, क्योंकि गुणोंके नष्ट होने पर गुणी भी नष्ट हो जाता है ॥८१॥

अर्थ—जिनके मतमें गुण गुणोके साथ समवाय सम्बन्धसे सम्बन्धको प्राप्त होता है, उनके मतमें समवायके एक होनेके कारण संकर, अनवस्थिति और प्रतिज्ञाहानिरूप दोष आते हैं।

भावार्थ—वैशेषिक दर्शन गुणको गुणीसे भिन्न मानता है, जैसाकि आत्माका ज्ञान और आकाशका शब्द गुण क्रमशः आत्मा और आकाशसे भिन्न है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



संकृतिः संकरनामदोषः संजायते, यतो ज्ञानं नाम गुणो व्यापकेनैकेन समवायसमवाये-नात्मनि सम्बध्यते तेनैवाकाशेऽपि सम्बन्ध्यतामिति। शब्दश्च यथाकाशे तथात्मनि सम्बन्ध्यतामिति सर्वसंकरः। यद्वा ज्ञानमाकाशे शब्दश्चात्मनि सम्बन्ध्यतां को नियामको यज्ज्ञानमात्मन्येव सम्बन्ध्यतामित्यनवस्थितिर्नाम दोषोऽन्यथा तु पुनः पक्षस्य परिच्युतिः, प्रतिज्ञाहानिर्नाम दोषो यतो ज्ञानात्मनोः सम्बन्धकः समवायो भिन्नः शब्दाकाशयोः सम्बन्धको भिन्न इति स्यात् ॥८२॥

**सम्मेलनं नो तिलवत् प्रसक्तिर्नान्धाश्मवच्चैतदशक्यभक्तिः।**
**सत्तावयोरस्ति तदात्मशक्तिस्तद्दीपदीप्त्योरिव तेऽनुरक्तिः ॥८३॥**

सम्मेलनमित्यादि—सद् वस्तु आत्मादि तत्त्वं च तस्य भावो गुणो ज्ञानादितयास्तित्वं च, तिलं तैलश्च तयोः प्रसक्तिरिवापूर्वापि पृथग् भावरूपा प्रसक्तिर्यत्र तन्नो भवति, तथान्धाश्मवदशक्या कर्तुमयोग्या भक्तिर्विभागभावो ययोर्यत्रेति किलाशक्यभक्तिः

---

परन्तु उसके मतमें गुणका गुणीके साथ समवायसम्बन्ध माना गया है। यतश्च समवाय एक है और व्यापक है, तब ज्ञानका सम्बन्ध आत्माके ही साथ हो और शब्दका सम्बन्ध आकाशके ही साथ हो इसका नियामक कौन है? नियामकके अभावमें ज्ञानका आकाशके साथ और शब्दका आत्माके साथ सम्बन्ध होनेसे संकर और अनवस्था नामका दोष आ जाता है। इनसे बचनेके लिये यदि आत्मा और ज्ञानका सम्बन्ध करानेवाला समवाय दूसरा है तथा शब्द और आकाशका सम्बन्ध करानेवाला समवाय दूसरा है, ऐसा माना जाय तो समवाय एक है तथा व्यापक है इस पक्षको—मान्यताको हानि होती है। फलतः- गुण और गुणीमें प्रदेशभेद न होनेसे एकरूपता है, मात्र संज्ञा, संख्या तथा लक्षण आदिकी अपेक्षा भेद है। गुण गुणीरूप है और गुणी गुणरूप है, अतः इनमें तादात्म्य सम्बन्ध है। तादात्म्य सम्बन्धमें जिस द्रव्यका जो गुण है उसका उसीके साथ तादात्म्य होता है, अतः संकरादि दोषोंकी आपत्ति नहीं आती ॥८२॥

**अर्थ**—सत् और सत्ता इनका संबन्ध न तो तिल और तैलके समान है और न अन्धपाषाण और सुवर्णके समान है, किन्तु दीपक और दीप्ति-प्रकाशके समान है। जिस प्रकार दीपक और दीप्तिका तादात्म्य सम्बन्ध है, उसी तरह सत् और सत्ताका तादात्म्य सम्बन्ध है।

**भावार्थ**—यद्यपि तिल और तैलका सम्बन्ध एकरूप दिखायी देता है, तथापि तैल तिलसे अलग हो जाता है, अतः उन दोनोंमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसी तरह अन्धपाषाणमें जो सुवर्ण है, उसे यद्यपि पृथक् नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


सम्मेलनमपि न भवति, किन्तु ते मते तयोर्दीपदीप्त्योरिव दीप एव दीप्तिः, दीप्तिरेव च दीपः, केवलं लक्षणप्रयोजनादिना तु भेदः साध्यते, किन्तु सत्तया नानयोर्भेद इति तदात्मशक्तिस्तादात्म्यशक्तिस्तादात्म्यसम्बन्धो गुणगुणिनोरिति तेऽनुरक्तिः प्रतिपत्तिरस्ति ॥८३॥

**न सत् सदैकं गुणसंग्रहत्वाद् घृतादयो मोदकमस्तु तत्त्वात् ।**
**अनैक्यमेवास्य तथैतु किञ्चिदेकैकतोऽनैक्यमुपैति किञ्चित् ॥८४॥**

न सदित्यादि—हे प्रभो ! तव मते सत् सर्वदा सर्वथा किलैकमेव न भवति, गुणानां संग्रहत्वात् । तद्यथा मोदकं घृतादय एव मोदकरूपेणैकं कथ्यते, किन्तु तत्त्वात्तद् घृतं च शर्करा च पिष्टं चैतेषां संग्रह एवेति । तथा चानैक्यमपि सदा सर्वदा सर्वथा सत इति चिद् बुद्धिः किमेतु किन्तु नैतु, यतः किञ्चिदपि चानैक्यमुपैति तदेकैकत एवोपैति नान्यथा ॥८४॥

**दारा इवारात्पदवाच्यमेकमनेकमप्येतितरां विवेकः ।**
**समस्तु वस्तुप्रतिरूपवेशमुद्बोधनायास्त्वथवैकशेषः ॥८५॥**

---

किया जा सकता, तथापि अन्धपाषाण और सुवर्णमें अभेद नहीं माना जाता, क्योंकि दोनोंकी जातियाँ पृथक् पृथक् हैं, दोनोंके प्रदेश अलग-अलग हैं, साधनके अभावसे वे अलग अलग नहीं हो पाते । सत् और सत्तामें तादात्म्य सम्बन्ध है, इनमें प्रदेशभेद नहीं है, अतः दीपक और दीप्तिके समान इनमें तादात्म्य माना जाता है । तिल और तैलके समान इनमें पृथक् भाव नहीं होता ॥८३॥

अर्थ—सत् सर्वथा एक नहीं है, क्योंकि वह अनेक गुणोंका संग्रह रूप है । घृत, शक्कर और आटा आदिको मिलाकर लड्डू बनाया जाता है, अतः वह देखनेमें एक प्रतीत होता है । परजिन पदार्थोंके संग्रहसे बना है । उनकी ओर दृष्टि देनेसे वह अनेकरूप हो जाता है । परन्तु जीवादि द्रव्यरूप सत् अनेक गुणोंके संग्रह रूप होनेसे लड्डूकी तरह अनेकरूपताको नहीं प्राप्त होता, क्योंकि घृत, शर्करा आदि पदार्थ अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व लिये हुए लड्डूमें संगृहीत होकर एकरूप दिखते हैं, इस प्रकार जीवादि द्रव्योंमें रहने वाले ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण अपनो अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखते और न कभी जीवादि द्रव्योंसे पृथक् थे । इसलिये सत्में जो अनेकत्व है वह उसमें अनेक गुणोंके साथ तादात्म्य होनेसे है, संग्रहरूप होनेसे नहीं । अनेक गुणोंका ओर दृष्टि देनेसे जीवादि सत् अनेक रूप जान पड़ते हैं, परन्तु उन सबमें प्रदेशभेद न होनेसे परमार्थसे एकरूपता है ॥८४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



दारा इत्यादि—विवेको विचारोऽपि दारा इति पदस्य वाच्यमेकं चानेकचारादेव निसर्गभावेनैवेतितरामुपैति किल रूपस्य वेशं वेशं प्रति प्रतिरूपवेशं वस्तु समस्तु। अथ य एकशेषो नाम समासो निर्दिष्टः शाब्दिकैः, सोऽपि वा निश्चयेनोद्बोधनाय तस्य प्रस्पष्टीकरणायैवास्तु ॥८५॥

**अद्वैतवादोऽपरिणामभृत् स्याददृष्टहृद्दृष्टविरोधकृत् स्यात्।**
**किं यातु सेतुं च तदीयहेतुर्विरुद्धता द्वीपवतीभरे तु ॥८६॥**

अद्वैतवाद इत्यादि—यदि किलाद्वैतमेकवस्तु नान्यद् इति वादोऽद्वैतवादः स स्याच्चेत्सोऽप्यपरिणामभृत् स्यात् किल निर्हेतुकत्वात्। तत्र परिणामस्य को हेतुः स्यात्? कोऽपि न स्यात्। तत एष वादोऽदृष्टहृद् दृष्टस्य नवीनजातस्य हृदवलोपकरः स्यादेवं स दृष्टस्य दृष्टिपथगतस्य समुत्पद्यमानस्य वैचित्र्यस्य विरोधकृत् स्यात् सम्भवेत्। यदि तस्य हेतुस्तदीयहेतुः स प्रकल्प्यते चेत् स पुनर्विरुद्धतैव द्वीपवती नदी तस्या भरे प्रवाहे किं सेतुं यातु? किन्तु नैव यातु। य एव हेतुः प्रकल्प्येत स ततोऽन्य इति विरुद्धताकारकः स्यात् ॥८६॥

---

अर्थ—यह भी एक विचार आता है कि जिस प्रकार स्त्री वाची 'दार' शब्द एक स्त्रीके रहने पर भी 'दारा' इस प्रकार बहु संख्यामें प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार सत् भी एक होकर भी अनेकरूपताको प्राप्त होता है। वैयाकरणोंने जिस प्रकार 'रामश्च, रामश्च, रामश्चेति रामाः' इस द्वन्द्व समासमें अनेक राम शब्दोंको एक राम शब्दमें समाविष्ट कर अनेकमें एकत्वको प्रकट किया है, उसी प्रकार पर्यायगत अनेकरूपताको गौणकर द्रव्यमें भी आचार्योंने एकरूपता स्वीकृत की है। तात्पर्य यह है कि सत् एक भी है और अनेक भी है। द्रव्यार्थिक नय–सामान्यकी विवक्षामें द्रव्य एक है और पर्यायार्थिक नय–विशेषकी विवक्षामें अनेक हैं ॥८५॥

अर्थ—यदि एक अद्वैतवादको ही स्वीकृत किया जावे तो वह परिणाम–परिवर्तनसे रहित होगा। परिणामका कारण स्वीकृत किये बिना स्वयं परिणाम हो नहीं सकता और परिणामका कारण स्वीकृत किया जावे तो अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार यह माना जाय कि संसारमें सब पदार्थ पहलेसे विद्यमान हैं, अदृष्ट वस्तु कुछ भी नहीं है तो यह मान्यता भी प्रत्यक्ष दिखने वाली विचित्रताका विरोध करनेवाली है, नित्य नयी-नयी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, इसका विरोध होगा। परिणाम नवीन विचित्र वस्तुओंकी उत्पत्ति का कारण माना जाय तो अद्वैतादि मान्यतामें विरुद्धता आती है। इस विरुद्धता रूप नदीके प्रवाहमें पुल क्या होगा? विरुद्धताका परिहार कौन करेगा ॥८६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**भावैकतायामखिलानुवृत्तिर्भवेदभावेऽथ कुतः प्रवृत्तिः ।**
**यतः पटार्थी न घटं प्रयाति हे नाथ ! तत्त्वं तदुभानुपाति ॥८७॥**

भावैकताया इत्यादि—यदि भाव एव सर्वस्य सर्वथा सर्वदेति वादः स्वीक्रियेत, तदा तस्यां भावैकतायाम् अखिलानुवृत्तिर्भवेत् सर्वत्र प्रवृत्तिरेव स्यान्न निवृत्तिरिति, तथा थाभाव एव सर्वस्येति कथने पुनर्लोकस्य या प्रवृत्तिर्भवति सा कुतः स्यात् ? या दृश्यते हे नाथ ! पटस्य वस्त्रास्यार्थी जनो घटं न प्रयाति न स्वी करोति ततस्तत्त्वं वस्तु तदुभानुपाति सदसदात्मकमेवेति ॥८७॥

**अंशीह तत्कः खलु यत्र दृष्टिः शेषः समन्तात् तदनन्य सृष्टिः ।**
**स आगतोऽसौ पुनरागतो वा परं तमन्वेति जनोऽत्र यद्वाक् ॥८८॥**

अंशीहेत्यादि—अनेकधर्मात्मके वस्तुनि यत्र खलु जनस्य दृष्टिः स्यात् तत्कस्तन्मात्र एवेहांशी स्यात्, ततोऽन्यः शेषः सर्वोऽपि धर्मसमूहः स तदन्यसृष्टिस्ततोंऽशितोऽनन्या

---

अर्थ—यदि भावरूप ही पदार्थको माना जावे तो सबकी सब पदार्थोंमें प्रवृत्ति होनी चाहिये और सर्वथा अभावरूप ही पदार्थको माना जाय तो प्रवृत्ति किस कारण होगी ? क्योंकि वस्त्रका इच्छुक मनुष्य घटको प्राप्त नहीं होता। इसलिये हे प्रभो ! पदार्थ भाव और अभाव दोनों रूप है ।

भावार्थ—यदि अन्योन्यानुभावके माध्यमसे घटमें पटका अभाव न माना जाय तो पटके इच्छुक मनुष्यकी घटमें प्रवृत्ति होनी चाहिये, पर नहीं होती, इससे जान पड़ता है कि घटमें पट नहीं है और पटमें घट नहीं है। एक पर्यायका दूसरी पर्यायमें नहीं होना अन्योन्यानुभाव कहलाता है। एक द्रव्यका दूसरा द्रव्यरूप नहीं होना अत्यन्ताभाव कहलाता है। कार्योत्पत्तिके पूर्व पर्यायमें कार्यका अभाव होना प्रागभाव कहलाता है और वर्तमान पर्यायके नष्ट होनेको प्रध्वंसाभाव कहते हैं। उपर्युक्त चारों अभावोंको जिनागममें स्वीकृत किया गया है। इसलिये पदार्थ भाव-अभाव—दोनों रूप है ॥८७॥

अर्थ—इस जगत्में अंशी कौन है ? जिस पर दृष्टि होती है, वही अंशी है और सब ओर विद्यमान शेष पदार्थ अन्य रूप हैं। जैसे जनसमूहके आनेपर मनुष्यकी जिसपर दृष्टि–अपेक्षा होती है, उसके लिये कहता कि वह आ गया और यह फिर आ गया। इस प्रकार जिस जिसकी अपेक्षा करता है, वही अंशी हो जाता है, तद्रूप कहलाने लगता है और शेष अतद्रूप ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



सृष्टिर्यस्य स समन्तात् सर्वस्तदंशरूपतापन्नो भवेत् । यतोऽत्र जनो यद्वाग् यदपेक्षको भवति जनसमूहे समायाते स आगतो वा न वाऽसौ पुनरागत इति परं तमेवान्वेति ॥८८॥

**नित्यैकतायाः परिहारकोऽब्दः क्षणस्थितेस्तद्विनिवेदिशब्दः ।**
**सिद्धोऽधुनार्थः पुनरात्मभूप ! संज्ञानतो नित्यतदन्यरूपः ॥८९॥**

नित्यैकताया इत्यादि—हे आत्मभूप ! नित्यमेवैकं नानित्यमिति विचारो नित्यैकता तस्याः परिहारकः प्रतिवादकरोऽब्दो मेघ एव, योऽकस्मादुत्पद्यते पुनर्लयमप्येतीति । तथा तद्विनिवेदिशब्दस्तदुत्थो गर्जनात्मक शब्दः सोऽप्यनेकक्षणस्थायित्वात् क्षणस्थितेः परिहारको भवति, यतो यत्रानेकक्षणस्थायित्वं तत्र पुनः सर्वदा स्थायित्वेन कोऽस्तु द्वेष इति किलाऽधुना संज्ञानतो यः पुरा बालः स एवाधुना युवायमिति प्रत्यभिज्ञानतो नित्यतदन्यरूपो नित्यानित्यात्मकोऽर्थः सिद्धोऽस्ति[1] ॥८९॥

**काष्ठं यदादाय सदा क्षिणोति हलं तटस्थो रथकृत् करोति ।**
**कृष्टा सुखी सारथिरेव रौति न कस्त्रिधा तत्त्वमुरीकरोति ॥९०॥**

काष्ठमित्यादि—यो रथकृत्तक्षकः काष्ठमादाय सदा तत् क्षिणोति तादृगाजीवनोऽस्ति स यदा तटस्थः सन् हलं करोति तदा कृष्टा कृषीवलः स तु स्वेच्छानुकूल

---

भावार्थ—अनेक धर्मात्मक वस्तुमें जिस समय जिस धर्मकी विवक्षाकी जाती है, उस समय वह वस्तु तद्रूप हो जाती है और शेष वस्तु अतद्रूप ॥८८॥

अर्थ—हे आत्मभूप ! नित्यैकताका परिहार करने वाला मेघ है और मेघसे उत्पन्न हुआ शब्द क्षणस्थिति–अनित्यैकताका प्रतिषेध करने वाला है। प्रत्यभिज्ञानसे नित्य और अनित्यकी सिद्धि होती है, अर्थात् जिसके विषयमें यह ज्ञान हो कि यह वही है जिसे पहले देखा था वह नित्य है और जिसके विषयमें 'यह वह नहीं है' इस प्रकारका बोध हो वह अनित्य है। मेघ अकस्मात् उत्पन्न होता है और अकस्मात् विलीन हो जाता है, इससे पदार्थकी अनित्यताका बोध होता है। और मेघसे उत्पन्न हुआ शब्द अनेक क्षण तक विद्यमान रहता है, इससे पदार्थ सर्वथा अनित्य नहीं है यह सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि पदार्थ नित्यानित्यात्मक है। द्रव्य दृष्टिसे नित्य है और पर्याय दृष्टिसे अनित्य ॥८९॥

अर्थ—कोई बढ़ई लकड़ी लेकर सदा छीलता है, छीलता हुआ यदि वह स्वेच्छासे हल बना देता है तो किसान सुखी हो जाता है और रथका इच्छुक

---

१. नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः ।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते ॥ आप्तमीमांसा



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



साधनतया सुखी भवति, किन्तु यः सारथिः स स्वसाधनाभावाद्रौति विलक्ष एव भवति । ततः स को बुद्धिमान् यस्तत्त्वं त्रिधा व्ययोत्पादस्थितिमदिति नोरीकरोति, किन्तु न कश्चिदपि ॥९०॥

**विशेषतद्व्यक्तिगतं नरत्वं विशिष्यते गोकुलतस्ततस्त्वम् ।**
**सामान्यशेषौ तु सतः समृद्धौ मिथोऽनुविद्धौ गतवान् प्रसिद्धौ ॥९१॥**

विशेषेत्यादि—नरत्वं नाम सामान्यं तन्निःशेषास्तद्व्यक्तयो ब्राह्मणक्षत्रिय-वैश्यशूद्ररूपास्तत्र गतं गोकुलतो वचनाद्विशिष्यतेऽङ्गीक्रियते, ततो हे भगवँस्त्वं सामान्यं च शेषो विशेषश्च तौ द्वौ सतो वस्तुनः समृद्धौ सम्पूर्णरूपेण समर्थौ प्रत्येक-वस्तुनः सामान्यमपि समानार्थकमात्मनिष्ठं यथा विलक्षणतार्थको विशेष इति तौ द्वौ धर्मौ मिथोऽनुविद्धौ यन्नरत्वं सामान्यं तद् ब्राह्मणत्वाद्यपेक्षया, ब्राह्मणत्वादिश्च तस्य नरत्वस्य विशेष इति तथा ब्राह्मणत्वमपि गौडत्वाद्यपेक्षया सामान्यं गौडत्वादिश्च तस्य विशेष इत्यनुविद्धता सुस्पष्टैवेत्येवं प्रसिद्धौ त्वं गतवाननुभूतवान् हे भगवन् ! ॥९१॥

**सदेतदेकं च नयादभेदाद् द्विधाऽभ्यधास्त्वं चिदचित्प्रभेदात् ।**
**विलोडनाभिर्भवतादवश्यमाज्यं च तक्रं भुवि गोरसस्य ॥९२॥**

सदेतदित्यादि—हे प्रभो ! सदिति सामान्यं वस्तु तदपि चाभेदान्नयादेवैकं भवति । भेदान्नयात् तु पुनस्त्वं चिच्चेतनात्मकमचिज्जडात्मकमिति प्रभेदाद् द्विधा द्विरूपतयाऽभ्यधा उक्तवान् । यथावश्यमेव विलोडनाभिर्गोरसस्यैकस्यैवाज्यं घृतं तक्रं च मथितमिति भवतादेवेति द्विरूपं पृथक् पृथग् भुवि ॥९२॥

---

सारथि दुःखी हो जाता है और बढ़ई तटस्थ रहता है, अर्थात् हर्ष विषाद कुछ भी नहीं करता, क्योंकि वह आजीविकाकी दृष्टिसे काष्ठको छील ही रहा था। यह देखकर ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप स्वीकृत न करे[1] ॥९०॥

अर्थ—हे भगवन् ! नरत्व-मनुष्यत्व ब्राह्मणादि विशेष व्यक्तियोंमें व्याप्त होनेसे सामान्य है और ब्राह्मणत्व आदि विशिष्ट व्यक्तियोंमें व्याप्त होनेसे विशेष है। इस प्रकार सामान्य और विशेष सत्-पदार्थके समृद्ध-परिपूर्ण परस्पर में सम्बद्ध और प्रसिद्ध धर्म हैं। इन्हें आपने अनुभूत किया है-स्वीकृत किया है ॥९१॥

अर्थ—हे भगवन् ! इस सत्को आपने अभेदनयसे एक और भेदनयकी

---

१. घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ आप्तमीमांसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**भवन्ति भूतानि चितोऽप्यकस्मात्तेभ्योऽथ सा साम्प्रतमस्तु कस्मात् ।**
**स्वलक्षणं सम्भवितास्ति यस्मादनादिसिद्धं द्वयमेव तस्मात् ॥९३॥**

भवन्तीत्यादि—हे भगवन् ! प्रभो ! चितो बुद्धितो विलक्षणरूपातोऽकस्माद् भूतानि पृथिव्यादिकानि भवन्त्यपि किम् ? यथा ब्रह्मवादिभिर्निरूप्यते तथा किन्तु नैव भवितुमर्हन्ति । अथ पुनस्तेभ्यो भूतेभ्यश्चेतनतारहितेभ्यस्सात्यन्तविलक्षणा चिदपि कस्मादस्तु यथा बृहस्पतिमार्गानुगामिभिर्गीयते । यस्मात्कारणात्पदार्थः स्वलक्षणं निजलक्षणानुसारं यथा स्यात्तथैव किल सम्भवितास्ति प्रभवितुमर्हति न चेतनोऽचेतनरूपेण न चाचेतनश्चेतनतयेति तस्माद् द्वयमेवानादिसिद्धमस्ति साम्प्रतं यद् दृश्यते ॥९३॥

**भो गोमयादाविह वृश्चिकादिश्चिच्छक्तिरायाति विभो अनादि ।**
**जनोऽप्युपादान विहीनवादी वह्निं च पश्यन्नरणे प्रमादी ॥९४॥**

भो गोमयादावित्यादि—भो विभो ! गोमयादावपीह वृश्चिकादिश्चिच्छक्तिश्चेतनात्मक आयाति सोऽप्यनादिरेवायाति । गोमयादितस्तु तस्याङ्गमेव यदचेतनं तदेव प्रभवति । योऽरणेः परस्परं वेणुसंघर्षाद् वह्निं पश्यन् किलोपदानाद्विहीनमपि जायतेऽत्रेति

---

अपेक्षा चेतन-अचेतनके प्रभेदसे दो प्रकारका कहा है। यह ठीक ही है कि विलोडन करनेसे पृथिवीपर गोरसके घो और तक्रके भेदसे दो भेद अवश्य हो जाते हैं ॥९२॥

**अर्थ**—चित्-बुद्धिसे अकस्मात् पृथिवो आदि भूत कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? और अचेतन भूतोंसे चित्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि अपने लक्षणके अनुसार ही पदार्थका उत्पन्न होना सम्भव है। इससे सिद्ध है कि सत्के चेतन-अचेतन भेद अनादिसे सिद्ध हैं।

**भावार्थ**—ब्रह्मवादी-वेदान्तियोंका यह कहना कि चेतन रूप ब्रह्मसे सबकी उत्पत्ति होती है और चार्वाकोंका यह कहना है कि पृथिवी आदि भेदोंसे चेतनकी उत्पत्ति होती है, दोनों मिथ्या है, क्योंकि चेतन-अचेतनका कारण नहीं हो सकता और अचेतन चेतनका कारण सम्भव नहीं है । इसलिये चेतन-अचेतन पदार्थोंकी उत्पत्ति अपने अपने उपादानसे होती है । ऐसा आपने कहा है ॥९३॥

**अर्थ**—हे प्रभो ! गोबर आदि अचेतन पदार्थोंसे बिच्छू आदि चेतन शक्तिको उत्पत्ति होती है, ऐसा जो कहते हैं उनका कहना वह ठीक नहीं है, क्योंकि चेतन शक्ति तो अनादि है, गोबर आदिसे मात्र उनका शरीर उत्पन्न होता है। इसी तरह अरणि नामक लकड़ीसे अग्निकी उत्पत्तिको देखकर जो यह कहता है कि उपादानके बिना भी कार्यकी उत्पत्ति होती है, वह प्रमादी है, यथार्थवादी नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वदतिः स उपादानविहीनवादी जनः प्रमादी मदोन्मत्त एव, न यथार्थवादी। यतः किलारणिरपि रूपादिमान् पुद्गलोऽग्निरपि रूपादिमानिति पुद्गल एव पुद्गलाज्जायते, नास्त्यत्र किंचिदनिष्टम् ॥९४॥

**शरीरमात्रानुभवात् सुनामिन् न व्यापकं नाप्यणुकं भणामि ।**
**आत्मानमात्माङ्गनयास्तिकामी नखाच्छिखान्तं पुलकाभिरामी ॥९५॥**

शरीरमित्यादि—हे सुनामिन् ! भगवन् ! अहं यथा तव मते निर्दिष्टमस्ति तथैव शरीरमात्रानुभवाद्धेतोरात्मानं व्यापकं न भणामि नाप्यणुकमत्यल्परूपं भणामि कथयामि, किन्तु यावच्छरीरव्यापिनमेव जानामि, यतः कामी नामात्मा जीवः सोऽङ्गनया स्त्रिया सह संपर्कमुपेत्य नखादारभ्य शिखन्तमेव हि पुलकाभिरामी रोमाञ्चितोऽस्तिः सम्भवति ॥९५॥

**अहन्तयास्मिन् वपुषोतियुक्तस्तथा ममत्वाद्विषयेषु रुक्तः ।**
**प्रदोषतोऽस्मात् समुपैति खेदमिहायमस्यास्ति न चात्मवेदः ॥९६॥**

अहन्तयेत्यादि—हे प्रभो ! अयं मादृशः संसारी जनोऽस्मिन् वपुषि शरीरेऽहन्तया किलेदमेवाहमिति बुद्धया तथा पुनर्विषयेषु स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु रुक्तोऽभिरुचितो ममत्वान्ममैते समुपभोग योग्या इति विचारादीतियुक्तोऽस्ति परवशोऽस्ति। अस्मादेव प्रदोषतोऽपराधा- दिहायं खेदमुपैति प्राप्नोति तथा चास्य नास्त्यात्मनस्स्वरूपस्य वेदो ज्ञानमिति ॥९६॥

---

है, क्योंकि अरणि नामक लकड़ी रूपादिमान् होनेसे पुद्गल है और अग्नि भी पुद्गल है, अतः पुद्गलसे पुद्गलकी उत्पत्ति होनेमें कुछ विरोध नहीं है ॥९४॥

**अर्थ**—हे भगवन् ! सम्पूर्ण शरीरमें ही अनुभव होनेसे मैं आत्माको न तो व्यापक कहता हूँ और न अणुमात्र कहता हूँ, क्योंकि कामी-कामेच्छासे सहित जीव स्त्रीके साथ संपर्क होने पर नखसे लेकर शिखा पर्यन्त रोमाञ्चित होता है।

**भावार्थ**—कुछ लोगोंका कहना है कि आत्मा समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त है और कुछ का कहना है कि अणुमात्र है, अलात चक्रके समान समस्त शरीरमें शीघ्रतासे घूमता रहता है। पर हे जिनेन्द्र ! आपका कहना है कि इस जीवको जितना छोटा या बड़ा शरीर प्राप्त होता है उसीमें व्याप्त होकर रहता है, क्योंकि कामी मनुष्य स्त्रीके संपर्कसे समस्त शरीरमें रोमाञ्चित होता हुआ विषय सुखका अनुभव करता है ॥९५॥

**अर्थ**—यह संसारी प्राणी इस शरीरमें आत्मबुद्धिसे तथा इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें रुचिपूर्वक ममत्व भावसे युक्त है। इसी अहंकार और ममकार रूप अपराधसे यह प्राणी संसारमें खेदको प्राप्त होता है। इसे आत्मज्ञान नहीं है ॥९६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


त्वमीश्वराहंममकारवेशं संक्लेशदेशं जितवानशेषम् ।
प्रक्षीणदोषावरणोऽथ चिद्वान् समस्तमारात् स्फुटमेव विद्वान् ॥९७॥

त्वमित्यादि—हे ईश्वर ! भगवन् ! त्वं पुनरथाहंकारश्च ममकारश्चाहंममकारौ समासभावादेकस्य कारशब्दस्य लोपस्तयोर्यो वेशः सन्निवेशस्तं ततश्च जायमानं संक्लेशदेशं कष्टभावमप्यशेषं संपूर्णं जितवानसि, ततो दोषो रागादिभाव आवरणं चाज्ञानं च ते दोषावरणे प्रक्षीणे दोषावरणे यस्य स त्वं चिद्वानित्यनेन शुद्धज्ञानवान् भवन् आरादेककालमेव समस्तं पदार्थजातं स्फुटं प्रस्पष्टरूपं विद्वान् संज्ञातवान् ॥९७॥

यन्मीयते वस्त्वखिलप्रमाता भवेदमेयस्य तु को विधाता ।
श्रुत्याखिलार्थाधिगमोऽप्यशक्त्याऽवलोक्यते भुव्युपनेत्रयुक्त्या ॥९८॥

यन्मीयत इत्यादि—यदस्ति वस्तु तन्मीयते मेयगुणाधारो भवति प्रमाणेगम्यतामुरीकरोति यतः किलामेयस्य प्रमेयताविरहितस्य तु पुनर्विधाता विधानकर्ता को भवेदतोऽखिलप्रमाता सर्वज्ञो भवेदेव । भुवीह श्रुत्या वेदद्वाराऽखिलानामर्थानामधिगमो भवत्येव न तु प्रत्यक्षत इति चेत् ? किलाशक्त्या नयनयोः शक्त्यभावे सत्युपनयनयुक्त्याऽवलोक्यते, यस्य शक्तिः स स्वयमवलोकयेदेवेत्यायातं भगवन् ! अस्मिन् विषये विशेष वर्णनं जैनन्यायशास्त्रे द्रष्टव्यम् ॥९८॥

सम्बोधयत्वत्र न सम्पदेव गुर्विवाचामिह कश्चिदेव ।
युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धकोष ! भवेद्भवानेव स मुक्तदोषः ॥९९॥

---

अर्थ—हे ईश्वर ! हे भगवन् ! आपने अहंकार और ममकारके सन्निवेश तथा संक्लेशके समस्त स्थानोंको जीत लिया है, साथ ही रागादि भावरूप दोष और ज्ञानावरणादिके क्षीण—नष्ट हो जानेसे आप चिद्वान् शुद्धात्मरूप हैं तथा समस्त पदार्थोंको स्पष्ट रूपसे जानते हैं, अर्थात् आप वीतराग—सर्वज्ञ हैं ॥९७॥

अर्थ—जो वस्तु प्रमेय है—प्रमेयत्व गुणका आधार है, वह अवश्य ही किसीके ज्ञानका विषय होती है, अमेय—अप्रमेयका ज्ञाता कौन हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं । इससे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है । यदि कहा जाय कि सर्वज्ञकी क्या आवश्यकता है ? श्रुति—वेदके द्वारा ही समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो जायेगा । इसका उत्तर यह है कि श्रुतिके द्वारा होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है । जिसको प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है वही श्रुतिका आलम्बन लेता है, जैसेकि जिसके नेत्रोंमें स्वयं ेकी शक्ति नहीं है वही उपनयन—चश्माके द्वारा देखता है । जिसके शक्ति है देखता है ॥९८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्बोधयत्वित्यादि—तथा वेदस्य सम्पदेव स्वयं शब्द एव स्वस्यार्थं नहि सम्बोधयतु ममायमर्थ इति निवेदयतु। ततस्तदर्थवाचकानां विवाचां परस्परविरुद्धभाषिणां मध्ये कश्चिदेव गुरुर्भवेद्यो युक्त्यागमाभ्यां युक्तितश्चागमतश्च न विरुद्धः कोषः शब्दार्थौ यस्य तस्य सम्बोधनं हे युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धकोष! सोऽपि भवानेव यतोऽसि मुक्तदोषो दोषरहित इति ॥९९॥

**सेवन्तु देवन्तु परे परोक्षेऽप्यनन्यवित्का यदि वाऽऽदरोऽक्षे।**
**त्वच्छासनैकाशनकानुयुक्ती हे देव देव्यावपि भुक्तिमुक्ती ॥१००॥**

सेवन्त्वित्यादि—हे देव! यदि वा पुनर्येषामक्षे स्पर्शनादौ हृषीक एवादरस्ते परेऽपि लोका वैषयिकसुखाधीनाः स्वकीये परोक्षे प्रत्यक्षतारहितज्ञानेऽनन्यवित्कास्त्वदपरज्ञानरहिताः सन्तस्तत्तदेवनाम्ना देवं त्वामेव तु सेवन्तु समाराधयन्तु, यतः किल भुक्तिश्च मुक्तिश्च भुक्तिमुक्ती त्रिवर्गापवर्गसम्पदे द्वे अपि देव्यौ त्वच्छासनमेव तव मतमेवैकमशनकं भोजनं तत्रानुयुक्तिरासक्तिर्ययोस्ते स्तः। लौकिकसम्पदपि लोकोत्तरसम्पदपि तव शासनादेव स्त इति ॥१००॥

**निधीयते येन च ते समाधिर्न व्याधिरेनं व्रजतीह नाधिः।**
**चिकित्सको निर्विचिकित्सकोऽसि पापात्मनामच्युत हे सुतोषिन् ॥१०१॥**

निधीयत इत्यादि—हे सुतोषिन्! भगवन्! ते तव समाधिर्ध्यानं समादरो वा निधीयते स्वीक्रियते तमेनं जनं न तु व्याधिः शारीरिकरोगो व्रजति प्राप्नोति न चाधि-

---

अर्थ—एक बात यह भी है कि वेदके शब्द स्वयं अपने अर्थको नहीं बतलाते कि मेरा यह अर्थ है। अतः परस्पर विरुद्ध अर्थको प्रतिपादन करनेवालोंके मध्य कोई गुरु अवश्य होना चाहिये और युक्ति तथा आगमसे अविरुद्ध शब्दार्थोंसे सहित हे भगवन्! वह गुरु आप ही हो सकते हैं, क्योंकि आप ही रागादि दोषोंसे रहित हैं ॥९९॥

अर्थ—हे देव! जिनका स्पर्शनादि इन्द्रियोंमें आदर है, ऐसे अन्य लोग भी अपने परोक्ष ज्ञानमें आपसे अतिरिक्त अन्य देवोंको न जानते हुए आपकी ही सेवा करें, क्योंकि भुक्ति–सांसारिक सुख और मुक्ति–पारमार्थिक सुख रूप जो देवियाँ हैं, वे आपके ही शासनरूप भोजन में अनुरक्त हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आपकी आराधनासे भुक्ति और मुक्ति–दोनों प्राप्त होती हैं, अतः जो भुक्ति–सांसारिक सुख चाहते हैं उन्हें भी आपकी उपासना करनी चाहिये ॥१००॥

अर्थ—हे सुतोषिन्! हे भगवन्! जिसके द्वारा आपका ध्यान ध-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मानसिकः खेदो यतस्त्वं निर्विचिकित्सको घृणारहितः सन् पापात्मनामपि चिकित्सको व्यथाहरोऽसि ॥१०१॥

भगवन् ! सुभक्तिगङ्गा समुत्तरङ्गा त्वदङ्घ्रिहितरङ्गात् ।
मां वामदेवमारात् पुनातु चातुच्छविस्तारा ॥१०२॥

भगवन्नित्यादि—हे भगवन् ! सुभक्तिर्गुणानुरागरूपा सैव गङ्गा प्रसरणशीलत्वात् सा तवाङ्घ्री चरणावेव हितं पथ्यं तस्य रङ्गात् स्थानादतुच्छो बहुमानपूर्णो विस्तारो यस्यास्सा मां वामानि वक्रतामाप्तानि यस्येन्द्रियाणि तमारादेव झगित्येव पुनातु । कीदृशी भक्तिगङ्गा ? मुदो हर्षस्य तरङ्गो यस्यां सा । वामदेवो महादेवस्यापि नाम, विष्णोश्चरणाभ्यामागता गङ्गा महादेवं पुनातीति लोकोक्तिः ॥१०२॥

संन्यासिनां जगति मृक्षणमेव मूल्यं
शक्रादिजीवनमुपैति च तक्रतुल्यम् ।
ह्राच्छाणशं परिवदाम्यपरं त्वशस्य-
मेनं सुघोष ! समयस्तव गोरसस्य ॥१०३॥

संन्यासिनामिति—सुन्दरो घोषः शब्दो यस्य स गोपालकश्च तस्य सम्बोधनं तव गोरसस्य वाण्याः सारस्य प्रसिद्धस्य गोरसस्य दुग्धस्य वास्त्येवमीदृक् समयः सिद्धान्तो यत्किल जगति संन्यासिनां त्यागवतां जीवनं तत्तु मृक्षणं नवनीतमूल्यं ततोऽन्यच्छक्रादीनां जीवनं यत्तव भक्तावेव व्ययमेति तत्तक्रतुल्यमपरन्तु यज्जीवनं न तु त्यागरूप-

---

जाता है, इस लोकमें उस पुरुषको न तो शारीरिक पीड़ा प्राप्त होती है और न मानसिक पीड़ा, क्योंकि आप पापी जीवोंके भी ग्लानिरहित चिकित्सक—वैद्य हैं, अर्थात् आप अत्यधिक पापी जीवोंका भी उद्धार करने वाले हैं ॥१०१॥

अर्थ—हे भगवन् ! जो हर्षरूपी तरङ्गोंसे सहित है तथा आपके चरणरूपी हितकारी स्थानसे निकलकर बहुतभारी विस्तारको प्राप्त हुई है, ऐसी उत्तम भक्तिरूपी गङ्गा मुझ इन्द्रियविषयाधीन पुरुषको पवित्र करे ॥१०२॥

अर्थ—हे सुघोष ! हे दिव्यध्वनिसे युक्त भगवन् ! ( पक्षमें हे गोपालक ! ) आपके गोरस—वाणीरूप रसका यह समय—सिद्धान्त है (पक्षमें दुग्धरूप गोरसका यह सार है) कि जगत्में संन्यासियों—मुनियोंका जो जीवन है, वह मृक्षण—मक्खनके समान है, इन्द्रादिकका जो जीवन है वह तक्र ( छांछ ) के तुल्य है और अन्य पुरुषोंका जो अप्रशस्त जीवन है, वह छोक ( कीट ) के समान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



मेव न च तव स्तवननिरतमेव द्वाभ्यामपि रहितं तत्तु छाणशं गोरसोत्करमिवोत्क्षेपणीयं सर्वथा निःसारं परिवदामि त्यागमहमिच्छामीति ॥१०३॥

निर्विण्णस्य जयस्य संसृतिपथात् सिद्धिं समिच्छोः पुनः
गम्भीरां समवाप्य सम्मतिमतः पृच्छां स साक्षात्कविः ।
मर्मस्पर्शितया प्रबन्धति सतां यं कंचिदीशो विधिं
धिष्ण्योत्तानितसंगतैः स्म महितो नर्मण्यविघ्नो निधिः ॥१०४॥

निर्विण्णस्येत्यादि—पुनरनन्तरं संसृतिपथात्सागारजीवनान्निर्विण्णस्य वैराग्यमाप्तस्य सिद्धिं समिच्छोर्मुक्तिमभिलषतस्सन्मतिमतः सुबुद्धिधरस्य गम्भीरां पृच्छां समवाप्य विश्लेषणीयं प्रश्नमुपेत्य स साक्षात्कविर्भगवान् यो धिष्ण्यात् सदनादुत्तानितं पृथक्कृतं संगतं चेष्टितं येषां तैर्महर्षिभिरपि महितः समाराधितो यश्च नर्मणि विनोदे पुनरविघ्नो विघ्नरहितो निधिरिव स ईशो नाभेयः सतां मर्मस्पर्शितया गृहणीय तयोचितं यं कंचिद् विधिं प्रबन्धति स्म समारब्धवान् । प्रबन्धशब्दान्नामधातो रूपं प्रबन्धतीति । 'धिष्ण्यं सद्मनि नक्षत्रे' इति विश्वलोचने । एतस्य चक्रबन्धस्याराग्राक्षरैर्निर्गमनविधिः ॥१०४॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तेनोक्ते द्विगुणत्रयोदश इतः सर्गः श्रियामध्वनि
साम्राज्याभिषवैकभूमिभवने श्रव्येषु चौजस्विनि ॥१०५॥

श्रीमानित्यादि—साम्राज्याभिषवस्यानन्तवीर्यस्य राज्याभिषेकवर्णनयुक्ते । शेषं स्पष्टम् ॥१०५॥

---

है, ऐसा मैं कहता हूँ ॥१०३॥

अर्थ—इस प्रकार गृहस्थके जीवनसे विरक्त मुक्तिके इच्छुक तथा समीचीन बुद्धिसे युक्त जयकुमारके गम्भीर प्रश्नको प्राप्त कर उन आदि जिनेन्द्रने जो कि गृहविरक्त साधुओंके द्वारा पूजित, विनोदपूर्ण वार्ता करनेमें कुशल एवं साक्षात् कवि थे, सत्पुरुषों के मर्मको स्पर्श करने वाली वाणीसे जो कुछ कहा, वह प्रबन्ध काव्यके समान आचरण करता है ॥१०४॥

इति श्रीवाणीभूषण–ब्रह्मचारिभूरामलशास्त्रिविरचिते सुलोचनास्वयंवरापरनामजयोदयमहाकाव्ये षड्विंशतितमः सर्गः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# सप्तविंशतितमः सर्गः

**अथानुजग्राह सभाभृदेव नराधिराजं जगदेकदेवः ।**
**स्वभावतः सद्विभवाय चारी तमोनुदेवं च मुदेऽधिकारी ॥१॥**

अथेत्यादि—अथानन्तरं स्वभावत एव सहजभावतः सतां सुपुरुषाणां नक्षत्राणां च यो विभवः प्रसन्नभावस्तस्मै चारो विचरणं यस्य स तमोनुदन्धकारहर एवं च कृत्वा मुदे विनोदायाधिकारो यस्य स जगदेकदेवो जगतां सर्वेषां जीवानामेको देवः प्रकाशदाता सभाभृत् संसदः स्वामी स च भाभृत् सूर्यः स नराधिराजं जयमनुजग्राहैवं निम्नरीत्यैवेति समासोक्तिः । च पादपूर्तौ ॥१॥

**सद्यो लभस्वाद्य विपद्युदारमाचारसारं विलसद्विचार ।**
**निवेदयाम्यङ्ग गुणाधिकारमारम्भणीयं खलु योगिनारम् ॥२॥**

सद्य इत्यादि—अङ्ग हे ! विलसति स्फूर्तिमेति विचारो यस्य तस्य सम्बोधनं हे विलसद्विचार ! आचारस्य सारं यत्याचाररूपं गुणानां क्षमादीनामधिकारो यत्र तं खलु योगिनात्मोपयोगिनाऽऽरम्भणीयं तं विपदि चोदारं शरणभूतं तमहमद्य निवेदयामि वदामि । तं त्वं सद्य एव लभस्वाङ्गीकुरु । अरं शीघ्रमेव ॥२॥

---

अर्थ—तदनन्तर जो समवसरण सभाके स्वामी थे, जगत्के एक अद्वितीय देव थे, स्वभावसे ही सत्पुरुषोंके विभवके लिये जिनका विचरण होता था, जो अज्ञान-तिमिरको नष्ट करने वाले थे तथा हर्षके लिये अधिकारी थे, अर्थात् सबको हर्षित करने वाले थे, ऐसे आदि जिनेन्द्र भगवान् वृषभदेवने राजा जयकुमारको इस प्रकार अनुगृहीत किया ।

अर्थान्तर—जो भाभृत्-प्रभाको धारण करने वाला था, जगत्का अद्वितीय प्रकाश करने वाला था, स्वभावसे ही सद्विभव-नक्षत्रोंके विभवके लिये विचरण करने वाला था तथा विनोदके लिये अधिकारी था, ऐसे तमोनुद्-सूर्यने राजा जयकुमारको निम्न रीतिसे अनुगृहीत किया ॥१॥

अर्थ—हे शोभायमान विचारोंसे सहित ! जो विपत्तिमें शरणभूत है, क्षमादिगुणोंके अधिकारसे युक्त है तथा योगीके द्वारा धारण करने योग्य है, उस आचारसार-मुनिके आचारका मैं कथन करता हूँ, उसे तुम शीघ्र ही प्राप्त होओ-धारण करो ॥२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**सौधायतेऽयं समयः स्वपाता पुराकृतिस्ते वृतिरेव जाता ।**
**ध्वजत्यजत्वप्रकृतिः कृतिन् ते धियोऽधियोगं स्फुटतां यजन्ते ॥३॥**

सौधायत इत्यादि—हे कृतिन् ! विचारकारिन् ! तेऽयं समयः स्वपाता स्वरक्षाकरोऽतः सौधायतेऽमृतपूरक इव भवति, पुराकृतिर्जन्मकालादारभ्याद्यपर्यन्ता या कृतिस्साऽस्या वृतिर्व्याख्यैव जाता । अथवाऽसौ समयः सौधायते प्रासाद इव भवति पुराकृतिश्च सास्य वृतिरिव वाट इव चाद्य तेऽजत्वप्रकृतिरमरभावो ध्वजति स्फूर्तिमेति धियश्च ते बुद्धयोऽधियोगं ध्यानमधिकृत्य स्फुटतां यजन्ते स्वीकुर्वन्ति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥३॥

**समाः समात्तं किमु विस्मरन्तु भुक्तस्य युक्तं न विवेचनं तु ।**
**भविष्यते स्फातिमितस्य कालः फलत्यनल्पं किमु नो नृपाल ॥४॥**

समा इत्यादि—हे नृपाल ! समाः सम्माननीया जनास्ते समात्तं श्रेष्ठत्वेनात्तं प्राप्तं यत् तत् किमु विस्मरन्तु ? नैव विस्मरन्तु, किन्तु तस्य सदुपयोगं कुर्वन्तु । यद् भुक्तं व्यतीतं तस्य विवेचनं मयैतत्कृतं तन्न कृत्वा तत्कृतं स्यात्तदा भद्रमित्यादिरूपतयाऽनुशोचनं तु गतस्य सर्पस्य घृष्टिकुट्टनवद्युक्तं न भवति । भविष्यतेऽनागताय स्फातिं विचारशीलतामितस्य जनस्य कालोऽनल्पं बहुलं किं नु फलति ? अपि तु फलत्येवेति काकुः ॥४॥

**दृष्टा प्रवृत्तिः खलु कर्मकृत्तिस्तत्त्वं निवृत्तिर्जगते प्रवृत्तिः ।**
**भवेदवेदः परथा निवेदः प्रवेदनेनास्तु भवानखेदः ॥५॥**

दृष्टेत्यादि—हे नृपाल ! या खलु प्रवृत्तिः स्त्रीपुत्रादिषु बाह्येषु वस्तुषु सा खलु कर्मणां दुरितानां कृत्तिस्त्वचा, तनुरिति यावत्, किन्तु निवृत्तिरेव तेभ्योऽपसरणमेव तत्त्वं

---

अर्थ—हे कृतिन् ! हे विचारशील ! तुम्हारा यह समय आत्मरक्षाकारी है, अतः अमृतपूरके समान है और जन्मसे लेकर अब तकका तुम्हारा कार्य उसकी व्याख्या ही है अथवा तुम्हारा यह समय सौध-प्रासादके समान है, तुम्हारा अबतकका कार्य उसकी बाड़ी है। तुम्हारी अजत्वप्रकृति-अमरस्वभाव उसकी ध्वजा है और तुम्हारी ध्यानविषयक बुद्धियाँ स्फूर्तिको स्वीकृत कर रही हैं ॥३॥

अर्थ—हे राजन् ! सम्माननीय मनुष्य अच्छी तरह प्राप्त हुई वस्तुको क्या विस्मृत कर दें ? अर्थात् नहीं, वे उसका सदुपयोग करें । जो बीत चुका है उसका विवेचन करना उचित नहीं है। भविष्यत्के लिये विचार करने वाले मनुष्यका काल क्या बहुत भारी फल नहीं देता है ? अवश्य देता है ॥४॥

अर्थ—हे राजन् ! स्त्रीपुत्रादि बाह्य पदार्थोंमें जो प्रवृत्ति देखी गई है, वह पाप कर्मोंकी त्वचा है, उनसे निवृत्ति होना ही तत्त्व है-यथार्थ बात है, प्रवृत्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



महत्त्वदायक भवति, प्रवृत्तिस्तु जन्ममरणरूपसंसाराय स्यादिति विक्। इतोऽन्यथा परथा यो निर्वेदः कथनक्रमः सोऽस्त्यवेदो वेदात्सम्यग्ज्ञानादन्य इति प्रवेदनेन समुचितज्ञानेन भवानखेदोऽस्तु सुखी भवतु। अनुप्रासोऽलंकारः ॥५॥

**क्षमो न भोक्तुं ममतां तु भोगी रहस्यमङ्गीकुरुतेऽत्र योगी।**
**यथोदितं लङ्घनमेति रोगी नियोगिने तस्य समस्ति नो गीः ॥६॥**

क्षम इत्यादि—भोगी भोगानामभिलाषावान् स तु ममतां भोगेषु सम्भवन्तं रागं भोक्तुं क्षमो न भवति, किन्त्वत्र यत्किञ्चिद् रहस्यं तद् योगी जन एवाङ्गीकुरुतेऽतः स एव रहस्यं योगोपयोगरूपमेकान्तमङ्गीकुरुते यथाऽसौ रोगी जनोऽन्नं प्रत्यरुचिमान् स एव यथोदितं लङ्घनमेति, स्वीकरोति किन्तु नियोगिने पाणिग्रहणकर्मणि दीक्षिताय तस्य लङ्घनस्य गीर्वागपि नो समस्ति नैव भवति। दृष्टान्तोऽलंकारः ॥६॥

**पथा प्रथा येन जनस्य दृश्याऽन्यथा कथा भो यतिनस्तु शस्या।**
**पूर्वस्य यत्संग्रहणानुरागौ त्यागं परत्राह विरागतां गौः ॥७॥**

पथेत्यादि—भो जय! येन पथा मार्गेण जनस्येति गृहस्थलोकस्य प्रथा ख्यातिः समवलोक्यते यतिनः संयमिनो जनस्य तु पुनरतोऽन्यथा कथा भवति विभिन्नप्रकारैव वार्तास्ति। यद्यस्मात्कारणात् पूर्वस्य गृहस्थस्य संग्रहणमुपचर्याकरणमनुरागश्चैतौ द्वावेव भवतः, किन्तु वस्त्रसंयमिनि जने त्यागं विरागतामेव चाह वदति गीर्वाणीति ॥७॥

**महद्भिराराध्यतमा शमारात् समर्पयन्ती निरवद्यधारा।**
**न यत्र संसारिजनप्रवृत्तिरलौकिकी भातु मुनेर्हि वृत्तिः ॥८॥**

---

संसार बढ़ाने वाली है। इससे अन्य प्रकार कथन करना अवेद–अज्ञान है, आप यथार्थ ज्ञानके द्वारा खेदरहित हों–सुखी होवें ॥५॥

अर्थ—भोगी मनुष्य भोगविषयक ममताको छोड़नेके लिये समर्थ नहीं होता, परन्तु योगी त्यागके रहस्यको स्वीकृत करता है। जैसे रोगी मनुष्य कहे अनुसार लंघनको प्राप्त होता है, परन्तु विवाह कार्य में दीक्षित मनुष्यके लिये लंघनकी वाणी भी नहीं है, अर्थात् लंघनकी बात भी उसे रुचिकर नहीं होती ॥६॥

अर्थ—हे जय! जिस मार्गसे गृहस्थ जनकी ख्याति देखी जाती है, संयमी जनकी कथा उससे विभिन्न है, क्योंकि गृहस्थ जनके संग्रह और विषयानुराग दोनों होते हैं, परन्तु संयमी जनके त्याग और विरागता होती है, ऐसा वाणी (शास्त्र) कहती है ॥७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


महद्भिरित्यादि—मुनेर्महाव्रतिनो वृत्तिरवस्थाऽलौकिकी लोकोत्तरा भवति हीति निश्चयेन निरवद्या पापर्वाजता धारा परम्परा यस्याः साऽऽरात् सहजेनैव शमानन्दमर्पयन्ती ततश्च महद्भिरुदारलोकैराराध्यतमाऽत्यन्तमाराधनीया यत्र च संसारिजनस्य विषयिलोकस्य प्रवृत्तिर्नेति सा भातु रुचिमेतु । अनुप्रासः ॥८॥

**संक्षालनप्रोञ्छनयोः प्रवृत्तस्तनोर्जनोऽयं प्रतिभाति हृत्तः ।**
**यतिः सदात्मैकमतिः शरीरसेवासु रेवां न समेति धीरः ॥९॥**

संक्षालनेत्यादि—अयं संसारिजनो हृत्तो मनोभावनया तनोः शरीरस्य संक्षालनं प्रोञ्छनं चाभिषेचनं परिमार्जनं च तयोः प्रवृत्तः संलग्नः प्रतिभाति, किन्तु यतिः स धीरो भवति धियं बुद्धिमीरयति समनुकूलयति सदा सततमेवात्मनि चिदानन्द एवैका मतिर्यस्य स सन् शरीरस्य सेवासु किलाभिषेचनादिषु रेवां रतिं रुचिं न समेति । 'रेवा नीलौ स्मरस्त्रियोः' इति विश्वलोचने । अनुप्रासोऽलंकारः ॥९॥

**भोगेषु भो गेहभृदस्ति गत्वाऽघनिग्रहं विग्रहमेव मत्वा ।**
**योगे नियोगेन मुनिः प्रवृत्त आत्मप्रतिष्ठः खलु तन्निवृत्तः ॥१०॥**

भोगेष्वित्यादि—भो भव्य ! विग्रहं शरीरमेवाघस्य दुःखस्य निग्रहं विच्छेदकं मत्वाङ्गीकृत्य तस्य सन्तर्पणार्थं भोगेषु मिष्टान्नभोजनादिषु गत्वा निरतो भूत्वा जनो गेहभृदस्ति गृहस्थो भवति नान्यथा । अत्र गम्धातोर्निरतार्थकत्वाद् भोगेष्विति सप्तमी । मुनिस्तु ततो भोगभावतो निवृत्तो दूरंगतः सन्नात्मनि प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य स खलु सम्भवन् नियोगेन नियमेन योगे परमात्मध्याने प्रवृत्तो भवति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥१०॥

---

अर्थ—जो श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा अत्यन्त आराधनीय है, जो सहज भावसे आत्मसम्बन्धी आनन्दको देती है, जिसकी परम्परा पापसे रहित है, जिसमें संसारी जनोंकी प्रवृत्ति नहीं होती और जो स्वयं अलौकिक—लोकमें सर्वश्रेष्ठ है, वह मुनिकी वृत्ति तुम्हें रुचिकर हो ॥८॥

अर्थ—यह संसारी जन हृदयसे शरीरके धोने और पोंछनेमें संलग्न जान पड़ता है, जबकि निरन्तर एक आत्मामें ही लीन रहने वाले धीरवीर मुनिराज शरीरकी सेवाओंमें रुचिको प्राप्त नहीं होते ॥९॥

अर्थ—हे भव्य ! शरीर ही दुःखका निग्रह करने वाला है, ऐसा मानकर भोगोंमें निरत—निमग्न हुआ प्राणी गृहस्थ बना है, परन्तु भोगोंसे निवृत्त मुनि आत्मनिष्ठ होते हुए नियमसे योग—आत्मध्यानमें प्रवृत्त होते हैं ॥१०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



जनस्य तु स्याद्विजनेऽभियोग ऋषेरुषेवातिशयान्नियोगः ।
शरीरबाधास्वयतेस्तु रोगः साधोः पुनः सुष्ठु समस्ति योगः ॥११॥

जनस्येत्यादि—जनस्य गृहस्थलोकस्य विजने जनरहिते शून्ये स्थानेऽभियोग उपद्रवात्मकः परिणामो भवति, किन्तु ऋषेस्तु रुषा कोपेनेव कृत्वाऽतिशयान्नियमारात्र विजन एव नियोगो निवासविधिरस्ति । तथा चायतेर्गृहस्थस्य शरीरे या बाधा शीतातपादिरूपास्तासु समापद्यमानासु रोगः सम्पद्यते, साधोस्तु पुनर्योगः शरीरनिग्रहपूर्वकं स्वात्ममननमेव सुष्ठु समस्ति न किंचिदन्यदिति । अनुप्रास एवालंकारः ॥११॥

मृदूदरे मृक्षणगुद्गुदाने कुचोच्चये वा शुचिचूततताने ।
पुष्पोपगोऽङ्गी स्वकरौ प्रियायाः प्रयोजयन् योजयति व्यवायान् ॥१२॥

मृदूदर इत्यादि—अङ्गी शरीरधारी स पुष्पोपगः पुष्पाण्युपगच्छति स पुष्पतल्पोपरि स्थितस्सन् प्रियाया वल्लभाया मृदु च तदुदरं च तस्मिन् कीदृशे मृक्षणं नवनीतं तद्वद् गुद्गुदाने मृदुले यद्वा 'मृक्षणवद्विधाने' इति पाठो वा । पुनः शुचि परिपक्वं यच्चूतमाम्रफलं तस्य तानवत्तानं विस्तारो यस्य तस्मिन् कुचयोः स्तनयोः प्रोद्देशे स्वकरौ हस्तौ प्रयोजयन् समुपनयन् सन् व्यवायान् सम्भोगान् योजयति विदधातीत्यनुप्रासः । 'व्यवायः सुरतेऽन्तर्द्धौ' इति विश्वलोचने ॥१२॥

स कंकरप्रस्तरशङ्कुनोदप्रतोदयोर्यच्छतु सप्रमोदः ।
कठोरयोः श्रीपदयोः कशं(षं)सच्छीतातपप्रायसहः स हंसः ॥१३॥

स कंकरेत्यादि—कंकरप्रस्तरशङ्कूनां नोदोऽन्तःप्रवेशस्तेन यः प्रतोदोऽर्तिर्ययोस्तयोः कठोरयोः कर्कशस्पर्शयोः श्रीपदयोर्गुरुचरणयोः कशं विमर्दनं यच्छतु करोतु स

---

अर्थ—गृहस्थका एकान्त निर्जन स्थानमें उपद्रवात्मक भाव होता है, अर्थात् वह उसे कष्टकर मानता है, परन्तु साधुका क्रोधसे ही मानों नियमपूर्वक निर्जन स्थानमें निवास होता है। अर्थात्–गृहस्थको सर्दी-गर्मी आदि शारीरिक बाधाओंके होनेपर रोग होता है, परन्तु साधुका उनके होनेपर अच्छी तरह योग–स्वात्मचिन्तन होता है ॥११॥

अर्थ—गृहस्थ जन फूलोंकी शय्यापर स्थित हो प्रियाके मक्खनके समान कोमल उदर तथा पके हुए आमके समान विस्तार वाले स्तनप्रदेशों पर अपने हाथ चलाता हुआ संभोगकी योजना करता है ॥१२॥

अर्थ—गृहस्थ अपने हाथोंका उपयोग उपर्युक्त कार्योंमें करता है, परन्तु शीत-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


हंसो योगी। कीदृशः सः? शीतं चातपश्च सन्तौ प्रकृष्टौ शीतातपौ तौ प्रायशः सहते यः स शीतादिपरिषहः सहनकरः सन्। प्रायशब्दः प्रचरार्थकः ॥१३॥

हसत्यसत्याशनदूरगः सन् जनो मनोहार्यशनं समश्नन्।
साधोस्तु न स्वादनवृत्तिरस्य तस्मादनाचर्वणमस्त्यवश्यम् ॥१४॥

हसतीत्यादि—जनः संसारी सोऽसत्यादप्रशस्तादशनाद् भोजनाद् दूरगः सन् मनोहारि यदशनं भोजनं तत्पुनः समश्नन् समास्वादयन् किल हसति प्रसन्नो भवति, किन्तु साधोस्तु यतेः पुनरस्य स्वादनवृत्तिर्न भवति सुस्वादु किलेदमिदं तु न स्वादु भोजनमिति विचारात्मिका वृत्तिर्नास्ति। तस्मादवश्यं नूनमेवानाचर्वणं दन्तैश्चर्वणरहितं यथा स्यात्तथात्ति स्वोदरपूरणं करोति ॥१४॥

कचेषु तैलं श्रवसोः फुलेलं ताम्बूलमास्ये हृदि पुष्पितेऽलम्।
नासाधिवासार्थमसौ समासात् समस्ति लोकस्य किलाभिलाषा ॥१५॥

कचेष्वित्यादि—लोकस्य संसारिजनस्य नासाया घ्राणेन्द्रियस्याधिवासार्थं सन्तर्पणनिमित्तं समासात् संक्षेपात् कथ्यते। तदाशा कीदृश्यभिलाषा समस्ति? हृदि वक्षःस्थलेऽलं यथेष्टं पुष्पिते पुष्पमालाभिरञ्चिते सति कचेषु मूर्धजेषु तैलमलं यथेष्टं स्याच्छ्रवसोः कर्णयोः फुलेलं पुष्पासवं स्यादास्ये मुखे ताम्बूलं पूगादियुक्तं दलमिति। अनुप्रासोऽलंकारः ॥१५॥

---

उष्ण आदि परीषहोंको प्रचुर मात्रामें सहन करनेवाला हंस-योगी कंकड़ सहित पत्थर तथा कील आदिके भीतर घुस जानेसे पीड़ायुक्त साधुओंके कर्कश स्पर्श वाले चरणोंमें हर्षपूर्वक कश प्रदान करता है, अर्थात् अपने हाथोंसे उनके पादमर्दन करता है ॥१३॥

**अर्थ**—संसारी मानव अप्रशस्त-अनिष्ट भोजनसे दूर रहकर मनोहर भोजन करता हुआ प्रसन्न होता है, परन्तु साधुके स्वाद लेनेको वृत्ति नहीं होती, अर्थात् वे यह विचार नहीं करते कि यह भोजन स्वादिष्ट है और यह स्वादिष्ट नहीं है। इसलिये साधु नियमसे दाँतोंसे चर्वण किये बिना, अर्थात् स्वादका विचार किये बिना ही आहार करते हैं ॥१४॥

**अर्थ**—संसारी जनके नासिका इन्द्रियको संतृप्त करनेके लिये संक्षेपसे ऐसी इच्छा रहती है कि केशोंमें पर्याप्त तैल हो, कानोंमें फुलेल हो, मुखमें ताम्बूल हो और वक्षःस्थलपर पुष्पोंकी माला हो ॥१५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**शिरो गुरोरङ्घ्रिधुरो रजोभिरुरः पुरः पांशुपरं सुशोभि ।**
**फूत्कारपूता खलु कर्णपालीत्यमृष्टदन्तस्य मुनेः प्रणाली ॥१६॥**

शिर इत्यादि—न मृष्टा दन्ता मज्जनादिभिरसंस्कृता यस्य तस्यामृष्टदन्तस्य मुनेः पुनरेषा प्रणाली पद्धतिरस्ति खलु निश्चयेन तस्य शिरो मस्तकं तद् गुरोराचार्यस्याङ्घ्र्योश्चरणयोर्याधूरग्रभागस्तस्या रजोभिर्धूलिभिः सुष्ठु शोभा यस्य तद् भवति । तथैव तस्योरो वक्षःस्थलं तच्च पुरः पांशुषु अग्रे समागतासु धूलिषु परं तल्लीनं तद्युक्तं भवति । कर्णपाली च श्रोत्रदेशो गुरोर्मन्त्रोच्चारणपूर्वको योऽसौ फूत्कारस्तेन पूता पूता पवित्रा भवतीति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥१६॥

**सारं सतारं लसदङ्गहारं मञ्जीरशिञ्जानमयोपहारम् ।**
**मित्रैः पवित्रैकतलेऽभिलाष्यं दृशा दशाङ्गं सुदृशां क्व लास्यम् ॥१७॥**

सारमित्यादि—क्व नु तद् गृहस्थजनेनोपलभ्यं सुदृशां स्त्रीणां लास्यं नृत्यं यत्किल सारं रसभरितत्वादादरणीयं, सतारं रलयोरभेदात्तालमानसहितं, लसति प्रस्फुरत्यङ्गहारो हस्तादिसंचारो यत्र तत्, दशाङ्गं नृत्यशास्त्रोक्तैर्दशभिरङ्गैः पूर्णं ततो दृशा चक्षुषाभिलष्यमवलोकनीयं तच्च मित्रैः सहचरैः पवित्रैकतले पुनीततमे कस्मिंश्चिदेकस्थलेऽवलोकनीयमिति । अनुप्रासः ॥१७॥

**शार्दूलसिंहादिपरम्पराणां भयङ्कराणां क्व वनेचराणाम् ।**
**स्फीत्कारचीत्कारपरं तु नृत्यं हृत्कम्पकृद् धीरतयाधिकृत्यम् ॥१८॥**

शार्दूलेत्यादि—पुनस्त्यागिनावलोकनीयं तत् किल शार्दूलश्च सिंहश्चादौ येषां भल्लूकप्रभृतिक्रूरजीवानां ये परम्पराः पुत्रपौत्रादयस्तेषां भयंकराणां दर्शनमात्रेणैव भयो-

---

अर्थ—दन्तमार्जनसे रहित मुनिका शिर आचार्य परमेष्ठीके चरणाग्रकी धूलिसे और वक्षःस्थल सामनेसे आयी हुई धूलिसे अत्यन्त सुशोभित होता है तथा कान गुरुके मन्त्रोच्चारण पूर्वक दी हुई फूंकसे पवित्र रहते हैं। मुनिकी यही प्रणाली-पद्धति है ॥१६॥

अर्थ—गृहस्थ जनोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य स्त्रियोंका वह नृत्य कहाँ ? जो रससे भरित होनेके कारण सारभूत है, तालसे सहित हैं, अङ्गहारों-हस्तादिके संचारोंसे सुशोभित है, नूपुरोंकी झनकार रूप उपहारसे सहित है, नाट्यशास्त्रमें कहे गये दस अङ्गोंसे सहित है तथा मित्रोंके साथ पवित्र-अद्वितीय-सुन्दर रङ्गभूमिमें चक्षुके द्वारा दर्शनीय है ॥१७॥

अर्थ—और साधुओंके द्वारा दर्शनीय तेंदुए तथा सिंहादिकी परम्परा एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

त्पादकानां वनेचराणां स्फीत्कारोऽङ्गस्फालनरूपश्चीत्कारश्च शब्दस्तयोर्द्वयोः परं तल्लीनं तन्मयमतो हृत्कम्पकरं चित्ते कम्पोत्पादकमतश्च धीरतयाधिकृत्यं धैर्यपूर्वकमेवाधिकरणीयं नृत्यम् ॥१८॥

श्रवःस्रुचाऽनन्यरुचा पुनीता सुधेव पीता वसुधेश ! गीता ।
मितामरीभिर्मधुराधरीभिर्या वागयावा सदने परीभिः ॥१९॥

श्रवःस्रुचेत्यादि—हे वसुधेश ! गृहे सा वाग् वाणी श्रवःस्रुचा कर्णरूपचषकेण पीता समास्वादिता भवति या सुधेव पुनीता मनःप्रिया यतो मिता तुलनां नीता अमर्यो याभिस्ताभिर्मधुरमधरं च यासां ताभिर्मधुराधरीभिः परमसुन्दरीभिर्गीता सम्यगुक्ताऽत एवायावाया निर्दोषा साऽनन्यरुचा अन्यत्रासम्भवत्या रुचा रुच्या पीताऽऽस्वादिता भवति । रूपकेणोपमया च सहितोऽनुप्रासोऽलंकारः ॥१९॥

कृतान्तवृत्तान्तसुभैरवा वागिहर्षये मर्मनिकर्मभावा ।
द्रुतं नु तं धारय मारयेति विलुब्धकानामुपलब्धहेतिः ॥२०॥

कृतान्तेत्यादि—इह पुनः ऋषये संयताय तु विलुब्धकानां व्याधानामुपलब्धा समुत्थापिता हेतिरसिपुत्रिका यत्र सा तमेनं द्रुतमेव धारय मारयेति च मर्मणि विषमस्थाने निकर्मण उत्कृन्तनस्य भावो यया भवति सा कृतान्तस्य यमराजस्य वृत्तान्तवत् सुभैरवा भयंकरा वाग् वाणी स्यादित्यनुप्रासोऽलंकारोऽत्र । नु वितर्के ॥२०॥

विरुद्धवृत्तौ रुषमेति लोकश्छन्दोऽनुगे तर्षनिदर्शनौकः ।
रोषो न तोषो जगदेकपोष ऋषेर्भवत्येव भवेऽपदोषः ॥२१॥

---

भयंकर वनेचर जीवोंका वह नृत्य कहाँ ? जो स्फीत्कार—अङ्गविक्षेप तथा चीत्कार—भयंकर गर्जनसे तन्मय है, हृदयको कम्पित कर देने वाला है और धैर्यपूर्वक देखने योग्य है ॥१८।

अर्थ—हे राजन् ! आपने घरमें कर्णरूपी पानपात्रके द्वारा अनन्यरुचिपूर्वक उस वाणीका पान किया था, जो सुधाके समान पवित्र थी तथा देवाङ्गनाओं की तुलना करनेवाली मधुर ओठोंसे युक्त परियों—अत्यन्त सुन्दर स्त्रियों द्वारा गायी गई थी ॥१९॥

अर्थ—और यहाँ शिकारियोंकी उस वाणीको सुनो, जो यमराजके वृत्तान्तके समान अत्यन्त भयंकर है, ऋषियोंको लक्ष्य कर कही गयी है, मर्मभेदी है तथा उसे शीघ्र पकड़ो और मारो यह कह कर जिसमें छुरी निकाली गयी है ॥२०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



विरुद्धवृत्ताविति—लोकः सर्वसाधारणो जनश्छन्दोऽनुगे किलाज्ञानुसारिणि जने तर्षस्य वाञ्छाया निदर्शनं प्रकाशनं तस्यौकः स्थानं भवति, किन्तु विरुद्धवृत्तौ विरुद्ध-चारिणि रुषमेति कोपं करोति । ऋषेर्भवे त्यागिदशायां तु क्वापि न रोषः कलुषभावो न च तोषः प्रसन्नभावो वा, किन्तु अपदोषः पक्षपातेन रहितो जगतां सर्वेषां जीवानां सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु किलेत्येवमात्मक एकः पोष आशीर्वादो भवति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥२१॥

**प्रवञ्चनार्थं स्वसमञ्चनार्थं वचोऽङ्गिनः स्याज्जगतोऽहितार्थम् ।**
**आख्याति विख्यातिमनिच्छुरेव निःस्वार्थविश्वात्मतयर्षिदेवः ॥२२॥**

प्रवञ्चनार्थमित्यादि—अङ्गिनो गेहिजनस्य यद् वचो भवति तत्स्वस्य मनीषितस्य समञ्चनं समर्थनमेवार्थः प्रयोजनं यस्य तत् तथा प्रवञ्चनार्थं प्रवञ्चना परेषां प्रतारणार्थः प्रयोजनं यस्य तत्, ततो जगतोऽहितार्थं विश्वस्य बाधाकारकमेव स्यात् । किन्तु ऋषिदेव-स्तु यत् किञ्चिदाख्याति कथयति तद् विख्यातिमात्मश्लाघामनिच्छुरेव सन् निःस्वार्थः स्वस्यैवाभिप्रायस्य पोषणरूपस्स्वार्थस्तेन रहिता वा विश्वात्मता सर्वजनहितकारिता तया-ऽऽख्याति कथयति किलेत्यनुप्रासः ॥२२॥

**स्ववैभवे दैवभवेऽप्यरङ्गी परश्रियां संस्पृहयालुरङ्गी ।**
**त्यक्त्वा स्वसर्वस्वमपि प्रवृत्तः पुनः परार्थेषु यतिः सुवृत्तः ॥२३॥**

स्ववैभव इत्यादि—अङ्गी संसारी जनो दैवेन भाग्येन भवो जन्म यस्य तस्मिन् स्वस्य वैभवे सम्पत्तिनिकरेऽप्यरङ्गी सन्तोषरहितः सन् परस्य श्रियां लक्ष्मीणां संस्पृहयालुरभि-

---

अर्थ—संसारी मनुष्य, आज्ञानुसार चलने वाले मनुष्यसे पूछता है कि आपकी क्या इच्छा है ? अर्थात् क्या चाहते हो ? परन्तु विपरीत प्रवृत्ति वाले मनुष्यके विषयमें क्रोधको प्राप्त होता है । साधुकी दशामें न किसीसे रोष होता है, न संतोष होता है, किन्तु समस्त जगत्को एक निर्दोष आशीर्वाद होता है ॥२१॥

अर्थ—संसारी प्राणीका वचन दूसरेको ठगनेके लिये या अपना समर्थन करने के लिये होता है, अतः वह जगत्के लिये अहितकारी है, परन्तु मुनिराज जो वचन कहते हैं वह आत्मप्रशंसा रहित होकर समस्त जीवोंके कल्याणकी भावनासे ओतप्रोत निःस्वार्थ रूपमें कहते हैं ॥२२॥

अर्थ—संसारी जीव भाग्यसे प्राप्त होने वाले अपने वैभवमें भी संतोषरहित होता हुआ दूसरोंकी लक्ष्मीकी इच्छा करता है, परन्तु उत्तम चारित्रके धारक



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाषावानस्ति । यतिः संयमी च पुनः स्वस्य सर्वस्वमपि त्यक्त्वा परार्थेषु परोपकारेषु प्रवृत्तो भवति, यतः स सुवृत्त उत्तमचारित्रवान् भवति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥२३॥

**नितम्बिनीषु स्विदनीदृशीषु भासा समासाद्विजितोर्वशीषु ।**
**अङ्गेन रङ्गे नरराडनन्यभावं प्रलिप्सुः प्रभवेत् सजन्यः ॥२४॥**

नितम्बिनीष्वित्यादि—नरराड् योऽसौ गृहस्थशिरोमणिः स भासा स्वदीप्त्या विजिता पराभवं नीतोर्वशी स्ववेश्याऽपि याभिः समासात् संक्षेपतो न ईदृशी प्रशंसा यासां तास्वनीदृशीषूपमावर्जितासु नितम्बिनीषु स्त्रीषु रङ्गे स्त्रीप्रसङ्गभूमौ जन्यया मुदा सहितः सजन्यो 'जन्या मातृसखीमुदोः' इति विश्वलोचने । स्विदङ्गेन शरीरेणापि किलानयभावमपृथग्रूपतां प्रलिप्सुः समिच्छुः प्रभवेत् समुत्साहं गच्छेदिति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥२४॥

**कामारितायां निलयः सुधामा रामापि सामायिकवृत्तिनामा ।**
**तस्यामतः स्यामतदन्यवृत्तिः सावश्यकस्येति मुनेस्तु वृत्तिः ॥२५॥**

कामारितायां इत्यादि—न वशोऽक्षमनसामित्यवशः, अवश एवावशकस्तस्य भाव आवश्यकं तेन सहितः सावश्यकस्तस्येन्द्रियजयिनो मुनेस्तु पुनर्वृत्तिः प्रक्रिया सा इतीदृशी भवति यत्किलाहं कामारितायाः स्मरविरुद्धतायाः निलयः स्थानं सुष्ठु धाम प्रभावो यस्य स सुधामास्मि, अतो मम रामा रमणयोग्यापि सामायिकवृत्तिनामास्ति, अयनमयः समस्तुल्यश्चासावयश्च समायस्तस्य भावः कर्म वा सामायिकं तत्र वृत्तिर्नाम स्थितिर्यस्याः सा तस्यामहमतदन्यवृत्तिः स्यामेकीभावेन निरतो भवेयमिति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥२५॥

---

मुनि अपने सर्वस्वको भी छोड़ कर परोपकारमें प्रवृत्त रहते हैं ॥२३॥

**अर्थ**—अथवा यह गृहस्थशिरोमणि अपनी कान्तिसे उर्वशीको जीतनेवाली अनुपम स्त्रियोंमें शरीरसे भी अपृग्भावको प्राप्त करनेका इच्छुक होता हुआ रङ्गभूमिमें हर्षसहित होता है ।

**भावार्थ**—आसक्तिके कारण भिन्न शरीर वाली भी स्त्रियोंको अपने शरीरसे अभिन्न करना चाहता है ॥२४॥

**अर्थ**—ऊपर गृहस्थजनकी प्रवृत्तिका वर्णन किया, परन्तु षडावश्यकोंका पालन करने वाले मुनिकी वृत्ति इस प्रकार है—वे विचार करते हैं कि मैं कामकी विरुद्धताका स्थान हूँ, उत्तम प्रभावशाली हूँ, सामायिक वृत्ति ही मेरी रामा—रमण करने योग्य है, अतः मैं इसीमें अनन्यवृत्ति होता हूँ, सब ओरसे अपना मन हटा कर समताभावमें ही लगाता हूँ ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



रमासु रामास्वसमास्वमासु प्रघ्नो जनोऽनित्यमतासु तासु ।
स किञ्च नो तावदकिञ्चनोऽपि योगी नियोग्यङ्गममत्वलोपी ।।२६।।

रमास्वित्यादि—जनः संसारी सोऽनित्यमस्थिरं मतं यासां तासु अमासु मा परिमाणं तेन रहितासु किलापरिमितासु असमासु अनन्यसदृशीषु रमासु लक्ष्मीषु रामासु स्त्रीषु प्रघ्नोऽसंतृप्तो भवति, 'मा क्षेपे मानबन्धयोः' इति विश्वलोचने । किञ्च, यो योगी स तावदकिञ्चनः किमपि यस्य पार्श्वे नास्ति सोऽपि भवंस्तासु रमासु रामासु च नियोगी तत्परो न भवति, यतोऽसावङ्गेऽस्मिन् देहेऽपि ममत्वस्य लोपी भवति ततोऽपि निर्ममस्तिष्ठति । अनुप्रासोऽलंकारः ।।२६।।

धृतः क्षतत्राणकचर्मपाशः करेऽसिरेवं खलु चन्द्रहासः ।
मातङ्गमातम्भितवान् सुपाणे सरोषहुंकारधरः प्रयाणे ।।२७।।

धृत इत्यादि—गृहस्थावस्थायामेकस्मिन् करे क्षतत्राणकरः क्षतत्राणकः स चासौ चर्मपाशो गण्डकचर्मखण्डो धृत एवं खलु परस्मिन् करे चन्द्रहासोऽसिर्धृतस्तथा रोषेण सहितो यो हुंकारस्तत्परः सन् सुष्ठ पस्य पवनस्याणः शब्दो यत्र तस्मिन् सुपाणे प्रयाणे युद्धार्थं निर्गमने मातङ्गं हस्तिनमातम्भितवान् समारुरोहाङ्गीकृतवानिति ।।२७।।

तुम्बी सपिच्छा हृदि सा समिच्छा पुरः पथिच्छादितचक्षुरिच्छा ।
दिवा विहारो दलिताध्वचारो मुनेः समारोपहृतः सुचारोः ।।२८।।

तुम्बीत्यादि—सुचारोः विश्वप्रसादकस्य समारोपहृतो भ्रमविनाशकस्य मुनेः संयमिनः पुनः पार्श्वे पिच्छया मयूरपक्षनिर्मितया सहिता सपिच्छा तुम्बी कमण्डलुर्भवति

---

अर्थ—संसारी मानव अनुपम, अपरिमित और अनित्य उन प्रसिद्ध लक्ष्मियों तथा स्त्रियोंमें असंतुष्ट रहता है-कभी संतुष्ट नहीं होता, परन्तु शरीरमें भी ममत्व बुद्धिको लुप्त करने वाला वह योगी अकिञ्चन होने पर भी उनमें तत्परताको प्राप्त नहीं होता ।।२६।।

अर्थ—गृहस्थावस्थामें इस इस मानवने एक हाथमें चमड़ेकी ढाल और दूसरे हाथमें तलवार धारण की तथा क्रोधसे हुँकारको धारण करता हुआ वह पवनके शब्दसे सहित प्रयाणकाल-युद्धके लिये प्रस्थान करते समय हाथी पर आरूढ हुआ ।।२७।।

अर्थ—परन्तु सब पर प्रसन्नता प्रकट करने वाले एवं संशयापहारी मुनिका 'विहार दिनमें ही होता है, वह भी मनुष्य, पशु आदिके द्वारा मर्दित-क्षुण्ण मार्गमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


हृदि चित्ते च सा समिच्छा शरीरमपीदं मे नास्ति किलेदृशी मनोभावना भवति, विहारश्च तस्य मुनेर्दिवा दिवस एव स्यात्तथा च दलितेनान्यैर्मनुष्यपशुप्रभृतिभिरवगाहितेनाध्वना पथा चारो विचरणं भवति तथा गमनसमये पुरः सम्मुखे पथि वर्त्मनि छादिता प्रसारिता चक्षुष इच्छा वृत्तिरितस्ततोऽनवलोकनरूपेति यावत् । अनुप्रासोऽलंकारः ॥२८॥

**इतस्ततो भो परिमार्जनीवाऽविदग्धनुः सावगुणार्जिनी वाक् ।**
**वेश्येव विज्ञस्य पुनर्मनुष्यान् सम्मोहयन्ती भृतिकामनु स्यात् ॥२९॥**

इतस्तत इत्यादि—भो भव्य ! अस्मिन् भूभागेऽविदग्धोऽनभिज्ञो यो ना मनुष्यस्तस्य या वाग् वाणी सा परिमार्जनीवावकरसंग्राहिकेवावगुणार्जिनी दुर्गुणग्राहिका भवति, विज्ञस्य जनस्य च पुनः सा वेश्येव गणिका तुल्या मनुष्यान् सम्मोहयन्ती सती केवलं भृतिकामनु जीविकार्जनप्रयोजना स्यात् । उपमालंकारः ॥२९॥

**मुनिस्तु मौनं मनुतेऽञ्जनोनं क्वचिद्धितार्थं स्वमुखादघोनम् ।**
**निस्सारयेद्रत्नमिवातियत्नपुरस्सरं प्रत्नपदं विनूत्नम् ॥३०॥**

मुनिरित्यादि—मुनिस्तु प्रथमतस्तु मौनमेवाञ्जनोनं कलङ्कविहीनं पवित्रं मनुते । क्वचित्कदाचिद्वक्तुमेव युक्तं भवति तत्र हितार्थं विश्वोपकारकं पुनरघोनं पापवर्जितं प्रत्नानां पुराणपुरुषाणां पदं प्रतिष्ठा यस्मिंस्तत् पुराणपुरुषसम्मतं विनूत्नं नवीनतारहितं चार्थात् स्वकपोलकल्पनाहीनं तदेतदपि चातियत्नपुरस्सरं यथा स्यात्तथा रत्नमिव स्वमुखान्निःसारयेत् । सैषा भाषासमितिः । उपमा चानुप्रासश्चालंकारः ॥३०॥

---

होता है। विहार कालमें उनके साथ मयूरपिच्छ और कमण्डलु रहता है। हृदयमें लोककल्याणकी भावना अथवा विरक्तिका परिणाम होता है और मार्गमें आगे चक्षुकी निष्प्रमाद प्रवृत्ति होती है, अर्थात् इधर-उधर देखनेकी प्रवृत्तिका अभाव होता है ॥२८॥

**अर्थ**—हे भव्य ! अनभिज्ञ–अज्ञानी मनुष्यकी जो वाणी है, वह इधर-उधर झाड़ने वाली बुहारीके समान दुर्गुणोंका संग्रह करनेवाली होती है, पर विवेकी मनुष्यकी वाणी वेश्याके समान मनुष्योंको मोहित करती हुई प्रयोजनके अनुसार ही प्रवृत्त होती है, अर्थात् निष्प्रयोजन नहीं होती ॥२९॥

**अर्थ**—प्रथम तो मुनि मौन को ही निष्कलंक मानते हैं, यदि कहीं बोलनेका अवसर आता है तो ऐसे वचन मुखसे निकालते हैं जो हितकारी हों, पापसे रहित हों, यत्नपूर्वक बोला गया हो, पुराणपुरुषोंके वर्णनमें तत्पर हो और नूतनतासे रहित हो, अर्थात् कपोलकल्पित कल्पनाओंसे रहित हो और रत्नकी तरह मूल्यवान् हो ॥३०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**हन्तोदरायास्ति कृतापराधः पतत्यतत्त्वात् तृणतोऽपि नाऽधः ।**
**बन्धूनपि द्वेष्टि कदन्नकोष्टिर्यद्येकवेलामपि नाशनेष्टिः ॥३१॥**

हन्तेत्यादि—नाऽसौ नरो हन्तेति खेदपूर्वकमुच्यते यत्किलोदरायास्मै जठराय कृतापराधोऽपि पापाचरणपरायणो भवति । तत्त्वं स्वरूपं तदभावात् स्वरूपज्ञानाभावा-तृणतोऽप्यधः पतति सर्वतोऽपि लघुतामुरीकरोति । यदि चैकवेलामपि चान्नस्य भोजन-स्येष्टिर्निष्पत्तिर्नास्ति तदा कदन्नकस्याभक्ष्यभक्षणस्येष्टिरिच्छा यस्य स भवन् बन्धूनपि द्वेष्टि तैरपि सह द्वेषं करोति । अनुप्रासालंकारः ॥३१॥

**आपक्षमासं व्रजतोऽपि मन्तुं गुरूनुरूद्योगपरोऽपि गन्तुम् ।**
**लेश्याविशुद्धिं लभते सुबुद्धिर्नैवापराध्यत्यपि भैक्ष्यशुद्धिम् ॥३२॥**

आपक्षमासमित्यादि—पक्षश्च मासश्च पक्षमासौ यावदित्यापक्षमास तथा चापि शब्दादतोऽप्यधिककालपर्यन्तं मन्तुं परमेष्ठिनं व्रजतो भोजनमकृत्वा परमात्मध्यानं कुर्वतो गुरून् वृषभबाहुबल्यादीन् गन्तुमनुसर्तुमुरूद्योगपरः परमप्रयत्नशीलः सुबुद्धि-र्विचारवान् मुनिः सोऽपि शब्दात् सुदीर्घकालमपि भोजनालाभेऽपि भैक्ष्यस्य शुद्धिं भिक्षा-सिद्धान्तस्य मर्यादां नैवापराध्यति समुल्लङ्घयति, प्रत्युत लेश्याया विशुद्धिमेव लभते निराकुल एव तिष्ठति । अनुप्रासोऽलंकारः । 'मन्तुः स्यादपराधेऽपि मानवे परमेष्ठिनि' इति विश्वलोचने ॥३२॥

**यथासुखं कौतुकिकौ तु किन्न यदृच्छयान्यासु महीषु खिन्नः ।**
**कुशो विशत्येष करोति ही यदक्लेशयन् वेषमपि स्वकीयम् ॥३३॥**

यथासुखमित्यादि—कुशः पापात्मा संसारी जनोऽन्यासु महीषु विनोदविहीनासु

---

**अर्थ**—उस मनुष्यसे खेदपूर्वक कहा जाता है कि जो इस पेटके लिये अप-राध करता है, स्वरूपका ज्ञान न होनेसे जो तृणसे भी नीचे जा पड़ता है—अत्यन्त अनादरको प्राप्त होता है, यदि एक बार भी भोजनका जुगाड़ नहीं होता है तो अभक्ष्यभक्षणकी इच्छा करने लगता है तथा बन्धुजनोंके साथ द्वेष करता है ॥३१॥

**अर्थ**—एक पक्ष, एक मास अथवा इससे भी अधिक काल तक भोजन न कर परमेष्ठीका ध्यान करने वाले भगवान् वृषभदेव तथा बाहुबली आदिका अनुसरण करनेके लिये प्रयत्नशील विचारवान् मुनि भैक्ष्यशुद्धिका उल्लंघन नहीं करते, किन्तु लेश्याकी विशुद्धिको प्राप्त होते हैं ॥३२॥

**अर्थ**—कुश-पापी संसारी जीव विनोदरहित भूमियोंमें खिन्न होता हुआ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


खिन्नो विमनाः सन् यदृच्छया स्वेच्छया कौतुकिनां मद्यपद्यूतकरादीनां कौ तु भूमौ यथासुखं किन्न विशति तिष्ठति ? अपि तु तिष्ठत्येव। अपि चैष यत्किंचित्करोति तदपि स्वकीयं वेशं नेपथ्यमक्लेशयन्नविराधयन् करोति। ही खेदप्रकाशने। 'कुशो मत्तेऽपि पापिष्ठे', 'ही विस्मयविषादयोः' इति च विश्वलोचने। अनुप्रासोऽलंकारः ॥३३॥

न चापलं शापलमेति जन्तोर्मुनीश उद्वेगभृतोऽपमन्तोः।
उपैति चेदासनवैपरीत्यं भुवं विशोध्याङ्गमथापचित्यम् ॥३४॥

न चापलमित्यादि—यो मुनीशः सोऽपमन्तोर्निरपराधस्य जन्तोः प्राणिनः किन्तूद्वेगभृतो यस्मात्कारणात्पीडां गच्छतः शापं दुराशिषं लाति गृह्णाति तच्चापलं चपलभावं नैति निश्चलैकासनेन तिष्ठति च। यदि कदाचिदासनस्य वैपरीत्यं परिवर्तनमुपैति तदा भुवः स्थलमासनयोग्यमथचापचित्यं परिवर्तनीयमङ्गं च विशोध्य पुनरुपैति ॥३४॥

लालाविलौष्ठ्यादि निचूष्य को न सुधेति बुद्ध्या प्रवरो मघोनः।
सदारवर्गे पुनरेव रेतस्त्यजः समः कः प्रभवेदथैतः ॥३५॥

लालाविलेत्यादि—सदारा गृहस्थास्तेषां वर्गे पत्न्या लालया थूत्कधारयाऽऽविल ओष्ठोऽधर आदौ यत्र तत् कपोलप्रभृतिकमङ्गं निचूष्यात्रासौ सुधास्तीति बुद्ध्या मघोनोऽपीन्द्रादपि प्रवरः को न भवति ? भवत्येव सर्वः। अथ पुना रेतस्त्यजः शुक्रमोक्षकस्य तु समः समान इतोऽस्यां धरायां कः प्रभवेत् ? किन्तु कोऽपि नैवेति काकूक्तिः ॥३५॥

---

मद्यपायी तथा जुआड़ी आदि कुतूहलप्रिय लोगोंकी भूमिमें सुखपूर्वक क्या नहीं प्रवेश करता ? अर्थात् करती ही है तथा वहाँ अपनी वेषभूषाकी विराधना न करता हुआ इच्छानुसार कुछ भी कार्य करता है ॥३३॥

**अर्थ**—मुनिराज निरपराध एवं छटपटाते हुए जीवकी दुराशिषको ग्रहण करनेवाली चपलताको प्राप्त नहीं होते, अर्थात् अपने विहार और आदान निक्षेपणसे किसी जीवको पीड़ा नहीं देते। यही नहीं, यदि कभी उन्हें आसनपरिवर्तन करना होता है तो भूमि और परिवर्तनीय अङ्गको शोधकर—पीछीसे परिमार्जित कर आसन-परिवर्तनको प्राप्त होते हैं ॥३४॥

**अर्थ**—गृहस्थ जनोंमें लार आदिसे मलिन स्त्रीके अधरोष्ठ आदि अङ्गोंको चूष कर यह अमृत है, ऐसा मानकर कौन पुरुष इन्द्रसे बढ़कर नहीं होता है ? अर्थात् सभी होते हैं। इसी प्रकार शुक्र-मोक्ष करनेवालेके समान इधर कौन है ? अर्थात् कोई नहीं ॥३५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**शरीरमात्रं मलमूत्रकुण्डं किमेकमेतद्धि कलत्रतुण्डम् ।**
**यतिः स तिष्ठेदमुतो विरज्य घने वने ब्रह्मधनेऽनुरज्य ॥३६॥**

शरीरमात्रमित्यादि—हि निश्चयेन एतत्कामिजनचूष्यमाणमेकं कलत्रतुण्डं वनितावदनमेव किं शरीरमात्रं निखिलशरीरं मलमूत्रयोः कुण्डं स्थानं वर्ततेऽतो स प्रसिद्धो यतिर्मुनिरमुतः स्त्रीशरीराद् विरज्य विरक्तो भूत्वा ब्रह्मैव धनं तस्मिन् शुद्धात्मवित्तेऽनुरज्यानुरक्तो भूत्वा घने निबिडे स्त्रीजनदुर्गमे वनेऽरण्ये तिष्ठेत् स्थितो भवति ॥३६॥

**चित्तं कुवित्तेन तनोः समित्ते विकारभृद् वेशभृतिं विधत्ते ।**
**पटेन यद्वद् व्रणपत्पदादि रङ्गादिना वेष्टयते खरादी ॥३७॥**

चित्तमित्यादि—हे राजन् ! जयकुमार ! ते चित्तं मनः कुवित् कोः पृथिव्या बुद्धिर्यस्य तदस्ति, तेन कारणेन ते तनोः समिद् देहस्य समागमो विकारभृतो नानाविधस्य वेशस्य भृतिं परिपूर्तिं विधत्ते । यथा खरादी शस्त्रचिकित्सको वा काष्ठरञ्जको वा व्रणवत्पदादि यत् तत्पटेन वस्त्रवेष्टनेन रङ्गादिना वेष्टयते तद्वदिति दृष्टान्तोऽलंकार ॥३७॥

**विकारवर्ज्यं वपुराविभाति महामुनेर्हैममिवाभिजाति ।**
**यज्जातुषं चेन्मणिकारवारै रज्ज्येत किं मौक्तिकमप्युदारैः ॥३८॥**

विकारवर्ज्यमित्यादि—महामुनेर्वपुः शरीरं तद्विकारवर्ज्यं कृत्रिमभावरहितं हेम्ना निर्मितं हैमं सौवर्णं वस्तु तदिवाभिजाति जातिं सहजवृत्तिमभिव्याप्य तिष्ठतीत्यभिजाति अभिभाति शोभते । यज्जातुषं लाक्षादिघटितं चेदस्ति तन्मणिकारस्य वारैः

---

**अर्थ**—परमार्थसे स्त्रीका एक यह मुख ही क्यों, शरीरमात्र मल और मूत्रका कुण्ड है, अतः मुनिराज इससे विरक्त हो आत्मधनमें अनुरक्त होकर सघन वनमें निवास करते हैं ॥३६॥

**अर्थ**—हे राजन् जयकुमार ! तुम्हारा मन **कुविद्**—पृथिवीका जानकार है, अतः तुम्हारे शरीरका समागम विविध वेषकी पूर्तिको उस तरह करता है, जिस तरह कि खरादी—शस्त्राघातकी चिकित्सा करनेवाला वैद्य घावसे सहित पैर आदिको वस्त्रसे वेष्टित करता है अथवा लकड़ीका काम करनेवाला पुरुष जिस तरह व्रण—खोट युक्त लकड़ीको रङ्ग आदिसे वेष्टित करता है—छिपा देता है ॥३७॥

**अर्थ**—महामुनिका विकाररहित शरीर स्वर्णनिर्मित उच्चकोटिके आभूषणके समान सुशोभित होता है । जिस तरह जातुष—लाखसे निर्मित वस्तु मणिकार—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकारैरुदारै रज्ज्येत तथा किं मौक्तिकमपि.? किन्तु नहीति काकूक्तिः ॥३८॥

**सुदर्पणे स्वास्यसमर्पणेन स्वैरं समालम्बय समादरेण ।**
**बिभर्ति तैलाद्यलकेषु वस्तु शृङ्गारसौन्दर्यपरो नरस्तु ॥३९॥**

सुदर्पण इत्यादि—शृङ्गारश्च सौन्दर्यं च तयोः परोऽनुरक्तो यो नरो गृहस्थः स तु समादरेण किलादरभावेन स्वैरं यथेच्छं यथा स्यात्तथा समालम्ब्य करेण धृत्वा सुदर्पणं धृत्वा तस्मिन् स्वास्यस्य निजमुखस्य समर्पणेन प्रतिबिम्बावलोकनेन सहालकेषु केशेषु तैलादि वस्तु केशप्रसाधकं बिभर्ति ॥३९॥

**क्षुरोनरोचिष्णुरवद्यजिष्णुरिरां तरिष्णुः सहजं चरिष्णुः ।**
**यूकादिशूकाचरणं न मुञ्चेत् कचानचापल्ययुगेष लुञ्चेत् ॥४०॥**

क्षुरोनेत्यादि—एष मुनिस्तु पुनरवद्यजिष्णुः पापाचारं जेतुमर्हं इरां व्यसनभूमिं च तरिष्णुरुत्तरीतुं योग्यः सहजं चरिष्णुरनन्यवशाचरणकारी क्षुरेण कचापहारि शस्त्रेण चोनो रहितस्सन् रोचिष्णुः सुरुचिमान् । एवं च यूकादीनां जन्तूनां शूकरा दयाभावस्याचरणमपि न मुञ्चेत्त्यजेदतश्चापल्यं न युनक्तीत्यचापल्ययुग् भवन् कचान् केशान् लुञ्चेदेव । 'शूकः स्यादनुकम्पायाम्' इति विश्वलोचने ॥४०॥

**परः परागः प्रकृतः प्रयागः स्फुरन् शरीरे सहजोऽनुरागः ।**
**सौवर्ण्यमायात्वधुनेति मे हि संस्नाति मृत्स्नातिशयेन गेही ॥४१॥**

---

कलाकारके विविध प्रकारोंसे रंग दी जाती है, उस प्रकार क्या मोतियोंसे निर्मित वस्तु भी रंगी जाती है, अर्थात् नहीं ।

**भावार्थ**—जिस प्रकार लाखके आभूषण पर रङ्ग किया जाता है, उस प्रकार मोतियोंके आभूषण पर नहीं । इसी प्रकार गृहस्थके शरीर पर विविध प्रकारको सजावट की जाती है, मुनिराजके शरोर पर नहीं ॥३८॥

**अर्थ**—शृङ्गार और सौन्दर्यमें तत्पर रहने वाला मनुष्य आदरपूर्वक स्वेच्छानुसार दर्पण लेकर तथा दर्पणमें अपने मुखका प्रतिबिम्ब देखकर केशोंमें तैल आदि सजावटकी वस्तुको धारण करता है ॥३९॥

**अर्थ**—ऊपर गृहस्थकी बात कहीं, परन्तु जो क्षुरा (उस्तरा) से रहित होने पर भी सुशोभित हैं, पापाचारको जीतने वाले हैं, संकटकी भूमि नरकादिको पार करने वाले हैं, सहज–स्वाभाविक आचरणसे सहित हैं और चपलतासे युक्त नहीं हैं, ऐसे ये मुनिराज जुआं आदि जीवोंकी दयाका आचरण करते हैं तथा केशोंका लुञ्चन करते हैं ॥४०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



पर इत्यादि—गेही जनो मृत्स्नायाः स्निग्धाया मृत्तिकाया अतिशयेनाङ्गं सम्मर्द्य संस्नाति स्नानं करोति यतस्तस्य पार्श्वे परः समुत्कृष्टः परागः स्नानीयं रजः सम्भवति, प्रयागो नाम तीर्थदेशश्च प्रकृतः प्रसङ्गप्राप्तो भवति, शरीरे च तस्य हीति नियमेनाधुना मे सौवर्ण्यं सुष्ठुवर्णत्वमायातु भवेदित्येष सहज एवानुरागोऽपि स्फुरन् वर्तते। ततः स्नान-प्रक्रमो युक्त एव ॥४१॥

**सदेह देहं मलमूत्रगेहं ब्रूयां सुरामत्रमिवापदेऽहम्।**
**तद्योगयुक्त्या निवहेदपांशु याति स्रवत्स्वेदनिपातिपांशु ॥४२॥**

सदेहेत्यादि—अहमिह देहमिदं यत्सदैव मलमूत्रयोर्गेहं गृहं तत् सुराया मद्यधाराया अमत्रं पात्रमिव केवलमापदे विक्षिप्ततारूपायै विपदे ब्रूयां वदेयम्। यश्च यतिः स इदं देहं स्रवति समुद्भवति स्वेदे श्रमजले निपाती समापतनशीलः पांशुर्यत्र तत्तथाभूतं तत एवापांशु अपगता अंशवः किरणा यस्मात्तथाभूतं निष्प्रभमित्यर्थः, योगस्य ध्यानस्य युक्त्या प्रयोगेण योगे वा युक्त्या निवहेत्, स्नानमकृत्वैवेति शेषः। अनुप्रासोऽलंकारः ॥४२॥

**मृष्टाशनत्रं रुचिवित्कलत्रन्यस्तं समासाद्य तमाममत्रम्।**
**सुविष्टरे स्पष्टतयोपविष्टः सहात्ति मित्रैः सदनेशशिष्टः ॥४३॥**

मृष्टाशनत्रमित्यादि—सदनेशैः शिष्टो गृहस्थसज्जनः स मृष्टं मनोऽभिलषित-मशनं त्रायते यत्र तत् तथा रुचिं वेत्ति समनुजानाति यत्तेन कलत्रेण भार्यया न्यस्तं समानीय दत्तं यदमत्रं भोजनपात्रं तत्समादायतमाम् उपादाय सुविष्टरे मनोभिलषितासने स्पष्टतयोपविष्टोमित्रैः सह सम्भूयात्ति समश्नाति। अनुप्रासोऽलंकारः ॥४३॥

---

अर्थ—यतश्च गृहस्थके पास स्नानके समय काम आने वाला सुगन्धित रज है, स्नानके योग्य प्रयाग नामका उत्तम क्षेत्र है, शरीरमें स्वाभाविक अनुराग है और इस समय मेरे शरीरमें सुन्दरता आवे ऐसी इच्छा है, अतः वह उत्तम मिट्टीसे शरीरका मर्दन कर स्नान करता है ॥४१॥

अर्थ—इस जगत्में मैं जिस शरीरको मलमूत्रका घर तथा मदिराके पात्रके समान विपत्तिका कारण कहता हूँ, झरते हुए पसीनाके साथ जिसकी धूलि निकल रही है, ऐसे अपांशु—निष्प्रभ शरीरको योगी ध्यानकी योजनासे धारण करते हैं—बिना स्नानके ही उसे जीवनपर्यन्त धारण करते हैं ॥४२॥

अर्थ—गृहस्थ सज्जन, मनोभिलषित भोजनसे युक्त और रुचिको जानने वाली स्त्रीके द्वारा सामने रखे भोजनपात्रको लेकर उत्तम आसन पर आरूढ हो मित्रोंके साथ भोजन करता है ॥४३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**स्वपाणिपात्रं पुनरल्पमात्रं स्थित्वात्तिकात्रं परतन्त्रसात्रम् ।**
**मुनेरथात्रस्तविजन्तुमात्रं क्व भोजनं भो जनरञ्जनात्र ॥४४॥**

स्वपाणिपात्रमित्यादि—भो जनरञ्जन ! जनानां स्नेहभाजन ! अथ पुनर्मुनेर्भोजनं यद् भवति तत्तु स्वस्य पाणिः कर एव पात्रं यत्र तत्, तथाल्पमात्रं स्वल्प रूपं, तच्च स्थित्वैव वोद्भीभूयात्तिका भुक्तिस्तां त्रायते तत्, परतन्त्रं गृहस्थाधीनं सत्रमेव सात्रं सदादानं यत्र तत्, तथा न त्रस्तं बाधायुक्तं भवेत्, विजन्तुमात्रमपि यत्र तदत्र क्व सुलभं भवेदिति चिन्तनीयम् । अनुप्रासोऽलंकारः ॥४४॥

**एतावती स्यादुदरेऽभिवृद्धिर्मृष्टेऽशने सत्यशनेऽतिगृद्धिः ।**
**नक्तंदिवं व्यक्तमहो चरिष्णोर्भवत्यवज्ञाविषया विजिष्णोः ॥४५॥**

एतावतीत्यादि—विशिष्टो जिष्णुरग्निर्यस्य तस्य गृहस्थलोकस्य नक्तंदिवं निरन्तरमेव व्यक्तं स्पष्टतया चरिष्णोर्भक्षयतः किल मृष्टे मनोऽभिलषितेऽशने सति उदरे पुनरेतावती याऽभीष्टा साभिवृद्धिः स्यादित्येतद्रूपतयाऽशनेऽतिगृद्धिर्लोलुपता साऽवज्ञाविषया ज्ञानिभिरनादरणीयैव भवति ॥४५॥

**स्फूर्तिस्त्वजग्धावुत भाति मूर्तिर्न ध्यानजूर्तिश्च सुगर्तपूर्तिः ।**
**सकृत्समश्नातु यथा न दातुः कष्टं निजस्यावनतिश्च जातु ॥४६॥**

स्फूर्तिरित्यादि—ज्ञानवतो भोजनं कीदृगिति कथयति किल—तस्य स्फूर्तिरुत्कण्ठा

---

अर्थ—परन्तु हे जनरञ्जन ! सबके स्नेहभाजन ! मुनिका जो भोजन होता है वह अपने हाथ रूपी पात्रमें होता है, अल्प होता है, खड़े होकर ग्रहण किया जाता है, परतन्त्र–गृहस्थके अधीन होता है, दानरूपमें प्राप्त होता है, बाधारहित होता है और जन्तुरहित होता है। इस तरह गृहस्थका भोजन कहाँ और मुनिका भोजन कहाँ ? दोनोंमें बड़ा अन्तर है ॥४४॥

अर्थ—जिसकी जठराग्नि विशिष्ट है तथा जो रात-दिन स्पष्ट रूपसे खाता रहता है, ऐसे गृहस्थकी 'अभिलषित भोजनके होनेपर उदरमें इतनी वृद्धि होती है' इस भावनासे युक्त जो भोजनविषयक गृद्धता–लम्पटता है, वह अवज्ञा–अनादरका विषय है।

भावार्थ—रात-दिन तथा अत्यधिक मात्रामें खाकर पेट बढ़ाने वाले मनुष्यको लोग 'पेटू' कहकर अनादृत करते हैं ॥४५॥

अर्थ—ज्ञानी मनुष्यका भोजन कैसा होता है ! यह कहते हैं। ज्ञानी मनुष्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तु तावदजग्धावनशन एवोत पुनरियं मूर्तिः शरीरं सा ध्यानस्य जूर्तिः शक्तिर्यस्यां सा नास्ति चेति दृष्ट्वा सुगर्तपूर्तिः सुगर्तस्य यथा तथा पूर्तिः क्रियते, तथैव सकृदेकवारं दिने समश्नातु खादतु ज्ञानी यथा दातुर्जातु कष्टं नास्तु न च निजस्य जात्वपि चावनतिरवज्ञा स्यात् ॥४६॥

**ताम्बूलसंचर्बणतोऽप्यतुष्यन् रदान् विशोध्यान्तरदान् मनुष्यः ।**
**सदारुणान् निष्कषदारुणापि कलङ्कयेन्मञ्जनतोऽप्यपापिन् ॥४७॥**

ताम्बूलेत्यादि—हे अपापिन् ! पापवर्जित ! मनुष्योऽयं जनसाधारणः सोऽन्तरदान् भिन्नभावं गतान् रदान् दन्तान् ताम्बूलस्य पूगदलस्य संचर्बणतः पुनः पुनरास्वादनतः अरुणान् व्याकुलानपि संशोध्यापि पुनरतुष्यन् सन्तोषमगच्छन् सन् सदा नित्यमेव निष्कष-दारुणा संघर्षणकाष्ठेनापि कलङ्कयेदलंकुर्यात् मञ्जनतोऽपि दन्तशोधकचूर्णतोऽपि कलं-कयेत् । 'अरुणो व्याकुलेऽपि च' इति विश्वलोचने । अनुप्रासोऽलंकारः ॥४७॥

**श्रुतिस्तु सत्त्वानखिलान् समेति द्विजानवध्यान् स्मृतिरप्यथेति ।**
**द्विजान्वयेष्वेष निजान्वयेषु कुतोऽङ्गुलिस्पर्शनमेतु तेषु ॥४८॥**

श्रुतिरित्यादि—श्रुतिर्वेद आगमो वा स त्वखिलानेव सत्त्वान् प्राणिनोऽवध्यान् समेति कथयति, किन्त्वथ पुनः स्मृतिरैहिकागमोऽपि द्विजान् द्विजन्मनस्त्ववध्यान् निवेदयति, अतः पुनरेषागमानुसारी मुनिर्निजान्वयेषु स्वसम्बन्धिष्वेव द्विजान्वयेषु द्विजनामधारकेषु तेषु दन्तेषु किलाङ्गुलिस्पर्शनमपि कुत एतु ? न कुतोऽपि । मुनिर्दन्तमञ्जनादिकं न करोतीति ॥४८॥

---

की उत्कण्ठा—अभिलाषा तो उपवासमें ही रहती है, परन्तु आहारके बिना शरीर-में ध्यानकी शक्ति नहीं रहती, इसलिये उदररूपी गर्तकी पूर्ति करता है। ज्ञानी मनुष्यको दिनमें एक बार ही भोजन करना चाहिये, जिससे दाताको कष्ट न हो और अपनी कभी अवज्ञा न हो ॥४६॥

**अर्थ**—हे निष्पाप ! पापरहित ! साधारण मनुष्य हिलते हुए तथा बार-बार पान चबानेसे व्याकुलताको प्राप्त हुए दाँतोंको निकालकर भी संतुष्ट नहीं होता, किन्तु दातौन और मञ्जनसे उन्हें अलंकृत करता है ॥४७॥

**अर्थ**—वेद अथवा आगम समस्त प्राणियोंको अवध्य कहते हैं और स्मृति भी द्विजोंको अवध्य बताती है। फिर यह मुनि द्विजनामधारी अपने सम्बन्धियों-दाँतोंपर अंगुली क्यों उठावे, अर्थात् अंगुलिसे उनका स्पर्श क्यों करे। तात्पर्य यह है कि मुनि दन्तधावन नहीं करते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


अनल्पतल्पे तलुनस्त्रियामामङ्गीकरोतीव तु कान्तयाऽमा ।
जयत्ययं शर्करिले शयानः किलैकपार्श्वेन चिदेकतानः ॥४९॥

अनल्पतल्प इत्यादि—तलुनो युवा संसारी स तु कान्तया स्ववनितयाऽमा सार्द्धमनल्पं बहुमूल्यं तूलपुष्पोपगादियुतं यत्तल्पं पल्यङ्कं तस्मिन् शयानस्त्रियामां रात्रिमङ्गीकरोति बहु मन्यते, किन्त्वयं संयमी स चिद् आत्मानुभवकारिणी बुद्धिस्तया सहैकतानोऽनन्यवृत्तिः सन् किलैकेन पार्श्वेन नोत्तानोऽनुत्तानो वा सन् शर्करिले कंकरप्रस्तरव्याप्ते भूतले शयानस्तां जयति व्यत्येति ॥४९॥

स्वमास्यमादर्शतलेऽभिपश्यंस्तल्पोत्थितो नैश्यरहस्यमस्यन् ।
प्रवर्तते सज्जनतासमक्षमसौ मनुष्यो व्यवहारदक्षः ॥५०॥

स्वमास्यमित्यादि—असौ व्यवहारे गृहस्थाश्रमे दक्षः सुचतुरो मनुष्यस्तल्पाच्छय्यातलादुत्थितस्तल्पोत्थितः स्वमास्यं मुखमादर्शतले दर्पणप्रान्तेऽभिपश्यन् अवलोकयन् नैश्यं निशासम्बन्धि यद्रहस्यं गोप्यं वस्तु तदेवंरीत्याऽस्यन् निराकुर्वन् समीचीना गुरुवर्गपरिपूर्णा या जनता तस्या समक्षं समुद्देशं प्रवर्तते समायाति । अनुप्रासोऽलंकारः ॥५०॥

साम्ये समुत्थाय धृतावधान इष्टेऽप्यनिष्टेऽपि कृतावसानः ।
अबुद्धिपूर्वं च समुत्थमागः संशोधयत्यध्वविदस्तरागः ॥५१॥

साम्य इत्यादि—अध्वविदपवर्गमार्गज्ञाताऽस्तरागो विषयेष्वनुरागरहितः समुत्थाय निशावसाने प्रसन्नतापूर्वकं स्थितो भूत्वाऽसाविष्टे मनोऽनुकूलेऽप्यनिष्टे तत्प्रतिकूलेऽपि कृतं स्वीकृतमवसानमभावो येन स इष्टानिष्टकल्पनारहितः, किन्तु साम्ये समभावे सामायिक-

---

भावार्थ—दो बार उत्पन्न होनेसे दांतोंको द्विज कहते हैं और गर्भनिःसरण तथा दीक्षाधारणकी अपेक्षा मुनि भी द्विज कहलाते हैं ॥४८॥

अर्थ—युवावस्थासे सहित संसारी जीव अपनी स्त्रीके साथ बहुमूल्य पलङ्ग पर शयन करता हुआ रात्रिको बहुत मानता है, परन्तु एक आत्मबुद्धिमें संलग्न मुनि कंकर-पत्थर तथा धूलिसे युक्त पृथिवी तलपर एक करवटसे शयन करते हुए रात्रिको व्यतीत करते हैं ॥४९॥

अर्थ—व्यवहार-गृहस्थाश्रममें चतुर मनुष्य शय्यासे उठकर दर्पण तलमें अपना मुख देखता हुआ रात्रि सम्बन्धी गोपनीय वृत्तको दूरकर सज्जनोंके समक्ष प्रवृत्त होता है, अर्थात् गुरुजनोंके बीच आता है ॥५०॥

अर्थ—मोक्षमार्गके ज्ञाता रागरहित मुनि प्रातःकाल उठकर साम्यभावमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



नाम्नि धृतावधानो लब्धोत्साहः सोऽबुद्धिपूर्वं चाप्यागोऽपराधं बुद्धिपूर्वं तु करोत्येव न, किन्त्वकुर्वतोऽपि यदस्य जातं तत् पुनः संशोधयति तदर्थं प्रतिक्रमणं करोतीत्यर्थः ॥५१॥

**प्रयोजनाधीनकवन्दनस्तु विलोकते क्वापि जनो न वस्तु ।**
**मूर्ध्नाऽलिवद्योऽथ रतेष्टिदीनः स्त्रियाः पदाब्जद्वितये विलीनः ॥५२॥**

प्रयोजनेत्यादि—जनः संसारी लोकः प्रयोजनमधीनं यस्य स चासौ क आत्मा तस्यैव वन्दनाय यस्य स भवति, यत स्वप्रयोजनस्य सिद्धिं वीक्षते तमेवाभिवन्दतेऽतः स वस्तु क्वापि न विलोकते । केवलं रतस्य स्त्रीप्रसङ्गस्य या किलेष्टिः समभिलाषा तया हेतुभूतया दीनो भवति ततो मूर्ध्ना मस्तकेन योऽसौ स्त्रियाः पदाब्जयोः चरणकमलयोर्द्वितयेऽथालिवद् भ्रमरवद्विलीनो भवति ॥५२॥

**यतिस्तु तत्त्वैकमतिर्जिनादिष्वास्ते गुणाधीनतयाऽभिवादी ।**
**आदीनवाऽदीनतया प्रसादिष्वेकान्ततः स्वान्त इहाप्रमादी ॥५३॥**

यतिरित्यादि—हे आदीनव ! हे संक्लिष्ट ! 'आदीनवस्तु दोषे स्यात्परिक्लिष्टदुरन्तयोः' इति विश्वलोचने । यतिः संयमी तु पुनस्तत्त्वैकमतिरात्माधीनबुद्धिरास्तेऽतः स स्वान्ते स्वमनसि किलेहाप्रमादी पापाचारविहीन एवैकान्ततो नियमत आस्तेऽतः सोऽदीनतया दीनतातो दूरवर्तितया प्रसादिषु प्रसन्नताधारकेषु जिनादिष्वर्हत्सिद्धादिपञ्चपरमेष्ठिषु गुणाधीनतया गुणानुरागवृत्त्याऽभिवादी तेषामभिवन्दनकः । अनुप्रासोऽलंकारः ॥५३॥

**स्तवोऽथ बोधस्य समाश्रमे तु निरीहतायाः स समस्ति हेतुः ।**
**मनोऽङ्गिनः काञ्चनकाञ्चनाय यो वा यदर्थी स तदभ्युपायः ॥५४॥**

---

उपयोग लगाते हैं, इष्ट और अनिष्टके विकल्पको दूर करते हैं तथा अबुद्धिपूर्वक होने वाले अपराधकी भी शुद्धि करते हैं, अर्थात् प्रतिक्रमण करते हैं ॥५१॥

**अर्थ**—जो अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये आत्माकी वन्दना करता है, वह अपने प्रयोजनके अतिरिक्त कहीं भी किसी वस्तुको नहीं देखता है। ऐसा संसारी प्राणी स्त्रीसमागमकी इच्छासे दीन हुआ मस्तकसे स्त्रीके चरण-कमल युगलमें भ्रमरके समान विलीन–आसक्त रहता है ॥५२॥

**अर्थ**—हे संक्लिष्ट ! हे संसारपरिभ्रमण खिन्न ! यतश्च संयमी–मुनि तत्त्वैकमति–आत्माधीन बुद्धि होता है, अतः वह अपने मनमें प्रमाद–पापाचारसे रहित होता हुआ नियमसे दीनतासे दूरवर्ती होनेके कारण प्रसन्नताके धारक अर्हन्त आदि पञ्च परमेष्ठियोंकी ही वन्दना करता है। वह उन्हींके गुणोंके अधीन रहता है ॥५३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तव इत्यादि—यद्यपि अङ्गिनः शरीरधारिणो मनः कञ्चनमेव काञ्चनमिति कृत्वा स्वार्थे कः प्रत्ययस्तस्य अञ्चनाय सुवर्णस्यैव स्तवनाय प्रवर्तते, किन्तु समताया आश्रमे समाश्रमे त्यागमार्गे तु पुनरथ बोधस्य केवलशुद्धात्मनो ज्ञानस्य स्तवो वचसा विश्लाघनं भवति यतः, स एव बोधो निरीहतायाः समताया हेतुः कारणं समस्ति। यो वा जनो यदर्थी यत्प्रयोजनवान् भवति स तदभ्युपायस्तस्मै यत्नकरो भवतीत्यर्थान्तरन्यासः ॥५४॥

**सम्पादयाम्यद्य तदेतदादावपूर्णमस्ताह्नि अहो प्रमादात्।**
**तत्कृत्यमित्थं च तदित्युपायपरो नरोऽयं भविता सुखाय ॥५५॥**

सम्पादयामीत्यादि—अयं नरः सुखाय समाश्वासनहेतवेऽहं किलाद्यादौ तदेतत्सम्पादयामि यदस्ताह्नि पूर्वस्मिन् दिने प्रमादादालस्यवशादपूर्णमसम्पन्नमेवाहो संस्मरणे तथा चाद्याधुना तत्कृत्यं करणीयमास्ते तत्त्वित्थं कृतमेवेत्युपायपरो भवितास्ति निरन्तरमेतादृगेव चिन्तयति ॥५५॥

**यतिः सदैवं यततेऽनवद्यपथे प्रथावानहमद्य सद्यः।**
**त्यजामि यद्धयः स्खलितं ह्यसह्यं श्वस्तावदास्ते रुचिकृत्तु मह्यम् ॥५६॥**

यतिरित्यादि—यतिस्तु यो भवति सोऽनवद्यपथे पापापेते वर्त्मनि प्रथावान् प्रगतिवान् भवति, ततः स सदैवंप्रकारेण यतते प्रयत्नं करोति यदहमद्य सद्यस्तत्कालमेव तत्त्यजामि परिहरामि यत्किञ्चित्किल ह्यः पूर्वस्मिन् दिने स्खलितं प्रमादादन्यथाचरितं हि यस्मात्कारणान्मह्यं तदरुचिकृत् किल हानिकरमेवातः श्वस्तावदनागतदिवसपर्यन्तमसह्यमास्ते। अनुप्रासालंकारः। प्रतिक्रमणप्रकारोऽयम् ॥५६॥

---

अर्थ—संसारी जीवका मन सुवर्णकी स्तुतिके लिये होता है, परन्तु समताके आधारभूत मुनिमें शुद्धात्मज्ञानका स्तवन होता है, क्योंकि वह निरीहता-निःस्पृहताका हेतु है। ठीक ही है, क्योंकि जो मनुष्य जिस वस्तुका इच्छुक होता है, वह उसीके लिये उपाय करता है ॥५४॥

अर्थ—संसारी प्राणी निरन्तर ऐसा विचार करता रहता है कि आज मैं पहले यह कार्य करता हूँ, कल यह कार्य प्रमादसे अपूर्ण रह गया था और आज यह कार्य इस तरह करने योग्य है। इस प्रकार यह मनुष्य सुखके लिये उपाय करनेमें तत्पर रहता है ॥५५॥

अर्थ—मुनि निरन्तर पापरहित मार्गमें प्रगति करते हुए इस प्रकार प्रयत्न करते हैं कि आज मैं इस कार्यको शीघ्र ही छोड़ता हूँ। पूर्वदिन प्रमादसे जो विपरीत आचरण हुआ था, वह मेरे लिये अरुचिकर है—उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ और आगामी दिवस पर्यन्त वह कार्य मेरे लिये असह्य है ॥५३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



शास्त्राणि शस्त्राणि किलान्तरङ्गनियन्त्रणानीति वदत्यचङ्गः ।
कदापि चेदाश्रयतोष्टसिद्धिकराणि तानीह नरेश विद्धि ॥५७॥

शास्त्राणीत्यादि—अचङ्गो निर्विचारो जनः सोऽन्तरङ्गस्य मनसो नियन्त्रणं भवति यैस्तानि शास्त्राणि सन्तीति हेतोस्तानि किल शस्त्राणि वदति ततो दूरतर एव तिष्ठति । कदापि श्रयति तानि चेत्तदेहेष्टसिद्धिकराणि यानि जानाति तान्येव श्रयति किलेति हे नरेश ! त्वं विद्धि जानीहि । 'चङ्गो दक्षेऽथ शोभने' इति विश्वलोचने ॥५७॥

निराश्रयत्वेन स शान्तिजानिः समुत्तरंस्तान्यथ दुःश्रुतानि ।
ध्यानात्यये श्राम्यति चागमेषु स्वभावसम्भावनयान्वितेषु ॥५८॥

निराश्रयत्वेनेत्यादि—अथ शान्तिर्जाया प्रिया यस्य स शान्तिजानिर्मुनिर्निर्गतः शान्तेराश्रयो येभ्यस्तत्त्वेन यानि प्रसिद्धानि कलहविसंवादादिसम्पादकानि दुःश्रुतानि तानि समुत्तरन् परिहरन् केवलं स्वभावस्यात्मभावस्य सम्भावनाऽनुचिन्ता तयान्वितेषु चागमेषु ध्यानस्यात्मन्येकाग्रत्वस्यात्ययेऽभावे स्वात्मभावनतो मनसः प्रच्यवनकाले श्राम्यति विश्रामं करोति ॥५८॥

देहाय हा कर्मकरायतेऽयं यत्तत्समादानविधावगेयः ।
विपद्यतेऽतीव विपद्यमानेऽमुष्मिन्नहो किन्तु रहो न जाने ॥५९॥

देहायेत्यादि—अयं संसारी जनः स तच्च तच्च समादानं नित्यकर्म देवपूजनादि 'समादानं समीचीनग्रहणे नित्यकर्मणि' इति विश्वलोचने, तस्य विधौ संविधाने गेयेन

---

**अर्थ**—हे नरेश ! अचङ्ग-विचारहीन मनुष्य मनका नियन्त्रण करने वाले शास्त्रोंको शस्त्र कहता है–उनसे सदा दूर रहता है । यदि कदाचित् शास्त्रोंका आश्रय लेना भी है तो अपना प्रयोजन सिद्ध करानेवाले शास्त्रों–रागद्वेषवर्धक शास्त्रोंका आश्रय लेता है–उनका पठन-पाठन करता है, ऐसा जानो ॥५७॥

**अर्थ**—शान्तिरूप स्त्रीसे सहित मुनि शान्तिका आश्रय न होनेसे कुशास्त्र कहे जानेवाले शास्त्रोंको छोड़ते हुए ध्यानके अभावमें स्वकीय शुद्ध आत्माके अनुचिन्तनसे सहित आगमों–शास्त्रोंमें श्रम करते हैं–उनका स्वाध्याय करते हैं, अर्थात् आत्मध्यानसे उपयोग हटनेपर समीचीन शास्त्रोंका स्वाध्याय करते हैं ॥५८॥

**अर्थ**—यह संसारी प्राणी देवपूजा आदि नित्य कर्मोंमें कर्तव्यहीन होता हुआ एक शरीरके लिये ही कर्मकर–भृत्यका आचरण करता है–उसीकी सँभाल–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


गानयोग्येन कर्तव्येन रहितत्वादगेयः सन्देहायैवास्मै कर्तव्य इवाचरतीति कर्मकरायते हा खेदप्रकाशने। तथामुष्मिन् विपद्यमाने जातुचिदपि विचलतामनुकुर्वाणे शरीरेऽतीव विपद्यते बहु कष्टमनुभवति तदहो विस्मयस्थलमत्र किन्नु रहो गुह्यतत्त्वमित्यहं न जाने। अथवाऽत्र किन्नु रहः किमपि तत्त्वं नास्तीत्यहं जानेऽनुभवामि। अनुप्रासोऽलंकारः ॥५९॥

**श्रमैकसंवाहि किलाभिजल्पन् विनिर्वहत्यात्तकलत्रकल्पम्।**
**ज्वलत्कुटीरोपममेतदङ्गमापत्क्षणे मोक्तुमुदेत्यसङ्गः ॥६०॥**

श्रमैकसंवाहीत्यादि—असङ्गः संयतो जन आत्तं स्वीकृतं च तत्कलत्रं स्त्री वा दुर्गस्थानं वा 'कलत्रं भूभुजां दुर्गस्थानेऽपि श्रोणिभार्ययोः' इति विश्वलोचने, तस्य कल्पो विधिरिव विधिर्यस्य तदेतदङ्गं श्रमैकसंवाहि यत्किञ्चिच्छ्रमदानं दत्त्वा निर्वहनयोग्यं किलाभिजल्पन् संवदन् पुनरापत्क्षणे विपत्तिवेलायामेतन्मोक्तुं तत्कालं त्यक्तुमुदेतिः तत्परस्तिष्ठति ज्वलत्कुटीरोपमं दह्यमानकुटीरसदृशमिति किलोपमालंकारः ॥६०॥

**अनन्यमान्या स्वगुणैकधान्या मुनेः सदा न्यायपथानुमान्या।**
**जनस्य नीतिः परतः प्रणीतिः सभीतिरास्ते विकलप्रतीतिः ॥६१॥**

अनन्यमान्येत्यादि—मुनेर्नीतिः परिणतिस्सा सदा न्यायस्य समौचित्यस्य यः पन्था मार्गस्तेनानुमान्या समादरणीयाऽथवानुमानविषयाऽनुमेया भवति तथा स्वस्यात्मनो यो गुणो निर्ममत्वादिः स एव धान्यं व्रीहिर्भक्षणीयमन्नं यत्र साऽनन्यमान्या परमादरणीया भवति, किन्तु जनस्य नीतिः सा परतः प्रणीतिः पराधीनजीवनाऽतः सभीतिर्भयान्विता तथा विकलाऽपरिपूर्णा प्रतीतिः परिज्ञानं यत्र सा भवति। अनुप्रासोऽलंकारः ॥६१॥

---

में निरन्तर निमग्न रहता है। यदि कदाचित् यह नष्ट होनेकी स्थितिमें होता है, तो अत्यन्त कष्टका अनुभव करता है। आश्चर्य है कि इसके रहस्य—गूढ तत्त्वको मैं नहीं जान पा रहा हूँ ॥५९॥

अर्थ—परन्तु परिग्रहसे रहित मुनि इस शरीरको 'यह खेदको ही उत्पन्न करनेवाला है' ऐसा कहते हुए स्वीकृत स्त्री अथवा दुर्गम स्थानके समान उसका निर्वाह करते हैं, अर्थात् भोजन-पान देकर उसकी रक्षा करते हैं, परन्तु विपत्तिका अवसर आनेपर—मृत्युका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर उसे जलती हुई झोपड़ीके समान छोड़नेके लिये तत्पर रहते हैं ॥६०॥

अर्थ—मुनिकी परिणति सदा न्यायमार्गका अनुसरण करनेवाली तथा स्वकीय गुणरूपी धान्यसे सहित होती है, अतः वह परमादरणीय है, परन्तु संसारी जनकी नीति परके अधीन होती है, अतः वह भयसे सहित और अपूर्ण ज्ञानवाली होती है ॥६१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


पादुकेव सति कण्टकाततेऽप्यस्ति चिज्जगति गुप्तये यतेः ।
अङ्गिनः स्वतलसादभासिनी दीपिकेव जगते प्रकाशिनी ॥६२॥

पादुकेवेत्यादि—यतेश्चिद् बुद्धिः सा कण्टकैराततै व्याप्ते जगति भूतले सत्यपि पादुकेव तस्य स्वस्य रक्षाविधायिनी सास्ति, किन्त्वङ्गिनः संसारिणस्तु सा मतिः दीपिकेव जगते प्रकाशदायिनी च स्वतलसात् स्वान्ततलस्यैव वाऽभासिनी न ज्ञानवती भवति । उपमालंकारः ॥६२॥

विषयोत्थं सुखं यत्तद् विषान्नमिव दुःखदम् ।
त्यक्त्वा निजं विजानातु सुधारसमयं बुधः ॥६३॥

विषयोत्थमित्यादि—बुधो बुद्धिमान् नरः समस्ति यः स विषयेभ्यो रामादिसंपर्केभ्य उत्था जन्म यस्य तत्सुखं विषान्नमिव विषमिश्रितभोजनमिव दुःखदमित्यतस्तत् त्यक्त्वा सुधारसमयममृतभावपूर्णमथ च सुधारस्य संशोधनस्य समयोऽवसरो यस्य तं निजमात्मानं विजानातु ॥६३॥

आपातमात्ररमणीयमणीय एतत्
किम्पाकवत् परमपाकरणीयतेतः ।
पातुं नृपातुरतया तु न यातु कश्चिद्
धर्म्यं विपाकपटुकं कटुकं विपश्चित् ॥६४॥

आपातेत्यादि—एतल्लोकसम्मतं वैषयिकं सुखमणीयोऽत्यन्तात्पं क्षणस्थायि चाऽऽपातरम्यमेव रमणीयं तत्कालमनोहरमिव भाति, किन्तु परिणामे दुःखदं किंपाकवन्महा-

---

**अर्थ**—जगत्के कण्टकोंसे व्याप्त रहते हुए योगी-मुनिकी वृत्ति पादुकाके समान गुप्ति-रक्षाके लिये है, अर्थात् जिस प्रकार कण्टकाकीर्ण भूमि पर चलते समय पादुका रक्षा करती है, उसी प्रकार मुनिकी बुद्धि रागरङ्गसे भरे हुए जगत्में उनकी रक्षा करती है और संसारी मनुष्यकी बुद्धि दीपकके समान यद्यपि जगत्के लिये प्रकाशित करती है, परन्तु अपने आपको प्रकाशित नहीं करती—'दिया तले अँधेरा' की लोकोक्तिको चरितार्थ करती है ॥६२॥

**अर्थ**—जो विषय जन्य सुख है, वह विषमिश्रित अन्नके समान दुःखदायक है, अतः उसे छोड़कर ज्ञानी पुरुष सुधारसमयं-अमृत रससे परिपूर्ण अथवा सुधार-संशोधनके अवसरसे सहित निज आत्माको जाने ॥६३॥

**अर्थ**—हे नृप ! हे राजन् ! यह विषय सुख प्रारम्भमें ही रमणीय है, अत्यन्त अल्प है तथा किंपाक फल-विषफलके समान है, अतः अब तुम्हारी इसमें अपा-


Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain, Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


कालफलवद्भवति। तत इतः परं केवलमपाकरणीयता परिहरणीयतैव भवतु। हे नृप! धर्म्यं तु सदाचरणं यद्यपि कटुकं प्रतिभाति तावत्, किन्तु विपाके पटुकं मनोहरमेव तत आतुरतया कश्चिद् विपश्चिद्विज्ञो न पातुं यातु किन्तु पिबत्वेव ॥६४॥

धर्मस्वरूपमिति सैष निशम्य सम्यङ्
नर्मप्रसाधनकरं करणं नियम्य।
कर्मप्रणाशकरशासनकृद्धुरीणं
शर्मैकसाधनतयार्ऽथितवान् प्रवीणः ॥६५॥

धर्मस्वरूपमित्यादि—प्रवीणो जयकुमारः सैष इत्युपर्युक्तप्रकारं कर्मणो दुरितस्य प्रणाशनकरं विध्वंसकरं यच्छासनं सम्प्रेरणं कुर्वन्ति तेषु धुरीणं सर्वोपरि वर्तमानं धर्मस्य स्वरूपं निशम्य श्रुत्वा पुनर्नर्मणो विनोदस्य प्रसाधनकरं सम्पादकं करणं जात्यपेक्षयैक-वचनं तेन करणानीन्द्रियाणि सम्यङ नियम्य शर्मणः स्वहितस्यैकं प्रसिद्धं यत्साधनं कारणं तत्तयार्ऽथितवान् परिगृहीतवान्। अनुप्रासोऽलंकारः। सैष इत्यत्र स चैष इति पादपूर्तौ-विधिः ॥६५॥

जग्मुर्निर्वृतिसत्सुखं समधिकं निर्देशतातीतिपं
यस्मादुत्तमधर्मतः सुमनसस्ते शश्वदुद्भासितम्।
कुज्ञानातिगमन्तिमं स मनसा तेनार्जितः सिद्धये
येनासौ जनिरायतिः सकुशला पञ्चायतचिछत्तये ॥६६॥

जग्मुरित्यादि—ते प्रसिद्धा नाभेयादयः सुमनसः पवित्रचित्ता यस्मादुत्तमधर्मतः शश्वदुद्भासितमुत्पादानन्तरं सदावर्तमानकं कुज्ञानात्पराधीनाद् बोधावतिगं दूरवर्ति तथा-न्तिमं सम्पन्नावस्थं निर्देशता वाच्यता तस्या अतीतिं पाति स्वीकरोतीति तत् केनापि

---

करणीयता त्याग बुद्धि हो। धर्माचरण यद्यपि कटुक—तत्कालमें दुःखप्रद जान पड़ता है, परन्तु विपाक—फलकालमें सुखद है। इसका पान करनेके लिये कौन ज्ञानी जीव उत्कण्ठापूर्वक न जावे, अर्थात् सभी जावें ॥६४॥

अर्थ—आत्महितसाधनमें निपुण जयकुमारने इस प्रकार कर्म-विध्वंसक शासनके करनेवालोंमें प्रमुख धर्मके स्वरूपको अच्छी तरह सुन कर तथा विनोद-का साधन करनेवाली इन्द्रियोंको नियन्त्रित कर सुखका अद्वितीय साधन होनेसे दीक्षाको ग्रहण किया ॥६५॥

अर्थ—जिससे पवित्र चित्तवाले वे प्रसिद्ध महापुरुष समताके समुद्र, वचना-गोचर, स्थायी, कुज्ञानसे रहित और अन्तिम—सर्वोत्कृष्ट निर्वाण-सुखको प्राप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



शब्देन तत्सुखमीदृशं भवतीति वक्तुमशक्यम् तथा समधिकं समभावस्य समुद्रस्वरूपं जन्मुः समापुर्येन च धर्मेणासौ जनिः वर्तमानं जन्म तथाऽऽयतिरुत्तरकालपरिस्थितिरपि पञ्चानामिन्द्रियाणामाय आजीवनं तस्य तः परिपालनं तस्य च्छित्तये विनाशाय किलेन्द्रियनिग्रहाय सकुशला कुशलसहिता दक्षा स्यात्, स धर्मस्तेन जयकुमारेण सिद्धये मुक्तये जन्ममरणहानयेऽर्जितोऽङ्गीकृतः। अस्य चक्रबन्धस्याग्राक्षरैः षष्ठाक्षरैश्च 'जय कुपतये सद्धर्मदेशना' किलेति निर्गच्छति ॥६६॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
काव्ये मञ्जुतमेऽस्य विंशतितमः सप्ताधिकोऽस्त्येति यः
सत्कर्तव्यकथोपदेशनपरो लक्ष्योऽपवर्गश्रियः ॥६७॥

श्रीमानित्यादि—मञ्जुतमेऽतिमनोहरे, अपवर्गश्रियः मोक्षलक्ष्म्या लक्ष्य इति । शेषं स्पष्टम् ॥६७॥

---

हुए थे और जिसके द्वारा वर्तमान जीवन तथा आगामी जीवन कुशलतासे युक्त होता है, उस उत्तम धर्मको जयकुमारने पञ्चेन्द्रियोंकी प्रवृत्तिका विघात करने एवं मुक्ति प्राप्त करनेके लिये हृदयसे स्वीकृत किया ॥६६॥

इति वाणीभूषणब्रह्मचारिभूरामलशास्त्रिविरचिते सुलोचनास्वयंवरापरनामधेयेजयोदयमहाकाव्ये सप्तविंशतितमः सर्गः समाप्तः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# अष्टाविंशतितमः सर्गः

स दारुणोदितां वृत्तिं परिवर्त्य सतांपतिः ।
गुरोरनुग्रहप्राप्त्या समवापाच्छतामथ ॥१॥

सदेत्यादि—सदा अरुणेन सारथिना उदितां वृत्तिं सूर्यसम्बन्धिनीं परिवर्त्य अन्यथा कृत्वा गुरोः बृहस्पतेः अनु पश्चाद् ग्रह इति प्राप्त्या अच्छतां श्वेतवर्णतां शुक्रस्य श्वेतवर्णत्वात् समवापेति सतां नक्षत्राणां पतिः सूर्यः छः न भवतीणि अच्छः असूर्यः, 'छश्छेदकार्कयोः' इति विश्वलोचने । सतांपतिर्जयकुमारो गुरोर्वृषभदेवस्यानुग्रहप्राप्त्या प्रसादेन स दारुणोदितां भयंकरां दुर्जनेभ्यो वैरिभ्योऽतिकष्टदायिनीं वृत्तिं राजकीयां चेष्टां परिवर्त्य अच्छतां हृदयस्य सरलतां छा छेदनक्रिया परेभ्यो बाधा यस्य न भवति यत्र वा न भवति सोऽच्छस्तस्या भावस्तत्तां दारुणा उदितां काष्ठसंजातां वृत्तिं गुरोऽनुग्रहप्राप्त्या परिवर्त्य स सतांपतिः अच्छतां स्फटिकरूपतां समवापेत्यर्थः ॥१॥

राजतत्त्वपरित्यागात् समिनोदितवर्णता ।
पश्यतो हरतो जाताथानिद्रालोः स्वशर्मणि ॥२॥

राजतत्त्वेत्यादि—अथ स्वामिनः सदुपदेशप्राप्त्यनन्तरं स्वशर्मणि आत्महिते

---

अर्थ—तदन्तर सज्जनोंके स्वामो जयकुमारने गुरु–भगवान् वृषभदेवके प्रसादसे भयंकर वृत्तिको परिवर्तित कर अच्छता–सरलताको प्राप्त किया ।

अर्थान्तर—सदा अरुण–सारथिके द्वारा उदित–प्रकट वृत्ति–प्रवृत्तिको परिवर्तित कर गुरु–बृहस्पतिके अनु पश्चात् आनेवाले ग्रह–शुक्रकी प्राप्तिसे सतांपति–नक्षत्रोंके स्वामी सूर्यने अच्छता–असूर्यताको प्राप्त किया । अथवा दारुणा–काष्ठके द्वारा वृत्तिको परिवर्तित कर सतां पतिः–सज्जनोंके स्वामी उन जयकुमारने गुरु–भगवान् वृषभदेवके अनुग्रह–प्रसन्नता की प्राप्तिसे अच्छता–स्फटिकताको प्राप्त किया ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर आत्महितमें जागरूक जयकुमारके राजतत्त्व–प्रजापालन रूप राजतत्त्वका परित्याग होनेसे पश्यतः–चराचरका अवलोकन करने वाले हरतः–महादेव श्रीवृषभदेवकी समिना–उदित–वर्णता–ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित वर्णता–दिगम्बर मुद्रा जाता–सम्पन्न हुई, अर्थात् भगवान् ऋषभदेवने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



अनिद्रालोरनलसस्य जयकुमारस्य राजतत्त्वपरित्यागात् पृथिवीपालकरूपतापरित्यागात्, समिना योगिना उदितो यो वर्णः स्वजातीयसमूहलक्षणस्तत्ता, पश्यतः समवलोकयतः हरतः श्रीवृषभदेवस्वामिनः महादेवाद् जाता सम्प्राप्ता।

स्वशर्मणि अनिद्रालोः कर्तव्यकार्ये समुदितस्य कस्यापि जनस्य पश्यतोहरतः स्वर्णकाराद् हेतोः राजतत्त्वपरित्यागात् दुर्वर्णता समिनेन अभ्युदितसूर्येण उदितं वर्णं हेम तत्ता जाता। अहः दिनं पश्यतः, अतः स्वशर्मणि अनिद्रालोर्जनस्य राज्ञस्तत्त्वं चन्द्रमसः स्वरूपं रात्रिलक्षणं तस्य परित्यागात् सम्यग् इनः सूर्यः समिनस्तेन उदितो यो वर्णस्तत्ता जाता ।।२।।

स्फोटयितुं हि कमलं कौमुदं नान्वमन्यत ।
सानुग्रहतयार्हन्तमुपेत्यासीत् तपोधनः ।।३।।

स्फोटयितुमित्यादि—कमलं कस्यात्मनो मलं रागद्वेषादिरूपं स्फोटयितुं दूरीकर्तुं तावत् कौ पृथिव्यां मुदं हर्षं किञ्चिदपि नान्वमन्यत अस्मिन् भूतले विप्रयोगादितया सर्वदा दुःखं विहाय सुखस्य नामलेशोऽपि नास्तीति बुद्धिमान् जयः अनुग्रहेण परोद्धरणलक्षणेन सहितः सानुग्रहस्तस्य भावस्तत्ता तया अर्हन्तं समुल्लसन्तं भगवन्तं प्राप्य तपोधन आसीत्।

कमलं जलजं स्फोटयितुं विकासयितुं पुनः कौमुदं रात्रिविकासिकमलसमूहं यो नान्वमन्यत स सानूनां शिखराणां गुहः संग्रहः सम्भवति यत्र तस्य भावस्तत्ता तया अर्हन्तं समुल्लसन्तं उदयनामपर्वतम् उपेत्य अधिरुह्य तपोधनः धर्माधिकारी आसीत् सूर्यः ।।३।।

---

जिस दिगम्बर मुद्राका कथन किया था, आत्महितमें सावधान रहने वाले जय कुमारने उसे धारण किया।

**अर्थान्तर**—अपने करने योग्य कार्यके विषयमें सावधान रहने वाले किसी मनुष्यके स्वर्णकारके निमित्तसे जो दुर्वर्णता–कुरूपता पक्षमें चाँदीरूपता आ गई थी, उसमें पुनः राजतत्त्वपरित्यागात् चाँदीपनका परित्याग होनेसे सम्यक् प्रकारसे उदित सूर्य सदृशवर्णता–सुवर्णपना जाता प्रकट हो गया। अथवा अहः पश्यतः–दिनको देखने वाले एवं आत्मसुखमें सावधान व्यक्तिके चन्द्रत्वका परित्याग होनेसे पुनः सूर्यरूपता प्रकट हो गई ।।२।।

**अर्थ**—जयकुमारने कमल–रागद्वेषादिरूप आत्ममलको दूर करनेके लिये कौमुद–पृथ्वीसम्बन्धी हर्षको स्वीकृत नहीं किया था। इसलिये वे परके उद्धार रूप अनुग्रहसे सहित होनेके कारण शोभायमान अर्हन्त–वृषभ जिनेन्द्रके पास जाकर तपोधन–मुनि हो गये। अथवा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


सहसा सह सारेणापदूषणमभूषणम् ।
जातरूपमसौ भेजे रेजे स्वगुणपूषणः ॥४॥

**सहसेत्यादि**—असौ जयकुमारः सहसा शीघ्रमेव सारेण उत्साहेन सह वर्तमानम् अपदूषणं दोषवर्जितम् अभूषणं च वेषभूषावर्जितं जातरूपं दिगम्बरत्वं भेजे धृतवान् सन् स्वगुणानां क्षमादीनां पूषेव सूर्य इव णः निर्णयकारकः सन् शुशुभे ॥४॥

सदाचारविहीनोऽपि सदाचारपरायणः ।
स राजापि तपस्वी सन् समक्षोऽप्यक्षरोधकः ॥५॥

**सदाचारेत्यादि**—सदा निरन्तरं यश्चारः पर्यटनं व्यर्थं भ्रमणं तेन विहीनः सन्नपि सदाचार एव परायण इति विरोधस्तस्मात् सदाचारे ध्यानस्वाध्यायादिलक्षणे परायणः तत्पर इत्यर्थः । समक्षः अपि पवित्रेन्द्रियः सन्नपि अक्षाणां रोधकः परिहारक इति विरोधस्तस्मात् समक्षः सर्वसाधारणानां गोचरः, यद्वा सम्यग् अक्ष आत्मा स समक्षः सन् अक्षरोधकः इन्द्रियविजयी इत्यर्थः । स राजा पृथ्वीपालकः सन्नपि तपस्वीति विरोधस्तस्मात् स राजा शोभनशरीरः सन् तपस्वी जातः ॥५॥

हरेयैवेरया व्याप्तं भोगिनामधिनायकः ।
अहीनः सर्पवत् तावत् कञ्चुकं परिमुक्तवान् ॥६॥

---

**अर्थान्तर**—कमलोंको विकसित करनेके लिये सूर्यने कुमुदसमूहको स्वीकृत नहीं किया, किन्तु सानुग्रहता–शिखरोंके संग्रहसे सुशोभित उदयाचलको प्राप्त कर वह तपोधन–धर्मधन–धर्माधिकारी हो गया ॥३॥

**अर्थ**—जयकुमारने शीघ्र ही उत्साहसे सहित, दोषरहित एवं आभूषणरहित दिगम्बर मुद्राको धारण किया और आत्मगुणोंके सूर्यके समान निर्णायक हो सुशोभित होने लगे ॥४॥

**अर्थ**—वह मुनि जयकुमार सदाचार–निरन्तर परिभ्रमणसे रहित होकर भी सदाचारपरायण थे, निरन्तर परिभ्रमण करनेमें तत्पर रहते थे (परिहार पक्षमें ध्यान-स्वाध्याय आदि समीचीन आचार–आचरणमें तत्पर थे), राजा होकर भी तपस्वी थे (परिहार पक्षमें राजा–सुन्दर शरीर वाले होकर भी तपस्वी थे) और समक्ष–पञ्चेन्द्रियोंसे सहित होकर भी अक्षरोधक–इन्द्रियोंका निरोध करनेवाले थे (परिहार पक्षमें समक्ष–सर्वसाधारणके गोचर–मिलनेके योग्य अथवा समीचीन अक्ष–आत्मासे सहित थे.) ॥५॥

---

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



हेरयैवेत्यादि—सर्पवत् स राजा जयकुमारः भोगिनां सुखोसम्पत्तिशालिनां पक्षे सर्पाणामधिनायकः, अत एवाहीनः समुन्नतः पक्षेऽहीनां सर्पाणामिनः स्वामी, इरया व्याप्तं पृथिव्या स्वीकृतं पक्षे विषरूपव्यापत्तिसमाक्रान्तं कञ्चुकमङ्गरक्षकं पक्षे निर्मोकं मुक्तवान् तत्याज ।।६।।

पञ्चमुष्टि स्फुरद्दिष्टिः प्रवृत्तोऽखिलसंयमे ।
उच्चखान महाभागो वृजिनान् वृजिनोपमान् ।।७।।

पञ्चमुष्टीत्यादि—स्फुरन्ती दिष्टिः भाग्यसत्ता यस्य स वृजिनोपमान् पापतुल्यान् वृजिनान् केशान् पञ्चमुष्टि यथा स्यात्तथा उच्चखान पञ्चमुष्टिलोचनं कृतवान् इत्यर्थः । 'वृजिनं कलुषे क्लीवं केशे ना कुटिले त्रिषु' इति विश्वलोचने ।।७।।

कृताभिसन्धिरभ्यङ्गनीरागमहितोदयः ।
मुक्ताहारतया रेजे मुक्तिकान्ताकरग्रहे ।।८।।

कृताभिसन्धिरित्यादि—मुक्तिकान्तायाः करग्रहे परिणयने कृता अभिसन्धि-विचारधारा येन सः, अङ्गमभिव्याप्य वर्तत इत्यभ्यङ्गं शरीरं प्रति ये रागात् निष्क्रान्ता नीरागास्तैर्महितः पूजित उदयो यस्य स नीरागमहितोदयः पक्षेऽभ्यङ्गमुद्वर्तनं च नीरं च तयोः आगमेन संसर्गेण हितस्योदयो यस्य सः, मुक्तः आहारोऽशनं येन तस्य भावस्तत्ता तया, पक्षे मुक्तानां मौक्तिकानां हारो यस्य तस्य भावस्तेन रेजे शुशुभे ।।८।।

---

अर्थ—जो सर्पके समान भोगियों-सुखसम्पत्तिशाली मनुष्यों (पक्षमें फणाधारी सर्पों) के नायक थे तथा अहीन-समुन्नत (पक्षमें अहियों सर्पोंके इन-स्वामी) थे, ऐसे जयकुमारने इरा पृथिवीरूप इरा-मदिराके द्वारा व्याप्त कञ्चुक-अंगरक्षक पक्षमें कांचलीको छोड़ दिया था ।।६।।

अर्थ—जिनका भाग्य प्रबल था तथा जो सकल संयमके धारण करनेमें प्रवृत्त थे, ऐसे जयकुमारने पापतुल्य केशोंको पाँच मुष्टियोंमें ही उखाड़ डाला ।।७।।

अर्थ—मुक्तिरूपी कान्ताके पाणिग्रहण-विवाहमें जिनका अभिप्राय लग रहा है तथा अभ्यङ्गनीराग-शरीरके प्रति वीतराग मनुष्योंके द्वारा जिनका उदय-अभ्युदय पूजित है (पक्षमें उबटन और जलसे जिनकी शोभा बढ़ रही है), ऐसे जयकुमार मुक्ताहारतया-आहारका त्याग करनेसे (पक्षमें मोतियाँका हार धारण करनेसे) सुशोभित हो रहे थे ।।८।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


प्रायश्चित्तं चकारैष विनयेन समन्वितम् ।
स्वाध्यायसहितं धीरः परिणामानुयोगवान् ॥९॥

प्रायश्चित्तमित्यादि—परिणामानां निजभावानामनुयोगः सम्यक् प्रेरणा तद्वान् एष धीरो जयकुमारः प्रायः प्रचुरभावेन चित्तं स्वाध्यायसहितं विनयेन नम्रभावेन समन्वितं संयुक्तं चकार कृतवान् ॥९॥

अमानवर्द्धितत्त्वार्थग्रामाय लोकवर्त्मना ।
योजनेनाप्यलभ्याय लङ्घनं कृतवान् मुहुः ॥१०॥

अमानवर्द्धीत्यादि—यः जयकुमारः अमानवैर्देवजनैर्लभ्या या ऋद्धयः सम्पत्तयस्तासां तत्त्वार्थस्य यो ग्रामः समूहः, अथवा तु अमानवर्धीनां तत्त्वानां च जीवादीनां ग्रामः समूहः, पक्षे एतन्नामकं जनस्थानं तस्मै जनेन सर्वसाधारणलोकेन अलभ्याय अप्राप्याय यद्वा योजनेनाऽपि चतुःकोशात्मकेन अलभ्याय अतिदूरायेइत्यर्थः, मुहुः लङ्घनमनशनं पक्षे विहरणं कृतवान् ॥१०॥

मारवाराभ्यतीतः सन्नथो नोदलताश्रितः ।
निवृत्तिपथनिष्ठोऽपि वृत्तिसंख्यानवानभूत् ॥११॥

मारवारेत्यादि—अथ पुनः स मारवारेण नाम देशेन अभ्यतीतः सन्नपि उदलतां जलयुक्ततां न श्रित इति विरोधः, तस्मान्मारस्य कामदेवस्य यो वारः समाक्रमणं

---

अर्थ—अपने भावोंकी प्रेरणासे सहित धीरवीर जयकुमार प्रायश्चित्त और विनयसे सहित स्वाध्यायको करते थे अथवा अपने चित्तको अत्यधिक मात्रामें स्वाध्याय-आत्मचिन्तन और विनयसे युक्त करते थे ॥९॥

अर्थ—जयकुमार मुनिने गणधरादि देवजनोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य ऋद्धियों-सम्पत्तियोंकी यथार्थताके समूहको अथवा गणधरादि देवजनोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य ऋद्धियों और जीवादि तत्त्वोंके उस समूहके लिये जो कि लौकिक मार्गसे साधारण जनोंके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, बहुत बार उपवास किये थे। अथवा उस स्थानविशेषको जो कि योजनके द्वारा भी-एक योजन भी चलकर प्राप्त नहीं किया जा सकता, प्राप्त करनेके लिये लङ्घन-विहार किया था ॥१०॥

अर्थ—तदनन्तर जयकुमार मुनि मारवाराभ्यतीतः-मारवाड़ देव अतिक्रान्त होने पर भी उदलतां-जलयुक्त प्रदेशताको प्राप्त नहीं हुए थे (परिहार पक्षमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तेनाभ्यतीतः सन्, अथ ऊनोदलतां रलयोरभेदादूनोदरतां स्वल्पभोजनग्राहकतां श्रितः, निवृत्ता वृत्तिर्यस्मान् स निवृत्तिरेतादृशे पथि निष्ठा यस्येत्येवंभूतः सन्नपि वृत्तीनां संख्यानं तद्वानभूदिति विरोधस्तस्मान्निवृत्तिपथे भुक्तिमार्गे वृत्तिरहिते निष्ठा यस्य स वृत्तिसंख्याननामकानुष्ठानवानभूत् ॥११॥

**अनेकान्तप्रतिष्ठोऽपि चैकान्तस्थितिमभ्यगात् ।**
**अकायक्लेशसंभूतः कायक्लेशमपि श्रयन् ॥१२॥**

**अनेकान्तेत्यादि**—अनेकान्त एकान्ते न भवतीति संकीर्णो देशः, तत्प्रतिष्ठः सन् एकान्ते निर्जने देशे स्थितिमभ्यगाद् इति विरोधः, तस्मादनेकान्ते नाम स्याद्वादसिद्धान्ते प्रतिष्ठा यस्य स इत्यर्थः कार्यः। कायक्लेशं शरीरस्य कष्टं श्रयन्नपि कायक्लेशो न सम्भूतो न भवतीति विरोधस्तस्मात् अकाय नाम पापाय क्लेशसंभूतः कष्टकारकः अपहर्तासीद् इत्यर्थः। कायक्लेशनामकं तपश्च कृतवानित्यर्थः ॥१२॥

**नीरसत्वमथावाञ्छत् समीनपरिणामवान् ।**
**नदीनाभावमापापि निर्जरोक्तगुणाश्रयात् ॥१३॥**

**नीरसत्वमित्यादि**—समिनामिष्टानिष्टपदार्थेषु तुल्यभावधारिणामिनः स्वामी तस्य परिणामतः स जयकुमारः नीरसत्वं सर्वत्रापि भोजनादिषु रसाभावस्तमेवावाञ्छत्। एवं निर्जरायां पूर्वबद्धकर्मक्षपणायामुक्तस्य गुणस्याश्रयत्वाद् दीनभावं नाप। तथा स

---

मारवाराभ्यतीतः—कामदेवके आक्रमणसे रहित होनेपर ऊनोदल(र)ता—ऊनोदर—अवमौदर्य तपको प्राप्त हुए थे), तथा वृत्तिरहित मार्गमें स्थित होकर भी वृत्तिसंख्यानसे युक्त हुए थे (परिहार पक्षमें निवृत्तिपथ—निवाणमार्ग—मोक्षमार्ग स्थित होकर भी वृत्तिसंख्यान नामक तपसे युक्त हुए थे) ॥११॥

**अर्थ**—जयकुमार मुनिराज अनेकान्तप्रतिष्ठ—जब बहुत स्थानमें स्थित होकर भी एकान्त स्थिति—एकान्त—निर्जन स्थानमें स्थितिको प्राप्त हुए थे (परिहार पक्षमें अनेकान्त नामक स्याद्वाद सिद्धान्तमें स्थित होकर भी एकान्त स्थिति—विविक्त शय्यासन नामक तपको प्राप्त हुए थे तथा कायक्लेशसे रहित होकर भी कायक्लेशको प्राप्त हुए थे (परिहार पक्षमें अकायक्लेशसम्भूतः—पापके परिहारके लिये होने वाले पञ्चाग्नि तप आदि क्लेशोंसे रहित होकर भी आतापनादि योगरूप कायक्लेश नामक तपका आश्रय लेते थे ॥१२॥

**अर्थ**—तदनन्तर इष्ट—अनिष्ट पदार्थोंमें समताभाव रखने वालोंमें प्रमुख—साधुओंके परिणामसे युक्त जयकुमार मुनि भोजनादिकमें नीरसत्व—रसपरित्यागकी वाञ्छा की, अर्थात् रसपरित्याग नामक तप धारण किया और निर्जरा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


मीनपरिणामतो मत्स्यरूपत्वान्नीरसद्भावं जलसद्भावमवाञ्छत् जलेन रहितो निर्जर-स्तस्य गुणस्याश्रयात् नदीनभावं समुद्ररूपतां चापेति विरोधः ॥१३॥

नानात्मवर्तनोऽप्यासीद् बहुलोहमयत्ववतः ।
समुज्ज्वलगुणस्थानग्रहोऽभूत् तन्तुवायवत् ॥१४॥

नानात्मेत्यादि—बहुलोहमयत्ववतः अनल्पायासयुक्तत्ववतः नानात्मवर्तनः अनेकरूप-भाजनसहित आसीत्, स च बहुलोहमयत्ववतः अनेकप्रकारोहापोहयुक्तत्वात् सोऽपि नानात्मवर्तनः। आत्मनि न वर्तत इति अनात्मवर्तनो नासीत्, आत्मनि बहुचिन्तावान् बभूवेत्यर्थः। स च समुज्ज्वलानां गुणानां शीलसंयमादीनां पक्षे सूत्राणां स्थानं गृह्णातीति स तन्तुवायवत् पटकारवद् अभूत्। गुणस्थानमिति मुमुक्षूणां संक्रमणपदानां संज्ञा जिनागमे ॥१४॥

राजसत्वमतीयाय सत्त्वरं जितभावनः ।
कज्ञातमधिकुर्वाणस्तमोपहतया स्थितः ॥१५॥

---

सत्तास्थित कर्मोंकी क्षपणाके गुणोंका आश्रय होनेके कारण उन्होंने दीनभाव—दीनताको प्राप्त नहीं किया, अर्थात् किसी रसकी प्राप्तिके लिये दीनताको प्रकट नहीं होने दिया।

**अर्थान्तर**—मीन—मत्स्यरूप परिणामसे युक्त होनेके कारण उन्होंने नीर-सत्त्व—जलके सद्भाव की इच्छा की तथा निर्जर—निर्जल—जलाभावके कथित गुणों-का आश्रय होनेसे वे नदीनभाव—समुद्रत्वको प्राप्त हुए, अर्थात् जो जलाभावका इच्छुक है वह समुद्रभावको कैसे प्राप्त होगा? यह विरोध है, परिहार पक्षमें निर्जराके गुणोंका आश्रय होनेसे उन्होंने कभी दीनताको प्राप्त नहीं किया ॥१३॥

**अर्थ**—वे जयकुमार मुनि **बहुल-ऊहमय**—अनेक प्रकारके ऊहापोह से सहित होकर भी **अनात्मवर्तन**—आत्माको छोड़ अन्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेवाले नहीं थे, अर्थात् अपना उपयोग आत्मामें अथवा **बहु-लोहमय**—अत्यधिक लोह धातुरूप होकर **नानात्मवर्तन**—अनेक प्रकारके भाजनोंसे सहित थे तथा **तन्तुवाय**—जुलाहाके समान अपना उज्ज्वल **गुणस्थान**—सूतके स्थानोंको ग्रहण करनेवाले थे (पक्षमें निर्मल **गुणस्थान**—षष्ठ-सप्तम गुणस्थानको ग्रहण करनेवाले थे, अर्थात् प्रमत्त-विरत और अप्रमत्त गुणस्थानमें प्रवृत्ति करनेवाले थे ॥१४॥

**भावार्थ**—मोह और योगके निमित्तसे आत्माके परिणामोंमें जो तारतम्य होता है, उसे गुणस्थान कहते हैं। ये १४ होते हैं। छठवें गुणस्थानसे लेकर आगेके सब गुणस्थान मुनियोंके ही होते हैं ॥१४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



राजसत्वमित्यादि—स जयकुमारः तपोपहतया तमोगुणनिर्हरणतया पक्षेऽन्धकार-नाशकतया सूर्यवत्स्थितः सन् कञ्जातं स्वसमुत्पन्नं कमानन्दं पक्षे कमलमधिकुर्वाणः सन् सत्त्वेन नामगुणेन रञ्जिता भावना मनोवृत्तिर्यस्य सः पक्षे सत्त्वेन शीघ्रमेव जितं भानां नक्षत्राणामवनं रक्षणं येन स, 'अवनं रक्षणे मुदि' इति विश्वलोचने। राजसत्वं राजसगुणं पक्षे राज्ञः चन्द्रस्य सत्त्वमतीयाय त्यक्तवान् भूपरूपं च त्यक्तवान् ॥१५॥

दिन एव व्यभात् सद्यो गोचरीकृतभक्षणः।
रात्राववविधुरत्वेन स्थितिमाप्त्वेत्यथाद्भुतम् ॥१६॥

दिनेत्यादि—स दिन एव सद्यः सकृदेकवारं गोचरीवृत्त्या कृतं भक्षणं भोजनस्वीकारो येन सः पक्षे गोचरीकृतः स्पष्टतां नीतो नानां तारकाणां क्षणः समयो रात्रिलक्षणो येन सः, अथ पुनः रात्रौ अविधुरत्वेन अविकलत्वेन पक्षे विधुं चन्द्रमसं राति पातीति तदभाववत्त्वेन चन्द्ररहितत्वेन स्थितिं निश्चलतां पक्षे व्यवस्थां आप्त्वा स्वीकृत्य व्यभात् शुशुभे। एतदद्भुतम् ॥१६॥

अपूर्वकरणं कर्तुं स पृथक्त्वविचारतः।
अप्रमत्तदशाविष्ट आत्मानं विचचार सः ॥१७॥

अपूर्वकरणमित्यादि—सः अप्रमत्तदशां प्रमादरहितामवस्थां यद्वाऽप्रमत्तनामक-सप्तमगुणस्थानवृत्तिमाविष्टः सन् पृथक्त्ववितर्कतः स्वशरीरादपि ममायमात्मा भिन्न

---

**अर्थ**—जो तमोपहता—तमोगुणके नाशक, पक्षमें अन्धकारके नाशक होनेसे सूर्यके समान स्थित थे, जो जातं कं—समुत्पन्न आत्मसम्बन्धी आनन्दको (पक्षमें कंजातं—कमलको अधिकृत किये हुए थे और सत्त्वरंजितभावनः—सत्त्वगुणसे अनुरक्त मनोवृत्ति वाले थे (पक्षमें सत्त्वरं शीघ्र ही जितभावनः—नक्षत्रोंके अवन-रक्षणको जीतने वाले थे।) ऐसे जयकुमार मुनिने राजसत्व—रजोगुणका (पक्षमें चन्द्रमाका अथवा राजावस्थाके अस्तित्वका उल्लंघन किया था)।

**भावार्थ**—उन्होंने तमोगुण और राजसगुण पर विजय प्राप्त की थी ॥१५॥

**अर्थ**—वे दिनमें ही एक ही बार आहार करते थे और रात्रिमें पूर्णरूपसे निश्चलताको प्राप्तकर सुशोभित होते थे। अथवा वे दिनमें ही भ-क्षण—नक्षत्रोंका समय, अर्थात् रात्रिको प्रकट करते थे और रात्रिमें चन्द्राभावकी स्थितिको प्राप्त कर सुशोभित थे, यह आश्चर्यकी बात थी ॥१६॥

**अर्थ**—अप्रमत्तदशा—प्रमादरहित दशाको प्राप्त हुए जयकुमार मुनि पृथक्त्व-वितर्क—अपने शरीरसे मेरी यह आत्मा पृथक् है, इस प्रकारके विचारसे अपूर्वकरण—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


इत्येवं वितर्कतः, आत्मानं अपूर्वम् अकारः पूर्वस्मिन् यस्य तत्करणम् अकरणं करणैरिन्द्रियै रहितमतीन्द्रियं कृतकृत्यं वा कर्तुं विचचार विचारितवान्। अथवा पृथक्त्ववितर्क-नामकशुक्लध्यानतः अपूर्वकरणनामगुणस्थानं कर्तुं विचचार ॥१७॥

निवृत्तीच्छुरपीत्यत्रानिवृत्तिकरणं गतः ।
जातुचित् संपरायत्वमित्यतोऽस्य बभूव तत् ॥१८॥

निवृत्तीत्यादि—स निवृत्तीच्छुरपि संसारादतियातुमिच्छुः सन् अनिवृत्तिकरणं निवृत्तिरहितत्वं गत इति विरोधः, तस्मादनिवृत्ति नाम गुणस्थानं प्राप्त इत्यर्थः। अत एवास्य पुनर्जातुचित् सम्परायत्वं यत्किञ्चित्कषाययुक्तत्वं यद्वा सूक्ष्मसाम्परायनाम-गुणस्थानवत्त्वं चास्य बभूव ॥१८॥

स मोहं पातयामास समोऽहं जिनपैरिति ।
अनुभूतात्मसामर्थ्योऽप्यनुभूतदयाश्रयः ॥१९॥

स मोहमित्यादि—अनु ततोऽनन्तरं भूतदयाश्रयः प्राणिमात्रेषु दयावान् सः, अहं जिनपैर्भगवद्भिरर्हद्भिः समस्तुल्य इतीत्थमनुभूतमात्मसामर्थ्यं येन स मोहं पातयामास क्षीणमोहनामकगुणस्थानं प्राप्तवानिति ॥१९॥

अशिष्टमन्त्यजं स्पृष्ट्वा वर्णतो यस्तदादिजः ।
तत्क्षणात् केवलं धृत्वा स्नातकत्वमगादसौ ॥२०॥

---

अकरण—इन्द्रियरहित अथवा करने योग्य कार्यसे रहित आत्माको करनेके लिये अथवा पृथक्त्व वितर्क विचार नामक शुक्ल ध्यानसे अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थानको प्राप्त करनेके लिये विचार करने लगे ॥१७॥

अर्थ—मुनिराज जयकुमार यद्यपि निवृत्ति-संसारसे पार होनेके इच्छुक थे, तो भी अनिवृत्तिकरण-पार न होने योग्य अवस्थाको प्राप्त हुए। यह विरोध है। परिहार पक्षमें अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त हुए। पश्चात् कदाचित् इनके किञ्चित्-अत्यन्त सूक्ष्म कषायसे सहित अवस्था हुई अथवा सूक्ष्म साम्पराय नामक दशम गुणस्थान प्राप्त हुआ ॥१८॥

अर्थ—पश्चात् प्राणिमात्रपर दया करनेवाले जयकुमार मुनिने मैं जिनेन्द्र भगवान्के तुल्य हूँ, अर्थात् शक्तिकी अपेक्षा उन्हींके समान ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव वाला हूं, इस प्रकार आत्मशक्तिका अनुभव करते हुए मोह कर्मका क्षयकर दिया ॥१९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**अशिष्टमित्यादि**—अशिष्टं सभ्यतारहितम् अन्त्यजं चाण्डालादिकं स्पृष्ट्वा यः वर्णतो जात्या आदिजः प्रथमवर्णोत्पन्नः स पुनस्तत्क्षणादेव के जले वलं शरीरं धृत्वा समवगाह्येत्यर्थः, स्नातको जातः कृतस्नानोऽभूत् । तथा यो वर्णतः अक्षरोच्चारणात्मकनामतः आदौ जकारो यस्य एतादृशो यः यकारोऽर्थात् जयः जयकुमारो मुनिः, सः अकारेण शिष्टं प्रारब्धोच्चारणम् अन्त्ये भवोऽन्त्यो जकारो यस्य तं अजं परमात्मरूपं स्पृष्ट्वा समासाद्य तत्क्षणादेव केवलं नामातीन्द्रियं पूर्णं ज्ञानं धृत्वा सम्प्राप्य स्नातकत्वमर्हत्त्वम् अगात् प्राप्तवान् ॥२०॥

**विलोमगामिनं चैव निजं मत्वा जिनोऽभवत् ।**
**सहिष्णुभावतः स्वीयां शक्तिमुद्योतयन्नयम् ॥२१॥**

**विलोमेत्यादि**—अयं जयकुमारः विलोमगामिनंविरुद्धमपि जनं निजं बन्धुरूपं चैव मत्वा सहिष्णुभावतः क्षमाशीलत्वात् स्वीयां शक्तिमुद्योतयन् जिनोऽभवत् । तथा निजमित्येतत्पदं विलोमगामिनं विपरीतपाठं मत्वा जिनः समभूविति युक्तम् ॥२१॥

**विनतात्मभुवा किन्न साम्प्रतमजपक्षिणा ।**
**अहिन्दुरयताऽवापि हिन्दुजातेन धीमता ॥२२॥**

**विनतेत्यादि**—हिंसां दूषयन्तीति हिन्दवस्तेषां तातेन पूज्येन धीमता विज्ञेन तेन विनतः पराजितः आत्मभूः कामो येन तेन, साम्प्रतमधुना अजपक्षिणा आत्मचिन्तकेन

---

**अर्थ**—जो वर्णकी अपेक्षा आदि वर्णज-क्षत्रिय वर्णमें उत्पन्न थे, ऐसे जयकुमार मुनि अशिष्ट-असभ्य अन्त्यज-चाण्डालका स्पर्शकर तत्काल के-जलमें वलं धृत्वा-शरीर धारणकर-जलमें डुबकी लगाकर स्नातकत्व-कृतस्नान अवस्थाको प्राप्त हुए । अथ च, वर्ण-अक्षरकी अपेक्षा जिसके आदिमें ज है, ऐसा य, अर्थात् जय मुनिने जिसके प्रारम्भमें अ है और अन्तमें ज है ऐसे अज-परमात्माका स्पर्शकर-ध्यानकर तत्काल केवलज्ञान प्राप्तकर स्नातकत्व-अर्हन्त अवस्था प्राप्त कर ली ॥२०॥

**अर्थ**—जयकुमार मुनि विरुद्ध पुरुषको भी अपना बन्धु मानकर सहनशीलतासे अपनी शक्ति विकसित करते हुए जिन-अर्हन्त हो गये थे, अथवा 'निज' इस पदको विपरीत क्रमसे मानकर जिन हुए थे ॥२१॥

**अर्थ**—जिन्होंने कामदेवको जीत लिया था, जो अज-परमात्माके पक्षसे सहित थे अथवा आत्मचिन्तक थे, हिन्दुओंके पूज्य थे तथा बुद्धिमान् थे, ऐसे जयकुमार केवलीने क्या हिंसकत्वका अभाव प्राप्त नहीं किया था ? अवश्य प्राप्त किया था ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


अहिन्दुरयता हिंसकत्वाभावता किन्न अवापि प्राप्ता अपितु प्राप्तैव। तथा विजतात्मभुवा गरुडेन नामाजपक्षिणा कृष्णखगेन अहिं नाम सर्पं दुरयता निराकुर्वता तेन साम्प्रतं हिन्दुता किन्नावापि किन्तु प्राप्तैव ॥२२॥

सुगर्तसमिताङ्कानां कणानां तेन साधुना।
निष्तुषीकरणायाथ धृता मुसलमानता ॥२३॥

सुगर्तेत्यादि—सुगर्ते उदूखले समितः प्राप्तोऽङ्कः स्थानं यैस्तेषां सुगर्तसमिताङ्कानां पक्षे सुष्ठु गच्छतीति सुगः सुगं च तवृतं च यस्य स सुगर्तो यथार्थसत्यवादी स चासौ समी समदर्शी तस्य भावस्तत्ता अङ्के उत्सङ्गे येषां तेषां कणानां धान्यानां तथा आत्मज्ञानानां निष्तुषीकरणाय तुषरहितत्वाय यद्वा निर्दोषत्वाय तेन जयकुमारेण अधुना सांप्रतं सा प्रसिद्धा मुसलमानता मुशलस्य नाम काष्ठस्य मानता पक्षे यवनता धृता स्वीकृता ॥२३॥

अन्यापोहतया चित्तलक्षणेऽथ क्षणे स्थितिम्।
धृत्वा तथागतस्यापि तत्त्वं तेन भविष्यतः ॥२४॥

अन्यापोहेत्यादि—चित्तलक्षणे आत्मद्रव्ये यद्वा चित्तस्यात्मनो लक्षणं संवेदनं यत्र तस्मिन् क्षणे समये अन्यापोहस्य अन्यस्य संसारिप्रपञ्चस्यापोहोऽसद्भावस्तस्य भावस्तया स्थितिं कृत्वा आत्मचिन्तनतत्परेण तेन गतस्य भूतस्य तथा भविष्यतश्च तत्त्वं सम्पूर्णमपि वस्तु तेनाऽऽग्रि परिज्ञातम् तथा अन्यापोहतया अन्यव्यवच्छेदेन कृत्वा चित्तलक्षणे स्थितिं धृत्वा क्षणविशरारवो ज्ञानक्षणा एव न त्वन्यत् किञ्चिद् इति मत्वा तेन भविष्यतस्तथागतस्य तत्त्वरूपं चाऽऽपि प्राप्तम् ॥२४॥

---

अर्थान्तर—जो विनताका पुत्र था, अहिं दुरयता–सर्पको नष्ट करता था, तथा बुद्धिमान् था, ऐसे अजपक्षी–कृष्णके वाहनभूत गरुड पक्षीने क्या इस समय हिन्दुता–हिन्दूपनको प्राप्त नहीं किया था ? किया था ॥२२॥

अर्थ—उदूखल रूप गर्तमें स्थित धान्यकणोंको तुषरहित करनेके लिये उन जयकुमारने इस समय वह प्रसिद्ध मुसलमानता मुसल–मूषलकी सदृशता प्राप्त की थी।

अर्थान्तर—यथार्थवादिता और समदर्शीपनसे सहित आत्मज्ञानियोंको निर्दोषता प्राप्त करानेके लिये इस समय उन्होंने मुसलमानपना स्वीकृत किया था ॥२३॥

अर्थ—उन्होंने चित्तलक्षण–आत्मद्रव्यमें अथवा आत्माका लक्षणभूत–संवेदन जिसमें विद्यमान है, ऐसे क्षण–समय अथवा उत्सवमें अन्य सांसारिक प्रपञ्चके अभावपूर्वक स्थिति करनेवाले उन जयकुमारने भूत तथा भविष्यत्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**ईशायितां त्रिसन्ध्यं हि स्वीचकार महामनाः ।**
**नयेनावर्णवादश्च जनेषु प्रतिपादितः ॥२५॥**

ईशायितामित्यादि—येन जनेषु अवर्णवादो निन्दाकरणं न प्रतिपादितः, स महामना उदारचित्तः त्रिसन्ध्यं सर्वदैव ईशस्य भगवतोऽयः शुभावहो विधिः यस्य तत्तां भगवद्भाजकतां स्वीचकार जयकुमारः । तथा येन नयेन नीतिमार्गेण जनेषु अवर्णवादः जातिवर्णरहितत्वं प्रतिपादितः, स महामना असाम्प्रदायिकचित्त ईशायितां क्रिश्चियनवृत्तितां स्वीचकारेति ॥२५॥

**आत्मादरयुतेनापि सान्तस्थोष्मविहीनता ।**
**समक्षलक्षणार्थेषु वैकल्यमधिगच्छता ॥२६॥**

आत्मेत्यादि—आत्मनि स्वरूपे आदरयुतेन तल्लीनेन, समक्षं लक्षणं येषां तेषु सांसारिकेषु अर्थेषु इन्द्रियगोचरेषु वैकल्यं निस्सारत्वमधिगच्छता जानता जयकुमारेण अन्तस्थस्योष्मणो मानसिकव्यथाया विहीनता सा प्रसिद्धा निराकुलस्थितिरापि प्राप्ता । तथा आत् अकारात्समारभ्य सकारे आदरयुतेन सम्पूर्णानामक्षराणां समक्षराणां क्षणः उत्सवः अवकाशो वा यत्र तेषु अर्थेषु सम्पूर्णाक्षरज्ञानेषु इत्यर्थः, वैकल्यमधिगच्छता अपूर्णत्वं

---

कालसम्बन्धी समस्त तत्त्व प्राप्त कर लिया था, जान लिया था । तथा अन्य-व्यवच्छेद रूपसे चित्तलक्षण-संवेदनमें स्थिति कर उन्होंने भूत-भविष्यत्के समस्त तत्त्वको जान लिया था ॥२४॥

**अर्थ**—जिन्होंने मनुष्योंमें अवर्णवाद–निन्दा न करनेका उपदेश प्रतिपादित किया, उन उदारचित्त जयकुमारने सदा ईशायिता–भगवद्विषयक शुभ विधिसे सहित भावको स्वीकृत किया था । तथा जिस नीतिमार्गसे मनुष्योंमें अवर्णवाद–वर्ण-जाति आदि कुछ नहीं है, सब एक समान है, इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था, उस नीति मार्गकी अपेक्षा उन उदारहृदय जयकुमारने ईशायिता–क्रिश्चियनपनको स्वीकृत किया था ॥२५॥

**अर्थ**—स्वरूपमें आदरसे सहित तथा प्रत्यक्ष लक्षणसे युक्त सांसारिक पदार्थोंमें विकलता–निस्सारताको जानने वाले जयकुमारने उस प्रसिद्ध मानसिक पीड़ाके अभावकी स्थितिको प्राप्त किया था ।

**अर्थान्तर**—अ से लेकर म पर्यन्तके अक्षरोंमें आदरसे युक्त तथा समस्त अक्षरविषयक ज्ञानमें अपूर्णताका अनुभव करनेवाले जयकुमारने अन्तस्थ और ऊष्मा वर्णोंका असद्भाव स्वीकृत किया था ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्तेन अन्तस्थाश्च ऊष्माणश्च यद्वा तेषां विहीनता यकारादिहकारपर्यन्ताक्षरज्ञान-रहितता आपि ॥२६॥

नमःस्तुतोऽयमोंकारो विसर्गान्तस्वरूपतः ।
तेनानन्दमयेनापि रूपापभ्रंशवेदिना ॥२७॥

नम इत्यादि—तेन जयकुमारेण ओंकार इत्ययमक्षरः नमःस्तुतः नमःशब्देन युक्तः आपि जपितुमारब्धः, ततः रूपस्य अपभ्रंशो विनाशस्तद्वेदिना रूपातीतध्यानज्ञेन अत एव आनन्दमयेन परमप्रसन्नभावं प्राप्तेन मकारेण न स्तुतो, योऽयमोंकारः मकाररहितः पुनर्विसर्गान्तस्वरूपतः ओः इति एवंरूपः आपि प्राप्तः, रूपस्य योऽपभ्रंशो विकारस्तद्वेदिना अस्पष्टभाषिणा इति हर्षसमये ओः इत्युच्यते सर्वैस्तथा तेनापि 'ओं नमः' इति जापतत्परेण ओः इति हर्षातिरेकः प्राप्त इत्यर्थः ॥२७॥

तपसाधिगतामेव काञ्चनस्थितिमादधत् ।
मुद्रोचितं प्रयोगेण कं कणं कृतवानसौ ॥२८॥

तपसेत्यादि—तपसा वह्निप्रयोगेणाधिगतां प्राप्तां काञ्चनस्य सुवर्णस्य स्थितिं आदधत् स्वीकुर्वन् असौ जयकुमारो मुद्रोचितं मुद्रायोग्यं तत्सुवर्णं प्रयोगेण निजकौशल-कर्मणा कङ्कणं कृतवान्, अथवा तपसा अनशनादिनाधिगतां काञ्चनानिर्वचनीयां स्थिति-

---

**भावार्थ**—अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ये ९ स्वर तथा कवर्गादि पाँच वर्गोंके पच्चीस अक्षरोंमें ही जिसका आदरभाव है, उसका अक्षरविज्ञान अपूर्ण रहता है, क्योंकि समस्त अक्षरोंमें य र ल व ये चार अन्तःस्थ और श ष स ह ये चार ऊष्मा वर्ण भी सम्मिलित हैं। जो अकारसे लेकर म पर्यन्तके ही अक्षरोंमें आदरभावसे सहित होता है, उसके अन्तस्थ और ऊष्माके आठ अक्षर छूट जाते हैं, अतः विकलता-अपूर्णता रहती है ॥२६॥

**अर्थ**—रूपातीत ध्यानके ज्ञाता तथा परमप्रसन्न भावको प्राप्त हुए उन जयकुमारने 'ओं' इस मन्त्रकी नमः शब्दके साथ स्तुतिकी, पश्चात् रूपके विकारको जानने वाले उन जयकुमारने जिसमें म निकल गया है और अन्तमें विसर्ग आ गया है, ऐसे 'ओः' शब्दको प्राप्त किया ॥२७॥

**अर्थ**—अनशनादि तपसे प्राप्त किसी अनिर्वचनीय दशाको धारण करनेवाले जयकुमारने कं-अपनी आत्माको कण-आत्मनिर्णयसे युक्त अत एव मुद् रोचितं-प्रसन्नतासे शोभा युक्त किया।

**अर्थान्तर**—तपसा-अग्निके प्रभावसे प्राप्त सुवर्णकी स्थितिको स्वीकृत करते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


मवस्थामादधदसौ जयकुमारः कं आत्मानं कस्यात्मनः णः निर्णयो यस्य तं स्वात्मध्यान-लीनम् अत एव मुदा प्रसन्नतया रोचितं शोभायुक्तं कृतवान् ॥२८॥

योो नाभिजातपत्रात्तं सिक्त्वाथो मानसामृतैः ।
शिखालुतां नयन् वातं कल्पद्रुममिवान्वगात् ॥२९॥

**यो नाभिजातेत्यादि**—यो जयकुमारः, अभिजातं न भवतीति नाभिजातं निकृष्टं पत्रं तेनात्तं नाभिजातपत्रात्तं हीनजातीयं तुरुष्कादिकं मानसामृतैरुदारभावैः सिक्त्वाऽलंकृत्य शिखालुतां नयन् चूडायुक्तां हिन्दूपरिणतिं प्रापयन् कल्पस्य परिवर्तनस्य द्रुममिवान्वगात् काय....(?) इत्यादिवत् । अथवा नाभिजातैः पत्रैरात्तं शुष्कप्रायं वृक्षं मानसस्य नाम सरोवरस्य अमृतैर्जलैः सिक्त्वाभिषिच्य पुनः शिखालुतां नयन् पल्लवितं कुर्वन् कल्प-द्रुममिव मनोहरमन्वगात् । तथा च नाभिजातात्रैः आत्तं प्राप्तं प्रथमं नाभिकमलात् समुत्थं वातं पवनं मानसामृतैः हृदयपवनैः सिक्त्वा सम्मिश्रीकृत्य पुन शिखालुतां नयन् तालुस्थवायुतां प्रापयन् तं कल्पद्रुममिव वाञ्छितदायकमन्वगात् ॥२९॥

यावद् घनं नेत्रवालं तावद् धान्याहिते रतः ।
विश्वतः श्रीस्थितिं मत्वा न तदातिससार सः ॥३०॥

**यावदित्यादि**—यावन्मात्रं घनं नाम नागमुस्ताभिधमौषधं तावत् नेत्रवालं तावदेव धान्यं तस्य हितेरतः विश्वतः शुण्ठिनाम-ओषधितः पुनः श्रीस्थितिं विल्वफलमात्रां मत्वा शुण्ठि-धान्यक-नागमुस्ता-नेत्रनाल-विल्वफलानि—इति आदाय नातिसारः अनिसाररोगं

---

हुए जयकुमारने मुद्रोचित—अंगूठीके योग्य उस सुवर्णको अपनी कुशलतासे कंकण—हस्तभूषण कर दिया—बना दिया ॥२८॥

**अर्थ**—उन जयकुमारने हीनजातीय यवन आदिको उदार भावसे अलंकृत-कर चोटीधारी बनाते हुए मानों परिवर्तनका वृक्ष ही खड़ा कर दिया था। अथवा शुष्कप्राय वृक्षको मानस सरोवरके जलसे सींचकर पुनः पल्लवित—हरा-भरा करते हुए कल्पवृक्षके समान मनोहर कर दिया था। अथवा ध्यान मुद्रामें नाभिकमलसे उत्पन्न वायुको हृदयकमलकी वायुसे मिश्रित कर तालुस्थ वायुताको प्राप्त कराते हुए वाञ्छित दायक होनेसे मानों कल्पवृक्ष बना दिया ॥२९॥

**अर्थ**—अन्य मनुष्योंके हितमें तत्पर जयकुमार जब तक मेघ की स्थिति अथवा जब तक नेत्र की टिमकार है, तब तक ही सम्पत्ति की स्थिति है, यह मानकर विश्व—संसार में आसक्तिको प्राप्त नहीं हुए थे।


Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


नाप्तवान् । अथवा अन्यस्य हिते रतः परोपकारपरायणः स जयकुमारो यावद् घनं यावन्मात्रकालमितं नेत्रवालं मिमेषरूपं तावद्धा विश्वतः संसारात् श्रियः स्थितिं सम्पत्त्यवस्थानं मत्वा तां नातिससार सांसारिकसम्पत्तौ आसक्तो नाभूदित्यर्थः ।।३०।।

प्रत्याहारमुपेतो वा यमिताद्युपयोगवान् ।
तत्रान्तराय मासाद्य धारणाख्यातिमादधौ ।।३१।।

प्रत्याहारेत्यादि—प्रत्याहारं नाम व्याकरणोक्तसंकोचमुपेतः अयं जयकुमारः इता अप्रयोगिवर्णेन स आदेः शब्दस्योपयोगवान् तत्र तयोर्मध्येऽन्तः आयः सम्प्राप्तिर्यस्य वर्णसमूहस्य तं आसाद्य 'सात्मेत्यादि'-व्याकरणसूत्रस्य धारणाख्यातिं स्मृतिमादधौ । अथवा—आहारं प्रत्युपेतः स यमिता संयमिता आदौ येषां क्षमादीनां तेषाम् उपयोगवान् जयकुमारस्तत्र भुक्तिवेलायामन्तरायमासाद्य यत्किंचिद् विघ्नमात्रं प्राप्य पुनः धारणाख्यातिमनशनसंकल्पक्रियां आदधौ । तथा च प्रत्याहारं नाम भ्रुवोर्मध्यदेशादिषु यथेच्छं मनोनयनमुपेतः स यमिताद्युपयोगवान् जयकुमारः अयं महात्मा तत्रान्तरा तन्मध्ये तन्मन आसाद्य स्थापयित्वा धारणाख्यातिं नाम ध्यानस्याङ्गविशेषमादधौ ।।३१।।

---

**अर्थान्तर**—घन–नागमोथा, नेत्रवाला, धना, सोंठ और बेल फलको लेकर अतिसार रोगको प्राप्त नहीं हुए। (अप्रासङ्गिक अर्थ है) ।।३०।।

**अर्थ**—प्रत्याहार–व्याकरण शास्त्रमें कही हुई विधिको प्राप्त हुए इन जयकुमारने इत् संज्ञक अन्तिम वर्णके द्वारा आदि प्रथम अक्षर और आदि तथा अन्त अक्षरके मध्यमें आगत वर्णोंको ग्रहण कर प्रत्याहार विधिकी धारणा की थी।

**भावार्थ**—व्याकरणमें आदि और अन्तिम अक्षर तथा मध्यपाती अक्षरोंको लेकर प्रत्याहार बनता है। जैसे 'अइउण्' यहाँ अन्तिम ण् इत् संज्ञक होता है। उसे छोड़ दिया जाता है। आदि अक्षर अ है और मध्यमें इ उ आते हैं। इस प्रकार अण् प्रत्याहारमें 'अ इ उ' इन तीन अक्षरोंका समावेश होता है। वे इस प्रत्याहार विधिको स्मृतिको प्राप्त थे। अथवा मुनि अवस्थामें जब जयकुमार आहारके प्रति–आहारके अभिप्रायसे श्रावकके घर आते थे, तब अपने संयमीपनका उपयोग करते हुए यदि चरणानुयोगमें प्रसिद्ध अन्तरायको प्राप्त होते थे, तब पुनः उपवास आदि नियमोंकी धारणा करते थे। अथवा ध्यानकी वेलामें दोनों भौंहोंके बीच अपना मन लगाकर योगशास्त्रमें प्रसिद्ध यमिता आदि विधिका उपयोग करते हुए धारणा नामक ध्यानके अङ्गको प्राप्त होते थे ।।३१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**जगतां विमुखेनापि सतां मार्गे सपक्षता ।**
**साधनेन विना साध्यसिद्धिरासीदहो पुनः ।।३२।।**

**जगतामित्यादि** — जगतां त्रिलोकानां विमुखेन तेन जयकुमारेण सतां मार्गे सभ्यानां वर्त्मनि मुक्तिपथे सपक्षता अपि रुचिः कृता। तथा विमुखेन पक्षिमुख्येन सतां मार्गे गगने सपक्षता पक्षाभ्यां युक्तता आपि। धनेन विना परिग्रहेण रहितत्वाद् आधीनामुपाधीनामसिद्धिः निष्फलता सा चानिर्वचनीयासीत्। तथा साधनेन हेतुना विनापि साध्यस्य सिद्धिरस्यासीत् पुनरहो आश्चर्यम् ।।३२।।

**अपत्रपाज्जगद्वृत्तात् संत्रस्तहृदयो भवन् ।**
**सम्पल्लवसमारब्धां योगच्छायामुपाविशत् ।।३३।।**

**अपत्रपादित्यादि**—अपत्रपात् लज्जारहितात् पक्षे निष्पत्रात् जगद्वृत्तात् लौकिकचरित्रात् संत्रस्तं भयभीतं हृदयं यस्य स भवन् यः जयकुमारः सम्पदो लवा अंशा यत्र तेन सभेन प्रशमभावेन आरब्धां पक्षे समीचीनैः पल्लवैः समारब्धां योगस्य ध्यानस्य छायां पक्षे यः स जयकुमारः अगच्छायां वृक्षस्य छायामुपाविशत् ।।३३।।

**भक्तात्मना स्फुरद्रूपाराधिता सूपयोगिता ।**
**व्यञ्जनं वास्तुकोद्भूतलक्षणं तत्र सम्मतम् ।।३४।।**

---

**अर्थ**—तीनों लोकोंसे पराङ्मुख रहनेवाले जयकुमारने सभ्य पुरुषोंके मार्ग—मोक्ष मार्ग में **सपक्षता**—रुचि प्राप्त की। अथवा **विमुख**—पक्षियोंमें मुख्य जयकुमारने **सतां मार्गे**—आकाशमें **सपक्षयुक्तता**—पक्षसहितपन प्राप्त किया अथवा धनके बिना—परिग्रहसे रहित होनेके कारण उपाधियोंकी वह अनिर्वचनीय निष्फलता प्राप्त की। अथवा साधनके बिना भी साध्यकी सिद्धि हुई थी, यह आश्चर्य की बात थी ।।३२।।

**अर्थ—अपत्रप**—लज्जारहित **जगद्वृत्त**—लौकिक चरित्रसे जिनका हृदय भयभीत हो गया था, ऐसे जयकुमार सम्पत्तिके अंशोंसे सहित अथवा आगमके समीचीन पदों—वर्णसमूहके अंशोंसे सहित **सम**—प्रशमभावके द्वारा प्रारब्ध—प्रारम्भकी गई **योगच्छाया**—ध्यानकी छायामें उपविष्ट हुए। अर्थात् मुनि अवस्थामें आगमके पद-पदांशोंका आश्रय ले शुक्ल ध्यानमें आरूढ हुए थे।

**अर्थान्तर—अपत्रप**—निष्पत्र—रूक्षतम जगत्के व्यवहारसे भयभीत हृदय जो जयकुमार थे, वे **सम्पल्लवसमारब्धां**—समीचीन किसलयोंसे प्रारब्ध **अगच्छाया**—वृक्षकी छायामें समुपविष्ट हुए थे ।।३३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**भक्तात्मनेत्यादि**—तेन भक्तात्मना भगवद्भक्तियुक्तेन यद्वा ओदनरूपेण तेन सूपयोगिता उत्तमोपयोगवत्ता तथैव दालीसंयोगिता स्फुरद्रूपा स्पष्टरूपा आराधिता तत्र कोद्भूतलक्षणं आत्मसंजातरूपं व्यञ्जनं वास्तु भूयात् । यद्वा वास्तुकान्नाम पत्रशाकादुद्भूतं लक्षणं यस्य तद् व्यञ्जनं नाम लगवणं (इति देशभाषायां) सम्मतं युक्तमेव ॥३४॥

**क्षमाशीलोऽपि सन् कोपकरणैकपरायणः ।**
**बभूव मार्दवोपेतोऽप्यतीव दृढधारणः ॥३५॥**

**क्षमाशील इत्यादि**—स क्षमाशीलः परकृतस्यापराधस्याप्युपेक्षावान् सन्नपि कोपकरणे क्रोधावेशे परायण इति विरोधस्तस्मात् कस्यात्मनो यान्युपकरणानि संयमनियमादीनि तेषु परायण इति परिहारः । मार्दवोपेतः कोमलतायुक्तोऽपि अतीव दृढधारणः काठिन्ययुक्त इति विरोधस्तस्माद् मार्दवधर्मोपेतः सन् दृढधारणावान् बभूवेति परिहारः ॥३५॥

**अप्यार्जवश्रिया नित्यं समुत्सवक्रमङ्गतः ।**
**पावनप्रक्रियोऽप्यासीत्तदा शौचपरायणः ॥३६॥**

**अप्यार्जवेत्यादि**—आर्जवश्रिया सरलतया समुद् हर्षयुक्तोऽपि स जनः वक्रमङ्गतः कुटिलयाचक इति विरोधस्तस्मात् आर्जवधर्मयुक्तः सन् समुत्सवस्य क्रमं गत आसीदिति

---

**अर्थ**—मुनि अवस्थामें भगवद्भक्तिसे युक्त जयकुमारने अत्यन्त स्पष्ट, उत्तम उपयोगसे सहित अवस्थाकी आराधना की थी । अत एव **कोद्भूतलक्षण**—आत्मासे उत्पन्न लक्षण, व्यञ्जन—प्रकट हो, यह उचित ही था। भगवद्भक्त पुरुष आत्मस्वरूपका अनुभवी होता ही है ।

**अर्थान्तर**—भक्तात्म—ओदनरूप व्यक्तिने सूप—दालका उपयोग किया और वास्तुक-बथुआकी भाजी साथमें ली, यह उचित ही था ॥३४॥

**अर्थ**—वे जयकुमार क्षमाशील होनेपर भी कोपकरणैकपरायण—क्रोध करनेमें मुख्यरूपसे तत्पर थे, यह विरोध है । परिहार इस प्रकार है कि वे क्षमाशील होकर भी क—आत्माके उपकारी संयम-नियम आदिके करनेमें प्रमुख रूपसे तत्पर रहते थे । इसी प्रकार मार्दव—कोमलतासे युक्त होकर भी दृढधारणः—कठोरतासे युक्त थे, यह विरोध है । परिहार इस प्रकार है कि वे मार्दव धर्मसे युक्त होकर भी दृढधारणा शक्तिसे युक्त थे ॥३५॥

**अर्थ**—वे जयकुमार **आर्जवश्री**—सरलताकी शोभासे निरन्तर **समुद्**—हर्ष सहित होकर भी **वक्रमंगत**—कुटिल याचक थे, यह विरोध है । परिहार इस प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



परिहारः। पावनप्रक्रियः पवित्रतायुक्तोऽपि आशौचपरायणः सूतकनामाशुद्धियुक्त इति विरोधस्तस्मात् शौचधर्मयुक्तस्संतोषशीलस्सन् पवनस्येदं पावनं तद्रूपप्रक्रिय आसीत् सदा विचरणशील इति परिहारः ।।३६।।

श्यामतां नान्वगाच्चित्ते सत्यानुगतवृत्तिमान् ।
यमादभीत एवासीत् संयमप्रभयान्वितः ।।३७।।

श्यामतामित्यादि—चित्ते सत्यया सत्यभामया नाम महिष्यानुगता या सौ वृत्तिश्चेष्टा तद्वान् सन्नपि श्यामतां माधवतां नान्वगादिति विरोधः, तस्मात्सत्येनावितथवचनेन अनुगतवृत्तिमान् सत्यवक्ता भवन् श्यामतां पापाशयतां नान्वगाद् इति परिहारः। यमस्य समीचीनया प्रभयान्वितोऽपि यमादभीत इति विरोधः, तस्मात् संयमस्येन्द्रियदमनस्य प्रभयान्वितस्सन् यमादन्तकादभीत एवासीदिति परिहारः ॥३७॥

असन्तप्तान्तरङ्गोऽपि तपसि प्रणिधिं गतः ।
न त्यागमहितोऽप्यासीत् त्यक्ताशेषपरिग्रहः ।।३८।।

असन्तप्तेत्यादि—तपसि नाम संतापे प्रणिधिं गतोऽपि असन्तप्तान्तरङ्ग एवं विरोधः। तपसि नाम तपस्यायां प्रणिधिं गतः विचारवानासीद् इति परिहारः। त्यक्ता-

---

है कि आर्जव धर्मसे युक्त होकर **समुत्सवक्रमं गतः**–समीचीन उत्सवके क्रमको प्राप्त थे। तथा **पावनप्रक्रियः**–पवित्रतासे युक्त होकर भी **आशौचपरायणः**–सूतक नामक अशुद्धिसे युक्त थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि वे **पावनप्रक्रियः**–पवन सम्बन्धी प्रक्रियासे सहित थे, अर्थात् पवनके समान विचरण–विहार करने वाले थे और शौच नामक धर्मसे सहित थे ॥३६॥

**अर्थ**—वह जयकुमार मनमें **सत्यभामा पट्टरानी**की चेष्टासे अनुगत होकर भी **श्यामता**–श्रीकृष्णताको प्राप्त नहीं थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि सत्यधर्मके अनुगामी होकर मनमें मलिनताको प्राप्त नहीं थे। तथा **संयमप्रभयान्वितः**–यमकी समीचीन प्रभासे युक्त होकर भी **यमादभीत**–यमसे अभीत थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि **संयम**–इन्द्रियदमन और प्राणिरक्षणरूप संयमसे युक्त होकर भी यम–मृत्युसे अभीत–भय रहित थे ॥३७॥

**अर्थ**—वे जयकुमार **तपसि**–संतापमें **प्रणिधि**–प्रणिधान-स्थितिको प्राप्त होकर भी **असन्तप्तान्तरङ्गः**–संतप्त हृदयसे सहित नहीं थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि तपश्चर्यामें लीन होकर भी–तपोधर्म से सहित होकर भी अन्तरङ्गमें सन्तापका अनुभव नहीं करते थे और **त्यक्ताशेषपरिग्रह**–समस्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शेष परिग्रहः सन् त्यागेन सहितो नासीद् इति विरोधस्तस्मान्नतेर्नम्रताया आगमेन सहितः इति परिहारः ॥३८॥

संगीतगुणसंस्थोऽपि सन्नकिञ्चन रागवान् ।
वर्णनातीतमाहात्म्यो वर्णितोचितसंस्थितिः ॥३९॥

संगीतेत्यादि—संगीतस्य गानस्य गुणे संस्था स्थितिर्यस्य सोऽपि सन् किञ्चन रागवान् मनागपि गानशीलो नासीदिति विरोधः, ततः संगीता संस्तुता गुणानां संस्था यस्य स सन् अकिञ्चनधर्मे रागवान् तल्लीन इति ज्ञेयं तथा वर्णनयातीतं रहितं माहात्म्यं यस्य सोऽपि वर्णिता संकीर्तिता उचिता स्थितिर्यस्य स इति विरोधः, ततो वर्णितताया निःस्त्रीकताया उचिता स्थितिर्यस्येति परिहारः ॥३९॥

श्रीयुक्तदशधर्मोऽपि नवनीताधिकारवान् ।
तत्त्वस्थिति प्रकाशाय स्वात्मनैकायितोऽप्यभूत् ॥४०॥

श्रीयुक्तेत्यादि—श्रीयुक्ताः शोभासहिताः क्षमादयो दशधर्मा यस्य स श्रीयुक्तदशधर्मः सन्नपि नवसंख्यात्मकाधिकारयुक्तः अभूदिति विरोधः । तस्य परिहारः-नवनीतस्य

---

परिग्रहका त्यागकर देनेपर भी नत्यागमहितः—त्यागसे सहित नहीं थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि समस्त परिग्रहका त्यागकर देनेपर भी नत्यागमहितः—नम्रताकी प्राप्तिसे हितरूप थे ॥३८॥

अर्थ—वे जयकुमार संगीतके गुणोंमें स्थितिको प्राप्त होकर भी—संगीतके अच्छे ज्ञाता होकर भी रागसे सहित नहीं थे-स्वर विज्ञानसे शून्य थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि प्रशंसनीय गुणोंकी स्थितिसे सहित होकर भी आकिञ्चन्य धर्मसम्बन्धी राग—प्रेमसे सहित थे। तथा अवर्णनीय माहात्म्यसे युक्त होकर भी वर्णनीय योग्य स्थितिसे सहित थे। जो अवर्णनीय है वह वर्णनीय कैसे हो सकता है ? यह विरोध है, परिहार इस प्रकार है कि वर्णनातीत माहात्म्यसे युक्त होकर भी वर्णिता—ब्रह्मचर्यके योग्य स्थितिसे सहित थे, अथवा ब्रह्मचर्यविषयक उचित स्थितिसे सहित थे ॥३९॥

अर्थ—शोभा सहित क्षमादि दश धर्मोंसे युक्त होकर भी वे नवनीताधिकारवान्—नौ धर्मोंके अधिकारसे सहित थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि वे दश धर्मोंके अधिकारसे युक्त होकर भी नवनीत—मक्खनके समान कोमलताके अधिकारी थे। जीवादि सात तत्त्वोंकी स्थितिका प्रकाश करनेके लिये एक स्वकीय आत्माके साथ ही एकत्वको प्राप्त थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



भ्रक्षणस्याधिकारवान् तत्तुल्यकोमलतावानित्यर्थः । तत्त्वस्थितिप्रकाशाय तत्त्वानां जीवादीनां स्थितिप्रकाशाय स्वात्मना एकायितः एकतायुक्त इति विरोधः । तस्य परिहारः—संसारोच्छेदकतात्त्विकस्थितिप्रकाशनाय स्वात्मना तन्मयोऽभूदिति ॥४०॥

विनयाधिगतः सत्सु नयाधीनोऽप्यसौ सदा ।
सर्वारम्भविमुक्तः सन् योगमालब्धवान् मुहुः ॥४१॥

विनयेत्यादि—सत्सु विनयाधिगतः, नयरहितोऽपि नयाधीनो नीतिमानासीद् इति विरोधस्तस्माद् विनयेन नम्रभावेन अधिगतः सन् नयाधीनः विचारवानासीदिति परिहारः । सज्जनानां वैयावृत्यकरोऽभूदित्यर्थः । सर्वारम्भैः कार्यक्रमैर्वियुक्तो रहितोऽपि योगं सन्नहनादिसम्प्रयोगमालब्धवान् इति विरोधस्तस्माद् योगं नाम एकाग्रचिन्तानिरोधरूपम् आत्मध्यानम् आलब्धवानिति परिहारः ॥४१॥

प्रायश्चित्तमधात् स्वस्मिन् प्रायश्चित्ताति दूरगः ।
सोऽहमित्यप्यनुध्यायन्नहङ्कारातिगोऽभवत् ॥४२॥

प्रायश्चित्तमित्यादि—प्रायःचित्ताद् अतिदूरगो मनोरहितोऽपि स्वस्मिन् चित्तं हृदयमधात्, एवं विरोधः। तस्मात् प्रायश्चित्ताद् नाम आवश्यककर्मणि स्खलनात् अतिदूरगः सन् स्वस्मिन् आत्मचिन्तने एव प्रायः प्राचुर्येण चित्तम् अधाद् इति परिहारः। सोऽहं इत्यनुध्यायन्नपि अहङ्कारातिगः अहमिति शब्दरहितोऽभवदिति विरोधः, तस्मात् अहकारात् स्मयपरिणामात् अतिग इति परिहारः ॥४२॥

---

है—संसारका उच्छेद करने वाली वास्तविक स्थितिका प्रकाश करनेके लिये वे स्वकीय आत्माके साथ एकत्वको प्राप्त हुए थे ॥४०॥

**अर्थ**—वे सत्पुरुषोंके विषयमें **नयाधिगम**–नीतिज्ञानसे रहित होकर भी **नयाधीन**–नीतिज्ञानसे सहित थे, यह विरोध है । परिहार इस प्रकार है—सत्पुरुष-विषयक विनय गुणसे सहित होकर भी नयज्ञानके वेत्ता थे । सब प्रकारके आरम्भसे विमुक्त होकर भी **योग**–संयोगको प्राप्त थे, यह विरोध है । परिहार इस प्रकार है कि सब आरम्भोंसे रहित होकर भी एकाग्र चिन्ता निरोध रूप आत्मध्यानको प्राप्त थे ॥४१॥

**अर्थ**—वे प्रायः **चित्त**–मनसे रहित होकर भी अपने आपमें मनको धारण करते थे, यह विरोध है । परिहार इस प्रकार है कि आवश्यक कार्योंमें स्खलन होनेपर गुरुके द्वारा प्रदत्त दण्डसे दूर रहते थे तथा अपना मन अपने आपमें लीन रखते थे । **'सोऽहम्'** वह मैं हूँ, इस प्रकार निरन्तर ध्यान करते रहने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


**हंसोऽभ्यवापि काकस्य रीतिः सौवर्ण्यभागिति ।**
**प्रतिलोमविचारेण सोऽहमित्यनुवादिना ॥४३॥**

हंस इत्यादि—लोम-लोम प्रतिलोम विचारेण प्रतिक्षणमनुमननेन कृत्वा तेन सोऽहमित्यनुवादिना हंसः शुद्धात्मा अभ्यवापि प्राप्तः । इयं काकस्य रीतिः नीतिः पित्तलधातुरपि सौवर्ण्यं भाग इति अभ्यवापि ॥४३॥

**समारोहक्रमोऽप्येवं नयतो वस्तु संविदः ।**
**तस्यासीत् सकलादेशो विधुतादृष्टभावतः ॥४४॥**

समारोहेत्यादि—एवं वस्तु आत्मतत्त्वं संविदः नयतः ज्ञानविषयभावं नयतः तस्य समारोहक्रमोऽपि श्रेण्यारोहणविधिरपि बभूव । विधुतः पराभूतः अदृष्टभावो दुष्कर्मपरिणामो दैवसद्भावो येन ततः तस्य स प्रसिद्धः कलादेशः कं आत्मानं लाति स्वीकरोति सकलः स आदेशोऽसौ आसीत् । यतः तस्य वस्तुससंविदः तत्त्वविचारवृत्तयो बभूवुः । तस्मात् तस्य मारस्य नाम कामदेवस्य यः ऊहक्रमः कल्पनापरिपाटी स नासीत् । विधुतायाः चन्द्रपरिणामस्य दृष्टो यो भावः तस्मात् स कलादेशः मण्डलपरिपूर्तिरासीत् सकलादेशो नाम प्रमाणवृत्तिरप्यासीत् ॥४४॥

---

पर भी वे अहंकार-अहम् शब्दके उच्चारणसे रहित थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है—'**यः परमात्मा सः अहम्**' जो परमात्मा है वही मैं हूँ, इस प्रकार ध्यान करते रहनेपर भी वे **अहंकार**-अभिमानसे रहित थे ॥४२॥

**अर्थ**—प्रतिक्षण विचार करने (पक्षमें विपरीत क्रमसे विचार करने) और 'सोऽहं' ऐसा उच्चारण करनेवाले जयकुमारने हंस-शुद्ध आत्माको प्राप्त किया था। सोऽहं शब्दको विपरीत क्रमसे पढ़नेपर हंसः शब्द निष्पन्न होता है। यह किसकी कौन नीति है कि जिससे रीति[1]-आरकट पीतल सुवर्णभावको प्राप्त हो जाता है। ॥४३॥

**अर्थ**—इस प्रकार वस्तु-आत्मतत्त्वको संविदः-जानने वाले जयकुमारके समारोहक्रमः-श्रेणी चढ़नेकी विधि भी सम्पन्न हुई थी। दुष्कर्मके प्रभावको दूरकर देनेसे उन जयकुमारके वह प्रसिद्ध कलादेश-आत्मतत्त्वकी स्वीकृति हुई थी, अर्थात् प्रतिरोधक कर्मका अभाव होनेसे उन्हें आत्मतत्त्वकी उपलब्धि हुई थी। अथवा यतः जिस कारण उनके वस्तुसंविदः-तत्त्वविचारकी श्रेणियाँ प्राप्त हुई थीं। इसलिये मार-ऊह-क्रमोऽपि कामदेवकी कल्पनापरिपाटी नहीं हुई थी।

अन्य अर्थ संस्कृत टीकासे जानना चाहिये ॥४४॥

---

१. 'रीतिः स्यन्दे प्रचारे च लोहकिट्टारकूटयोः' इति विश्व० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



नभोगतत्त्वसंग्राही नित्यमेव निरम्बरः ।
परमागमतल्लीनः परमामहरन्नपि ॥४५॥

**नभोगेत्यादि**—नभसि आकाशे गतत्वस्य संग्राही सर्वदा आकाशगामी च निरम्बरः आकाशहीन इति विरोधः । तस्य परिहारः—भोगतत्त्वं विषयतत्परतां न संगृह्णातीति न भोगतत्त्वसंग्राही विषयवासनातीतो नित्यमेव निरम्बरो वस्त्राच्छादनरहित इति परिहारः । अथवा नासादेशं गच्छतीति नभोगं यत् तत्त्वं स्वरोदयज्ञानं तस्य संग्राही इत्यपि दिक् । परेषां मां लक्ष्मीं अहरन् परधनहरणरहितः सन्नपि परमाया आगमे संग्रहणे तल्लीन इति विरोधः, तस्मात् परमे आप्तोपज्ञे अहेतुवादरूपे च तस्मिन् आगमे शासने तल्लीन इति परिहारः ॥४५॥

आदिनाथोक्तमादेशं गतोऽनादिस्थलं दधत् ।
अजपोक्तविधिं वाञ्छन् स जपेऽभूत् परायणः ॥४६॥

**आदिनाथेत्यादि**—आदिनाथेन उक्तं प्रारब्धं स्वामिना कथितम् आदेशं गतः, स एव अनादिस्थलं प्रारम्भविहीनं स्थानं दधद् इति विरोधः । तत आदिनाथेन पुरुदेवेनोक्तं आदेशं गतस्सन् नादि न भवतीत्यनादि स्थलं निःशब्दं स्थानं दधद् इति परिहारः । जपो न भवतीत्यजपः, तदुक्तं विधिं वाञ्छन् स जपे परायणोऽभूदिति विरोधस्तत. अजं परमात्मरूपं पालयतीति अजपः, इत्येवमुक्तो यो विधिस्तं वाञ्छन् इति परिहारः ॥४६॥

---

**अर्थ**—वे **नभोगतत्त्वसंग्राही**-आकाशगमनके संग्राही होकर भी **निरम्बर**-आकाशसे रहित थे, यह विरोध है। परिहार पक्षमें **भोगतत्त्वके संग्राही न होकर**-निरन्तर **निरम्बर**-वस्त्र रहित थे । वे **परमां अहरन्**-दूसरेकी सम्पत्तिका हरण करनेवाले न होकर भी **परमागमतल्लीन**-दूसरेकी सम्पत्तिके आगम-प्राप्त करनेमें तल्लीन थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि **परम आगम**-सर्वज्ञ प्रणीत आगममें तल्लीन थे ॥४५॥

**अर्थ**—वे आदिनाथके द्वारा कथित आदेशको प्राप्त होकर अनादि-आदि-रहित स्थलको प्राप्त थे, यह विरोध है । परिहार इस प्रकार है—आदिनाथ-भगवान् वृषभदेवके द्वारा प्रतिपादित आदेश-आज्ञाको प्राप्त होकर **अनादिस्थलं**-शब्द रहित स्थलको प्राप्त हुए थे । तथा **अजपोक्तविधिं वाञ्छन्**-जपरहितके द्वारा कथित विधिकी इच्छा करते हुए जपमें तत्पर हुए थे, यह विरोध है, परिहार इस प्रकार है—**अजप**-परमात्मस्वरूपका पालन करनेवालेके द्वारा प्रतिपादित विधिकी इच्छा करते हुए जपमें तत्पर हुए थे ॥४६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



शिवार्थं वृषभारुढः सदक्षपदमाश्रितः ।
सोमलब्धोत्तमाङ्गोऽपि यदहीनगुणाश्रयः ॥४७॥

शिवार्थमित्यादि—सोमात् नाम नृपात् लब्धं उत्तमं अङ्गं येन स सोमलब्धोत्तमाङ्गः सोमात्मज इति यत् अहीनानां प्रशस्तानां गुणानामाश्रयः शिवार्थं मोक्षनिमित्तं वृषं धर्ममारूढः, सतोऽक्षस्यात्मनः पदं वर्णसमूहं आश्रितः परमात्मनाम जपत्वाद् इति । तथा सोमेन चन्द्रमसा लब्धमुत्तमाङ्गं शिरो यस्य स चन्द्रशेखरः, यत् अहीनस्य शेषनागस्य गुणस्याश्रयः स शिवार्थं पार्वतीनिमित्तं वृषं बलीवर्दं आरूढः सन् महादेवो दक्षस्य नाम नृपतेः पदं स्थानमाश्रितः ॥४७॥

ज्ञानार्णवोदयायासीदमुष्य शुभचन्द्रता ।
योगतत्त्वसमग्रत्वभागजायत सर्वतः । ४८॥

ज्ञानार्णवेत्यादि—यो जयकुमारो गतत्वं च समग्रत्वं च गतत्वसमग्रत्वे ते भजतीति गतत्वसमग्रत्वभाग् भूतभावितत्त्वज्ञः सर्वतोऽजायत । एवममुष्य ज्ञानार्णवस्य ज्ञानसमुद्रस्य

---

अर्थ—सोम–सोमप्रभ राजासे जिन्हें उत्तमाङ्ग–उत्कृष्ट शरीर प्राप्त हुआ है तथा जो अहीन–उत्कृष्ट गुणोंके आधारभूत हैं, ऐसे वे जयकुमार शिव–मोक्षके लिये वृष–धर्मपर आरूढ़ होकर सदक्षपद–समीचीन आत्माके पद–वर्णसमूहको प्राप्त हुए थे, अर्थात् परमात्माके नामका जाप करनेमें तत्पर थे ।

अर्थान्तर—जिनका उत्तमाङ्ग–शिर सोम–चन्द्रमासे युक्त था, जो अहीन–शेषनागके गुण अथवा शेषनाग रूप रज्जुके आश्रय–आधार थे तथा शिवा–पार्वतीके लिये जो वृष–बैलपर आरूढ थे, ऐसे वे शङ्कर दक्षपद–राजा दक्षके स्थान–घर गये थे ॥४७॥

अर्थ—जो जयकुमार सब ओरसे गतत्व और समग्रत्वको प्राप्त थे, अर्थात् अतीत-अनागत पदार्थोंमें उनका ज्ञान व्याप्त था और पूर्णत्वको प्राप्त था तथा ज्ञानरूपी समुद्रकी अभिवृद्धिके लिये जयकुमारके शोभायमान चन्द्रपना था, अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्रको वृद्धिगत करता है, उसी प्रकार जयकुमार अपने ज्ञानरूप समुद्रको वृद्धिगत कर रहे थे ।

अर्थान्तर—जयकुमार सब ओरसे योगतत्त्व–ध्यानरूप वस्तुकी पूर्णताको प्राप्त थे तथा ज्ञानार्णव नामक ग्रन्थके उदयके लिये इनमें शुभचन्द्रपना था अर्थात् शुभचन्द्राचार्यने जिस प्रकार ज्ञानार्णव नामक योगशास्त्रकी रचनाकर योग–ध्यानको विस्तृत किया है, उसी प्रकार जयकुमारने भी शुक्ल ध्यानके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



उदयाय शुभचन्द्रता शोभनचन्द्रमस्त्वम् आसीत् । अथवा योगतत्त्वस्य ध्यानवस्तुनः समग्रत्वभाक् परिपूर्णताकारकस्तस्मात् सर्वतोऽमुष्य ज्ञानार्णवनामकस्य ग्रन्थस्योदयाय शुभचन्द्रनाम धारकतासीत् । समुद्रस्य च वृद्धिकरश्चन्द्रो भवतीति तद्वदयं ज्ञानस्य वृद्धिकरोऽभूत्, ध्यानतत्त्वस्य परिज्ञायकत्वादिति ॥४८॥

**सुरतोचितचेष्टस्य नरतासुगुणस्थितिः ।**
**समुल्लङ्घनभाजोऽपि विनयाचारधारिणः ॥४९॥**

**सुरतोचितेत्यादि**—सुरतोचितचेष्टस्य मैथुनयोग्यचेष्टावतः सुगुणस्थितिः नरता रतेन स्त्रीप्रसङ्गेन रहितता इति विरोधः,तस्मात् सुरतोचितचेष्टस्य नाम देवत्वयोग्यचेष्टावतः अमुष्य नरता मनुष्यजन्मता सुगुणस्थितिः उत्तमगुणानां भूमिः अभूत् इति परिहारः । समुल्लङ्घनभाज उद्दण्डतावतोऽपि विनयाचारधारिणः नम्रतायुक्तस्येति विरोधः , तस्मात् समुल्लङ्घनभाजः सहर्षानशनकारिण एवं कृत्वा परिहारः ॥४९॥

**सुमता स्वीकृता तेनासुमताप्यधुना पुनः ।**
**कुलता सुलता येनामानि मानि जनुः कृतम् ॥५०॥**

**सुलतेत्यादि**—तेन जयकुमारेण कुलता कुत्सिता वल्लरी च सुलता स्वीकृता तथा सुमता पुष्पता एवम् असुमताऽऽपि स्वीकृता जनुः स्वजन्म मानि मानवत् तथा चामानि

---

माध्यमसे घातिया कर्मोंका क्षयकर अपने ज्ञानरूप सागरको विस्तृत किया था ॥४८॥

**अर्थ**—**सुरत**-संभोगके योग्य चेष्टासे युक्त जयकुमारकी उत्तम गुणोंमें जो स्थिति थी, वह नरता-संभोगसे रहित थी, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है—**सुरता**-देवत्वके योग्य चेष्टासे युक्त जयकुमारमें **नरतासुगुणस्थिति**-मनुष्यत्वके योग्य उत्तम गुणोंकी स्थिति थी । **सुरत, सुरता**-और **नरत, नरता**-शब्दोंपर दृष्टि देनेसे विरोधका परिहार सरलतासे हो जाता है। इसी प्रकार जयकुमार **समुल्लङ्घनभाक्**-उद्दण्ड चेष्टा वाले होकर भी **विनयाचार**-नम्रतापूर्ण व्यवहारके धारक थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि वे **समुद्-लङ्घनभाक्**-हर्षसहित उपवाससे सहित थे तथा विनयाचारके धारक-नम्र व्यवहारसे युक्त थे ॥४९॥

**अर्थ**—उन जयकुमारने **कुलता**-कुत्सित लताको **सुलता**-उत्तम लता और **सुमता**-पुष्पताको **असुमता**-अपुष्पता, स्वीकृत किया तथा **मानि**-मानयुक्त अपने जन्मको **अमानि**-मान रहित किया, इस प्रकार सर्वत्र विरोध है। उसका परिहार यह है—जिन जयकुमारने **कुलता**-कुलीनताको **सुलता**-(सुरता) देतवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानरहितं कृतम् एवं परस्परविरोधतत्परिहारः कुलता कुलीनता सैव येन सुलता देवत्व-ममानि स्वीकृता तस्मात्तेनासुमता प्राणधारकेण सुमता श्रेष्ठता स्वीकृता । एवं जनुः मानिकृतं पूज्यतां नीतम् ॥५०॥

**सजताप्यजतावापि येनात्मनि नयेन तु ।**
**निश्चयेन चयेनापि भूर्विभूक्तिभृता तदा ॥५१॥**

**सजतेत्यादि**—तेन आत्मनि येनापि नयेन सजतापि पुनरजता वापि, निश्चयेन च येन भूः सैव विभूक्तिभृतापि भूरवापि इति विरोधः । तस्मादेवमर्थः—येन जयेन नयेन आत्मनि सजता ध्यानं कुर्वता अजतावापि अविनाशिरूपतात्मनः स्वीकृता, येन च निश्चयेन विश्वासेन विभूक्तिभृता प्रभुनाम जपता भूर्भूमिरवापि इत्यर्थः । सततमेव परमात्म नाम जपता आत्मनि संनिमज्ज्याविनाशिताऽवापि । एवं तात्पर्यम् ॥५१॥

**देहेऽपि निर्ममत्वेन ममत्वे नो व्यथाकरः ।**
**न तत्त्वमपि बिभ्राणस्तत्त्वमाप गुरूक्तिषु ॥५२॥**

**देहेऽपीत्यादि**—स देहेऽपि स्वशरीरेऽपि निर्ममत्वेन ममतारहितत्वेन युक्तः किं पुनरन्यत्र, पुनरपि ममत्वे नो व्यथाकरो बाधाकरो नासीदिति विरोधः, तस्मात् मम तु

---

रूप माना था । **असुमता**—प्राण धारण करनेवाले जिन जयकुमारने **सुमता**—श्रेष्ठताको अङ्गीकृत किया था और अपने जन्मको **मानि**—सन्मानसे सहित किया था ॥५०॥

**अर्थ**—जिन जयकुमारने आत्माके विषयमें **सजता**—जन्म सहितता प्राप्तकी, उन्होंने **अजता**—जन्मरहितता प्राप्त की और निश्चयसे जो **विभूक्तिभृता**—भू शब्दके उच्चारणसे विगत—रहित थे उन्होंने उस **भू**—पृथिवीको प्राप्त किया, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है—**आत्मनि सजता येन**—आत्मामें लीन होने वाले जिन जयकुमारने **अजता**—जन्मरहितता प्राप्तकी थी और **विभूक्तिभृता**—प्रभुका नाम लेनेवाले जिन जयकुमारने पृथिवी प्राप्त की थी ॥५१॥

**अर्थ**—जयकुमार शरीरमें भी ममताभावसे रहित थे, फिर अन्यकी तो बात ही क्या है ? इतना होनेपर भी वे ममताभावमें **व्यथाकर**—बाधा करनेवाले नहीं थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है—**मम तु एनो व्यथाकरः**—उनका अभिप्राय था कि मेरे लिये पापका नाश करने वाला ही प्रिय है। तथा **तत्त्वं न बिभ्राणोऽपि**—तत्त्व-यथार्थताको न धारण करते हुए भी वे गुरुओंकी उक्तियों—वचनोंमें तत्त्वको प्राप्त हुए थे, यह विरोध है। इसका परिहार यह है—**नतत्वं**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



पुन एनोव्यथाकरः पापनाशक इति, तथा गुरूक्तिषु गुरोरुपदेशेषु तत्त्वं न बिभ्राणोऽपि तत्त्वमापेति विरोधः, तस्मात् नतत्वं नम्रत्वं बिभ्राणःतत्त्वं सत्यार्थत्वमोपेति ॥५२॥

**समरूपगतां वृत्तिं दधानो नलताश्रिताम् ।**
**वारितापक्रमोऽप्येवं नतरूपगतिं दधौ ॥५३॥**

**समरूपेत्यादि**—समरूपं प्रशमभावं रागद्वेषाभावात्मकं गच्छतीति सा वृत्तिश्चेष्टा तां, कीदृशीं तां ? नलतां रलयोरभेदान्नरतां मनुष्यतां समाश्रितां दधानः, वारितः परिहारितोऽपक्रमो दुर्मार्गप्रवृत्तिलक्षणो येन स जयकुमार एवं रीत्या नतरूपां च तां गतिं विनीतवृत्तिं दधौ । तथा स कश्चिदपि जनो वारितापक्रमः वारिताया जलसत्ताया अपक्रमोऽभावो यस्य स मरूपगतां मरुदेशेन उपगतां प्राप्तां वृत्तिं दधानो लताभिर्वल्लरीभिः अनाश्रितां वृत्तिं दधानस्तरूणामुपगतिं वृक्षाणां सत्तां न दधावित्यर्थः ॥५३॥

**मरुताश्रितसम्पत्तिमिच्छताथ स्वरङ्गता ।**
**साधूरीक्रियते स्मैवं निर्जराशयसंजुषा ॥५४॥**

**मरुतेत्यादि**—अथ मरुता देवेनाश्रितां सम्पत्तिं स्वर्गलक्ष्मीमिच्छता निर्जराशयसंजुषा देवाभिप्रायशालिना स्वः स्वर्गस्याङ्गता साधु यथा स्यात्तथा उरीक्रियते स्म । तथा

**बिभ्राणोऽपि**—नम्रत्वको धारण करते हुए वे गुरुवचनोंमें तत्त्व—यथार्थताको प्राप्त हुए थे ॥५२॥

---

**अर्थ**—जो समरूपगतां-प्रशमभावको प्राप्त तथा नलताश्रितां-नरताश्रितां—मनुष्यतासे युक्त वृत्तिको धारण कर रहे थे तथा वारितापक्रमः-दुर्मार्ग प्रवृत्ति रूप अपक्रमको जिन्होंने निवारित कर दिया था, ऐसे जयकुमारने इस तरह नतरूप वृत्ति—विनीतवृत्तिको धारण किया था ।

**अर्थान्तर**—वारितापक्रमः-जलके सद्भावसे रहित स—कोई व्यक्ति मरूपगतां मरुस्थलसे प्राप्त और न लताश्रितां—लताओंसे अनाश्रित वृत्तिको धारण करता हुआ तरूपगतिं न दधौ—वृक्षकी संगतिको प्राप्त नहीं होता, अर्थात् जिस प्रकार जलाभावसे पीड़ित मनुष्य मरुभूमिमें भ्रमण करता हुआ विश्रामके लिये न कहीं लताको प्राप्त होता है और न वृक्षको, उसी प्रकार संसाररूप मरुस्थलमें भ्रमण करता हुआ विषयाभिलाषी मनुष्य कहीं भी विश्रामको प्राप्त नहीं होता ॥५३॥

**अर्थ**—देवोंके द्वारा आश्रित सम्पत्ति—स्वर्गलक्ष्मीकी इच्छा करनेवाले तथा देवोंके अभिप्रायसे सुशोभित मनुष्यके द्वारा अच्छी तरह स्वरङ्गता—स्वर्गकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


मरुता वायुनाश्रितां सम्पत्तिमिच्छता निर्जराशयसंजुषा जरारहितं आशयं बिभ्रता अनवच्छिन्नविचारेण तेन स्वरं गच्छतीति स्वरङ्गो नासादेशगामी तत्ता साधु उरीक्रियते स्म प्राणायामप्रवृत्तिः क्रियते स्मेत्यर्थः । मरुतया मरुस्थलरूपेण आश्रितां सम्पत्तिमिच्छता जलाशयरहितवृत्तिना तेन सा धूरी एव रेणुप्राया स्वरङ्गताध्वनि विश्रुता क्रियते स्मेत्यर्थः ॥५४॥

**सज्जातरूपक्लृप्तिश्च विटपत्वातिगास्य तु ।**
**सदारता स्थितिस्त्यक्तदारस्यापि सदध्वनि ॥५५॥**

सज्जातेत्यादि—अस्य जयकुमारस्य विटपत्वात् शाखित्वाद् अतिगा दूरवर्तिनो अपि तरूणाम् उपक्लृप्तिः सम्पत्तिः सज्जा शोभितेति विरोधः तस्य परिहारः—विटपत्वात् कामित्वाद् अतिगा दूरवर्तिनी निष्कामिता, अत एव सज्जातरूपक्लृप्तिः सम्यग् यज्जातरूपं नवजातशिशुस्वरूपं तस्य क्लृप्तिः नग्नरूपता विटपत्वाद् व्यभिचाराद् अतिगा दूरवर्तिनी जाता । त्यक्तदारस्य स्त्रीरहितस्य चास्य सदारता स्त्रीयुक्ततेति विरोधः, तस्य परिहारः—सदध्वनि सन्मार्गे सदा सर्वदैव रता तल्लीना स्थितिरिति दिक् ॥५५॥

---

अङ्गता स्वीकृतकी जाती है, अर्थात् जो स्वर्गकी सम्पत्तिकी इच्छा रखता है वह स्वर्गके शरीर–वैक्रियिक शरीरको स्वीकृत करता है।

**अर्थान्तर**—पवनसे आश्रित सम्पत्तिकी इच्छा करने वाला तथा शिथिलता रहित आशयसे युक्त मनुष्य अच्छी तरह नासिका-विवरसे निकलने वाले स्वरोंको साधनेकी वृत्ति–प्राणायामको स्वीकृत करता है।

**अर्थान्तर**—मरुस्थल सम्बन्धी सम्पत्तिका इच्छुक तथा जलाशयरहित वृत्तिको धारण करनेवाला मनुष्य मार्गमें धूलीको ही फाँकता है ॥५४॥

**अर्थ**—इन जयकुमारके **विटपत्वातिगा**–वृक्षत्वसे दूर **तरूपक्लृप्तिः**–वृक्षोंकी सम्पत्ति **सज्जा**–शोभित थी, यह विरोध है, क्योंकि जो वृक्षत्वसे रहित है उसके **तरूपसंपत्ति**–वृक्षरूप सम्पत्ति कैसे हो सकती है? विरोधका परिहार इस प्रकार है कि उनकी **सज्जातरूपसम्पत्तिः**–सद्योजात बालकके समान नग्नरूपता **विटपत्वातिगा**–कामीपन–व्यभिचारसे दूर थी। वे **त्यक्तदार**–थे, स्त्रीके त्यागी थे, फिर भी उनकी **सदारतास्थिति**–स्त्रीसहित जैसी स्थिति थी, यह विरोध है, क्योंकि जो स्त्रीका त्यागी है, उसकी सदार–सस्त्रीक स्थिति कैसे हो सकती है? विरोधका परिहार इस प्रकार है कि वे **त्यक्तदार** थे–स्त्रीरहित थे और उनकी स्थिति **सदा**–सर्वदा **सदध्वनि**–समीचीन मार्गमें **रता**–लीन थी ॥५५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


सनस्तेनोपकाराय विधिरङ्गीकृतः सदा।
भीमयमङ्गतानां च भीमुषेदमिहाद्भुतम् ॥५६॥

सनस्तनेत्यादि—भीमयानां भयभीतानां तेषां मङ्गतानां भिक्षुकाणां भीमुषा भयापहारकेण, येषां यदेव वस्तु तदेवापहारकेण चौरप्रसिद्धत्वात्पुनः स्तेनोपकाराय चौराणां प्रक्रमाय चौर्यप्रेरणाय स प्रसिद्धो विधिः नाङ्गीकृत इति विरोधः, तस्मात् भीमश्च यो यमोऽन्तकस्तं गच्छन्तीति तेषां भीमयमङ्गतानां भयंकरमृत्युमुखे स्थितानां जन्ममरणवतां नः इत्यस्माकं भीमुषा भयापहारकेण तेन जयकुमारेण अस्माकं संसारिणामुपकाराय स विधिस्तपस्यारूपोऽङ्गीकृत इति ॥५६॥

अग्रे स तस्करयुतिं लेभे नादत्तभागपि।
न दैवस्यानुमोदाय सदैव गणभृच्च सन् ॥५७॥

अग्र इत्यादि—अदत्तभागपि चौर्यरहितोऽपि स अग्रे तस्कराणां चौराणां संयुतिं संयुतिं लेभे इति विरोधः, तस्मात् सतः गुणविशिष्टस्य नरस्याग्रे करयोर्हस्तयोः युतिं संयोजनां लेभे इत्यर्थः। स दैवगणभृत् पूर्वोपार्जितकर्मवान् सन् दैवस्यानुमोदाय समर्थ-

---

अर्थ—भयभीत भिक्षुकोंके भयको हरने वाले जयकुमारने स्तेनोपकाराय चारोंका उपकार करनेके लिये उस भयापहरण रूप विधिको सदा स्वीकृत नहीं किया था, अर्थात् यद्यपि वे भयभीत भिक्षुकोंका भय दूर करनेवाले थे, फिर भी चौरोंका निराकरण नहीं करते थे। इस अभिप्रायसे कि चौरीके बिना चोर दुःखी हो जायेंगे, अतः भिक्षुक सदा भयभीत रहते थे, क्योंकि जिसके पास जो वस्तु है उसके लिये वही श्रेष्ठ होती है। यह अद्भुत विरोध है, इसका परिहार इस प्रकार है—**भीमयमं गतानां**-भयंकर यम-मृत्युको प्राप्त लोगोंके **भीमुषा**-भयका अपहरण करनेवाले तेन जयकुमारेण-उन जयकुमारने-**नः**-**अस्माकं उपकाराय**-हम सबके उपकारके लिये **स विधिः**-तपस्या रूप उस विधिको अङ्गीकृत किया था ॥५६॥

अर्थ—वे जयकुमार **नादत्तभागपि**-चोरीके त्यागी होकर भी आगे **तस्करयुतिं**-चौरोंकी संगतिको प्राप्त थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है। कि वे **सतः अग्रे करयुतिं**-सत्पुरुषके आगे हाथ जोड़नेकी क्रियाको प्राप्त थे। तथा **सदैवगणभृत्**-पूर्वोपार्जित कर्मसमूहके धारक होकर भी **दैव**-कर्मकी अनुमोदनाके लिये नहीं थे, अर्थात् **दैव**-भाग्यके समर्थक नहीं थे, यह विरोध है। परिहार इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाय नाभूदिति विरोधः, तस्मात् गणभृद् मुनीनां नायकः सन् सदैव सर्वदैव दैवस्य भाग्यवादस्य अनुमोदाय न बभूव, पुरुषार्थकरोऽभूदित्यर्थः ॥५७॥

**आत्मवृत्तिरजातत्त्वभृता गौरविणी कृता ।**
**तेनाविकृतमित्येवं वृषभावमुपेयुषा ॥५८॥**

**आत्मेत्यादि**—आत्मनि वृत्तिर्यस्याः सा स्वभावतत्परा अपि अजा छागी तेन तत्त्वभृता रविणी गौः शब्दयुक्ता धेनुः कृता, अविकृतं मेषसम्पादितं वृषभावं बलीवर्दरूपम् उपेयुषा इति विरोधः, तस्य परिहार एवम् अजातत्वभृता पुनर्जन्मग्रहणरहितेन तेनात्मवृत्तिः स्वकीया चेष्टा गौरविणी गौरवशालिनी कृता । अविकृतं स्वाभाविकं सहजसम्पन्नं वृषभावं धर्मतत्त्वमुपेयुषा ॥५८॥

**पूरणायेत्यथो वाञ्छन् घटकं प्राप्य चात्मनः ।**
**वनस्थानमभिज्ञोऽभूत् स प्रमोक्षोपसंग्रही ॥५९॥**

**पूरणायेत्यादि**—अथो पूरणाय नगरं कहलाय भवतीति वाञ्छन् पुनः आत्मनः घटकं सुसंवेदनदायकं वनस्थानं वाञ्छन् सोऽभिज्ञो ज्ञानवान् प्रमोक्षोपसंग्रही अभूत् । किञ्च,

---

प्रकार है कि वे **गणभृत्**—मुनिसंघके स्वामी होकर भी **सदैव**—सदा **दैव**—भाग्यकी अनुमोदना—समर्थनके लिये नहीं थे, अर्थात् भाग्यवादी न होकर पुरुषार्थवादी थे। अबुद्धिपूर्वक सिद्ध होने वाले कार्योंको दैवसिद्ध कहते थे और बुद्धिपूर्वक सिद्ध होनेवाले कार्योंको पुरुषार्थसिद्ध मानते थे ॥५७॥

**अर्थ**—उन तत्त्वज्ञ जयकुमारने आत्मवृत्ति—अपने आपमें स्थिर रहने वाली **अजा**—बकरीको **रविणी गौः**—शब्द करती हुई गाय कर दिया, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि **अजातत्वभृता**—पुनर्जन्म ग्रहणसे रहित जयकुमारने **आत्मवृत्ति**—अपनी चेष्टाको गौरविणी—गौरवशालिनी कर लिया था तथा **अविकृत**—मेषकृत **वृषभाव**—बलीवर्दपनको प्राप्त हुए जयकुमारने उपर्युक्त कार्य किया था, यह विरोध है, क्योंकि मेषके द्वारा बलीवर्दत्व कैसे किया जा सकता है? परिहार इस प्रकार है—**अविकृतं**—विकाररहित—सहज स्वाभाविक **वृष**-धर्मको प्राप्त तथा **अजातत्वभृता**—जन्मरहितत्वसे युक्त जयकुमारने **आत्मवृत्ति**—अपनी चेष्टाको **गौरविणी गौरवयुक्त**—किया था ॥५८॥

**अर्थ**—पूः रणाय—नगर कलहके लिये होता है, अतः वे **ज्ञानी जयकुमार** आत्माके **घटक**—आत्मस्वरूपका अनुभव करनेवाले **वनस्थान**—एकान्त स्थानकी इच्छा करते हुए **मोक्षतत्त्व**को प्राप्त करनेवाले हुए थे।

**अर्थान्तर**—**अभिज्ञ**—प्राणायामके ज्ञाता जयकुमार **पूरणक्रिया**—पवनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


स पूरणाय प्राणायामसमये पूरणाख्यकर्मकरणाय वाञ्छन् पुनः घटकं कुम्भकनाम क्रियांच वाञ्छन् ततः पुनः मोक्षस्य रोचननाम कर्मण उपसंग्रही सन् वनस्थानं एकान्तदेशम् अभिज्ञः संमुखो ज्ञानी बभूव। तथात्मनो घटकं स्वकीयं कुम्भं जलपात्रं प्राप्य पूरणाय संभरणाय वाञ्छन् सन् वनस्थानं जलप्रदेशमभिसंमुखं स ज्ञः विवेकवानभूत् ॥५९॥

आत्मानमभ्युपेतः सन् गत्वाहमिति साम्प्रतम् ।
सम्प्राप वर्णनातीतं संवित्तत्त्वं समन्ततः ॥६०॥

आत्मानमित्यादि—अहमिति गत्वा अहंप्रत्ययं समुपेत्य आत्मानमभ्युपेतः सन् वर्णनातीतं वर्णनया रहितं संवित्तत्त्वं संवेदनं साम्प्रतं संप्राप। अथवा आद् अकारात् समारभ्य हमिति हकारपर्यन्तं गत्वा मानमभ्युपेतः सन् जनः साम्प्रतं वर्णैरक्षरैः अतीतं रहितं न भवतीति वर्णनातीतं अक्षरात्मकं संवित्तत्त्वं सम्यक् पाण्डित्यं समन्ततः संप्रापेत्यर्थः ॥६०॥

विधोरमृतमासाद्य सन्तापं त्यजतोऽर्कतः ।
पूरणाय प्रभातं च सन्ध्यानन्दीक्षितश्रियः ॥६१॥

विधो रित्यादि—विधोः चन्द्रात् नाम वामस्वरात् अमृतं नाम प्राणायामवायुमासाद्य गृहीत्वा पुनरर्कतः सूर्यनामकदक्षिणस्वरात् संतापं रेचनवायुं त्यजतस्तस्य दीक्षितेषु वीतरागिषु साधुषु श्रीः शोभा यस्य तस्य जयकुमारस्य प्रभातमेव प्रातःकाल

---

खींचनेकी क्रियाकी इच्छा करते हुए तथा **घटक**—पवनको भीतर रोकने वाली कुम्भक क्रियाको चाहते हुए **प्रमोक्ष**—पवनके छोड़ने रूप रेचक क्रियाकी इच्छा करते हुए वनस्थान—एकान्त स्थानके इच्छुक हुए थे।

**अर्थान्तर**—जैसे कोई पुरुष अपना जलपात्र लेकर उसे भरनेके लिये वनस्थान—जल प्रदेश—जलाशयकी ओर जाता है उसी प्रकार ॥५९॥

**अर्थ**—'मैं हूँ' इस प्रकारके अहंप्रत्ययको प्राप्त कर आत्माको प्राप्त हुए जयकुमारने सब ओरसे अवर्णनीय संवित्तत्त्वको इस समय अच्छी तरह प्राप्त किया था। अथवा **आत्**—अकारसे लेकर **हमिति**—गत्वा-ह पर्यन्तके समस्त अक्षरोंके **मान**—प्रमाणको प्राप्त कर **वर्णनातीतं**—अक्षरोंसे सहित **संवित्तत्त्व**—समीचीन पाण्डित्यको प्राप्त किया था ॥६०॥

**अर्थ**—**विधो**:—चन्द्रनामक वाम स्वरसे **अमृतं**—अमृत नामक प्राणायाम वायुको ग्रहण कर **अर्कतः**—सूर्यनामक दक्षिण स्वरसे **संतापं**—रेचन वायुको



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


एव सम्यग् ध्यानं संध्यानं पूरणाय बभूव सकलकार्यसिद्धयर्थं जातम् । तथा विधो रात्रिनाथात् अमृतमासाद्य पुनरर्कतः सूर्यस्य सकाशाद् दिवसे संतापं त्यजतः नन्दिभिः आनन्दैरीक्षिता श्रीः शोभा यस्य तस्य सर्वदैव सुखिन इति पूरणाय अहोरात्रस्य पूर्ति-करणार्थं प्रभातं सूर्योदयपूर्वकालः सन्ध्या सूर्यास्तमनवेला च बभूव ॥६१॥

**सावश्यकोऽपि गुप्तिस्थस्त्यक्तर्द्धिश्च महर्द्धिकः ।**
**मनःपर्ययसंरोधी मनःपर्ययमाप्तवान् ॥६२॥**

**सावश्यक इत्यादि**—अवश्यः स्वैरचारी क आत्मा तेन सहित सावश्यकः स्वतन्त्रः अपि पुनः गुप्तिस्थः कारानिबद्ध इति विरोधः, तस्माद् आवश्यकैः वन्दनाप्रतिक्रमणादि-षट्कर्मभिः सहितः सन् गुप्तिस्थः मनोवाक्कायसंगोपक आसीत् इत्यर्थः । एवं त्यक्ता ऋद्धयो धनधान्यादिगृहस्थोचितसम्पत्तयो येन स त्यक्तर्द्धिश्च महर्द्धिकः धनसम्पत्तिशाली इति विरोधस्तस्माद् महर्द्धिकोऽणिमादिशाली इत्यर्थः । मनसः पर्ययसंरोधी चित्तभ्रम-निरोधकरः सन्नपि मनःपर्ययं मनसो विभ्रमणमाप्तवान् इति विरोधस्तस्मान्मनःपर्यय-ज्ञानं जिनागमोक्तं चतुर्थं दिव्यज्ञानमाप्तवानित्यर्थः ॥६२॥

---

छोड़ने वाले तथा **दीक्षितश्रियः**—साधुओंमें शोभा सम्पन्न जयकुमारका प्रातःकाल सन्ध्यानं—समीचीन ध्यानकी पूर्तिके लिये हुआ था, अर्थात् समस्त कार्योंकी सिद्धि के लिये हुआ था ।

**अर्थान्तर**—रात्रिमें **विधु**—चन्द्रमासे अमृत लेकर दिनमें सूर्यसे संतापको छोड़नेवाले तथा **नन्दी**—आनन्द युक्त जनोंके द्वारा जिनकी शोभा ईक्षित—अवलोकित है, ऐसे जयकुमारके प्रभात और सन्ध्या दिनरातको पूर्ण करनेके लिये होते थे । अर्थात् जब जयकुमार मुनि ध्यानारूढ होते थे तब रात्रिमें चन्द्रमा उनके शरीरको शीतलता और दिनमें सूर्य संताप पहुँचाता था, प्रातःकाल और सन्ध्याकाल क्रमशः निकलते जाते थे ॥६१॥

**अर्थ**—जयकुमार **सावश्यक**—स्वतन्त्र होकर भी **गुप्तिस्थ थे**—कारागारमें स्थित थे, यह विरोध है । परिहार इस प्रकार है कि प्रतिक्रमण आदि छह आव-श्यकोंसे सहित होकर मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियोंमें स्थित थे । इसी प्रकार **त्यक्तर्द्धि**—गृहस्थोचित धनधान्यादि सम्पत्तियोंके त्यागी होकर भी **महर्द्धिक**—बहुत भारी सम्पत्तिसे सहित थे, यह विरोध है । परिहार यह है कि वे **महर्द्धिक**—अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियोंसे सहित थे । तथा **मनःपर्ययसंरोधी**—चित्तभ्रमणके निरो-धक होकर भी **मनःपर्यय**—चित्तभ्रमणको प्राप्त थे, यह विरोध है । परिहार यह है कि **मनःपर्यय**—नामक चतुर्थ ज्ञानको प्राप्त हुए थे ॥६२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



स निर्ग्रन्थोऽपि सम्प्राप्तनिखिलग्रन्थविस्तरः ।
गणितामपि देवस्य गणितातीतसद्गुणः ॥६३॥

स निर्ग्रन्थ इत्यादि—निर्ग्रन्थः परिग्रहरहितोऽपि सन् सम्प्राप्तनिखिलग्रन्थविस्तरः सकलपरिग्रहवानिति विरोधः । तस्मात् निखिलानां ग्रन्थानां सूत्रकृताङ्गादीनां महाशास्त्राणां विस्तरं प्रणयनं कृतवानित्यर्थः । एवं गणितायाः गणनायकत्वात् अतीतः रहितः सद्गुणो यस्य स देवस्य श्रीवृषभस्य नाम तीर्थकरस्य गणितां गणधरत्वमापेति विरोधस्तस्माद् गणिताद् गणनातोऽतीता निःसंख्याताः सन्तः क्षमामार्दवादयो यस्य स इत्यर्थः ॥६३॥

सुदयानवलोऽप्यत्र न दयानवलोऽङ्गिनाम् ।
अलीकविप्रियोऽप्येष रेजे नालीकविप्रियः ॥६४॥

सुदयेत्यादि—सुदयायां प्रशस्तायामनुकम्पायां नवलो नवीनताधारको नित्यनवोत्साहसहितोऽपि सन् न दयानवलोऽसाविति विरोधस्तस्मात् अङ्गिनां संसारिणां नदयानस्य नौकाया बलं सामर्थ्यं यस्मिन् स नदयानवलो भवसमुद्रतारक इत्यर्थः । अलीकस्य मिथ्याभाषणस्य विप्रियः परिहारकोऽपि सत्यवक्तापि सन् नालीकविप्रियः अलीकस्य विरोधी नासीदिति विरोधस्तस्मात् नालीकानां मूर्खाणां विप्रिय इति । 'नालीकः पिण्डजे प्यज्ञे' इति विश्वलोचने ॥६४॥

तपःश्रियाश्रितोऽप्येष जगदातपवारणः ।
निस्तृणोऽपि सदैवासीदमृताप्तिपरायणः ॥६५॥

---

**अर्थ**—वे जयकुमार **निर्ग्रन्थ**–परिग्रहसे रहित होकर भी **सम्प्राप्तनिखिलग्रन्थविस्तर**–समस्त परिग्रहोंके विस्तारको प्राप्त थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि समस्त शास्त्रोंके विस्तारको प्राप्त थे। तथा **गणितातीतसद्गुणः**–गणधर पदसे रहित समीचीन गुणोंसे युक्त होकर भी श्री वृषभदेवके **गणितां**–गणधर पदको प्राप्त थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि गणनासे रहित समीचीन गुणोंसे सहित थे ॥६३॥

**अर्थ**—वे जयकुमार **सुदयानवलः**–प्रशस्त दयामें नवीनताके धारक होकर भी **नदयानवलः**–प्रशस्त दयामें नवीनताके धारक नहीं थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि वे **अङ्गिनां नदयानबलः**–संसारी प्राणियोंके लिये नौकाकी सामर्थ्यसे सहित थे तथा **अलीकविप्रिय**–मिथ्याभाषणके विरोधी होकर भी **नालीकविप्रियः**–मिथ्याभाषणके विरोधी नहीं थे, यह विरोध है। परिहार यह है कि वे **नालीकविप्रियः**–मूर्खोंके विरोधी थे ॥६४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



तप इत्यादि—तपसः आतपस्य घर्मणः श्रिया श्रितोऽपि युक्तोऽपि सन्नेष जगतां आतपवारणो घर्मनिवारक इति विरोधस्तस्मात् तपसामनशनादीनां श्रिया श्रितः सन् जगतामातपवारणः सन्तापनिवारकोऽभूत्, शान्तिकारक आसीदित्यर्थः। निस्तृष्णः पिपासा-रहितोऽपि अमृतस्य जलस्याप्तौ पाने परायण इति विरोधस्तस्मात् निस्तृष्णः नैराश्य-मवलम्बितः सन् अमृतस्य मोक्षस्याप्तौ परायण आसीदित्यर्थः ॥६५॥

**द्वादशात्मतपनक्रमं विदन्नष्टविंशभगुणादरी तराम्।**
**संव्रजन् जगति तारकाशयं प्राप्तवानिति दिगम्बरप्रभाम् ॥६६॥**

द्वादशात्मेत्यादि—द्वादशात्मनः तपनस्यानुष्ठानस्य पक्षे सूर्यस्य क्रमं विदन् जानन् अष्टविंशभानां गुणानामादरी मूलगुणधारकः सन् पक्षेऽष्टविंशभानां नक्षत्राणां गुणेष्वा-दरी, एवं जगति तारकाशयं तारणरूपतां पक्षे तारकाणामुडूनामाशयमाकाशं संव्रजन् एवं दिगम्बरस्य साधोः प्रभामाप्तवान् पक्षे दिशामम्बरस्य च प्रभां स्पष्टीकरणमाप्त-वानिति ॥६६॥

**स्वष्टदलं कमलं मलयन्तीं कौमुदमुत्कलमाकलयन्तीम्।**
**वृत्तिमवन् क्षणदां स्वकलाभिः सोऽभिरराज सुधांशुसनाभिः ॥६७॥**

स्वष्टदलमित्यादि—सुष्ठु अष्टदलानि यस्य तत् स्वष्टदलं च तत् कस्यात्मनो मलं

---

**अर्थ**—वे जयकुमार **तपःश्रियाश्रितोऽपि**—घामकी शोभासे सहित होकर भी **जगदातपवारण**—जगत्‌का घाम दूर करनेवाले थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि अनशनादि तपोंकी लक्ष्मीसे सहित होकर जगत्‌के संतापको दूर करनेवाले थे और **निस्तृष्ण**—प्याससे रहित होकर भी **अमृताप्तिपरायण**—जल-को प्राप्तिमें तत्पर थे, यह विरोध है। परिहार इस प्रकार है कि विषयतृष्णासे रहित होकर **अमृत**—मोक्षकी प्राप्तिमें तत्पर थे ॥६५॥

**अर्थ**—बारह प्रकारके तपके क्रमको जाननेवाले तथा अट्‌ठाईस गुणोंमें अत्यधिक आदरसे युक्त जयकुमार संसारमें तारक—पार करनेवाले आशयको प्राप्त होते हुए दिगम्बर साधुकी प्रभाको प्राप्त हुए थे।

**अर्थान्तर**—बारह सूर्योंके क्रमको जाननेवाला अट्‌ठाईस नक्षत्रोंके गुणों—फला-फलमें अत्यधिक आदरसे युक्त सूर्य जगत्‌में आकाशमें गमन करता हुआ दिशाओं और आकाशके स्पष्टीकरणको प्राप्त हुआ था ॥६६॥

**अर्थ**—**अष्टदलं**—ज्ञानावरणादि आठ भेद वाले **कमलं**—आत्माके मलस्वरूप कर्मको जो **मलयन्ती**—नष्ट करती है (पक्षमें आठ कलिकाओंसे युक्त कमलको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



दुरिताख्यं पक्षे दिनविकासिजलजं मलयन्तीं परिहरन्तीं कौ धरायां मुदं हर्षं उत्कलं यथा स्यात्तथा आकलयन्तीं वर्द्धयन्तीं पक्षे कुमुदानां समूहं विकासयन्तीं वृत्ति क्षणदामुत्सवदायिनीं पक्षे रात्रिं अवन् प्रतिपालयन् स सुधांशुसनाभिः चन्द्रसमानोऽभिरराज शुशुभे ॥६७॥

सकलं सकलङ्कमात्मनोऽपहरन् मानहरो हरद्विषः ।
समवाक् समवाप योगिभिः प्रतिपत्ति प्रतिपत्तितिक्षितः ॥६८॥

सकलमित्यादि—हरद्विषः कामदेवस्य मानहरः पराजयकारकः प्रतिपदा भेदविज्ञानदृष्टया तितिक्षितः स्वीकृतः स समवाक् इष्टानिष्टयोस्तुल्यवचनः सन् आत्मनः सकलं कलङ्कं दोषसमूहं अपहरन् योगिभिः साधुजनैः प्रतिपत्ति विश्वासयोग्यतां समवाप प्राप्तवान् इत्यर्थः ॥६८॥

चक्रिस्त्रीन्दुसुभद्रयार्पितसमादेशा सुशेषावती
ब्राह्मोदेशितमेषितं सुमतिभिस्तप्त्वा समुग्रं सती ।
दोषायात्र कलत्रतेति किल संसिद्धेः समृद्धचेकभूः
संविघ्नच्युतमच्युतेन्द्रविभवं सल्लोचना चान्वभूत् ॥६९॥

चक्रीत्यादि—सती सल्लोचना च पुनः चक्रिणः स्त्रीषु इन्दुरूपा सर्वप्रधाना या सुभद्रा नाम पट्टराज्ञी तया अर्पितः समादेशः प्रशंसनीयमाज्ञापनं यस्यै सा सुशेषावती शुभाशीर्धारिणी, ब्राह्मी नामार्या तया देशितं सुमतिभिर्बुद्धिमद्भिः एषितं प्रशस्तं समुग्रं

---

म्लान करती है) जो कौ मुदं—पृथिवीपर हर्षको अत्यधिक मात्रामें बढ़ाती है (पक्षमें कुमुदसमूहको अच्छी तरह विकसित करती है) तथा क्षणदा-उत्सवको देने वाली है, ऐसी अपनी वृत्ति-प्रवृत्तिकी (पक्षमें रात्रिकी) स्वकीय कलाओंमें अवन्—रक्षा करनेवाले वे जयकुमार चन्द्रमाके समान अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ॥६७॥

**अर्थ**—जो आत्माके समस्त दोषसमूहको दूर कर रहे हैं, जो कामदेवके अहंकारको नष्ट करनेवाले हैं, जो इष्ट-अनिष्टके प्रसङ्गमें समभाषी है तथा तितिक्षा-क्षमा गुणसे युक्त हैं अथवा प्रतिपत्तितिक्षितः—भेदविज्ञानकी दृष्टिसे स्वीकृत हैं, ऐसे वे जयकुमार मुनि योगियोंके द्वारा प्रतिपद—पद पदपर प्रतिपत्ति—सन्मानको अथवा विश्वास योग्यताको प्राप्त हुए थे ॥६८॥

**अर्थ**—चक्रवर्तीकी पट्टराज्ञी सुभद्राने जिसे तप करनेकी आज्ञा दी थी तथा जो वृद्धजनोंके आशीर्वादसे सहित थी, ऐसी सती सुलोचनाने ब्राह्मी-आर्यिके द्वारा उपदिष्ट तथा योगीजनोंके द्वारा अभिलषित उग्र तप कर विघ्नरहित अच्युतेन्द्रके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


तपस्तप्त्वा अत्र लोके कलत्रतेयं स्त्रीपर्यायधारिता दोषायेति मत्वा किल संसिद्धेः सफलतायाः समृद्धेः सम्पाया एका प्रसिद्धा चासौ भूःस्थानं सती संविघ्नैः च्युतं रहितं अच्युतेन्द्रस्य षोडशस्वर्गपतेः विभवं अन्वभूत् प्राप्तवतीति ॥६९॥

तज्जन्मोत्थितमित्थमुन्मदसुखं लब्ध्वा यथापाकलि
पश्चात्सम्प्रति जम्पती अदमतामेवं हृदा चारुणा ।
पञ्चाक्षाणि निजानि निर्मदतया तद्वृत्तमत्युत्तमं
मङ्क्षूद्गीतमिहोपवीतपदकैरित्युत्तृणाङ्कं मम ॥७०॥

( तपः परिणामश्चक्रबन्धः )

तज्जन्मेत्यादि—इत्थं प्रबन्धोक्तरूपेण वर्णितं यथापाकलि यथाभाग्यविपाकं 'नवपाके तु पाकली' इति विश्वलोचने। नित्यनूतनभाग्योदयजातम्, उन्मदं च तत्सुखं च मदरहितं सुखं लब्ध्वा चारुणा हृदा सरलेव हृदयेन पश्चात् तौ जम्पती सुलोचना-जयकुमारौ मङ्क्षु शीघ्रमेव निजानि पञ्चाक्षाणि इन्द्रियाणि अदमतां जितवन्तौ। निर्मदया तयोर्वृत्तं चरितमिदमत्युत्तमं चतुर्वर्गपूरणं इह सम्प्रति पवित्रैरेव पदकैरूपवीतिक्रियामिवगतैरनन्यजातैः उत्तृणाः तृणैः दोषैः रहिता अङ्काः सर्गा यस्मिन् तदिदं उत्तृणाङ्कं निर्मितम् ॥७०॥

प्रशस्तिः

यं पूर्वजमहं वन्दे स वृषोत्तमपादपः ।
एतदीयोपयोगायेयं सम्पल्लवता मम ॥७१॥

यमित्यादि—यं यकारं पूर्वे जकारो यस्य तं जकारसहितं यकारं जयमित्यर्थः,

---

विभवका अनुभव किया, अर्थात् सोलहवें स्वर्गमें इन्द्रका वैभव प्राप्त किया। यतश्च लोकमें स्त्रीपर्यायका धारण करना दोषके लिये माना गया है, अतः वह निर्वाणको प्राप्त नहीं कर सकी, किन्तु सांसारिक समृद्धिकी अद्वितीय स्थान अवश्य हुई ॥६९॥

अर्थ—इस प्रकार भाग्योदयके अनुसार सांसारिक उत्तम सुख प्राप्त कर जिस दम्पतीने सरल हृदयसे अपनी पांचों इन्द्रियोंका दमन किया था, उस दम्पती—जयकुमार और सुलोचनाका यह उत्तम चरित मैंने यहाँ मद-रहित हो संस्कारित पदोंसे शीघ्र ही प्रकट किया है। मेरा यह काव्य उत्तृणाङ्क—निर्दोष रहे, यह भावना है ॥७०॥

अर्थ—मैं जिसके पूर्वमें 'ज' है, ऐसे 'य' अर्थात् जयकुमारको नमस्कार करता हूँ, क्योंकि वे धर्मके उत्तम वृक्ष थे। इन्हींके उपयोगके लिये, अर्थात्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



वन्दे, स जयकुमारमुनिः वृषस्य धर्मस्योत्तमः पादपः वृक्ष इवाभूत् । ततः एतदीयस्योपयोगाय ममेयं सम्यक् पदानां वाक्यसमूहानां लवा यत्र तस्य भावस्तत्ता सम्पल्लवता जाता अथवा यं पूर्वजं प्राग्जातं गुरुवर्गं वन्देऽहम् । स वृषस्य उत्तमं पादं पालयतीति वृषोत्तमपादपः प्रशस्तधर्माचरणवान् बभूव । इयं च मम सम्पल्लवता यत्किञ्चित्सम्पत्तिसंग्रहणभूतता सा समीचीनशब्दग्राहकता एतदीयोपयोगायैव भवति ॥७१॥

इतीयं कवितावल्ली भूयः पल्लविता रसैः ।
त्रिवर्गं सन्निपातघ्नं फलताद् बलतां सताम् ॥७२॥

इतीयमित्यादि—इत्युक्तप्रकारेण इयं कवितावल्ली रसैः शृङ्गारादिभिः जलैर्वा भूयः पल्लविता पल्लवान् नीता सती बलतां प्रयत्नवतां सतां सभ्यानां सन्निपातं पतनं यद्वा त्रिदोषव्याधिं हन्तीति सन्निपातघ्नं त्रिवर्गं धर्मार्थकामरूपं यद्वा शुण्ठीमरिचपिप्पलीरूपं फलतात् ॥७२॥

अहो काव्यरसः श्रीमान् यदस्य पृषता व्रजेत् ।
दुर्वर्णतां दुर्जनस्य मुखं साधोः सुवर्णताम् ॥७३॥

अहो इत्यादि—काव्यरसः श्रीमान् यत् यस्माद् कारणाद् अस्य पृषता बिन्दुनैव पदलेशेनापि दुर्जनस्य मुखं दुर्वर्णतां निन्दापरताम उत रजततां व्रजेत् सेर्ष्यविस्मयभावेन पाण्डुतां गच्छेत्, किन्तु साधोर्मुखं सुवर्णतां प्रशंसापरत्वेनाह्लादरूपतां तथा हेमभावं व्रजेत् ॥७३॥

---

इन्हींका चरित वर्णन करनेके लिये मेरा यह समीचीन पदोंका प्रयोग है । अथवा मैं उन पूर्ववर्ती गुरुवर्गको प्रणाम करता हूँ, जो धर्मसम्बन्धी उत्तम आचरणका पालन करता था । मेरी यह शब्दरूप सम्पत्ति इन्हींके उपयोगके लिये है ॥७१॥

अर्थ—इस प्रकार रस–शृङ्गारादि रस अथवा जलके द्वारा जो पुनः पल्लवित हुई है, ऐसी यह कविता रूपी लता प्रयत्नशील सत्पुरुषोंके सन्निपात–पतन अथवा त्रिदोषज ज्वरको नष्ट करने वाले त्रिवर्ग–धर्म अर्थ और काम, अथवा सोंठ, मिर्च और पीपल रूप त्रिवर्गको पा ले ॥७२॥

अर्थ—काव्यरूपी रस आश्चर्यकारी है, क्योंकि इसकी बूंद (पक्षमें पदमात्र) से ही दुर्जनका मुख दुर्वर्णता–निन्दातत्परता अथवा रजतरूपताको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि ईर्ष्यापूर्ण आश्चर्यसे मुख सफेद हो जाता है, अथवा दुर्वर्णता–कुत्सितरूपताको प्राप्त हो जाता है और सज्जनका मुख सुवर्णता–प्रशंसा तत्परता अथवा सुवर्णभाव अथवा हर्षजन्य सौरूप्यको प्राप्त हो जाता है ॥७३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

**कथाप्यवितथाजीयादात्मकल्याणकारिणी ।**
**परिक्लेशकरी वार्ता भूरिभिः क्रियते जनैः ॥७४॥**

कथेत्यादि—कस्य आत्मनः थं मङ्गलं यत्र सा कथा, सा आत्मकल्याणकारिणी अत एव अवितथा सत्यरूपा सा जीयात्, किन्तु या वार्ता सा व्यर्थात एव परिक्लेशकरी, सा तु भूरिभिः जनैः सर्वसाधारणैरपि क्रियते ॥७४॥

**गुरोरनुग्रहः सेतुः स हेतुर्मे तु जायते ।**
**प्रबन्धवारिधेः पारं गतो येनास्मि हेलया ॥७५॥**

गुरोरित्यादि—स्पष्टमिदम् ॥७५॥

**प्रसादात् पूज्यपादानां शब्दार्णवमयं गतः ।**
**लघुप्रक्रिययाख्यातो यातु किं गुणनन्दिताम् ॥७६॥**

प्रसादेत्यादि—पूज्यपादानां गुरूणां पक्षे देवनन्दिनामाचार्याणां प्रसादात् शब्दार्णवं शब्दसमुद्रं तन्नामकं व्याकरणं वा गतः अयं प्रबन्धः स लघुप्रक्रियया स्वल्पविस्तारतया पक्षे तद्व्याकरणस्य लघुप्रक्रियया नामटीकया ख्यातः स गुणैः नन्दिः आनन्दो यत्र तां पक्षे गुणनन्दिनामधारितां यातु प्राप्नोतु । किमिति प्रश्ने ॥७६॥

**इहोक्तवृत्तरत्नानां परीक्षामुखतां दधत् ।**
**माणिक्यनन्दितामेतु योऽकलङ्कधियं गतः ॥७७॥**

इहोक्तेत्यादि—इह अकलङ्कां निर्दोषां धियं गतः पक्षे अकलङ्कस्याचार्यस्य सिद्धान्तं

---

**अर्थ**—वह सत्यकथा जयवंत रहे, जो कि आत्माका कल्याण करने वाली होती है। क्लेशको उत्पन्न करने वाली वार्ता तो सर्वसाधारण अनेक जनोंके द्वाराकी जाती है, उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है ॥७४॥

**अर्थ**—गुरुका अनुग्रह एक पुल है। वह मेरे लिये हेतु स्वरूप है, क्योंकि जिसके द्वारा मैं अनायास ही प्रबन्धरूपी समुद्रके पारको प्राप्त कर सका हूँ ॥७५॥

**अर्थ**—पूज्यपाद गुरुओं (पक्षमें देवनन्दि आचार्य) के प्रसादसे यह प्रबन्ध **शब्दार्णव**-शब्दोंके सागर अथवा शब्दार्णव नामक व्याकरण शास्त्रको प्राप्त हुआ तथा लघुप्रक्रिया-स्वल्पविस्तारसे अथवा एतन्नामक टीकासे प्रसिद्ध वह व्याकरण ग्रन्थ गुणनन्दितां-गुणोंसे होनेवाले आनन्दसे युक्त अथवा गुणनन्दि नामको क्या प्राप्त हो ? अवश्य हो ॥७६॥

**अर्थ**—जो **अकलङ्कधियं गतः**-निर्दोष बुद्धिको प्राप्त थे (पक्षमें अकलङ्क आचार्यके सिद्धान्तके ज्ञाता थे) तथा जो इस जगत्में कहे गये **वृत्तरत्नानां**-छन्द-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



ज्ञातवान्, स इह उक्तानां वृत्तरत्नानां छन्दोमणीनां परीक्षा मुखे यस्य तत्तां दधन् माणिक्यनन्दितां रत्नपरीक्षकतां पक्षे परीक्षामुखनामग्रन्थरचनां कुर्वन् माणिक्यनन्दि-आचार्यनामतां यातु ॥७७॥

पूर्वजानां सतां सूक्तं समाराध्यापि सूत्थिता ।
मदीयोक्तिर्न किं स्वाद्या गुडाज्जातेव शर्करा ॥७८॥

पूर्वजानामित्यादि—मदीया चासावुक्तिश्च सा पूर्वजानां सतां सूक्तं प्राचीनसाहित्य समाराध्य पठित्वापि सूत्थिता लब्धजन्मा यद्यपि, तथापि न किं स्वाद्या अपितु स्वाद्येव यथा गुडाज्जाता शर्करा ॥७८॥

नवक्रमानन्दमुदाहरन्तीममूनि चेच्छ्रीकवितां श्रयन्ति ।
सुधामपि प्रार्थयितुं व्रजन्ति पुनर्नभोगाश्रयिणीं जगन्ति ॥७९॥

नवक्रमित्यादि—अमूनि जगन्ति कवितां श्रयन्ति चेत् कीदृशीं कवितां श्रयन्ति चेत् ? नवक्रमानन्दमुदाहरन्तीं नवश्चासौ क्रमश्च यस्मिन् तम् अथवा नवक्रं सरलं आनन्दं उदाहरन्तीं स्वीकुर्वन्तीं एतादृशीं कवितां श्रयन्ति स्वीकुर्वन्ति चेत् पुनर्नभोगानां देवाना माश्रयो यत्र भवति तां नभोगाश्रयिणीं यद्वा भोगवर्जितां सुधामपि प्रार्थयितुं व्रजन्ति, किन्तु न व्रजन्ति, अपिशब्दस्य प्रश्नवाचकत्वात् ॥७९॥

घटिका घटिकार्थस्य समयः समयोऽसकौ ।
परवाणिः परवाणिर्भास्करो भास्करोऽप्यहो ॥८०॥

---

रूपी रत्नोंकी परीक्षकताको धारण करते थे (पक्षमें परीक्षामुख नामक न्यायशास्त्र के प्रणेता थे) वे **माणिक्यनन्दिता**–रत्नपरीक्षकता (पक्षमें एतन्नामक आचार्यपद) को प्राप्त हों ॥७७॥

**अर्थ**—यद्यपि मेरी उक्ति पूर्ववर्ती सत्पुरुषोंके सुभाषित-प्राचीन साहित्यकी आराधना कर उत्पन्न हुई है, प्रकट हुई है, तथापि यह क्या गुडसे उत्पन्न शर्करा-के समान आस्वादनीय नहीं है ? अवश्य है ॥७८॥

**अर्थ**—यदि ये जगत्के जीव श्रीकविताकी सेवा करते हैं, तो कैसी कविताकी सेवा करते हैं ? उत्तर है कि **नवक्रमानन्दमुदाहरन्तीं**–नवीन क्रमसे सहित अथवा सरल आनन्दको जो प्रकट कर रही हो। जगत्के लोग उस सुधाको भी प्राप्त नहीं करना चाहते, जो कि **नभोगाश्रयिणी** है–आकाशगामी देवोंका आश्रय करती है यद्वा भोगोंका आश्रय नहीं करती है ॥७९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


घटिकेत्यादि—इह समयः क्षण एव समयः सम्यग् विधिकरः, घटिका च अर्थस्य घटिका संगठनकर्त्री, भास्करो दिनोदयकरः सूर्य एव भास्करः प्रतिभादायकः, परवाणिः संवत्सरः एव परवाणिः धर्माध्यक्षः औचित्यकर इति ॥८०॥

**अजीजनत् कृतिं त्वेनां शेमुषी महिषीव मे ।**
**पालयन्तु पुनः पुण्या धात्रीकल्पा धियः सताम् ॥८१॥**

अजीजनदित्यादि—मे शेमुषी बुद्धिः महिषीव पट्टराज्ञीव या तु एनां कृतिं कवितां अजीजनत् उत्पादयामास । पुनः सतां सज्जनानां धियो बुद्धयो याः पुण्या धात्रीकल्पास्ताः पवित्रा मातृतुल्याः ता एनां कृतिं पालयन्तु ॥८१॥

**कवितायाः कविः कर्ता रसिकः कोविदः पुनः ।**
**रमणी रमणीयत्वं पतिर्जानाति नो पिता ॥८२॥**

कविताया इत्यादि—कविः कवितायाः कर्ता जनको भवति । रसिकश्च तदास्वादकश्च पुनः कोविदः बुद्धिमान् जनो भवति । यथा रमण्याः सुन्दर्याः रमणीयत्वं मनोहरत्वं पतिरेव जानाति नो पुनः पिता ॥८२॥

**सालंकारा सुवर्णा च सरसा चानुगामिनी ।**
**कामिनीव कृतिर्लोके कस्य नो कामसिद्धये ॥८३॥**

सालंकारेत्यादि—अलंकारैः उपमादिभिः नूपुरादिभिर्वा शोभना वर्णा अक्षरा यस्याः सा सुवर्णा पक्षे प्रशस्तरूपवती, सरसा नवरसयुता, अनुगामिनी शास्त्रानुसारिणी पक्षे आज्ञा-

---

**अर्थ**—इस जगत् अथवा काव्य रचनामें **समय**-क्षण ही **समय** है-कार्यकी विधिको करनेवाला है। **घटिका**-घड़ी ही अर्थ-कार्यकी **घटिका**-सम्पन्न करने वाली है, **भास्कर**-सूर्य ही **भास्कर**-प्रतिभाको करनेवाला है और **परवाणि**-संवत्सर ही **परवाणि**-धर्माध्यक्ष अथवा उचितता योग्य कार्यको करने वाला है ॥८०॥

**अर्थ**—पट्टरानीकी तरह मेरी बुद्धिने इस कृतिको जन्म दिया है। अब धायोंके समान सत्पुरुषोंकी बुद्धियाँ इसका पालन करें ॥८१॥

**अर्थ**—कवि कविताका कर्ता रचयिता होता है, पर उसका रसानुभव विद्वान् ही करता है। जैसे स्त्रीके सौन्दर्यको पति जानता है, पिता नहीं ॥८२॥

**अर्थ**—सालंकारा उपमा-रूपकादि अलंकारोंसे सहित (पक्षमें कटक-कुण्डलादि आभूषणोंसे सहित) सुवर्णा-प्रशस्त अक्षरोंसे सहित (पक्षमें सुरूपवती) सरसा-शृङ्गारादि रसोंसे सहित (पक्षमें स्नेहवती) और अनुगामिनी-शास्त्रानुसारिणी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



कारिणी, इयं मे कृतिः कामिनीव कस्य कामसिद्धये कामस्य वाञ्छितस्य पक्षे तृतीयपुरुषार्थस्य सिद्धये पूर्त्यर्थं न स्यात्, अपितु स्यादेव ॥८३॥

सद्वृत्तकुसुममाला सुरभिकथाधारिणी महत्येषा ।
पुरुषोत्तमैः सुरागात् सततं कण्ठीकृता भातु ॥८४॥

सद्वृत्तेत्यादि—एषा मे कृतिः सद्वृत्तानामेव कुसुमानां छन्दःपुष्पाणां पक्षे वर्तुलाकारपुष्पाणां माला, या सुरभि कथां मनोहरां वार्तां पक्षे सुरभेः सुगन्धस्य कथां धरतीति सा, अत एव महती पूज्या, तस्मात् पुरुषोत्तमैः सज्जनैः सुरागात् स्नेहात् संगीताद् वा सततं निरन्तरमेव कण्ठीकृता कण्ठस्थीकृता, कण्ठे धृता च भातु राजतात् ॥८४॥

यदालोकनतः सद्यः सरलं तरलं तराम् ।
रसिकस्य मनो भूयात् कविता वनितेव सा ॥८५॥

यदेत्यादि—स्पष्टम् ॥८५॥

सदुक्तिमपि गृह्णाति प्राज्ञो नाज्ञो जनः पुनः ।
किमकूपारवत् कूपं वर्द्धयेद्विधुदीधितिः ॥८६॥

सदूक्तिरित्यादि—स्पष्टमिदम् ॥८६॥

कवयो जिनसेनाद्याः कवयो वयमप्यहो ।
कौस्तुभोऽपि मणिर्यद्वन्मणिः काचोऽपि नामतः ॥८७॥

कवय इत्यादि—स्पष्टमिदम् ॥८७॥

---

(पक्षमें मेरी यह कृति-रचना, स्त्रीकी तरह लोकमें किसके काम-मनोरथ (पक्षमें काम पुरुषार्थ) की सिद्धिके लिये नहीं है, अर्थात् सभीके है ॥८३॥

**अर्थ**—जो मनोहर कथाको धारण करने वाली है (पक्षमें सुगन्धकी चर्चासे सहित है) महती-श्रेष्ठ अथवा पूज्य है ऐसी यह सदवृत्तकुसुममाला-उत्तम छन्दरूपी पुष्पोंकी माला (पक्षमें गोल गोल फूलोंकी माला सुराग-स्नेह अथवा संगीतसे सज्जनों द्वारा कण्ठस्थकी गई (पक्षमें गलेमें पहिनी गई) निरन्तर सुशोभित हो। अर्थात् विद्वानोंके बीच इसका पठन-पाठन होता रहे ॥८४॥

**अर्थ**—जिसके देखनेसे रसिक मनुष्यका सरल मन अत्यन्त चञ्चल हो जाता है, वह कविता वनिता-स्त्रीके समान है ॥८५॥

**अर्थ**—समीचोन उक्तिको भी बुद्धिमान् मनुष्य ही ग्रहण करता है, अज्ञानी नहीं। क्या चन्द्रमाकी किरण समुद्रकी तरह कूपको भी बढ़ाती है? अर्थात् नहीं ॥८६॥

**अर्थ**—जिनसेन आदि कवि हैं और आश्चर्य है कि हम भी कवि हैं, परन्तु उस प्रकार, जिस प्रकार कि कौस्तुभमणि है और काच भी मणि है ॥८७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


विशेषयन् कथाभागं कविः कश्चित् कलागुणैः ।
पिबन्तः पर्वतापायं कपयोऽन्ये सहस्रशः ॥८८॥

विशेषयन्नित्यादि—कथाभागं विशेषयन् सरसतया जनसाधारणस्य उपयोगितया वालंकुर्वन् स्वस्य कलागुणैः चातुर्यादिभिः कश्चिदेव कविर्भवितुमर्हति । पर्वणः सर्गस्य भावः पर्वता तस्यापायो विच्छेदः तं पक्षे पर्वतस्य गिरेरपायं विकारं पिबन्तोऽन्ये सहस्रशः कपयो वानरा इव चाञ्चल्यमिताः सन्ति मादृशा इति ॥८८॥

लोके समन्तभद्रोऽसौ प्रबन्धो जयताच्चिरम् ।
सम्भवन्नकलङ्कश्च विद्यानन्दः शिवायनः ॥८९॥

लोक इत्यादि—समन्तभद्रः समन्ताद् भद्रः सुगमतयार्थदायकः प्रबन्धः समन्तभद्र-नामक आचार्यश्च, अकलङ्कः कलङ्करहितो निर्दोषः पक्षेऽकलङ्कनामाचार्यस्य, विद्याया आनन्दो यस्मिन् स पक्षे तन्नामक आचार्यः, नः अस्माकं शिवाय कल्याणाय पक्षे शिवायन-नामाचार्यश्च सम्भवन् चिरं जयतात् ॥८९॥

महापुराणं मधुरं विलोड्य क्षीरवन्मया ।
नवनीतमिवारब्धं प्रीत्यै भूयात् सतामिदम् ॥९०॥

स्पष्टमिदम् ॥९०॥

---

**अर्थ**—अपने चातुर्य आदि गुणोंके द्वारा कथाभागको विशिष्ट करता हुआ कोई विरला ही कवि होता है, किन्तु पर्वतापायं-सर्ग समाप्तिका अनुभव करने वाले, अर्थात् एक के बाद एक अनेक सर्गोंकी रचना करने वाले (पक्षमें पर्वतके विकार-पर्वतसे निःसृत निर्झरोंका पान करनेवाले वानरोंके समान चञ्चलतासे युक्त मेरे समान हजारों कवि हैं ॥८८॥

**अर्थ**—लोकमें यह प्रबन्ध जयोदयकाव्य) **समन्तभद्र**-सब ओरसे कल्याण कारक (पक्षमें समन्तभद्राचार्य) **अकलङ्क**-निर्दोष (पक्षमें अकलङ्क नामक आचार्य और **विद्यानन्द**-ज्ञानगरिमासे आनन्द देने वाला (पक्षमें विद्यानन्द आचार्य) होता हुआ चिरकाल तक जीवित रहे-पठन पाठनमें आता रहे तथा **नः शिवाय**-हम सबके कल्याणके लिये हो (पक्षमें शिवायन आचार्य हो) ॥८९॥

**अर्थ**—मैंने दूधकी तरह मनोहर महापुराणका विलोडन कर नवनीत-मक्खनके समान इस काव्यकी रचना की है। यह सज्जनोंकी प्रीतिके लिये हो ॥९०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



गुणविगुणविदं तु स्रागपि ख्यापयन्तु
विशदिमविशदंशा पेयताङ्केऽत्र हंसाः ।
अशुचिपदकतुष्टा आत्मघोषाः सुदुष्टाः
किमिव नहि वराकाः काकुमायान्तु काकाः ॥९१॥

**गुणेत्यादि**—विशदिम्नि स्वच्छतायां विशन्तः अंशाः स्वभावा येषां ते हंसा बुद्धिमन्तो मरालाश्च ते पेयताङ्के आस्वादनीये काव्ये स्रागपि शीघ्रमेव गुणश्च विगुणश्च दोषश्च तयोर्विदं बुद्धिं ख्यापयन्तु कथयन्तु । किन्तु अशुचिपदकतुष्टाः भ्रष्टपदग्रहणेन सन्तुष्टा ये आत्मघोषाः स्वमुखात् स्वप्रशंसाकारकाः ते सुदृष्टाः वराकाः काका इव के आत्मनि अकं पापं विद्यते येषां ते काकाः वायसाश्च किं काकुं तर्कणा न आयान्तु, अपि तु आयान्तु ॥९१॥

कार्पासविशदाः सन्तो नानापत्तिसहा अहा ।
येषां गुणमयं जन्म परेषां गुह्यगुप्तये ॥९२॥

**कार्पासेत्यादि**—येषां गुणमयं प्रशस्तं पक्षे तन्तुप्रायं जन्म परेषां जनानां गुह्यस्य दुराचारस्य पक्षे गोपनयोग्यांशस्य गुप्तये समाच्छादनाय भवति, ते नानापत्तिसहाः कार्पासवद् विशदाः स्वच्छाः सन्तो जनाः, जयन्तु इति शेषः । अहा इति आनन्दयुक्ताश्चर्यसूचने ॥९२॥

---

**अर्थ**—**विशदिमविशदंशाः**–स्वच्छतामें जिनका स्वभाव प्रवेश कर रहा है, अर्थात् जो काव्यके निर्दोष अंशको ग्रहण कर रहे हैं, ऐसे हंस विवेकी मनुष्य (पक्षमें हंसपक्षी) आस्वादनीय इस काव्यके विषयमें शीघ्र ही गुण और दोषको जानने वाली अपनी बुद्धिको सुविस्तृत करें, अर्थात् काव्यके गुण और दोषोंकी समीक्षा करें, परन्तु जो **अशुचिपदकतुष्टा**–अशुद्धके पदके ग्रहण करनेमें संतुष्ट हैं (पक्षमें पुरीष आदि अपवित्र स्थानोंमें संतुष्ट हैं, अपनी प्रशंसा स्वयं करते हैं, जो अपने आपमें अक–पापको संजोये हुए हैं (पक्षमें वायसतुल्य है), ऐसे दयनीय दुष्ट पुरुष इस काव्यके विषयमें किसी तरह काकु–तर्कणाको प्राप्त न हों, अर्थात् वे समीक्षाके अधिकारी नहीं हैं । अथवा समीक्षाके नाम पर वे [1]काकु–विभिन्न प्रकारकी कण्ठध्वनिको प्राप्त न हो ॥९२॥

**अर्थ**—जिनका गुणमय–प्रशस्त गुणोंसे युक्त (पक्षमें सूत्रमय) जीवन दूसरोंके गुह्य–दुराचारों (पक्षमें गोपनीय अंग) के आच्छादन–छिपानेके लिये है, वे कपासके समान अनेक आपत्तियोंको सहन करने वाले सज्जन जयवन्त रहें । अहा, सज्जन ऐसे होते हैं ॥९२॥

---

१. 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


अपरातिपरत्वतः सुवर्णं बहु सन्तापय भो सुवर्णकार ! ।
अमुकस्य गुणोऽतिरिच्यतेऽस्मात्तव तुण्डे खलु भस्मसन्निपातः ॥९३॥

अपरेत्यादि—सुवर्णस्य विद्वज्जनस्य कारागार इव कष्टदायको यः स सुवर्णकारः दुर्जनः पश्यतोहरश्च तस्य सम्बोधनम् । सुवर्णं च विद्वज्जनं हेम वा । शेषं स्पष्टम् ॥९३॥

आशिकाधारभूतेभ्यः शालिवृत्तेभ्य उत्तमम् ।
कथमप्यैमि गुर्वीकः शस्यसम्पत्करं खलम् ॥९४॥

आशिकेत्यादि—अहं गुर्वीकः गुरूणां सेवकः धराजीविकश्च आशिकाधारभूतेभ्यः आशीर्वाददायकेभ्यः पक्षे आशामात्रस्याधारेभ्यः, शालि प्रशंसनीयं वृत्तं चरितं येषां तेभ्यः, यद्वा शालिधान्यस्य वृत्तं वार्तामात्रमेव येषु तेभ्यः क्षेत्रेभ्यः शस्या प्रशंसनीया या सम्पत् तां करोतीति शस्यसम्पत्करं यत् किञ्चिद् दुर्गुणापहारकत्वेन निर्दोषाधायकं पक्षे शस्यस्य धान्यस्य सम्पत्करं तं खलं दुर्जनं पक्षे धान्यसंग्रहस्थानं कथमप्युत्तमं प्रशस्ततमं ऐमि जानामि ॥९४॥

गवामाधारभूतास्ते यद्यपीह सदङ्कुराः ।
खलं लब्ध्वा भवन्तीमा रससंक्षरणक्षमाः ॥९५॥

---

**अर्थ—हे सुवर्णकार !** विद्वज्जनोंको कारावासके समान दुःख देनेवाले हे दुर्जन अथवा स्वर्णकार ! दूसरोंको कष्ट देनेमें तत्पर होनेके कारण तुम **सुवर्ण**—विद्वज्जन अथवा स्वर्णको अत्यधिक संतापित करो अवश्य, परन्तु इससे उसका गुण ही विशेष रूपसे प्रकट होगा, तुम्हारे मुखपर केवल भस्मका पतन होगा, तुम्हें केवल दोषकथन करनेसे अपकीर्ति उठाना पड़ेगी—पक्षमें आगको फूंकनेसे भस्म मुखपर पड़ेगी ॥९३॥

**अर्थ**—मैं **गुर्वीक**—गुरुओंका सेवक अथवा पृथिवीसे आजीविका करनेवाला जमींदार, **आशिकाधारभूत**—आशीर्वाद देने वाले (पक्षमें आशाके आधारभूत) **शालिवृत्त**—प्रशंसनीय चरित वाले (पक्षमें धान्य—अनाजकी वार्तासे युक्त) सज्जनों (पक्षमें खेतों) से **खल**—दुर्जन (पक्षमें धान्य संग्रह करनेके स्थान—खलिहान) को किसी तरह **शस्यसम्पत्करं**—प्रशंसनीय सम्पत्तिको करनेवाला (पक्षमें धान्यरूप संपत्तिको करनेवाला) अत एव उत्तम जानता हूँ—मानता हूँ, अर्थात् जिस प्रकार खेतोंकी अपेक्षा धान्यका संग्रह करनेसे खलिहान उत्तम है, उसी प्रकार प्रशंसा करनेवाले सज्जनोंसे दुर्जन अच्छा है, क्योंकि वह दोषोंकी आलोचनाकर काव्यको निर्दोष बना देता है और खलिहान भी भूसासे धान्यको अलग कर देता है ॥९४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



**गवामित्यादि**—यद्यपीह लोके सतां सभ्यानां अङ्कुराः कृपाकटाक्षाः पक्षे सन्तश्च तेऽङ्कुराश्चाभिनवोद्भिदः, गवां वाणीनां पक्षे धेनूनां आधारभूता भवन्ति तद्वृत्तिकत्वात् तेषाम् किन्तु इमाः पुनः खलं दुर्जनं पक्षे पिण्याकं लब्ध्वा रससंक्षरणक्षमाः सरसाः पक्षे दुग्धदायिका भवन्ति ।।९५।।

**विरजाः प्रभुरज्ञानध्वान्तभित्परमारवः ।**
**परमारक्षतान्मोहनिद्रालुं स प्रजां रविः ।।९६।।**

**विरजा इत्यादि**—स्पस्टमिदम् । (शिबिकाबन्धः) ।।९६।।

**राजते योगदक्षो यः सामायिकनिलिम्पितः ।**
**सृजत्वयोक्तिदः प्रायः स मां पाकं कलिस्थितम् ।।९७।।**

**राजत इत्यादि**—यः सामायिकेन निलिम्पितः समभावतन्मयः योगे दक्षः स प्रायः अयोक्तिदः सन्मार्गदायको भूत्वा मां कलिस्थितं अस्मिन् दुष्काले तिष्ठन्तमपि पाकं पवित्रं सृजतु करोतु गुरुजनः । अयमपि चित्रबन्धः ।।९७।।

---

**अर्थ**—यद्यपि इस लोक में सदङ्कुराः-सज्जनोंके कृपाकटाक्ष (पक्षमें प्रशस्त घासके अंकुर) गवां-वाणीके (पक्षमें गायोंके) आधारभूत हैं, तथापि ये गोरूप वाणी (पक्षमें गायें) खल-दुर्जन (पक्षमें) खलीको पाकर रससंरक्षणक्षमाः-रसोत्पादनमें समर्थ (पक्षमें दूध देने वाली) होती हैं ।

**भावार्थ**—घासके अंकुर गायोंके आधार अवश्य हैं, क्योंकि उन्हें खाकर वे जीवित रहती हैं, परन्तु खलीके खानेसे अधिक दूध देती हैं। इसी प्रकार सज्जनोंकी कृपासे कविगण काव्यकी रचना करते हैं, क्योंकि उनकी प्रेरणासे ही कविकाव्य रचनामें प्रवृत्त होते हैं, परन्तु खल-दुर्जन मनुष्य दोष प्रदर्शित कर उस रचनाको निर्दोष कर देते हैं, अतः सरसता उन्हींसे प्राप्त होती है ।।९५।।

**अर्थ**—जो विरजाः-कर्मधूलिसे रहित हैं, प्रभु-शत इन्द्रोंको नम्रीभूत करने वाले प्रभावसे सहित हैं, अज्ञानध्वान्तभिद्-अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाले हैं और परमारवः-उत्कृष्ट लक्ष्मी और दिव्य ध्वनिसे युक्त हैं, वे जिनेन्द्ररूपी सूर्य मोहनिद्रामें निमग्न प्रजाकी अत्यन्त रक्षा करें ।।९६।।

**अर्थ**—जो योग-ध्यानमें दक्ष-समर्थ अथवा निपुण हैं, समताभावसे तन्मय और प्रायः सन्मार्गको देते हुए-उपदेश करते हुए सुशोभित हैं, वे गुरुजन दुष्कालमें स्थित मुझे पवित्र करें ।।९७।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

 CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri 

जीवानां जीवनाधारस्तदक्षरयुगं प्रभो ।
तवास्माकं मिथो भूयादनुलोमविलोमतः ॥९८॥

जीवनामित्यादि—स्पष्टमिदमपि ॥९८॥

विनमामि तु सन्मतिकमकामं द्योमितकैर्महितं जगति तमाम्[1] ।
गुणिनं ज्ञानानन्दमुदासं रुचां सुचारुं पूर्तिकरं कौ ॥९९॥

विनमामीत्यादि—द्यामितकैः देवैः इति अत्र सन्मतिविशेषेण ज्ञानानन्दमित्यभिधाय विद्यागुरवे नमस्कारः कृतो भवति, पादानामाद्याक्षरैः सूचितत्वात् ॥९९॥

जयतात् सुनिबन्धोऽयं पुष्यन् सन्निगलं चिरम् ।
राष्ट्रं प्रवर्ततामिज्यां तन्वन्निर्बाधमुद्धुरम् ॥१००॥
गणसेवी नृपो जातराष्ट्रस्नेहो वृषेषणाम् ।
वहन्निर्णयधीशाली ग्राम्यदोषातिगः क्षमः ॥१०१॥
स्थिरत्वं मनुजाश्चेतः श्रीमन्तोऽवन्तु सूक्तिमत् ।
चमत्कुर्याज्जगन्नेतुर्भुवनेषु वृषो निजः ॥१०२॥

---

**अर्थ**—हे प्रभो ! जो जीवोंका आधारभूत है, वह अक्षरयुगल (नमः) आपके और हमारे लिये परस्पर अनुलोम तथा विलोम दोनों रूपसे प्राप्त हो ।

**भावार्थ**—हे प्रभो ! आपके लिये मेरा नमः–नमस्कार हो और मेरे लिये आपका मनः–करुणापूर्ण हृदय हो, अर्थात् मेरा उद्धार करनेकी भावना आपमें प्रकट हो । 'अनुलोममें नमः, और विलोममें मनः' यह अक्षरयुगल है ॥९८॥

**अर्थ**—जो सन्मति–समीचीन मतिसे सहित हैं, अकाम–कामसे रहित हैं, देवोंके द्वारा जगत्‌में अत्यन्त पूजित हैं, गुणवान् हैं, उदास–वीतराग हैं, मनोहर हैं और पृथिवीमें इच्छाओंकी पूर्ति करनेवाले हैं, उन ज्ञानानन्द–नामक विद्यागुरुको नमस्कार करता हूँ । यहाँ सन्मति शब्दसे ज्ञानानन्द–का ग्रहण हुआ है तथा प्रत्येक चरणके आदि अक्षरसे विद्यागुरु–शब्द प्रकट किया गया है ॥९९॥

**अर्थ**—सत्पुरुषोंको मनोरथके पुष्ट करता हुआ यह सुनिबन्ध–काव्य चिरकाल तक जयवन्त रहे । देश निर्बाधरूपसे अत्यधिक प्रतिष्ठाको विस्तृत करता हुआ विद्यमान रहे । राजा गणसेवी; देशसे स्नेह करनेवाला, धर्मकी इच्छाको धारण करनेवाला, बुद्धिसे सुशोभित, ग्राम्य दोषसे रहित और सामर्थ्यवन्त–

---

१. 'द्यावाभूमिविस्फुरितयशसम्' इति पाठान्तरम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



नित्यमभ्येयं संसर्गं महतां शुभकर्मसु ।
तता धीः स्याच्च चित्तश्रीर्भूयाच्छ्रीश्रुततत्परा ॥१०४॥
मनागपि न संचारः कृच्छ्रेषु मम धीमतः ।
प्रसादादर्हतां शम्बधोरिणी स्यादिति स्वयम् ॥१०५॥

एतस्य कामनाश्लोकपञ्चकस्य पदानामाद्यान्ताक्षरपठनक्रमेण कश्चि[त्प्र]त्ययो भवितुमर्हति । तद्यथा—

जयपुरराज्यान्तर्गतराणावलीग्रामस्थितश्रीमत्चतुर्भुजनिगमसुतश्रीभूरामल-कृतप्रबन्धोऽयम् ॥१००-१०५॥

श्रयणीयास्तुका शुद्धा ब्रह्मविद्भिः किमर्जितम् ।
विद्वद्भिः का सदा वन्द्या मण्डितं तैः किमस्तु नः ॥१०६॥
किमन्यदुच्यतामत्र सफलं समितिस्थले ।
सदुक्तेर्वाचनं यावदाद्यन्तं जन्मिनो भवेत् ॥१०७॥

श्रयणीयेत्यादि—शुद्धा शुद्धरूपा का श्रयणीया गृहीतुं योग्या ? पुनः ब्रह्मविद्भिः आत्मज्ञानिभिः किमर्जितं संगृहीतम् ? विद्वद्भिश्च सदा का वन्द्या ? वन्दनीया भवति ?

---

शक्तिशाली हो। अब श्रीमन्त लोग सूक्ति सहित स्थिरताकी रक्षा करें। लोक-नेताका अपना धर्म संसारमें चमत्कार उत्पन्न करे–सबको प्रभावित करे। मेरी कामना है कि शुभ कार्योंमें नित्य ही महान्–बड़े पुरुषोंका संसर्ग प्राप्त करता रहूँ। बुद्धि विस्तृत हो, मनकी गति श्रुताभ्यासमें तत्पर रहे। मुझ बुद्धिमान्का कष्टोंमें रंचमात्र भी संचार न हो और अरहन्त भगवान्के प्रसादसे स्वयं ही कल्याणोंकी परम्परा प्रवर्तमान रहे।

जयपुर राज्यके अन्तर्गत राणावली ग्राममें स्थित श्रीमान् चतुर्भुज सेठके पुत्र श्रीभूरामर(ल) के द्वारा किया हुआ यह प्रबन्ध है ॥१०१-१०५॥

**अर्थ**—किस शुद्ध स्वरूपका आश्रय करना चाहिये ? आत्म ज्ञानियोंके द्वारा संगृहीत क्या है ? विद्वानोंके द्वारा सदा वन्दनीय कौन है ? और इन सबसे हमारा क्या सुशोभित हो ? इन चार प्रश्नोंके होनेपर सबका यही एक उत्तर है कि सभा स्थलमें जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त समीचीन युक्तियोंका वचन होना

---

१. शम्बधोरिणी—कल्याणानां परम्परा ।



Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri


तैश्च पूर्वोक्तैर्नोऽस्माकं किं तावन्मण्डितम् अस्तु ? इति चतुर्षु अनुयोगेषु सत्सु तदुत्तरमेव-मवधारणीयम्। अत्र अन्यत् किं वाच्यं केवलं समितिस्थले सभामध्ये यावत् जन्मन आद्यन्तं जन्मदिनादारभ्य मरणपर्यन्तं सदुक्तेः सूक्तेः वाचनं पठनं भवेत् इत्येक-मेवोत्तरम्। तथा सदुक्तेः पूर्वोक्तायामेव यावदाद्यत्यन्तमक्षरयुगं वाचनं कृत्वा क्रमशः श्रद्धा गुरूक्तिषु विश्वासवृत्तिः श्रयणीया, आत्मध्यानिभिर्वृत्तमर्जनीयं, विद्वद्भिश्च विद्या वन्दनीया तैरेतैरेव त्रिभिरस्माकं मनः मण्डितमस्तु रत्नत्रयनामकैरिति तात्पर्यार्थः ॥१०६-१०७॥

**जनयतु पुरुरभिराम ज्येष्ठो रावणानवसरी पुनराग-**
**स्तारेण च चातुर्यंभुवा जटितं जनतायत भूनीरागः।**
**मधुर आदि वागडिम्बकरणकथा विसरशुचिताततिसुज्ञा**
**लोकचक्रनाथः स्वमयं नवलोऽरं ध्वनिशिवं बुधमनस्सु ॥१०८॥**

जनयत्वित्यादि—पुरुः ऋषभदेवः यः अभिरामेषु सज्जनेषु ज्येष्ठः सर्वश्रेष्ठः रावणस्य अनीतिवर्त्मंगामिनः अवसरोऽवकाशस्तेन रहितः रावणानवसरी जनतया आयता व्याप्ता या भूः ततः नीरागः रागवर्जितः मधुरः सुभगः आदिवाक् प्रथमतीर्थंकरः अडिम्बानि करणानि छलरहितानीन्द्रियाणि यस्मिन् स चासौ कथायाः विसरः विस्तारः तस्य शुचितायाः ततिः पंक्तिः तया सुज्ञा सम्यग्ज्ञानम् आलोकश्च दर्शनं तयोः चक्रस्य संग्रहस्य नाथः नवलः वार्धक्यरहितः भगवान् अरं शीघ्रं बुधमनस्सु विद्वज्जनानां

---

चाहिये। अथवा प्रथम श्लोकके प्रत्येक पादके आदि और अन्तिम अक्षरोंको मिलाकर उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर कहना चाहिये। जैसे—

श्रयणीयास्तु का शुद्धा—**श्रद्धा**—शुद्ध श्रद्धा ही आश्रयणीय है।
ब्रह्मविद्भिः किमर्जितं ? **व्रतं** आत्मज्ञानियोंने व्रतका संग्रह किया है।
विद्वद्भिः का सदा वन्द्या ? **विद्या** विद्वानोंके द्वारा विद्या सदा वन्दनीय है।
मण्डितं तैः किमस्तु नः **मनः** उन सबसे अर्थात् रत्नत्रयसे हमारा मन सुशोभित हो ॥१०६-१०७॥

अर्थ—वे पुरुदेव-भगवान् वृषभदेव विद्वज्जनोंके हृदयोंमें निर्दोष शब्द ज्ञान-को उत्पन्न करें-प्रकट करें, जो सज्जनोंमें सर्वश्रेष्ठ थे, जिनके पास अनीति मार्गके लिये अवकाश नहीं था, जनसमूहसे व्याप्त भूमिसे जो रागरहित थे, मनोहर थे, आदि तीर्थंकर थे, छलरहित इन्द्रियोंकी कथा सम्बन्धी पवित्रताकी पंक्तिके ज्ञान और दर्शनके संग्रहके स्वामी थे, और वार्धक्यसे रहित थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri



चित्तेषु स्वमयं चातुर्यभुवा आगस्तारेण दोषराहित्येन जटितं युक्तं ध्वनिशिवं जनयतु ॥

एतस्य जाद्येकान्तरितैरक्षरैः कविप्रशस्तिर्निःसरति । तद्यथा—जयपुरराज्ये राणावरी-नगरे चतुर्भुजतनयभूरामरदिगम्बरकविरचितसुलोचनास्वयंवरनिवन्धनमिति ॥१०८॥

लोकधराङ्कात्मकसंगणिते विक्रमोक्तसंवत्सरे हिते ।
श्रावणमासर्मितिं प्रति याति पूर्णं निजपरहितैकजाति ॥१०९॥

लोकेति—लोकाः, त्रयः धराः पृथिव्यः अष्टौ, गङ्का नव-आत्मा चैक इत्थमङ्कानां वामतो गतिरिति नियमात् परिवर्तिते १९८३ तमे हितकरे विक्रमसंवत्सरे श्रावणमासस्य पूर्णिमायां स्वपरहितकरोत्पत्तियुक्तमिदं काव्यं पूर्णतामगमत् ॥१०९॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामरोपाह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तत्काव्यं लसतात् स्वयंविधिश्रीलोचनाया जय-
राजस्याभ्युदयं दधद् वसुदृगित्याख्यं च सर्गं जयत् ॥११०॥

---

इस श्लोकके ज अक्षरसे लेकर बीच-बीचके एक अक्षरको छोड़ते हुए अक्षरों-से कवि प्रशस्ति निकलती है। जैसे मूल प्रशस्ति संस्कृत टीकामें उद्धृत है। हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—जयपुर राज्यके राणावरी नगरमें चतुर्भुजके पुत्र भूरामर दिगम्बर कविने यह सुलोचना स्वयंवर नामक काव्य (अपरनाम जयोदय काव्य) रचा है ॥१०८॥

**अर्थ**—१९८३ विक्रम सम्वत्सरमें सावन सुदी पूर्णिमाके दिन यह स्वपर हितकारी काव्य पूर्ण हुआ ॥१०९॥

इत्थं ब्र० भूरामलशास्त्रिणा विरचिते सुलोचनास्वयंवरापरनामधेय-
जयोदयमहाकाव्येऽष्टाविंशतितमः सर्गः समाप्तः ॥

शुभं भूयात्

जैनं जयतु शासनम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

# किञ्चिन्निवेदनम्

ज्ञानसागर आचार्यो ज्ञानसागरसंनिभः ।
देववाणीविशेषज्ञः काव्य सिन्धुसुधांशुमान् ॥ १ ॥
आसीद्विद्वज्जनैर्मान्यो भूरामलेति नामभाक् ।
गद्यपद्यमयी काव्यरचना तस्य विश्रुता ॥ २ ॥
आद्रियते सदा प्राज्ञैर्भव्यभावविभूषितैः ।
जयोदयमहाकाव्यं रचितं तेन धीमता ॥ ३ ॥
महाकाव्यसमूहे यत्सत्यं चूडामणीयते ।
अप्रसिद्धपदोपेतं विदुषामप्यगोचरम् ॥ ४ ॥
स्वोपज्ञटीकया युक्तं चकारैतन्महामनाः ।
अष्टाविंशतिसर्गाढ्यं भव्यानुप्रासभासितम् ॥ ५ ॥
अलङ्कृतमलङ्कारैरुपमारूपकादिभिः ।
भ्राजितं यमकाद्यैश्च शब्दालंकारसंचयैः ॥ ६ ॥
कलापे काव्यरत्नानामद्वितीयं विराजते ।
आश्विनकृष्णपक्षस्य तृतीयायां जयातिथौ ॥ ७ ॥
लोकवार्धिखनेत्राख्ये वैक्रमे शुभवत्सरे ।
संपादनमिदं जातं हिन्दीटीकासमाहितम् ॥ ८ ॥
विद्वांसः काव्यमर्मज्ञाः क्षमतां स्खलितं मम ।
यतोऽहमल्पबोधोऽस्मि प्रज्ञया परिवर्जितः ॥ ९ ॥
प्रार्थयामि बुधान्नम्रः शोधयन्तुतरामिदम् ।
गल्लीलालतनूजोऽहं जानक्युदरसंभवः ॥१०॥
दयाचन्द्रस्य शिष्योऽस्मि सागरग्रामवासिनः ।
पन्नालालोऽस्मि सन्नाम्ना बालश्चास्मि महाधिया ॥११॥
सागरग्रामवासोऽस्मि दासोऽस्मि विदुषां सदा ।
देवशास्त्रगुरून् नित्यं प्रणमामि हितान्मुदा ॥१२॥
विद्यासागर आचार्यो गुरुभक्तिपरायणः ।
हर्षप्रकर्षमेतेन लभतामन्तरात्मनि ॥१३॥
दत्त्वाशिषं सदा मह्यमेतस्माद्भववारिधेः ।
विदधातुतरां तीर्णं सीदन्तं मामहाचिरात् ॥१४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

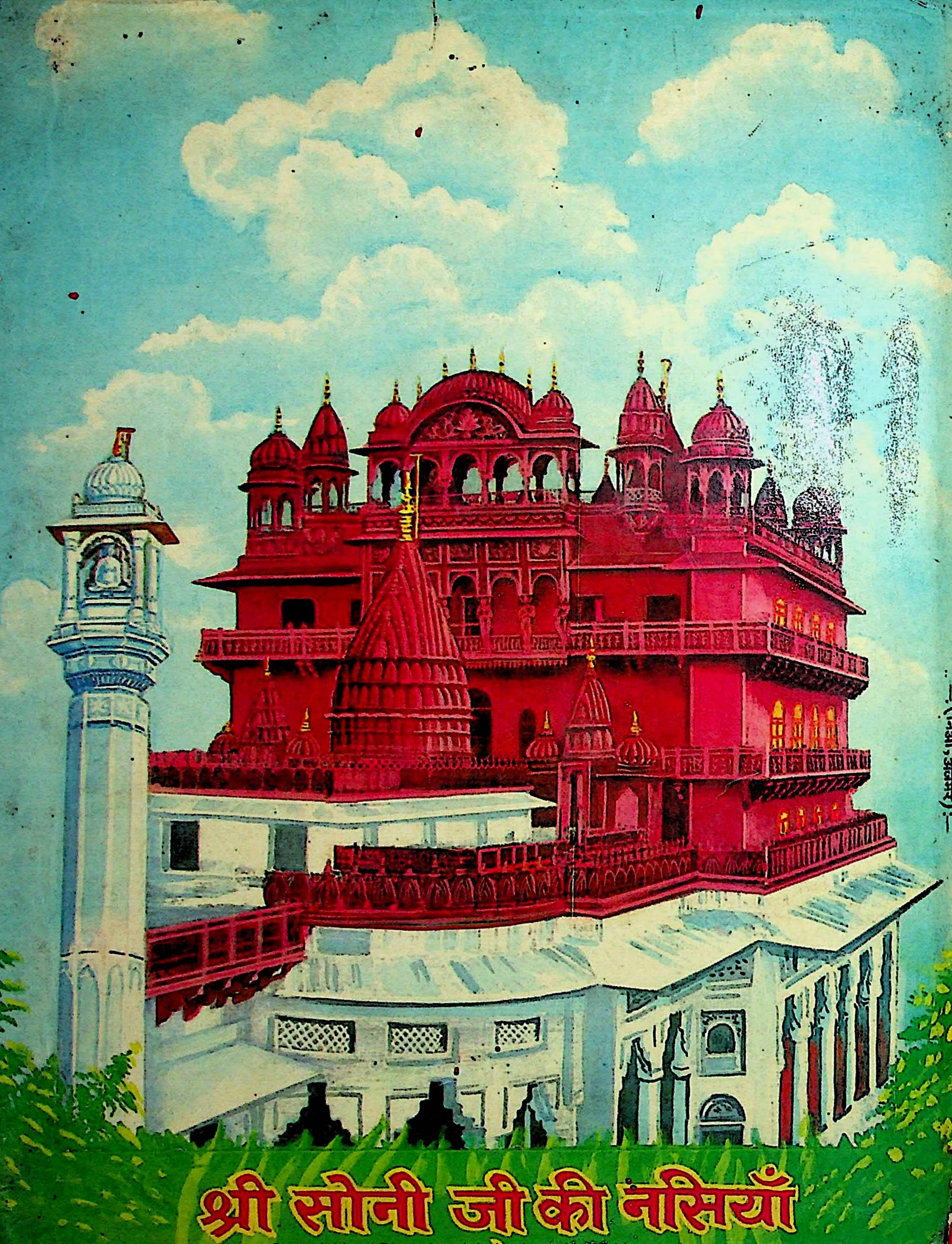


Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi